भूमिका

गायत्री उपासना हर व्यक्ति के लिए अनिवार्य बतायी गयी है एवं यह कहा गया है कि न केवल यह सिद्धियों को जगाती है, वरन् हमारे दैनन्दिन जीवन के कषाय-कल्मषों को हटाने, आत्मसत्ता को स्वच्छ करने के लिए, यह नितान्त अनिवार्य है । गायत्री को कामधेनु कहा गया है अर्थात् इस महाशक्ति की जो देवता, दिव्य स्वभाव वाला मनुष्य उपासना करता है, वह माता के स्तनों के समान आध्यात्मिक दुग्ध-धारा का पान कर अनन्त आनन्द को पाता है । इसके बाद उसके जीवन में कोई अभाव नहीं रह जाता । उसके सभी कष्ट मिट जाते हैं एवं पाप-प्रारब्ध कट जाते हैं ।

प्राचीन काल का इतिहास हम खोजते हैं तो पाते हैं कि सभी ऋषियों-मुनिजनों, अवतारी सत्ताओं की उपासना का मूल आधार गायत्री ही रहा है । गायत्री साधना से सतोगुणी सिद्धियाँ व्यक्ति को मिलती हैं एवं उसका जीवन संवेदना-समर्थता-कुशलता-संपन्नता इन चतुर्दिक शक्तियों से ओतप्रोत हो जाता है । गायत्री त्रिगुणात्मक है । इसकी उपासना से जहाँ सतोगुण बढ़ता है, वहीं कल्याणकारी उपयोगी रजोगुण की भी अभिवृद्धि होती है । इस रजोगुणी आत्मबल के संवर्धन से अनेकानेक प्रसुप्त पड़ी शक्तियाँ जाग्रत होती हैं जो सांसारिक जीवन के संघर्ष में अनुकूल प्रतिक्रिया उत्पन्न कर व्यक्ति को जीवन समर में विजयी बनाती हैं । गायत्री साधक कभी अभावग्रस्त व दीन हीन नहीं रह सकता, यह परमपूज्य गुरुदेव ने अपने अनुभवों व साधना की सिद्धि के माध्यम से वाङ्मय के इस खण्ड में लिखा है ।

गायत्री सर्वतोमुखी समर्थता की अधिष्ठात्री है । इसकी साधना कभी किसी को हानि नहीं पहुँचाती । एक भ्रान्ति जन-जन में संव्याप्त है कि गायत्री साधना तभी की जाती है, जब कान में मंत्र फूँका गया हो । परम पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि सामान्य चलते फिरते गुरु कान फूँकते हैं व सद्गुरु प्राण फूँकते हैं । गायत्री व सद्गुरु का जोड़ा बैठ जाय तो यह सविता-सूर्य व बृहस्पति गुरु का जोड़ा होता है । विधिपूर्वक किये गये सभी साधन सदा सिद्ध होते हैं किन्तु गायत्री-साधना की एक विशेषता यह है कि कोई भूल हो जाने पर भी उसका कोई हानिकारक परिणाम नहीं होता । दयालु, उदार, बुद्धिमती माता अपने बालकों का सदा हित चिन्तन ही करती है, उसी प्रकार गायत्री शक्ति द्वारा भी साधक का हित ही सम्पादित होता है ।

प्रस्तुत वाङ्मय में गायत्री साधना का उद्देश्य व विधि विधान, नियमादि समझाए गये हैं व बड़े विस्तार से उनका विवेचन किया गया है । गीता का हवाला देते हुए पूज्यवर लिखते हैं कि भगवान कृष्ण ने गीता में विश्वास दिलाया है कि सतोगुणी साधना का फल कभी विपरीत नहीं होता-

''नेहाभिक्रम नाशोस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतोभयात् ॥''

अर्थात्-सत्कार्य जब आरम्भ किया जाता है तब उसका नाश नहीं होता, वह आगे बढ़ता ही चलता है । इससे उलटा फल भी कभी नहीं मिलता । ऐसा कभी नहीं होता कि सत् इच्छा से किया हुआ कार्य असत हो जाय और उसका शुभ परिणाम न निकले । ''थोड़ा सा भी धर्म के निमित्त किया गया कार्य बड़े भयों से रक्षा करता है ।'' फिर गायत्री साधना आरंभ करने में किसी को भी किसी प्रकार की भ्रान्ति मन में नहीं रखनी चाहिए ।

गायत्री की दैनिक एवं विशिष्ट अनुष्ठान परक साधना

गायत्री की साधना दैनिक की जा सकती है, नौ दिन की विशिष्ट अनुष्ठानपरक भी की जा सकती है, चालीस दिन की सवा लक्ष के अनुष्ठान के निमित्त भी की जा सकती है, मंत्रलेखन के रूप में भी इसकी साधना का विधान है । साधकों के लिए कुछ आवश्यक नियम अवश्य पूज्यवर ने बताए हैं ताकि अधिकाधिक लाभ मिल सके, वैसे मानसिक जप कभी भी, कहीं भी, अपवित्र स्थानों को छोड़कर चलता रह सकता है । शरीर शुद्धि, आसन सिद्धि, माला घुमाने का क्रम, चित्त की एकाग्रता, जप का विशिष्ट समय, गुरु का वरण, पूजा सामग्री की व्यवस्था, सूतक आदि साधक का आहार व मानसिक-शारीरिक ब्रह्मचर्य को निभाने का क्रम आदि एक एक पक्ष को विस्तार से समझाया गया है । षटकर्म-संध्या आदि कैसे किये जायँ-इसके स्पष्ट निर्देश इस वाङ्मय में हैं। किसी को भी तनिक भी सन्देह न रहे, इसका पूरा ध्यान रखा गया है ।

नवरात्रि की अनुष्ठान साधना को इसमें विशिष्ट स्थान दिया गया है । इसका विधान क्या हो । साधना के दिनों में किन व्रतों का विशेष पालन किया जाय तथा जप व ध्यान कैसे साथ साथ चलें, यह सारा मार्ग दर्शन इसमें निहित है । गायत्री पुरश्चरण की विधियाँ क्या-क्या हैं, उन्हें संपन्न करने के लिए क्या-क्या साधक को करना चाहिए, इसको पूज्यवर ने पूरा खोलकर रख दिया है । अंत में ''प्रज्ञायोग'' नामक विधा को जो पूज्यवर ने ८० के दशक में जन-जन के उपयोग के लिए लोकप्रिय बनायी तथा आज करोड़ों गायत्री साधक जिसे नियमित रूप से करते हैं, इसमें विस्तार से दिया गया है ।

प्रस्तुत वाङ्मय गायत्री साधना का व्यावहारिक पक्ष प्रस्तुत कर साधक का उँगली पकड़कर मार्ग दर्शन करता है । निश्चित ही तपः पूत लेखनी ही यह कार्य कर सकती है । ऐसे सिद्ध साधक को शत शत नमन ।

- ब्रह्मवर्चस

विषय-सूची

आद्यशक्ति गायत्री की सिद्धिदायक समर्थ साधनायें १.१
गायत्री और सावित्री का उद्भव १.१
शक्ति केन्द्रों का उद्दीपन-शब्द शक्ति द्वारा १.३
शरीर की विभिन्न देवशक्तियों का जागरण १.३
यज्ञोपवीत के रूप में गायत्री की अवधारणा १.४
नौ सद्गुणों की अभिवृद्धि ही गायत्री-सिद्धि १.५
गायत्री का तत्त्वदर्शन और भौतिक उपलब्धियाँ १.६
चौबीस अक्षरों का शक्ति पुंज १.७
शिखा-सूत्र और गायत्री मंत्र सभी के लिए १.७
यज्ञ और गायत्री एक दूसरे के पूरक १.९
एक आध्यात्मिक प्रयोग १.९
आत्मशोधन, साधना का एक अनिवार्यचरण १.११
गायत्री उपासना अनिवार्य है आवश्यक है २.१
उपासना का आधार और प्रभाव २.३
गायत्री उपासना का तत्त्वज्ञान और सत्परिणाम २.७
उपासना क्यों ? और किसकी ? २.१०
महाप्रज्ञा का दर्शन एवं आराधना २.२०
ऋतम्भरा की आराधना-अभ्यर्थन २.२२
आत्मिक प्रगति का सर्वसमर्थ अवलम्बन-प्रज्ञा २.२४
गायत्री साधना से आत्मोद्धार २.२६
आत्मशक्ति अभिवर्धन का श्रेष्ठतम उपाय गायत्री २.२८
गायत्री साधना से अन्तःकायाकल्प २.३१
गायत्री साधना के दिव्य लाभ २.३३
गायत्री उपासना से दिव्य प्रकाश की प्राप्ति २.३६
गायत्री साधना से दिव्य-दृष्टि का जागरण २.३८
सर्वतोमुखी उपासना की रीति-नीति २.४१
उपासना की उपेक्षा न करें उसे समग्र रूप में अपनायें २.४३
जीवन-सार्थकता की साधना २.४५
गायत्री साधना की सफलता का विज्ञान २.४८
कर्मकाण्डों में भावनायें भी समाविष्ट रहें २.५१
ध्यान साकार और निराकार २.५८
आत्मिक प्रगति के दो प्रधान आधार २.६१
उपासना, विधान और तत्त्वदर्शन २.६२
गायत्री सर्वतोन्मुखी समर्थता की अधिष्ठात्री ३.१
गायत्री-शक्ति का नारी स्वरूप ३.२
गायत्री महाशक्ति का स्वरूप और रहस्य ३.२
गायत्री का स्वरूप क्यों ? ३.६
गायत्री माता का परिचय ३.११
परमात्मा की कार्यकर्त्री देव शक्ति ३.११
विभूतियों का भण्डागार ३.१२
रहस्यों का जानना आवश्यक है ३.१२
तीन चरणों की अनन्त सामर्थ्य ३.१३
मंगलमयी मधु विद्या ३.१४
अन्तर्जगत के गुप्त तत्त्व ३.१५
नारी के प्रति पूज्य भावना ३.१५
पिता से माता अधिक उदार ३.१६
विश्वनारी की पवित्र आराधना ३.१६
महामहिमामयी माता ३.१८
गायत्री-साधना का उद्देश्य ३.२०
निष्काम साधना का तत्त्व ज्ञान ३.२३
द्विजों का नित्य नियम ३.२५
गायत्री उपासना की अनिवार्यता ३.२६
साधक का आहार-व्यवहार ३.२८
आचार्य का वरण ३.३०
दीक्षा और गुरु मंत्र ३.३३
गायत्री उपासना विधिपूर्वक ही की जाय ३.३५
प्रार्थना में भावना की प्रधानता ३.३५
मंत्र विद्या में विधि विधान की आवश्यकता ३.३६
गायत्री उपासना से दुष्कृतों का शमन ३.३८
सुख सौभाग्य दायक महामंत्र ३.३८
मंत्र शक्ति का मर्म व रहस्य ३.३९
गायत्री उपासना में समय साधना का महत्त्व ३.४०
साधना, एकाग्रता और स्थिरचित्त से होनी चाहिए ३.४१
साधना के चार नियम ३.४३
साधना नित्य कर्म ३.४८
माला की जरूरत है ३.५०
गायत्री जप का वैज्ञानिक रूप ३.५०
गायत्री के दैनिक जप का महत्त्व, ३.५२
गायत्री-साधना की सफलता ३.५२
साधकों के लिए कुछ आवश्यक नियम ३.५४
इन साधनाओं में अनिष्ट का कोई भय नहीं ३.५८

गायत्री की परम कल्याणकारी सर्वांगपूर्ण सुगम उपासना विधि ४.१
गायत्री द्वारा सन्ध्या-वन्दन ४.१
ब्रह्म सन्ध्या ४.२
आचमन ४.२
शिखा बन्धन ४.३
प्राणायाम ४.३
प्राणायाम के चार भाग हैं ४.४
अघमर्षण ४.४
न्यास ४.५
दैनिक उपासना की सरल किन्तु महान प्रक्रिया ४.५
गायत्री उपासना का विधि-विधान ४.८
पवित्रीकरण ४.८
आचमन ४.८
शिखा स्पर्श एवं वन्दन ४.९
प्राणायाम ४.९
अघमर्षण ४.९
न्यास ४.९
पृथ्वी पूजनम् ४.९
देव पूजन ४.९
श्री सूक्त से षोडशोपचार ४.१०
गुरु वन्दना ४.११
जप ४.११
पूजा सामग्री का विसर्जन ४.१३
गायत्री का सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वसुलभ ध्यान ४.१४
सूर्यार्घ्यदान ४.१५
गायत्री-साधना से पापमुक्ति ४.१६
पापनाशक-प्रायश्चित ४.२०
(१) उपवास ४.२०
(२) पंच गव्य लेना ४.२०
(३) व्रत ४.२०
(४) कष्ट सहना ४.२०
(५) दान ४.२१
(६) दोष प्रकाशन ४.२१
(७) साधना ४.२१
कुमुहूर्त और अशकुनों का परिहार ४.२१
गायत्री-साधना से अनेकों प्रयोजनों की सिद्धि ४.२२
(१) रोग-निवारण ४.२३
(२) विष-निवारण ४.२४
(३) बुद्धि-वृद्धि ४.२४
(४) राजकीय सफलता ४.२४
(५) दरिद्रता का नाश ४.२४
(६) सुसन्तति की प्राप्ति ४.२५
(७) शत्रुता का संहार ४.२५
(८) भूत बाधा की शान्ति ४.२५
(९) दूसरों को प्रभावित करना ४.२५
(१०) रक्षा-कवच ४.२६
(११) प्रसूति कष्ट निवारण ४.२६
(१२) बुरे मुहूर्त और शकुनों का परिहार ४.२६
(१३) बुरे स्वप्नों के फल का नाश ४.२६
महिलाओं के लिए गायत्री उपासना ४.२६
महिलाओं के लिए कुछ विशेष साधनाएँ ४.२७
महोनिग्रह और ब्रह्म प्राप्ति के लिए ४.२८
कुमारियों के लिए आशाप्रद भविष्य की साधना ४.२९
सधवाओं के लिए मंगलमयी साधना ४.२९
सन्तान सुख देने वाली उपासना ४.३०
किसी विशेष आवश्यकता के लिए ४.३०
गायत्री का अर्थ चिन्तन ४.३१
अर्थ भावना का साधन ४.३३
माता से वार्तालाप करने की साधना ४.३५
आत्मकल्याण जप के साथ पयपान का ध्यान ४.३७
विश्वकल्याण जप के साथ आत्मार्पण का ध्यान ४.३८
परम तेजपुंज ज्योति अवतरण-साधना ४.३९
उपासना ही नहीं, साधना भी ४.४१
बीज मंत्र 'क्लीं' की साधना ४.४३
शक्ति पुरश्चरण साधना ४.४४
चालीस दिन की गायत्री साधना ४.४५
एक वर्ष की साधना ४.४६
गायत्री अभियान की साधना ४.४६
एक वर्ष की उद्यापन साधना ४.४८
उद्यापन की विधि ४.४९
कुछ विशेष साधनाएँ ४.५०
(१) उपवास ४.५०
(२) मंत्र लेखन ४.५०
(३) हवन ४.५०
(४) अभियान ४.५०
(५) अनुष्ठान ४.५१

(६) अनुष्ठान ४.५१
(७) पूर्ण पाठ ४.५१
गायत्री मंत्र लेखन-एक महान साधना ४.५२
गायत्री मंत्र लेखन से लाभ ४.५४
गायत्री चालीसा पाठ अनुष्ठान ४.५६
लघु गायत्री ४.५७
यह दिव्य प्रसाद औरों को भी बाँटिए ४.५८
प्रज्ञा आलोक पायें भी-बाँटें भी ४.६०
नवरात्रि पर्व और गायत्री की विशेष तप-साधना ५.१
असामान्य सुयोग उपलब्ध कराने वाली नवरात्रियाँ ५.६
नवरात्रि अनुष्ठान का विधि-विधान ५.१०
गायत्री अनुष्ठान और कन्या पूजन ५.१४
देवीरूप कुमारिकायें ५.१५
नवरात्रि अनुशासन का तत्व दर्शन ५.१६
अनेक सत्प्रवृत्तियों का उभार नवरात्रि आयोजनों में ५.१९
सामूहिक साधना का उपयुक्त अवसर नवरात्रि पर्व ५.२०
गायत्री अनुष्ठान का विज्ञान और विधान ६.१
अनुष्ठान-गायत्री उपासना के उच्च सोपान ६.१
महासिद्धि दाता गायत्री अनुष्ठान ६.३
प्राणायाम ६.४
प्रतिष्ठा ६.४
महा अनुष्ठान ६.६
विधिवत उपासना के सुनिश्चित परिणाम ६.७
अनुष्ठान से संकल्प शक्ति का संवर्धन ६.११
पंचाक्षरी गायत्री का अनुष्ठान ६.१२
गायत्री चालीसा पाठ ६.१२
मंत्र लेखन ६.१२
अनुष्ठान में पंच सूत्री तप साधना ६.१४
रविवार का व्रत उपवास ६.१७
अनुष्ठान विधि ६.१९
सदैव शुभ गायत्री यज्ञ ६.२१
नित्य हवन विधि ६.२३
दैनिक हवन ६.२३
साधना के संरक्षण-परिमार्जन की आवश्यकता ६.२५

उच्चस्तरीय साधना के दो सोपान-

जप और ध्यान ७.१
जपयोग का महात्म्य ७.१
जपयोग की विधि-व्यवस्था ७.२
जप की पूर्णता ध्यान साधनायें ७.११
ध्यान धारणा की विधि ७.१६
ध्यान-धारणा की दिव्यशक्ति ७.२०
जप कलेवर और ध्यान उसका प्रखरता सम्पन्न प्राण ७.२९
साकार ध्यान माता रूप में ७.३१
निराकार ध्यान पिता रूप में ७.३२

गायत्री पुरश्चरण

गायत्री उपासना के तीन चरण ८.१
गायत्री पुरश्चरण की पृष्ठ भूमि ८.२
योग साधना का स्वरूप ८.३
मनोनिग्रह और आत्मसंयम ८.३
श्रद्धा और सदाचार की आवश्यकता ८.४
साधना-पथ का मार्ग दर्शन ८.५
मंत्र साधन की विधि व्यवस्था ८.६
लघु साधन और पूर्व पुरश्चरण ८.७
परम कल्याण का मंगलमय मार्ग ८.७
गायत्री पुरश्चरण की महान महिमा ८.८
साधना की पाँच शर्त ८.१३
मंत्र साधना में विनियोग का महत्त्व ८.१५
पुरश्चरण विधि ८.१७
पुरश्चरण के नियम ८.१७
गायत्री शक्ति ध्यान ८.२२
गायत्री कवच ८.२२
अक्षर शक्ति का कवच ८.२२
न्यास ८.२३
शक्ति न्यास ८.२३
न्यास विधान ८.२४
स्तोत्र ८.२५
गायत्री स्तोत्र ८.२५
गायत्री शाप विमोचन और उत्कालीन का रहस्य ८.३०
शापोद्धार के मन्त्र ८.३३
मुद्रा ८.३४
जप ८.३५

हवन ८.३५
तर्पण ८.३५
मार्जन ८.३६
विसर्जन ८.३६
अर्घ्य-दान ८.३६
साधन काल की त्रुटियों का परिमार्जन ८.३७
क्षमा प्रार्थना ८.३७
ब्राह्मण भोजन ८.३८
गायत्री की दिव्य शक्ति ९.१
गायत्री सिद्धि के मूलभूत आधार ९.३
गायत्री साधना की सफलता के प्रमाण ९.४
अलौकिक शक्तियों का आभास ९.७
समस्त मंत्रों का लाभ ९.१०
नौनिद्धियों की प्राप्ति ९.१३
नवगुण परम पुनीत तुम्हारे ९.१४
विवेक ९.१४
पवित्रता ९.१४
शान्ति ९.१५
साहस ९.१५
स्थिरता ९.१५
कर्त्तव्य निष्ठा ९.१५
स्वास्थ्य ९.१६
समृद्धि ९.१६
सहयोग ९.१६
जीवन का कायाकल्प ९.१६
साधकों के स्वप्न निरर्थक नहीं होते ९.१८
कुसंस्कारों को नष्ट करने वाले स्वप्न ९.१८
दिव्य तत्त्व के वृद्धिसूचक स्वप्न ९.२०
भविष्य का आभास एवं दैवी सन्देश का स्वप्न ९.२०
जागृत स्वप्न या दिव्य दर्शन ९.२०
सफलता के कुछ लक्षण ९.२१
सिद्धियों का दुरुपयोग नहीं होना चाहिए ९,२३
सच्चे साधक अधीर नहीं होते ९.२५
आत्मिक प्रगति हेतु प्रज्ञायोग की साधना १०.१
प्रज्ञा योगः एक युगानुकूल साधना प्रयोग १०.१
प्रज्ञा योग की सर्वसुलभ एवं सर्वोत्तम साधना १०.२
(१) ज्ञान योग १०.२
(२) क्रिया योग १०.३
प्रज्ञायोग की आत्म-बोध तत्त्व–बोध प्रक्रिया १०.५
आत्म-बोध-चिन्तन तत्त्व-बोध-मनन १०.७
आत्म-बोध-आन्तरिक कायाकल्प प्रत्यक्ष स्पर्श १०.९
आत्म-बोध और आत्मदेव की उपासना १०.१२
आत्म-बोध--एक दिव्य वरदान १०.१६
आत्म-साक्षात्कार-आत्म-बोध १०.१९
तत्त्व-बोध के प्रकाश में भवबन्धनों से मुक्ति १०.२१
आत्म-बोध और तत्त्व-बोध की दैनिक साधना १०.२४
सोते समय रात्रि की सन्ध्या १०.२६
उपासना अनिवार्य रूप से आवश्यक, भले ही वह न्यूनतम बन पड़े १०.२८
नित्य-कर्म ११.१
नित्य-कर्म में धर्म-भावना का समावेश ११.१
प्रातःस्मरण ११.२
भूमि वन्दन ११.२
स्नान ११.३
सूर्योपस्थान ११.३
प्रातःस्मरण ११.५
स्नान ११.५
सूर्योपस्थान ११.५
भोजन ११.५
दीपस्तुति ११.५
तत्त्व बोध ११.६
शक्ति पीठों में मातृशक्ति की पूजा-अर्चा का विधि-विधान १२.१
(१) प्रातः जागरण १२.१
(२) शुद्धिकरण १२.१
पूजा उपचार १२.२
षोडशोपचार पूजनम् १२.२
आरती १२.२
भोजन नैवेद्य १२.३
पुष्पाञ्जलि १२.४
शयन १२.४

आद्य शक्ति गायत्री की सिद्धिदायक समर्थ साधनायें

भारतीय संस्कृति के बहुमुखी निर्धारणों, प्रतिपादनों और अनुशासनों का सारतत्त्व ढूँढ़ना हो, तो उसे चौबीस अक्षरों वाले गायत्री महामन्त्र का मन्थन करके जाना जा सकता है । भारतीय संस्कृति का इतिहास खोजने से पता लग सकता है कि प्राचीन काल में इस समुद्र मंथन से कितने बहुमूल्य रत्न निकले थे ? भारतभूमि को 'स्वर्गादपि गरीयसी' बनाने में उस मंथन से निकले नवनीत ने कितनी बड़ी भूमिका निबाही थी ? मनुष्य में देवत्व का उदय कम से कम भारतभूमि का कमलपुष्प तो कहा ही जा सकता है । जब वह फलित हुआ, तो उसका अमर फल इस भारतभूमि को 'स्वर्गादपि गरीयसी' बना सकने में समर्थ हुआ ।

भारत को जगद्गुरु, चक्रवर्ती-व्यवस्थापक और दिव्य सम्पदाओं का उद्गम कहा जाता है । समस्त विश्व में इसी देश के अजस्र अनुदान अनेक रूपों में बिखरे हैं । यह कहने में कोई अत्युक्ति प्रतीत नहीं होती कि सम्पदा, सभ्यता और सुसंस्कारिता की प्रगतिशीलता इसी नर्सरी में जमीं और उसने विश्व को अनेकानेक विशेषताओं और विभूतियों से सुसम्पन्न किया ।

भारतीय संस्कृति का तत्त्वदर्शन गायत्री महामंत्र के चौबीस अक्षरों की व्याख्या-विवेचना करते हुए सहज ही खोजा और पाया जा सकता है । गायत्री गीता, गायत्री स्मृति, गायत्री संहिता, गायत्री रामायण, गायत्री लहरी आदि संरचनाओं को कुरेदने से अंगारे का वह मध्य भाग प्रकट होता है, जो मुद्दतों से राख की मोटी परत जम जाने के कारण अदृश्य-अविज्ञात स्थिति में दबा हुआ पड़ा था ।

कहना न होगा कि गरिमामय व्यक्तित्त्व ही इस संसार की अगणित विशेषताओं, सम्पदाओं एवं विभूतियों का मूलभूत कारण है । वह उभरे, तो मनुष्य देवत्व का अधिष्ठाता और नर से नारायण बनने की सम्भावनाओं से भरा-पूरा है । यह गौरव-गरिमा मानवता के साथ किस प्रकार अविच्छिन्न रूप से जुड़ी रहे, इसका सारतत्त्व गायत्री महामंत्र के अक्षरों को महासमुद्र मानकर उसमें डुबकी लगाकर खोजा, देखा और पाया जा सकता है ।

मात्र अक्षर दुहरा लेने से तो स्कूली बच्चे प्रथम कक्षा में ही बने रहते हैं । उन्हें भी प्रशिक्षित बनने के लिए वर्णमाला, गिनती जैसे प्रथम चरणों से आगे बढ़ना पड़ता है । इसी प्रकार गायत्री मंत्र के साथ जो विभूतियाँ अविच्छिन्न रूप से आबद्ध हैं, उन्हें मात्र थोड़े से अक्षरों को याद कर लेने या दुहरा देने से वर्णित विशेषताओं को उपलब्धि नहीं माना जा सकता । उसमें सन्निहित तत्त्वज्ञान पर भी गहरी दृष्टि डालनी होगी । इतना ही नहीं, उसे हृदयंगम भी करना होगा और जीवन चर्या में नवनीत को इस प्रकार समाविष्ट करना होगा कि मलीनता का निराकरण तथा शालीनता का अनुभव सम्भव बन सके ।

संसार में अनेक धर्म-सम्प्रदाय हैं, उनके अपने-अपने धर्मशास्त्र हैं । उनमें मनुष्य को उत्कृष्टता का मार्ग अपनाने के लिए प्रोत्साहन दिया गया है और समय के अनुरूप अनुशासन का विधान किया गया है । भारतीय धर्म में भी वेदों की प्रमुखता है । वेद चार हैं । गायत्री मंत्र के तीन चरण और एक शीर्ष मिलने से चार विभाग ही बनते हैं । एक-एक विभाग में एक वेद का सारतत्त्व है । आकार और विवेचना की दृष्टि से अन्यान्य धर्मकाव्यों की तुलना में वेद ही भारी पड़ते हैं । उनका सारतत्त्व गायत्री के चार चरणों में है, इसलिए उसे संसार का सबसे छोटा धर्मशास्त्र भी कह सकते हैं । "हाथी के पैर में अन्य सब प्राणियों के पद-चिह्न समा जाते हैं" वाली उक्ति यहाँ भली प्रकार लागू होती है ।

गायत्री और सावित्री का उद्भव

पौराणिक कथा-प्रसंग में चर्चा आती है कि सृष्टि के आरम्भ काल में सर्वत्र मात्र जल सम्पदा ही थी । उसी के मध्य में विष्णु भगवान शयन कर रहे थे । विष्णु की नाभि में एक कमल उपजा । कमल पुष्प पर ब्रह्माजी अवतरित हुए । वे एकाकी थे । असमंजसपूर्वक अनुरोध करने लगे कि मुझे क्यों उत्पन्न किया गया है ? क्या करूँ ? कुछ करने के लिए साधन कहाँ से पाऊँ ? इन जिज्ञासाओं का समाधान आकाशवाणी ने

किया और कहा—"गायत्री के माध्यम से तप करें, आवश्यक मार्गदर्शन भीतर से ही उभरेगा"। ब्रह्मा ने वैसा ही किया और आकाशवाणी द्वारा बताये गये गायत्री मंत्र की तपपूर्वक साधना करने लगे।

पूर्णता की स्थिति प्राप्त हुई। गायत्री दो खण्ड बनकर दर्शन देने एवं वरदान-मार्गदर्शन से निहाल करने उतरी। उन दो पक्षों में से एक को गायत्री, दूसरे को सावित्री नाम दिया गया। गायत्री अर्थात् तत्त्वज्ञान से सम्बन्धित पक्ष। सावित्री अर्थात् भौतिक प्रयोजनों में उसका जो उपयोग हो सकता है, उसका प्रकटीकरण। जड़-सृष्टि पदार्थ संरचना सावित्री शक्ति के माध्यम से और विचारणा से सम्बन्धित भाव संवेदना, आस्था, आकांक्षा, क्रियाशीलता जैसी विभूतियों का उद्भव गायत्री के माध्यम से प्रकट हुआ। यह संसार जड़ और चेतन के—प्रकृति और परब्रह्म के—समन्वय से ही दृष्टिगोचर एवं क्रियारत दीख पड़ता है।

इस कथन का सारतत्त्व यह है कि गायत्री-दर्शन में सामूहिक सद्बुद्धि को प्रमुखता मिली है। इसी आधार को जिस-तिस प्रकार से अपनाकर मनुष्य मेधावी-प्राणवान बनता है। भौतिक पदार्थों को परिष्कृत करने एवं उनका सदुपयोग कर सकने वाला भौतिक विज्ञान सावित्री विद्या का ही एक पक्ष है। दोनों को मिला देने पर समग्र अभ्युदय बन पड़ता है। पूर्णता के लिए दो हाथ, दो पैर आवश्यक हैं। दो फेफड़े, दो गुर्दे भी अभीष्ट हैं। गाड़ी दो पहियों के सहारे ही चल पाती है, अस्तु, यदि गायत्री महाशक्ति का समग्र लाभ लेना हो, तो उसके दोनों ही पक्षों को समझना एवं अपनाना आवश्यक है।

तत्त्वज्ञान, मान्यताओं एवं भावनाओं को प्रभावित करता है। इन्हीं का मोटा स्वरूप चिन्तन, चरित्र एवं व्यवहार है। गायत्री का तत्त्वज्ञान, इस स्तर की उत्कृष्टता अपनाने के लिए तद्विषयक विश्वासों को अपनाने के लिए प्रेरणा देता है। उत्कृष्टता, आदर्शवादिता, मर्यादा एवं कर्तव्यपरायणता जैसी मानवी गरिमा को अक्षुण्ण बनाये रहने वाली आस्थाओं को गायत्री का तत्त्वज्ञान कहना चाहिए।

त्रिपदा गायत्री—तीन धाराओं का संगम

गायत्री को त्रिपदा कहा गया है, उसके तीन चरण हैं। उद्गम एक होते हुए भी उसके साथ तीन दिशा-धाराएँ जुड़ती हैं—

(१) सविता के भर्ग का-तेजस् का वरण, अर्थात् जीवन में ऊर्जा एवं आभा का बाहुल्य। अवांछनीयताओं में अंतः-ऊर्जा का टकराव। परिष्कृत प्रतिभा एवं शौर्य-साहस इसी का नाम है। गायत्री के नैष्ठिक साधक में यह प्रखर प्रतिभा इस स्तर की होनी चाहिए, कि अनीति के आगे न सिर झुकाएँ और न झुककर कायरता के दबाव में कोई समझौता करें।

(२) दूसरा चरण है—देवत्व का वरण, शालीनता को अपनाते हुए उदारचेता बने रहना, लेने की अपेक्षा देने की प्रवृत्ति का परिपोषण करना। उस स्तर के व्यक्तित्व से जुड़ने वाली गौरव-गरिमा की अन्तराल में अवधारणा करना। यही है "देवस्य धीमहि"।

(३) तीसरा सोपान है—"धियो यो नः प्रचोदयात्"। मात्र अपनी ही नहीं, अपने समूह, समाज, संसार में सद्बुद्धि की प्रेरणा उभारना। मेधा, प्रज्ञा, दूरदर्शिता, विवेकशीलता, नीर-क्षीर विवेक में निरत बुद्धिमत्ता।

यही है आध्यात्मिक त्रिवेणी संगम, जिसका अवगाहन करने पर मनुष्य असीम पुण्यफल का भोगी बनता है। कौए से कोयल एवं बगुले से हंस बन जाने की उपमा जिस त्रिवेणी संगम के स्नान से दी जाती है, वह वस्तुतः आदर्शवादी साहसिकता, देवत्व के पक्षधर शालीनता एवं आदर्शवादिता को प्रमुखता देने वाली महाप्रज्ञा है। गायत्री का तत्त्वज्ञान समझने और स्वीकारने वाले में ये तीनों ही विशेषताएँ न केवल पायी जानी चाहिए, वरन् उनका अनुपात निरन्तर बढ़ते रहना चाहिए। इस आस्था को स्वीकारने के उपरान्त संकीर्णता, कृपणता से अनुबन्धित ऐसी स्वार्थपरता के लिए कोई गुञ्जायश नहीं रह जाती, कि उससे प्रभावित होकर कोई दूसरों के अधिकारों का हनन करके अपने लिए अनुचित स्तर का लाभ बटोर सके, अपराधी या आततायी कहलाने के पतन-पराभव अपना सके।

नैतिक, बौद्धिक, सामाजिक, भौतिक और आत्मिक, दार्शनिक एवं व्यावहारिक, संवर्धन एवं उन्मूलनपरक सभी विषयों पर गायत्री के चौबीस अक्षरों में विस्तृत प्रकाश डाला गया है और उन सभी तथ्यों तथा रहस्यों का उद्घाटन किया गया है, जिनके सहारे संकटों से उबरा और सुख-शान्ति के सरल मार्ग को उपलब्ध किया जा सकता

है। जिन्हें इस सम्बन्ध में रुचि है, वे अक्षरों के, वाक्यों के विवेचनापरक प्रतिपादनों को ध्यानपूर्वक पढ़ लें और देखें कि इस छोटे से शब्द-समुच्चय में प्रगतिशीलता के अतिमहत्त्वपूर्ण तथ्यों का किस प्रकार समावेश किया गया है। इस आधार पर इसे ईश्वरीय निर्देश, शास्त्र-वचन एवं आप्तजन-कथन के रूप में अपनाया जा सकता है। गायत्री के विषय में गीता का वाक्य है—"गायत्री छन्दसामहम्"। भगवान कृष्ण ने कहा है-कि "छन्दों में गायत्री मैं स्वयं हूँ" (श्लोक ३५, अध्याय १०)। यह भगवान की परमवाणी है, जो विद्या-विभूति के रूप में गायत्री की व्याख्या करते हुए विभूति-योग में प्रकट हुई है।

शक्ति केन्द्रों का उद्दीपन—शब्द शक्ति द्वारा

एक विलक्षणता गायत्री महामन्त्र में यह है कि इसके अक्षर, शरीर एवं मनः तन्त्र के मर्म केन्द्रों पर ऐसा प्रभाव छोड़ते हैं कि कठिनाइयों का निराकरण एवं समृद्ध-सुविधाओं का सहज संवर्धन बन पड़े। टाइप राइटर पर एक जगह कुञ्जी दबायी जाती है और दूसरी जगह सम्बद्ध अक्षर छप जाता है। बहिर्मन पर, विभिन्न स्थानों पर पड़ने वाला दबाव विभिन्न प्रकार की स्वर लहरी उत्पन्न करता है। इसी प्रकार मुख एवं कण्ठ के विभिन्न स्थानों पर, विभिन्न शब्दों का उच्चारण अपना प्रभाव छोड़ता है और इन स्थानों पर पड़ा दबाव सूक्ष्म शरीर के विभिन्न शक्ति-केन्द्रों को उद्वेलित-उत्तेजित करता है। योग शास्त्रों में षटचक्रों, पंचकोषों, चौबीस ग्रन्थियों, उपत्यिकाओं और सूक्ष्म नाड़ियों का विस्तारपूर्वक वर्णन है। उनके स्थान, स्वरूप के प्रतिफल आदि का विवेचन मिलता है। साथ ही यह भी बताया गया है कि इन शक्ति-केन्द्रों को जागृत कर लेने पर साधक उन विशेषताओं-विभूतियों से सम्पन्न हो जाता है। इन समस्त केन्द्रों की मिली-जुली संख्या २४ बताई गयी है। इनकी अपनी-अपनी समर्थता, विशेषता एवं प्रतिक्रिया है। गायत्री मंत्र के २४ अक्षरों का इनमें से एक-एक से सम्बन्ध है। उच्चारण से मुख, तालु, ओष्ठ, कंठ आदि पर जो दबाव पड़ता है, उसके कारण यह केन्द्र अपने-अपने तारतम्य के अनुरूप वीणा के तारों की तरह झंकृत हो उठते हैं। सितार के तारों की तरह, वायलिन-गिटार की तरह, बैन्जो-हारमोनियम की तरह झंकृत हो उठते और एक ऐसी स्वर लहरी निःसृत करते हैं, जिनसे प्रभावित होकर शरीर में विद्यमान दिव्य ग्रन्थियाँ जागृत होकर अपने भीतर उपस्थित विशिष्ट शक्तियों के जागृत एवं फलित होने का परिचय देने लगती हैं। सम्पर्क साधने में मंत्र का उच्चारण टेलेक्स का काम करता है। रेडियो या दूरदर्शन प्रसारण की तरह शक्ति धाराएँ यों सब ओर निःसृत होती हैं, पर उस केन्द्र का विशेषतया स्पर्श करती हैं, जो प्रयुक्त अक्षरों के साथ शक्ति केन्द्रों को जोड़ते हैं।

शरीर की विभिन्न देव-शक्तियों का जागरण

विराट् ब्रह्म की कल्पना में विश्व-पुरुष के शरीर में जहाँ-तहाँ विभिन्न देवताओं की उपस्थिति बताई गयी है। गौ माता के शरीर में विभिन्न देवताओं के निवास का चित्र देखने को मिलता है। मनुष्य शरीर भी एक ऐसी आत्मसत्ता का दिव्य मंदिर है, जिसमें विभिन्न स्थानों पर विभिन्न देवताओं की स्थिति मानी गयी है। धार्मिक कर्मकाण्डों में यह स्थापना भावशक्ति के आधार पर की जाती है। न्यास-विधान इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए है, सामान्यतया यह सभी देवता प्रसुप्त स्थिति में रहते हैं, अनायास ही नहीं जाग पड़ते। अनेक साधनाएँ, तपश्चर्याएँ इसी जागरण के हेतु की जाती हैं। सोता सिंह या सोता सर्प निर्जीव की तरह पड़े रहते हैं, पर जब वे जागृत होते हैं, तो अपना पूरा पराक्रम दिखाने लगते हैं। यही प्रक्रिया मंत्र-साधना द्वारा भी पूरी की जाती है। इस तथ्य को इस रूप में समझा जा सकता है कि मंत्र-साधना, विशेषतया गायत्री उपासना से एक प्रकार का लुंज-पुंज व्यक्ति जागृत, सजीव एवं सशक्त हो उठता है। उसी उभरी विशेषता को मंत्र की प्रतिक्रिया या फलित हुई सिद्धि कह सकते हैं।

गायत्री मंत्र के चौबीस अक्षरों में, सम्बद्ध विभूतियों के जागरण की क्षमता है, साथ ही हर अक्षर एक ऐसे सद्गुण की ओर इंगित करता है, जो अपने आप में इतने सशक्त हैं कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का हर पक्ष ऊँचाई की ओर उभारते हैं और उसकी सत्ता अपने आप ही अपना काम करने लगती है। फिर उन सफलताओं को उपलब्ध कर सकना संभव हो जाता है, जिनकी कि किसी देवी-देवता अथवा मंत्राराधन से आशा की जाती है। ओजस्, तेजस्, वर्चस् इन्हीं को कहते हैं। प्रथम चरण में सूर्य जैसी तेजस्विता, ऊर्जा और गतिशीलता मनुष्य में उभरे, तो समझना चाहिए कि उसने वह बलिष्ठता प्राप्त कर ली, जिसकी सहायता से ऊँची छलांग लगाना

और कठिनाइयों से लड़ना संभव होता है । इसी प्रकार दूसरे चरण में देवत्व वरण की बात है । मनुष्यों में ही पशु, पिशाच और देवता होते हैं । शालीनता, सज्जनता, विशिष्टता, भलमनसाहत इन्हीं विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करती हैं । तीसरे चरण में सामुदायिक सद्बुद्धि के अभिवर्धन का निर्देशन है । अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ता । एक तिनका रस्सा नहीं बनाता, एक सींक की बुहारी क्या काम करेगी ? इसलिए कहा जाता है कि एकाकी स्तर के चिन्तन तक सीमित न रहा जाये । सामूहिकता, सामाजिकता को भी उतना ही महत्त्व दिया जाये । सद्बुद्धि से अपने समेत सबको सुसज्जित किया जाये । यह भूल न जाया जाये कि दुर्बुद्धि ही दुष्टता और भ्रष्टता की दिशा में उत्तेजना देती है और यही दुर्गति का निमित्त कारण बनती है ।

दर्शन और प्रक्रिया मिलकर ही अधूरापन दूर करते हैं । गायत्री मंत्र का उपासनात्मक कर्मकाण्ड भी फलप्रद है, क्योंकि शब्द-गुम्फन अन्तः की सभी रहस्यमयी शक्तियों को उत्तेजित करता है, पर यह भी भूला न जाये कि स्वच्छ, शुद्ध, परिष्कृत व्यक्तित्व जब गुण-कर्म-स्वभाव की उत्कृष्टता से परिष्कृत-अनुप्राणित होता है, तभी वह समग्र परिस्थिति बनती है, जिसमें साधना से सिद्धि की आशा की जा सकती है । घिनौने, पिछड़े, अनपढ़ और कुकर्मी व्यक्ति यदि कुछ पूजा-पाठ करते भी रहें, तो उसका कोई उपयुक्त प्रतिफल नहीं देखा जाता । ऐसे ही, एकांगी प्रयोग जब निष्फल रहते हैं, तो लोग समूची उपासना, तथा आध्यात्मिकता को व्यर्थ बताते हुए देखे जाते हैं। बिजली के दोनों तार मिलने पर ही करेन्ट चालू होता है, अन्यथा वे सभी उपकरण बेकार हो जाते हैं, जो विभिन्न प्रयोजनों से लाभान्वित करने के लिए बनाये गये हैं ।

इसीलिए उपासना के साथ जीवन-साधना और लोकमंगल की आराधना को भी संयुक्त रखने का निर्देश है । पूजा उन्हीं की सफल होती है, जो व्यक्तित्त्व और प्रतिभा को परिष्कृत करने में तत्पर रहते हैं, साथ ही सेवा-साधना को, पुण्य-परमार्थ को सींचने, खाद लगाने में भी उपेक्षा नहीं करते । त्रिपदा गायत्री में जहाँ शब्द गठन की दृष्टि से तीन चरण हैं, वहीं साथ में यह भी अनुशासन है कि धर्म-धारणा और सेवा-साधना का खाद-पानी भी उस वट-वृक्ष को फलित होने की स्थिति तक पहुँचाने के लिए ठीक तरह सँजोया जाता रहे ।

यज्ञोपवीत के रूप में गायत्री की अवधारणा

मंत्र-दीक्षा के रूप में गायत्री का अवधारण करते समय, उपनयन संस्कार कराने की भी आवश्यकता पड़ती है । इसी प्रक्रिया को द्विजत्व की, मानवी गरिमा के अनुरूप जीवन परिष्कृत करने की अवधारणा भी कहते हैं । जनेऊ पहनना, उसे कंधे पर धारण करने का तात्पर्य जीवनचर्या को, काय-कलेवर को देव मंदिर-गायत्री देवालय बना लेना माना जाता है । यज्ञोपवीत में नौ धागे होते हैं । इन्हें नौ मानवी विशिष्टताओं को उभारने वाले सद्गुण भी कहा जा सकता है । एक गुण को स्मरण रखे रहने के लिए एक धागे का प्रावधान इसीलिए है कि इस अवधारण के साथ-साथ उन नौ सद्गुणों को समुन्नत बनाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहा जाये, जो अनेक विभूतियों और विशेषताओं से मनुष्य को सुसम्पन्न करते हैं ।

सौरमंडल में नौ ग्रह सदस्य हैं । रत्नों की संख्या भी नौ मानी जाती है । अंकों की शृंखला भी नौ पर समाप्त हो जाती है । शरीर में नौ द्वार हैं । इसी प्रकार अनेकानेक सद्गुणों की, धर्मलक्षणों की गणना में नौ को प्रमुखता दी गई है । वे पास में हों, तो समझना चाहिए कि पुरातनकाल में 'नौ लखा हार' की जो प्रतिष्ठा थी वह अपने को भी करतलगत हो गई । ये नौ गुण इस प्रकार हैं—

(१) **श्रमशीलता**—समय, श्रम और मनोयोग को किसी उपयुक्त प्रयोजन में निरंतर लगाये रहना । आलस्य-प्रमाद को पास न फटकने देना । समय का एक क्षण भी बर्बाद न होने देना । निरंतर कार्य में संलग्न रहना ।

(२) **शिष्टता**—शालीनता, सज्जनता, भलमनसाहत का हर समय परिचय देना । अपनी नम्रता और दूसरों की प्रतिष्ठा का परिचय देना, दूसरों के साथ वही व्यवहार करना, जो औरों से अपने लिए चाहा जाता है । सभ्यता, सुसंस्कारिता और अनुशासन का निरंतर ध्यान रखना । मर्यादाओं का पालन और वर्जनाओं से बचाव का सतर्कतापूर्वक ध्यान रखना ।

(३) मितव्ययिता—'सादा जीवन-उच्च विचार' की अवधारणा ।, उद्धत-शृंगारिक, शेखीखोरी, अमीरी का अहंकारी प्रदर्शन, अन्य रूढ़ियों-कुरीतियों से जुड़े हुए अपव्यय से बचना सादगी है, जिसमें चित्र-विचित्र फैशन

बनाने और कीमती जेवर धारण करने की कोई गुंजायश नहीं है। अधिक खर्चीले व्यक्ति प्रायः बेईमानी पर उतारू तथा ऋणी देखे जाते हैं। उनमें ओछापन, बचकानापन और अप्रामाणिकता-अदूरदर्शिता का भी आभास मिलता है।

(४) **सुव्यवस्था**—हर वस्तु को सुव्यवस्थित, सुसज्जित स्थिति में रखना। फूहड़पन और अस्त-व्यस्तता, अव्यवस्था का दुर्गुण किसी भी प्रयोजन में झलकने न देना। समय का निर्धारण करते हुए, कसी हुई दिनचर्या बनाना और उसका अनुशासनपूर्वक परिपालन करना। चुस्त-दुरुस्त रहने के ये कुछ आवश्यक उपक्रम हैं। वस्तुएँ यथास्थान न रखने पर वे कूड़ा-कचरा हो जाती हैं। इसी प्रकार अव्यवस्थित व्यक्ति भी असभ्य और असंस्कृत माने जाते हैं।

(५) **उदार सहकारिता**—मिल-जुलकर काम करने में रस लेना। पारस्परिक आदान-प्रदान का स्वभाव बनाना। मिल-बाँटकर खाने और हँसते-हँसाते समय गुजारने की आदत डालना। इसे सामाजिकता एवं सहकारिता भी कहा जाता है। अब तक की प्रगति का यही प्रमुख आधार रहा है और भविष्य भी इसी रीति-नीति को अपनाने पर समुन्नत हो सकेगा। अकेलेपन की प्रवृत्ति तो, मनुष्य को कुत्सा और कुंठाग्रस्त ही रखती है।

उपर्युक्त पाँच गुण पंचशील कहलाते हैं, व्यवहार में लाये जाते हैं, स्पष्ट दीख पड़ते हैं। इसीलिए इन्हें अनुशासन वर्ग में गिना जाता है। धर्म-धारणा भी इन्हीं को कहते हैं। इनके अतिरिक्त भाव-श्रद्धा से सम्बन्धित उत्कृष्टता के पक्षधर स्वभाव भी हैं, जिन्हें श्रद्धा-विश्वास स्तर पर अन्तःकरण की गहराई में सुस्थिर रखा जाता है। इन्हें आध्यात्मिक देव-संपदा भी कह सकते हैं। आस्तिकता, आध्यात्मिकता और धार्मिकता का विविध परिचय इन्हीं चार मान्यताओं के आधार पर मिलता है। चार वेदों का सार-निष्कर्ष यही है। चार दिशा-धाराएँ तथा वर्णाश्रम-धर्म के पीछे काम करने वाली मूल मान्यताएँ भी यही हैं।

(६) **समझदारी**—दूरदर्शी विवेकशीलता, नीर-क्षीर विवेक, औचित्य का ही चयन। परिणामों पर गंभीरतापूर्वक विचार करते हुए कुछ करने का प्रयास। जीवन की बहुमूल्य सम्पदा के एक-एक क्षण का श्रेष्ठतम उपयोग। दुष्प्रवृत्तियों के साथ जुड़ी हुई दुर्घटनाओं के सम्बन्ध में समुचित सतर्कता का अवगाहन।

(७) **ईमानदारी**—आर्थिक और व्यावहारिक क्षेत्र में इस प्रकार का बरताव जिसे देखने वाला सहज सज्जनता का अनुमान लगा सके, विश्वस्त समझ सके और व्यवहार करने में किसी आशंका की गुंजायश न रहे। भीतर और बाहर को एक समझे। छल, प्रवंचना, अनैतिक आचरण से दृढ़तापूर्वक बचना।

(८) **जिम्मेदारी**—मनुष्य यों स्वतंत्र समझा जाता है, पर वह जिम्मेदारियों के इतने बंधनों से बँधा हुआ है, कि अपने-परायों में से किसी के भी साथ अनाचरण की गुंजायश नहीं रह जाती। ईश्वर प्रदत्त शरीर, मानस एवं विशेषताओं में से किसी का भी दुरुपयोग न होने पाये। परिवार के सदस्यों से लेकर देश, धर्म, समाज, संस्कृति के प्रति उत्तरदायित्वों का तत्परतापूर्वक निर्वाह। इनमें से किसी में भी अनाचार का प्रवेश न होने देना।

(९) **बहादुरी**—साहसिकता, शौर्य और पराक्रम की अवधारणा। अनीति के सामने सिर न झुकाना। अनाचार के साथ कोई समझौता न करना। संकट देखकर घबड़ाहट उत्पन्न न होने देना। अपने गुण, कर्म, स्वभाव में प्रवेश करती जाने वाली अवांछनीयता से निरंतर जूझना और उसे निरस्त करना। लोभ, मोह, अहंकार, कुसंग, दुर्व्यसन आदि सभी अनौचित्यों को निरस्त कर सकने योग्य संघर्षशीलता के लिये कटिबद्ध रहना।

नौ सद्गुणों की अभिवृद्धि ही गायत्री-सिद्धि

पाँच क्रियापरक और चार भावनापरक, इन नौ गुणों के समुच्चय को ही धर्म-धारणा कहते हैं। गायत्री मंत्र के नौ शब्द इन्हीं नौ दिव्य सम्पदाओं को धारण किये रहने की प्रेरणा देते हैं। यज्ञोपवीत के नौ धागे भी यही हैं। उन्हें गायत्री की प्रतीक प्रतिमा माना गया है और इनके निर्वाह के लिए सदैव तत्परता बरतने के लिए, कन्धे पर धारण कराया जाता है, अर्थात् मानवी गरिमा के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए नौ अनुशासन भरे उत्तरदायित्व कंधे पर धारण करना ही वस्तुतः यज्ञोपवीत धारण का मर्म है। इन्हीं को सच्चे अर्थों में गायत्री मंत्र का जीवनचर्या में समावेश कहते हैं। मंत्रदीक्षा (गुरु-दीक्षा) के समय भी इन्हीं नौ अनुशासनों को हृदयंगम कराया जाता है।

गायत्री मंत्र की साधना से व्यक्ति में ये नौ सद्गुण उभरते हैं । इसी बात को इन शब्दों में भी कहा जा सकता है कि जो इन नौ गुणों को अवधारण करता है, उसी के लिए यह संभव है कि गायत्री मंत्र में सन्निहित ऋद्धि-सिद्धियों को अपने में उभरता देखे । गंदगी वाले स्थान पर बैठने के लिए कोई सुरुचि-सम्पन्न भला आदमी तैयार नहीं होता, फिर यह आशा कैसे की जाये कि निकृष्ट-स्तर का चिन्तन, चरित्र और व्यवहार अपनाये रहने वालों पर किसी प्रकार का दैवी अनुग्रह बरसेगा और उन्हें वह गौरव मिलेगा, जो देवत्व के साथ जुड़ने वालों को मिला करता है ।

ज्ञान और कर्म का युग्म है । दोनों की सार्थकता इसी में है कि वे दोनों साथ-साथ रहें । एक-दूसरे को प्रभावित करें और देखने वालों को पता चले कि जो सीखा, समझा, जाना और माना गया है, वह काल्पनिक मात्र न होकर इतना सशक्त भी है कि क्रिया को, विधि-व्यवस्था को अपने स्तर के अनुरूप बना सके ।

जीवन-साधना से जुड़ने वाले गायत्री महामंत्र के जिन नौ अनुशासनों का ऊपर उल्लेख हो चुका है, उन्हें अपने जीवनक्रम के हर पक्ष में समन्वित किया जाना चाहिए । अथवा यह आशा रखें कि यदि श्रद्धा-विश्वासपूर्वक सच्चे मन से उपासना की गयी हो, तो उसका सर्वप्रथम परिचय इन सद्गुणों की अभिवृद्धि के रूप में परिलक्षित होगा । इसके बाद वह पक्ष आरंभ होगा, जिसे अलौकिक, आध्यात्मिक, अतीन्द्रिय अथवा समृद्धियों, विभूतियों के रूप में प्रमाण-परिचय देने की आशा रखी जाती है ।

गायत्री का तत्त्वदर्शन और भौतिक उपलब्धियाँ

गायत्री उपासना का सहज स्वरूप है—व्याहृतियों वाली त्रिपदा गायत्री का जप । 'ॐ भूर्भुवः स्वः'—यह शीर्ष भाग है, जिसका तात्पर्य है कि आकाश, पाताल और धरातल के रूप में जाने जाने वाले तीनों लोकों में उस दिव्य सत्ता को समाविष्ट अनुभव करना । जिस प्रकार न्यायाधीश की, पुलिस अधीक्षक की उपस्थिति में अपराध करने का कोई साहस नहीं करता, उसी प्रकार सर्वदा, सर्वव्यापी, न्यायकारी सत्ता की उपस्थिति अपने सब ओर सदा-सर्वदा अनुभव करना और किसी भी स्तर की अनीति का आचरण न होने देना ।"ॐ" अर्थात् परमात्मा । उसे विराट् विश्व ब्रह्माण्ड के रूप में व्यापक भी समझा जा सकता है । यदि उसे आत्मसत्ता में समाविष्ट भर देखना हो तो स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर में परमात्मसत्ता की उपस्थिति अनुभव करनी पड़ती है और देखना पड़ता है कि इन तीनों ही क्षेत्रों में कहीं ऐसी मलीनता न जुटने पाये, जिसमें प्रवेश करते हुए परमात्मसत्ता को संकोच हो । साथ ही इन्हें इतना स्वस्थ, निर्मल एवं दिव्यताओं से सुसम्पन्न रखा जाये कि जिस प्रकार खिले गुलाब पर भौंरे अनायास ही आ जाते हैं, उसी प्रकार तीनों शरीरों में परमात्मा की उपस्थिति दीख पड़े और उनकी सहज सदाशयता की सुगंधी से समीपवर्ती समूचा वातावरण सुगंधित हो उठे ।

गायत्री मंत्र का अर्थ सरल और सर्वविदित है—**सवितुः**—तेजस्वी । **वरेण्यं**—वरण करना-अपनाना । **भर्गो**—अनौचित्य को तेजस्विता के आधार पर दूर हटा फेंकना । **देवस्य**—देवत्व की पक्षधर विभूतियों को, **धीमहि**—अर्थात् धारण करना । अन्त में ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि इन विशेषताओं से सम्पन्न परमेश्वर हम सबकी बुद्धियों को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करे, सद्बुद्धि का अनुदान प्रदान करे । कहना न होगा कि ऐसी सद्बुद्धि प्राप्त व्यक्ति, जिसकी सद्भावना जीवन्त हो, वह अपने दृष्टिकोण में स्वर्ग जैसी भरी-पूरी मनःस्थिति एवं भरी-पूरी परिस्थितियों का रसास्वादन करता है । वह जहाँ भी रहता है, वहाँ अपनी विशिष्टताओं के बलबूते स्वर्गीय वातावरण बना लेता है ।

स्वर्ग प्राप्ति के अतिरिक्त दैवी अनुकम्पा का दूसरा लाभ है—मोक्ष । मोक्ष अर्थात् मुक्ति । कषाय-कल्मषों से मुक्ति, दोष-दुर्गुणों से मुक्ति, भव-बंधनों से मुक्ति । यही भव-बन्धन है, जो स्वतंत्र अस्तित्व लेकर जन्मे मनुष्यों को लिप्साओं और कुत्साओं के रूप में अपने बन्धनों में बाँधता है । यदि आत्मशोधनपूर्वक इन्हें हटाया जा सके, तो समझना चाहिए कि जीवित रहते हुए भी मोक्ष की प्राप्ति हो गयी । इसके लिए मरणकाल आने की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती । गायत्री की पूजा-उपासना और जीवन-साधना यदि सच्चे अर्थों में की गयी हो, तो उसकी दोनों आत्मिक ऋद्धि-सिद्धियाँ स्वर्ग और मुक्ति के रूप में निरन्तर अनुभव में उभरती रहती हैं और उनके रसास्वादन से हर घड़ी कृत-कृत्य हो चलने का अनुभव होता है ।

गायत्री उपासना द्वारा अनेकों भौतिक सिद्धियों, उपलब्धियों के मिलने का भी इतिहास-पुराणों में वर्णन है। वशिष्ठ के आश्रम में विद्यमान नन्दिनी रूपी गायत्री ने राजा विश्वामित्र की सहस्रों सैनिकों वाली सेना को कुछ ही पलों में भोजन व्यवस्था बनाकर, उन सबको चकित कर दिया था। गौतम मुनि को माता गायत्री ने अक्षय-पात्र प्रदान किया था, जिसके माध्यम से उन दिनों की दुर्भिक्ष पीड़ित जनता को आहार प्राप्त हुआ था। दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ सम्पन्न कराने वाले शृंगी ऋषि को गायत्री का अनुग्रह ही प्राप्त था, जिसके सहारे चार देवपुत्र उन्हें प्राप्त हुए। ऐसी ही अनेक कथा-गाथाओं से पौराणिक साहित्य भरा पड़ा है, जिनमें गायत्री-साधना के प्रतिफलों की चमत्कार भरी झलक मिलती है।

चौबीस अक्षरों का शक्तिपुंज

गायत्री के नौ शब्द ही महाकाली की नौ प्रतिमाएँ हैं, जिन्हें आश्विन की नवदुर्गाओं में विभिन्न उपचारों के साथ पूजा जाता है। देवी भागवत में गायत्री की तीन शक्तियों का—ब्राह्मी, वैष्णवी, शाम्भवी के रूप में निरूपण किया गया है और नारी वर्ग की महाशक्तियों को चौबीस की संख्या में निरूपित करते हुए, उनमें से प्रत्येक के सुविस्तृत माहात्म्यों का वर्णन किया है।

गायत्री के चौबीस अक्षरों का आलंकारिक रूप से अन्य प्रसंगों में भी निरूपण किया गया है। भगवान के दस ही नहीं, चौबीस अवतारों का भी पुराणों में वर्णन है। ऋषियों में सप्त ऋषियों की तरह उनमें से चौबीस को प्रमुख माना गया है—ये गायत्री के अक्षर ही हैं। देवताओं में से त्रिदेवों की ही प्रमुखता है, पर विस्तार में जाने पर पता चलता है कि वे इतने ही नहीं, वरन् चौबीस की संख्या में भी मूर्धन्य प्रतिष्ठा प्राप्त करते रहे हैं। महर्षि दत्तात्रेय ने ब्रह्माजी के परामर्श से चौबीस गुरुओं से अपनी ज्ञान-पिपासा को पूर्ण किया था। यह चौबीस गुरु प्रकारान्तर से गायत्री के चौबीस अक्षर ही हैं।

सौर मंडल के नौ ग्रह हैं। सूक्ष्म शरीर के छः चक्र और तीन ग्रन्थि समुच्चय विख्यात हैं, इस प्रकार उनकी संख्या नौ हो जाती है। इन सबकी अलग-अलग अभ्यर्थनाओं की रूप-रेखा साधना-शास्त्रों में वर्णित है। गायत्री के नौ शब्दों की व्याख्या में निरूपित किया गया है कि इनसे किस पक्ष की, किस प्रकार साधना की जाये, तो उसके फलस्वरूप किस प्रकार उनमें सन्निहित दिव्यशक्तियों की उपलब्धि होती रहे। अष्टसिद्धियों और नौ निधियों को इसी परिकर के विभिन्न क्षेत्रों की प्रतिक्रिया समझा जा सकता है। अतीन्द्रिय क्षमताओं के रूप में परामनोविज्ञानी मानवी सत्ता में सन्निहित जिन विभूतियों का वर्णन-निरूपण करते हैं, उन सबकी संगति गायत्री मंत्र के खण्ड-उपखण्डों के साथ पूरी तरह बैठ जाती है। देवी भागवत सुविस्तृत उपपुराण है। उसमें महाशक्ति के अनेक रूपों की विवेचना तथा शृंखला है। उसे गायत्री की रहस्यमय शक्तियों का उद्घाटन ही समझा जा सकता है। ऋषि युग के प्रायः सभी तपस्वी गायत्री का अवलम्बन लेकर ही आगे बढ़े हैं। मध्यकाल में भी ऐसे सिद्ध पुरुषों के अनेक कथानक मिलते हैं, जिनमें यह रहस्य सन्निहित है कि उनकी सिद्धियाँ-विभूतियाँ गायत्री पर ही अवलम्बित हैं।

यदि इन्हीं दिनों इस संदर्भ में अधिक जानना हो तो अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा द्वारा प्रकाशित गायत्री महाविज्ञान के तीनों खण्डों का अवगाहन किया जा सकता है। साथ ही यह भी खोजा जा सकता है कि उस ग्रन्थ के प्रणेता ने सामान्य व्यक्तित्त्व और स्वल्प साधन होते हुए भी कितने बड़े और कितने महत्त्वपूर्ण कार्य कितनी बड़ी संख्या में सम्पन्न किये हैं। उन्हें कोई समर्थ व्यक्ति, यों पांच जन्मों में या पाँच शरीरों की सहायता से ही, किसी प्रकार सम्पन्न कर सकता है।

अन्यान्य धर्मों में अपने-अपने सम्प्रदाय से सम्बन्धित एक-एक ही प्रमुख मंत्र है। भारतीय धर्म का भी एक ही उद्गम स्रोत है—गायत्री। उसी के विस्तार रूप में पेड़ के तने, टहनी, पत्ते, फल-फूल आदि के रूप में वेद, शास्त्र, पुराण, उपनिषद्, स्मृति, दर्शन, सूक्त आदि का विस्तार हुआ है। एक से अनेक और अनेक से एक होने की उक्ति गायत्री के ज्ञान और विज्ञान से सम्बन्धित अनेकानेक दिशा-धाराओं से सम्बन्धित साधनाओं की विवेचना करके विभिन्न पक्षों को देखते हुए विस्तार-रहस्य को भली प्रकार समझा जा सकता है।

शिखा-सूत्र और गायत्री मंत्र सभी के लिए

शिखा और सूत्र हिन्दू धर्म के दो प्रतीक चिह्न हैं, ईसाइयों के क्रूस और मुसलमानों के चाँद-तारे की तरह। सृष्टि के आरम्भ में ॐकार, ॐकार से तीन व्याहृतियों के रूप में तीन तत्त्व या तीन गुण, तीन प्राण। इसके बाद अनेकानेक तत्त्वदर्शन और

साधना-विज्ञान के पक्षों का विस्तरण । सृष्टि के साथ जुड़े हुए अनेक भौतिक रहस्य भी उसी क्रम-उपक्रम के साथ जुड़े हुए समझे जा सकते हैं । अन्त में भी जो एक शेष रह जायेगा, वह गायत्री का बीज मंत्र ऊँकार ही है ।

समझदारी का उदय होते ही हर हिन्दू बालक को द्विजत्व की दीक्षा दी जाती है । उसके सिर पर गायत्री का ध्वजारोहण शिखा के रूप में किया जाता है । सूत्र अर्थात् यज्ञोपवीत । उसका धारण नर-पशु से नर-देव के जीवन में प्रवेश करना है । द्विजत्व अर्थात् जीवनचर्या को आदर्शों के अनुशासन में बाँधना । यह स्मरण प्रतीक रूप में हृदय, कंधे, पीठ आदि शरीर के प्रमुख अंगों पर हर घड़ी सवार रहे, इसलिए नौ महान सद्गुणों का प्रतीकं-उपनयन हर वयस्क को पहनाया जाता है ।

मध्यकाल के सामन्तवादी अन्धकार युग में विकृतियाँ हर क्षेत्र में घुस पड़ीं । उन्होंने संस्कृतिपरक भाव-संवेदनाओं और प्रतीकों को भी अछूता नहीं छोड़ा । कहा जाने लगा—गायत्री मात्र ब्राह्मण वंश के लिए है, अन्य जातियाँ उसे धारण न करें । स्त्रियाँ भी गायत्री से सम्बन्ध न रखें । उसे सामूहिक रूप से इस प्रकार न दिया जाये, ताकि कोई दूसरे लोग उसे सुन या सीख सकें । ऐसे मनगढ़ंत प्रतिबंध क्यों लगाये गये होंगे, इसका कारण ढूँढ़ने पर एक ही बात समझ में आती है कि मध्यकाल में अनेकानेक मत-सम्प्रदाय जब बरसाती उद्भिजों की तरह उबल पड़े, तो उन्होंने अपनी-अपनी अलग-अलग विधि-व्यवस्था, प्रथा-परम्परा, भक्ति-साधना आदि के भी अपने-अपने ढंग के प्रसंग गढ़े होंगे । उनके मार्ग में अनादि मान्यता गायत्री से बाधा पड़ती होगी, दाल न गलती होगी । ऐसी दशा में उन सबने सोचा होगा कि इस अनादि मान्यता के प्रति अनेक संदेह पैदा किये जायें, जिससे भले लोगों का ध्यान शाश्वत प्रतिष्ठापना की ओर से विरत किया जा सके ।

कलियुग में गायत्री फलित नहीं होती, यह कथन भी ऐसे ही लोगों का है । इन लोगों को बतलाया जा सकता है, कि युगनिर्माण योजना ने किस प्रकार गायत्री महामंत्र के माध्यम से समस्त संसार के नर-नारियों को इस दिशा-धारा के साथ जोड़ा है और उनमें से उन सभी को उल्लास भरे प्रतिफल किस प्रकार मिले हैं, जिन्होंने गायत्री उपासना के साथ जीवन-साधना को भी जोड़ रखा है । यदि उनके प्रतिपादन सही होते, तो गायत्री की अनुपयोगिता के पक्ष में लोकमत हो गया होता, जबकि विवेचना से प्रतीत होता है कि इन्हीं दिनों उसका विश्वव्यापी विस्तार हुआ है और अनुभव के आधार पर सभी ने यह पाया है कि 'सद्बुद्धि' की उपासना ही समय की पुकार और श्रेष्ठतम उपासना है ।

इस संदर्भ में नर और नारी का भी कोई अंतर नहीं स्वीकारा जा सकता है । गायत्री स्वयं मातृरूपा है । माता की गोद में उनकी पुत्रियों को न बैठने दिया जाये, यह कहाँ का न्याय है ? भगवान के साथ रिश्ते जोड़ते हुए उसे 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' जैसे श्लोकों में परमात्मा को सर्वप्रथम माता, बाद में पिता, मित्र-सखा, गुरु आदि के रूप में बताया गया है । गायत्री को नारी रूप में मान्यता देने के पीछे एक प्रयोजन यह भी है कि मातृशक्ति के प्रति इन दिनों जो अवहेलना, अवज्ञा का भाव अपनाया जा रहा है, उसे निरस्त किया जा सके । अगली शताब्दी नारी-शताब्दी है । अब तक हर प्रयोजन के लिए नर को प्रमुख और नारी को गौण ही नहीं, हेय भी माना जाता रहा है । उसे पहरेदारी में, मानवाधिकारों से वंचित रखे जाने योग्य माना जाता रहा है । अगले दिनों यह मान्यता सर्वथा उलट दी जाने वाली है । नारी-वर्चस्व को प्राथमिकता मिलने जा रही है । ऐसी दशा में यदि भगवान को नारी रूप में प्रमुखतापूर्वक मान्यता मिले, तो उसमें न तो कुछ नया है और न अमान्य ठहराने योग्य । यह तो शाश्वत परम्परा का पुनर्जीवन मात्र है । स्रष्टा ने सर्वप्रथम प्रकृति को नारी के रूप में ही सृजा है । उसी की उदरदरी से प्राणिमात्र का उद्भव-उत्पादन बन पड़ा है । फिर नारी को गायत्री साधना से, उपनयन धारण से वंचित रखा जाये, यह किस प्रकार बुद्धिसंगत हो सकता है । शान्तिकुञ्ज के गायत्री आन्दोलन ने रूढ़िवादी प्रतिबंधों को इस संदर्भ में कितनी तत्परता और सफलतापूर्वक निरस्त करके रख दिया है, इसे कोई भी, कहीं भी देख सकता है । गायत्री उपासना और यज्ञोपवीतधारण को बिना किसी भेद-भाव के सर्वसाधारण के लिए अपनी योग्य स्थिति में ला दिया गया है । उसके सत्परिणाम भी प्रत्यक्ष मिलते देखे जा रहे हैं । अगले दिनों समस्त संसार एक केन्द्र की ओर बढ़ता जा रहा है । ऐसी दशा में गायत्री को सार्वभौम मान्यता मिले और उसे सार्वजनीन ठहराया जाये, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

यज्ञ और गायत्री एक-दूसरे के पूरक

गायत्री का पूरक एक और भी तथ्य है—यज्ञ । दोनों के सम्मिश्रण से ही एक पूर्ण आधार विनिर्मित होता है । भारतीय संस्कृति के जनक-जननी के रूप में यज्ञ और गायत्री को ही माना जाता है । यह प्रकृति और पुरुष हैं। इन्हें महामाया एवं परब्रह्म की संयुक्त संयोजनस्तर की मान्यता मिली है । इसलिए गायत्री की दैनिक साधना में अग्नि को साक्षी रखने की, दीपक, अगरबत्ती आदि को संयुक्त रखने की प्रक्रिया चलती है । गायत्री पुरश्चरण के उपरान्त जप के अनुपात से हवन करने, आहुति देने का विधान है। दोनों को मिलाकर गायत्री-यज्ञ प्रक्रिया बनती है । धार्मिक कर्मकाण्डों में वही सर्वोपरि है। धर्मकृत्यों के, हर्षोत्सवों के सफल शुभारंभ के अवसर पर प्रायः गायत्री यज्ञ की ही प्रक्रिया सम्पन्न होती है । षोडश-संस्कारों में, पर्व-त्यौहारों में उसी की प्रमुखता एवं अनिवार्यता रहती है ।

यज्ञाग्नि की गोदी में हर भारतीय धर्मानुयायी को चिता पर सुलाया जाता है । जन्मकाल में नामकरण, पुंसवन आदि संस्कारों के समय यज्ञ होता है । यज्ञोपवीत संस्कार की चर्चा में ही 'यज्ञ' शब्द का प्रथम प्रयोग होता है । विवाह में अग्नि की सात परिक्रमाओं का प्रमुख विधि-विधान है । वानप्रस्थ भी यज्ञ की साक्षी में किया जाता है । सभी पर्व-त्यौहार यज्ञाग्नि के सम्मिश्रण से ही सम्पन्न होते हैं । भले ही इस विस्मृति के जमाने में उसे अशिक्षित होने पर भी महिलाएँ 'अग्यारी' के रूप में चिह्न-पूजा की तरह सम्पन्न कर लिया करें । होली तो वार्षिक यज्ञ है । नवान्न का अपने लिए प्रयोग करने से पूर्व उसे सभी लोग पहले यज्ञ पिता को अर्पण करते हैं, बाद में स्वयं खाने का प्रचलन है ।

गायत्री का एक अविच्छिन्न पक्ष 'यज्ञ' प्राचीनकाल की मान्यताओं के अनुसार तो परब्रह्म का प्रत्यक्ष मुख ही माना गया है । प्रथम (वेद-ऋग्वेद) के प्रथम मंत्र में यज्ञ को पुरोहित की संज्ञा दी है, साथ ही यह भी कहा है कि वह होताओं को मणिमुक्तकों की तरह बहुमूल्य बना देता है । अग्नि की ऊर्जा और तेजस्विता ऐसी है, जिसे हर किसी को धारण करना चाहिए । अग्नि अपने सम्पर्क में आने वालों को अपनी ऊर्जा प्रदान करती है, वही रीति-नीति हमारी भी होनी चाहिए ।

शान्तिकुञ्ज के ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान में जो शोध-कार्य उच्च वैज्ञानिक शिक्षण प्राप्त विशेषज्ञों द्वारा चल रहा है, उसमें गायत्री-मंत्र के शब्दोच्चारण और यज्ञ से उत्पन्न ऊर्जा की इस प्रयोजन के लिए खोज की जा रही है कि उनका प्रभाव अध्यात्म तक ही सीमित है या भौतिक क्षेत्र पर भी पड़ता है । पाया गया है कि गायत्री मंत्र के साथ जुड़ी हुई यज्ञ-ऊर्जा पशु-पक्षियों, वृक्ष-वनस्पतियों तक के उत्कर्ष में सहायक होती है । उसमें मनुष्यों के शारीरिक एवं मानसिक रोगों के निवारण कर सकने की तो विशेष क्षमता है ही, प्रदूषण के निवारण और वातावरण का परिशोधन भी उसके माध्यम से सहज बन पड़ता है । इसके अतिरिक्त ऐसी संभावनाएँ और भी प्रकट होने की आशा है, जिनके आधार पर और भी व्यापक समस्याओं में से अनेकों का निराकरण बन सके । ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान के अतिरिक्त देश के हर कोने में यज्ञ परम्परा को प्रोत्साहन देते हुए यह जाँचा जा रहा है कि उस संभावित ऊर्जा के सहारे सत्प्रवृत्ति संवर्धन और दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन में कहाँ, किस प्रकार, किस हद तक सहायता मिलती देखी गयी है । गायत्री यज्ञों को एक स्वतन्त्र आन्दोलन के रूप में धर्मानुष्ठान का स्तर प्रदान किया गया है । उस अवसर पर उपस्थित जन-समुदाय को यह भी समझाने का उपक्रम चलता है कि गायत्री यज्ञों में सन्निहित उत्कृष्टतावादी प्रतिपादनों के अवधारण से वैयक्तिक एवं सामूहिक अभ्युदय में कितनी महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है । पिछले दिनों गायत्री के माध्यम से अध्यात्म विद्या, भौतिक प्रयोग एवं आध्यात्मिक प्रभाव की व्यापक रूप से जाँच-पड़ताल हुई है और उसे हर दृष्टि से उपयोगी पाया गया है ।

एक आध्यात्मिक प्रयोग

यह युग संधि की वेला है । बीसवीं सदी में यज्ञाग्नि ही अवांछनीयताओं का समापन एवं इक्कीसवीं सदी के साथ उज्ज्वल भविष्य के आगमन एवं सतयुग की वापसी का वातावरण विनिर्मित करने जा रही है । दोनों शताब्दियों की मध्यवर्ती अवधि वाली युग-संधि इन्हीं दिनों चल रही है । इस प्रयोजन के लिए जहाँ व्यावहारिक प्रत्यक्ष प्रयासों को क्रियान्वित किया जा रहा है, वहाँ एक अभूतपूर्व आध्यात्मिक प्रयोग भी साथ जुड़ा रखा गया है । एक करोड़ साधकों द्वारा एक लाख गायत्री यज्ञ इन्हीं दिनों सम्पन्न किये जा रहे हैं और आशा की जा रही है कि

भागीरथी गंगावतरण जैसा अभिनव सुयोग एक बार फिर उतरेगा। गायत्री मंत्र के साथ यज्ञ-ऊर्जा जुड़ जाने से अभीष्ट उद्देश्य का विस्तार उसी प्रकार होता है, जैसे कि पतली सी आवाज लाउडस्पीकर के साथ जुड़ जाने पर दूर-दूर तक सुनी जा सकने योग्य बनती है। रेडियो-प्रसारण और दूरसंचार उपक्रम में भी यही विद्या काम करती है। यज्ञाग्नि की बिजली, गायत्री मन्त्र की शब्द शृंखला के साथ समन्वित होकर अभीष्ट धर्म-कृत्य को स्थानीय नहीं रहने देती वरन् व्यापक क्षेत्र को प्रभावित करती है। उससे असंख्य लोग अनेकानेक प्रकार से लाभान्वित होते हैं।

बैट्रियाँ बहुत बड़ी-बड़ी भी होती हैं और इतनी छोटी भी कि सामान्य सी घड़ी के बीच बैठकर उस यन्त्र को साल भर तक चलाती रह सके। गायत्री यज्ञ बड़े आकार के भी हो सकते हैं और दीपयज्ञ स्तर के छोटे आकार वाले भी। चिनगारी छोटी होती है, फिर भी उसमें ज्वालमाल-दावानल बनने की संभावना विद्यमान रहती है।

गायत्री मन्त्र के साथ जुड़ी हुई ऊर्जा ऐसे ही चमत्कार उत्पन्न करती है, भले ही वह आकार में छोटी ही क्यों न हो? साधन-सामग्री की मँहगाई, लम्बा समय और पुरोहितों की दान-दक्षिणाओं का भार सहन न कर पाने की वर्तमान उपेक्षा को देखते हुए दीप-यज्ञों के रूप में गायत्री मन्त्र के अभिनव प्रयोग चल पड़े हैं और उनका प्रतिफल भी उच्चस्तरीय एवं व्यापक क्षेत्र को प्रभावित करते हुए देखा गया है।

युग संधि की वर्तमान दस वर्षीय अवधि में शान्तिकुंज से दो अत्यन्त प्रचंड संकल्प उभरे हैं। एक—दीप-यज्ञीय माध्यम से एक लाख सृजन साधक खड़े करना। दूसरा—उभरे प्रयास में सहभागी बनने के लिए एक करोड़ व्यक्तियों को जुटाना। दोनों प्रयोजन जिस गति से सम्पन्न होते चलेंगे, उसी अनुपात से नवयुग की, सतयुग की वापसी के अनुरूप वातावरण बनता चला जायेगा। इसमें प्रयोग और प्रयास में सफल होने की संभावनाएँ अभियान को आरम्भ करते-करते ही दीख पड़ रही हैं। भविष्य के सम्बन्ध में आशापूर्वक विश्वास किया गया है कि नवयुग के अवतरण की महती संभावना नियत समय पर होकर रहेगी। पुरुषार्थ अपनी जगह है और परमार्थ अपनी जगह। दोनों के समन्वय से, एक और एक के अंक बराबर रखने पर दो नहीं, वरन् ग्यारह बन जाता है, इस कथनी की यथार्थता वर्तमान दीपयज्ञ समारोहों से फलित होती अगले ही दिनों देखी जा सकेगी। एक लाख संगठित आध्यात्मिक प्रयोग और एक करोड़ व्यक्तियों द्वारा अपनाये गये सृजन-पुरुषार्थ दोनों मिलकर नवयुग का अवतरण सम्भव बनायें और उसे मत्स्यावतार की तरह विश्वव्यापी बनायें तो इसमें किसी को भी आश्चर्य नहीं करना चाहिए।

यह मान्यता सभी विचारशीलों एवं सभी युग मनीषियों द्वारा स्वीकारी गयी है कि इन दिनों व्यक्ति और समाज के सामने जो संकट और विग्रहों के घटाटोप छाये हुए हैं, उनका मुख्य कारण बुद्धि का भटकाव है। भ्रष्ट चिन्तन से दुष्ट आचरण और उसके फलस्वरूप अनर्थों की बाढ़ आयी हुई है। उसका निराकरण करने के लिए विचारक्रांति ही एक मात्र उपचार है। जन-मानस को परिष्कृत किए बिना विग्रहों के अनेकानेक स्वरूपों का निराकरण संभव नहीं हो सकेगा। विचारक्रांति अपने युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इसे सम्पन्न करने के लिए गायत्री यज्ञ में सन्निहित तत्त्वज्ञान जनमानस में प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए, साथ ही यह भी आवश्यक है कि आद्यशक्ति, समग्र शक्ति के रूप में जानी-जाने वाली गायत्री उपासना को भी प्रश्रय दिया जाये। यह पर्याप्त न होगा कि कुछ ही लोग उसकी कठोर तपश्चर्या सम्पन्न करके कर्त्तव्य की इतिश्री कर लें, वरन् आवश्यक यह भी है कि इसके साथ जन-जन की प्राण-चेतना का समन्वय हो। अधिकाधिक लोग एक स्तर की साधना पद्धति अपनायें और उसके सहारे बन पड़ने वाली सामूहिक प्राण-ऊर्जा का विस्तार करते हुए वह प्रक्रिया सम्पन्न करें, जिसे सीमित रखने से काम नहीं चलेगा, वरन् उसकी व्यापकता, बहुलता ही अभीष्ट प्रयोजनों की पूर्ति वाला लक्ष्य पूरा कर सकेगी।

अनेक प्रयोजनों के लिए गायत्री उपासना के अनेक विधि-विधान हैं। उनका विस्तृत वर्णन साधना विज्ञान से सम्बन्धित शास्त्रों, अनुभवों और निष्णातजनों से प्राप्त किया जा सकता है। उपयुक्त गुरु चुनते हुए उनके मार्गदर्शन में की गयी साधना अगणित फलदायी होती है। मानसिक जप कहीं भी करते रहने में कोई आपत्ति नहीं, किन्तु यदि किसी प्रयोजन विशेष से एक संकल्पित अनुष्ठान किया जाना है तो विधि-विधान विस्तार

से जानकर ही उसे आरम्भ किया जाना चाहिए । यहाँ यह भ्रान्ति भली-भाँति मिटा लेनी चाहिए कि गायत्री की उपासना किसी भी साधक को किसी प्रकार की हानि पहुँचाती है, वस्तुतः गायत्री-साधना कभी किसी प्रकार की कोई भी क्षति साधक को नहीं पहुँचाती है, क्योंकि यह तो सद्बुद्धि अवधारणा की साधना है ।

आत्मशोधन, साधना का एक अनिवार्य चरण

ऑपरेशन करने से पूर्व औजारों को उबालना पड़ता है । सिनेमा घर में प्रवेश करने वालों के पास गेट पास होना चाहिए । पूजा-उपासना के कर्मकाण्डों की विधा अपनाने से पूर्व साधक की निजी जीवनचर्या उच्चकोटि की होनी चाहिए । प्राचीन काल में यह तथ्य अध्यात्म विज्ञान में पहला चरण बढ़ाने वालों को भी समय से पूर्व जानने होते थे । अब तो लोग मात्र कर्मकाण्डों को ही सब कुछ मानने लगे हैं और सोचते हैं कि अमुक विधि से अमुक वस्तुओं की, अमुक शब्दों के उच्चारण द्वारा मनोवांछित अभिलाषाएँ पूरी कर ली जायेंगी । इस सिद्धान्तविहीन प्रक्रिया का जब कोई परिणाम नहीं निकलता, समय की बर्बादी भर होती है, तो दोष जिस-तिस पर लगाते हैं । लोग वर्णमाला सीखना अनावश्यक मानते हैं और एम०ए० का प्रमाण-पत्र झटकने की फिराक में फिरते हैं । समझा जाना चाहिए कि राजयोग के निर्माता महर्षि पातञ्जलि ने पहले यम और नियमों के परिपालन को प्रमुखता दी है, इसके बाद ही आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि साधनात्मक प्रयोजनों की शिक्षा दी है । गायत्री मंत्र के साधकों को सर्वप्रथम सद्बुद्धि धारण करने, सत्कर्म अपनाने की प्रक्रिया अपनानी चाहिए । जब प्रथम कक्षा में उत्तीर्ण होने में सफलता मिल जाये, तब रेखा-गणित, बीज-गणित, व्याकरण आदि का अभ्यास करना चाहिए । आज की महती विडम्बना यह है, कि लोग विधि-विधान, कर्मकाण्डों, उच्चारणों को ही समग्र समझ बैठते हैं और उतने भर से ही यह अपेक्षा कर लेते हैं कि उन पर दैवी वरदान बरसने लगेंगे और सिद्धियाँ, विभूतियाँ बटोरने में सफलता मिल जायेगी । समझना चाहिए कि अध्यात्म विद्या, जादूगरी-बाजीगरी नहीं है । उसके पीछे व्यक्तित्त्व को उभारने, निखारने और उत्कृष्ट बनाने की अनिवार्य शर्त जुड़ी हुई है, जिसे प्रथम चरण में ही पूरा करना पड़ता है ।

बाजार में ऐसी ही मन्त्र-तन्त्र की पुस्तकें बिकती हैं, जिनमें अमुक कर्मकाण्ड अपनाने पर अमुक सिद्धि मिल जाने की चर्चा होती है । तथाकथित गुरू लोग भी ऐसी ही कुछ क्रिया-प्रक्रिया भर को पूर्ण समझते और शिष्यों को वैसा ही कुछ बताते हैं । इस प्रकार भ्रमग्रस्तों में से एक को धूर्त और दूसरे को मूर्ख कहा जाये, तो अत्युक्ति न होगी । धातुओं को, रसायनों को, विष को सर्वप्रथम शोधन, जारण, मारण आदि के द्वारा प्रयोग में आने योग्य बनाना पड़ता है, तभी उन्हें औषधि की तरह प्रयुक्त किया जाता है । मकरध्वज जैसी रसायन बनाने के प्रारम्भिक झंझट से बचकर कोई कच्चा पारा खाने लगे, तो बलिष्ठता प्राप्त करने की आशा नहीं की जा सकती, उलटे हानि ही अधिक होगी ।

परिष्कृत जीवन को परिपुष्ट जीवन कह सकते हैं और पूजा-पाठ को शृंगार । स्वस्थता के रहते यदि शृंगार भी सजा लिया जाये, तो हर्ज नहीं, पर अकेले शृंगार सज्जा बनाकर कोई कृषकाय, जराजीर्ण, रोगग्रस्त, मात्र उपहासास्पद ही बन सकता है । इन दिनों तो शृंगार को ही सब कुछ मान बैठे हैं और स्वस्थता की आवश्यकता नहीं समझते । मन्त्र-तन्त्र का कर्मकाण्ड पूरा करके ही बड़ी-बड़ी आशा-अपेक्षा करने लगते हैं । मान्यता में बेतुकापन रहने से जब कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, तो नास्तिकों जैसी मान्यता बनाने या चर्चा करने लगते हैं ।

इन पंक्तियों में विभिन्न प्रकार के कर्मकाण्डों की चर्चा इसलिए नहीं की जा रही है कि यदि जीवन साधना कर ली गयी हो, तो उलटा नाम जपने वालों को भी ब्रह्म-समान बन जाने के तथ्य सामने आते देखे गये हैं । मात्र राम-नाम के प्रभाव से ही पत्थर की शिलाएँ पानी पर तैरने जैसी कथा-गाथाएँ सही रूप में सामने आती देखी जाती हैं । अन्यथा रावण, मारीच, भस्मासुर आदि के द्वारा की गई कठोर शिव-साधना भी परिणाम में मात्र अनर्थ ही प्रस्तुत करती देखी गई है । मातृ-शक्ति की पवित्रता और उत्कृष्टता अन्तःकरण के मर्मस्थल तक जमा ली जाये, तो उससे भी इन्हीं नेत्रों द्वारा हर कहीं, हर कभी, देवी का साक्षात्कार होने लगता है ।

—0—

गायत्री उपासना अनिवार्य है—आवश्यक है

मनुष्य का अस्तित्त्व दो तत्त्वों के संयोग से है, एक है—पदार्थपरक भौतिक शरीर और दूसरा है—चेतना परक अन्तःकरण । शरीर और चेतना दोनों ही मानवी गरिमा के अनुरूप हों तब ही परिपूर्ण गौरवमय मनुष्य बन सकता है अन्यथा एकांगी व्यक्तियों से मनुष्य का और उसके फलस्वरूप सारे संसार का संतुलन बिगड़ता रहेगा ।

मनुष्य के भौतिक पक्ष शरीर से लेकर परिस्थितियों तक के सुधार-संभाल के लिये अनेकानेक माध्यम विकसित हो गये हैं और हो रहे हैं, किन्तु चेतना के परिष्कार की ओर काफी उपेक्षा निछले दिनों बरती गयी है । वह उपेक्षा भौतिकला के नाम पर भी आयी और धार्मिक मूढ़ताओं के कारण भी । जो भी हो, मानवी चेतना के परिष्कार के क्रम छूटने की अगणित हानियाँ मनुष्य समाज को उठानी पड़ी हैं ।साधन-सम्पन्नता बढ़ने पर भी सुख-संतोष न बढ़ने का कारण यही है ।

चेतना परिष्कार का मानवी अंतःसंस्थान को पुष्ट और प्रामाणिक बनाने का बहुत ही सशक्त माध्यम ईश्वर उपासना है । आज बड़े से बड़े वैज्ञानिक भी ब्रह्माण्ड व्यापी किसी चेतन सत्ता के अस्तित्त्व को स्वीकार करने लगे हैं । उसकी उपस्थिति का आभास ब्रह्माण्ड से लेकर परमाणु तक में होता है । उसी महत् चेतना का अंश मनुष्य के अन्दर भी है । उसी के नाते मनुष्य अद्भुत, अनुपम कहा जा सकता है । उस चेतना के धूमिल पड़ते ही मनुष्य और पशु में नहीं के बराबर ही अन्तर रह जाता है । अंतःचेतना को जीवन्त एवं प्रखर बनाये रखने का एक माध्यम है-उसे महत् चेतना से सम्बद्ध रखना । उस सम्बन्ध को अधिक सघन, अधिक सशक्त बनाना । ईश्वर-उपासना इसी प्रक्रिया के विधि-विधान का नाम है ।

बिजली घर के साथ सम्बन्ध जुड़े रहने पर ही घर के बल्व, पंखे, हीटर, रेडियो आदि में गतिशीलता रहती है । सम्बन्ध कट जाने पर यह सब यन्त्र ठीक रहने पर भी निष्क्रिय बन जाते हैं । ईश्वर इस ब्रह्माण्ड में संव्याप्त वह दिव्य चेतना है, जिसका एक छोटा अंश तो जीवन-यापन के लिये आवश्यक क्षमता प्राप्त करने जितनी मात्रा में हर किसी को मिला हुआ है । उतने से ही हर प्राणी को अपनी जीवनचर्या चलानी पड़ती है । जीव को ईश्वर का अंश इसी अर्थ में कहा जाता है, कि उसे ब्रह्म चेतना की उतनी मात्रा सहज ही उपलब्ध है जिसके आधार पर शरीर में क्रियाशीलता और मन में विचारण की उतनी क्षमता संजोये रहता है, जिससे जीवन-यापन के आवश्यक साधन जुटा सके । यह ईश्वरीय अनुदान की सहज स्वाभाविक प्रक्रिया हुई । इससे आगे की बात यह है कि चेतना के उस विशाल सागर में से प्रयत्नपूर्वक अधिक मात्रा में विशिष्टता खींची और धारण की जा सके । इसी प्रयास-पुरुषार्थ को उपासना कहते हैं ।

सूर्य की धूप हर जगह एक जैसी पड़ती है, पर आतिशी शीशे पर कुछ किरणें एकत्रित करने भर से आग जलने जैसी गर्मी उत्पन्न हो सकती है । भगवान की बिखरी हुई सत्ता को आकर्षित एवं एकत्रित करने से व्यक्ति की आत्मिक क्षमता अत्यधिक बढ़ सकती है और उस संचय के बल पर भौतिक दृष्टि से सुसंपन्न एवं आत्मिक दृष्टि से सुसंस्कृत बना जा सकता है । बिजलीघर में शक्ति का भण्डार भरा रहता है, उसके साथ सम्बन्ध जोड़ने वाले सूत्र जितने दुर्बल होते हैं, उसी अनुपात से बिजली की मात्रा का आगमन होता है और उससे मशीनें चलती हैं । हल्की फिटिंग तो हर किसी में है और उतने में से थोड़ी शक्ति के कुछ ही बल्व जल सकते हैं, पर यदि मीटर तथा सम्बन्ध सूत्रों को बलिष्ठ बना दिया जाया जाय तो उसी स्थान पर शक्तिशाली कारखाना धड़धड़ाने लगता है ।यह बिजली की अधिक मात्रा प्राप्त होने का परिणाम है ।

बादलों से वर्षा होती रहती है और गिरने वाला पानी नालियों से होकर थोड़ी ही देर में अन्यत्र चला जाता है किन्तु जहाँ जितनी गहराई है वहाँ उसी अनुपात में पानी के भण्डार जमा होने लगते हैं । सूर्य की किरणों, बिजली की मात्रा, बादलों के अनुदान की भाँति ही ईश्वरीय सामर्थ्य को आत्म-सत्ता में एकत्रित कर लेने की बात है । यह कार्य उपासना द्वारा ही सम्भव

होता है । यदि उसे मात्र क्रिया-कृत्य तक सीमित न किया जाये और चिन्तन-मनन के तथ्यों को जोड़कर रखा जाये तो निस्संदेह उपासना बहुत ही फलवती हो सकती है । यह दैवी अनुदान भौतिक धन-सम्पत्ति, विद्या, बुद्धि-प्रतिभा, प्रगति आदि साधन जमा कर लेने की तुलना में कम नहीं अधिक ही लाभदायक सिद्ध होता है । मानवी सत्ता में उसकी चेतना ही सब कुछ है । पंच तत्त्वों से बना काय-कलेवर तो औजार-उपकरण मात्र है । चेतना में ईश्वरीय प्रखरता बढ़ने और भरने लगे तो समझना चाहिए कि सच्ची, चिरस्थायी एवं सर्वतोमुखी प्रगति का द्वार खुल गया । स्पष्ट है कि मनुष्य के बाह्य जीवन में जैसी भी कुछ परिस्थितियाँ दिखाई पडती हैं वे उसकी आन्तरिक स्थिति का ही परिणाम हैं । यदि आंतरिक स्थिति की उत्कृष्टता का समावेश हो सके तो निश्चित रूप से बाह्य जीवन समृद्ध एवं सुसंस्कृत होकर ही रहेगा । उपासना से इसी सच्ची प्रगति की भूमिका विनिर्मित होती है ।

उपासना का अर्थ है-समीप बैठना । शक्तिशाली तत्त्वों के जितना ही निकट पहुँचते हैं उतना ही उसकी विशिष्टता का लाभ मिलता है ।आग के पास जाने से गर्मी मिलती है । चन्दन-वृक्ष के पास उगे हुए झाड़-झंखाड़ भी सुगंधित हो जाते हैं । दुर्गन्ध अथवा सुगन्ध के जितने समीप पहुँचते हैं उतनी ही उनकी भली और बुरी अनुभूति होती है । सत्संग और कुसंग के सुखद-दुःखद परिणामों में समीपता ही कारण होती है । पारस को छूकर लोहे का सोना बन जाना प्रसिद्ध है । चुम्बक से कुछ समय लोहा सटा रहे तो वह लौह खण्ड भी चुम्बक की विशेषताओं से युक्त हो जाता है । ईश्वर की समीपता, उपासना–यदि इसी सिद्धान्त को समझते हुए की गई है तो उसका प्रभाव भी ऐसा ही मंगलमय होना चाहिए । पेड़ का आश्रय पाकर बेल उतनी ही ऊपर चड़ सकती है, जितनी की वृक्ष की ऊँचाई होती है । वादक के होठों पर लगने से बाँसुरी बजती है, पतंग अपनी डोरी उड़ाने वाले के हाथ में सौंप कर आकाश में ऊँची उड़ने लगती है । कठपुतली के धागे जब बाजीगर की उँगलियों से बँध जाते है तो उन लकड़ी के टुकड़ों का मनोरम दिव्य कौशल देखते ही बनता है । उपासना से जीव और ईश्वर की ही निकटता बनती है, फलतः उसका लाभ भी वैसा ही हो सकता है, जैसा कि इतिहास के पृष्ठों पर अंकित अगणित भक्तजनों को मिलने का उल्लेख है ।

उपासना का स्तर यदि और भी गहरा हो जाये और समीपता की श्रद्धा एक कदम और आगे बढ़कर एकता के स्तर तक पहुँच जाये तो भक्त अेर भगवान की स्थिति एक जैसी ही हो जाती है । आग में पड़ी हुई लकड़ी भी जलने लगती है । गंगा में मिलने पर गंदा नाला भी गंगाजल बन जाता है । पति-पत्नी मान एवं वैभव संयुक्त हो जाता है । बूँद जब समुद्र से मिलती है, तो समुद्र ही बन जाती है । दूध और पानी जब परस्पर मिल जाते हैं तो दोनों का भाव एक जैसा ही हो जाता है । चेतना के संयोग से जड़ शरीर भी विभिन्न प्रकार के महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करता है । जब यह संयोग वियोग में बदल जाता है, तो फिर शरीर को सड़-गल कर नष्ट होते देर नहीं लगती । ऐसी दशा में कुछ काम कर सकना तो सम्भव ही नहीं रहता । ईश्वर और जीव की समीपता, सघनता की बात भी ऐसी ही है । यह महान प्रयोजन उपासना के माध्यम से ही सिद्ध होता है ।

व्यक्ति और समाज का वास्तविक हित-साधन आस्तिकता को अलग कर देने से सम्भव न हो सकेगा । आस्तिकता मात्र मान्यता तक सीमित रहे तो वह उथली रहेगी । गहराई और मजबूती रखनी हो, तो उपासना द्वारा उसे निरंतर परिपुष्ट करना होगा । इसलिए प्रत्येक विज्ञ व्यक्ति को निजी जीवन-क्रम में उपासना की प्रक्रिया सम्मिलित रखनी चाहिए और उसे अपने और अपने परिवार में आरोपित करने के साथ-साथ सामाजिक प्रचलन के रूप में अधिकाधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न करना चाहिए ।

उपासना पद्धतियाँ अनेकानेक प्रचलित हैं । सम्प्रदाय भेद से उनके अनेकों स्वरूप और विधान दृष्टिगोचर होते हैं । इन सभी को मान्यता दी जाती रहे तो दार्शनिक और भावनात्मक विश्रृंखलता बनी ही रहेगी । अगला युग एकता का है । इसके बिना विग्रह बढ़ेंगे और संकट खड़े होंगे । एक भाषा, एक राष्ट्र, एक संस्कृति अपनाये बिना विश्व-मानव का स्वरूप ही नहीं निखरेगा । वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना शब्दाडम्बर बनकर ही रह जायेगी । मानवी संस्कृति, आचार-व्यवहार में एकता स्थापित करनी होगी । साथ ही आस्तिकता का स्वरूप और व्यवहार भी एकता के केन्द्र पर ही केन्द्रित करना होगा । समस्त विश्व में प्रचलित आस्तिकतावादी

मान्यताओं और उपासनाओं का सारतत्त्व ढूँढ़ना हो तो वह गायत्री मंत्र में बीज रूप में विद्यमान पाया जा सकता है । इसमें सार्वजनीन एवं सार्वभौम बनने योग्य सभी विशिष्टतायें विद्यमान हैं । इन चौबीस अक्षरों में बीज रूप से वह तत्त्वदर्शन भरा पड़ा है, जिसे व्यक्ति और समाज की सुव्यवस्था के लिए एक उच्चस्तरीय आचार संहिता कहा जा सके । इसी प्रकार साधना-उपासना से जिन सिद्धियों और विभूतियों की अपेक्षा की जाती है, उन समस्त संभावनाओं का आधार इस महामन्त्र में मौजूद है । नवयुग में एक ही उपासना पद्धति अपनानी होगी और तत्त्व-दर्शन की एक धुरी ही रखनी होगी । इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए गायत्री मन्त्र से बढ़कर और कोई माध्यम संसार भर में अन्य कोई ढूँढ़ा नहीं जा सकेगा । अस्तु, उसका परिचय, प्रचलन एवं आलोक जितनी तत्परतापूर्वक व्यापक बनाया जा सके, उतनी ही सरलता से लोक-मानस को विश्व-मानव के लिए उपयुक्त स्तर का बनाने में सरलता होगी और सफलता मिलती चली जायेगी ।

उपासना का आधार और प्रभाव

कहा जा चुका है कि उपासना कि अर्थ है–समीपता । ईश्वर और जीव में यों समीपता ही है । जब भगवान कण-कण में संव्याप्त हैं, तब मानवी काया एवं चेतना में भी वे समाये हुए क्यों नहीं होंगे । जो अपने में ओत-प्रोत ही हैं, वह दूर कैसे? और जो दूर नही हैं उसकी समीपता का क्या अर्थ ? इस असमंजस की विवेचना इस प्रकार होती है कि यह समीपता उथली है, गहरी नहीं । माना कि शरीर में हलचलों के रूप में और मन में चिन्तन के रूप में विश्व व्यापी चेतना ही काम कर रही है तो भी स्पष्ट है कि जीव की आस्थायें एवं आकांक्षायें दिव्य सत्ता के अनुरूप नहीं हैं, उनमें निकृष्टता का आसुरी अंश ही भरा पड़ा है, मनुष्यता की सार्थकता तभी है, जब उसका स्वरूप एवं स्तर भी उसी के अनुरूप ऊँचा उठ सके । निम्न योनियों के जीवधारी पेट और प्रजनन के लिये जीते हैं । स्वार्थ-सिद्धि ही उनकी नीति होती है । शरीरगत लाभ ही उनके प्रेरणा-स्रोत होते हैं । दूसरों के साथ वे आत्मभाव बहुत थोड़ी मात्रा में मिला पाते हैं और परमार्थ परायणता के अंश नगण्य जितने देखे जाते हैं । यदि यही अन्तःस्थिति मनुष्य की बनी रहे तो समझना चाहिए कि कायिक विकास ही हुआ–चेतनात्मक नहीं । आयु की दृष्टि से प्रौढ़ हो जाने पर भी यदि सारा आचार-व्यवहार बच्चे जैसा ही बना रहे तो उस अविकसित स्थिति पर चिन्ता व्यक्त की जायेगी । ठीक यही स्थिति उन मनुष्यों की है, जो शरीर से तो सुरदुर्लभ काया में प्रवेश पा गये, पर उन्होंने अपने दृष्टिकोण में, क्रिया-कलाप में वही पिछड़ा हुआ क्रिया-कलाप संजोये रखा ।

इस दयनीय स्थिति से पीछा छुड़ाने के लिए ईश्वर की समीपता का, उपासना का, उपक्रम बनाना पड़ता है। संगति का, समीपता का प्रभाव सर्वविदित है। चन्दन के समीप उगे हुए झाड़-झंखाड़ सुगन्धित हो जाते हैं, कोयले की और गन्धी की दुकान पर बैठने वाले कालोंच का धब्बा और सुगन्ध का छींटा साथ लेकर जाते हैं । दुष्टों की समीपता से दुर्गति और सज्जनों के सान्निध्य से सद्गुणों की वृद्धि और प्रगति की संभावना का साकार होना सर्वविदित है । ईश्वर उत्कृष्टताओं का भाण्डागार है । उसकी समीपता, उपासना से वैसी ही विशेषताओं का बढ़ना स्वाभाविक है । कीट भृंग का उदाहरण प्रसिद्ध है । टिड्डे हरी घास में रहते हैं तो उनका शरीर हरा रहता है और जब वे सूखी घास में रहने लगते हैं तो पीले पड़ जाते हैं । तितलियाँ फूलों के अनुरूप अपने रंग बदलती रहती हैं । समीपता के अनुरूप ढलने के अगणित उदाहरण सर्वत्र पाये जाते हैं । वातावरण की प्रभाव शक्ति को कौन नहीं जानता । व्यक्तित्त्वों का भला-बुरा निर्माण करने में वातावरण की असाधारण भूमिका रहती है ।

उपासना का क्रिया-कृत्य-अंतरंग और बहिरंग स्तर पर ऐसा 'माहौल' बनाना चाहिए, जिससे व्यक्ति के भावनात्मक स्तर में उत्कृष्टता की अभिवृद्धि होती हो । बहिरंग वातावरण बनाने में पूजा-उपासना में प्रयुक्त होने वाली प्रतीक-प्रतिमा, उसका सज्जा-शृंगार, पूजा-उपचार में प्रयुक्त होने वाले पदार्थ, उपकरण आदि का मिला-जुला स्वरूप अपना काम करता है । पूजा-वेदी के समीप बैठने पर ऐसा लगना चाहिए मानों किन्हीं असाधारण दिव्य परिस्थितियों में जा पहुँचे । मन्दिर, देवालय, पूजा-गृह, देवीपीठ, आराधना-कक्ष को बनाने में उपयुक्त वातावरण बनाने का तथ्य ही प्रधान रूप से काम करता है । वहाँ के सुसज्जा साधन संजाने में इसी बात का ध्यान रखा जाता है कि उस स्थान में जाते ही मन अपने आपको

पवित्रता की दिव्य परिस्थितियों से घिरा हुआ अनुभव करने लगे। सामान्य वातावरण से उपासना कक्ष का वातावरण भिन्न रखा जाता है और वहाँ परिस्थितियाँ ऐसी बनाई जाती हैं, जिनमें बैठने पर उत्कृष्टता की अनुभूति बढ़ने में सुविधा मिल सके।

उपासना का दूसरा आधार कर्मकाण्डों का क्रिया-कृत्य और तीसरा आधार भावना के क्षेत्र में दिव्य उभार उत्पन्न करना होता हैं। यह दोनों ही आधार अपने आप में अति महत्त्वपूर्ण हैं। उनसे चेतना को बदलने एवं ढालने में असाधरण सहायता मिलती हैं।

कर्मकाण्ड वे कृत्य हैं, जो शरीर के विभिन्न अवयवों की सहायता से, उपचार-उपकरणों के द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। षोडशोपचार, देव पूजन, आत्मशोधन के विभिन्न क्रिया-कृत्य इसी श्रेणी में आते हैं। मन पर छाप डालने में विचार और कर्म का समन्वय करना पड़ता है। चित्त पर स्थिर संस्कार डालने के लिए अभीष्ट विचारों के साथ-साथ उनके पूरक कृत्य होने ही चाहिए अन्यथा कल्पना केवल कल्पना बनकर हवा में उड़ जाती है। विचारणा के साथ क्रिया का समन्वय न कर सकने पर भी जो लोग सफलताएँ चाहते हैं, उन्हें शेखचिल्ली कहकर उपहासास्पद किया जाता हैं। हर क्षेत्र में विचार और कर्म का समन्वय ही प्रतिफल उत्पन्न करता है। उपासना में ईश्वरीय सान्निध्य की कल्पना ही नहीं, अनुभूति भी अपेक्षित होती है। भावनिष्ठा को क्रियान्वित होते देखकर ही ऐसी मनःस्थिति बनती है। इसलिए यह सोचना होता है कि परमेश्वर प्रत्यक्ष ही, सचमुच ही, सामने विराजमान है और उनकी किसी जीवित व्यक्ति के उपस्थित होने पर की जाने जैसी अभ्यर्थना की जा रही है। आत्मशोधन और देवपूजन दोनों ही कृत्यों में इसी प्रकार का भाव-समन्वय होता है। वह यदि बेगार भुगतने के उथले मन से किया गया है और जैसे-तैसे परम्परागत लकीर पीटी गई हो तो वह बात दूसरी है अन्यथा जिस प्रयोजन के लिए यह प्रचलन हुआ है उसे ध्यान में रखकर चला जाये तो अन्तःक्षेत्र में अभीष्ट निष्ठा होगी और लगेगा कि निराकार परमेश्वर अपेक्षाकृत अधिक सघन, अधिक साकार बनकर सामने आया है।

उपासना का तीसरा प्रयोजन है—मनःक्षेत्र पर ईश्वरीय सान्निध्य का चिन्तन घटाटोप की तरह छाये रहना। सामान्य जीवन में आत्म-सत्ता शरीर रूप में ही काम करती है, अस्तु। अपना आपा शरीर मात्र ही अनुभव होने लगता है। शरीर से सम्बन्धित समस्याओं का विस्तार अत्यधिक है। उनके खट्टे-मीठे स्वाद भी चित्र-विचित्र हैं और वे सभी बड़े आकर्षक हैं। यों प्रिय-अप्रिय स्तर पर परस्पर विरोधी अनुभूतियाँ सामने आती हैं, पर वे दोनों ही अपने-अपने ढंग के गहरे प्रभाव चेतना पर छोड़ती हैं। सफलताएँ अपने ढंग का प्रभाव डालती हैं, असफलता दूसरे ढंग का। लाभ में एक प्रकार का अनुभव होता है, हानि में दूसरे तरह का। एक स्थिति प्रिय लगती हैं, दूसरी अप्रिय। इतना होते हुए दोनों की गहरी छाप पड़ती है। सफलता का हर्षोन्माद और असफलता का शोक-सन्ताप दोनों ही अपने प्रभाव छोड़ते और चेतना को आवेशग्रस्त बनाते हैं। ज्वार-भाटे जैसे यह आवेश-अवसाद सामयिक अनुभूति बनकर ही समाप्त नहीं हो जाते, वरन् पीछे भी बहुत समय तक उनकी उत्तेजित प्रतिक्रिया बनी रहती है। ऐसे क्षण बहुत कम ही आते हैं, जिनमें चित्त शान्त-सन्तुलित रहता हो और आत्म सत्ता के साथ जुड़ी हुई समस्याओं के हल करने की बात सूझ पड़ती हो। यही कारण है कि हम भौतिक आवश्यकता और समस्याओं को ही सब कुछ मान लेते हैं और उन्हीं के जाल-जंजाल में उलझे, जकड़े पड़े रहते हैं। आत्मिक जीवन का स्वरूप भी सामने नहीं आ पाता फिर उनका समाधान सूझे तो कैसे? स्पष्ट है कि आत्मिक समस्याओं का समाधान हुए बिना न तो भौतिक जीवन का रस पिया जा सकता है और न जीवन-लक्ष्य पूरा करने की बात बनती है।

आवश्यक है कि कुछ समय हमारे पास ऐसा हो, जिसमें भौतिक जीवन को एक प्रकार से पूरी तरह ही भुला दिया जाये और उन क्षणों में केवल आत्मा का स्वरूप, जीवन-लक्ष्य एवं परमात्म सान्निध्य के अतिरिक्त और कुछ सूझ ही न पड़े। यही उपासना काल है। यह सही हुई या गलत, इसकी पहचान इतनी ही है कि उन क्षणों में मनःक्षेत्र पर आत्मिक स्तर का चिन्तन छाया रहा या भौतिक स्तर का। यदि सांसारिक मनोकामनाओं की उथल-पुथल मची हुई है और इष्टदेव से तरह-तरह के भौतिक वरदान पाने की ललक उठ रही हो तो समझना चाहिए कि यह उपासना-कृत्य भी विशुद्ध रूप से भौतिक है। इससे आत्मिक प्रगति जैसा कोई लाभ मिल नहीं

सकेगा । यदि उतने समय शरीर रहित, भौतिक प्रभावों से मुक्त, ज्योतिर्मय आत्मा ही ध्यान में है और उसमें महाज्योति के साथ समन्वित हो जाने की दीप-पंतग जैसी आकांक्षा उठ रही है, तो समझना चाहिए कि उपासना का सच्चा स्वरूप अपना लिया गया और उससे अभीष्ट उद्देश्य पूरा हो सकने की सम्भावना बन रही है ।

उपासना के समय सांसारिक विचार न आयें इसका एक ही उपाय है कि उन क्षणों के लिए एक निर्धारित विचार-पद्धति सामने रहे । यह भी दृश्य मुक्त-आकर्षक स्तर की ऐसी हो जो मन को अपने शिकंजे में पकड़े रहे, यों वैज्ञानिकों जैसे गहरे चिन्तन से भी हो सकता है, पर वैसे बहुत समय के अभ्यास और एकाग्र एकात्म स्तर मिल आने पर ही सम्भव है । आरम्भ में दृश्य मुक्त चिन्तन मनःक्षेत्र पर छाया रहे ऐसा ही अभ्यास लेकर चलना चाहिए । 'ध्यान' इसी को कहते हैं । उपासना में ध्यान अनिवार्य है । यदि उसे छोड़ कर मात्र क्रिया-कृत्य ही किये जा रहे होंगे तो मन इधर-उधर भागता रहेगा और अधूरा शरीर-कर्म ही पूजा-पाठ के नाम पर अपनी लंगड़ी-लूली गाड़ी घसीट रहा होगा ।

ध्यान साकार और निराकार दो प्रकार के कहे गये हैं । एक में भगवान की अमुक मनुष्याकृति को मान कर चला जाता है, दूसरे में प्रकाश पुञ्ज की आस्था जमाई जाती है । तात्त्विक दृष्टि से यह दोनों ही साकार हैं । सूर्य जैसे बड़े और प्रकाश बिन्दु जैसे छोटे आकार का ध्यान रखना भी तो एक प्रकार का आकार ही है, अन्तर इतना ही तो हुआ कि उसकी मनुष्य जैसी आकृति नहीं है । ध्यान के लिए ईश्वर की–परम लक्ष्य की–आकृति बनना आवश्यक है । यों नादयोग, स्पर्शयोग, गन्धयोग को आकृति रहित कहा जाता है, पर ऐसा सोचना अनुपयुक्त है । नादयोग में शंख, घण्टा, घड़ियाल, वीणा आदि की ध्वनियाँ सुनी जाती हैं, पर अनचाहे ही वे वाद्य-यन्त्र कल्पना में आते रहते हैं जिनसे वे ध्वनियाँ निसृत होती हैं । इस प्रकार गन्ध ध्यान में मात्र गन्ध पर ही चिन्तन एकाग्र नहीं हो सकता । जिस पुष्प की वह गन्ध है उसकी आकृति भी अनचाहे ही सामने आती रहेगी । ध्यान में आकृति से पीछा नहीं छूट सकता । मस्तिष्क की बनावट ही ऐसी है कि वह निराकार कहलाने वाले चिन्तन को भी आकृतियाँ बना कर ही आगे चलता है । वैज्ञानिक के गहरे चिन्तन को निराकार कहा जाता है, पर वस्तुतः वह भी जो सोचता है, उसमें कल्पना-क्षेत्र की एक पूरी प्रयोगशाला सामने रहती है और प्रयोगात्मक हलचलें आँधी-तूफ़ान की तरह अपना काम कर रही होती हैं । अन्तर इतना ही होता है कि वह स्थूल प्रयोगशाला के उपकरण छोड़ कर वही सारा प्रयोग कृत्य काल्पनिक प्रयोगशाला में कर रहा होता है । ध्यान में आकृति से पीछा छुड़ाना सम्भव नहीं हो सकता, अस्तु । किसी को साकार-निराकार के वितण्डावाद में न पड़ कर ध्यान धारणा के सहारे आत्म-चिन्तन का प्रयोजन पूरा करना चाहिए ।

ईश्वर का आकृति समेत ध्यान करना अभीष्ट हो तो उन्हें नर या नारी की सुन्दरतम प्रतिमा के रूप में इष्ट देव मानना चाहिए और उनके पीछे कोई इतिहास न जोड़ कर उत्कृष्टतम सद्गुणों की पूर्ण प्रतिमा अनुभव करना चाहिए । इसे अन्य किसी देवता से भिन्न नहीं वरन् समन्वित सत्ता मानना चाहिए । एक ही ब्रह्म को अनेक रूपों में कहा गया है । यह उक्ति बहुदेववाद को तो मानती है, पर उनकी पृथकता अस्वीकार करती है । शंकर, दुर्गा, हनुमान, गणेश, सूर्य, राम, कृष्ण, सरस्वती, लक्ष्मी, गायत्री आदि की कोई भी प्रिय आकृति साकार ध्यान के लिए चुनी जा सकती है, पर यह नहीं सोचा जाना चाहिए कि यह अन्य किसी देव-सत्ता से भिन्न है । एक ही मनुष्य के अनेक चित्र, पोज़ या सम्बोधन हो सकते हैं, ठीक इसी प्रकार विश्व में एक ही संव्याप्त चेतना के अनेक नाम-रूप रखे जा सकते हैं, पर किसी आकृति को दूसरी आकृतियों से भिन्न नहीं माना जा सकता । इस भिन्नता की मान्यता ने बहुदेववाद के साथ अवांछनीय विग्रह उत्पन्न किये हैं और मूल प्रयोजन को ही लड़खड़ा दिया है ।

साकार उपासना में इष्ट देव के समीप, अति समीप होने और उनके साथ लिपट जाने–उच्चस्तरीय प्रेम के आदान-प्रदान की गहरी कल्पना करनी चाहिए । इसमें भगवान और जीव के बीच माता-पुत्र, पति-पत्नी, सखा-सहोदर, स्वामी-सेवक जैसा कोई भी सघन सम्बन्ध माना जा सकता है, इससे आत्मीयता को अधिकाधिक घनिष्ठ बनाने में सहायता मिलती है । लोक व्यवहार में स्वजनों के बीच आदान-प्रदान उपहार और उपचार की तरह चलते हैं । मन-वचन-कर्म से घनिष्ठता एवं प्रसन्नता व्यक्त की जाती है । भेंट-उपहार में कई

तरह की वस्तुएँ दी जाती हैं। नवधा भक्ति में ऐसे ही आदान-प्रदान की वस्तु पूरक अथवा क्रियापरक कल्पना की गई है। वस्तुतः यहाँ प्रतीकों को माध्यम बनाकर भावनात्मक आदान-प्रदान की गहराई में जाया जाना चाहिए। भक्त और भगवान के बीच सघन आत्मीयता की अनुभूति उत्पन्न करने वाला आदान-प्रदान चलना चाहिए। भक्त अपनी अहंता को क्रिया, विचारणा, भावना एवं सम्पत्ति को भगवान के चरणों पर अर्पित करते हुए सोचता है, यह सारा वैभव उसी दिव्य सत्ता की धरोहर है। इसका उपयोग व्यक्तिगत वासना, तृष्णा के लिए–ईश्वरीय प्रयोजनों के लिए किया जाता है। वह स्वयं तो मात्र खजांची-स्टोरकीपर भर है।

ध्यान का एक मात्र उद्देश्य भगवान और भक्त के बीच एकात्म भाव की स्थापना करना है; मात्र किसी आकृति का ध्यानचित्र देखते भर रहने से काम नहीं चलता। भक्त अपने स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों को–क्रिया, विचारणा और भावना को ईश्वर-अर्पण करके उसे मात्र दिव्य प्रयोजनों में नियोजित रखने का संकल्प सघन करता है। इसके साथ-साथ भौतिक धन-सम्पत्ति तो अर्पित हो ही जाती है। समर्पण का तात्पर्य है व्यक्तिगत-भौतिक महत्त्वाकांक्षाओं की समाप्ति और उनके स्थान पर ईश्वर इच्छा की, उच्च आदर्शों की अपने ऊपर नियन्त्रण करने वाली स्थापना। इसी मान्यता को अतःकरण में यथार्थवादी निष्ठा के साथ स्थापित करने को आत्म-समर्पण कहते हैं। ध्यान के द्वारा इसी निष्ठा को परिपक्व किया जाता है।

भक्त का समर्पण, बदले में भगवान का अनुग्रह आश्वासन। इसी के तरह-तरह के लौकिक स्वरूप, चित्र कल्पित किये जा सकते हैं। साकार ध्यान में अपनी रुचि की कल्पनाएँ करते रहने और उस दृश्यावली में डूबे रहने की पूरी छूट है। ध्यान की एकाग्रता इसी सीमा तक है कि उसमें भक्त और भगवान के बीच होने वाले आदान-प्रदान की कल्पनाएँ ही चलनी चाहिए, भौतिक लाभ या प्रयोजन आड़े नहीं आने चाहिए। पूर्ण एकाग्रता जिन्हें शून्यावस्था, योगनिद्रा या समाधि कहते हैं, बहुत ऊँची स्थिति है। मन कहीं जाये या नहीं, एक बिन्दु पर केन्द्रित रहे, ऐसा हो सकने को ही तुरीयावस्था या समाधि कहते हैं। यह आरम्भिक साधना में लगभग असंभव ही है, उसकी बात नहीं सोची जानी चाहिए। ध्यान साधना का व्यावहारिक रूप इतना ही है कि भक्त और भगवान के बीच उच्चस्तरीय आदान-प्रदान चलना चाहिए। भक्त अपनी समस्त आकांक्षाओं और सम्पदाओं को ईश्वर के लिए समर्पित करता है और इसके बदले में वह सब कुछ पाता है जो ईश्वर स्वयं है। मनुष्य को स्पष्ट करने वाली ईश्वरीय सत्ता अपनी अनुभूति, आनन्द और उल्लास के रूप में छोड़ती हैं। भगवान से कुछ मिला या नहीं, इसकी परख इस रूप में की जा सकती है कि उल्लास-आदर्शवादिता के प्रति उत्कण्ठा भरा उभार अन्तःकरण में उमँगना आरम्भ हुआ या नहीं। सद्भावना अपनाने वाले को सहज ही मिलते रहने वाला आत्म-सन्तोष-आनन्द अनुभव में आता है या नहीं।

ईश्वर दर्शन के सम्बन्ध में यह भ्रान्त धारणा निरस्त की जानी चाहिए कि सपने में या जागृति में इष्ट देव की किसी आकृति की झांकी मिलती है, अथवा प्रकाश आदि दीखने जैसा कोई चित्र-विचित्र दृश्य दिखाई पड़ता है। यदि ऐसा किसी को होता हो तो उसे झाड़ी का भूत, रस्सी का साँप दीखने की तरह अपने संकल्पों की मानसिक प्रतिक्रिया भर समझना चाहिए। जब चेतना की कोई आकृति हो ही नहीं सकती तो फिर उसका निर्भ्रान्त दृश्य दिखाई ही कैसे दे सकता है? इस तथ्य को हजार बार हृदयङ्गम कर लिया जाना चाहिए कि ईश्वर का जीवन में समावेश आदर्शवादी आकांक्षाएँ प्राणप्रिय प्रतीत होने लगने और तदनुरूप गतिविधियाँ अपनाने पर मिलने वाले आनन्द उल्लास की अनुभूति का स्तर ही ईश्वर-प्राप्ति का एकमात्र प्रमाण है।

निराकार ध्यान में प्रायः सर्वत्र सूर्य के प्रकाश को ही माध्यम बनाया जाता है। प्रभात काल के उदीयमान सूर्य का सविता देवता के प्रतीक रूप में दर्शन, उसकी दिव्य किरणों का शरीर, मन और अन्तरात्मा में प्रवेश उस प्रवेश की सत्कर्म, सद्ज्ञान एवं सद्भाव के रूप में प्रतिक्रिया। इसी परिधि में निराकार ध्यान धारणा परिभ्रमण करती है। यज्ञाग्नि रूपी ईश्वर में आहुति द्रव्य की तरह जीव सत्ता का समर्पण नाले का गगां में–बूँद का समुद्र में सम्पादन–दीप-ज्योति का सूर्य ज्योति में विलय, अर्घ्य जल का भाप बनकर व्यापक क्षेत्र में विस्तार,पतङ्गे का दीपक को समर्पण जैसे कितने ही दृश्य-चित्र कल्पना क्षेत्र में बनाये जा सकते हैं और उनके सहारे एकात्म भाव की अनुभूति का आनन्द लिया जा सकता है।

उपासना के क्रिया-कृत्य में (1) स्थापना, सुसंकल्प के आधार पर वातावरण का निर्माण (2) प्राणायाम, न्यास, पूजा-उपचार आदि क्रिया-कृत्यों द्वारा विचारणा की क्रिया रूप में परिणति (3) जप के साथ ध्यान का अवलम्बन और दिव्य सत्ता के साथ ऐसे सघन तादात्म्य की स्थापना जो चिन्तन क्षेत्र में उत्कृष्टता और क्रिया क्षेत्र में आदर्शवादिता अपनाने के लिए विवश कर सके । यही है उपासना का त्रिविध स्वरूप । गायत्री मन्त्र में तीन व्याहृतियाँ इसीलिए हैं । आठ-आठ अक्षरों के तीन चरण होने के कारण इस महाशक्ति को त्रिपदा कहा गया है । उपासना के इन तीनों आधारों को अपना कर गायत्री मन्त्र के सहारे अथवा कोई और अवलम्बन अपना कर ईश्वर की साकार अथवा निराकार जो भी उपासना अपनाई जायेगी, निश्चित रूप से सफल होगी और अभीष्ट सत्परिणाम उत्पन्न करेगी ।

गायत्री उपासना का तत्त्वज्ञान और सत्परिणाम

उपासना का शब्दार्थ है समीप बैठना । ईश्वर और जीव के बीच रहने वाली दूरी को समाप्त करके जिस प्रक्रिया से निकटता बनती हो उसे उपासना कहा जा सकता है । समीपता से विशेषताओं का आदान-प्रदान होता है । एक के गुण दूसरे को प्राप्त होते हैं । सत्संग के लाभ और कुसंग के दुष्परिणाम सर्व विदित हैं । अधिक प्रभावशाली तत्त्व कम सामर्थ्यवानों को अपने प्रभाव से प्रभावित करते हुए सर्वत्र देखे जाते हैं । आग के निकट आने वाले पदार्थ गरम होते हैं और जलने लगते हैं । बर्फ के स्पर्श में जो भी पदार्थ आता है ठण्डा होता जाता है । सुगन्धित और दुर्गन्धित पदार्थों के सम्पर्क में आने वाली वस्तुओं में भी वैसी ही भली या बुरी गन्ध आने लगती है । हरी घास पर पलने वाले टिड्डे हरे रंग के होते हैं और हिम प्रदेश में पाये जाने वाले भालू सफेद रंग के होते हैं । दर्पण के समीप जो भी वस्तु पहुँचती है उसका प्रतिबिम्ब उस पर दीखता है । इसे संगति की समीपता का प्रभाव कह सकते हैं ।

उपासना में भी ऐसा होता है । ईश्वर के समीप बैठने से उसकी विशेषतायें बैठने वाले के व्यक्तित्त्व में अवतरित होने लगती हैं । ईश्वर महान है । उसकी समीपता महानता की वृद्धि करती है । ईश्वर अनेकों श्रेष्ठताओं का पुञ्ज है, पास बैठने वाले में वे श्रेष्ठतायें प्रवेश करती हैं । ईश्वर विभूतिवान् है, साधक में विभूतियों की अभिवृद्धि होती है । राजा के अर्दली का भी मान बढ़ जाता है, उनके पास बैठने वाले दरबारियों का रुतवा बढ़ता है । फिर कोई कारण नहीं कि ईश्वर की समीपता यदि वास्तविक हो तो उसका प्रभाव उपासनारत व्यक्ति पर न पड़े ।

यह समीपता जब घनिष्ठता में परिणत होती जाती है तो फिर आदान-प्रदान का सिलसिला और भी अधिक अच्छी तरह चल पड़ता है । उपासना में प्रमुख भावना आत्मसमर्पण की मानी गई है । घनिष्ठता बढ़ते-बढ़ते एकता में परिणत हो जाती है । उपासना के विधि-विधानों का आधार यह है कि उपासक अपने-आपको ईश्वर के अति निकट अनुभव करे उसे अपना स्वजन सम्बन्धी माने । आत्मीय जनों के प्रति असामान्य ममता होती है । उनके लिए कुछ विशेष सोचना और विशेष करना पड़ता है, उनके प्रति कर्तव्य और उत्तरदायित्त्व भी अधिक होते हैं । ऐसी ही मनोभूमि उपासक को विकसित करनी पड़ती है । उसे निकटतम सम्बन्धियों में से एक के स्तर पर सम्बन्ध सूत्र में बांधना पड़ता है । पितु, मातु, सहायक, स्वामी, सखा, जैसे किसी सम्बन्ध को मान लेने से सहज ही कौटुम्बिक घनिष्ठता बढ़ती है, सघन सम्बन्ध सूत्र में बँधे होने की अनुभूति होती है । मीरा ने भगवान को पति रूप में—सूरदास ने पुत्र रूप में माना था । और भी कई कोमल, मृदुल, उत्कृष्टता की भावनाओं से भरे-पूरे सम्बन्ध भगवान के साकार उपासक निर्धारित करते हैं । इस मान्यता में अपनत्त्व का घनिष्ट सम्पर्क साधने का ही भाव है ।

निराकार उपासक भी ध्यान धारणा के लिए कोई न कोई प्रतीक नियत करते हैं । इस मान्यता वाले प्रकाश पुञ्ज के रूप में उसका चिन्तन करते हैं । साथ ही यह भी धारणा करते हैं कि प्रकाश आत्म सत्ता के कण-कण में प्रवेश करके अपनी विभूतियों का अनुग्रह प्रदान करते हैं । साकार उपासना में भी स्वजनों की समीपता से जिस-जिस प्रकार की सुखद भाव संवेदनायें उभरती हैं उनका अनुभव किया जाता है । पूजा उपचार के समस्त क्रिया-कलापों में यह भाव रहता है मानो कोई अति श्रद्धास्पद अतिथि सामने उपस्थित हो और उसका

श्रद्धासिक्त सत्कार किया जा रहा हो। धूप, दीप, नैवेद्य, चन्दन, पुष्प, जल, आरती आदि भारतीय शिष्टाचार में सम्माननीय अतिथियों के सत्कार विधान हैं। गुरुजनों का समय-समय पूजन अभिवादन इसी प्रकार होता है। इन उपचार कृत्यों को करते हुए उपासक अपने मनःक्षेत्र में यह मान्यता परिपक्व करता है कि ईश्वरीय देव सत्ता उसके संमुख विद्यमान है। उपस्थिति की यह मान्यता जितनी गहरी, जितनी ही वास्तविक होगी, उतना ही उपचार में आनन्द आवेगा और प्रभाव-परिणाम परिलक्षित होगा।

किसी समर्थ के सत्ता के साथ अपने आपको जोड़ देने–सजा देने से–दुर्बल तत्त्व भी सबल और समर्थ बन जाते हैं। उसका स्तर एवं गौरव भी प्रायः उतना ही ऊँचा उठ जाता है, जितना कि समर्थ सत्ता का होता है। बच्चे के हाथ में डोरी रहने पर उसके इशारे से पतङ्ग आसमान में तैरती है और तरह-तरह की उछल कूद दिखाकर दर्शकों का मनोरंजन करती है। पतङ्ग और उड़ाने वाले का सम्बन्ध टूट जाये तो वह कागज का टुकड़ा आसमान में उडना तो दूर जमीन में पड़ा-पड़ा नष्ट हो जायेगा। अपने बलबूते उठ कर कहीं सुरक्षित स्थान तक न जा सकेगा। कठपुतली और मदारी के पारस्परिक सम्बन्ध सुदृढ़ रहें तो वह लकड़ी के टुकड़े मनमोहक अभिनय करते हैं। यह करामात इस कारण सम्भव हुई कि कठपुतलियों ने अपने को पूरी तरह चलते धागे के सहारे मदारी की उँगलियों में जोड़ दिया। इस घनिष्ठता से यह भी सम्भव हुआ कि मदारी की अदृश्य कलाकारिता का श्रेय कठपुतली के खिलौने को प्राप्त हो। यदि सम्बन्ध-सूत्र टूट जाये तो वह खिलौने निष्क्रिय बने एक कोने में उपेक्षित पड़े होंगे। तब उनमें न तो कोई हलचल दिखाई देगी और न आकर्षण प्रतीत होगा।

बांसुरी राग-रागनियाँ तभी निकालती है, जब वह पोली होती है और अपने आपको वादक के होठों से पूरी तरह सटा देती है। उसके संकेतों पर अपनी सांसे लेती-छोड़ती हैं। यदि बांसुरी में मिट्टी भरी हो अथवा होठों से दूर रहे तो यह सम्भव नहीं कि उसमें से मधुर ध्वनि प्रवाह निकल कर सुनने वालों का मन मोहित कर सके।

बेल अपने बलबूते जमीन पर फैल सकती है, पर कमर पतली होने के कारण ऊपर नहीं उठ सकती। किन्तु जब वह पेड़ से लिपटकर चलती है तो उतनी ही ऊँची उठ जाती है जितना कि पेड़ होता है। बांसुरी और बेल के उदाहरण समर्पण की उस भावना को व्यक्त करते हैं जो उपासना में ईश्वर के साथ सटने और उसमें तादात्म्य होने से सम्बन्धित है। तादात्म्य होने का अर्थ है अपनी कामनाओं को ईश्वर की प्रेरणाओं के अनुरूप ढालना, उसके संकेत निर्देशों के आधार पर अपनी गतिविधियों का निर्धारण करना। यह स्थिति जब भी, जहाँ भी बन रही हो, समझना चाहिए कि वहाँ सच्ची उपासना का मर्म समझ लिया गया और उसका परम श्रेयस्कर परिणाम उत्पन्न होना सुनिश्चित हो गया।

नाला जब तक अपना स्वतन्त्र नाम रूप बनाये रहता है तब तक वह नाला ही कहलाता है और उफनता मटकता रहता है किन्तु जब वह गंगा में मिल जाता है तो उसका पानी गङ्गमय माना जाता है उसे भी इतना ही मान महत्त्व मिलता है जितना असली गंगाजल को। बूँद जब समुद्र में मिली है तो उसकी क्षुद्रता सदा सर्वदा के लिए समाप्त हो जाती है। तब वह अपने में समस्त समुद्र को और समुद्र में अपने आपको समाया हुआ देखकर गर्वोन्नत सिर उठाती है। दूध और पानी जब परस्पर मिल जाते हैं, तो दोनों का नाम, रूप और भाव एक ही हो जाता है। जीव जब परमेश्वर के समीप पहुँचता है तो उसकी विशेषताओं को अपने में धारण करता है और जब एक कदम आगे बढ़कर समर्पण की स्थिति में पहुँचता है तो आत्मा और परमात्मा में अन्तर इतना ही रह जाता है कि एक ससीम होता है और दूसरा असीम। कटोरे और भगौने में भरा पानी मात्रा में ही न्यूनाधिक होता है, दोनों में विशेषतायें एक जैसी हीं रहती हैं।

पति और पत्नी के दाम्पत्य जीवन की सफलता इस समर्पण-भाव पर ही निर्भर रहती है। पत्नी अपना शील, श्रम, मन, व्यवहार, पति की मर्जी पर छोड़कर निश्चिन्त हो जाती है। लगता है इसमें उसने गंवाया ही गंवाया है। पर ध्यानपूर्वक देखने से एक और पहलू सामने आता है कि उसने बिना कीमत दिये एक सुयोग्य साथी को, उसके शरीर व मन को, सारे धन-वैभव को खरीद लिया। पत्नी पति की आशानुवर्ती बनती है तो

पति भी पत्नी का बेपैसे का गुलाम बन जाता है । उस पर प्राण निछावर करता है और छाया की तरह साथ देता है । पति के वंश, पद, यश आदि में पत्नी समान रूप से भागीदार हो जाती है, पति की मृत्यु हो जाने पर वह, और उसके बच्चे ही उसके जीवन भर का उपार्जन उत्तराधिकार में प्राप्त करते हैं । भक्त और भगवान का रिश्ता भी इस प्रकार का है । समीपवर्तियों का ध्यान हर कोई रखता है फिर आश्रितों की तो पूरी ही चिन्ता करनी पड़ती है । अपने पास-पड़ौस में कोई रहता है, समीप वाली मेज पर काम करता है तो स्वभावतः उसके दुःख-दर्द में अपनी पूरी सहानुभूति होती है और आवश्यक सहायता के लिए सहज ही प्रयत्न होते हैं । ईश्वर के समीप जो भी है–उपासना के माध्यम से जिसने निकटवर्ती स्थान प्राप्त कर लिया है उन्हें अभीष्ट दैवी सहकार निश्चित रूप में मिलता है । फिर जो उसके आज्ञानुवर्ती हैं, समर्पित आश्रित एवं शरणागत हैं, उसके लिए दिया गया वह वचन कभी मिथ्या नहीं होगा, जिसमें भक्तों के योग क्षेम के वहन करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर उठाया है ।

मनुष्य अपने आश्रित परिवार के भरण-पोषण का विकास एवं सुरक्षा की व्यवस्था पूरी जिम्मेदारी के साथ निबाहता है । ईश्वर ने भी सदा यह उत्तरदायित्व निबाहा है कि जो उसके निर्देशों का अनुसरण करता है, अनुशासन मानता है और उसकी इच्छा से अपनी इच्छा मिलाकर प्रभु-समर्पित जीवन जीता है, उसके आन्तरिक स्तर को निरन्तर ऊँचा उठाया जाये । स्पष्ट है कि व्यक्तित्व ऊँचा उठेगा तो सम्पर्क क्षेत्र में प्रामाणिकता और सद्भावना बढ़ेगी । फलतः सहयोग और सम्मान मिलेगा । ऐसे विश्वस्त समझे जाने वाले लोकप्रिय व्यक्ति अपनी चारित्रिक विशिष्टता के बल पर जन समर्थन से उच्च्य पदों पर जा पहुँचते हैं । वे जिस भी काम को हाथ में लेते हैं, सफल होते चले जाते हैं । यही हैं वे सिद्धियाँ, जो ईश्वर के अनुग्रह से प्राप्त हुई समझी जा सकती हैं । इन्हें उपासना का प्रतिफल कहा जाये तो कोई अत्युक्ति न होगी ।

निस्सन्देह ब्रह्माण्ड व्यापी ब्रह्मचेतना निराकार है । व्यापक शक्ति एकदेशीय नहीं हो सकती । किन्तु उससे सम्पर्क साधने के लिए कोई प्रतीक मानकर ही उससे सम्बन्ध बन सकता है । निराकार इतना व्यापक है कि उसका समग्र ध्यान हमारी कल्पना के छोटे से क्षेत्र में सीमाबद्ध नहीं हो सकता । भावभरा ध्यान ही एकमात्र वह आधार है जिसके सहारे चेतना-खण्डों के बीच सघनता स्थापित हो सकती है । भावभरा ध्यान करने की क्षमता विकसित किये बिना जीव और ब्रह्म के बीच तादात्म्य स्थापित नहीं हो सकता । व्यापक ब्रह्म का ध्यान कैसे किया जाये और जो निस्पृह है, उसके साथ भावों का आरोपण कैसे हो ? इस प्रश्न के समाधान में तत्त्वदर्शियों को एकमात्र उपाय यही हाथ लगा है कि उसकी प्रतीक प्रतिमा बनाई जाये और उसके साथ आत्मीयता भरा कोई सम्बन्ध स्थापित किया जाये । किसी व्यक्ति को पकड़ना होता है तो उसका सारा शरीर नहीं पकड़ा जाता, हाथ पकड़ लेने से भी वह पकड़ में आ जाता है । निराकारवादी प्रकाश ज्योति को और साकारवादी अमुक देवता या अवतार की आकृति को ईश्वर की प्रतिमा मानकर उसकी समीपता का अभ्यास करते हैं । उपासना अवधि में ऐसी धारणा की जाती है कि परमेश्वर की सत्ता का प्रतीक इष्टदेव सामने विद्यमान है । उसके साथ अपना अत्यन्त घनिष्ठ कौटुम्बिक सम्बन्ध जुड़ा हुआ है । दोनों के बीच असीम आत्मीयता है । भक्त भगवान को प्राणप्रिय मानता है और उसके अति निकट सटकर बैठा है । भक्त अपना समर्पण भगवान में करता है और बदले में उसे अनुग्रह उपलब्ध होता है । भक्त की इच्छायें, कामनायें समाप्त हो जाती हैं और उसके स्थान पर भगवान का अनुशासन भक्त के अन्तरंग पर-चिन्तन क्षेत्र पर स्थापित होता है । क्रिया क्षेत्र पर उन्हीं के बताये आदर्शों का परिपालन होता है । यही शरणागति की भावना है । इसी को समर्पण-योग कहते हैं । भक्ति का सारा तत्त्वज्ञान इसी भावना में समाविष्ट है ।

ईश्वर सद्गुणों का पुञ्ज है । सत्यं, शिवं, सुन्दरं के रूप में उसकी दिव्य विभूतियों का ही संकेत है । समीप बैठने वाले में प्रभावी सत्ता की विशेषताओं का अवतरण होना ही चाहिए । समदर्शी, न्याय निष्ठ, उदार, व्यवस्थापक, परमार्थ-परायण, सौन्दर्य संयोजक, कर्मरत, जैसी ईश्वरीय सत्प्रवृत्तियों का परिचय दृष्टि से दृष्टि पसार कर कहीं भी पाया जा सकता है । ईश्वर-भक्त यदि सच्चे मन से उपासना करता है तो उसमें इन विशेषताओं का भी उदय अभिवर्धन होना चाहिए ।

भक्तजनों का इतिहास यही है, उनकी निष्ठा जैसे-जैसे ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ परिपक्व होती गई है, वैसे-वैसे ही उसके गुण, कर्म, स्वभाव में श्रेष्ठता का अभिवर्धन होता चला गया है । गिलास में यदि पानी भरा जाये तो उसमें पहले की हवा बाहर निकल जायेगी । ईश्वर का देवत्व यदि साधक की आत्म सत्ता में प्रवेश करेगा तो फिर वहाँ असुरता के लिए कोई स्थान नहीं रह जायेगा । स्वार्थान्धता, और निष्ठुरता का निर्वाह भक्ति भावना के साथ हो ही नहीं सकता । प्रकाश और अन्धकार दोनों एक साथ किस तरह ठहर सकेंगे ।

ईश्वर का अवतार धर्म की स्थापना और अधर्म का विनाश करने के लिए होता है । अवतारों के समस्त क्रिया-कलाप इन्हीं दो प्रयोजनों पर केन्द्रीभूत रहे हैं । मनुष्य की अन्तरात्मा में उपासना के फलस्वरूप यदि ईश्वरत्व का अवतरण होगा तो फिर निश्चित रूप में यही दो उमंगें प्रबल होती चली जायेंगी । निजी जीवन में और सम्पर्क क्षेत्र में इन्हीं दो प्रवृत्तियों के लिए अदम्य उत्साह उठने लगेगा । दोष-दुर्गुणों की असुरता हटाने और सद्भावनाओं सत्प्रवृत्तियों की दिव्यता बढ़ाने के लिए उपासनारत व्यक्ति को निरन्तर प्रयत्नशील पाया जायेगा । जिसमें यह दोनों उमंगे जिस मात्रा में उठती पाई जाएँ, समझना चाहिए कि उनकी भक्ति-भावना-उपासना उतनी ही सच्ची और सार्थक है ।

गायत्री-उपासना से वे सारी विशेषतायें उत्पन्न होनी चाहिए जो उस दिव्य सत्ता में ओत-प्रोत है । त्रिपदा गायत्री के तीन चरण प्रज्ञा, निष्ठा और श्रद्धा के प्रतीक माने गये हैं । प्रज्ञा-दूरदर्शी सहृदय विवेकशीलता । निष्ठा-आदर्शों के प्रति दृढ़ता, कर्तव्यों के प्रति साहासिक तत्परता । श्रद्धा-श्रेष्ठता से असीम प्यार । इन तीनों सत्प्रवृत्तियों का विकास-विस्तार गायत्री उपासना के फलस्वरूप होता देखा जाता है ।

भावनाओं में श्रद्धा-तत्त्व का गहरा समावेश करके परमेश्वर के साथ एकात्म भाव की अभिवृद्धि के लिए उपासना प्रक्रिया के अन्तर्गत अभ्यास किया जाता है । यह भाव संवेदनायें ही भक्ति कहलाती हैं । भगवान का भक्त के वशवर्ती होने का तथ्य सर्वविदित है । इन्हीं सुदृढ़ ध्यान धारणाओं को श्रद्धा कहा गया है । इसी की सघनता के आधार पर जीव और ब्रह्म के बीच वे आदान-प्रदान सम्भव होते हैं, जिनकी ईश्वर-उपासना के माध्यम से आशा-अपेक्षा की जाती है ।

आत्मीयता, श्रद्धा और तन्मयता की भाव भूमिका कितनी प्रखर होती है, इसका विवरण इतिहास के पन्नों पर विद्यमान है । असाधारण सफलतायें पाने वाले, निराशा में आशा का संचार करने वाले-असम्भव को सम्भव करने वाले मनस्वीलोगों में यही तीन विशेषतायें होती हैं । आत्मिक प्रगति के लिए भी ऐसी ही भावभरी मनःस्थिति बनानी हैं । इसके लिए इष्टदेव का निर्धारण और उनके साथ एकात्म भाव का संस्थापन ऐसा अभ्यास है जिसके फलस्वरूप अभीष्ट सफलता मिलती है । ब्रह्मचेतना के साथ जीव का सम्बन्ध इसी श्रद्धा-विश्वास की सहायता से बनता है । चेतना सत्ता के पास इससे बड़ा और कोई बन्धन दूसरे चेतना घटक को पकड़ने के लिए है नहीं । मनुष्यों के बीच सुदृढ़ मैत्री इसी आधार पर बनती, पनपती और परिपक्व होती है । एक व्यक्ति दूसरे के लिए प्राण निछावर करता है, सब कुछ लुटा देता है, और बड़े से बड़े संकट सहने को तैयार रहता है । यह प्रेम-तत्त्व के आधार पर विकसित हुई घनिष्ठता ही है । इसी को श्रद्धा-भक्ति कहते हैं । गायत्री महाशक्ति की उपासना का समुचित सत्परिणाम प्राप्त करने के लिए मात्र कर्मकाण्ड ही पर्याप्त नहीं । उसके साथ श्रद्धा तत्त्व का समुचित समन्वय भी होना चाहिए ।

उपासना क्यों ? और किसकी ?

ईश्वर इस ब्रह्माण्ड में संव्याप्त वह दिव्य चेतना है जिसका एक छोटा-सा अंश जीवनयापन करने के लिए जितना आवश्यक है, उतनी मात्रा में हर किसी को मिला हुआ है । सभी प्राणी उतने मात्र से ही अपना काम चलाते हैं और उन्हें इसी अर्थ में ईश्वर का अंश जीव कहा जाता है कि उन्हें वह चेतना आवश्यक मात्रा में सहज रूप से उपलब्ध है । सामान्यतः यह उपलब्धि शरीर मे क्रियाशीलता और मन में विचारण की प्रक्रिया चलती रहे इतने मात्र तक सीमित है । इस उपलब्धि के आधार पर सामान्य रूप से ही जीवन-क्रम चल सकता है ।

इससे आगे जीवन मुक्ति, आत्म साक्षात्कार परमसिद्धि, जैसी उपलब्धियों के लिए चेतना के उस विशाल सागर से प्रयत्न पूर्वक अधिक मात्रा में विशिष्ट चेतना

अर्जित और धारण करनी पड़ती है। इसी प्रयास पुरुषार्थ को उपासना कहा जाता है। सूर्य की किरणें सभी स्थानों पर एक समान पड़ती हैं, लेकिन इन किरणों को एकत्रित किया जाये तो आग जलने जैसी गर्मी भी उत्पन्न हो सकती है। उपासना के माध्यम से बिखरी हुई भगवत चेतना को उसी प्रकार आकर्षित एवं एकत्रित किया जाता है जिससे व्यक्ति की आत्मिक क्षमता बढ़ सकती है और उस संचय के बल पर भौतिक दृष्टि से सुसपन्न तथा आत्मिक दृष्टि से सुसंस्कृत बना जा सकता है।

बिजली घर में शक्ति का भण्डार भरा रहता है उस के साथ सम्बन्ध जोड़ने वाले सूत्र जितने समर्थ या दुर्बल होते हैं, उसी अनुपात से बिजली की मात्रा का आगमन होता है और उससे मशीनें चलती हैं। हलका फिटिंग तो हर किसी में है और उतने में से थोड़ी शक्ति के कुछ ही बल्ब जल सकते हैं। पर यदि मीटर तथा सम्बन्ध-सूत्रों को बलिष्ठ बना दिया जाये तो उसी स्थान पर शक्तिशाली कारखाना धड़धड़ाने लगता है। यह बिजली की अधिक मात्रा प्राप्त होने का परिणाम है। कई व्यक्तियों में उस दिव्य चेतना से सम्पर्क प्रायः टूटा ही रहता है और वे क्रियाशीलता, मानवीय चेतना की दृष्टि से रिक्त ही बने रहते हैं। बिजली घर के साथ सम्बन्ध जुड़ा रहे तभी घर के बल्ब, पंखें, हीटर, रेडियो आदि चलते रहते हैं। सम्बन्ध कट जाने पर यह सब यंत्र ठीक रहते हुए भी निष्क्रिय बन जाते हैं। ईश्वर से सम्बन्ध कट जाने पर भी वैसी ही स्थिति होती है। आकार-प्रकार, स्वरूप सब ठीक-ठाक रहते हुए भी जीवन्तता की दृष्टि से वहाँ शून्यता ही बनी रहती है। इस शून्यता को मिटाने दिव्य चेतना से सम्बन्ध रहने तथा ईश्वरीय सामर्थ्य को एकत्रित करने के लिए उपासना एक अत्यन्त आवश्यक अनिवार्य कृत्य है।

दैनिक क्रियाकलापों में उपासना के लिए भी स्थान रखना एक दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता भरा निर्धारण है। आत्मा का परमात्मा से, जीव का ब्रह्म से सम्पर्क सान्निध्य वैसी ही आवश्यकता है जैसी कि बैट्री चार्ज करने के लिए समय-समय पर उसे आवश्यक यांत्रिक प्रक्रियाओं से जोड़ा-गुजारा जाता है। भूख लगती है तो भोजन कर लिया जाता है, ग्रहण किये गये आहार से दिन भर काम चल सके, इतना पोषण दो या तीन बार किये जाने वाले भोजन से मिल जाता है। भोजन से प्राप्त हुई शक्ति खर्च हो जाने के बाद फिर भोजन की आवश्कता पड़ती है। उसी प्रकार आत्मिक प्रगति-आत्मिक प्रयोजनों की पूर्ति के लिए भी नियमित रूप से उपासना का क्रम चलाना चाहिए।

नियमित उपासना, नियत समय पर नियत समय तक नियत स्थान पर होनी चाहिये। इस नियमितता से वह स्थान संस्कारित हो जाता है और मन भी ठीक तरह लगता है। जिस प्रकार नियत समय पर सिगरेट आदि की तलब उठती है, उसी तरह पूजा के लिए भी मन में उत्साह जगता है। जिस स्थान पर बहुत दिन से सो रहे हैं, उस स्थान पर नींद ठीक आती है। नयी जगह पर अक्सर नींद में अड़चन पड़ती है। इसी प्रकार पूजा का नियत स्थान ही उपयुक्त रहता है। व्यायाम की सफलता तब है जब दण्ड-बैठक आदि को नियत संख्या में नियत समय पर किया जाये। कभी बहुत कम, कभी बहुत ज्यादा, कभी सवेरे, कभी दुपहर को व्यायाम करने से लाभ नहीं मिलता।

इसी प्रकार दवा की मात्रा भी समय और तौल को ध्यान में रखकर निर्धारित समय और परिमाण में प्रयुक्त की जाये तो उससे उपयुक्त लाभ मिलेगा अन्यथा नहीं। यही बात उपासना के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यथासम्भव नियमितता ही बरतनी चाहिए। रेलवे की रनिंग ड्यूटी करने वाले, यात्रा में रहने वाले, फौजी, पुलिस वाले जिन्हें अक्सर समय-कुसमय यहाँ वहाँ जाना पड़ता है, उनकी बात दूसरी है। वे मजबूरी में अपनाक्रम जब भी जितना भी बन पड़े रख सकते हैं। न कुछ से कुछ अच्छा। पर जिन्हें ऐसी असुविधा नहीं, उन्हें यथासम्भव नियमितता ही बरतनी चाहिये। कभी मजबूरी की स्थिति आ पड़े तो वैसा हेर-फेर किया जा सकता है।

पूजा उपचार के लिये प्रातःकाल का समय सर्वोत्तम है। स्थान और पूजा उपकरणों की सफाई नित्य करनी चाहिए। जहाँ तक हो सके नित्य कर्म से - शौच स्नानादि से निवृत्त हो कर पूजा पर बैठना चाहिए। रुग्ण या अशक्त होने की दशा में हाथ, पैर, मुँह आदि धोकर भी बैठा जा सकता है। पूजा का न्यूनतम कार्य तो निर्धारित ही रखना चाहिए, उतना तो पूरा कर ही लिया जाय। यदि प्रातः समय न मिले तो सोने से पूर्व निर्धारित कार्यक्रम की पूर्ति की जाये। बाहर प्रवास पर

रहना पड़े तो मानसिक ध्यान पूजा आदि की जा सकती हैं। ध्यान में नित्य की पूजा का स्मरण और भाव कर लेने को मानसिक पूजा कहते हैं। विवशता में ऐसी पूजा से भी काम चल सकता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि उपासना कौन सी और किस पद्धति से की जाए। उपासना अनेकानेक प्रचलित है। सम्प्रदाय भेद से अनेक अनेकों मान्यता दी जाती रहे तो दार्शनिक और भावनात्मक विशृंखलता बनी ही रहेगी। अगला युग एकता का है। इसके बिना विग्रह बढ़ेंगे और संकट खड़े होंगे। एक राष्ट्र एवं एक संस्कृति अपनाये बिना विश्व मानव का स्वरूप नहीं निखरेगा। वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना शब्दाडम्बर बनकर ही रह जायगी मानवी संस्कृति–आचार व्यवहार में एकता स्थापित करनी होगी। साथ ही आस्तिकता का स्वरूप और व्यवहार भी एकता के केन्द्र पर ही केन्द्रित करना होगा। समस्त विश्व में प्रचलित अस्तिकतावादी मान्यताओं और उपासनाओं का सारतत्त्व ढूँढना हो तो वह गायत्री मंत्र में बीज रूप से विद्यमान पाया जा सकता है। इसमें सर्वजनीन एवं सार्वभौम बनने योग्य सभी विशिष्टतायें विद्यमान हैं। इन चौबीस अक्षरों में बीज रूप से वह तत्व दर्शन भरा पड़ा है जिसे व्यक्ति और समाज की सुव्यवस्था के लिए एक उच्चस्तरीय आचार संहिता कहा जा सके। इसी प्रकार साधना उपासना से जिन सिद्धियों और विभूतियों की अपेक्षा की जाती है उन समस्त सम्भावनाओं का आधार एक महामन्त्र में मौजूद हैं।

शास्त्रों में गायत्री की उपासना सर्वोत्कृष्ट मानी गयी है। इसलिए उसकी स्थापना को प्रमुखता देनी चाहिए। यदि किसी का दूसरे देवताओं के लिए आग्रह हो तो उन देवता का चित्र भी रखा जा सकता है। शास्त्रों में गायत्री के बिना अन्य सब साधनाओं का निष्फल होना लिखा है। इसलिए यदि अन्य देवता को इष्ट माना जाय और उसकी प्रतिमा स्थापित की जाय तो भी गायत्री का चित्र प्रत्येक दशा में साथ रहना ही चाहिए।

अच्छा तो यह है कि एक ही इष्ट गायत्री महाशक्ति को माना जाय और एक ही चित्र स्थापित किया जाय। उससे एक निष्ठा और एकाग्रता का लाभ होता है यदि अन्य देवताओं की स्थापना का भी आग्रह हो तो उनकी संख्या कम से कम रखनी चाहिए। जितनें देवता स्थापित किये जायेंगे, जितनी प्रतिमायें बढ़ाई जायेंगी, निष्ठा उसी अनुपात में विभाजित होती जायेगी। इसलिये यथासम्भव एक अन्यथा कम से कम छवियाँ पूजास्थली पर प्रतिष्ठापित करनी चाहिये।

उपासना का विस्तृत विधि-विधान अलग स्थानों पर बताया गया है, यहाँ उस सम्बन्ध में संकेत करना ही पर्याप्त होगा। इस विधि से की गयी नियमित उपासना अखिल ब्रह्माण्ड में संव्याप्त दिव्य चेतना के सागर से अपने लिए अभीष्ट शक्ति अर्जित करने के लिए पर्याप्त सहायक सिद्ध होती है। अधिकस्य अधिक फलम् वाली उक्ति यहाँ भी लागू होती है। उपासना जितनी भावभरी श्रद्धा निष्ठा के साथ की जायेगी, उसका उतना ही लाभ प्राप्त, होगा और मनुष्य नर से नारायण तथा पुरुष से पुरुषोत्तम बनने की दिशा में अग्रसर हो सकेगा।

आत्म कल्याण की सर्वोपरि उपासना

गायत्री-उपासना सर्वश्रेष्ठ और अनादि उपासना है। उसका प्रभाव और परिणाम असंदिग्ध एवं अतुलित है। अन्य उपासना-पद्धतियाँ अपने लक्ष्य को प्राप्त करा सकने में असमर्थ हो सकती हैं, पर गायत्री-उपासना में ऐसी अड़चन नहीं आती।

उपासना-संसार में यह सबसे अधिक लाभदायक प्रक्रिया है। सांसारिक सुख-सुविधाओं के उपार्जन की दृष्टि से स्वास्थ्य, शिक्षा, कुशलता, सम्पत्ति, मित्रता आदि की उपयोगितायें लोगों ने समझ ली हैं और उनके उपार्जन का प्रयत्न भी करते हैं, पर ऐसे कम ही लोग हैं जिन्होंने आत्मबल द्वारा प्राप्त हो सकने वाली विभूतियों का मूल्याकंन किया हो और उनका उपार्जन करने के लिए उपासना क्रिया पद्धति को व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध रूप से अपनाया हो।

भारतीय धर्मशास्त्रों का मर्म, ऋषियों का अनुभव और महापुरुषों के कार्यक्रम को सब उपासना-अन्वेषण की दृष्टि से देखा जाता है तो उसमें गायत्री-उपासना ही सर्वोत्तम ठहरती है। सन्ध्या हवन की कोई भी प्रणाली क्यों न हो, गायत्री-उपासना का उसमें अनिवार्य स्थान है, वेद भारतीय धर्म के मूल आधार हैं और उनका बीज मन्त्र एकमात्र गायत्री है। गायत्री के चार चरणों की व्याख्यास्वरूप चार वेद बने हैं। गुरुमन्त्र के रूप में

२.१३ गायत्री की दैनिक

प्रत्येक भारतीय धर्मानुयायी का एक ही अवलम्बन है-गायत्री मन्त्र। इस सुनिश्चित तथ्य को ध्यान में रखते हुए कोई वेद-धर्म अनुयायी और कोई मार्ग अपना भी नहीं सकता। खोज-बीन और अनुभूतियों के आधार पर हमने जो एकमात्र राजमार्ग पाया उस पर क्रमबद्ध रूप से चलते रहें। यही कारण है कि उस मार्ग पर चलते हुए इतना कुछ पाया है, जिनके आधार पर सन्तोष, आनन्द एवं उल्लास का अनुभव किया।

उपासना मानव-जीवन का सर्वोत्कृष्ट व्यवसाय है। अन्य व्यवसायों में जितना मनोयोग, जितना श्रम, जितना समय और जितना साधन लगाया जाता है, उतना ही यदि उपासना में लगाया जाता तो अपेक्षाकृत असंख्य गुना लाभ उठाया जा सकता है।

आध्यात्मिक भी भौतिक विज्ञान की तरह एक ही सर्वांगपूर्ण है और उसका लाभ तभी उठाया जा सकता है जब व्यवस्थित जानकारी तथा क्रिया-प्रणाली अपनाई जाय।

संसार में अन्य समस्त क्रिया-कलापों की तरह उपासना भी (१) सिद्धान्त और (२) व्यवहार, इन दो भागों में विभक्त है। यह दोनों ही पहलू एक-दूसरे से अन्योन्याश्रित सम्बद्ध हैं। एक के बिना दूसरा पहलू अधूरा है। डॉक्टर ऑपरेशन करने की कला सीखता है फोड़ा कहाँ से, कैसे, किस औजार से, कितना चीरा जाना चाहिये और उसके बाद उस पर क्या लगाना चाहिये- यह समझता है। पर इतने मात्र से ही वह अपने व्यवसाय में कुशल नहीं हो जाता। उसे फोड़ा उत्पन्न होने का कारण, उसकी किस्में तथा पकने-फूटने की सैद्धान्तिक जानकारी भी होनी चाहिये। जो सिद्धान्तों से उपेक्षित है, केवल व्यवहार जानता है वह अनाड़ी डॉक्टर अपने व्यवसाय में सफल नहीं हो सकता। व्यापारी, किसान, शिल्पी आदि सभी वर्गों के लोग हाथ-पैर से क्या करना होगा यह जानते हैं, पर उतने से ही उनका काम नहीं चल जाता। व्यावसायिक सिद्धान्त, किसान को पौधों की क्रिया-प्रणाली, शिल्पी को अपने विषय की आवश्यक जानकारी प्राप्त करनी होती है, यदि वह ऐसा न करे तो वह मशीन मात्र बनकर रह जायेगा।

एक इन्जीनियर और एक साधारण कुली में इस जानकारी का ही अन्तर होता है। कुली भी बताने पर हाथ-पैर से वही कार्य कर सकता है जो इन्जीनियर के हाथ-पैर करते हैं। कई बार तो कुली अपेक्षाकृत अधिक मेहनत भी कर सकता है, पर इन्जीनियर जितना ज्ञान न होने के कारण उसे वह श्रेय नहीं मिलता जो इन्जीनियर को मिलता है। अनपढ़ किसान की अपेक्षा एक कृषि स्नातक खेती में अधिक लाभ ले सकता है। सैद्धान्तिक शिक्षा के अभाव में व्यवहार मात्र से जो लाभ मिलेगा वह नगण्य ही होगा। उपासना क्षेत्र में भी ऐसा ही विधान है। उपासक को पूजा-पाठ के नियम जानकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए वरन् उसके सिद्धान्त, आदर्श, तथ्य एवं स्वरूप को भी समझना चाहिये। जो आवश्यकता को अनुभव करते हैं और उसे पूरा करने में संलग्न रहते हैं, उनकी साधना असंदिग्ध रूप से सफल होती है। किन्तु जो केवल कर्मकाण्ड सीखकर ही सन्तुष्ट हो बैठते हैं उनके हाथ यदि कुछ पड़े भी वह बहुत ही स्वल्प होता है।

वेद ज्ञान और विज्ञान के भाण्डागार हैं। संसार का समस्त प्रकट और अप्रकट ज्ञान वेदों में भरा पड़ा है। इन वेदों का बीज गायत्री महामन्त्र है। जिस प्रकार विशाल वट-वृक्ष एक छोटे से बीज की ही प्रतिकृति होती है, उसी प्रकार वेदों में सन्निहित सारी शिक्षाएँ तथा सारी विद्याएँ बीज रूप से गायत्री महामन्त्र में विद्यमान हैं।

इन २४ अक्षरों में सूत्र रूप से समाविष्ट प्रेरणाओं और शिक्षाओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार और मनन चिन्तन किया जाये तो लगता है कि विश्व के समस्त धर्म-ग्रन्थों एवं नीति-शास्त्रों का निचोड़ इन थोड़े से अक्षरों में गागर में सागर की तरह भर दिया गया है। व्यक्ति एवं समाज की सर्वतोमुखी-सर्वकालीन-समस्त समस्याओं का हल, समस्त उलझनों का समाधान इस महामन्त्र की मूल शिक्षाओं से मिल सकता है। यह चौबीस शब्द सारगर्भित हैं कि ऋषियों को उनकी विवेचना, व्याख्या करने के लिये चार वेदों का आवरण प्रस्तुत करना पड़ा।

प्राचीन काल में ऋषियों ने गायत्री के तत्त्व-ज्ञान की गम्भीरतापूर्वक शोध किया और इस गहन समुद्र में गहराई तक प्रवेश करके ज्ञान-विज्ञान की अतुलित रत्न राशि का लाभ लिया था। विश्वामित्र तो उसी के विशेष ऋषि कहलाये। उन्होंने स्वयं और अपने सहचरों सहित इस महाविद्या के रहस्यों को जानने के लिये समस्त जीवन खपाया और उन्होंने जो पाया, उसका लाभ समस्त आध्यात्मिक जगत ने उठाया।

वेदों में ज्ञान भी है और विज्ञान भी। गायत्री के अक्षरों में से प्रस्फुटित होने वाली शिक्षा मनुष्य-समाज की भौतिक एवं आध्यात्मिक जिज्ञासाओं का समाधान करती है, सुख-शान्तिमय जीवन बिताने का प्रभावपूर्ण मार्गदर्शन करती है। यदि कोई उस प्रकाश का अवलम्बन लेकर अपने कदम उठाता चले तो आनन्द और उल्लास भरा वैसा ही स्वर्गीय जीवन जी सकता है, जैसा कि जीने के लिये यह मानव-प्राणी इस वसुधा पर अवतीर्ण हुआ है।

गायत्री में सन्निहित विज्ञान तो इतना महान् है कि वर्तमान भौतिक विज्ञान के समस्त चमत्कार उसकी तुलना में तुच्छ ठहराये जा सकते हैं। बेशक, पिछली दो सदियों में विज्ञान ने बहुत उन्नति की है। एक से एक बढ़ कर सिद्धान्तों,यन्त्रों और सुख-साधनों का आविष्कार करके एक चमत्कार उत्पन्न किया है। भविष्य में उसकी और भी अधिक उन्नति सम्भावित है, पर साथ ही यह भी निश्चिय है कि अध्यात्म विज्ञान की महत्ता एवं उपयोगिता भौतिक विज्ञान की तुलना में असंख्य गुनी अधिक है।

भारत पूर्वकाल में विज्ञान के उच्च शिखर पर जा पहुँचा था। उसके गौरव को विश्व में सर्वोपरि बनाने में इस विज्ञान को ही श्रेय था। दिव्य अस्त्र-शस्त्र, शरीरों में अकूत बल, धन-समृद्धि का इतना बाहुल्य था कि स्वर्ण कलश हर घर पर रखे हों। अकूत आत्म बल और आन्तरिक शक्तियों के बल पर अभीष्ट परिस्थितियाँ तथा साधन-सामग्री उत्पन्न कर सकने की क्षमता हमारे पूर्वजों की विशेषताएँ थी। जहाँ वेद, ब्रह्म-विद्या एवं आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान के आधार पर, भावनात्मक स्तर पर देवताओं जैसे पवित्र बनकर इस धरती पर स्वर्ग अवतरण कराने में सफल हुए थे, वहीं उन्होंने विज्ञान के आधार पर प्रत्येक प्रकार की स्मृतियाँ भी अर्जित की थीं। यही कारण है कि इस धरती के समस्त निवासियों ने उन्हें भूसुर, धरती के देवता कहकर सम्मानित किया था,जगद्गुरु एवं चक्रवर्ती शासन के महान उत्तरदायित्वों को सौंपा था और जीवन की प्रत्येक दिशा में उनका नेतृत्व स्वीकार किया था। यह उनके विज्ञान की महिमा थी।

वह विज्ञान आज जैसा न था जो मँहगी तथा आये दिन टूटती-फूटती रहने वाली तथा निकम्मी हो जाने वाली मशीनों के आधार पर चलता हो। तेल, कोयला, पेट्रोल, बिजली आदि ईंधन इस दुनिया में बहुत कम है। जिस गति से वैज्ञानिक प्रयोजनों में कल-कारखानों तथा मशीनों में खर्च हो रहा है, उसे देखते हुए यह सब सामग्री सौ-डेढ़सौ वर्षों में समाप्त हो सकती है और तब आज का यह तन्त्रनादि विज्ञान बेमौत मर सकता है। भारतीय तत्त्वदर्शी वैज्ञानिकों ने, ऋषियों ने जिस विज्ञान का आविष्कार किया था वह यन्त्रों पर नहीं तन्त्रों पर आधारित था। मानव-शरीर हाड़-मांस का पुतला ही नहीं वरन् उसमें एक से एक बढ़कर चमत्कारी शक्ति केन्द्र प्रसुप्त अवस्था में पड़े हैं। षटचक्र, २४ उपचक्र, ५२ उपत्यिकायें, १०८ ग्रन्थियों और महारन्ध्र की सहस्र काकेशिक स्फुरणायें उतनी शक्ति तत्त्वों से ओत-प्रोत हैं कि यदि उनमें से थोड़ी सी भी जागृत की जा सकें तो इतनी बड़ी उपलब्धियाँ हाथ में आ सकती हैं जिनकी तुलना में वर्तमान विज्ञान की भौतिक उपलब्धियाँ नगण्य एवं तुच्छ ही सिद्ध होंगी। प्राचीन काल में ऋषि, महर्षि अपने शरीरों की प्रयोगशाला में ऐसे ही परीक्षण किया करते थे, योगाभ्यास के द्वारा जो ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ उपलब्ध करते थे उनके चमत्कारों का आधार कोई जादू नहीं वरन् यह आत्म-विज्ञान ही होता था, वेदों में इस प्रकार के आत्म-विज्ञान का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है।

वेदों में वर्णित विज्ञान की क्षमता का पता लगाने के लिये जर्मन सरकार ने कुछ समय पूर्व महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किया। जर्मन प्रोफेसर मैक्समूलर भारत आये और यहाँ के वेद विद्वानों की सहायता से उन्होंने ऋग्वेद का जर्मन भाषा में अनुवाद किया था। इस शोध कार्य के लिये जर्मन सरकार ने लाखों रुपया खर्च किया था। इसके बाद ही जर्मनी ने इतनी बड़ी वैज्ञानिक उन्नति कि वह थोड़े ही समय में समस्त विश्व में चक्रवर्ती शासन स्थापित करने का सपने देखने लगा। पिछले दो महायुद्ध उसी ने आरम्भ किये। अपनी शक्ति का ठीक अन्दाज न लगा सकने के कारण वह परास्त तो अवश्य हुआ, पर अपनी उपलब्धियों के कारण वह संसार भर के लिये आज भी एक आश्चर्य एवं रहस्य बना हुआ है। अणु-विज्ञान का आविष्कार सबसे प्रथम उसी ने किया, और देशों ने तो पीछे उसी के आविष्कार का लाभ उठाया है।

वेदों की ऋचाओं में सूत्र रूप से समाविष्ट आत्म-विज्ञान की महत्ता का क्षेत्र इतना बड़ा है कि उसकी जितनी भी शोध एवं साधना की जा सके, उतना ही कम

है। प्राचीनकाल में इस दिशा में बहुत बड़ी प्रगति की थी, पर यह न समझना चाहिये कि उसमें आगे बढ़ने की गुंजायश न थी। आगे और भी बहुत कुछ हो सकता था और मनुष्य देवताओं की तरह अजर-अमर बनकर इस धरती को स्वर्ग बना सकता था, यदि उसके हाथ में वेदों का सन्निहित समस्त विज्ञान आ जाता। पर संसार चक्र परिवर्तनशील है। हम उत्थान से विमुख होकर पतन के गर्त में गिरे और उन पूर्व उपलब्धियों को गँवा बैठे। यदि उस विज्ञान से हम वंचित न हो गये होते तो इस दयनीय दुर्दशा में असहायों की तरह पड़े संत्रस्त न हो रहे होते।

ऊपर की पंक्तियों में जिस आत्म-विज्ञान की चर्चा की जा रही है वह वेद के दो अङ्कों में से-ज्ञान-विज्ञान में से-- एक प्रमुख तत्त्व है। यह प्रथम ही कहा जा चुका है कि गायत्री वेदों का बीज मन्त्र है। किसी पेड़ में जो विशेषतायें और सम्भावनायें होती हैं वे छोटे से बीज में सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहती हैं। मनुष्य की इतनी विशेषताओं वाला शरीर एवं मन अत्यन्त सूक्ष्म रूप से वीर्य कश के एक छोटे से बीज पिण्ड में मौजूद रहता है। ठीक इसी प्रकार वेदों में वर्णित विविध वैज्ञानिक उपलब्धियाँ गायत्री महामन्त्र के थोड़े से बीज रूप में भी भरी पड़ी हैं। इस महाशक्ति की जो ठीक तरह साधना कर सकता है, वह अनुपम स्तर का शक्तिवान् बन सकता है।

व्यायाम से शरीर पुष्ट होता है, अध्ययन से विद्या आती है, श्रम करने से धन कमाया जाता है, सत्कर्मों से यश मिलता है, सद्गुणों से मित्र बनते हैं। इसी प्रकार उपासना द्वारा अन्तरंग जीवन में प्रसुप्त पड़ी हुई अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ सजग हो उठती हैं और उस जागृति का प्रकाश मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक विशिष्टता का रूप धारण करके प्रकट करता हुआ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। गायत्री-उपासक में तेजस्विता की अभिवृद्धि स्वाभाविक है। तेजस्वी एवं मनस्वी व्यक्ति स्वभावतः हर दिशा में सहज सफलता प्राप्त करता चलता है।

मानवी मस्तिष्क में जो शक्ति-केन्द्र भरे पड़े हैं, उनका पूरी तरह उपयोग कर सकना तो दूर, अभी मनुष्य को उनका परिचय भी पूरी तरह नहीं मिला है। मनोवैज्ञानिकों को अन्तर्मन की जितनी जानकारी अभी तक विशाल अनुसंधानों के बाद मिल सकी है, उसे वे दो प्रतिशत के लगभग ही मानते हैं। प्रसुप्त मन की ९८ प्रतिशत जानकारी प्राप्त करना अभी तक शेष है। इसी प्रकार शरीर-शास्त्र डॉक्टरों ने बाहरी मस्तिष्क का केवल ८ प्रतिशत ज्ञान प्राप्त किया है शेष के बारे में वे भी अभी अनजान हैं। मस्तिष्क सचमुच एक जादू का पिटारा है। इसमें सोचने-समझने की क्षमता तो है ही, साथ ही उसमें ऐसे चुम्बक-तत्त्व भी हैं जो अनन्त आकाश में भ्रमण करने वाली अद्भुत सिद्धियों, विभूतियों एवं सफलताओं को अपनी ओर खींच कर आकर्षित कर सकते हैं, सूक्ष्म जगत में अपने अनुकूल वातावरण बना सकते हैं। जिन व्यक्तियों के साथ अपनी कामना आकांक्षा का सम्बन्ध है, उन पर ऐसा प्रभाव डाला जा सकता है कि उसे हमारे अनुकूल ही गतिविधि अपनानी पड़े। गायत्री-उपासना के द्वारा उपासक में ऐसे ही मानसिक चुम्बक-तत्त्व सक्रिय हो उठते हैं। मनोबल बढ़ने से ऐसी विद्युतधारा अन्तर्मन के प्रसुप्त क्षेत्रों में गतिशील हो जाती है कि अब तक अपने प्रयोजन में आया हुआ मस्तिष्कीय चुम्बक सक्रिय हो उठता है और वे उपलब्धियाँ सामने लाकर खड़ी कर देता है, जिन्हें आमतौर से सिद्धियों, विभूतियों का 'वरदान' एवं दैवी सहायता कहा जा सके।

उपासना में बरती गई तपश्चर्या से द्रवित होकर गायत्री माता ने अमुक सिद्धि या सफलता प्रदान की--यह भावुक भक्त का दृष्टिकोण है। इस तथ्य का वैज्ञानिक दृष्टिकोण यह है कि कठोर नियम, प्रतिबन्धों का पालन करने में जो प्रतिरोधात्मक क्षमता बढ़ी, उसने मनोबल का विकास किया। उसने अन्तर्मन के प्रसुप्त शक्ति-केन्द्रों का चुम्बकत्त्व जगाया और उसी जागरण ने अभीष्ट सफलतायें खींचकर सामने ला खड़ी कर दीं। मनुष्य अपने आप में एक देवता है। उसके भीतर वे समस्त दैवी शक्तियाँ बीज-रूप में विद्यमान रहती हैं जो इस विश्व में अन्यत्र कहीं भी हो सकती हैं। अन्यत्र रहने वाले देवता अपनी निर्धारित जिम्मेदारियाँ पूरी करने में लगे रहते हैं। वे हमारे व्यक्तिगत कार्यों में इतनी अधिक दिलचस्पी नहीं ले सकते कि अगणित उपासकों या भक्तों की अगणित प्रकार की समस्याओं को सुलझाने में संलग्न हो सकें। हमारी समस्याओं को हल करने की क्षमता हमारे अपने भीतर रहने वाले देवताओं में होती है और उसी को किसी अनुष्ठान द्वारा सशक्त एवं गतिशील बना

करके साधक को अपना प्रयोजन वस्तुतः आप ही पूरा करना पड़ता है । गायत्री अनुष्ठान के लिये विधि-विधान द्वारा बढ़ने वाले मनोबल. द्वारा यदि वह सक्रिय हो उठे तो अभीष्ट सफलतायें प्राप्त कर सकने की परिस्थितियाँ निर्मित या उपलब्ध कर सकना उसके लिये अधिक कठिन नहीं रहता ।

गायत्री-उपासना मनुष्य-जीवन को बहिरंग एवं अन्तरंग दोनों ही दृष्टियों में समृद्ध और समुन्नत बनाने का राजमार्ग है । बाह्य उपचार से बाह्य जीवन की प्रगति होती है, पर अन्तरंग विकास के बिना उसमें पूर्णता नहीं आ पाती । बाहरी जीवन की विशेषतायें छोटा-सा शोक, संताप, रोग, कष्ट, अवरोध एवं दुर्दिन सामने आते ही अस्त-व्यस्त हो जाती है, पर जिस व्यक्ति के पास आन्तरिक दृढ़ता, समृद्धि एवं क्षमता है, वह बाहर के जीवन में बड़े से बड़ा अवरोध आने पर भी सुस्थिर बना रहता है और भयानक भँवरों को चीरता हुआ अपनी नाव को पार ले जाता है । भौतिक समृद्धि और आत्मिक शान्ति के लिये उपासना की वैज्ञानिक प्रक्रिया अचूक साधना है और कहना न होगा कि उपासनाओं में सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोपरि एकमात्र गायत्री महामन्त्र की उपासना ही है ।

परम प्रेरणाप्रद गायत्री उपासना

गायत्री महामंत्र की शक्ति असाधारण है । उसमें भरी हुई शिक्षा को यदि हृदयंगम किया जा सके, विचारणा को सद्बुद्धि में, ऋतम्भरा प्रज्ञा में परिणत किया जा सके तो समझना चाहिये कि नर को नारायण रूप में परिणत होने की सम्भावनाओं का पथ प्रशस्त हो गया । इन अक्षरों का गुन्थन शब्द-विद्या के उस रहस्यमय सूत्रों के आधार पर किया गया, जिनके कारण षटचक्र, तीन ग्रन्थियाँ, बावन उपत्यिकायें जैसे प्रसुप्त शक्ति-केन्द्रों का जागरण होता है और मनुष्य सामान्य से असामान्य बनने की दिशा में बढ़ चलता है ।

गायत्री साधना की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में किसी भारतीय धर्मानुयायी को संदेह करने की गुंजाइश नहीं है । सन्ध्या के रूप में दैनिक आवश्यक धर्म-कर्तव्य निर्धारित किया गया है । शिखा और यज्ञोपवीत के रूप में मस्तक और हृदय जैसे आधार अंङ्गों पर गायत्री की ही प्रतिष्ठापना है । प्रायः सभी अवतार, ऋषि, योगी और तत्वेत्ता गायत्री उपासना के माध्यम से आत्मबल अभिवर्धन और भावनात्मक उत्कर्ष का प्रयोजन पूरा करते रहे हैं । निस्संदेह योगाभ्यास के मंत्र साधना के क्षेत्र में गायत्री मंत्र की गरिमा सर्वोपरि है । जीवन-शोधन की परिष्कार साधनाओं में उसका स्थान सबसे अगला और सबसे ऊँचा है ।

प्रत्यावर्तन-प्रक्रिया में गायत्री-उपासकों को पवित्रीकरण, आचमन, शिखा-बन्धन, प्राणायाम, न्यास, पृथ्वी पूजन—इन षट कर्मों की ब्रह्म संध्या के उपरान्त आधा घण्टे तक गायत्री जप करना होता है । इतने समय में पाँच मालाएँ हो जाती हैं । मालाएँ फेरना अनिवार्य नहीं है । आधा घण्टा समय की अवधि घड़ी देखकर भी पूरी की जा सकती है । जप-साधना में नियत समय, नियत स्थान, नियत संख्या का जो नियम है, उसका यहाँ पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है । कंठ, होठ, जीभ तीनों ही चलते रहें पर ध्वनि इतनी मन्द हो कि पास में बैठा मनुष्य उसे ठीक तरह से सुन न सके, मात्र स्फुट गुञ्जन ही होता रहे ।

जप के समय ध्यान आवश्यक है । मन को काम न मिले तो वह भागेगा ही । जीभ से शब्दोच्चार होता है, उँगलियों से माला जपी जाती है, किन्तु आमतौर से मन को खाली छोड़ दिया जाता है, ऐसी दशा में उसका अनियंत्रित और अव्यवस्थित रूप से इधर-उधर भागना स्वाभाविक ही है । मन कहीं, क्रिया कहीं वाली स्थिति ही हो, तो बात कुछ नहीं है । उपासना में तन्मयता और श्रद्धा का गहरा पुट होना चाहिए, तभी उसका कुछ प्रयोजन है अन्यथा कुछ शब्दों की पुनरावृत्ति करते रहने मात्र से कुछ बड़ा प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा ।

गायत्री उपासना के समय ध्यान नितान्त आवश्यक है । यह दो प्रकार का हो सकता है, एक साकार, दूसरा निराकार । दोनों में से इच्छानुसार किसी को भी चुना जा सकता है । किन्तु प्राण-प्रत्यावर्तन साधना के अन्तर्गत चल रहे सत्रों में परामर्श यही दिया जाता है कि साकार उपासना में भावना-उत्कर्ष की गुंजायश रहती है, उससे लाभ उठायें । यह लाभ प्रायः निराकार साधना में नहीं मिल पाता । निराकार साधना के लिए दूसरी कई विधियाँ मौजूद हैं, अस्तु । यही उपयुक्त समझा गया है कि निर्धारित साकार ध्यान को ही प्रथम दिया जाये ।

प्रचलित ध्यान-साधनाओं में एकाङ्गी अतिवाद का बाहुल्य रहता है । यों तो 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' के रूप में अपने को चित्रित किया जाता है, या फिर शिवोऽहम् संच्चिदानंदोऽहम् की ध्वनि लगाई जाती है । ये दोनों ही स्थितियाँ मनुष्य की हो तो सकती हैं, पर ये उत्थान और पतन की चरमपरणति हैं । पतित होते-होते मनुष्य, पशु अथवा नर-पिशाच हो सकता है और उत्कर्ष की ऊँची सीढ़ी पर चढ़ते हुए उसका नर नारायण बन जाना नितान्त संभव है, परन्तु सामान्य स्थिति में वह इन दोनों ओर छोरों के बीच का मध्य बिन्दु है । देव अपनी ओर खींचते हैं, असुर अपनी ओर । दोनों में यह जिधर भी चल पड़े, उधर ही आशाजनक प्रगति कर सकता है ।

हमें वस्तुस्थिति समझनी चाहिए और तामसी असुरता को निरस्त करके सतोगुणी देवत्व की ओर प्रगति करनी चाहिए । ध्यान-धारणा का लक्ष्य भी यही होना चाहिए । उसमें ऐसे भाव-चित्र प्रस्तुत किये जाने चाहिए जिनमें अपनी अवांछनीय स्थिति की ओर समुचित ध्यान देने, उसकी हानियों को समझने और उन्हें निरस्त करके उच्चस्तरीय स्थिति प्राप्त करने की प्रेरणा भरी पड़ी हो । इस प्रकार के उभय पक्षीय प्रायोजन सिद्ध करने वाली ध्यान-धारणाओं को ही शृंखला प्रत्यावर्तन-सत्र की विभिन्न विधि व्यवस्थाओं में भरी पड़ी है । बिन्दुयोग--त्राटक प्राणयोग-(सोऽहम्-साधना), आत्मबोध (छाया-दर्पण), तत्त्वबोध (प्रथक्करण)–इन चारों साधनाओं में इसी तथ्य को ध्यान में रखा गया है । जितना समय इन साधनाओं में है, उसका आधा समय विकृतियों को समझने और निरस्त करने में लगाया है । आधा समय भावी उत्कृष्टता की स्थिति के स्वर्णिम चित्र मूर्तिमान करने के लिए है । अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना, दुष्कृतों का नाश और साधुता का परित्राण, यही तो भगवान के अवतार का उद्देश्य एवं क्रिया-कलाप रहता है । उपर्युक्त ध्यान-धारणाओं का स्वरूप निर्धारण भी इसी दृष्टिकोण के आधार पर रखा गया है ।

गायत्री-उपासना के लिए आधा घंटा पाँच माला-जप निर्धारित है । इसमें पन्द्रह मिनट निषेधात्मक और पन्द्रह मिनट विधेयात्मक चिन्तन के लिए हैं । बिजली की ऋण और धन धाराऐं मिलकर ही प्रवाह उत्पन्न करती हैं । इस प्रकार ध्यानक्ष धारणा में उभय पक्षीय संतुलन मिलने से ही उसकी पूर्णता और प्रभावशीलता बनती है । इसी तथ्य को प्रस्तुत क्रम में समाविष्ट किया गया है ।

जप आरम्भ करने के साथ-साथ ध्याान-धारणा में अपने स्वरूप की स्थापना इस रूप में करनी चाहिए कि मैं एक छोटा बालक हूँ, टट्टी और गन्दगी में लिपटा हुआ । हाथ-पैर सभी को उस गन्दगी से पोत कर घिनोना बना लिया है । माता से गोदी में लेने का अनुरोध करता हूँ, पर वह सुनती ही नहीं और भवें तरेरते हुए स्पष्ट कर देती है, कि जब तक गन्दगी को धोकर सफाई न कर ली जायेगी तब तक गोद में लेने की, प्यार करने की बात नही बनेगी । ठीक भी है, बच्चे की गन्दगी के कारण मां अपने कपड़े और शरीर को गंदा क्यों करे ? गोदी में लेने का आग्रह रोते-बिलखते किया जा रहा है, पर माता की ओर से इसकी कोई सुनवाई नहीं की जा रही है ।

ध्यान का उत्तरार्ध पन्द्रह मिनट का यह है कि माँ ने अपने छोटे बच्चे शरीर को स्नान कराया, मलीनता के कणों को धोकर साफ किया, गोदी में उठाया, अच्छे कपड़े पहनाये, प्यार किया, दूध पिलाया । अपनी सहज करुणा का भाव भरे वात्सल्य का परिचय दिया और मनोकामना पूर्ण करके हर्षोल्लास का अनुदान प्रदान किया ।

गायत्री जप के समय का यही द्विपक्षीय ध्यान है । इसमें उस कारण का स्पष्टीकरण है जिससे साधकों को इष्टदेव का अनुग्रह प्राप्त करने से वंचित रहना पड़ता है । उस सुझाव का भी निर्देश है, जिसे अपनाने पर ईश्वर-प्राप्ति जैसा महान सौभाग्य मिल सकता है । जब तक हम कषाय-कल्मष दोष-दुर्गणों में सिर से पैर तक डूबे पड़े हैं, तब तक कैसे आशा कर सकते हैं कि भगवान हमें अपना अतिरिक्त स्नेह-अनुग्रह प्रदान करेंगे । भगवान का प्यार पूजा-पत्री के छुट-पुट कर्मकाण्डों पर अवलम्बित नहीं है । वे नियम-रूप हैं और मर्यादा एवं व्यवस्था के अन्तर्गत ही किसी की कुछ सहायता कर सकते हैं । खुशामद और रिश्वत देकर भगवान से लम्बी-चौड़ी याचनायें करना और मनोकामनाओं के सपने देखना निरर्थक हैं । इस बाल-कल्पना का वस्तुतः कोई मूल्य है भी नहीं । मनुष्य अपने चिन्तन और कर्तृत्व का स्तर उँचा उठा सकता है । इसी तथ्य के लिए आवश्यक अन्तःप्रेरणाएँ प्राप्त करना साधना-उपक्रम का उद्देश्य होता है ।

गायत्री मंत्र का, उसके जप का अपना महत्त्व है। उपर्युक्त ध्यान-धारण के साथ में जुड़ जाने का अतिरिक्त महत्त्व है। एक तो चिन्तन के लिए, कल्पना के लिए विस्तृत क्षेत्र मिल जाता है और मन को उसमें उलझा रहने का अवसर मिलता है। मन को एक नियत-निर्धारित काम मिल जाने से उसकी अनावश्यक और अवांछनीय घुड़दौड़ बन्द हो जाती है। चित्तवृत्तियों के निरोध की आवश्यकता बहुत हद तक इससे पूरी होती है। इसके अतिरिक्त आत्म-शोधन का, परिष्कृत जीवन-क्रम अपनाने पर ही पूर्णता का, भगवत् प्राप्ति का लक्ष्य प्राप्त हो सकने की सचाई हृदयंगम होती है। दोनों ही प्रयोजन इस ध्यान-उपक्रम के साथ गायत्री उपासना करने से पूरे होते हैं।

गायत्री-जप के अनन्तर उसकी पूर्णाहुति सूर्य अर्घ्य-दान के रूप में होती है।गायत्री का देवता सविता–सूर्य है। गायत्री को सूर्य-मंत्र भी कहा जाता है। साकार हो अथवा निराकार, गायत्री की प्रतिमा सूर्य सहित ही बनती है। गायत्री माता का साकार रूप होगा तो उसके मुख मण्डल के इर्द-गिर्द सूर्य जैसा तेजोवलय चित्रित किया जायेगा। "सूर्य मण्डल मध्यस्था" शास्त्र वचन के अनुरूप ऐसे चित्र भी बने हैं जिनमें सूर्य-मण्डल के बीच गायत्री माता का पूरा शरीर है। निराकार उपासक सूर्य जैसे प्रकाश बिन्दु को अपने ध्यान का आधार बनाते हैं। सूर्योपस्थान संध्यावन्दन का महत्त्वपूर्ण अंग है। इन्हीं तथ्यों के साथ सूर्यार्घ की बात भी जुड़ी है। गायत्री-जप के समय जल-कलश एक छोटे लोटे में स्थापित किया जाता है और जप पूर्ण होने पर सूर्य के समुख खड़े होकर जल की धार उस कलश से छोड़ते हुए अर्घ्यदान किया जाता है।

यह पूर्णाहुति यद्यपि है तनिक सी, पर उनका महत्त्व बहुत है। जल अपनी आत्मसत्ता का प्रतीक है और सूर्य समष्टि गत सर्वगत ब्रह्मसत्ता का प्रतिनिधि है। जल को अर्थात् अपने व्यक्तित्व की धार बाँध कर अनवरत गति से भगवान के चरणों पर लोकमङ्गल के पुण्य-प्रयोजनों पर समर्पित किया जाता है, इसी उत्साह के साथ परमार्थ जीवन की दिशा में बढ़ चलने का भाव संकेत सूर्यार्घदान में सन्निहित है। सूर्य भगवान के सम्मुख जल चढ़ाते हुए यही भावनायें उमड़नी चाहिए कि समर्पण-योग की उच्चतम स्थिति प्राप्त करके रहेंगे। भगवान को जो महानतम देना था, सो वे मानव शरीर के रूप में दे चुके। इससे बड़ी सम्पदा उनके पास कुछ थी भी नहीं। अब अपनी बारी है कि अनुदान का प्रतिदान प्रस्तुत करें। अपनी विभूतियों और सम्पत्तियों को उनके चरणों पर, उनके उद्यान विश्व को सुन्दर-समुन्नत बनाने के लिए नियोजित समर्पित करें।

वस्तुतः समर्पण ही योग-साधना की सबसे ऊँची और सबसे प्रभावी स्थिति है। जब मनुष्य अपनी समस्त ऐषणायें, तृष्णायें, लिप्सायें भगवान के चरणों पर समर्पित करके कामना-रहित बन जाता है और ईश्वरीय निर्देशों पर चलने की बात ही अन्तःकरण के मर्मस्थल में बसा लेता है, तो स्वभावतः उसका चिन्तन उत्कृष्ट और कर्तृत्त्व आदर्श स्तर का बन जाता है। उसी को ब्रह्म-ज्ञानी को, ईश्वर भक्ति की यथार्थ भूमिका कह सकते हैं। इसे जो आत्मा सम्पन्न कर सके, समझना चाहिए उसने ईश्वर के साथ अपना विवाह कर लिया। सर्व विदित है कि पतिव्रता पत्नी अपना शरीर और मन सर्वतोभावेन पति के चरणों पर समर्पित करती है और उसी की इच्छा के अनुरूप अपनी इच्छा, प्रकृति एवं क्रिया का निर्माण निर्धारण करती है। फलस्वरूप पत्नीव्रता पति भी उस पर अपने प्राण निछावर करता है और अपने सर्वस्व की स्वामिनी घोषित करता है।

पत्नी को बेशक बहुत क्या, सब कुछ ही देना पड़ता है, पर बदले में उसे अपने से भी सुयोग्य सहचर को कौड़ी-मोल खरीद लेने का अवसर मिलता है। ठीक यही बात भक्त और भगवान के पारस्परिक सम्बन्धों पर लागू होती है। जब भक्त अपना चिन्तन और कर्तृत्त्व भगवान की आकांक्षा के अनुरूप ढालने वाला सच्चा समर्पण प्रस्तुत करता है, तो बदले में भगवान भी उसे अपनी समग्र सत्ता समर्पित कर देते हैं, भक्त और भगवान को समतुल्य माना गया है, यही बात पति-पत्नी के सम्बन्ध में भी लागू होती है। इस सघनता का, एकता का एकमात्र आधार पारस्परिक समर्पण-भाव ही है, यदि वे इससे बचें और सस्ती वाचालता से एकदूसरे को बहकावें, स्वार्थ अपने-अपने अलग रखें तो फिर वेश्यावृत्ति जैसे स्थिति ही बन जायेगी। भक्त और भगवान के बीच सच्चा समर्पण ही सार्थक होता है। छदम् या बहकावे को भगवान भली प्रकार समझते हैं और ऐसे जाल-जंजाल की धूर्तता से कोसों दूर रहते हैं।

सूर्यार्घदान के पीछे समग्र रूप में यही तत्त्वज्ञान सन्निहित है ।यज्ञ में घृत की धार बाँध कर वसोधारा विधान किया जाता है । अर्घ में भी वही भाव है । यज्ञ-भगवान के प्रति अपना भावभरा स्नेह बहुमूल्य पदार्थ वैभव समर्पित करने का संकेत वसोधारा में है । सूर्य रूपी ब्रह्मयज्ञ में अपने सलिल-व्यक्तित्व को समर्पित करके तुच्छता की परिधि तोड़कर महानता की भूमिका में विचरण करने वाला साधक वहाँ पहुँचता है, जहाँ पहुँचना जीवन का चरम लक्ष्य है । सूर्योपासना बाह्य दृष्टि से अन्यान्य कर्म-काण्डों की तरह ही एक साधारण उपचार प्रक्रिया प्रतीत होती है, पर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर उसमें वे सभी लक्ष्य जुड़े हुए दृश्यमान होंगे, जिन पर चरम आत्मोत्कर्ष की सम्भावनायें आधारित होती हैं ।

'तमसो मा ज्योतिर्गमय' सूत्र के अन्तर्गत अन्धकार से बच कर प्रकाश की ओर चलने का जो संकल्प व्यक्त किया गया है, उसे अधिक स्पष्टतापूर्वक भाव भूमिका में उभारने के लिए सूर्य देवता की दिव्यज्योति से सहायता ले सकते हैं । प्रकाश के सम्मुख अन्धकार नहीं ठहरता । सद्ज्ञान रूपी सूर्य अन्तःकारण में उदय है तो उन अन्धकारों में भटकने का कोई कारण नहीं रह जाता जिनकी भूल-भुलैयों में उलझे रहने से दिग्भ्रान्त रहते हुए हम अपने प्रयाण-पथ से ही भटक गये । इस भटकाव को दूर करके ईश्वर के अंशधारी राजकुमार को सत्य और तथ्य का दर्शन करा सकने योग्य प्रकाश की आवश्यकता है । कोई भी भावुक-अन्तःकरण सूर्य को, परमात्मा के प्रत्यक्ष और प्रचण्ड प्रकाश को सामने उपस्थित देखकर उसके सहारे जीवन-यात्रा के सही मार्ग को समझने और उस पर चल पड़ने की प्रेरणा प्राप्त कर सकता है ।

सूर्य अनुशासन का नियमित क्रम-व्यवस्था का प्रतीक है । कर्मयोग उसकी विशेषता है । अपने आकर्षण में सौर-मण्डल के ग्रह-उपग्रहों को बाँधे हुए है और प्रकाशवान भी कर रहा है, उन्हें गति भी दे रहा है । इसी मार्ग का हमें भी अनुसरण करना चाहिए । अपने को नियमित क्रमबद्ध, कर्तव्य परायण, प्रकाश पुञ्ज, मनस्वी और तपस्वी बनाकर, लोक मंगल के लिए, अहिर्निशि संलग्न रहने के लिए तत्पर कर सकते हैं । अपने आकर्षण में असंख्य प्रतिभाओं को आबद्ध किये रह सकते हैं । अगणितों को प्रकाश दे सकते हैं । इस स्तर का व्यक्तित्व विनिर्मित किया जा सके तो समझना चाहिए कि सूर्य भक्ति सार्थक हो गई । भक्ति का तात्पर्य ही इष्टदेव का अनुकरण अनुगमन करना है ।

हनुमान की भक्ति सच्ची थी, वे उधर ही चले जिधर भगवान राम ने चरण बढ़ाये । अर्जुन ने कृष्ण के अंगुलि-निर्देश को ध्यान में रख कर ही अपनी समग्र रीति-नीति निर्धारित की । भक्ति का तरीका ही यह है । मात्र पूजा-पत्री की टण्ट-घण्ट से भक्ति का उद्देश्य कहाँ पूरा होता है । गायत्री मन्त्र के देवता सविता की आराधना का संक्षिप्त किन्तु अति प्रेरणाप्रद उपक्रम सूर्यार्धदान है

अध्यात्म की भाषा में प्रकाश शब्द का उपयोग सद्ज्ञान के अर्थ में होता है । ज्ञान अपने आप में परम ज्योति है, उससे अज्ञानान्धकार दूर होता है । सूर्य को माध्यम मान कर उसकी, परमज्ञान की, तत्वज्ञान-ब्रह्मज्ञान की आराधना की जाती है, जिससे अपने विविध विधि अज्ञानान्धकारों का निराकरण हो सके और दूर-दूर तक के क्षेत्र को प्रकाशित-प्रभावित करने की क्षमता प्राप्त हो सके । आसमान में चमकने वाला अग्नि पिण्ड-भौतिक सूर्य तो मात्र अंधेरा ही दूर कर सकता है और सर्दी को हटाकर तापमान बढ़ा सकता है । जिस परम तेजस्वी सविता की हम उपासना करते हैं, अर्घ चढ़ाते हैं, वह उससे ऊँचा है, आगे है, वह प्रेरणा भरे सद्ज्ञान से ओतप्रोत सविता है । वही हमारा परम उपास्य आराध्य है । उदय-अस्त होने वाला सूर्य तो उसकी प्रतिमा भर कहा जा सकता है । दृश्य प्रतिमाओं के आधार पर जिस प्रकार परब्रह्म की शक्तियों के प्रति आस्था उभारी जाती है, उसी प्रकार अग्नि-पिण्ड सूर्य को अर्घ चढ़ाते हुए परब्रह्म सविता देवता की प्राण-प्रेरणा का आह्वान करते हैं और जलधारा चढ़ाते हुए उसमें अपना उत्सर्ग करने का संकल्प व्यक्त करते हैं ।

चढ़ाया हुआ जल भूमि पर गिरता है और सूर्य की गर्मी से भाप बनकर अनन्त आकाश में बिखर जाता है । पीछे वह ओस, बादल आदि बनकर भूमि की तृषा और वनस्पतियों की आवश्यकता पूरी करते हुए अपने को धन्य बनाता है । उपास्य सविता देवता हमारे क्षुद्र कलश में भरे हुए सलित व्यक्तित्व को यदि अर्घ रूप में स्वीकार कर सके तो निश्चय ही वे हमें बादल बनकर अनन्त में बिखर जाने और वर्षा बिन्दुओं में परिणित

होकर इस वसुधा की तृष्णा शान्त करने की प्रेरणा देंगे। यदि ऐसा अनुदान, वरदान मिल सके तो समझना चाहिए कि गायत्री-उपासना के अन्त में प्रस्तुत की जाने वाली पूर्णाहुति सूर्यार्घदान-प्रक्रिया सार्थक एवं फलित हो गई।

महाप्रज्ञा का दर्शन एवं आराधना

साधना का एक ही उद्देश्य है, आत्मोत्कर्ष व्यक्तित्व का परिष्कार। इतना बन पड़े तो समझना चाहिए कि बहिरंग या अंतरंग क्षेत्र का जो भी काम हाथ में लिया जायेगा वह पूरा होकर रहेगा। भले ही उसमें कुछ देर लगे। पर विकसित व्यक्तित्व वालों के लिए कोई कार्य असंभव नहीं। कोई कार्य इसलिए कहा जा रहा है कि उत्कृष्ट चिन्तन के रहते उच्चस्तरीय लक्ष्य ही निर्धारित होते हैं। निकृष्टता न तो उन्हें रुचती है और न उनके पास फटकती है। वे जो कुछ भी सोचते हैं, वह खरा होता है। सोने का खरा-खोटा परखने के लिए उसे कसौटी पर कसा और आग पर तपाया जाता है। इसी प्रकार अध्यात्म-प्रकृति के व्यक्ति आत्म-कल्याण और लोक-मंगल के दो आसारों के साथ जुड़ा हुआ निर्धारण निश्चित करते हैं। सद्बुद्धि की देवी ऋतम्भरा प्रज्ञा इसी स्तर के परामर्श देती है और सच्चा साधक अपने इष्ट द्वारा दिये गये परामर्श एवं आदर्श की अवहेलना नहीं कर सकता।

संसार में अनेक देवी-देवता हैं। अनेक जंत्र-मंत्र अनेक दर्शन और अनेक पूजा-विधान। सभी के प्रतिपादन-कर्ता अपनी बात की पुष्टि करने के लिए जो कुछ दार्शनिक पृष्ठभूमि पर समर्थन कर सकते हैं, अपने मत की पुष्टि करते हैं। उपदेशक भी व्यक्तित्ववान होते हैं। कथा-पुराण भी ऐसे सुनाते हैं, जिनको प्रमाण मान कर सामान्य जिज्ञासु का मन उसी ओर लुढ़कने लगता है। जिसने एक ही बात सुनी है, एक ही पगडंडी देखी है, उनके लिए पूर्वाग्रह और वातावरण के आधार पर मान्यता को अपना लेना कठिन नहीं।

किन्तु जिन लोगों ने कई पक्षों का अध्ययन, श्रवण और मनन किया है, उनके लिए असमंजस खड़ा होता है। एक सम्प्रदाय से दूसरे की पटरी नहीं खाती। कभी-कभी तो थोड़ा-बहुत ही अन्तर होता है, किन्तु कभी-कभी मतभेद जमीन-आसमान जितना हो जाता है। भक्ति-पंथी राधा-कृष्ण के गुणानुवाद गाते-गाते नहीं थकते और उस स्मरण में भाव-विभोर हो जाते हैं, पर जो बौद्ध हैं, सांख्यवादी हैं, वे ईश्वर के अस्तित्व से ही इन्कार करते हैं। बौद्ध और जैन धर्म की ऐसी ही मान्यता है। हिन्दू धर्म के अन्तर्गत जैन धर्म अंहिसा को सर्वप्रमुख धर्म-लक्षण मानता है, किन्तु शाक्त लोगों की देवी पशुबलि लिए बिना संतुष्ट नहीं होती। वैदिक धर्म में पति-पत्नी का अविच्छिन्न युग्म होना चाहिए, पर किसी सम्प्रदाय में चार पत्नियाँ रखना भी धर्माचरण है और कुछ वर्गों में सभी भाइयों की एक सम्मिलित पत्नी होती है। कुछ जातियों के लड़के को दहेज दिया जाता है और कई जातियों में लड़की की कीमत वसूल की जाती है। धार्मिक कहे जाने वालों में शाकाहारी भी होते हैं और मांसाहारी भी। ईश्वर के सम्बन्ध में भी ऐसे ही कथन हैं। कुछ निराकारवादी हैं, कुछ साकारवादी। कुछ में पूजा आवश्यक है, कुछ में श्वास के साथ सोऽहम की भावना करना ही पर्याप्त है। देवता भी हर सम्प्रदाय के चित्र-विचित्र हैं और उनके अनुग्रह के प्रतिफल तथा पूजा-पाठ के विधि-विधान भी सर्वथा पृथक्।

ऐसी दशा में तर्क के जंजाल से बचने वाले तो पूर्वाग्रहों के सहारे अपनी गाड़ी खींच ले जाते हैं, पर जो तर्कवादी हैं, तथ्य तक पहुँचना चाहते हैं, प्रत्यक्ष प्रमाण और उदाहरण चाहते हैं, उनके लिए भारी कठिनाई आ खड़ी होती है कि इन भिन्नताओं के बीच किसे सच मानें, किसे झूठ। दूसरों को झूठ कहते ही विग्रह खड़ा होता है और सच कहने पर अनुयायी बनाना पड़ता है। सभी सच हैं, यह बात भी गले नहीं उतरती। जब सभी सच हैं तो मतभेद कैसा? सूर्य गरम और गतिशील है, इस तथ्य को सभी मानते हैं। यदि सम्प्रदायों के बारे में भी यही बात रही होती तो उन सब की मान्यता एक जैसी रही होती, ईश्वर का स्वरूप एक होता, उसका आदर्श भी सभी के लिए एक जैसा रहता।

यदि झूठ कहते तो शास्त्रकारों और आप्तपुरूषों की अवमानना होती है। सब धर्मों की खिचड़ी मिलायी जाये, तो वह और भी अधिक विचित्र हो जाती है।

अधिक से अधिक इतना ही हो सकता है कि नीति-शास्त्र के कुछ सिद्धान्तों का समर्थन सभी धर्मों में-से किसी प्रकार खोज निकाला जाये। ऊपरी सतह पर ही किसी प्रकार एकता का प्रतिपादन हो सकता है। गइराई की ओर एक कदम उतरते ही असाधारण भिन्नताएँ नजर आती हैं और ईश्वर तथा धर्म के सम्बन्ध में भारी मतिभ्रम उत्पन्न होता है। ऐसी दशा में साधना किसकी की जाये, किस सम्प्रदाय एवं प्रतिपादन का आश्रय लिया जाये। यदि शंकाओं को कुतर्क कहकर एक का पल्ला पकड़ने की बात सोची जाये तो मानवी अन्तराल के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई बुद्धि और विवेकशीलता विद्रोह करती है।

ऐसी दशा में जब तक सर्वधर्म सम्मेलन होकर कोई एक निश्चय नहीं हो जाता, सार्वभौम धर्म नहीं बन जाता, तब तक हमें विवेक से ही काम लेना चाहिए। वही हमारा इष्ट होना चाहिए। उसी का आश्रय लेकर हम क्रमशः सत्य को अधिकाधिक समीप से देखने, समझने में समर्थ हो सकते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में एक कथा आती है कि प्रलय काल में जब सभी देवता, शास्त्र, ऋषि समाप्त हो जायेंगे, तब फिर किसका अनुशासन जीवित रहेगा? उत्तर में परब्रह्म कहता है कि तब भी एक ऋषि जीवित रहेगा। उसका नाम है 'विवेक'। तर्क तो वेश्या है। वह किसी की भी गोदी में बैठ सकती है और किसी का भी सहयोग-समर्थन कर सकती है, पर विवेक ही एक ऐसा है जो समुद्र की कीचड़ में से भी बहुमूल्य मोती निकाल सकता है। उसका आश्रय लेने पर मनुष्य धोखा नहीं खाता। भटक भी जाये तो वही प्रवृत्ति फिर संकेत देती है और उसी राह पर चलने के लिए बाधित करती है, जो मानवी गरिमा के अनुकूल या अनुरूप है।

अगणित ईश्वरों, सम्प्रदायों और प्रचलनों में से बीन-कुरेद कर जो अधिकाधिक औचित्यपूर्ण है, उसी को अपनाना सर्वोत्तम है। इस अवलम्बन को अपना लेने पर भी जो भ्रान्तियाँ भूलें रह जाती हैं, वे अन्तरात्मा के क्रमिक विकास के साथ-साथ सुधरती रहती हैं और मनुष्य सत्य के अधिकाधिक निकट पहुँचता जाता है। इसी अवलम्बन से यह संभव है कि पूर्ण सत्य को, परब्रह्म को प्राप्त किया सके और जीवन को सार्थक बनाया जा सके।

विवेकशीलता का अवलम्बन ही गायत्री-साधना है। गायत्री को ही ऋतम्भरा, प्रज्ञा या दूरदर्शिता कहते हैं। यह एक ही कसौटी ऐसी है, जो अपनी न्यायशीलता के कारण प्रस्तुत प्रतिपादनों में से जो सर्वश्रेष्ठ था, उसे अपना सकती है और अपनी नाव में बिठाकर भ्रान्तियों के जंजाल में से पार निकालकर सुरक्षित तट तक पहुँचा सकती है। आत्म-कल्याण और लोक-मंगल के सर्वानुमोदित तथ्यों को अपनाने में क्या छोड़ा और क्या ग्रहण किया जाना चाहिए? इसका निर्णय तुरंत कर देती है।

ईश्वर की निकटतम स्थिति अपने अन्तःकरण में मानी गई है। यह किस रूप में हो सकती है, इसका सही उत्तर प्राप्त करना हो, तो एक शब्द में दूरदर्शी विवेकशीलता ही कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त अन्तराल में रहने वाली अनेक प्रकार की मान्यताएँ, भावनाएँ, आकांक्षाएँ सभी ऐसी होती हैं, जिनका व्यक्तिगत अभिरुचि एवं सम्पर्क-संस्कारों के साथ सम्बन्ध जुड़ता है। वे यथार्थवादी नहीं हो सकतीं। इसलिए गहन अन्तराल में परब्रह्म की उपस्थिति का अनुभव करने के लिए हमें महाप्रज्ञा का ही आश्रय लेना पड़ेगा। उस अकेली में ही वह सामर्थ्य है कि कटीली झाड़ियों में से उबार कर हमें सत्य के, ईश्वर के निकटतम पहुँचा सके।

गायत्री-उपासना का दार्शनिक स्वरूप दूरदर्शी विवेकशीलता है, जो संकीर्ण स्वार्थपरता द्वारा समर्थित तात्कालिक लाभों से ऊँचा उठाती है और वहाँ ले पहुँचती है, जहाँ पैर टिकाने पर अपना ही नहीं, समस्त सृष्टि का हित साधन हो सकता है।

आत्मा को परमात्मा का अंश माना गया है। शरीर का एक अंश मजबूती से पकड़ लेने पर समूची काया को पकड़ा जा सकता है। अन्तरात्मा में विद्यमान निष्पक्ष, न्यायनिष्ठ, उदात्त, आदर्शवादी, विवेकशीलता को अपना लेने पर समझना चाहिए कि ईश्वर की गरदन पकड़ ली गई और अब समूचे को भी आसानी से पकड़ा जा सकता है। यही है आत्मा का परमात्मा से मिलन। इसी को समर्पण कहते हैं। एकता या अद्वैत इसी को कहा गया है।

गायत्री-मंत्र का सार तत्त्व 'धियो यो नः प्रचोदयात' शब्दों में है, जिसका तात्पर्य है कि हम सबको विवेकशीलता की प्रेरणा मिले । इसमें धर्म और दर्शन का सार तत्त्व आ जाता है । इस सूत्र के आधार पर व्यक्तिगत जीवन की अथवा विश्व-व्यवस्था की संरचना सोची जा सकती है और वही विश्व-कल्याण की वास्तविक आधारशिला होगी । मनुष्य में देवत्व का उदय और धरती पर स्वर्ग का अवतरण मात्र इसी तत्त्व दर्शन के सहारे हो सकता है ।

गायत्री-मंत्र का अर्थ, चिन्तन और उसकी निर्धारणा-प्रेरणा को हृदयंगम करने की प्रक्रिया का नाम उपासना है । इस आद्यःशक्ति-महाशक्ति की उपासना, साधना एवं आराधना करने से हमारे स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर का परिमार्जन हो सकता है । दर्शन का काम, चिन्तन को दिशा देना है और साधन का स्वरूप अभीष्ट शक्तियों को अपने में उभारने की वैज्ञानिक कार्य पद्धति को अपनाना है । हम गायत्री का तत्त्वदर्शन भी समझें और उसके साधना-विधानों को अपनाने का भी प्रयत्न करें । इस आधार पर मस्तिष्क और अन्तःकरण दोनों ही महानता के ढाँचे में ढल सकते हैं और उनके स्तर के अनुरूप ही हमारे प्रत्यक्ष व्यवहार एवं क्रिया-कलाप का पहिया लुढ़क सकता है ।

गायत्री सार्वभौम है, सार्वजनीन है । इसमें भविष्य की सुसंस्कृत, समुन्नत संरचना के समस्त सूत्र विद्यमान हैं । इसके गूढ़ रहस्यों को समझा तो जाना ही चाहिए, किन्तु साधनात्मक प्रयोग में उसे सर्वश्रेष्ठ विद्या समझकर अपनाना भी चाहिए ।

सृष्टि के आदि से लेकर अद्यावधि देवताओं, ऋषियों, मनीषियों, महामानवों द्वारा गायत्री-उपासना का उपक्रम इतना अधिक हुआ है कि वह शब्दावली आकाश में अद्वितीय मात्रा में अनन्त आकाश में परिभ्रमण कर रही है । शब्द-शक्ति कभी नाश नहीं होती, वह अपने अनुरूप वातावरण पर अनायास ही बरस पड़ती है । गायत्री उपासकों को भूतकाल की उन साधनाओं को अपने ऊपर अवतरित होता, बरसता, दृष्टिगोचर होता है । निजी प्रयत्नों में उसी स्तर का सृष्टि में भरा-पूरा अनुदान बरसने का लाभ भी उन्हें मिलता है । इस प्रकार वे असाधारण नफे में रहते हैं ।

गायत्री की दैनिक २.२२

ऋतम्भरा की आराधना-अभ्यर्थना

जीवन में अनेकों अवसर ऐसे आते हैं जब कुछ निर्णय लेते नहीं बनता । परस्पर विरोधी विचारधाराओं के आ जाने पर बुद्धि भ्रमित हो जाती है तथा यह निर्णय नहीं हो पाता किसे स्वीकारा तथा किसे अस्वीकारा जाये । बुद्धि की कसौटी पर कसने पर तो दोनों प्रकार के विचार उपयोगी लगते हैं । ऐसी विषम स्थिति में निर्णय का दायित्व बुद्धि के ऊपर नहीं छोड़ा जा सकता । इस स्थिति के निवारण के लिए 'शास्त्र' विवेक के अवलम्बन का निर्देश देते हैं ।

गायत्री की २४ शक्ति-धाराओं में एक धारा है–ऋतम्भरा की । इसी को प्रज्ञा कहते हैं । प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि की उत्कृष्टतम स्थिति । इसे ही व्यावहारिक भाषा में विवेक कहते हैं । सत्यासत्य के बीच अन्तर करने योग्य सद्बुद्धि । विवेकशीलता, दूरदर्शिता इसी की उपलब्धियाँ हैं । गायत्री महामन्त्र में जिस तत्त्व की प्रेरणा के लिए सविता देवता से प्रार्थना की गई है वह यह ऋतम्भरा प्रज्ञा विवेक है । विवेक के जागरण के लिए–ऋतम्भरा प्रज्ञा को विकसित करने के लिए ही सुविस्तृत ब्रह्मविज्ञान की रचना हुई है । गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं कि -'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' सद्ज्ञान से अधिक पवित्र इस संसार में और कुछ नहीं, इसकी प्राप्ति संसार की सर्वोत्तम उपलब्धि मानी गयी है । गायत्री का धियो शब्द ऋतम्भरा की आराधना की प्रेरणा देता है । विवेक के अनुशीलन को महत्त्व देता है ।

संसार में मतभेदों की भरमार है । सामाजिक रीति-रिवाजों, परम्पराओं, मान्यताओं में एक स्थान से दूसरे स्थान-समाज के बीच आसमान धरती जैसा अन्तर है । विचारों में एकरूपता कहीं नहीं है । अनेकों धर्म सम्प्रदाय हैं । एक धर्म में एक बात का समर्थन किया गया है, तो दूसरे में उसका विरोध हुआ है । एक धर्म गुरु कुछ कहता है, दूसरा उसका विरोध करता है । किस शास्त्र को, किस धर्म को, किस महापुरुष को सही और किसे गलत ठहराया जाये यह निर्णय नहीं हो पाता । गायत्री का धियो शब्द ऐसी विषम परिस्थितियों में विवेक की शरण में जाने की प्रेरणा देता है । उसकी

शिक्षा है कि जो बात बुद्धि-संगत हो, विवेक-सम्मत हो, व्यवहार में आने योग्य हो, औचित्यपूर्ण हो, उसी को ग्रहण करना चाहिए । देश, काल और परिस्थितियों के अनुरूप धर्म सम्प्रदाय बने । एक सम्प्रदाय परिस्थितियों के अनुरूप किसी समूह विशेष के लिए उपयोगी हो सकता है, वही दूसरे के लिए अनुपयोगी सिद्ध होता है । ऐसी स्थिति में केवल विवेक ही यह बता सकता कि आज की स्थिति में क्या ग्राह्य है और क्या अग्राह्य ? अनेकों सम्प्रदायों, शास्त्रों, आप्त वचनों में एक को अपना पथ-प्रदर्शक चुनने में विवेक ही सहायक सिद्ध होता है ।

धर्म ही नहीं अनेकों परम्पराएँ, पृथाएँ, रीति-रिवाज प्रचलित हैं । जो किसी समय भले ही उपयुक्त रही हों, पर आज तो वे सर्वथा अनुपयोगी एवं हानिकारक ही हैं । ऐसी पृथाओं एवं मान्यताओं के विषय में पुरातन के नाम पर अपनाते जाना अदूरदर्शिता का परिचायक है । हर चलन को वर्तमान काल की आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों के अनुरूप उपयोगिता की कसौटी पर कसना चाहिए ।

भारतीय दर्शन-शास्त्र इस सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश देता है कि व्यक्तियों एवं विचारों को आपस में सम्बद्ध मत करो । सम्भव है कोई उत्तम चरित्र का व्यक्ति भ्रान्त हो और उसके विचार अनुपयुक्त हों । इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि कोई चरित्रहीन व्यक्ति सारगर्भित बात कहता हो । चरित्रवान् का सम्मान करना एक नैतिक कर्त्तव्य हैं, पर यह आवश्यक नहीं कि उसके उलझे विचारों को स्वीकार करने के लिए बाध्य हों । प्रधानता विवेक की है कि उपयोगी का चुनाव कहाँ से और किस प्रकार किया जाये । भगवान बुद्ध के उत्तम चरित्र एवं कठोर तपश्चर्या से प्रभावित एवं श्रद्धासिक्त होकर भारतीय जन समूह ने उन्हें अवतार की उपाधि दी, इतने पर भी बौद्ध सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं किया । ईश्वर पर अनास्था, शून्यवाद, गृह-त्याग में मोक्ष, यज्ञ-निषेध आदि बौद्ध धर्म की शिक्षाओं को भारतीय जनता न केवल अस्वीकार करती है वरन् विरोध भी करती है । दर्शनों में चार्वाक दर्शन भी सम्माननीय है । विद्वत्ता एवं तर्क की दृष्टि से एक सीमा तक उसकी उपयोगिता है, पर नैतिक दृष्टि से चार्वाक सिद्धान्त अनुपयोगी एवं हानिकारक ही सिद्ध होते हैं । उन्हें व्यावहारिक जीवन में अपनाया नहीं जा सकता ।

विश्व भर में अनेक धर्म-सम्प्रदाय, मत, सिद्धान्त, शास्त्र, नेता और विचारक हैं । उनकी अपने-अपने ढंग की मान्यताएँ हैं । इनमें से स्वयं के लिए वर्तमान में किसका किस अंश में किस प्रकार अनुसरण करना चाहिए यह निर्णय करना हमारे विवेक के ऊपर है । अनुसरण करने का निर्णय जिस भी पक्ष में हो, उसके अतिरिक्त भी अन्य धर्मों, शास्त्रों एवं महापुरुषों से घ्रणा अथवा आलोचना करने की आवश्यकता नहीं है । उनके उपदेश वर्तमान में भले ही अनुपयोगी हो गये हों, पर कभी-कभी शुभ उद्देश्यों को लेकर ही कहे गये होंगे तथा उपयोगी सिद्ध हुए होंगे । उनका उद्देश्य पवित्र था, इसलिए वे सम्मान के अधिकारी हैं । विवेक की कसौटी पर कसकर उपयुक्त-अनुपयुक्त, औचित्य-अनौचित्य की परख की जा सकती है । किसी देश, जाति या मनुष्य के कुछ बुरे कामों को देखकर सभी को पूर्णतया बुरा मान लेना उचित नहीं । अमुक जाति, समाज अथवा राष्ट्र बुरा है, यह मान्यता अनुचित है । मात्र बुराइयों के आधार पर कोई समाज अथवा राष्ट्र अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता । न्यूनाधिक रूप में भले-बुरे व्यक्ति प्रत्येक समाज में होते हैं । समाज ही नहीं गुण, अवगुण एक साथ एक व्यक्ति में विद्यमान रहते हैं । विवेक के आधार पर अच्छाइयों का चयन किया एवं अपनाया जा सकता है ।

व्यक्तिगत जीवन में भी अनेकों अवसर ऐसे आते हैं जब मनुष्य दिग्भ्रान्त हो जाता है । लोभ, मोह के आकर्षणों में तुरन्त का लाभ दीखता है । तात्कालिक लाभ के फेर में दूरवर्ती परिणामों की ओर ध्यान नहीं जाता । फलतः नीति-अनीति जिस भी प्रकार से बने, लाभ उठाने के लिए हर सम्भव प्रयास करता है । यह रीति-नीति अविवेक का, अदूरदर्शिता का परिचायक है । ऐसे अवसरों पर विवेक मनुष्य का मार्गदर्शन करता है । लोभ-मोह के आकर्षणों, तृष्णाओं, विकारों, भ्रान्तियों से बचाता है और सही पथ-प्रशस्त करता है ।

ऋतम्भरा को प्रज्ञा की, विवेक की देवी कहा गया है । गायत्री-उपासक माँ के अंचल में बैठकर प्रज्ञा शक्ति का आह्वान करता है । मातृ-शक्ति में अपनी श्रद्धा एवं निष्ठा आरोपित करता है । धियो योनः प्रचोदयात की अन्तःपुकार जब उठती है तो आद्य शक्ति ऋतम्भरा के रूप में प्रकट होती है । पयपान कराने, अपने अनुदानों

से सिक्त करने के लिए माता का करुण हृदय मचलने लगता है । उसका अनुग्रह साधक पर प्रज्ञा के रूप में, विवेक के रूप में बरसता है । इस आध्यात्मिक सम्पदा को पाकर उपासक अपने जीवन को सार्थक बनाता है । भौतिकी एवं आध्यात्मिक सभी प्रकार की सफलताएँ विवेक की अनुगामिनी होती हैं । विवेकवान्-दूरदर्शी सही अर्थों में अपना स्वार्थ साधता है और परमार्थ भी । सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों ही जीवन सफल और सार्थक बनता है ।

प्रज्ञा-विवेक की उपलब्धि के लिए गायत्री महाशक्ति की धारा ऋतम्भरा की शरण में जाना होगा । ऋतम्भरा की आराधना, अभ्यर्थना द्वारा साधक की अन्तःप्रज्ञा जागृत होती है । विवेक के जागरण से औचित्य-अनौचित्य के बीच अन्तर करने एवं उपयोगी का चयन कर सकने में मनुष्य समर्थ होता है । फलतः किसी प्रकार के भटकाव की सम्भावना नहीं रहती ।

आत्मिक प्रगति का सर्वसमर्थ अवलम्बन-प्रज्ञा

मानवी सत्ता में सन्निहित समझ को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है । एक 'बुद्धि' जो शरीर यात्रा के काम आती है, तदनुरूप चिन्तन, प्रयास एवं व्यवहार का ताना-बाना बुनती है । दूसरी वह है जो ईश्वरीय नियम-मर्यादाओं में रस लेती है । क्षुद्र को महान के साथ एकीभूत बनाने के लिए उत्कृष्टता अपनाती और उच्चस्तरीय प्रगति के लिये साहस सँजोती है, इसे 'प्रज्ञा' कहते हैं । बुद्धि दैत्य का वैभव का समर्थन करती है और प्रज्ञा देव का समर्थन करती है । दिव्य के साथ तादात्म्य होने की उमंगों से भरी रहती है । बुद्धि का उपार्जन सम्पदा भर है । ललक लिप्सा की पूर्ति भर से उसका काम चल जाता है, किन्तु प्रज्ञा को विभूतियों से कम में चैन नहीं । विभूतियाँ अर्थात् श्रेष्ठता में रमण करने की सरसताएँ और उस मार्ग पर रास्ते में मिलने वाली परमार्थ प्रयोजनों में काम आने वाली सिद्धियाँ ।

प्रज्ञा व्यक्तिगत जीवन को अनुप्राणित करती है, इसे 'ऋतम्भरा' अर्थात् श्रेष्ठ में ही रमण करने वाली कहते हैं । महाप्रज्ञा इस ब्रह्माण्ड में सर्वव्याप्त है । उसे दूरदर्शिता, विवेकशीलता, न्यायनिष्ठा, सद्भावना, उदारता के रूप में प्राणियों पर अनुकम्पा बरसाती और पदार्थों को गतिशील-सुव्यवस्थित एवं सौन्दर्य युक्त बनाती देखा जा सकता है । परब्रह्म की वह धारा जो मात्र मनुष्य के काम आती एवं आगे बढ़ाने, ऊँचा उठाने की भूमिका निभाती है, 'महाप्रज्ञा' है । ईश्वरीय अगणित विशेषताओं एवं क्षमताओं से प्राणि-जगत एवं पदार्थ-जगत उपकृत होते हैं, किन्तु मनुष्य को जिस आधार पर ऊर्ध्वगामी बनाने, परमलक्ष्य तक पहुँचने का अवसर मिलता है, उसे महाप्रज्ञा ही समझा जाना चाहिए । इसका जितना अंश जिसे, जिस प्रकार भी उपलब्ध हो जाता है वह उतने ही अंश में कृत-कृत्य बनता है । मनुष्य में देवत्व का, दिव्य क्षमताओं का, उदय-उद्भव मात्र एक ही बात पर अवलम्बित है कि महाप्रज्ञा की अवधारणा उसके लिए कितनी मात्रा में सम्भव हो सकी ।

महाप्रज्ञा को अध्यात्म की भाषा में 'गायत्री' कहते हैं । इसके दो पक्ष हैं—एक दर्शन दूसरा व्यवहार । तत्त्वदर्शन अर्थात्-'अध्यात्म' । शालीनता युक्त आचरण अर्थात् 'धर्म' । आत्मिकी क्षेत्र पर 'गायत्री' का आधिपत्य है और भौतिकी का सूत्र-संचालन 'सावित्री' करती है । ये दोनों नाम एक ही दिव्य सत्ता के हैं । यह नाम-भेद उनकी प्रयोग-प्रक्रिया को देखकर किया गया । एक ही व्यक्ति को कुश्ती लड़ते समय पहलवान, प्रवचन करते समय विद्वान कहा जा सकता है । दो समयों पर दो नामों से सम्बोधन किये जाने पर भी वस्तुतः वह रहता एक ही है । महाप्रज्ञा है तो एक ही, पर उसे श्रद्धा-भक्ति के और पुण्य-प्रयोजनों में अपनी भूमिका अलग-अलग ढंग से निभाते हुए भी देखा जा सकता है । बिजली कभी हीटर जलाकर गर्मी पैदा करती है और कभी रेफ्रीजरेटर के माध्यम से बर्फ जमाती है । यह एक ही शक्ति की दो प्रक्रियाएँ मात्र हैं । गायत्री की, महाप्रज्ञा की परिणति अन्तःक्षेत्र में, दिव्य लोक में, विभूतियों की तरह और भौतिक क्षेत्र में, लोक व्यवहार में, सम्पदाओं के रूप में दृष्टिगोचर होती है । इन्हीं को 'ऋद्धि' एवं 'सिद्धि' कहते हैं ।

महाप्रज्ञा असंख्य समर्थताओं की जन्मदात्री है, गायत्री को त्रिपदा कहा गया है । इसके तीन चरण-सत्, चित्त, आनन्द के नाम से जाने जाते हैं । उन्हें गंगा, यमुना, सरस्वती का त्रिवेणी-संगम भी कहा जाता है ।

देव-प्रतिपादन में इन्हीं का ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं सरस्वती, लक्ष्मी, काली के नाम से आलंकारिक उल्लेख होता है। तत्त्वदर्शी इन्हीं त्रिविध प्रवाहों को सत्-रज-तम की संज्ञा देते और समग्र सृष्टि का आधारभूत कारण मानते हैं। गायत्री को वेदमाता, देवमाता, विश्वमाता कहा गया है। (१) वेद अर्थात् दिव्यज्ञान। वेदमाता अर्थात् दिव्य ज्ञान की अधिष्ठात्री। (२) देव अर्थात् पवित्र और प्रखर। देवमाता अर्थात् अपने अंचल में बैठने वाले की सत्ता को देवोपम बना देने वाली। (३) विश्व अर्थात् विराट्। विश्वमाता अर्थात् अनेकता को एकता में, बिखराव को केन्द्रीकरण में समेटने वाली, वसुधैव कुटुम्बकम् के आधार पर आत्मीयता को व्यापक बनाने वाली। इस त्रिवेणी में मनुष्य की आस्था, विचारणा एवं प्रवृत्ति को, समग्र चेतना को स्नान करने का अवसर मिलता है, तो स्थिति काया-कल्प जैसी बन जाती है। इन त्रिविध अनुदानों की प्राप्ति के लिये भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग की पुण्य प्रक्रिया का सुविस्तृत साधना तन्त्र खड़ा किया गया है। इन्हीं के सहारे कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर को परिष्कृत किया जाता है।

देव संस्कृति का भाव पक्ष ब्रह्म विद्या कहलाता है। ब्रह्म विद्या का विवेचन आर्ष वाङ्मय में हुआ है। आप्त वचनों में उसी का चर्चा होती है। वेद, उपनिषद, दर्शन, आरण्यक, ब्राह्मण, सूत्र, पुराण आदि-आदि के रूप में जितना भी शास्त्र-विवेचन है उसे ब्रह्म विद्या की व्याख्या विवेचना कहा सकते हैं, इस सारे विस्तार में महाप्रज्ञा गायत्री के ही विभिन्न स्तरों पर प्रकाश डाला गया है। भगवान के अवतार २४ हुए हैं। गायत्री के चौबीस अक्षरों में सन्निहित रहस्यों का, एक-एक करके एक -एक प्रयोजन के लिए किया गया रहस्योद्घाटन ही समझा जा सकता है। एक ही तथ्य को मानवी संरचना एवं आवश्यकता को ध्यान में रखकर किया गया यह विवेचन भी है, जिसे ब्रह्म विद्या के अन्तर्गत माना गया विशालकाय शास्त्रीय निर्धारण कहा जा सकता है। एक शब्द में इस समस्त परिवार को गायत्री का तत्त्व दर्शन भी कह सकते हैं। इस प्रतिपादन में वह समूचा निर्धारण विद्यमान है, जो मनुष्य को उच्चस्तरीय प्रगति के मार्ग पर चलते हुए अभीष्ट-अनिवार्य होता है।

ज्ञान और कर्म का युग्म है। सिद्धान्त और अभ्यास के समन्वय में ही किसी तथ्य को हृदयंगम करना, स्वभाव व्यवहार में उतारना शक्य होता है। ज्ञान का दूसरा पक्ष विज्ञान है। ज्ञान अर्थात् आस्था, विज्ञान अर्थात् पराक्रम। दोनों के समन्वय से ही एक पूरी बात बनती है। बिजली के ऋण और धन प्रवाहों के समन्वय से ही करेन्ट (विद्युतीय प्रवाह) उत्पन्न होता है। महाप्रज्ञा का ब्रह्म विद्या पक्ष अन्तःकरण को उच्चस्तरीय आस्थाओं से आनन्द विभोर करने के काम आता है। दूसरा पक्ष साधना है जिसे विज्ञान या पराक्रम कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत आस्था को उछाला और परिपुष्ट किया जाता है। मात्र ज्ञान ही पर्याप्त नहीं होता। कर्म के आधार पर उसे संस्कार, स्वभाव-अभ्यास के स्तर तक पहुँचाना होता हैं। साधना का प्रयोजन श्रद्धा को निष्ठा में, निर्धारण की अभ्यास की स्थिति में पहुँचाना हैं, इसलिये परमहंसों, तत्त्व-ज्ञानियों एवं जीवन-मुक्तों को भी साधना का अभ्यास-क्रम नियमित रूप से चलाना होता है।

चिन्तन को उत्कृष्टता के साथ जोड़ने की प्रक्रिया योग से और आदतों को निकृष्टता से विरत कर उत्कृष्टता के क्षेत्र में उछाल देने की आवश्यकता 'तप' के सहारे सम्पन्न की जाती है। प्रवाह को मोड़ने-मरोड़ने के लिए इससे कम में बात बनती ही नहीं। मान्यताएँ और आदतें बड़ी ढीठ होती हैं। समझाने-बुझाने से वे औचित्य के सामने हतप्रभ तो हो जाती हैं पर अपनी स्थिति बदलने को तैयार नहीं होतीं। तर्क में हार जाने पर ऊपरी मन से स्वीकार करना एक बात है और इस आधार पर अपने स्वभाव-व्यवहार में परिवर्तन कर लेना दूसरी। तर्क-प्रमाणों से काम चल गया होता तो स्वाध्याय, सत्संग की प्रचलित प्रक्रिया ने ही लोक-मानस का काया–कल्प कर दिया होता। लेखनी-वाणी से ही अवांछनीयता का प्रवाह कब का उलट दिया गया होता। किन्तु यथार्थता दूसरी ही है। गुण-कर्म-स्वभाव की-मान्यता और आदत के रूप में अन्तरंग की जैसी भी संरचना बन गई होती है, उसे रास्ता बदलने के लिए तत्पर कर लेना टेढ़ी खीर है। सदाशयता का ढोल बजाने वाले, दुष्ट प्रयोजनों में निरत देखे गये हैं। कारण एक ही हैं। हठी अन्तराल-अभ्यस्त आदतों को बदलने के लिए जितने दबाव की जरूरत थी, उतना दबोचा नहीं गया। अनुपयोगी को गलाने और उपयोगी को ढालने के लिए ऊँचे तापमान की भट्टी जलानी पड़ती है।

इससे कम में, मात्र उलट-पुटल करने भर से अशुद्ध धातुओं का परिशोधन कहाँ बन पड़ता है ? हठी अन्तराल को उत्कृष्टता की दिशा में उछालने के लिए योग और तप का साधना-क्रम अपनाये बिना काम नहीं चलता ।

ऊपर से नीचे को घसीट लेने के लिए तो पृथ्वी की प्रचण्ड गुरुत्वाकर्षण शक्ति बिना किसी प्रयत्न के सदा सर्वत्र विद्यमान रहती है । पानी को गिराते ही नीचे की ओर बहने लगता है । किन्तु ऊपर चढ़ने-चढ़ाने के लिए नये साधन जुटाने पड़ते हैं और उछालने में लगने वाली शक्ति जुटाने का प्रबन्ध करना होता है अन्यथा उठने, उभरने, उछलने की बात कल्पना मात्र ही बनी रहेगी । कथा, प्रवचन सुनना, पूजा-पाठ करना अपने स्थान पर सही है और उसका सीमित लाभ भी होता है, किन्तु व्यक्तित्व के अन्तरंग एवं बहिरंग को यदि निकृष्टता से विरत करने और उत्कृष्टता को साथ जोड़ने का कायाकल्प करना हो तो उस प्रत्यावर्त्तन के लिये साधना की ऊर्जा अनिवार्य रूप से जुटानी पड़ेगी । इसी प्रयोजन के लिये योग-तप की उभयपक्षीय साधना करनी पड़ती है । योग से विचारण पर और तप से आदतों पर नियन्त्रण प्राप्त कर सकना सम्भव होता है ।

महाप्रज्ञा की साधना में कई प्रकार के उपचार-कृत्यों की, कर्मकाण्ड की, साधना-विधानों की आवश्यकता पड़ती है । व्यक्ति-विशेष की मन-स्थिति और परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए साधनाओं का निर्धारण तो पृथक्-पृथक् ही होता है, पर सिद्धान्त एक ही रहता है । चिन्तन के क्षेत्र में समाविष्ट पशु-प्रवृत्तियों के पक्ष को मल्ल-युद्ध के लिए मोर्चे पर खड़ा कर दिया जाता है और योग साधना के अन्तर्गत ऐसा संरजाम जुटाया जाता है, जिसमें अनास्थाओं को हटाने और देवत्व को जीतने का मूलभूत प्रयोजन पूरा हो सके । योग में निकृष्टता से पीछा छुड़ाना और उत्कृष्टता के साथ सघन सम्बन्ध जोड़ देना यह दोनों ही कदम उठाने पड़ते हैं । मात्र निकृष्टता से पीछा छूटना भर पर्याप्त नहीं, उत्कृष्टता का सम्वर्धन क्रम भी चलना चाहिए । रोग से पीछा छूटना आवश्यक तो है किन्तु पर्याप्त नहीं । चिकित्सा उपचार की ही तरह व्यायाम, पौष्टिक आहार, उपयुक्त जलवायु का प्रबन्ध भी स्वास्थ्य-सम्वर्धन के लिए करना पड़ता है । चिकित्सा और परिचर्या दोनों ही आवश्यक है । योग धारणा में उन आस्थाओं को हृदयंगम किया और अन्तराल में जमाया जाता है, जो आत्मा को परमात्मा तक पहुँचाने के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक होती हैं ।

योग मन को उलटता-मरोड़ता है । गलाई-ढलाई के लिए आवश्यक श्रद्धा-साहसिकता का, उमंग-उल्लास का माहौल अन्तःक्षेत्र में बनाता है । तप का भी उद्देश्य तो यही है किन्तु कार्यक्षेत्र एवं विधि-विधान में पृथकता हैं । तप का क्षेत्र शरीर है । शरीर पर आदतें प्रवृत्तियाँ छाई रहती हैं । विलासिता, सुविधा की मांग इन्द्रियाँ करती रहती हैं । मन पर तृष्णा और अंहता की ललक छाई रहती है । लोभ, मोह और बड़प्पन का रुचिकर विषय है । शरीर को इन्द्रियजन्य अनेकानेक भोग-उपभोगों के जायके चाहिए । इन समस्त ललक-लिप्साओं के विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर देना, हठपूर्वक पूर्वाभ्यासों का प्रतिरोध परित्याग करना तपश्चर्या का आधारभूत प्रयोजन है ।

योग के क्षेत्र में स्वाध्याय, सत्संग, चिन्तन, मनन के चार व्यावहारिक और जप, ध्यान, प्राणायाम, मुद्रा बन्ध, नाद, लय आदि कितनी ही प्रक्रियाएँ बताई, अपनायी जाती हैं । तप में स्वाद, उपवास, ब्रह्मचर्य, शरीर-सेवा में आत्म-निर्भर,भूमि-शयन, ऋतु प्रभावों का सहन, मौन आदि ऐसे क्रिया-कृत्य आते हैं, जिनमें शरीर को यह अनुभव करना पड़े कि उसे उच्चस्तरीय प्रगति के मार्ग पर चलने के लिए प्रतीक्षा-सहनशीलता का अभ्यास करना पड़ रहा है । आदतों का, आकांक्षाओं का प्रतिरोध करने में स्वभावतः अनख लगता और कष्ट होता है । इसके अतिरिक्त आदर्शवादिता अपनाते ही अवांछनीयता व्यंग्य, उपहास, असहयोग, विरोध करने पर उतरती हैं और बिढ़कर हानि भी पहुँचाती हैं । महानता के मार्ग पर चलने वालों को कदम बढ़ाने से पूर्व इस सम्भावना को ध्यान में रखना चाहिए और उसकी पूर्व जानकारी एवं तैयारी रहने के रूप में विभिन्न प्रकार की तितीक्षाएँ करते रहने की विधि-व्यवस्था अपनानी चाहिए ।

गायत्री साधना से आत्मोद्धार

गायत्री-उपासक नियमित रूप से, नियमपूर्वक श्रद्धा विश्वास सहित जैसे-जैसे साधना-प्रक्रिया चलाने लगता है उसकी साधना में क्रमबद्धता और पूर्णता आने लगती है, वैसे-वैसे साधना की दिव्य-ज्योति अधिकाधिक प्रकाशित

होती चलती है और अन्तरात्मा की बाह्य शक्ति बढ़ती चलती है । रेडियो यन्त्र के भीतर बल्ब लगे होते हैं, बिजली का संचार होने से वे जलने लगते हैं । प्रकाश होते ही यन्त्र की ध्वनि पकड़ने वाला भाग जागृत हो जाता है और ईथर तत्त्व में भ्रमण करती हुई सूक्ष्म शब्द-तरंगों को पकड़ने लगता है, इसी क्रिया को 'रेडियो बजाना' कहते हैं । साधना एक बिजली है, जिससे मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के बल्ब दिव्य-ज्योति से जगमगाने लगते हैं । इस प्रकाश का सीधा प्रभाव अन्तरात्मा पर पड़ता हैं, जिससे उसकी सूक्ष्म चेतना जाग्रत हो जाती है, और दिव्य सन्देशों को, ईश्वरीय आदेशों को, प्रकृति के गुप्त रहस्यों को समझने की योग्यता उत्पन्न हो जाती हैं इस प्रकार साधक का अन्तःकरण रेडियो का उदाहरण बन जाता है और उसके द्वारा सूक्ष्म जगत की बड़ी-बड़ी रहस्यमय बातों का प्रकटीकरण होने लगता है ।

गायत्री संहिता में इस प्रकार की अनेकों सिद्धियों का उल्लेख किया गया है, पर उसके साथ ही यह भी बताया गया है कि गायत्री की इन दिव्य शक्तियों का अवतरण उसी अन्तःकरण में होता है जो परिष्कृत, स्वच्छ और निर्मल बन जाता है । विमान हर कहीं नहीं उतर सकते, उन्हें उतारने के लिए उपयुक्त एयरपोर्ट, हवाई अड्डे, चाहिए । गायत्री की दिव्य शक्तियाँ भी उपयुक्त परिष्कृत और निर्मल व्यक्तित्व सम्पन्न व्यक्तियों में होती हैं । इस तथ्य को गायत्री संहिता में इस प्रकार व्यक्त किया गया है–

बाह्यं चाभ्यन्तरं त्वस्य नित्यं सन्मार्गगामिनः ।
उन्नतेरुभयं द्वार यात्युन्मुक्तकपाटताम् ।।१६।।

सर्वदा सन्मार्ग पर चलने वाले इस व्यक्ति के बाह्य और भीतरी दोनों उन्नति के द्वार खुल जाते हैं ।

अतः स्वस्थेन चित्तेन श्रद्धया निष्ठया तथा ।
कर्त्तव्याविरतं काले गायत्र्या समुपासना ।।२०।।

श्रद्धा से, निष्ठा से तथा स्वस्थ चित्त से प्रतिदन गायत्री की उपासना करनी चाहिए ।

अपने व्यक्तित्त्व को सुसंस्कारित और चरित्र को परिष्कृत बनाने वाले व्यक्ति को गायत्री महाशक्ति मातृवत् संरक्षण प्रदान करती है जिस प्रकार दयालु, समर्थ और बुद्धियुक्त माता प्रेम से अपने बालक का कल्याण ही करती है, उसी प्रकार भक्तों पर स्नेह रखने वाली गायत्री अपने भक्तों का सदैव कल्याण ही करती है–

दयालुः शक्तिः सम्पन्ना माता बुद्धिमती यथा ।
कल्याण कुरुते ह्यैव प्रेम्णा बालस्य चात्मनः ।।२१।।
तथैव माता लोकानां गायत्री भक्तवत्सला ।
विदधाति हितं नित्यं भक्तानां ध्रुवमात्मनः ।।२२।।

गायत्री-साधकों की मनोभूमि इतनी निर्मल हो जाती है कि उसमें फिर सदिच्छाएँ ही उत्पन्न होती हैं । साधक के अन्तःकरण में उत्पन्न हुई सदिच्छाएँ और साधक का अपना साधन बल उन इच्छाओं की पूर्ति में आश्चर्यजनक रूप से सहायक सिद्ध होता है । गायत्री संहिता में कहा गया है-

गायत्र्युपासकस्वान्ते सत्कामा उद्‌भवन्ति हि ।
तत्पूर्तयेऽभिजायन्ते सहज साधनान्यपि ।।१७।।

निश्चय ही गायत्री के उपासक के हृदय में सदिच्छाएँ पैदा होती हैं । उनकी पूर्ति के लिए सहज में साधन भी मिल जाते हैं ।

त्रुटयः सर्वथा दोषा विघ्ना यान्ति यदान्तताम् ।
मानवो निर्भयं याति पूर्णोन्नति पथं तथा ।।१८।।

जब सर्व प्रकार के दोष, भूलें और विघ्न, विनाश को प्राप्त हो जाते हैं, तब मनुष्य निर्भय होकर पूर्ण उन्नति के मार्ग पर चलता है ।

उच्च संस्कारों से अपनी मनोभूमि को सुसंस्कृत करने वाले साधक यद्यपि कोई गम्भीर या अनैतिक भूलें नहीं करते, फिर भी मानवीय दुर्बलताओं के कारण उनसे यत्किचिंत त्रुटियाँ हो भी जाती हैं तो उनका वैसा दुष्परिणाम नहीं होता । गायत्री संहिता में कहा गया है–

कुर्वन्नाति त्रुटीर्लोके बालकौ मातरं प्रति ।
यथा भवति कश्चिन्न तस्या अप्रीतिभाजनः ।।२३।।
कुर्वन्नपि त्रुटीर्भवतः क्वचित् गायत्र्युपासने ।
न तथा फलमाप्नोति विपरीतं कदाचन ।।२४।।

जिस प्रकार संसार में माता के प्रति भूलें करता हुआ भी कोई बालक उस माता का शत्रु नहीं होता उसी प्रकार गायत्री की उपासना करने में भूल करने पर कोई भक्त कभी भी विपरीत फल को नहीं प्राप्त होता ।

साधना करते-करते जब साधक का हृदय दिव्य पवित्रता से परिपूर्ण हो जाता है, तो सूक्ष्म दैवी शक्ति जो व्यष्टि अन्तरात्मा और समष्टि परमात्मा में समान रूप से व्याप्त है, उस पवित्र हृदय-पटल पर अपना कार्य आरम्भ कर देती है और साधक में कई दिव्य शक्तियों का जागरण होने लगता हैं ।

धारयन् हृदि गायत्री साधको धौतकिल्विषः ।
शक्तिरनुभवत्युग्राः स्वमिन्ने वात्मलौकिकाः ।।८६।।

पाप-रहित साधक, हृदय में गायत्री को धारण करता हुआ अपनी आत्मा में अलौकिक तीव्र शक्तियों का अनुभव करता है ।

एतादृश्यस्तस्य वार्ता भासन्तेऽल्पप्रयासतः ।
यास्तु साधारणो लोको ज्ञातुमर्हति नैव हि ।।६०।।

उसको थोड़े ही प्रयास से ऐसी-ऐसी बातें विदित हो जाती हैं जिन बातों को सामान्य लोग जानने को समर्थ नहीं होते ।

एतादृश्यस्तु जायन्ते ता मनस्यनुभूतयः ।
यदृश्यो न हि दृश्यन्ते मानवेष कदाचन ।।६१।।

उसके मन में इस प्रकार के अनुभव होते हैं, जैसे अनुभव साधारण मनुष्यों में कभी भी नहीं देखे जाते ।

इन शक्तियों का जागरण मन्त्र शक्ति का ही चमत्कार कहा जाना चाहिए । मन्त्रों में शक्ति कहाँ से आती और कैसे उत्पन्न होती है, यह एक अलग विषय है । यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि मन्त्रों में प्रयुक्त किये गये शब्द शरीर के विभिन्न अंगों पर अपना प्रभाव उत्पन्न करते हैं और उन्हें सक्रिय सचेतन बनाते हैं । गायत्री संहिता में कहा गया है कि इस मन्त्र के अक्षरों का गुम्फन इस प्रकार हुआ है कि उसके कारण समस्त गुह्य ग्रन्थियाँ जाग्रत हो जाती हैं । इनका महत्त्व बताते हुए कहा गया है–

जाग्रता ग्रन्थयस्त्वेताः सूक्ष्माः साध च मानसे ।
दिव्यशक्तिसमुद्भूति क्षिप्रं कुर्वन्त्यसंशयम् ।।२६।।

जाग्रत हुई ये सूक्ष्म यौगिक ग्रन्थियाँ साधक के मन में निःसन्देह शीघ्र ही दिव्य शक्तियों को पैदा कर देती हैं ।

जनयन्ति कृते पुंसामेता वै दिव्यशक्तयः ।
विविधान् वै परिणामान् भव्यान् मंगलपूरितान् ।।२७।।

ये दिव्य शक्तियाँ मनुष्यों के लिए नाना प्रकार के मंगलमय परिणामों को उत्पन्न करती हैं ।परन्तु साधक को इन शक्तियों के उपयोग में सावधान रहने के लिए कहा गया है । शक्तियों का संचय और उनका सदुपयोग ही उपलब्धियों को सार्थक बनाता है, अन्यथा अर्जित की गई शक्तियाँ व्यर्थ ही नष्ट होती हैं ।

तदनुष्ठान-काले तु स्वशक्ति नियमेज्जनः ।
निम्नकर्मसु ताः धीमान् न व्ययेद्धि कदाचन ।।७२।।

मनुष्य को चाहिए कि वह गायत्री-साधना से प्राप्त हुई अपनी शक्ति को संचित रखे । बुद्धिमान मनुष्य कभी उन शक्तियों को छोटे कार्यों में खर्च नहीं करते ।

नैवानावश्यकं कार्यमात्मोद्धार-स्थितेन च ।
आत्मशक्तेस्तु प्राप्तायाः यत्र-तत्र प्रदर्शनम् ।।७३।।

आत्मोद्धार के अभिलाषी मनुष्य को प्राप्त हुई अपनी शक्ति का जहाँ-तहाँ अनावश्यक प्रदर्शन नहीं करना चाहिए ।

शक्तियों का संचय करने और उपयोगी प्रयोजनों में ही उन्हें नियोजित करने के साथ-साथ साधक को यह भी ध्यान में रखना पड़ता है कि वह इन शक्तियों को निजी प्रयोजनों के लिए उपयोग में न लावे । उसे अपने गन्तव्य-लक्ष्य को स्मरण रखना चाहिए और उसकी प्राप्ति तक बड़ी से बड़ी सिद्धियों के भी उपयोग की ललक से बचना चाहिए ।

आत्मशक्ति अभिवर्धन का श्रेष्ठतम उपाय गायत्री

सम्पूर्ण विश्व मूलतः दो ही शक्तियों का क्रिया-व्यापार है, एक चेतन, दूसरी जड़ । जड़ दिखाई पड़ने वाले पदार्थ दीखने भर में ही जड़ प्रतीत होते हैं, अन्यथा उनमें भी अद्भुत क्रियाशीलता विद्यमान है । उदाहरण के लिए पदार्थ को ही लें । पदार्थ जड़ दिखाई देता है, पर उसका सबसे छोटा घटक परमाणु अपने आप में अद्भुत क्रियाशीलता लिए रहता है । पदार्थ चर्मचक्षुओं से स्थिर सम्बन्ध दिखाई पड़ता है, लेकिन जब सूक्ष्मदर्शी यन्त्रों से उसकी अन्तरंग स्थिति को देखा जाता है तो प्रतीत होता है कि उसके भीतर कितनी प्रचण्ड शक्ति विद्यमान हैं और कितनी द्रुतगामी हलचलें उसमें काम कर रही हैं । वैज्ञानिक जानते हैं कि पदार्थ का यह सबसे छोटा घटक परमाणु अपने भीतर भयंकर क्षमता दबाये हुए है और वही क्षमता कितन सक्रिय हलचलें उत्पन्न कर रही है ?

पदार्थ सभी, जड़ और स्थिर समझे जाते हैं । रेत, पर्वत, तालाब आदि सभी मोटी दृष्टि से स्थिर लगते हैं, परन्तु उनमें सृजन, अभिवर्धन और विघटन का जो क्रम अनवरत रूप से चलता रहता है, उसे गम्भीरतापूर्वक देखने से प्रतीत होता है कि जीवधारी जिस प्रकार अपने विभिन्न प्रयोजनों में निरन्तर कुछ न कुछ सोचते, करते रहते हैं उसी प्रकार पदार्थ की दृश्य और अदृश्य गतिशीलता भी इस संसार को हलचल युक्त बनाये हुए है । अपनी पृथ्वी से लेकर असंख्य ग्रह-नक्षत्रों तक सभी ब्रह्माण्डीय पिण्ड द्रुतगति से अपनी धुरी और कक्षा पर भ्रमण कर रहे हैं और अपनी आकर्षण-शक्ति के द्वारा एक-दूसरे के साथ बँधे, जकड़े हुए हैं । इतना ही नहीं, उनके अन्तःक्षेत्र में भी विचित्र-विचित्र गतिविधियाँ अत्यन्त तीव्रगति से चलती रहतीं हैं । पदार्थ के साथ यह सक्रियता अविच्छन्न रूप से जुड़े होने के कारण ही उनका अस्तित्व बना हुआ है ।

पदार्थ की संरचना उसी प्रचण्ड क्रियाशीलता के साथ जुड़ी हुई है । इसी के कारण वस्तुएँ स्वयमेव उपजती और बदलती रहती हैं । पदार्थ की इस क्रियाशीलता को ही अपरा प्रकृति कहा गया है । परमाणु की तरह ही दूसरा घटक है—जीवाणु । जीवाणु का शरीर-कलेवर तो रासायनिक पदार्थों से ही बना है पर उसकी अन्तःचेतना मौलिक है और वह अपने प्रभाव से कलेवर को तथा समीपवर्ती वातावरण को प्रभावित करती रहती है । इसे ही चेतना कहते हैं ।

चेतना के दो गुण हैं, एक इच्छा एवं आस्था तथा दूसरी विवेचना एवं विचारणा । इच्छा को भाव और विचारणा को बुद्धि कहते हैं । एक को अन्तरात्मा तथा दूसरी को मस्तिष्क भी कहा जा सकता है । मस्तिष्क जो सोचता है उसके मूल में आकांक्षा, आस्था, विवेचन एवं विचारणा की सम्मिलित प्रेरणा ही काम करती है । इस जीव-चेतना को परा-प्रकृति कहा जाता है ।

अपरा-प्रकृति का सबसे छोटा घटक परमाणु है । इसका संयुक्त रूप ब्रह्माणु अथवा ब्रह्माण्ड है । व्यष्टि और समष्टि के नाम से भी इसे जाना जाता है । जीवाणु की चेतन सत्ता आत्मा कहलाती है और उसकी समष्टि विश्वात्मा अथवा परमात्मा । ब्रह्माण्ड में भरी क्रियाशीलता से परमाणु प्रभावित होता है । इसे यों भी कहा जा सकता है कि परमाणुओं की संयुक्त चेतना ब्रह्माण्ड-व्यापी हलचलों का निर्माण करती है । इसी प्रकार चेतना के क्षेत्र में इसी तथ्य को परमात्मा द्वारा आत्मा को अनुदान मिलने अथवा आत्माओं की संयुक्त चेतना के रूप में परमात्मा के विनिर्मित होने की बात किसी भी तरह से कही जा सकती है ।

जड़-जगत के पदार्थ तत्त्व के मूल घटक परमाणु का गहनतम विश्लेषण करने पर जाना गया है कि वह मूलतः ऋण और धन विद्युत प्रवाहों के मिलन से उत्पन्न होने वाली हलचल मात्र है । परिस्थितियों के अनुसार वह हलचल ही दृश्य रूप धारण करती और पदार्थ के रूप में दृश्य होती चली जाती है । इसी प्रकार जीवात्मा भी यों स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर धारण किये अनेक प्रकार के साधन उपकरण सम्हाले दीखती है । उसकी अपनी अहंता और इच्छा भी है, किन्तु मूलतः वह व्यापक चेतना का ही एक स्फुल्लिंग मात्र है । उसे विभिन्न प्रकार की क्षमताएँ विश्वात्मा के महासमुद्र से ही मिलती हैं । मछली का शरीर, आहार, निर्वाह सब कुछ जलाशय पर ही अवलम्बित है, इसी प्रकार जीव भी ब्रह्म पर आश्रित है । इस ब्रह्माण्ड में संव्याप्त उस चेतना मानसरोवर को गायत्री कह सकते हैं, जो प्राणियों में सम्वेदना और पदार्थों में सृजन-परिवर्तन करने वाली क्रियाशीलता बन कर काम करती है । इसे ब्रह्म-चेतना से ही उद्‌भूत माना गया है । ज्ञान से कर्म बना और दृश्य ने अपना कलेवर धारण किया । इस प्रकार यह विश्व मूलतः अद्वैत होते हुए भी द्वैत बन गया । ब्रह्म से प्रकृति बनी और फिर वे दोनों मिल-जुलकर सृष्टि का इतना विकास कर सके, जैसा कि हमें दृष्टिगोचर होता है । इसी तथ्य को पुराणों में अनेकों आलंकारिक कक्ष उपाख्यानों के रूप में बताया गया है ।

शास्त्र-पुराणों में उल्लेख आता है कि ब्रह्माजी की दो पत्नियाँ थीं । एक गायत्री और दूसरी सावित्री । इसमें यही संकेत छुपा हुआ है कि ब्रह्म की दो क्षमताएँ हैं एक पराप्रकृति-चेतना सत्ता और दूसरी अपरा प्रकृति अर्थात् पदार्थ सत्ता । एक का धर्म ज्ञान है तो दूसरी का कर्म । एक अदृश्य है तो दूसरी दृश्य । एक सजीव, है तो दूसरी निर्जीव । इतने पर भी दोनों का उद्‌गम स्रोत एक ही है । हिमालय के अन्तराल में से गंगा और यमुना दोनों ही धाराएँ निकलती हैं । इसी प्रकार ब्रह्म से परा और अपरा प्रकृति का उद्‌भव हुआ है ।

गायत्री को मूलतः ब्राह्मी शक्ति कह सकते हैं। समुद्र की असंख्य लहरें पृथक् दीखती हैं और उनकी आकृति-प्रकृति में भी भिन्नता रहती है। इतने पर भी समुद्र की सतह पर होने वाली हलचल ही इन लहरों का सृजन करने का मूल कारण है। गायत्री महाशक्ति के चेतन और जड़-विभाजन तो आरम्भिक हैं, आगे चलकर गंगा और यमुना में उठने वाली अनेकों लहरें, धराएँ तथा भँवर आदि के रूप में उत्पन्न होने वाली हलचलों की तरह उस ब्राह्मी शक्ति की भी अनेकानेक धाराएँ हैं। इन्हें विभिन्न नाम दिये गए हैं। गायत्री के अनेकों नाम रूप हैं। गायत्री सहस्रनाम में उसके एक हजार नाम गिनाये गए है। इन्हें उस महान शक्ति-सागर की लहरें-तरंगे कह सकते हैं। सहस्रनाम से तात्पर्य उस ब्राह्मी शक्ति के प्रकारों को अमुक गणना में सीमा बद्ध कर देना नहीं है, वरन् उसका तात्पर्य है असंख्य। सहस्रनाम तो उस अगणित-असंख्य की ओर इंगित मात्र है।

इस महाशक्ति के स्वरूप, क्रिया-कलाप एवं उपयोग को शास्त्रों में अनेक उदाहरणों के साथ बताया गया है। कहीं तो उस शक्ति ने स्वयं ही अपने स्वरूप का परिचय दिया है और कहीं देवताओं ने अथवा ऋषियों ने स्तवन के रूप में उसके स्वरूप का गुणगान सहित वर्णन किया है। इन वर्णनों के आधार पर यह जाना जा सकता है कि गायत्री शक्ति-तत्व इस संसार में कहाँ-किस प्रकार कार्य कर रहा है ? कहा गया है–

गायत्री पददेवतेति गहिता ब्रह्मैव चिद्रूपिणी ।

अर्थात्–यह गायत्री सबसे परा (श्रेष्ठ) देवता है, ऐसा कहा गया है। यह चित् स्वरूप वाली गायत्री साक्षात् ब्रह्म है।

गायत्री तुपरं तत्त्वं गायत्री परमागतिः ।

-बृहद् पारासर ५ /४

गायत्री ही परम तत्त्व है। गायत्री ही परमगति है।

सैषा चतुष्पदा षडविद्या गायत्री तदेतह्याभ्यनूत्तम ।
तावानस्य महिमा ततो ज्याया श्च पूरूषाः ।
पादोऽस्य सर्व भूतानि त्रिपाऽस्यामृतं दीविति ।

-छांदोग्य ३/१२/५

अर्थात्–यह गायत्री चार पाद वाली और छः भेदों वाली है। इस गायत्री की अविच्छिन्न महिमा है। यह तीन पद वाला परम पुरुष अमृत और प्रकाश रूप बन कर आत्मा में स्थित हो। इसका एक पद सन्तोष विश्व है।

गायत्री की चेतनात्मक धारा सद्बुद्धि के ऋतम्भरा प्रज्ञा के रूप में काम करती है और जहाँ उसका निवास होता है, वहाँ ब्राह्मणत्व एवं देवत्व का अनुदान बरसता चला जाता है, साथ ही आत्मबल के साथ जुड़ी हुई दिव्य विभूतियाँ भी उस व्यक्ति में बढ़ती चली जाती हैं।

इस तथ्य का उल्लेख शास्त्रों में इस प्रकार हुआ हैं।

सर्वदा स्फुरसि सर्वछदि वासयासे ।
नमस्ते परारूपे नमस्ते पश्यन्ती रूपे नमस्ते,
मध्यामा रूपे नमस्ते वैखरी रूपे सर्व
तत्वान्मिके सर्व विद्याऽऽत्मिके ।
सर्वक्त्यात्मिके सर्वदेवात्मिके वशिष्ठेय
मुनिनाऽऽराधाधिते विश्वमित्रेण
मुनिनोप संवयमाने नमस्ते नमस्ते ।

-असिमालिकोपनिषद

अर्थात्–हे महाशक्ति तुम सर्वत्र विद्यमान हो, सर्वत्र स्फुरण करती हो, सभी हृदयों में तुम्हारा निवास है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणियाँ तुम्हारे ही रूप हैं। तुम तत्त्व रूपिणी हो, सर्व विद्यमान हो, समस्त शक्तियों की अधिष्ठात्री हो, सब देवताओं की आराध्य हो, वशिष्ठ और विश्वामित्र ऋषियों ने तुम्हारी ही उपासना करके सिद्धि पाई है। तुम्हें बार-बार नमस्कार है।

ऋग्वेद में कहा गया है–

गायन्ति त्वा गायत्रिणयोऽर्यन्त्यर्क मर्किण ।
ब्रह्मणस्त्वा शतक्रता उदवंशपिवमेपिरे ।।

-ऋग्वेद १/१०/१

हे माता गायत्री ! मन्त्रवेत्ता तेरा ही गुणगान करते हैं। गायत्री मन्त्र द्वारा यजन करने वाले कर्मयोगी याजक यज्ञ योग द्वारा तुम्हारी ही अर्चना करते हैं। विद्वान तुम्हारे नाम की ही यश-पताका का लिए फिरते हैं।

यह दृश्य जगत पदार्थमय है । इसमें जो सौन्दर्य, वैभव, उपभोग-सुख दिखाई पड़ता है वह ब्रह्म की अपरा प्रकृति का ही अनुदान है, यह सब गायत्रीमय है । सुविधा की दृष्टि से इसे सावित्री नाम दे दिया गया है, ताकि पदार्थ जगत में उसके चमत्कारों को समझने में सुविधा रहे । गायत्री की इस स्थूल धारा सावित्री को जो जितनी मात्रा में धारण करता है, भौतिक क्षेत्र में उतना ही समृद्ध सम्पन्न बनता जाता है । इस विश्व में बिखरी हुई सीमा सम्पन्नता को उसी महाशक्ति का इन्द्रियों में अनुभव किया जा सकने वाला स्वरूप कह सकते हैं । शास्त्रों में उसकी अनेक प्रकार से चर्चा की गई है कहीं उसके विराट् रूप का विवेचन किया गया है, तो कहीं उसके शक्ति-रूप की विभिन्न तरह से चर्चा की गई है । पर इतना स्पष्ट है कि वह स्थूल और सूक्ष्म, जड़ और चेतन, अपरा और परा प्रकृति में संव्याप्त चेतना शक्ति ही है ।

शक्तिवान के साथ शक्ति का जुड़ा होना निश्चित और असंदिग्ध है । गायत्री ब्रह्म और शक्ति का ही समन्वय युग्म है । प्रत्येक शक्तिवान की सामर्थ्य को उसी संव्याप्त क्षमता का स्वरूप कहा जा सकता है । इसे कई स्थानों पर पति-पत्नी के उदाहरणों सहित भी चित्रित किया गया हैं । समर्थों के रूप में, विशिष्टों की विशेषता के रूप में इस महाशक्ति के दर्शन स्थान-स्थान पर किये गये हैं ।

मंत्रणां मातृका देवी शब्दनां ज्ञान रूपिणी ।
ज्ञानानां चिन्तयातीता शून्यानां शून्यसाक्षिणी ।।

अर्थात्-वह महाशक्ति मन्त्रों में मातृ का रूप, शब्दों में ज्ञानरूप, ज्ञानियों में चिन्तयातीत और शून्यवादियों में शून्य रूप है ।

गायत्री का मूल स्वरूप शक्ति है । यह स्पष्ट है कि संसार में जितने भी अभाव और कष्ट हैं, जितनी भी आधि-व्याधियाँ हैं, उन सबका कारण शक्ति का अभाव ही है और सभी शक्तियों का उद्गम आत्मशक्ति हैं । आत्मशक्ति के अभाव में मनुष्य की विचारणा निकृष्ट बनती है और प्रतिभा के अभाव में सुख-साधनों से वंचित रहना पड़ता है, अस्तु । शक्ति संचय के प्रयत्न निरन्तर करने चाहिए । भौतिक समर्थता किस प्रकार प्राप्त होती है इसे सब जानते हैं, पर आत्मिक तेजस्विता किस प्रकार पाई जा सकती है इसका मार्गदर्शन आध्यात्म विज्ञान ही कर सकता है । इस दृष्टि से गायत्री-उपासना आत्मशक्ति अभिवर्धन का सरल और श्रेष्ठतम उपाय है । जो इसके लिए प्रयत्न करते हैं, वे समर्थ, सफल और सार्थक जीवन जीते हैं ।

गायत्री साधना से अन्तः कायाकल्प

सन्त इमर्सन कहा करते थे कि–"मुझे नरक में भेज दो । मैं वहाँ भी स्वर्ग का निर्माण कर लूँगा ।" जिसका अन्तरंग इतना परिष्कृत एवं पवित्र हो गया वही इस प्रकार का उद्घोष कर सकता है । स्वर्ग बाह्य परिस्थितियों पर ही अपनी मनःस्थिति-दृष्टिकोण पर आधारित होता है । संतुलित एवं विधेयात्मक दृष्टिकोण ही स्वर्ग और निषेधात्मक अस्त-व्यस्त निकृष्ट चिन्तन ही नरक है । अपना व्यक्तित्व ही बाहरी परिस्थितियों को गढ़ता है । यदि वह निकृष्ट स्तर का हुआ तो वैसी ही स्थिति का निर्माण करेगा । उत्कृष्ट एवं पवित्र व्यक्तित्व ही स्वर्गीय वातावरण का सृजन करता है । स्पष्ट है, अन्तःकरण की उत्कृष्टता एवं निकृष्टता ही बाह्य जगत में स्वर्ग या नरक के रूप में प्रतिबिम्बित होती है ।

गायत्री महामंत्र का चतुर्थ पद धियो योन प्रचोदयातः अन्तः की पवित्रता-बुद्धि की निर्मलता की ही प्रेरणा देता है । सद्बुद्धि मनुष्य जीवन की सबसे बड़ी सम्पदा है । परिष्कृत एवं उत्कृष्ट और पवित्र व्यक्तित्व सद्बुद्धि की अनुकम्पा पर ही बनते हैं । नर-पशु को देवता और महामानव बनाने की क्षमता सद्बुद्धि में है । उसी के बलबूते सामान्य व्यक्ति भी असामान्य की स्थिति में जा पहुँचते हैं । अन्तःपरिशोधन की प्रक्रिया जिस आध्यात्म उपचार द्वारा सम्पन्न होती है, भारतीय संस्कृति में उसे गायत्री महामंत्र कहा गया है । यह बुद्धि को निर्मल, पवित्र एवं उत्कृष्ट बनाने का महामंत्र है । काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर के व्यामोह में जकड़ी दुर्बुद्धि मानवी व्यक्तित्व को हेय, गई-गुजरी स्तर की बनाये रहती है । गायत्री महामंत्र का अवलम्बन 'धी' को प्रेरित करता है । श्रेष्ठता के मार्ग पर जबरन 'प्रचोदयात' धकेल देता है । महामंत्र के अन्तिम पद में परमात्मा से अन्तःपवित्रता के लिए, सन्मार्ग पर बढ़ने के लिए प्रार्थना की गयी है ।

नरक जैसी दृष्टिगोचर होने वाली परिस्थितियाँ उतनी बुरी नही होतीं, जितनी कि स्वयं का दृष्टिकोण । अपना आपा ही सर्वत्र परिलक्षित होता है । संसार तो दर्पण के समान है, जिसमें अपनी ही सूरत दिखाई देती है । क्रोधी व्यक्ति को सारी दुनिया ही लड़ती-झगड़ती प्रतीत होगी । झूठे को सभी अविश्वासी ही जान पड़ते हैं । जो निकम्मा और आलसी है, उसे सर्वत्र बेकारी फैली मालूम देती है । व्यभिचारी, चोर, डाकू, सनकी, पागल जैसे मनोविकारों- वाले व्यक्ति सबको अपने अनुरूप ही देखते और दूसरों को भी अपने जैसा मानकर दोषारोपण करते रहते हैं । यदि वास्तविकता का, अपनी त्रुटि का बोध हो जाये तो जो बुरे जान पड़ते थे, वे अच्छे लगने लगेंगे ।

दोषारोपण की दृष्टि से देखने पर तो प्रत्येक व्यक्ति में अनेकों प्रकार की बुराइयाँ मालूम पड़ती हैं । पर जब यह सोचना आरम्भ करते हैं कि किसने, कब और कितना उपकार हमारे ऊपर किया है तो प्रतीत होता है, कि अपने ऊपर तो दूसरों की सेवा, उपकार का इतना बोझ लदा है कि उससे सिर उठाना भी मुश्किल है । दृष्टि निषेधात्मक हो तो अपने निकटवर्तियों-आत्मीय जनों में ही अनेकों प्रकार के दोष ढूँढ़ने पर निकल आयेंगे । पत्नी के एक दोष पर ही चिन्तन करते रहा जायें तो पाप की प्रतिमूर्ति जान पड़ेगी । उसकी सारी सेवाएँ विस्मृत हो जायेंगी । माता-पिता की कटु बात, डाट-फटकार को गाँठ बाँध लेने पर तो उनके समस्त त्याग-बलिदान भूल जाते हैं । बच्चे को वे दुश्मन जैसे दीखते हैं । यही बात स्वजन सम्बन्धियों एवं मित्रों के बिषय में लागू होती है । छोटी बुराई पर चिन्तन करते रहने से तो दुर्भाव बढ़ता ही जाता है । उनकी समस्त अच्छाइयाँ भूल जाती हैं और बुराइयों पर ध्यान जितना अधिक देते हैं उतना ही दुःखी होते हैं । इसकी अपेक्षा दृष्टिकोण परमार्जित हो तो प्रतीत होगा कि चारों ओर से हमारे ऊपर स्नेह, वात्सल्य, सहयोग, सद्भाव एवं कृपा की वर्षा हो रही है ।

सही दृष्टिकोण के अभाव में तो अनेकों प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं । किसी वस्तु का अभाव रहने पर ईश्वर को, भाग्य को कोसते हैं । उसके असीम अनुदानों को भूल जाते हैं, जो पग-पग पर उपलब्ध होते रहते हैं । आपत्ति आ पड़ने पर मात्र दुःख को देखते हैं, पर यह नहीं देखते कि इसके कारण साहस एवं पुरुषार्थ को जाग्रत करने का अवसर भी मिलता है । ईश्वर तो करुणा का सागर है । वह द्वेष-वश अथवा निष्ठुर होकर क्यों अपने ही पुत्रों को कष्ट देगा । आई हुई विपदाओं में मनुष्य का दूरवर्ती लाभ निहित होता है । अध्यापक के पीटने में, माता-पिता के धमकाने में, डॉक्टर के ऑपरेशन में जिस प्रकार बालक का हित सन्निहित होता है, उसी प्रकार अनेकों कष्टों के पीछे प्रभु की करुण-कृपा ही छिपी रहती है । यह विवेक बुद्धि गायत्री-उपासना से सहज ही जाग्रत हो जाती है । यही कारण है कि गायत्री साधक सामने आए अवरोधों से घबड़ाता नहीं है । जीवन का एक अनिवार्य पक्ष विकास का साधन मानकर उनको दूर करने का प्रयत्न करता है । वह अपनी आन्तरिक महानता से परिचित हो जाता है और जानता है कि घटनाएँ तो नित्य बदलती रहती हैं ? वे धूप-छाँह जैसी होती हैं । इस कारण उन्हें अनावश्यक महत्त्व क्यों दिया जाये । जीवन शान्ति, सन्तोष एवं प्रसन्नता से जीने की वस्तु है । उसे क्रीड़ा, कल्लोल, विनोद, विलास ही समझना चाहिए । इस तत्त्वज्ञान से परिचित गायत्री उपासक अनावश्यक शोक, मोह, चिन्ता, भय, क्रोध और आवेश से बचा रहता है । कर्तव्य-मार्ग पर निर्लिप्त भाव से आरूढ़ रहना ही रुचता है । फलतः मानसिक उद्वेग उसे परेशान नहीं कर पाते ।

गायत्री मन्त्र का अन्तिम पद साधक को इतना आत्म बल देता है, जिससे वह सामने आई बाधाओं का सामना सहज ही कर सके । सफलता-असफलता से वह उतना प्रभावित नहीं होता । उसका ध्यान मात्र कर्तव्यों पर बना रहता है । अन्तः का परिष्कार-मनोभूमि का संशोधन--यही है अध्यात्म का मूलभूत लक्ष्य । गायत्री के तृतीय चरण का यही सन्देश है । अनुकूल-प्रतिकूल हर प्रकार की परिस्थिति में सन्तुलित एवं प्रसन्नचित्त बने रहना गायत्री-उपासना की सबसे बड़ी उपलब्धि है ।

इस महामन्त्र का सन्देश है कि हर प्रकार की परिस्थितियों का उपयोग बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से करें । अच्छे से अच्छे भविष्य की आशा करें, पर बुरे से बुरे परिणामों का सामना करने के लिए तैयार रहें । यदि कठिनाइयों को अपने पुरुषार्थ एवं साहस को विकसित करने की चुनौती मात्र समझा जाये, उनसे भयभीत न हुआ जाये तो निश्चय ही कोई अप्रिय घटना हमें दुःखित नहीं कर सकती । अपनी प्रसन्नता में बाधक नहीं बन सकती । प्रसन्न रहना अपना स्वभाव बना लेने की सद्बुद्धि को

अपना लिया जाये तो छोटे-मोटे कारणों से दुःखी होने की कुबुद्धि से सहज ही छुटकारा मिल सकता है । जीवन खिलाड़ी की भावना से खेलने के लिए प्राप्त हुआ है । खिलाड़ी पूरे उत्साह से खेलते हैं, पर जीत-हार की चिन्ता ही नहीं करते । रंगमंच पर अभिनय करने वाले अभिनेता कुशलता के साथ अपना पार्ट निभाते हैं, पर स्वयं अप्रभावित बने रहते हैं । खिलाड़ी और अभिनेता की भाँति जीवन का खेल खेलना चाहिए । ध्यान दिया जाये तो प्रतीत होगा कि जो सुविधाएँ एवं परिस्थितियाँ हमें मिली हैं, वे अनेकों की तुलना में कहीं अधिक श्रेयस्कर एवं सुखद हैं । प्राप्त सुविधाओं की तुलना में दुःख की मात्रा तो नगण्य, अल्प है । यह दृष्टिकोण बन सके तो प्राप्त सुविधाओं पर प्रसन्न रहा जा सकता है । दुःखों की उपेक्षा की जा सकती है ।

गायत्री का तृतीय चरण अन्तः का परिशोधन करता है । बुद्धि इतनी परिमार्जित एवं निर्मल बन जाती है कि सद्चिन्तन का महत्त्व समझ सके । दृष्टिकोण विधेयात्मक बनता है । बाह्य परिलक्षित होने वाली स्वर्गीय अथवा नारकीय परिस्थितियों में इस दृष्टिकोण की ही प्रधान भूमिका होती है । इस मनःस्थिति का निर्माण जीवन की सबसे बड़ी सफलता है । अन्तःउत्कृष्टता से ओत-प्रोत व्यक्ति को सर्वत्र सत्चित एवं आनन्द का ही दिग्दर्शन होता है । यही गायत्री-उपासना की उपलब्धि है । जिसको प्राप्त कर कोई भी व्यक्ति सन्त इमर्सन की भाँति कह सकता है कि “मुझे नरक में भी भेज दो, मैं स्वर्ग का सृजन कर लूँगा ।” यह परिष्कृत एवं परिशोधित मनःस्थिति का ही सत्परिणाम है, जो इस प्रकार के उद्गारों के रूप में प्रकट होते हैं । गायत्री उपासना के अवलम्बन से इस प्रकार की मनःस्थिति की प्रगति अवश्यम्भावी है ।

गायत्री साधना के दिव्य लाभ

गायत्री मन्त्र में समस्त संसार को धारण, पोषण और अभिवर्धन करने वाले परमात्मा से सद्बुद्धि प्रदान करने की प्रार्थना की गयी है । श्रद्धाविश्वास पूर्वक की गयी यह उपासना साधक की अन्तश्चेतना को, उसके मन, अन्तःकरण, मस्तिष्क, विचारों और भावनाओं को सन्मार्ग की ओर अग्रसर होने को प्रेरित करती है । साधक जब इस महामन्त्र के अर्थ पर विचार करता है, तो वह समझ जाता है, कि संसार की सर्वोपरि समृद्धि और जीवन की सबसे बड़ी सफलता सद्बुद्धि को प्राप्त करना है ।

यह मान्यता स्थिर हो जाने पर साधक की इच्छा-शक्ति इसी तत्त्व को प्राप्त करने के लिये लालायित होती है । इस आकांक्षा से अन्तरंग क्षेत्र में एक प्रकार चुम्बकत्त्व उत्पन्न होता है, उसके आकर्षण से निखिल आकाश के ईश्वर तत्त्व में विद्यमान सत् तत्त्व, सत् विचार, भावनायें और प्रेरणायें उस स्थान पर एकत्रित होने लगती हैं । विचारों की चुम्बकीय शक्ति का विज्ञान सर्वविदित है । एक जाति के विचार अपने सजातीय विचारों को आकाश से खींचते हैं, फल स्वरूप संसार के भूत और जीवित सत्पुरुषों के फैलाये हुए अविनाशी संकल्प जो शून्य में सदैव भ्रमण करते रहते हैं, गायत्री साधक के पास दैवी वरदान की तरह अनायास ही आकर जमा होते रहते है और संचित पूँजी की भाँति उनका एक बड़ा भण्डार जमा हो जाता है ।

शरीर में सत् तत्त्व की अभिवृद्धि होने से शरीर चर्या की गतिविधि में काफी हेर-फेर हो जाता है । इन्द्रियों के भोगों में भटकने की गति मन्द हो जाती है । चटोरपन, तरह-तरह के स्वादों के पदार्थ खाने के लिए मन ललचाते रहना, बार-बार खाने की इच्छा होना, अधिक मात्रा में खा जाना, भक्षाभक्ष का विचार न रहना, सात्विक पदार्थों में अरुचि और चटपटे, मीठे, गरिष्ठ पदार्थों में रुचि, जैसी बुरी आदत धीरे-धीरे कम होने लगती है । हल्के, सुपाच्य, सरस, सात्विक भोजनों से उसे तृप्ति मिलती है और राजसी, तामसी खाद्यों से घृणा हो जाती है । इसी प्रकार कामेन्द्रियों की उत्तेजना सतोगुणी विचारों के कारण संयमित हो जाती है । कुमार्ग में, व्यभिचार-वासना में मन कम दौड़ता है, ब्रह्मचर्य के प्रति श्रद्धा बढ़ती है । फलस्वरूप वीर्य-रक्षा का मार्ग प्रशस्त हो जाता है । कामेन्द्रिय और स्वादेन्द्रिय दो ही इन्द्रियाँ प्रधान हैं । इनका संयम होना स्वास्थ्य-रक्षा और शरीर-वृद्धि का प्रधान हेतु है । इनके साथ-साथ परिश्रम, स्नान, निद्रा, सोना-जागना, सफाई, सादगी और अन्य दिनचर्याएँ भी सतोगुणी हो जाती हैं, जिनके कारण आरोग्य और दीर्घ जीवन की जड़ें मजबूत होती हैं ।

मानसिक क्षेत्र में सद्गुणों की वृद्धि के कारण दोष-दुर्गुण कम होने लगते हैं तथा सद्गुण बढ़ने लगते हैं । इस मानसिक कायाकल्प का परिणाम यह होता है कि दैनिक जीवन में प्रायः नित्य ही आते रहने वाले अनेकों दुःखों का सहज ही समाधान हो जाता है । इन्द्रिय संयम और दिनचर्या के कारण शारीरिक रोगों का भी निराकरण

हो जाता है। विवेक जाग्रत होते ही अज्ञान-जन्य चिन्ता, शोक, भय, आशंका, मोह-ममता हानि आदि के दुःखों से छुटकारा मिल जाता है। ईश्वर-विश्वास के कारण मति स्थिर रहती है और भावी जीवन के बारे में निश्चिन्तता बनी रहती है। धर्म-प्रवृत्ति के कारण पाप, अन्याय, अनाचार नहीं बन पड़ते। फलस्वरूप राज-दण्ड समाज-दण्ड, आत्म-दण्ड और ईश्वर-दण्ड की चोटों से पीड़ित नहीं होना पड़ता। सेवा, नम्रता, उदारता, दान, ईमानदारी, लोकहित आदि गुणों के कारण दूसरों को लाभ पहुँचता है, हानि की आशंका नहीं रहती। इससे प्रायः सभी लोग उनके कृतज्ञ, प्रशंसक, सहायक, भक्त एवं रक्षक होते हैं। पारस्परिक सद्भावनाओं के परिवर्तन से आत्मा की तृप्ति करने वाले प्रेम और सन्तोष नामक रस दिन-दिन अधिक मात्रा में उपलब्ध होकर जीवन को आनन्दमय बनाते चलते हैं। इस प्रकार शारीरिक और मानसिक क्षेत्रों में सत्व-तत्त्व की वृद्धि होने से दोनों ओर आनन्द का स्रोत उमड़ता है और गायत्री साधक उसमें निमग्न रहकर आत्म-सन्तोष का, परमानन्द का रसास्वादन करता है।

आत्मा ईश्वर का अंश होने से उन सब शक्तियों को बीज रूप से अन्दर छिपाये रहता है, जो ईश्वर में होती हैं। वे शक्तियाँ सुप्तावस्था में रहती हैं और मानसिक तापों के विषय-विकारों के, दोष-दुर्गुणों के ढेर में दबी हुई अज्ञान रूप से पड़ी रहती हैं। लोग समझते हैं कि हम दीन-हीन-तुच्छ और अशक्त हैं, पर जो साधक मनोविकारों का पर्दा हटाकर निर्मल आत्म-ज्योति के दर्शन करने में समर्थ होते हैं, वे जानते हैं कि सर्व शक्तिमान ईश्वरीय ज्योति उनकी आत्मा में मौजूद है और वे परमात्मा के सच्चे उत्तराधिकारी हैं। अग्नि के ऊपर से राख हटा दी जाये तो फिर दहकता अंगार प्रकट हो जाता है। वह अगांर छोटा होते हुए भी भयंकर अग्निकांडों की सम्भावना से युक्त होता है। यह पर्दा फटते ही तुच्छ मनुष्य महान आत्मा (महात्मा) बन जाता है। चूँकि आत्मा में अनेकों ज्ञान, विज्ञान, साधारण-असाधारण अद्भुत, आश्चर्यजनक शक्ति के भण्डार छिपे पड़े हैं, वे खुल जाते हैं और वह सिद्ध योगी के रूप में दिखाई पड़ता है। सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिये बाहर से कुछ लाना नहीं पड़ता, किसी देव-दानव की कृपा की जरूरत नहीं पड़ती, केवल अन्तःकरण पर पड़े हुए आवरणों को हटाना पड़ता है। गायत्री की सतोगुणी साधना का सूर्य तामसिक अन्धकार के पर्दे को हटा देता है और आत्मा का सहज ईश्वरीय रूप प्रकट हो जाता है। आत्मा का यह निर्मल रूप सभी ऋद्धि-सिद्धियों से परिपूर्ण होता है।

गायत्री द्वारा हुई सतोगुणों की वृद्धि अनेक प्रकार की आध्यात्मिक और संसारिक समृद्धियों की जननी है, शरीर और मन की शुद्धि सांसारिक जीवन को अनेक दृष्टियों से सुख-शांतिमय बनाती है। आत्मा में विवेक और आत्मबल की मात्रा बढ़ जाने से अनेक ऐसी कठिनाइयाँ जो दूसरों को पर्वत के समान भारी मालूम पड़ती हैं, उस आत्मवान व्यक्ति के लिए तिनके के समान हल्की बन जाती हैं। उसका कोई काम रुका नहीं रहता। या तो उसकी इच्छा के अनुसार परिस्थिति बदल जाती है या परिस्थिति के अनुसार अपनी इच्छाओं को बदल लेता है। क्लेश का कारण इच्छा और परिस्थिति के बीच प्रतिकूलता का होना ही तो है। विवेकवान इन दोनों में से किसी को अपनाकर उस संघर्ष को टाल देता है और सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है। उसके लिये इस पृथ्वी पर भी स्वर्गीय आनन्द की सुरसरि बहने लगती है।

वास्तव में सुख और आनन्द का आधार किसी बाहरी साधन-सामग्री पर नहीं किन्तु मनुष्य की मनःस्थिति पर निर्भर रहता है। मन की साधना से जो मनुष्य एक समय राजसी भोजनों और रेशमी गद्दे-तकियों से भी संतुष्ट नहीं होता, वह किसी सन्त के उपदेश से त्याग और संन्यासी व्रत ग्रहण कर लेने पर जंगल की भूमि को ही सबसे उत्तम शैया, वन के कन्द-मूल फलों को ही सर्वोत्तम आहार समझने लगता है। यह सब अन्तर मनोभाव और विचारों के बदल जाने से ही उत्पन्न होता है।

गायत्री सद्बुद्धि की, ऋतम्भरा प्रज्ञा की अधिष्ठात्री देवी है और उससे साधक सद्बुद्धि की याचना करता है। इस सद्बुद्धि के द्वारा सभी प्रकार के दुःखों को कारण मूल से दूर किया जा सकता है। सद्बुद्धि के प्रकाश में वे सभी उपाय सुझाई देने लगते हैं, जिनको काम में लाने पर दुःखों के कारण दूर हो जाते हैं। यों संसार में कई प्रकार के दुःख हैं। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी समस्यायें और कठिनाइयाँ हैं। सबकी

अलग-अलग उलझनें हैं। इस दृष्टि से तो सबके दुःखों का कारण भी अलग-अलग होना चाहिए। परन्तु ऐसा हैं नहीं। गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाये तो प्रतीत होगा कि जीवन और जगत में विद्यमान समस्त दुःखों के कारण तीन हैं—(१) अज्ञान (२) अशक्ति और (३) अभाव। जो इन तीन कारणों को जिस सीमा तक अपने से दूर करने में समर्थ होगा, वह इतना ही सुखी बन सकेगा।

अज्ञान के कारण मनुष्य का दृष्टिकोण दूषित हो जाता है, वह तत्त्व-ज्ञान से अपरचित होने के कारण उल्टा-उल्टा सोचता है और उल्टे काम करता है, तदनुसार उलझनों में अधिक फँसता जाता है और दुःखी बनता है। स्वार्थ-भोग, लोभ, अहंकार, अनुदारता और काम की भावनायें मनुष्य को कर्तव्यच्युत करती हैं और वह दूरदर्शिता को छोड़कर क्षणिक, क्षुद्र एवं हीन बातें सोचता है तथा वैसे ही काम करता है। फलस्वरूप उसके विचार और कार्य पापमय होने लगते हैं। पापों का निश्चित परिणाम दुःख है। दूसरी ओर अज्ञान के कारण वह अपने और दूसरे की सांसारिक गतिविधि में मूल हेतुओं को नहीं समझ पाता। फलस्वरूप असम्भव आशायें, तृष्णायें कल्पनायें किया करता है। इन उल्टे दृष्टिकोणों के कारण साधारण सी बातें उसे बड़ी दुःखमय दिखाई देती हैं। जिसके कारण वह रोता-चिल्लाता रहता है। आत्मीयों की मृत्यु, साथियों की भिन्न रुचि, परिस्थितियों का उतार-चढ़ाव स्वाभाविक है, पर अज्ञानी सोचता है कि मैं जो चाहता हूँ वह सदा होता रहे, प्रतिकूल बात सामने आवे ही नहीं। इस असम्भव आशा के विपरीत घटनाएँ जब भी घटित होती हैं तभी वह रोता-चिल्लाता है। तीसरे अज्ञान के कारण भूलें भी अनेक प्रकार की होती हैं। समीपस्थ, सुविधाओं से वंचित रहना पड़ता है, यह भी दुःख का हेतु है। इस प्रकार अनेकों दुःख मनुष्य को अज्ञान के कारण प्राप्त होते हैं।

अशक्ति का अर्थ है—निर्बलता। शारीरिक,मानसिक, सामाजिक, बौद्धिक, आत्मिक निर्बलताओं के कारण, मनुष्य अपने स्वाभाविक, जन्मसिद्ध अधिकारों का भार अपने कन्धों पर उठाने में समर्थ नहीं होता, फलस्वरूप उसे वंचित रहना पड़ता है। स्वास्थ्य खराब हो, बीमारी ने घेर-रखा हो तो स्वादिष्ट भोजन, रूपवती तरुणी, मधुर गीत, बाद्य, सुन्दर दृश्य निरर्थक हैं। धन-दौलत का कोई कहने लायक सुख उसे नहीं मिल सकता। बौद्धिक निर्बलता हो तो साहित्य, काव्य, दर्शन-मनन, चिन्तन का रस प्राप्त नहीं हो सकता। आत्मिक निर्बलता हो तो सत्संग, प्रेम, भक्ति आदि का आत्मानन्द दुर्लभ है। इतना ही नहीं, निर्बलों को मिटा डालने के लिये प्रकृति का 'उत्तम की रक्षा' सिद्धान्त काम करता है। कमजोर को सताने और मिटाने के लिये अनेकों तथ्य प्रकट हो जाते हैं। निर्दोष, भले और सीधे-साधे तत्त्व भी उसके प्रतिकूल पड़ते हैं। सर्दी, जो बलवानों की बलवृद्धि करती है, रसिकों को रस देती है, वह कमजोरों को निमोनियाँ, गठिया आदि का कारण बन जाती है। जो तत्त्व निर्बलों के लिये प्राणघातक हैं, वे ही बलवानों को सहायक सिद्ध होते हैं। बेचारी निर्बल बकरी को जंगली जानवरों से लेकर जगत्माता भवानी दुर्गा तक चट कर जाती हैं और सिंह को वन्य पशु भी नहीं, बड़े-बड़े सम्राट तक राज-चिह्न में धारण करते हैं। अशक्त हमेशा दुःख पाते हैं, उनके लिये भले तत्त्व भी आशाप्रद सिद्ध नहीं होते हैं।

अभावजन्य दुःख है—पदार्थों का अभाव। अन्न-वस्त्र-जल, मकान, पशु, भूमि, सहायक, मित्र, धन, औषधि, पुस्तक, शस्त्र, शिक्षक आदि के अभाव में विविध प्रकार की पीड़ायें कठिनाइयाँ भुगतनी पड़ती हैं। उचित आवश्यकताओं को कुचल कर मन मारकर बैठना पड़ता है और जीवन के महत्त्वपूर्ण क्षणों को मिट्टी के मोल नष्ट करना पड़ता है। योग्य और समर्थ व्यक्ति भी साधनों के अभाव में अपने को लुंज-पुंज अनुभव करते हैं और दुःख उठाते हैं।

गायत्री कामधेनु है, जो उसकी पूजा, उपासना आराधना और अभिभावना करता है, वह प्रतिक्षण माता का अमृतोपम दुग्धपान करने का आनन्द लेता है और समस्त अज्ञानों, अशक्तियों और अभावों के कारण उत्पन्न होने वाले कष्टों से छुटकारा पाकर मनोवांछित फल प्राप्त करता है। योग्य गुरू के पथ-प्रदर्शन में की गयी गायत्री साधना अभीष्ट लाभ पहुँचाती है। इन साधनाओं में सफलता प्राप्त करने के लिए भले ही थोड़ा-बहुत अधिक समय व श्रम लगाना पड़े पर अन्य कष्टपूर्ण साधनाओं की अपेक्षा उन साधनाओं में जल्दी ही सफलता मिलती है। योगी जनों का कष्ट साध्य लम्बा मार्ग गायत्री द्वारा बहुत सरल हो जाता है और घर में रहते हुए

गृहस्थ व्यक्ति भी बनवासी तपस्वियों जैसी सफलता प्राप्त कर लेता है ।

कष्टप्रद भव बन्धनों, माया-मोह की शृंखला से छुटकारा पाकर परम लक्ष्य को प्राप्त करना इस मार्ग से जितना सरल है, उतना और किसी मार्ग से संभव नही, गायत्री साधना द्वारा मानसिक परिष्कार व्यक्तित्व के विकास, दुःखों के निवारण और आत्मिक विकास के दिव्य लाभों के अतिरिक्त कई सिद्धियाँ, विशेष शक्तियाँ भी प्राप्त होती हैं । इन शक्तियों को क्रमशः अर्जित करते हुए व्यक्ति अनुपम और अद्वितीय, असाधारण व्यक्तित्व का स्वामी बन जाता है ।

गायत्री उपासना से दिव्य प्रकाश की प्राप्ति

अध्यात्म शास्त्रों में स्थान-स्थान पर प्रकाश की साधना और प्रकाश की याचना की चर्चा मिलती है । प्रकाश बल्ब, बत्ती अथवा सूर्य या चन्द्रमा से निकलने वाली रोशनी, नहीं अपितु वह परम ज्योति है, जो इस विश्व में चेतना का आलोक बन कर जगमगा रही है । इसी के लिए ऋषि ने गाया है **तमसो मां ज्योतिर्गमय, हे प्रभु** ! मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो । गायत्री का उपास्य सविता देवता इसी परम ज्योति को कहते हैं । इसका अस्तित्व ऋतम्भरा प्रज्ञा के रूप में प्रत्यक्ष और कण-कण में संव्याप्त जीवन-ज्योति के रूप में प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर देख सकता है । इसकी जितनी मात्रा जिसके भीतर विद्यमान हो, समझना चाहिए कि उसमें उतना ही ईश्वरीय अंश आलोकित हो रहा है ।

मस्तिष्क के मध्य भाग से प्रकाश कणों का एक फुब्बारा सा फूटता रहता है । उसकी उछलती हुई तरंगे एक वृत्त बनाती हैं और फिर अपने मूल उद्गम में लौट जाती हैं । यह रेडियो प्रसारण और संग्रहण जैसी प्रक्रिया है, ब्रह्मरन्ध्र से छूटने वाली ऊर्जा अपने भीतर छिपी हुई भाव स्थिति को विश्व-ब्रह्माण्ड में ईथर कम्पनों द्वारा प्रवाहित करती रहती है, इस प्रकार मनुष्य अपनी चेतना का परिचय और प्रभाव समस्त संसार में फेंकता रहता है । फुहारे की लौटती हुई धाराएँ अपने साथ विश्व-व्यापी असीम ज्ञान की नवीनतम घटनात्मक तथा भावनात्मक जानकारियाँ लेकर लौटती हैं, यदि उन्हें ठीक तरह समझा जा सके, ग्रहण किया जा सके, तो कोई भी व्यक्ति भूतकालीन और वर्तमान काल की अत्यन्त सुविस्तृत और महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ प्राप्त कर सकता है । व्यक्ति में प्रवाह ग्रहण करने की और प्रसारित करने की जो क्षमता है, उसका माध्यम यह ब्रह्मरंध्र अवस्थित ध्रुव संस्थान ही है, पृथ्वी पर अन्य ग्रहों का प्रचुर अनुदान आता है तथा उसकी विशेषताएँ अन्यत्र चली जाती हैं । यह आदान-प्रदान का कार्य ध्रुव केन्द्रों द्वारा सम्पन्न होता है । शरीर के भी दो ध्रुव हैं, एक मस्तिष्क, दूसरा जनन गह्वर । चेतनात्मक विकरण मस्तिष्क से और शक्ति-परक ऊर्जा प्रवाह जनगह्वर से सम्बन्धित है । सूक्ष्म आदान-प्रदान की अति महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया इन्हीं केन्द्रों के माध्यम से संचालित होती है ।

शारीरिक और मानसिक स्थिति के अनुरूप तेजोवलय की स्थिरता बनती है । यदि स्थिति बदलने लगे तो प्रकाश पुंज की स्थिति भी बदल जायेगी । इतना ही नहीं समय समय पर मनुष्य के बदलते हुए स्वभाव तथा चिन्तन स्तर के अनुरूप उसमें सामयिक परिवर्तन होते रहते हैं । सूक्ष्मदर्शी उसकी भिन्नताओं को रंग बदलते हुए परितर्वनों के रूप में देख सकते हैं । शान्ति और सज्जनता की मनःस्थिति हल्के नीले रंग में देखी जायेगी । विनोदी, कामुक, सत्तावान, वैभवशाली, विशुद्ध व्यवहार-कुशल स्तर की मनोभूमि पीले रंग की होती है । क्रोधी, अहंकारी, क्रूर, निष्ठुर, स्वार्थी, हठी और मूर्ख मनुष्य लाल वर्ण के तेजोवलय से घिरे रहते हैं । हरा रंग सृजनात्मक एवं कलात्मक प्रवृत्ति का द्योतक है । गहरा बैंगनी चंचलता और अस्थिर मति का प्रतीक है । धर्मिक, ईश्वर-भक्त और सदाचारी व्यक्तियों की आभा केशरिया रंग की होती है । इसी प्रकार विभिन्न रंगों का मिश्रण मनुष्य के गुण, कर्म, स्वभाव के परिवर्तनों के अनुसार बदलता रहता है । यह तेजोवलय सदा सिथर नहीं रहता बदलती हुई मनोवृत्ति प्रकाश-पुंज के रंगों में परिवर्तन कर देती है । यह रंग स्वतन्त्र रूप से कुछ नहीं । मनोभूमि में होने वाले परिवर्तन, शरीर से निसृत होते हरने वाले ऊर्जा कम्पनों की घटती-बढ़ती संख्या के आधार पर आँखों को अनुभव होते हैं । वैज्ञानिक इन्हें ''फ्रीक्वेन्सी आफ दी वेयस'' कहते हैं ।

दिव्य दर्शन, दिव्य अनुभव, प्रभाव प्रेषण, संकल्प प्रयोग जैसे प्रयोग थोड़ी आत्म-शक्ति विकसित होते ही आसानी से किये जा सकते हैं । इन क्षेत्रों में पिछले दिनों काफी शोधकार्य चला आ रहा है और उन प्रयासों के फलस्परूप कई उपयोगी निष्कर्ष सामने आये हैं । परामनो विज्ञान, अतीन्द्रिय विज्ञान, मैटाफिजिक्स जैसी चेतनात्मक विद्यायें भी अब विज्ञान की अन्यान्य शाखाओं के समान विकसित हो रही हैं । रुचि, तन-मन की सामर्थ्य के सम्बन्ध में जैसे-जैसे रहस्यमय जानकारियों के पर्त खुलते हैं, वैसे-वैसे यह स्पष्ट होता जाता है कि नरपशु लगने वाला मनुष्य वस्तुतः असीम और अनंत क्षमताओं का भण्डार है । कठिनाई इतनी भर है, कि उसकी अधिकांश विशेषतायें प्रस्तुत एवं अविज्ञात स्थिति में पड़ी रहती हैं ।

डॉ० जे०सी० ने अणु और आत्मा, ग्रन्थ में स्वीकार किया है कि मानव-अणुओं की प्रकाश वाष्प न केवल मनुष्यों में वरन् अन्य जीवधारियों, वृक्ष, वनस्पति, औषधि आदि में भी होती है, यह प्रकाश-अणु ही जीवधारी के यथार्थ शरीरों का निर्माण करते हैं खनिज-पदार्थों से बना मनुष्य या जीवों का शरीर तो तभी तक स्थिर रहता है, जब तक यह प्रकाश अणु शरीर में रहते हैं । इन प्रकाश अणुओं के हटते ही स्थूल शरीर बेकार हो जाता है, फिर उसे लाते गढ़ाते ही बनता है । खुला छोड़ देने पर तो उसकी सड़ाँध से उसके पास एक क्षण भी ठहरना कठिन हो जाता है ।

स्वभाव-संस्कार इच्छाएँ क्रिया-शक्ति यह सब इन प्रकाश-अणुओं का ही खेल है । हम सब जानते हैं कि प्रकाश का एक अणु (फेटान) भी कई रंगों के अणुओं से मिलकर बना होता है । मनुष्य शरीर की प्रकाश आभा भी कई रंगों से बनी होती है । डॉ० जे० सी० ट्रस्ट ने अनेक रोगियों, अपराधियों तथा सामान्य व श्रेष्ठ व्यक्तियों का सूक्ष्म निरीक्षण करके बताया है, उसके मानव-अणु दिव्य तेज और आभा वाले होते हैं, जबकि अपराधी और रोगी व्यक्तियों के प्रकाश-अणु क्षीण और अन्धकार-पूर्ण होते हैं । उन्होंने बहुत से मनुष्यों के काले धब्बों को अपनी दिव्य दृष्टि से देखकर उनके रोगी या अपराधी होने की बात को बताकर लोगों को स्वीकार करा दिया था कि सचमुच रोग और अपराधी वृत्तियाँ काले रंग के अणुओं की उपस्थिति का प्रतिफल होती हैं, मनुष्य अपने स्वभाव में चाहते हुए भी तब तक परिवर्तन नहीं कर सकता, जब तक यह दूषित प्रकाश-अणु अपने अन्दर विद्यमान बने रहते हैं ।

यही नहीं जन्म-जन्मान्तरों तक खराब प्रकाश-अणुओं की यह उपस्थिति मनुष्य से बलात् दुष्कर्म कराती रहती है । इस तरह मनुष्य पतन के खड्डे में बार-बार गिरता और अपनी आत्मा को दुःखी बनाता रहता है, जब तक ये अणु नहीं बदलते व निष्क्रिय नहीं होते, तब तक मनुष्य किसी भी परिस्थिति में अपनी दशा नहीं सुधार पाता ।

यह तो है, कि अपने प्रकाश-अणुओं में यदि तीव्रता है तो उससे दूसरों को आकस्मिक सहायता दी जा सकती है । रोग दूर किये जा सकते हैं । खराब विचार वालों को कुछ देर के लिए अच्छे सन्त स्वभाव में बदला जा सकता है । महर्षि नारद के सम्पर्क में आते ही डाकू बाल्मीकि के प्रकाश अणुओं में तीव्र झटका लगा और वह अपने आपको परिवर्तित कर डालने को विवश हुआ । भगवान बुद्ध के इन प्रकाश-अणुओं से निकलने वाली विद्युत विस्तार सीमा में आते ही डाकू अंगुलिमाल की विचारधारायें पलट गई थीं । ऋषियों के आश्रमों में गाय और शेर एक घाट पानी पीने आते थे, वह इन प्रकाश-अणुओं की ही तीव्रता के कारण होता था । उस वातावरण से निकलते ही व्यक्तिगत प्रकाश-अणु फिर बलवान हो उठने से लोग पुनः दुष्कर्म करने लगते हैं, इसलिए किसी को आत्म-शक्ति या अपना प्राण देने की अपेक्षा भारतीय आचार्यों ने एक पद्धति का प्रसार किया था, जिसमें इन प्रकाश-अणुओं का विकास कोई भी व्यक्ति इच्छानुसार कर सकता था । देव-उपासना उसी का नाम है ।

उपासना एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसमें हम अपने भीतर के काले, मटमैले और पापाचरण को प्रोत्साहन देने वाले प्रकाश-अणुओं को दिव्य, तेजस्वी, सदाचरण और शान्ति एवं प्रसन्नता की वृद्धि करने वाले मानव-अणुओं में परिवर्तित करते हैं । विकास की इस प्रक्रिया में किसी वैज्ञानिक तत्त्व, पिण्ड या ग्रह-नक्षत्र की साझेदारी होती है । उदाहरण के लिए जब हम गायत्री की उपासना करते हैं तो हमारे भीतर के प्रकाश-अणुओं को हटाने और उसके स्थान पर दिव्य प्रकाश अणु भर देने का माध्यम गायत्री का देवता सविता अर्थात् सूर्य होता है ।

वर्ण-रचना और प्रकाश की दृष्टि से ये मानव-अणु भिन्न-भिन्न स्वभाव के होते हैं । मनुष्य का जो कुछ भी स्वभाव आज दिखाई देता है, वह इन्हीं अणुओं की उपस्थिति के कारण होता है, यदि इस विज्ञान को समझा जा सके, तो न केवल अपना जीवन शुद्ध, सात्त्विक, सफल, रोगमुक्त बनाया जा सकता है, वरन् औरों को भी प्रभावित और इन लाभों से लाभान्वित किया जा सकता है । परलोक और सद्गति के आधार भी यह प्रकाश-अणु या मानव-अणु ही हैं ।

वस्तुएँ हम प्रकाश की सहायता से देख सकते हैं । किन्तु साधारण प्रकाश कणों की सहायता से हम शरीर के कोश (सैल) को देखना चाहें तो वे इतने सूक्ष्म हैं कि उन्हें देख नहीं सकते । इलेक्ट्रॉनों को जब ५०००० वोल्ट आवेशपर सूक्ष्मदर्शी (माइक्रोस्कोप) में भेजा जाता हैं तो उनकी तरंग-दैर्घ्य श्वेत प्रकाश कणों की तुलना में १/१०००० भाग सूक्ष्म होती हैं, तब वह हाइड्रोजन के परमाणु का जितना व्यास होता है, उसके भी ४२.४ वें हिस्से छोटे परमाणु में भी प्रवेश करके वहाँ की गतिविधियाँ दिखा सकती हैं । उदाहरण के लिए यदि मनुष्य की आँख एक इन्च घेरे को देख सकती है तो उससे भी ५०० अंश कम को प्रकाश सूक्ष्मदर्शी और १०००० अंश छोटे भाग को सूक्ष्मदर्शी । इसी से अनुमान लगा सकते हैं कि मनुष्य शरीर के कोष (सेल्स) का चेतन भाग कितना सूक्ष्म होना चाहिए । इस तरह के सूक्ष्मदर्शी से जब कोश का निरीक्षण किया गया तो उनमें भी एक टिमटिमाता हुआ प्रकाश दिखाई दिया । चेतना या महत्त्व इस प्रकार प्रकाश की ही अति सूक्ष्म स्फुरणा है, यह विज्ञान भी मानता है ।

भारतीय योगियों ने ब्रह्मरन्ध्र स्थित जिन षटचक्रों की खोज की है, सहस्रार कमल उनसे बिल्कुल अलग सर्वप्रभुता सम्पन्न है । यह स्थान कनपटियों से दो-दो इन्च अन्दर भृकुटि से लगभग ढाई या तीन इन्च अन्दर छोटे से पीले में प्रकाश पुंज के रूप में है । तत्त्वदर्शियों के अनुसार यह स्थान उलटे छाते या कटोरे के समान १७ प्रधान प्रकाश तत्त्वों से बना होता है, देखने में मर्करी लाइट के समान दिखाई देता है । छान्दोग्य उपनिषद में सहस्रार दर्शन की सिद्धि पाँच अक्षरों में इस तरह प्रतिपादित की है 'तस्य सर्वेषु लोकेषु कांमचारी भवति' अर्थात् सहस्रार प्राप्त कर लेने वाला योगी सम्पूर्ण भौतिक विज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है । यही वह शक्ति केन्द्र है जहाँ से मस्तिष्क शरीर का नियन्त्रण करता है और विश्व में जो कुछ भी मानवकृत विलक्षण विज्ञान दिखाई देता है, उनका सम्पादन करता हैं ।

आत्मा या चेतना जिन अणुओं से अपने को अभिव्यक्त करती है, वह प्रकाश-अणु ही हैं, जबकि आत्मा स्वयं उनसे भिन्न है । प्रकाश-अणुओं को प्राण, विधायक शक्ति, अग्नि, तेजस् कहना चाहिए, वह जितने शुद्ध, दिव्य और तेजस्वी होंगे, व्यक्ति उतना ही महान् तेजस्वी, यशस्वी, वीर, साहसी और कलाकार होगा । महापुरुषों के तेजोवलय उसी बात के प्रतीक हैं, जब कि निकृष्ट कोटि के व्यक्तियों में यह अणु अत्यन्त शिथिल, मन्द और काले होते हैं । हमें चाहिए कि हम इन दूषित प्रकाश-अणुओं को दिव्य-अणुओं में बदलें और अपने को भी महापुरुषों की श्रेणी में ले जाने का यत्न करें ।

गायत्री-उपासना में सविता देवता का ध्यान करने की प्रक्रिया इसीलिए अपनाई जाती है कि अन्तर के कण-कण में संव्याप्त प्रकाश आभा को अधिक दीप्तिमान बनने का अवसर मिले । अपने ब्रह्मरंध्र में अवस्थित सहस्रांशु आदित्य सहस्रदल कमल को खिलायें और उसकी प्रत्येक पंखुरी में सन्निहित दिव्य कलाओं के उदय का लाभ साधक को मिले । ब्रह्म विद्या का उद्गाता तमसो मा ज्योतिर्गमय की प्रार्थना में इस दिव्य प्रकाश की याचना करता है । प्रत्येक जाग्रत आत्मा को इसकी आवश्यकता अनुभव होती है, अस्तु । गायत्री-उपासक अपने जप प्रयोजन में इसी ज्योति का अन्तः भूमिका में अवतरण करने के लिए सविता देवता का ध्यान करता है ।

गायत्री साधना से दिव्य-दृष्टि का जागरण

संसार में अभी तक ऐसा फोटो कैमरा नहीं बना जो टैक्नीकलर, विस्तार्विजन और थ्री डी, के टेक्नोलॉजी युक्त हो । शत–प्रतिशत फोटो खिंचता हो और क्षण भर में फोटो उतार देता हो । जिसमें फोटोग्राफर की आवश्यकता न हो और न फिल्म-प्लेट आदि लगाने की झंझट न हो । ऐसा कैमरा बनना तो दूर रहा किसी वैज्ञानिक के मस्तिष्क में इस तरह की संभावना की कल्पना भी नहीं आई है । यदि कोई सोचने भी लगे तो इस सारी

सुविधाओं से सम्पन्न किसी विशालकाय यन्त्र की ही कल्पना की जा सकती है । इतने उपकरण होते हुए भी उसका साइज एक इन्च के बराकर हो, तो यह सर्वथा असंभव ही लगता है । यांत्रिक जगत में ऐसा फोटो यन्त्र भले ही न बना हो, उसकी सम्भावना अशक्य मानी जाये, पर ऐसा कैमरा हर मनुष्य के पास मौजूद है और प्रायः सभी मनुष्य उसका उपयोग जन्म काल से ही करते हैं । वह कैमरा है जादू जैसा यन्त्र–नेत्र । मस्तिष्क के अग्रभाग में जकड़े हुए दो नेत्र सभी को दीखते हैं पर उनके मध्यवर्ती अन्तराल में जो तीसरा नेत्र है, उसकी जानकारी योगी जनों को ही थोड़ी मात्रा में मिली ।

गायत्री-उपासना करते समय दोनों नेत्रों के मध्य में भृकुटी में ध्यान किया जाता है । यह वह स्थान है जिसके नीचे अस्थि आवरण के उपरान्त एक बेर की गुठली जैसी ग्रन्थि है । इसे आज्ञा चक्र कहते हैं । शरीर शास्त्र की दृष्टि से उसका कार्य और प्रयोजन अभी पूरी तरह नहीं समझा जा सका, पर आत्म-विद्या के अन्वेषी उसके अति महत्त्वपूर्ण कार्य को बहुत पहले से ही जानते हैं । इसे तीसरा नेत्र या दिव्य नेत्र कहते हैं । दिव्य दृष्टि यहीं से निःसृत होती है ।

प्रकाश की सहायता से हम वस्तुओं को देखते हैं । पर यह रहस्य किन्हीं-किन्हीं को ही विदित हैं कि हमारे भीतरी जीवाणुओं में भी प्रकाश विद्यमान है और उनसे निकलने वाली किरणें न केवल भीतर प्रकाश बनाये रहती हैं, वरन् बाहर भी तेजस्विता का परिचय देती हैं । आँखों में अपना निज का प्रकाश है । आज्ञा चक्र का प्रकाश तो ऊर्जा रूप में भी विकसित हो सकता है और उससे टेलीविजन एवं संवाद प्रेषण जैसा कार्य भी लिया जा सकता है । इस ऊर्जा से अन्य व्यक्तियों अथवा वस्तुओं को भी प्रभावित किया जा सकता है ।

प्रकाश किरणों को छवि रूप में पकड़ने की कला अब फोटोग्राफी टेलिविजन तक सीमित नहीं रही अब वे आधार प्राप्त कर लिये गये हैं, जिनसे तीन आयामों वाले त्रिविमिलीय चित्र देखे जा सकें । आमतौर से फोटोग्राफी लम्बाई-चौड़ाई का बोध कराती है । गहराई का तो उसमें आभास मात्र ही होता है । यदि गहराई को भी प्रतिबिम्बित किया जा सके तो फिर आँखों से देखे जाने वाले दृश्य और छाया अंकन में कोई भेद नही रहेगा । ऐसा दृश्य प्रचलन सम्भव हो सका तो फिल्में अपने वर्तमान अधूरे स्तर की फोटोग्राफी तक सीमित नही रहेंगी वरन् पर्दे पर रेल, मोटर, घोड़े मनुष्य आदि उसी तरह दौड़ते दिखाई पड़ेंगे मानों वे अपने यथार्थ स्वरूप में ही आँखों के आगे से गुजर रहे हैं । यदि सामने से अपनी ओर कोई रेल दौड़ती आ रही हो या शेर झपटता आ रहा हो तो बिल्कुल यह मालूम पड़ेगा कि वे अब अपने ऊपर ही चढ़ बैठने वाले हैं । ऐसी दशा में आरम्भिक अनभ्यास की स्थिति में सिनेमा दर्शक को भयभीत होकर अपनी सीट छोड़कर भागते ही बनेगा ।

प्रकाश विज्ञानी एर्नेस्टएये और उनके सहयोगी शिष्य डी गैवर ने होलोग्राफ के एक नये सिद्धान्त का आविष्कार किया जिसके आधार पर त्रिविमिलीय स्तर का छाया चित्रण आँखों से देखा जा सकेगा और भूत कालीन दृश्यों को इन्हीं आँखों से इस प्रकार देखा जा सकेगा मानो वह घटना-क्रम अभी-अभी ही बिलकुल सामने घटित हो रहा है ।

भ्रूमध्य भाग में अवस्थित आज्ञा चक्र को तृतीय नेत्र कहा जाता है । शिव और पार्वती के चित्रों में उनका एक पौराणिक तीसरा नेत्र भी दिखाया जाता है । कथा के अनुसार शंकर भगवान ने इसी नेत्र को खोलकर उसमें से निकलने वाली अग्नि से कामदेव को भस्म किया था ।

दिव्य दृष्टि का केन्द्र भी यही है । इससे टेलिविजन जैसा कार्य लिया जा सकता है । दूरदर्शन का दिव्य यन्त्र यही लगा हुआ है । महाभारत के सारे दृश्य संजय ने इसी के माध्यम से देखे और धृतराष्ट्र को सुनाए थे । चित्र लेखा द्वारा प्रद्युम्न प्रणय इसी दिव्य दृष्टि का ही परिणाम थी ।

सूक्ष्म और कारण शरीर की दिव्य दृष्टि की मर्यादा और क्षमता बहुत बढ़ी-चढ़ी है । उसे समझने, विकसित करने और प्रयोग करने की क्षमता योगाभ्यास से उपलब्ध होती है । पर स्थूल शरीर में भी यह शक्ति बहुत व्यापक है । आँखों से ही सब कुछ नहीं देखा जाता, उसके अतिरिक्त अंगों में भी देखने-समझने की क्षमता मौजूद है । मस्तिष्क, नेत्र-गोलकों का फोटोग्राफी कैमरे जैसा प्रयोग करता है और पदार्थों के जो चित्र आँखों की पुतलियों के लैंस से खींचता है, वे मस्तिष्क में जमा होते हैं । इनकी प्रतिक्रिया के आधार पर मस्तिष्क के ज्ञान तन्तु जो निष्कर्ष निकालते हैं उसी का नाम दर्शन

है। आँख इसके लिए सबसे उपयुक्त माध्यम है। मस्तिष्क के रूप में दर्शन केन्द्र के साथ नेत्र गोलकों के ज्ञान तन्तुओं का सीधा और समीपवर्ती सम्बन्ध है, इसलिए आमतौर से हम नेत्रों से ही देखने का काम लेते हैं और मस्तिष्क उन्हीं के आधार पर अपनी निरीक्षण-क्रिया को गतिशील देखता है। पर ऐसा नहीं समझना चाहिए कि दृष्टि शक्ति केवल नेत्रों तक ही सीमित है। अन्य अंगों के, मस्तिष्क के साथ जुड़े हुए ज्ञान तन्तुओं को विकसित करके भी मस्तिष्क बहुत हद तक उस प्रयोजन की पूर्ति कर सकता है। समस्त विश्व का हर पदार्थ अपने साथ ताप और प्रकाश की विद्युत किरणें संजोये हुए है। वे कम्पन लहरियों के साथ इस निखिल विश्व में अपना प्रवाह फैलाती हैं। ईथर तत्त्व के द्वारा वे दूर-दूर तक जा पहुँचती हैं और यदि उन्हें ठीक तरह से पकड़ा जा सके तो जो दृश्य बहुत दूर पर अवस्थित हैं, जो घटनायें सुदूर क्षेत्रों में घटित हो रही हैं, उन्हें निकटवर्ती वस्तुओं की तरह देखा जा सकता है। इन दृश्य किरणों को पकड़ने के लिए नेत्र उपयुक्त हैं। समीपवर्ती दृश्य वही देखते हैं और दूरवर्ती दृश्य देखने के लिए तृतीय नेत्र को भ्रूमध्य में अवस्थित आज्ञा चक्र को प्रयुक्त किया जा सकता है। इतने पर भी यह नहीं समझ लेना चाहिये कि रूप तत्व का सम्बन्ध नेत्रों से ही है। अग्नि तत्त्व की प्रधानता से 'रूप' कम्पन उत्पन्न होते हैं। शरीर में अग्नि तत्त्व का प्रतिनिधित्व नेत्र करते हैं, पर ऐसा नहीं मानना चाहिए कि अग्नि तत्त्व अन्यत्र शरीर के अन्य अंगों में नहीं है, समस्त शरीर पंच तत्त्वों के गुम्फन से बना है। यदि किसी अंग का अग्नि तत्त्व अनायास ही विकसित हो जायेगा या साधनात्मक प्रयत्नों द्वारा विकसित कर लिया जाये तो नेत्रों की बहुत आवश्यकता उनके माध्यम से भी पूरी हो सकती है। इसी प्रकार अन्य ज्ञानेन्द्रियों के कार्य एक सीमा तक दूसरे अंग कर सकते हैं। स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किये गये। पवहारी बाबा प्रत्यक्षतः वायु ही ग्रहण करते थे, अन्न-जल सेवन नहीं करते थे पर शरीर के अन्य अंगों द्वारा अदृश्य जगत से सूक्ष्म आहार बराबर मिलता रहता था। इसके बिना किसी के लिए भी जीवन-धारण किये रहना असम्भव है।

इजवेस्तिया (रूस में छपने वाला समाचार-पत्र) में प्रकाशित एक समाचार के अनुसार निझानी तागिल (रूस) की रोजा नामक युवती पंक्तियों पर उंगली चला कर मामूली प्रेस में छपी पुस्तकें पढ़ लेती है। कई समाचार-पत्रों ने उसके प्रमाण सहित फोटो भी छापे हैं। आश्चर्य तो यह है कि पुस्तकों में बने हुए किसी फोटो को उँगलिया रखकर ही वह बता देती है कि वह फोटो महात्मा गाँधी की है अथवा इब्राहीम लिंकन की है। यदि वह जानती नहीं होती तो आकृति का वर्णन कर देती कि इसके इतनी बड़ी मूँछे हैं, ऐसे कान और अमुक पोशाक पहने हुए फोटो उतारी गई है।

सांप चुपचाप पड़ा होता है और अपने इस अवयव से यह जान लेता है कि किस दिशा में कहाँ पर शिकार है, बस उधर ही झपट कर उसे पकड़ लेता है। इसी तरह के तन्तुओं से चिड़ियों और कबूतरों के मस्तिष्क भी सजे होते हैं, जिससे वे हजारों मील की यात्रा का ज्ञान रिकॉर्ड करके रखते हैं। दस वर्ष बाद भी उसकी सहायता से वे अपने मूल निवास को लौट सकते हैं। मेंढक की आँख और मस्तिष्क के बीच में इस तरह के ज्ञान तन्तु होते हैं, उन्हीं से वह अपने दुश्मनों की आक्रमण करने की इच्छा तक को पहचान लेता है। (यह मनुष्य के आज्ञा चक्र भ्रूमध्य में भी एक ऐसी ही संवेदनशील शक्ति के होने का सबसे बड़ा प्रमाण हैं) और आक्रमण होने से पहले ही बच निकलता है।

इन जानकारियों के आधार पर वैज्ञानिकों ने रोजा की जाँच की। उन्होंने प्रकाश में से इन्फ्रारेड किरणें निकाला हुआ प्रकाश और उसके साथ अक्षर एक कागज पर डाले तब भी रोजा ने उन्हें पढ़ दिया। बेशक वह इस स्थिति में आकृतियाँ नहीं पहचान पाई पर वैज्ञानिकों को यह मालूम पड़ गया कि आँखें ही नहीं, शरीर के अन्य अंगों में भी दृष्टि तत्त्व हो सकते हैं। रोजा के हाथों में प्रति एक मिलीमीटर ऐसे दस तत्त्व पाये भी गये। वैज्ञानिकों ने बताया, यह सामान्य स्थिति है, हम कह नहीं सकते कि क्या शरीर में ऐसे तत्त्व और भी कहीं हैं या विकसित किये जा सकते हैं। हम इस बात को जानने की शोध अवश्य करेंगे कि प्रकाश को ग्रहण करने वाले तत्त्व उँगलियों में कैसे आ गये। यदि इस बात को ढूँढ़ निकाला गया तो ध्यान के रूप में प्रकाश-कणों को आकर्षित करने पर शरीर में अतीन्द्रिय ज्ञान (एक्सट्रा ऑर्डिनरी सेन्सपरसेप्शन) की क्षमता उत्पन्न करने की भारतीय योग प्रणाली पूर्ण विज्ञान-सम्मत हो जायेगी।

गायत्री-उपासना में भृकुटी के मध्य आज्ञा-चक्र के स्थान पर ध्यान करने का यही उद्देश्य है कि अपने भीतर की प्रकाश सत्ता को विकसित किया जा सके। यदि उसे विकसित किया जा सके तो कई दिव्य क्षमताएँ अपने भीतर जागृत हो सकती हैं। बल्ब अपने आप में प्रकाशित होता है, तो उसके प्रकाश में अन्य वस्तुएँ भी दिखाई पड़ती हैं। आकाश में जगमगाते तारे भी रात्रि के सघन अन्धकार को कम करते हैं और ऐसी स्थिति बनाते रहते हैं कि आस-पास की चीजों को किसी सीमा तक देखा जा सके। हमारे आंतरिक प्रकाश कण यदि कुछ अधिक जगमगाने लगें तो संसार में अन्यत्र घटित हो रही घटनाओं को देखा-समझा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त भी आज्ञा-चक्र के जाग्रत हो जाने पर अनेकों दिव्य लाभ हैं। इसके द्वारा कई शक्तियाँ और दैवी विभूतियाँ अर्जित की जा सकती हैं। गायत्री साधना अपने साधक को उन सभी दिव्य लाभों के साथ आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर करती है।

सर्वतोमुखी उपासना की रीति-नीति

आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करने के लिए, उपासना के लिए गायत्री मन्त्र को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया गया है। पर एकाकी उपासना ही पर्याप्त नहीं हैं, इसके साथ साधना का क्रम भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। अतएव प्रत्येक गायत्री-साधक को साधनात्मक जीवन जीना होता है। उपासना का अपना लाभ तो हैं पर समग्रता तो साधना को अपनाने से ही आती है। गायत्री-उपासना के जो चमत्कारी लाभ बताये गये हैं, उनकी प्राप्ति के लिए साधना की पृष्ठभूमि का होना भी आवश्यक है।

पांतजलि योग सूत्र के द्वितीय अध्याय के प्रथम सूत्र में साधना के तीन प्रमुख आधार बताये गये हैं। तपः स्वाध्यायेश्वर प्राणिधानानि क्रियायोगः। क्रिया योग के, साधना के तीन सूत्र हैं–तप, स्वाध्याय और ईश्वर शरणागति। इस सूत्र में जो तीन विभिन्न क्रियायें बताई गई हैं, उनका उद्देश्य मानव स्वभाव के तीनों पक्षों–इच्छा, ज्ञान और प्रेम-कर्म, ज्ञान और भक्ति को विकसित करना है। गायत्री मन्त्र के तीन चरणों में कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोग का दर्शन छिपा पड़ा है। जिस प्रकार प्रकाश, जल एवं वायु को पाकर पौधे उगते, पुष्पित एवं फलित होते हैं, उसी प्रकार उपासना भी इन तीनों को अवलम्बन पाकर चमत्कारी परिणाम दिखाती है। गायत्री उपासक को तप, स्वाध्याय एवं समर्पण की तीनों क्रियायें अपनानी होती हैं।

जीवन की गम्भीर समस्याओं का गहराई से अध्ययन ही स्वाध्याय है। पुस्तकों का अध्ययन तो इसका छोटा एवं स्थूल भाग है। अधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है–आत्म समीक्षा, स्व का अध्ययन। हम शरीर हैं या और भी कुछ ? शरीर से अलग यदि हमारी सत्ता है तो क्या उसके विकास के लिए उसे समझने के लिए प्रयत्न चल रहे हैं ? इन प्रश्नों पर विचार एवं चिन्तन करना ही वास्तविक स्वाध्याय है। हम विराट के अंश हैं, तो क्या दिव्य बनने, देवत्व धारण करने की दिशा में बढ़ रहे हैं। हमारी प्रवृत्तियाँ, गतिविधियाँ आत्म गरिमा के प्रतिकूल तो नहीं जा रही हैं ? पिछला जीवन कैसा रहा ? क्या सुर दुर्लभ इस मानव शरीर का सदुपयोग हुआ ? भावी जीवन की रीति-नीति क्या होनी चाहिए ? अब तक की हुई त्रुटियों के प्रायश्चित्त के लिए क्या किया जा रहा है ? इन सभी प्रश्नों पर गहराई से विचार करना ही स्वाध्याय है। महापुरुषों का सत्संग एवं अच्छी पुस्तकों का अध्ययन भी इसी के अन्तर्गत आता है, पर वर्तमान समय में सत्संग के लिए सत्पुरुषों का अभाव है। जो हैं भी, उनके पास इतना समय नहीं है कि अनेकानेक समस्याओं की चर्चा की जा सके। ऐसी स्थिति में सत्संग का प्रयोजन पुस्तकें पूरा कर सकती हैं। महापुरुषों के विचार पुस्तकों में भरे पड़े हैं। उनके अध्ययन, मनन, चिन्तन द्वारा आत्म-समीक्षा एवं आत्म-विकास के लिए मार्गदर्शन प्राप्त किया जा सकता है।

गायत्री को वेदमाता कहा गया है। वेद कहते हैं ज्ञान को। गायत्री उपासक ज्ञान का उपासक होता है। उसे ज्ञान संचय के लिए स्वाध्यायशील होना चाहिए। ज्ञानयोग की वैचारिक पृष्ठभूमि यहीं से बनती है। स्वाध्यायशील साधक ही साधना मार्ग में आये अवरोधों तथा जीवन की अनेकानेक समस्याओं से जूझने में समर्थ होता है। भटकाव का डर नहीं रहता। ज्ञान के प्रकाश में सत्य-असत्य का, उपयोगी-अनुपयोगी का चयन

करने में समर्थ होता है । स्व के सतत अध्ययन-मनन द्वारा वह आत्मज्ञान की पृष्ठभूमि तैयार करता है । भ्रान्तियों का निवारण और अपने शाश्वत स्वरूप का बोध होता है ।

गायत्री उपासना के साथ जुड़ा दूसरा अनिवार्य तत्त्व तप का है । सामान्य अर्थों में इसे संयम समझा जाता है । साधक को संयमी होना चाहिए । इन्द्रिय निग्रह एवं मनोनिग्रह इसके अन्तर्गत आता है । तपः संस्कृत का शब्द है जिसका अर्थ है–उच्च तापमान तक गरम करना । अशुद्ध वस्तुओं को तपा कर, गला कर शुद्ध किया जाता है । सोना खदान से अशुद्ध रूप में निकलता है । उसे उच्च तापमान पर गरम किया जाता है तब वह शुद्ध एवं परिमार्जित होता है । उसकी चमक तीव्रताप में ही निखरती है । मनुष्य भी मूलरूप से अनगढ़ है । पंचतत्त्वों से बनी काया में उसके जड़वत् संस्कार विद्यमान हैं, जन्म-जन्मांतरों के पशुवत संस्कार भी चेतना के साथ जुड़े हुए हैं । उसे दूर करने, चेतना को परिष्कृत करने के लिए तप की गर्मी आवश्यक है । उपवास, अस्वाद, तितिक्षा, मौन जैसी तप की क्रियायें इसी आवश्यकता की पूर्ति करती हैं । संयमित एवं तपस्वी जीवन में ही आद्यशक्ति गायत्री की शक्ति-धारायें अवतरित होती हैं । शक्ति अवतरण के लिए तप की प्रक्रिया अति आवश्यक है । तप से शक्ति प्राप्त करने के उपाख्यानों से सारे पौराणिक ग्रन्थ भरे पड़े हैं । उनकी यथार्थता में थोड़ा भी सन्देह नहीं किया जा सकता है । उपासना से मन्त्र द्वारा उत्सर्जित शक्ति की धारणा तप के माध्यम से ही सम्भव होती है । गायत्री मन्त्र के जप से प्रचण्ड ऊर्जा निकलती है पर संयम के अभाव से साधक में ठहर नहीं पाती । असंयमित इन्द्रियों से होकर बाहर निकल जाती है ।

गायत्री-उपासना के लिए सबसे आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण तत्त्व है–साधक की भक्ति-भावना । इसके बिना उपासना के सारे कृत्य अधूरे एवं अपूर्ण सिद्ध होते हैं । उपासना का वह लाभ नहीं मिल पाता जो कि शास्त्रों में वर्णित है । इष्ट के साथ तादात्म्य की व्याकुलता जितनी अधिक होगी साधक को उतनी ही अधिक सफलता मिलेगी । समर्पण का-एकत्व का अद्वैत का भाव स्थापित करना होता है । इसे ही भक्तियोग कहा गया है । अन्तः की विह्वलता-आकुलता ही इष्ट से तादात्म्य कराती है । इष्ट के प्रति समर्पण की महत्ता का प्रतिपादन गीता भी करती है ।

समर्पण का स्वरूप क्या हो ? इसकी व्याख्या नारद भक्ति सूत्र के तेरहवें श्लोक में की गई हैं ।

यः कर्मफलं त्यजति, कर्माणि सन्यस्यति
ततो निर्द्वन्दो भवति । (४८)

"जो कर्मफल का त्याग करता है, जो समस्त कर्मों को ईश्वर को समर्पित कर देता है, वह कुछ त्याग कर निर्द्वन्द्व हो जाता है ।"

कर्म के बिना तो एक क्षण भी नहीं रहा जा सकता है । यहाँ कर्मों के त्याग की बात नहीं कही गई है । वरन् कर्म ऐसे किए जायँ कि बन्धन के कारण न बनें, इस बात की विवेचना हुई है । प्रत्येक कर्म से नयी प्रवृत्तियाँ कामनायें एवं वासनायें उत्पन्न होती हैं । परमात्मा को समर्पित कर देने तथा उसकी इच्छापूर्ति के लिए कर्म करते रहने से साधक बन्धनों से नहीं बंधता । इस प्रकार भक्ति-भावना समर्पण, कर्मो से पलायन की नहीं सच्चे कर्मयोग की प्रेरणा देती है ।

गायत्री-उपासना में परमात्मा को मातृशक्ति के रूप में चित्रित किया गया है । जीवन के भावनात्मक रिश्तों में माँ का स्थान सर्वोपरि है । उसके ही स्नेह संवदेनाओं का पोषण पाकर मनुष्य मानवोचित गुणों से सम्पन्न बनता है । इस तथ्य को तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने समझा और उन्होंने उस महाशक्ति से तादात्म्य जोड़ने के लिए प्रतीक अवलम्बन लिया । बच्चे का समर्पण भाव माँ को बड़े से बड़े त्याग-बलिदान के लिए बाध्य करता है । आद्यशक्ति के समक्ष भी जब हम बाल स्वभाव, निश्छल हृदय से अपनी सत्ता को समर्पित कर देते हैं, उसे करुण स्वर में पुकारते हैं, वह महाशक्ति अपने दिव्य अनुदानों के साथ प्रकट होती और अपने अनुग्रहों से सिक्त करती है । भाव संवेदनाओं का उभार जितना ही सघन होगा, पवित्र होगा महाशक्ति की निकटता का उतना ही अधिक लाभ मिल सकेगा ।

गायत्री उपासना के साथ साधना के ये तीन चरण स्वाध्याय, तप एवं शरणागति के भी बढ़ाने होंगे । वायु, जल और प्रकाश का सम्पर्क पाकर बीज उगते, फूलते एवं फलते हैं । गायत्री उपासना रूपी बीज भी स्वाध्याय, तप एवं समर्पण-भावना का अवलम्बन पाकर पुष्पित एवं पल्लवित होते तथा फल देते हैं । गायत्री उपासना की इस सर्वांगीण पद्धति को अपनाया जा सके तो इतना कुछ प्राप्त किया जा सकता है, जिसे असामान्य,

अद्‌भुत एवं चमत्कारी कहा जाता है। गायत्री मन्त्र के तीनों पदों में सन्निहित शिक्षायें भी साधना के इन तीनों पक्षों को अपनाने की प्रेरणा देती हैं।

उपासना की उपेक्षा न करें : उसे समग्र रूप में अपनायें

आत्मोत्कर्ष के लिए उस महाशक्ति के साथ घनिष्ठता बनाने की आवश्यकता है, जिसमें अनन्त शक्तियों और विभूतियों के भण्डार भरे पड़े हैं। बिजलीघर के साथ घर के बल्ब-पंखों का सम्बन्ध जोड़ने वाले तारों का फिटिंग सही होते ही वे ठीक तरह अपना काम कर पाते हैं। परमात्मा के साथ आत्मा का सम्बन्ध जितना निकटवर्ती एवं सुचारु होगा उसी अनुपात से पारस्परिक आदान-प्रदान का सिलसिला चलेगा और उससे छोटे पक्ष को विशेष लाभ होगा। दो तालाबों के बीच नाली खोदकर उनका सम्बन्ध बना दिया जाए तो निचले तालाब में ऊँचे तालाब का पानी दौड़ने लगेगा और देखते-देखते दोनों की ऊपरी सतह समान हो जायेगी। पेड़ से लिपट कर बेल कितनी ऊँची चढ़ जाती है, इसे सभी जानते हैं। यदि उसे वैसा सुयोग न मिला होता अथवा वैसा साहस न किया होता तो वह अपनी पतली कमर के कारण मात्र जमीन पर फैल भले ही जाती पर ऊपर चढ़ नहीं सकती थी। पोले बांस का निरर्थक समझा जाने वाला टुकड़ा जब वादक के हाथों के साथ तादात्म्य स्थापित करता है तो बांसुरी-वादन का ऐसा आनन्द आता है, जिसे सुनकर सांप लहराने और हिरन मंत्रमुग्ध होने लगते हैं। पतले कागज के टुकड़े से बनी पंतग आकाश को तभी चूमती है जब उसकी डोर का सिरा किसी उड़ाने वाले के हाथ में रहता हैं। ये सम्बन्ध शिथिल पड़ने या टूटने पर सारा खेल खत्म हो जाता है और पतंग जमीन पर आ गिरती हैं। यह उदाहरण यह बताते हैं कि यदि आत्मा को परमात्मा के साथ सघनतापूर्वक जुड़ जाने का अवसर मिल सके तो उसकी स्थिति सामान्य नहीं रहती है। तब उसे नर पामरों जैसा जीवन व्यतीत नहीं करना पड़ता। वरन् ऐसे मानव देखते-देखते कहीं से कहीं जा पहुँचते हैं। इतिहास-पुराण ऐसे देव मानवों की चर्चा से भरे पड़े हैं। जिन्होंने अपने अन्तराल को निकृष्टता से विरत करके ईश्वरीय महानता के साथ जोड़ा और देखते-देखते कुछ से कुछ बन गये।

उपासना को आध्यात्मिक प्रगति का आवश्यक एवं अनिवार्य अंग माना गया है। उसके बिना यह सम्बन्ध जुड़ता ही नहीं, जिसके कारण छोटे-छोटे उपकरण बिजलीघरों के साथ तार जोड़ लेने पर अपनी महत्त्वपूर्ण हलचलें दिखा सकने में समर्थ होते हैं। घर में हीटर, कूलर, रेफ्रीजरेटर, रेडियो, टेलीविजन, टेलीफोन आदि कितने ही सुविधाजनक उपकरण क्यों न लगे हों पर उनका महत्त्व तभी है जब उनके तार बिजलीघर के साथ जुड़कर शक्ति भण्डार से अपने लिए उपयुक्त क्षमता प्राप्त करते रहने का सुयोग बिठा लेते हों। उपासना का तत्त्व ज्ञान यही है। उसका शब्दार्थ है–उप + आसन, अर्थात् अति निकट बैठना। परमात्मा और आत्मा को निकटतम लाने के लिए ही उपासना की जाती है। विशिष्ट शक्ति के आदान-प्रदान का सिलसिला इसी प्रकार चलता है।

उपासना के दो पक्ष हैं एक कर्मकाण्ड, दूसरा तादात्म्य। दोनों शरीर एवं प्राण की तरह अन्योन्याश्रित एवं परस्पर पूरक हैं। एक के बिना दूसरे को चमत्कार प्रदर्शित करने का अवसर ही नहीं मिलता। बिजली के दोनों तार जब मिलते हैं तभी करेन्ट चलता है। अलग-अलग रहें तो कुछ बात बनेगी ही नहीं। दोनों पहिये धुरी से जुड़े हों और समान रूप से गतिशील हों, तभी गाड़ी आगे लुढ़कती हैं। लम्बी यात्राएँ दोनों पैरों के सहारे ही संभव होती हैं, भले ही एक के कट जाने पर उसकी पूर्ति लकड़ी के पैर से ही क्यों न की जा रही हो। दोनों हाथ से ताली बजाने की उक्ति से सभी परिचित हैं। सन्तानोत्पादन में नर और नारी दोनों का संयोग चाहिए।

ठीक इसी प्रकार उपासना का शास्त्र प्रतिपादित और आप्तजनों द्वारा अनुमोदित माहात्म्य तभी चरितार्थ होता है, जब उसका कर्मकाण्ड वाला प्रत्यक्ष और तादात्म्य वाला परोक्ष पक्ष समान रूप से संयुक्त सक्रिय होते हैं। जप, ध्यान, प्राणायाम के उपासनात्मक कर्मकाण्डों का स्वरूप सभी को विदित है। जिन्हें उस जानकारी में कुछ कमी हो वे अपनी स्थिति के अनुरूप किसी अनुभवी मार्गदर्शक से परामर्श अथवा प्रामाणिक ग्रन्थ का अवलोकन करके उसका समाधान निर्धारण कर सकते हैं। बड़ी और महत्त्वपूर्ण बात 'तादात्म्य' है। उसे जीवन सत्ता में प्राण का स्थान मिला है। कर्मकाण्ड तो काय कलेवर की तरह उपकरण ही कहे जाते हैं। प्रहार तो तलवार ही करती है। वस्तुतः युद्ध मोर्चे को जिताने में वह

लौह खण्ड उतना चमत्कार नहीं दिखाता जितना कि प्रत्यक्ष न दीख पड़ने वाला पराक्रम, साहस । ठीक इसी प्रकार उपासना के कर्मकाण्ड पक्ष का तलवार जैसा चमत्कारी प्रतिफल देखना हो तो उसके पीछे "तादात्म्य" का भाव समर्पण नियोजित किये बिना काम चलेगा ही नहीं ।

उपासनात्मक कर्मकाण्डों में विधि-विधान का स्वरूप प्रज्ञा परिजनों में से सभी जानते हैं । स्थान, पूजा-उपकरण, शरीर-वस्त्र आदि की शुद्धि के अतिरिक्त मन, बुद्धि और अन्तःकरण की शुद्धि तथा इन्द्रियों-अवयवों को पवित्र रहने की प्रेरणा देने के लिए आचमन-न्यास आदि किये जाते हैं । पवित्रता के प्रतीक जन और प्रखरता के प्रतिनिधि दीपक या किसी अन्य विकल्प का अग्नि स्थापन किया जाता है । समझा जाना चाहिए कि आत्मिक प्रगति के लिए सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि सज्जनता परक सद्गुणों की जितनी आवश्यकता है, ठीक उतना ही संयम, साहस, पराक्रम एवं संघर्ष के रूप में अपनाई जाने वाली तपश्चर्या का भी महत्त्व है । पवित्रता और प्रखरता का समन्वय ही पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचता है । मात्र संत सज्जन बने रहने और पौरुष को त्याग कर बैठने पर तो कायरों और दीन-दुर्बलों जैसे दयनीय स्थिति बन जाती है । मध्यकाल की भक्तचर्या ऐसे ही अधूरेपन से ग्रसित रहने के कारण उपहासास्पद बनती चली गई है । कर्मकाण्डों के विधि-विधान तादात्म्य की चेतना उत्पन्न करने एवं प्रेरणा देने के लिए ही विनिर्मित हुए है ।

तादात्म्य अर्थात् भक्त और इष्ट की अन्तःस्थिति का समन्वय-एकीकरण । दूसरे शब्दों में ईश्वरीय अनुशासन के अनुरूप जीवनचर्या का निर्धारण । परब्रह्म तो औचित्य है पर उपासना जिस परमात्मा की की जाती है वह आत्मा का ही परिष्कृत रूप है । वेदान्त दर्शन में उसे सोऽहम् शिवोऽहम्-तत्त्वमसि-अयमात्मा ब्रह्म-आदि शब्दों में अन्तःचेतना के उच्चस्तरीय विशिष्टताओं से भरे-पूरे उत्कृष्टताओं के समुच्चय को ही परमात्मा कहा गया है, उसके साथ मिलन का, तादात्म्य का स्वरूप तभी बनता है जब दोनों के मध्य एकता एकात्म स्थापित हो । इसके लिए साधक अपने आपको कठपुतली की स्थिति में रखता है और अपने अवयवों में बँधे धागों को बाजीगर के हाथों सौंप देता है । दर्शकों को मंत्र मुग्ध कर देने वाला खेल इस स्थापना के बिना बनता ही नहीं । आत्मा को परमात्मा की उच्चस्तरीय प्रेरणाएँ अपनाने और तदनुरूप जीवनचर्या बनाने पर ही उपासना का समग्र लाभ मिलता है ।

लकड़ी और अग्नि की समीपता का प्रतिफल प्रत्यक्ष है । गीली लकड़ी आग के समीप पहुँचते-पहुँचते अपनी नमी गँवाती और उस ऊर्जा से अनुप्राणित होती चली जाती है । जब वह अति निकट पहुँचती है तो फिर आग और लकड़ी एक स्वरूप, एक जैसे हो जाते हैं । साधक को भी ऐसा ही भाव-समर्पण करके ईश्वरीय अनुशासन के साथ अपने आपको एक रूप बनाना पड़ता है । चंदन के समीप वाली झाड़ियों का सुगन्धित हो जाना, स्वांति बूँद के संयोग से सीप में मोती पैदा होना, पारस छूकर लोहे का स्वर्ण बनना, नाले का गंगा में मिलकर गंगा जल बनना, पानी का दूध में मिलकर उसी भाव बिकना, बूंद का समुद्र में मिलकर सुविस्तृत हो जाना जैसे अगणित उदाहरण हैं, जिनके आधार पर यह जाना जा सकता है कि भक्त और भगवान की एकता उपासना का स्तर क्या होना चाहिए । सृष्टि के आदि से अद्यावधि सच्चे भक्तों में से प्रत्येक को ईश्वर के शरणागत होना पड़ा है आत्म-समर्पण का साहस जुटाना पड़ता है । इसका व्यावहारिक स्वरूप है ईश्वरीय अनुशासन को उत्कृष्ट चिन्तन एवं आदर्श कर्तृत्व को अपनी विचारण एवं कार्य-पद्धति से अनुप्राणित करना । जो इस तत्त्व दर्शन को जानते, मानते और व्यवहार में उतारते रहे हैं उन सच्चे ईश्वर भक्तों को सुनिश्चित रूप से वे लाभ मिले हैं जिन्हें उपासना की फलश्रुतियों के रूप में कहा जाता रहा है । पत्नी-पति को आत्म-समर्पण करती है–अर्थात् उसकी मर्जी पर चलने के लिए अपनी मनोभूमि एवं क्रिया-पद्धति को मोड़ती चली जाती है । इस आत्म-समर्पण के बदले ही वह पति के वंश, गोत्र, यश, वैभव की उत्तराधिकारिणी ही नहीं अर्धांगनी भी बन जाती है । समर्पण विहीन कर्मकाण्ड तो एक प्रकार का वेश्या व्यवसाय, चिह्न पूजा जैसा निर्जीव ढकोसला ही माना जायेगा । भक्त भगवान के अनुरूप बनता चला जाता है और अन्ततः नर-नारायण, पुरुष-पुरुषोत्तम, भक्त-भगवान की एकरूपता का स्वयं प्रमाण बनता है । देवात्माओं में परमात्मा स्तर की क्षमताएँ ही उत्पन्न हो जाती हैं । इन्हीं को ऋद्धि-सिद्धियाँ कहते हैं ।

प्रज्ञा परिजनों को मूर्धन्य भूमिका निभाने के लिए आत्म-शक्ति की प्राण ऊर्जा का बड़ी मात्रा में संचय करना होगा । यह परमात्मा से ही उसे मिलेगी । अस्तु ! उसे उपासना के लिए सच्चे मन से साहस जुटाना और प्रयास

करना चाहिए । जीवन चर्या में उसे निष्ठापूर्वक सुनिश्चित एवं मूर्धन्य स्थान देना चाहिए । कर्मकाण्ड के लिए जितना भी समय निकाला जाये उसे नियमित और निश्चित होना चाहिए । व्यायाम, औषधि सेवन, अध्ययन आदि के लिए समय भी निर्धारित किये जाते हैं और उसकी मात्रा का सीमा बन्धन भी रखा जाता है । यदि इन प्रसंगों में मन की मौज बरती जाये, समय और मात्रा की उपेक्षा करके जैसा मन वैसा करने की स्वेच्छाचारिता अपनाई जाये तो पहलवान-विद्वान बनने और निरोग होने की इच्छा पूरी हो ही नहीं सकेगी । हर महत्त्वपूर्ण कार्य में नियमितता को प्रमुखता दी जाती है । जो किया जाता है उसमें समूचे मनोयोग का नियोजन किया जाता है । उपासना के संदर्भ में भी वही किया जाना चाहिए । अस्तंता बनी रहेगी तो अभीष्ट उद्देश्य की प्राप्ति अति कठिन हो जायेगी ।

युग सन्धि की अवधि में सभी प्रज्ञा परिजनों को न्यूनतम तीन माला गायत्री-जप प्रातः काल नित्यकर्म से निवृत्त होकर करने के लिए कहा गया है । जप के साथ प्रभात कालीन सूर्य का दर्शन और उस सविता देवता की स्वर्णिम किरणों का स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में प्रवेश कराने का ध्यान भी करते चलना चाहिए । शरीर, स्थान और उपकरणों की स्वच्छता के अतिरिक्त, मन, बुद्धि, चित्त, की स्वच्छता के लिए आचमन, प्राणायाम और न्यास कृत्य करने का विधान है । सामान्य प्राणायाम तो रेचक, कुम्भक, पूरक द्वारा ही सम्पन्न हो जाता है, पर उसमें विशेषता लानी हो तो उसे प्राणाकर्षण स्तर तक विकसित कर लेना चाहिए । इन पंक्तियों में उसे संक्षिप्त ही लिखा जा रहा है, क्योंकि अधिकांश परिजन उसे पहले से ही जानते हैं । जो नहीं जानते उनके लिए थोड़ी सी पंक्तियों के निर्देशन से काम नहीं चलेगा । उन्हें इसे समीपवर्ती किसी निष्णात से 'गायत्री महाविज्ञान' से जानना होगा या शान्ति-कुञ्ज पत्र-व्यवहार करके अपनी वर्तमान मनःस्थिति के अनुरूप साधनाक्रम का निर्धारण करना होगा । स्पष्ट है कि साधक के स्तर और प्रवाह को ध्यान में रखते हुए साधनाक्रम भी चिकित्सा उपचार की तरह आवश्यकतानुसार समय-समय पर बदलने होते हैं । शान्ति-कुंज को गायत्री तीर्थ के रूप में इन्हीं दिनों इसी प्रयोजन के लिए परिणित किया गया है, ताकि हर साधक की स्थिति एवं आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए उसके लिए विशेष निर्धारण किये जा सकें और जो बताया गया है उसका प्रारम्भिक अभ्यास प्रत्यक्ष मार्गदर्शन में ही सही कर लेना सम्भव हो सके ।

सामान्यतया हर प्रज्ञा परिजन को युग सन्धि की वेला में अपनी उपासना को नैष्ठिक, नियमित एवं समग्र बना लेना चाहिए । तीन माला का गायत्री-जप, गुरुवार को जिस स्तर का बन पड़े उपवास, ब्रह्मचर्य, महीने में एक बार अग्नि होम का न्यूनतम साधना क्रम तो चलाना ही चाहिए, इसके अतिरिक्त अपने भावना क्षेत्र को उत्कृष्टताओं के समुच्चय-परमात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए । भावना, विचारणा और क्रिया-प्रक्रिया में जितनी अधिक उत्कृष्टता आदर्शवादिता का समावेश संभव हो सके, उसके लिए उपाय खोजने और प्रयत्न करने में सतत संलग्न रहना चाहिए । भजन कृत्य और तादात्म्य की उभयपक्षीय प्रक्रिया उपासना को समग्र बनाती है और अपना प्रत्यक्ष प्रतिफल हाथों हाथ प्रस्तुत करती है ।

युग संन्धि के बीस वर्षों में प्रत्येक प्रज्ञा परिजन को हर साल अपना उपासना क्रम निर्धारित करना चाहिए और आवश्यकतानुसार अगले वर्ष के लिए कोई परिर्तवन करना हो तो करते चलना चाहिए । इस निर्धारण में बसन्त पर्व को एक नियत समय माना जा सकता है । इन दिनों जिनकी जो साधना चल रही हो उसका विवरण अगले दिनों शन्ति-कुञ्ज भेजते हुए आगामी बसन्त पर्व से कुछ हेर-फेर आवश्यक हो तो उसका निर्धारण समय से पूर्व ही कर लेना चाहिए । इस संदर्भ में शान्ति-कुञ्ज से परामर्श करके निर्धारण करना एकाकी निर्णय की तुलना में कहीं अधिक श्रेयस्कर रहेगा ।

जीवन सार्थकता की साधना

उन साधकों को जो गायत्री को अपना इष्ट उपास्य मानते हैं, यह जानना ही चाहिए कि इस संसार की सर्वोपरि सर्वोत्तम विभूति सद्बुद्धि एवं सत्प्रवृत्ति ही है, इसे प्राप्त किये बिना कोई व्यक्ति संसार में अब तक न तो महापुरुष बन सका है और न आगे बन सकेगा । न किसी का जीवन सफल हुआ है और न आगे हो सकेगा । जिसे यह तत्त्व मिल गया उसका जीवन सब प्रकार सार्थक बना और जिसे उस लाभ से वंचित रहना पड़ा, वह

विक्षोभ की आग में निरन्तर जलता-भुनता रहा और रोते-कलपते यहाँ से विदा हुआ । इसलिए सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि हमें किसी प्रकार सद्‌बुद्धि प्राप्त हो, सत्प्रवृत्तियों से मनोभूमि को परिपूर्ण बनाया जाये । इस आस्था को संकल्प पूर्ण अन्तःकरण में दृढ़ता-पूर्वक जमा लेने का नाम ही गायत्री-भक्ति है । जिसने इस तथ्य को सच्चे हृदय से स्वीकार कर लिया वही गायत्री उपासक है ।

कल्पवृक्ष की इसलिए प्रशंसा की जाती है कि उसके नीचे बैठकर की हुई कामना पूर्ण होती है । पारस का महत्त्व इसलिए माना जाता है कि उसे छूने से घटिया दर्जे की लौह धातु सोना बन जाती है । अमृत का गौरव इसलिए है कि उसे पीने वाला जरा मृत्यु से छूटकर अमरता का सुख प्राप्त करता है । यह तीनों अद्‌भुत पदार्थ किम्बदन्तियों के रूप में मौजूद हैं, पर इनका लाभ जिसने प्राप्त किया हो ऐसा मनुष्य अभी तक देखा नहीं गया । इसकी तुलना में सद्‌बुद्धि एवं सत्प्रवृत्तियों का गायत्री प्रतिपादित तथ्य अधिक वास्तविक है, जिसे प्राप्त करने से उपर्युक्त तीनों किम्बदन्तियों का लाभ प्रत्यक्ष ही मिल सकता है । अन्तरात्मा में यदि सत्प्रेरणा की दिव्य ज्योति जलने लगे तो उसके प्रकाश में अंधकार जैसा काला कलूटा जीवन सहज ही प्रकाशमान हो सकता है । सुख और शान्ति की समस्त कामनाएँ पूर्ण हो सकती हैं । नर पशु की तरह दिन काटने वाला व्यक्ति पुरुष से पुरुषोत्तम, नर से नारायण बन सकता है । अपनी सुगन्ध को विश्व-मानव के लिए बखेरता हुआ इतिहास के पृष्ठों पर अमर बने रहने का गौरव प्राप्त कर सकता है । गायत्री में प्रतिपादित सत् प्रेरणा, सद्‌बुद्धि, सद्‌भावना का तनिक भी लाभ जिसे मिला वह सब प्रकार धन्य हो जाता है । इसी तत्त्व को ध्यान में रखते हुए गायत्री को प्राण संजीवनी कहा गया है । गय कहते हैं प्राण को तथा 'त्री' कहते हैं त्राण करने वाली को । गायत्री का सच्चा उपासक अपने प्राण का त्राण ही करता है– भवबन्धनों से मुक्ति प्राप्त करता हुआ, आनंद का रसास्वादन करते हुए जीवन को सब प्रकार धन्य ही बनाता है ।

गायत्री सद्‌बुद्धि की उपासना का मंत्र है । 'धियो योनः प्रचोदयात' पद में ईश्वर से एक ही प्रार्थना की गई है कि आप हमारी बुद्धि एवं प्रवृत्ति को सन्मार्ग पर लगा दीजिए । ईश्वर के पास मनुष्य शरीर प्रदान करने के बाद एक ही महत्त्वपूर्ण उपहार जीव को देने के लिए यही बचा भी है । यदि यह मिल जाये तो नर से नारायण बनते देर नहीं लगती । मनुष्य शरीर धारी जीव की आन्तरात्मा जब परमात्मा को पुकारती है कि हे परम पिता, आधा आनंद तूने दिया है तो शेष आधे को भी प्रदान कर और हमें पूर्णता का आनंद लेने दे । हमको मनुष्य शरीर ही नहीं मानवीय प्रवृत्ति भी चाहिए । आत्मा की इसी गुहार को वेद के ऋषि ने छन्दबद्ध कर दिया है और उसका गायत्री ऐसा नामकरण किया है ।

गायत्री को इष्ट मानने का अर्थ है–सत्य प्रवृत्ति की सर्वोत्कृष्टता पर आस्था । गायत्री उपासना का अर्थ है–सत्प्रेरणा को इतनी प्रबल बनाना, जिसके कारण सन्मार्ग पर चले बिना रहा ही न जा सके । गायत्री उपासना का लक्ष्य यही है । यह प्रयोजन जिसका जितनी मात्रा में जब सफल हो रहा हो, तब समझना चाहिए कि हमें उतनी मात्रा से सिद्धि प्राप्त हो गई । इस सिद्धि का प्रतिफल, भौतिक जीवन में सुख और आध्यात्मिक जीवन में शान्ति बन कर सब ओर बिखरे-बिखरे पड़े दीखता रहता है ।

यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि मनुष्य का आन्तरिक स्तर जैसा कुछ भी होगा बाह्य परिस्थितियाँ बिल्कुल उसी के उपयुक्त सामने प्रस्तुत रहेंगी । क्रोधी, आलसी, उतावले, असंयमी, अदूरदर्शी मनुष्य अपने इन्हीं दुर्गुणों के कारण पग-पग पर कठिनाइयों और आपत्तियों के पहाड़ सामने खड़े पाते हैं । पर जिनकी अन्तःभूमि स्नेह, सौजन्य, उदारता, सहिष्णुता, श्रमशीलता, उत्साह एवं संयम को दृढ़तापूर्वक अपने भीतर धारण कर चुकी होगी उसके लिए शत्रु भी मित्र बने बिना न रह सकेंगे । प्रगति के अवरुद्ध मार्ग भी उनके लिए खुलेंगे ओर आपत्तियों एवं अड़चनों के समाधान का कोई मार्ग सहज ही निकलेगा, इस तथ्य को जिसने समझ लिया उसने जिन्दगी जीने की विद्या को जान लिया, यही मानना चाहिए । गायत्री उपासना का तात्पर्य साधक को इसी रहस्य से अवगत करना है ।

चौबीस अक्षर के इस छोटे से मंत्र में जीवन का, सफलता का रहस्य कूट-कूट कर भरा हुआ है । अध्यात्म विद्या का सार भी इसी को समझना चाहिए । योग्यताएँ, विशेषताएँ, क्षमताएँ, सम्पदाएँ एवं विभूतियाँ

कितनी ही अधिक क्यों न हो, यदि भावना स्तर का परिष्कृत निर्माण नहीं हुआ है तो मनुष्य को हर घड़ी किसी न किसी बहाने विक्षोभ एवं असंतोष की आग में ही जलते रहना पड़ेगा। इसके विपरीत यदि गुण कर्म स्वभाव की दृष्टि से किसी का व्यक्तित्व सुविकसित है तो उसे अभाव और कठिनाइयों के बीच रहते हुए भी हँसते हुए दिन बिताने और संतोषपूर्वक रात काटने में कोई अड़चन अनुभव न होगी। गायत्री का प्रत्येक अक्षर इसी शिक्षा से ओत-प्रोत है और जो भी व्यक्ति भावनापूवर्क उच्च-स्तरीय गायत्री साधना के लिए तत्पर होता है उसे अपने इस इष्ट-मंत्र का स्वरूप समझने के साथ-साथ उपर्युक्त तथ्य एवं रहस्य को भी हृदयंगम करना पड़ता है। जिसने इस तत्त्वज्ञान को समझा और जीवन में उतारा उसका सारा वातावरण ही बदल गया। यह परिवर्तन जहाँ भी संभव हुआ वहाँ निश्चित रूप में आनंद एवं उल्लास का स्रोत फूटा। सच्चे गायत्री-उपासक का जीवन सब प्रकार धन्य हुए बिना रह ही नहीं सकता।

वेद-मंत्रों की अद्भुत रचना ज्ञान और विज्ञान से परिपूर्ण है। मंत्रों का साधारण अर्थ शिखा एवं ज्ञान के लिए प्रयुक्त होता है। हर वेद मंत्र में ऐसी महत्त्वपूर्ण शिक्षाएँ भरी पड़ी हैं, जिनके द्वारा मानव जीवन प्रगति की ओर सहज ही अग्रसर हो सकता है। इसके अतिरिक्त इन मंत्रों में वैज्ञानिक रहस्य भी छिपा पड़ा है। उनमें शब्दों का चयन स्वर विज्ञान के मर्मज्ञ ऋषियों ने इस ढंग से किया है कि उनके उच्चारण मात्र से शरीर और मन में विशेष प्रकार के ध्वनि-कम्पन तरंगित होने लगते हैं और वे तरंगें मनुष्य के अन्तर्मन में वैसी प्रेरणाएँ प्रवाहित करती हैं, जिससे व्यक्ति उसी दिशा में सोचने, करने, बढ़ने और टलने के लिए अनायास ही उत्तेजित होता है। वेद-मंत्रों में सन्मार्ग दर्शन कराने वाला जितना ज्ञान भरा पड़ा है, उससे कहीं अधिक शक्तिशाली वह विज्ञान है, जिसके माध्यम से अन्तःप्रदेश में समस्त सूक्ष्म चित्र विकृत होकर उन्हीं मधुर ध्वनि-तंरगों का प्रादुर्भाव करते हैं, जिनके लिए वह मंत्र बना था। गायत्री मंत्र को वेद का बीज मंत्र कहा जाता है। उसी के चार चरणों की व्याख्या स्वरूप चारों वेद बने हैं। वेदों में जो कुछ भी ज्ञान-विज्ञान है वह बीज रूप में गायत्री में मौजूद है। इसलिए उसकी गरिमा चारों वेदों के समतुल्य ही समझी जाती है।

गायत्री का उच्चारण, पाठ एवं जप करने का एक अत्यन्त ही शक्तिशाली सूक्ष्म प्रभाव होता है। उस प्रभाव से प्रभावित मनुष्य उसी मार्ग पर चलने के लिए विवश होता है जो मंत्र का मूल प्रयोजन था। गायत्री का मूल उद्देश्य सत्प्रेरणाओं और सत्यप्रवृत्तियों का अभिवर्धन है। देखा यही जाता है कि जो लोग भावनापूर्वक इस मार्ग पर बढ़ते हैं उन्हें कोई अज्ञात शक्ति सद्भावनाओं को अपनाने के लिए प्रेरणा देती रहती है और मनुष्य कितना ही कठोर क्यों न हो, उस प्रेरणा को पूर्णतया ठुकरा नहीं सकता, न्यून मात्रा में ही सही पर उसका सुधार अवश्य होता है और जिसकी मनोभूमि जितनी सुधरी उसका कल्याण भी उतना ही निकट आया। गायत्री को कल्याणी इसीलिए कहा जाता है कि उसका अंचल श्रद्धापूर्वक पकड़ने वाला व्यक्ति कल्याण की ओर ही चलता है और अन्ततः कल्याण का लक्ष्य प्राप्त भी कर लेता है।

शब्द-विज्ञान अपने आप में एक परिपूर्ण शास्त्र है। जिह्वा से उच्चारण किये हुए शब्द मनुष्य के मन पर भारी प्रभाव डालते हैं और उनका प्रभाव तुरन्त ही दृष्टिगोचर होता है। कटुवचन बोलने का प्रतिफल क्रोध एवं लड़ाई के रूप में सामने आता है। किसी प्रेमी का शोक-समाचार सुनते ही भूख-प्यास भाग जाती है और मनुष्य अर्ध मृतक जैसा बन जाता है। भय एवं आशंका की सी भावना सुनकर दिल धड़कने लगता है, व्यंग-उपहास के थोड़े से शब्द द्रोपदी ने कहे थे और उसका प्रतिफल महाभारत के रूप में सामने आया। परीक्षा में उत्तीर्ण होने की खबर सुनकर छात्रों को कितनी प्रसन्नता होती है। रोदन एवं क्रंदन के शब्द सुनकर अपना भी हृदय फटने लगता है। प्रेम और सहानुभूति के वचन कितने मधुर लगते हैं। कामुकता और वासना के प्रस्ताव शरीर में कैसे हलचल मचा देते हैं। शब्द की शक्ति का हम पग-पग पर अनुभव करते हैं। संगीत के माध्यम से रोगों का निवारण, भावनाओं का अभिवर्धन, गौओं का अधिक दूध देना, मृग और साँप का स्थिर मुग्ध होने पर पकड़ा जाना प्रसिद्ध है। किसी को गलत सलाह या गलत आज्ञा देकर दुष्कर्म कराने वाला भी अपराधी माना जाता है और दंड भुगतता है। असत्य शब्द पाप ही तो है, जिसे प्रधान दूषणों में गिना गया है। शब्दों का कुप्रभाव कई बार जीवन-मरण की विभीषिका के रूप में सामने आता देखा गया है।

गायत्री मंत्र के २४ अक्षर शक्ति बीज के नाम से विख्यात हैं। इनका उच्चारण सूक्ष्म शरीर के सारे ढाँचे को प्रभावित करता है। टाइप राइटर की अक्षर-कुंजियों पर उंगली रखने से ऊपर लगे हुए कागज पर वही अक्षर छप जाता है। कुंजी पर दबाव पड़ते ही मशीन के भीतर लगी हुई तीली अपनी जगह से चलती है और कागज पर अक्षर छापकर फिर अपनी जगह वापिस आ जाती है। उसी प्रकार गायत्री मंत्र में उच्चारित हुए शब्द मुख-कंठ ओष्ठ-तालु-जिह्वा आदि संस्थानों में संलग्न ज्ञान-तंतुओं को तरंगित करते हैं और उनका प्रभाव षट्-चक्रों एवं ५४ उपत्यिकाओं पर पड़ता है। इन रहस्यमय संस्थानों में अनेक शक्तियाँ गुप्त रूप से प्रसुप्त अवस्था में छिपी पड़ी रहती हैं। उन्हें जगाने का क्रम गायत्री जप द्वारा आरम्भ किया जाता है तो वे सक्रिय होने लगती हैं और धीरे-धीरे साधक अपने में आशाजनक उत्साहवर्धक परिवर्तन हुआ अनुभव करने लगता है। गायत्री उपासना के अनेक लाभ बताये गये हैं। उसका ऐसा आश्चर्यजनक माहात्म्य शास्त्रों में मिलता है जिसे पढ़-सुनकर सहसा यह विश्वास नहीं होता है कि थोड़े से अक्षरों को बार-बार दुहराने मात्र से, जप करने मात्र से, कैसे उतना बड़ा लाभ संभव हो सकता है। पर अनुभव यही बताता है कि जिसने परीक्षा के लिए भी इस मार्ग पर थोड़े से कदम बढ़ाये, उसे निराश नहीं होना पड़ा वरन् आशा से अधिक ही उसने पाया।

गायत्री साधना की सफलता का विज्ञान

वाणी का उपयोग सामान्यतः जानकारियों के आदान-प्रदान तक ही सीमित है। इस आदान-प्रदान में शब्द ही उच्चरित होते हैं। शब्दों को वाणी का प्राण कहा जा सकता है, अन्यथा अकेले वाणी कुछ भी करने में, कोई भी जानकारी दे पाने में असमर्थ ही है। शब्द या ध्वनि सुनकर ही कई बातों का पता चलता है। पैरों की चाप ध्वनि के रूप में होती है जिसे सुनकर पता चलता है कि अमुक प्राणी आ रहा है। बादलों की गड़गड़ाहट, हवा की सनसनाहट, पत्तों की खड़खड़ाहट सुनकर बिना देखे भी बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। मुँह की आवाज सुनकर यह पता चलता है कि यह शब्द किस प्राणी का है ? और वह कहाँ है ? बातचीत से घटनाओं परिस्थितियों एवं समस्याओं की जानकारी मिलती है। सामान्यतया शब्दोच्चार जानकारी के आदान-प्रदान में ही प्रयुक्त होता है, उसकी इतनी ही बौद्धिक उपयोगिता है। स्कूलों में, कारखानों में, यात्राओं में, व्यवसाय में, कुटुम्ब में, मित्रों में प्रायः इसी प्रकार का वार्तालाप होता पाया जाता है।

इस प्रकार सामान्यतः शब्द जानकारी के आदान-प्रदान की मस्तिष्कीय आवश्यकता को ही स्थूल रूप में पूरा करता है। यह आवश्यकता पूर्ति स्थूल रूप में तो कम होती है, विशेष स्थिति वह है जिसमें जानकारी के आदान-प्रदान की मस्तिष्कीय आवश्यकता तो कम पूरी होती है पर उसमें अन्तरात्मा की भाव सम्वेदनाएँ पर्याप्त मात्रा में जुड़ी रहती हैं। ऐसे शब्दों को गान कहते हैं। स्थूल शरीर हलचलें करता है और आवाज निकालता है। सूक्ष्म शरीर शब्द द्वारा जानकारियों का आदान-प्रदान करता है। कारण शरीर की सत्ता भावपरक है। जब अन्तःकरण बोलता है तो उसमें भावनाएँ भरी रहती हैं। इसे ही आध्यात्मिक अर्थों में गान कहा जाता है।

सामान्यतः गान शब्द से गीत का आशय लिया जाता है। शब्दों को लयबद्ध करके गाया या गुनगुनाया जाना, उसमें भावनात्मक मस्ती का जुड़ा रहना ही गान है। इसे और भी अधिक संस्कृत किया जाता है तो ताल-स्वर आदि का समावेश हो जाता है। उस स्थिति में इसे छन्द नाम दिया जाता है। काव्य या कविता भी इसी लयबद्ध भाव प्रवाह को कहते हैं। उसे जब वाद्य यन्त्रों के साथ मिला दिया जाता है तो संगीत बन जाता है। वेदों की ऋचाएँ छन्द कही जाती हैं। मन्त्रों में गान की इन विशेषताओं के साथ शब्द गुंथन का भी असाधारण महत्त्व है।

इस विशेषता के कारण ही मन्त्र सामर्थ्यवान् बनते हैं और अभीष्ट चमत्कार उत्पन्न करते हैं। गायत्री मन्त्र को ही लें। उसका शब्दार्थ बहुत सामान्य-सा है। तेजरूप भगवान से सद्बुद्धि की याचना भर उसमें की गई है। इस अर्थ की बोधक अनेक कविताएँ प्रायः सभी भाषाओं में मौजूद हैं अथवा बन सकती हैं। किन्तु इनका वह प्रभाव नहीं हो सकता जो गायत्री मन्त्र का

होता है । कारण यही है कि उन कविताओं में शब्द-विज्ञान और भाव-विज्ञान का उतना अद्भुत समन्वय नहीं है और सूक्ष्मदर्शी तत्त्ववेत्ताओं की विशेष मनः स्थिति में ही ऐसे दिव्य अवतरण सम्भव होते हैं । इसलिए वेदमन्त्रों की संरचना को अपौरुषेय कहा गया हैं ।

गायत्री शब्द का सामान्य अर्थ भी यही है कि जो गाई जाने पर अपना चमत्कार प्रस्तुत करें । इस तथ्य को प्रमाणित करने वाले अनेकों प्रमाण मौजूद है यहाँ गायन का अर्थ संगीत से नहीं वरन् उस मनः-स्थिति में उपासना क्रम चलाने से है जो भावनापूर्वक, भावभरी मनःस्थिति में चलाया जाता है । साधक के अन्तस् में मस्ती छाई रहनी चाहिए और बेगार भुगतने की तोता रटन्त की तरह नहीं, अपितु भाव तरंगों में लहराते हुए उसे गाया-गुनगुनाया जाना चाहिये । जिह्वा का शब्दोच्चार मात्र तो बकवास कहलाता है । अन्य प्राणी, छोटे बच्चे अथवा अविकसित मस्तिष्क वाले प्रायः बिना मतलब की बकझक करते रहते हैं । वाणी की प्रौढ़ता सुविज्ञ मस्तिष्क की ज्ञान सम्पदा जुड़ जाने से ही वह विशेषता उत्पन्न होती है, जो प्रखर भी होती है और प्रभावशाली भी । इस उच्चारण से बोलने वाले का भी लाभ होता है और सुनने वाले का भी । इसके बाद दिव्य वाणी आती है जिसमें परिष्कृत व्यक्तित्व के साथ जुड़ी रहने वाली भाव सवेदना का भी समावेश होता है । ऋचाओं का यही स्तर है । उनकी विशेषता सामगान को निखारती है ।

उपासना प्रक्रिया में भी मन्त्रोच्चार के साथ श्रद्धा भरी अनन्य तन्मयमा का समावेश होना चाहिए । ऐसा समावेश जिसमें क्रमबद्ध, लयबद्ध, स्वरबद्ध, गुनगुनाहट तो हो ही, साथ ही इष्ट के साथ एकाकार होने की आकुलता भी हो । मन्त्रों का वास्तविक लाभ इसी गान वाली मनःस्थिति में मिलता है । विशेषताओं से संयुक्त गायत्री शब्द के अनेक अर्थ हैं । गय 'प्राण' को भी कहते हैं और गीत को भी, भगवान ने गीता में 'गायत्रीछंदसामहम्' वाक्य में गायत्री छन्द को अपना रूप बताया है । यहाँ छन्द से तात्पर्य गीत से है, पर वह मनोरंजन के लिए नहीं है । दिव्य तन्मयता की भावभरी लहरों में लहराने के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला 'नाद ब्रह्म' है । वह गान, गायनकर्त्ता को ऐसी भाव-भूमिका में ले उड़ता है, जो सर्वतोमुखी कल्याण का अनुदान दे सके । गाने वाले का त्राण करने वाली मन्त्र शक्ति को गायत्री कहा गया है । प्रभा का त्राण करने वाली भी गायत्री का एक अर्थ है । इस सम्बन्ध में शास्त्रों में कई स्थानों पर विभिन्न तरह से उल्लेख किया जाता है ।

वेद में कहा गया है–

बसन्तः प्राणायनो गायत्री बसंती ।

-यजु0 १३/५

अथार्त्-गायत्री वह है जो बसन्त में गाई जाती है और गाने वाले की रक्षा करती है ।

गायंति त्वागा यत्रिणोऽर्यन्त्यकर्मर्किणः ।

-ऋग्वेद १/१०/१

अर्थात्-गायत्री का गान करने वाले तेरा ही गुणगान करते हैं । तेल के उपासक उसी सूर्य की उपासना करते हैं ।

यदा गायत्री आधिगायत्रमाहितम् ।

-ऋग्वेद १/१६४/२३

अथार्त्-जिसका गायन करते हैं उसे गायत्री कहते हैं

गायन्त त्रायतं इति गायत्री ।

-गोपथ

अर्थात्-जो जाने वाले का त्राण करे वही गायत्री यद्गायत तद्गायत्री शत जिसे गाते हैं वही गायत्री है ।

त्रायन्तों गायतः सर्वान् गायत्रीत्यमिधीयते ।

-अहि.बु.स.३/१६

अर्थात्-सभी गान करने वालों की रक्षा करती है । इसीलिए उसे गायत्री कहते हैं ।

गायत्री प्रोच्यते तस्यात् गायत्तं त्रायते यतः ।
गायतात् त्रायते यस्मात् गायत्री तेन कथ्यते ।।

अर्थात्-गायन करने वाले का त्राण करने वाली होने से वह गायत्री कहलाती है ।

तमेत देव गायत्रं साम गायन्न वायत ।
यद गायन्न त्रयत तद गायत्रस्य गायत्रत्वम् ।।

-जै.ब्रा.३/३८/६

अर्थात्-जो गायत्री का गान करता है, गायत्री उसकी रक्षा करती है ।

गातार त्रायते यस्माद् गायत्री तेन गीयते ।

-स्कन्द पुराण (काशी खण्ड)

अर्थात्-गाने वाले की रक्षा करती है, इसी से उसको गायत्री कहा जाता है ।

गायतो मुखाद् उदपतदिति गायत्री ।

-निरुक्त ७/१२

अर्थात्-सबसे प्रथम गान करते हुए परमेश्वर के मुख से जो गीत निकला, वही गायत्री है ।

सर्वेषामेव वेदानां गुह्योपनिषदां तथा ।
सारभूता तु गायत्री निर्गता ब्रह्मामे मुखम् ।।

अर्थात्-सब वेदों और गुह्य उपनिषदों का सार रूप ब्रह्माजी के मुख से गायत्री मन्त्र प्रकट हुआ ।

गायत्री किस प्रकार अपने उपासक का सर्वविध कल्याण करती है और उसे सर्व समर्थ बनाती है ? इसका एक सुसंगत विज्ञान है । मन्त्र विद्या के ज्ञाता जानते हैं कि जीभ से जो भी शब्द उच्चारित होते हैं, उनका उच्चारण केवल जीभ द्वारा ही नहीं होता । अपितु उनके उच्चारण में कण्ठ, तालू, मूर्धा, ओष्ठ, दाँत, जिह्वा मूल आदि मुख के विभिन्न अंग महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाहते हैं । इस उच्चारण काल में जिन भागों से ध्वनि निकलती है, उन अंगों में नाड़ी तन्तु शरीर के विभिन्न भागों तक फैले हुए हैं । इस विस्तार क्षेत्र में कई ग्रन्थियाँ होती हैं, जिन पर उच्चारण से दबाव पड़ता है । जिन लोगों की कोई विशेष सूक्ष्म ग्रन्थियाँ रुग्ण या क्षत-विक्षत होती है, उनके मुख से कुछ खास शब्द अशुद्ध निकलते हैं या रुक-रुककर निकलते हैं । हकलाना या तुतलाना इसी को कहते हैं ।

योगी लोग जानते हैं कि शरीर में विद्यमान अनेक छोटी-बड़ी ग्रन्थियों में विशेष शक्ति भण्डार छिपा रहता है । सुषुम्ना से सम्बद्ध षट्चक्र प्रसिद्ध है । ऐसी अगणित ग्रन्थियाँ शरीर में विद्यमान हैं । विविध शब्दों का उच्चारण इन विविध ग्रन्थियों पर अपना प्रभाव डालता है और उसके प्रभाव से इन ग्रन्थियों का शक्ति भण्डार जागृत होता है । मन्त्रों का गठन इसी आधार पर होता है । यह बात पहले ही स्पष्ट की जा चुकी है । गायत्री मंत्र के २४ अक्षर हैं । इनका प्रत्येक का सम्बन्ध शरीर में स्थित ऐसी ग्रन्थियों से हैं, जो जाग्रत होने पर सद्बुद्धि प्रकाशक शक्तियों को सचेत करती है । गायत्री मंत्र के उच्चारण से सूक्ष्म शरीर का सितार, शरीर में विद्या पाठ सूक्ष्म ग्रन्थियाँ इस प्रकार झंकृत और स्पन्दित होती हैं जिसका प्रभाव अदृश्य जगत पर पड़ता है और साधक की चेतना भी उससे इस प्रकार प्रभावित होती है कि अनेकों प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष लाभ होते हैं । यह प्रभाव ही गायत्री साधना के सत्परिणाम प्रस्तुत करती है ।

शब्दों की शक्ति साधारण नहीं है । प्रकट तौर पर भले ही वे जानकारी का आदान-प्रदान करने वाले प्रतीत होते हों, परन्तु शब्द विद्या के ध्वनि विज्ञान के आचार्य जानते हैं कि शब्दों में कितनी शक्ति है ? और उसकी अज्ञात गतिविधि के द्वारा क्या-क्या परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं ? शब्दों की इस असाधारण शक्ति-क्षमता के कारण ही शब्द को ब्रह्म कहा गया है । गायत्री मन्त्र में इस शब्द विज्ञान का भरपूर उपयोग हुआ है ।

गायत्री उपासना को और भी फलवती बनाने वाला कारण है, साधक का श्रद्धामय विश्वास । विश्वास की शक्ति से सभी मनोविज्ञानवेत्ता भली-भाँति परिचित है । इस तरह के कई उदाहरण देखने में आते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि केवल विश्वास के कारण ही लोग भय की बजह से अकाल मृत्यु के मुख में चले गए और विश्वास के कारण ही मृतप्राय: लोगों ने नवजीवन प्राप्त किया । रामायण में तुलसीदास जी ने 'भवानी शंकरो वंदे श्रद्धा विश्वास रुपिणी' गाते हुए श्रद्धा विश्वास को भावनी शंकर की उपमा दी है । लोग अपने विश्वासों की रक्षा के लिये धन, आराम तथा प्राणों तक को हँसते-हँसते गँवा देते हैं । एकलव्य, कबीर आदि ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनसे प्रकट है कि गुरु द्वारा नहीं, केवल अपनी श्रद्धा के आधार पर प्राप्त होने वाली शिक्षा से भी अधिक विज्ञ बना जा सकता है । हिप्नोटिज्म का आधार रोगी को अपने वचन पर विश्वास कराके उससे मनमाने कार्य करा लेना ही तो है । तांत्रिक लोग मन्त्र सिद्धि की कठोर साधना द्वारा अपने मन में उस मन्त्र के प्रति जमी श्रद्धा के आधार पर ही सफलता प्राप्त करते हैं । जिस मन्त्र से श्रद्धालु तांत्रिक चमत्कारी काम कर दिखाता है, उस मन्त्र की अश्रद्धालु साधक चाहे जिस तरह आराधना करे, उसे कुछ लाभ नहीं होता । गायत्री मन्त्र के सम्बन्ध में भी यही तथ्य बहुत सीमा तक काम करता है । जब साधक श्रद्धा और विश्वासपूर्वक आराधना करता है, तो शब्द-विज्ञान और

विश्वास-विज्ञान दोनों की विशेषताओं से संयुक्त गायत्री मन्त्र का प्रभाव और भी अधिक बढ़ जाता है और वह एक अद्वितीय शक्ति सिद्धि होती है ।

गायत्री को इसीलिए गान करने वाले का त्राण करने वाली कहा गया है कि वह शब्द-विज्ञान और विश्वास के आधार पर साधक में अनेकों सूक्ष्म शक्तियाँ जागृत कर देती हैं । यह शक्तियाँ साधक को अनेकों प्रकार की सफलतायें, सिद्धियाँ और सम्पन्नता प्राप्त कराती हैं । गायत्री साधना एक सुव्यवस्थित वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसे भली-भाँति सम्पन्न किया जाये तो उसके सत्परिणाम प्राप्त होना सुनिश्चित है ।

कर्मकाण्डों में भावनायें भी समाविष्ट रहें

उपासना में कर्मकाण्डों का महत्त्व है । उस आधार पर साधक इष्ट के प्रति अपनी भावनाओं का विकास करता है और भाव सामीप्य के द्वारा इष्ट की सी विशेषताओं का अर्जन करता है । अतः संपन्न किये जाने वाले क्रिया-कृत्यों में भावनाओं का भी समावेश होना चाहिए । बेमन से किये गये कर्मकाण्डों का कोई प्रभाव नहीं होता । कर्मकाण्डों में भाव संचार अपनी श्रद्धा भावना के अनुपात से ही होता है इसलिए साधकों के लिए अनिवार्य रूप से यह निर्देश दिया गया है कि कर्मकाण्ड-यंत्र की तरह न किये जावें । क्रियाओं के साथ-साथ उनसे सम्बन्धित भावनाओं को भी अन्तःकरण में जाग्रत किया जाना चाहिए ।

गायत्री साधना के साथ यज्ञ का अनिवार्य सम्बन्ध है । दोनों अन्योन्याश्रित हैं । गायत्री को भारतीय संस्कृति की माता कहा गया है, तो यज्ञ को उसका पिता । अतएव गायत्री साधक को गायत्री उपासना के साथ-साथ यज्ञ-हवन भी संपन्न करना चाहिए । उसका विधि-विधान अलग से गायत्री के अनुष्ठान और पुरश्चरण पुस्तक में दिया गया है । बड़े यज्ञ और लम्बे समय में संपन्न होने वाले यज्ञों को प्रतिदिन किया जाना आज के समय में संभव नहीं है । थोड़े ही समय में किये जा सकें, ऐसी हवन विधि का विवेचन उपर्युक्त पुस्तक में है । उनमें भी क्रियाओं के साथ भावनाओं को अनिवार्य रूप से जोड़े रखा जाना चाहिए ।

दैनिक उपासना, न्यूनतम साधना के लिए भी वही बात लागू होती है । षट्कर्म, देवपूजन आदि क्रियाओं से सम्बन्धित भावों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है । इन्हें पढ़कर हृदयंगम कर लने से क्रियाकृत्य के साथ समुचित भावनायें उभरने लगती हैं ।

आत्म-शुद्धि के षट्कर्म प्रख्यात हैं । देवपूजन आरम्भ करने से पूर्व इन उपचारों को सम्पन्न किया जाता है । किसी श्रेष्ठ सत्ता को बुलाने और बिठाने से पूर्व उसके लिए उपयुक्त स्वच्छता उत्पन्न करना आवश्यक है । गुरुजनों, महामानवों, राजनेताओं को घर बुलाना होता है तो उनके लिए आवश्यक सफाई करानी पड़ती है और स्वच्छ उपकरण एकत्रित करने पड़ते हैं । दिवाली पर लक्ष्मी के आगमन की सम्भावना देखकर लोग सबसे अधिक ध्यान घर की सफाई पर देते हैं, ताकि स्वच्छ वातावरण में उसको प्रसन्नता मिले और वह ठहर सकें । सर्वविदित है कि गन्दे स्थान पर ठहरना किसी को पसन्द नहीं, गन्दे लोगों के साथ सम्बन्ध रखने, उनके पास जाने तथा बुलाने में सामान्य लोगों को भी रुचि नहीं होती, फिर देव-शक्तियाँ तो उसके लिए तैयार होंगी ही क्यों ? झूँठे और मैले बर्तन में बहुमूल्य भोजन परोसने से भी खाने वाले को घृणा ही उत्पन्न होती है । साधक की पवित्रता एवं पात्रता का चुम्बकत्व ही देव शक्तियों के अनुग्रह को अपनी ओर आकर्षित करता है । इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए साधना विज्ञान के ज्ञाताओं ने सर्वप्रथम आत्मशोधन की ओर ध्यान देने का विधान बनाया है । प्रस्तुत कर्मकाण्डों के सहारे जीवन में परिष्कार की ओर अधिकाधिक तत्परता बरतने के लिए उत्साह उत्पन्न किया जाता है ।

प्राथमिक उपासना के पाँच भाग हैं– (१) आत्मशोधन (२) देव-पूजन (३) जप (४) ध्यान (५) सूर्यार्घ दान ।

आत्मशोधन के पाँच अंग हैं– (१) पवित्रीकरण (२) आचमन (३) शिखा बन्धन (४) प्राणायाम और (५) न्यास इन्हें ही ब्रह्मसंध्या कहा जाता है ।

(१) पवित्रीकरण–साधना के लिए साधक यथासाध्य शुद्ध होकर ही बैठता है, किन्तु फिर भी जो कमी रह गयी हो, उसे दिव्य सहयोग द्वारा पूरी करने के लिए यह कृत्य किया जाता है । मात्र क्रिया से वह उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता । अभिमन्त्रित जल को समस्त

शरीर पर छिड़का जाये और यह भावना की जाये कि इस मंत्रपूत जल के साथ विश्व ब्रह्माण्ड में संव्याप्त पवित्रता तत्त्व की हमारे ऊपर वर्षा हो रही है और फुहारे के नीचे बैठकर स्नान करने की तरह उस अमृत वर्षण का आनन्द लिया जा रहा है । पवित्रता शरीर के भीतर प्रविष्ट होकर समस्त चेतना को, भाव संस्थान को, पवित्र बनाती चली जा रही है ।

(२) आचमन-तीन आचमनों का तात्पर्य काया, विचारणा और भावना इन तीन चेतना के केन्द्रों में शान्ति, शीतलता, सात्विकता का समावेश करना है। प्रथम आचमन काया में सच्चरित्रता, सात्विकता और वाणी में सदाशयता की स्थापना करने के लिए हैं । वाणी की विशेष पवित्रता इसलिए है कि उसके द्वारा उच्चरित जप-प्रार्थना भगवान तक पहुँच सके। अनीति उपार्जित अन्न खाले वाली और असत्य, विक्षोभकारी वचन बोलने वाली वाणी का तेल नष्ट हो जाता है और इसके उच्चारण, मन्त्र-शक्ति उत्पन्न नहीं कर सकते । इस तथ्य को स्मृति में जमाये रहने के लिए प्रथम आचमन है ।

द्वितीय आचमन विचारण में चिन्तन की शीतलता, सात्विकता स्थापित करने के लिए है । अशुद्ध, अपराधी, दुष्ट, दुर्बुद्धि के कारण यदि मस्तिष्क में अशांति के आँधी-तूफान उठते रहेंगे तो उसमें मनस्विता एवं तेजस्विता उत्पन्न न हो सकेगी । बहुमूल्य विचारशक्ति ऐसे ही वांछनीय छिद्रों में होकर नष्ट होती रहेगी । मानसिक पवित्रता को साधना की सफलता के लिए नितांत आवश्यक माना जाये । इस मान्यता को सुदृढ़ बनाने की बात ध्यान में बनी रहे, यह उद्देश्य दूसरे आचमन का है ।

तीसरा आचमन भाव शुद्धि के लिए है। जीवनोद्देश्य के प्रति उच्चस्तरीय निष्ठा और चिन्तन एवं कर्तृत्व की श्रेष्ठता बनाये रहने वाली आस्था ही भाव निष्ठा है । प्रपंच, प्रलोभनों के आकर्षणों में व्यस्त निरर्थक अनर्थ भरा पतनोन्मुख जीवन जीने वाले लोग आत्मबल सम्पादित नहीं कर पाते । आकांक्षाओं का स्तर ऊँचा रहना ही भाव शुद्धि है। यह तथ्य सदा स्मरण बना रहे, इसलिए तीसरा आचमन किया जाता है ।

जैसे बालक माता का दूध पीकर उसके गुणों और शक्तियों को अपने में धारण करता है और परिपुष्ट होता है, उसी प्रकार साधक मंत्र-बल से आचमन के जल को गायत्री माता के दूध के समान बना लेना है और उसका पान कर अपने आत्मबल को बढ़ाता है । इस आचमन से उसे त्रिविध ह्रीं श्रीं, क्लीं शक्ति से युक्त आत्म-बल मिलता है, तदनुसार उसको आत्मिक पवित्रता, सांसारिक समृद्धि को सुदृढ़ बनाने वाली शक्ति प्राप्त होती है ।

(३) शिखा बन्धन- शिखा भारतीय संस्कृति की धर्म-ध्वजा है । सद्बुद्धि की अधिष्ठात्री देवी गायत्री की प्रतीक है। भारतीय संस्कृति के प्रति निष्ठावान हर व्यक्ति, शरीर के सर्वोच्च स्थल पर सद्विचारणा-सद्बुद्धि के नियंत्रण की घोषणा है । इस दिव्य प्रतीक को, दिव्य प्रेरणाओं का स्मरण तथा उसके प्रति सम्मान व्यक्त करने के लिए धारण किया जाता है ।

शिखा जिस स्थान पर रखी जाती है वहाँ सूक्ष्म शक्तियों से सम्पर्क करने वाले विशेष केन्द्र होते हैं। जल के स्पर्श तथा भावना के प्रभाव से उपासना काल में उन्हें विशेष रूप से सक्रिय बनाया जाता है ताकि दिव्य आदान-प्रदान का विशेष लाभ प्राप्त किया जा सके ।

(४) प्राणायाम- संध्या का तीसरा कोष है, प्राणायाम अथवा प्राणाकर्षण । गायत्री की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए पूर्व पृष्ठों में यह बताया जा चुका है कि सृष्टि दो प्रकार की है- (१) जड़ अर्थात् परमाणुमयी, (२) चैतन्य अर्थात् प्राणमयी। निखिल विश्व में जिस प्रकार परमाणुओं के संयोग-वियोग से विविध प्रकार के दृश्य उपस्थित होते रहते हैं, उसी प्रकार चैतन्य जगत की विविध घटनाएँ घटित होती हैं । जैसे वायु अपने क्षेत्र में सर्वत्र भरी हुई है, उसी प्रकार वायु से भी असंख्य गुना सूक्ष्म चैतन्य प्राणतत्त्व सर्वत्र व्याप्त है । इस तत्त्व की न्यूनाधिकता से हमारा मानस-क्षेत्र बलवान् तथा निर्बल होता है। इस प्राणतत्त्व को जो जितनी मात्रा में आकर्षित कर लेता है, धारण कर लेता है, उसकी आन्तरिक स्थिति भी उतनी ही बलवान हो जाती है। आत्मतेज, शूरता, दृढ़ता, पुरुषार्थ, विशालता, महानता, सहनशीलता, धैर्य, स्थिरता सरीखे गुण प्राणशक्ति के परिचायक हैं । जिनमें प्राण कम होता है, वे शरीर से स्थूल भले ही हों, पर डरपोक, दब्बू, झेंपने वाले, कायर,अस्थिरमति, संकीर्ण, अनुदार, स्वार्थी, अपराधी मनोवृत्ति के, घबराने वाले, अधीर, तुच्छ नीच विचारों में ग्रस्त एवं चंचल मनोवृत्ति के होते हैं । इतने दुर्गुणों के होते हुए कोई व्यक्ति महान नहीं बन सकता । इसलिए साधक को प्राणशक्ति अधिक

मात्रा में अपने अन्दर धारण करने की आवश्यकता होती है। जिस क्रिया द्वारा विश्वव्यापी प्राणतत्त्व में से खींचकर अधिक मात्रा में प्राण शक्ति को अपने अन्दर धारण करते हैं, उसे प्राणायाम कहा जाता है।

प्राणायाम के चार भाग हैं– (१) साँस भीतर ले जाने की क्रिया को पूरक (२) भीतर रोकने को अन्तः कुम्भक (३) बाहर निकालने को रोक (४) बाहर रोके रहने को बाह्य कुम्भक कहते हैं। जब साँस-क्रिया आरम्भ की जाये तो साँस खींचते समय भावना करनी चाहिए कि निखिल आकाश में वायु तत्त्व के साथ घुला हुआ प्राणतत्त्व साँस के साथ हमारे भीतर प्रवेश करते हुए दिव्य शक्ति भर रहा है। सांस रोकते समय भावना करनी चाहिए कि उस दिव्य शक्ति को शरीर के अवयवों, रक्तकणों एवं चेतना संस्थानों द्वारा सोखा और सदासर्वदा के लिए भीतर धारण किया जा रहा है। साँस निकालते समय भावना करना चाहिए कि सूक्ष्म, स्थूल और कारण शरीरों के मल अवरोध, विक्षेप, दोष, विकार बाहर निकले जा रहे हैं। बाहर साँस रोकने के समय भावना करनी चाहिए कि निकाले हुए विकारों को वापस न लौटने के लिए द्वार बन्द कर दिया गया है। ऐसे तीन प्राणायाम किये जाने चाहिए।

(५) न्यास–न्यास कहते हैं–धारण करने को। अंग-प्रत्यंग में गायत्री की सतोगुणी शक्ति को धारण करने, स्थापित करने, भरने, ओत-प्रोत करने के लिए न्यास किया जाता है। गायत्री के प्रत्येक शब्द का महत्त्वपूर्ण मर्म-स्थलों से घनिष्ठ सम्बन्ध है; जैसे सितार के अमुक भाग में, अमुक आघात के साथ उँगली का आघात लगाने से अमुक ध्वनि के स्वर निकलते हैं, उसी प्रकार शरीर वीणा को सन्ध्याकाल में उँगलियों के सहारे दिव्य भाव से झंकृत किया जाता है।

ऐसा माना जाता है कि स्वभावतः अपवित्र रहने वाले शरीर से दैवी सान्निध्य ठीक प्रकार से नहीं हो सकता, इसलिए उसके प्रमुख स्थानों में दैवी पवित्रता स्थापित करके उसमें इतनी मात्रा दैवी तत्त्वों की स्थापित कर ली जाती है कि वह दैवी-साधना का अधिकारी बन जावे।

न्यास के साथ जिन अंगों का स्पर्श किया जाता है, उनमें एवं सारे शरीर में ईश्वरीय दिव्य चेतना के संचार का ध्यान किया जाता है। दिव्य चेतना के संचार से वे पवित्र, बलिष्ठ एवं सक्षम होते हैं। भावना करनी चाहिए कि जिस दिव्य सत्ता के अनुदान से यह तेजस्वी बन रहे हैं, उसके गौरव के अनुरूप श्रेष्ठ कार्यों में ही इनका उपयोग हो। मस्तिष्क श्रेष्ठ चिन्तन में लगे, नेत्र सद्दर्शन, कान सद्श्रवण, मुख सात्विक आहार, कण्ठ शुभ वाणी, हृदय सद्भाव, नाभि प्रदेश श्रेष्ठ, प्राण ऊर्जा एवं हाथ-पैर सत्कार्य, सत् प्रयोजन के लिए ही नियोजित हों।

(६) पृथ्वी पूजन– धरती माता-मातृभूमि को प्रत्यक्ष देवता मानकर उसका अभिसिंचन अभिवन्दन करने की भावना से उपलब्ध अनुदानों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए जल, अक्षत, पुष्प, चन्दन से पूजन किया जाये। मातृभूमि के लिए समस्त जड़-चेतन जगत द्वारा मिले लाभों के प्रत्युपकार में बढ़-चढ़कर त्याग-बलिदान करने की भावनाएँ जगाना इस 'पृथ्वी पूजन' प्रक्रिया का उद्देश्य है। इसे आसन पवित्रीकरण भी कहते हैं। आसन का अर्थ है–आधार। हम जिस आधार जिस उद्देश्य से, जिन साधनों के माध्यम से साधना करें उनकी पवित्रता पर भी ध्यान दें। धरती माता की गोद में बैठकर साधक साधना का केवल कल्याणकारी प्रयोग ही कर सकता है। माँ की गोद में बैठकर किसी के अकल्याण की कल्पना भी सम्भव नहीं।

दूसरा चरण है देव-पूजन, गायत्री माता की छवि को देवत्व के प्रतीक प्रतिनिधि के रूप में पूजा वेदी पर स्थापित करते हैं। देवता के प्रति श्रद्धांजलि प्रस्तुत की जाती है। उन्हें कुछ देते हैं इसी अनुदान के प्रतिदान में देव-अनुग्रह प्राप्त होता है, देवता देते हैं। उन्हें वे भी प्रिय होते हैं जो देने की गरिमा स्वीकार करते हैं और उसका ही शुभारम्भ अपने आप से करते हैं। बीज गलने को तैयार होता है तो धरती माता उसे पोषण देकर विशालकाय वृक्ष बनने का वरदान एवं अनुदान प्रदान करती है। यही नीति देवताओं की भी है। वृक्ष अपने फल दूसरों को देते हैं। भेड़-बकरी भी ऊन दूसरों को देती हैं। नदियाँ अपना जल दूसरों को पिलाती हैं।इसी देव प्रकृति को अपनाये जाने पर प्रसन्न होकर देवता उन्हें अधिकाधिक अनुग्रह देते चले जाते हैं। कृपणता बरतने वाले अनुदार, स्वार्थ परायणों के प्रति देवता भी निष्ठुर ही बने रहते हैं। इस तथ्य को ठीक तरह हृदयंगम करने के लिए पूजा की चौकी पर स्थापित गायत्री प्रतिमा

के सम्मुख साधक को पंचोपचार के रूप में पाँच प्रतिवेदन प्रस्तुत करने होते हैं । इससे यह आत्म-शिक्षण मिलता है कि समर्थ देवताओं का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए क्या रीति-नीति अपनानी होगी । जीवन-चर्या निर्धारण में किस स्तर की गतिविधियों का समावेश करना होगा ।

आत्मा को परमात्मा से मिलाने वाली योग साधना के पथ पर अग्रसर होने की दिशा में प्रथम कक्षा साकार उपासना की है। उसमें आकृति सहित परमात्मा की कल्पना करनी पड़ती है । उसे उच्चस्तरीय श्रेष्ठताओं से सम्पन्न माना जाता है, समीप उपस्थित अनुभव किया जाता है, सघन श्रद्धा का आरोपण करते हैं, गहरी प्रेम-भावना उमगाते हैं और उनके साथ घनिष्ठता बनाते हैं । इसी कृत्य के अन्तर्गत आने वाली विविध उपचार भक्ति साधना कहे जाते हैं । 'लय' प्रक्रिया का यह प्रथम सोपान है । अचिन्त्य चिन्तन में असमर्थ-स्थूल भूमिका की मनःस्थिति के लिए यही कृत्य सरल पड़ता है और चेतना का स्तर आगे बढ़ाने में सहायता करता है। प्रतीक उपासना का सारा ढाँचा इसी प्रयोजन के लिए विनिर्मित हुआ समझा जाना चाहिए ।

सार्वजनिक मन्दिरों में अथवा पूजा कक्षों में भगवान के विविध प्रतीकों की स्थापना करके उनका महामानव गुरुजनों जैसा स्वागत-सत्कार किया जाता है । पंचोपचार, षोडशोपचार के विधान उसी के लिए बनाये गये हैं । जितनी देर प्रतिमा सामने रहती हैं, उतने समय ईश्वर के सान्निध्य का अनुभव होता है, उसका बड़प्पन स्वीकारा जाता है और श्रद्धाभिव्यक्ति से उन्हें सम्मानित करने वाले शिष्टाचारों का प्रदर्शन किया जाता है । पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, पुष्प, चन्दन, धूप, दीप, अक्षत, नैवेद्य, आरती, नमस्कार आदि के विविध कृत्य समीपता और श्रद्धा की अनुभूति को विकसित करने में सहायता करते हैं । निष्ठा की परिपक्वता के लिए कल्पित देव प्रतिमाओं को यथार्थ मानने की मनःस्थिति उत्पन्न की जाती है ।

इससे आगे की सूक्ष्म प्रतीक पूजा वह है, जिसमें आँख बन्द करके अथवा अधखुली रखकर इष्टदेव की प्रतिमा का ध्यान किया जाता है और श्रद्धा, समीपता एवं एकता की वैसी ही भावना की जाती है, जैसी कि मूर्ति-पूजा में स्थूल प्रतिमा की । अन्तर इतना ही रहता है कि मूर्ति पूजा में प्रतीक उपकरणों की प्रत्यक्ष आवश्यकता पड़ती है, जबकि ध्यान में वह सारे कार्य कल्पना के सहारे ही पूरे हो जाते हैं । ध्यान में इष्ट देव को हँसता, मुसकाता और श्रद्धा-समर्पण के अनुरूप प्रत्युत्तर देता सोचा जा सकता है । यह स्थिति अधिक उत्साहवर्धक होती है और एकाग्रता का लाभ भी अधिक होता है । इसलिए इस मानसपूजा को भावनाशील, कल्पनाशील साधकों के लिए प्रयुक्त होने वाली उपासना का अगला ऊँचा चरण माना गया है । सामान्य व्यक्ति के लिए तो कर्मकाण्ड युक्त भावना समन्वित उपासना ही श्रेयस्कर है । ब्रह्मसंध्या के षट्कर्मों में संयुक्त की जाने वाली भावनाओं के बाद पूजा के पंचोपचार के साथ जुड़े हुए क्रिया-कृत्यों में जोड़ी जाने वाली भावनाओं का यहाँ विवेचन किया जाता है ।

पूज्य गुरुजन जब सामने उपस्थित होते हैं, तो उनके प्रथम दर्शन पर सम्मान, शिष्टाचार प्रदर्शित किया जाता है । उपासना के समय अपने इष्ट के प्रतीक में देव शक्ति का आह्वान करने के उपरान्त उसका सम्मानोपचार किया जाना चाहिए । इससे भाव निष्ठा में और भी अधिक परिपक्वता उत्पन्न होने का अवसर मिलता है। इस प्रयोजन के लिए ही पूजन की परम्परा प्रचलित है । पंचोपचार में (१) जल (२) चावल-नैवेद्य (३) पुष्प (४) धूप-दीप (५) चावम-रोली को गिना जाता है । इन्हें एक तश्तरी में रखना चाहिए और क्रमशः एक-एक को पास में रखी दूसरी तश्तरी में श्रद्धा, सम्मान की अभिव्यक्ति के लिए छोड़ते जाना चाहिए । यही दो ईश्वरीय शक्तियाँ लीला कर रही हैं । प्रकृति का प्रतीक जल और पुरुष का प्रतीक अग्नि को माना गया है । यह भी एक प्रकार से चित्र-स्थापना ही है ।

उपचार के इन उपकरणों के पीछे जीवन के दिव्य निर्माण की प्रेरणा है । इस विश्व ब्रह्माण्ड को ईश्वर का विराट् रूप माना जाना चाहिए और लोकमंगल की क्रिया-प्रक्रिया द्वारा उसकी यथार्थ पूजा में संलग्न रहा जाना चाहिए । यह इस दिशा में पहला चरण अपने आपको पवित्र, संयत एवं आदर्श बनाकर ही बैठाया जा सकता है । आत्म-निर्माण और विश्व-निर्माण की उभयपक्षीय जीवन-साधना सम्पन्न करने के लिए किन आदर्शों को सामने रखा जाय, इसी का दिशा निर्देश इस पंचोपचार पूजा में प्रयुक्त होने वाले पदार्थों के साथ जुड़ा हुआ है ।

(१) जल–शीतलता, शान्ति, नम्रता, विनय, सज्जनता का प्रतीक है, सत्प्रयोजनों के लिए हमें समय लगाना एवं श्रम बिन्दुओं का समर्पण करना है। उसी से श्रेष्ठ सत्कर्म बन पड़ते हैं। पाद्य, अर्घ्य, स्नान के चार चम्मच इसीलिए चढ़ाये जाते हैं कि हम अपना श्रम, मनोयोग, प्रभाव एवं धन इन चारों उपलब्धियों का यथासम्भव अधिकाधिक भाग ईश्वरीय प्रयोजन के लिए समर्पित करेंगे।

(२) अक्षत–उपार्जित अन्न, धन, वैभव का प्रतीक है। अपनी कमाई को आप ही खाते रहने वाले अनुदार स्वार्थी को शास्त्रकारों ने 'चोर' कहा है। उपार्जन को अपने तथा परिवार के उपयोग भर में सीमित नहीं किया जाना चाहिए वरन् उसमें देश, धर्म, समाज-संस्कृति का भी भाग स्वीकार करना चाहिए। ईश्वर अर्थात् साकार रूप में विराट् विश्व एवं निराकार रूप में सद्भाव, सदुद्देश्य। इनके लिए अपनी कमाई का एक बड़ा भाग नियमित रूप से निकाला जाये, यह अक्षत समर्पण की प्रेरणा है।

(३) पुष्प–अर्थात् खेलने-खिलाने की, हँसने-हँसाने की हल्की-फुल्की जिन्दगी और सत्प्रवृत्ति। हम फूल जैसे कोमल रहें। भीतर और बाहर सर्वांग सुन्दर बनें। इस विश्वोद्यान को शोभायमान बनाने वाला जीवन जियें। अपनी गर्दन नुचवाना और मर्म भेदी सुई को छेदा जाना स्वीकार करके प्रभु के गले का हार बनने की आकांक्षा रखें।

(४) दीपक–स्नेह से, चिकनाई से भरा-पूरा, स्वयं जलकर दूसरों को प्रकाश देने वाल, ऊपर को उठती हुई ज्योति-दृष्टि। इन्हीं विशेषताओं के कारण दीपक को पूजा में स्थान मिला है। जिनके अन्तःकरण में असीम स्नेह, सद्भाव भरा है, जो परमार्थ के लिए बढ़-चढ़कर त्याग, बलिदान कर सकते हैं, कष्ट सह सकते हैं। जिनकी दृष्टि, महत्त्वकांक्षा ऊर्ध्वगामी हैं, वे उत्कृष्ट आदर्शवादी हैं, वे जीवन-दीप-ज्योति कहे जा सकते हैं। अपने को इसी मार्ग का पथिक बनाकर हम ईश्वर के निकटवर्ती और अनुकम्पा के अधिकारी बन सकते हैं। धूपबत्ती में अग्नि-स्थापना भी प्रकारान्तर से दीपक की ही आवश्यकता पूर्ति करती है और यही उसकी प्रेरणा भी है।

(५) चन्दन–वह वृक्ष, जिसका कण-कण सुगन्धित है और जो समीपवर्ती झाड़-झंखाड़ों को भी सुगन्धित करता है। अपनी शीतलता से साँप, बिच्छू जैसे विष-वंश वालों तक को शान्ति प्रदान करता है। कहते हैं चन्दन वृक्ष पर लिपटे हुए सर्प, बिच्छू शान्ति पाते हैं। उसी छाया में बैठने वाले सुगन्ध भरी शीतलता प्राप्त करते हैं। उसकी लकड़ी काटने, बेचने वाले, पत्थर पर घिसने वाले कष्टदायक लोग भी बदले में प्रतिशोध नहीं, उपकार ही पाते हैं। नष्ट होते-होते भी चन्दन अपनी लकड़ी से भजन करने की माला, हवन सामग्री का चन्दन चूरा आदि दे जाता है। हमारी शक्ति-सामर्थ्य का उपयोग भी इसी प्रकार होना चाहिए।

इसी प्रकार जल– तरलता का प्रतीक, पवित्रता का; मिष्ठान्न मधुर व्यवहार का प्रतीक मानना चाहिए। पूजा सामग्री देखकर मन में यह भाव उठें कि भगवान ऐसे गुणवानों को ही अंगीकार करते हैं। हम भी अपनी विशेषताओं को विकसित करें। सामग्री चढ़ाते हुए अपने श्रेष्ठतम साधनों, प्रवृत्तियों, शक्तियों को प्रभु के लिए, प्रभु कार्य के लिए समर्पित करने का उल्लास जगे तो पूजन-क्रिया सार्थक समझी जायेगी।

आत्म-शोधन में व्यक्तित्व को पवित्र परिष्कृत बनाने का भाव है और देवपूजन में सदुद्देश्यों के लिए अधिकाधिक अनुदान देने का उत्साह उत्पन्न करने का निर्देश है। इन्हें प्रकारान्तर से चरित्र-निष्ठा और समाज-निष्ठा कह सकते हैं। ईश्वर भक्ति, योग साधना के -यह दोनों ही आरम्भिक चरण हैं। इसे साधना की पृष्ठभूमि कह सकते हैं। उसके उपरान्त मन्त्र साधना आरम्भ होती है। मन्त्र-साधना के दो भाग हैं (१) जप (२) ध्यान। इन दोनों का साथ-साथ समन्वय करके चलना पड़ता है।

जप-प्रक्रिया में गायत्री मन्त्र की बार-बार पुनरावृत्ति एक क्रम-बद्ध प्रक्रिया के आधार पर करनी होती है। जिस तथ्य पर मन को सघन करना होता है, तो उसको उच्चारण क्रिया अथवा ध्यान के माध्यम से बार-बार दुहराने की आवश्यकता पड़ती है; इसी उपाय से उन तथ्यों को मन की पृष्ठभूमि पर सघन होने का अवसर मिलता है। बच्चों को प्राथमिक कक्षा में प्रायः इसी आधार पर अपनी पढ़ाई आरम्भ करनी होती है। वे वर्णमाला अथवा गिनती पहाड़े बार-बार दुहराते-रटते हैं। तभी उनके स्मृति-पटल पर वह बातें स्थान जमा पाती हैं। संगीत शिक्षा में आरम्भ से अन्त तक दुहराने की प्रक्रिया चलती रहती है। फौजी सैनिकों को कदम मिला कर

चलने से लेकर थोड़े से ही अभ्यासों को आये दिन दुहराना पड़ता है । इष्ट के साथ एकाकार होने के लिए उस महान गरिमा के अन्तःकरण पर दृढ़ता पूर्वक जमाने के लिए भी उसका नामोच्चारण बार-बार करना होता है । खोये हुए को पुकारने के लिए बार-बार नाम लेना पड़ता है । भगवान राम बनवास में सीता को खोजते हुए उनका नाम जोर-जोर से लेकर पुकारते हैं । बिल्ली, लोमड़ी गाय के बच्चे जब इधर-उधर भटक जाती हैं, तो बार-बार आवाज देकर अपनी उपस्थिति का परिचय देती हैं और उन्हें बुलाती हैं । मनुष्य से उसका लक्ष्य-इष्ट स्वरूप छूट गया है । इसके बिना वह मणिहीन सर्प की तरह बिलखता है । ग्राह के चंगुल में फंसे हुए गज ने भगवान को अनेक नाम लेकर उन्हें पुकराना और बुलाया था । जप में बार-बार भगवान की रट लगाई जाती है और प्यासा पपीहा जिस तरह पिऊ-पिऊ पुकारता है, उसी प्रकार भगवान को, इष्ट को दूरी समीप करके निकट बुलाने का आह्वान किया जाता है ।

चेतना पर संस्कार डालना कठिन है । कठिन और कठोर कार्यों को धीरे-धीरे घिस-घिस कर, रगड़-रगड़ कर ही पूरा किया जाता है । स्नान, हाथ-मुँह धोना, बर्तन साफ करना, झाड़ू लगाना, कपड़े धोना जैसे कार्य बार-बार रगड़ने घिसने से ही पूरे होते हैं । पॉलिश किसी पर भी किसी प्रकार की भी करनी हो, उसमें घिसाई आवश्यक होती है । आरी से काटने में भी घिसना पड़ता है । रस्सी को रगड़ने से पत्थर पर निशान बनता है और कठोर मनोभूमि पर सुसंस्कार डालने के लिए रगड़ का अभ्यास करना पड़ता है । नाम-जप से यही प्रयोजन पूरा होता है ।

विज्ञान के विद्यार्थी जानते हैं कि ताप की तरह ही शब्द में भी एक प्रचण्ड शक्ति है । इन दिनों श्रवणातीत ध्वनियों से ऐसे काम लिये जा रहे हैं, जो प्रचण्ड ऊर्जा के लिए प्रयुक्त होने वाले करोड़ों रुपये मूल्य के विलक्षण यन्त्रों से भी संभव नहीं हो पाते । मन्त्र विद्या में शब्द विज्ञान के अत्यन्त सूक्ष्म रहस्यों का समन्वय है । उनके शब्दों का गुंथन, तत्त्ववेत्ताओं ने इस प्रकार किया है कि नियत क्रम, नियत लय-ताल के अनुसार यदि उनकी पुनरावृत्ति की जाती रहे, तो उससे एक अदृश्य शब्द-चक्र बनता है । इसका उल्लेख चक्र सुदर्शन के रूप में हुआ है । अभीष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यह ब्रह्मास्त्र रचनात्मक और ध्वंसात्मक दोनों ही कार्य पूरे करता है । टाइप राइटर की कुंजी दबाने से तीली उठती है और दूसरी जगह कागज छाप देती है । इसी प्रकार मन्त्रों के शब्दोच्चार से शरीर के स्थूल और सूक्ष्म अवयवों में विशिष्ठ हलचलें उत्पन्न होती हैं और उससे कई अति महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ जाग्रत होने के फलस्वरूप प्रत्यक्ष जीव में कई प्रकार की सुविधाएँ उत्पन्न होती और सफलताएँ मिलती देखी जाती हैं । जप-विज्ञान के पीछे ऐसे अनेकों कारण हैं, जिससे उस प्रयोजन में लगे हुए साधक का श्रम अन्य कार्यों में लगने की अपेक्षा प्रत्यक्ष और परोक्ष परिणाम में दृष्टि से कहीं अधिक सफल रहता हैं ।

जप के साथ ध्यान भी आवश्यक है, जिस उद्देश्य के लिए जप किया जा रहा है, उसमें जीभ ही नहीं मन की एकाग्रता भी नियोजित होती रहे । जिस भी काम में शरीर और मन दोनों का समन्वय होता है, उसी में सफलता की संभावना बहुत अधिक बढ़ जाती है । मात्र जप करते रहा जाये और मन खाली रहे तो वह इधर-उधर भागता रहेगा । फलतः उपासना में न तो रस मिलेगा और न सफलता का सुयोग बनेगा ।

मनःशक्ति प्रचण्ड है । बिखराव में वह नष्ट होती रहती है । यदि ध्यान द्वारा उसे एक-एक केन्द्र पर इकटठा कर लिया जाये तो उसका प्रभाव परिणाम चमत्कारी होता है । सूर्य की किरणें आतिशी शीशे के माध्यम से इकट्ठी कर ली जायें, तो आग जलने लगेगी । बिखरी बारूद को जला देने से थोड़ी सी चमक भर उत्पन्न होती है, पर यदि उसे बन्दूक में भर कर एक ही दिशा में नियोजित किया जाये तो वह निशाना बेधती हुई पार निकल जाती है । भाप ऐसे ही बेकार उड़ती रहती है । किन्तु उसकी थोड़ी सी मात्रा भी एक केन्द्र पर लगा दी जाये तो उससे रेलगाड़ी के इंजन हजारों टन माल लेकर द्रुत गति से दौड़ने लगते हैं । मनःशक्ति बारूद भाप, धूप आदि सबसे प्रचण्ड है, उसे ध्यान द्वारा एकाग्र करके भौतिक अथवा आत्मिक प्रयोजनों में लगाने से आशाजनक सफलताओं के नये-नये आधार बन जाते हैं ।

मनुष्य की आस्था अपने श्रद्धा-विश्वास के सहारे कई समर्थ दिव्य सत्ताओं का सृजन कर सकती है और उसकी हलचलें उतनी ही सामर्थ्यवान हो सकती है, जितनी कि श्रद्धा की गहराई । अपने भक्तों की उनके उपास्य

ने जो असाधारण सहायताएँ की हैं और चमत्कार दिखाये हैं, इनमें देवताओं का स्वतंत्र अस्तित्व, बल एवं उपासनात्मक विधि-विधानों का अन्तर नहीं, साधक के व्यक्तित्व की पवित्रता एवं उपास्य के प्रति गहन श्रद्धा को ही आधारभूत कारण मानना चाहिए । प्रतीक-उपासना से इसी प्रयोजन की पूर्ति करनी होती है । ध्यान-साधना भी इसी प्रयोजन को पूरा करती है ।

उपासक निराकार साधना करता हो अथवा साकार की उपासना करता हो, उसे अनिवार्य रूप से ध्यान का अवलंबन लेना ही पड़ेगा । निराकारवारी अन्तर्मुखी होकर दिव्य ज्योति के रूप में परमात्म सत्ता का दर्शन करते हैं । आमतौर से यह छोटा-बड़ा प्रकाश बिन्दु ही होता है, उसे सूर्य का प्रतीक मानते हैं । वस्तुतः यह ज्ञान ज्योति है, मात्र चमक या गर्मी नहीं । अध्यात्म साधना में अग्निपिण्ड सूर्य की प्रतिमा भर माना गया है । उसकी मूल सत्ता ज्ञान भर कही गयी है । निराकार पूजा तत्त्व का साकार रूप सविता है । सविता अर्थात् सद्ज्ञान को अन्तःकरण में आलोकित करने वाला प्रकाशवान परब्रह्म ध्यान करते समय सूर्य छवि पर एकाग्रता तो करनी चाहिए पर साथ ही यह ध्यान रखना चाहिए कि यह दिव्य आलोक का, सद्ज्ञान रूपी प्रकाश का प्रतीक मात्र है । मात्र जड़ पिण्ड नहीं ।

सूर्य पर ध्यान करते हुए अनुभूति की जाती है कि वह आलोक साधक के शरीर, मन और अन्तरात्मा में–स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में सक्रियता, सद्ज्ञान एवं सद्भाव बनकर प्रकाशवान हो रहा है । इन दोनों क्षेत्रों को आलोकित हुआ मानते हुए उत्तेजित, विकसित, परिष्कृत हुआ भी अनुभव किया जाता है । इस प्रकार सूर्य को न केवल आलोक प्रदर्शन की दिव्य प्रक्रिया मात्र मानकर बात समाप्त कर दी जाती है, वरन् उसकी आभा से आत्मसत्ता को पूरी तरह वर्तमान स्थिति को भविष्य में अधिक समुन्नत स्थिति में देखने की आस्था भर है । यह जितनी ही गहरी होगी, उसी अनुपात में साधक को लाभ मिलता चला जायेगा ।

साकार उपासना में नर और नारी की दोनों ही आकृतियों में परब्रह्म की प्रतिमा बनाई जाती रही हैं । दोनों को पवित्रता, कोमलता, उदारता, सेवा-स्नेह, वात्सल्य जैसी दिव्य भावनाओं के आधार पर देखना हो तो नारी की गरिमा अधिक बैठती है । नारी दानी है, और नर उपकृत । ईश्वर की प्रतिमा को किस रूप में माना जाये ? इस दृष्टि से विवेक का सहज झुकाव नारी के पक्ष में जाता है । पुरुष की अपनी विशेषतायें हैं, उसमें पुरुषार्थ, पराक्रम की प्रधानता है । यह गुण भौतिक सफलताओं में अधिक और आत्मिक प्रगति में कम काम आता है । अधिक अच्छा यही लगता है कि परब्रह्म को नारी रूप में मातृ सत्ता का प्रतीक मानकर चला जाये ।

गायत्री माता के रूप में परब्रह्म की स्थापना सर्वोपयोगी है । उसके सान्निध्य में, माता की गोदी में खेलने को बालक को मिलने वाले बालक वात्सल्य एवं पय-पान जैसे सूक्ष्म-स्थूल लाभों की अनुभूति होती है । नारी के प्रति अचिन्त्य-चिन्तन का जो प्रवाह इन दिनों चल पड़ा है, उसे रोकने और भाव भरी दिव्य श्रद्धा की प्रतिमा उसे मानने की, जन चेतना उत्पन्न करने की दृष्टि से भी यह स्थापना अतीव उपयोगी है । मानवता की, सद्बुद्धि की, सत्प्रवृत्तियों की प्रतिमा भी उसे माना जा सकता है ।

गायत्री माता का वाहन हंस माना गया है । हंस अर्थात् स्वच्छ कलेवर, नीर-क्षीर विवेक का प्रतिनिधि, मोती चुगने या लंघन करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ । यह गुण हंस पक्षी में नहीं होते, यह परिभाषा आध्यात्मिक हंस की है कि परमात्मा की दिव्य शक्ति को धारण करने के लिए साधक को अपनी उत्कृष्टता हंस स्तर की विकसित करनी चाहिए । उस क्रियात्मक स्थूल जीवन में धर्मपरायण, विचारात्मक सूक्ष्म जीवन में विवेकवान् और आस्था परक अन्तःप्रदेश में सद्भाव सम्पन्न होना चाहिए । व्यक्तित्व के इस समग्र परिष्कार के साथ ही ईश्वरीय दिव्य शक्ति के अवतरण की संभावना जुड़ी हुई है ।

आद्यशक्ति गायत्री माता की अथवा अपने विश्वास के आधार पर कोई अन्य प्रतिमा-एक छोटे किन्तु सुसज्जित सिंहासन पर स्थापित रहनी चाहिए । जब भी पूजा करनी हो, तब उसी के सामने बैठ कर करनी चाहिए । जिस स्थान पर जो कार्य बहुत समय तक किया जाता रहता है, वहाँ अनायास ही ऐसी विशेषता उत्पन्न हो जाती है जिससे प्रेरित होकर उन कार्यों की पुनरावृत्ति के लिए मन चलने लगता है । चाहे जहाँ, चाहे जब बैठकर भजन करने पर मन लगा लेना कठिन है, पर नियत स्थान

पर, नियत समय पर पूजा स्थल पर बैठते ही मन स्वभावतः उन अभ्यस्त क्रियाओं को स्वेच्छापूर्वक दुहराने लग जायगा–इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए नियत स्थान पर पूजा कक्ष का स्थापित करना और नियत समय पर नियत विधि से उपासना कृत्य को क्रियान्वित करना ही उपुयक्त रहता है ।

उपासना का अनिवार्य अंग ध्यान है । जप के साथ उसका जुड़ा रहना नितान्त आवश्यक है अन्यथा मन यहाँ-वहाँ भागता रहेगा ।

उपासना के समय सांसारिक विचार न आये इसका एक ही उपाय है कि उन क्षणों के लिए निर्धारित विचार पद्धति सामने रहे । वह भी दृश्य मुक्त आकर्षक स्तर की ऐसी हो जो मन को अपने शिकंजे में पकड़े रहे, यों वैज्ञानिकों जैसे गहरे चिन्तन से भी हो सकता है, पर वैसा बहुत समय के अभ्यास और एकाग्र स्तर मिल जाने पर ही सम्भव है । आरम्भ में दृश्य मुक्त चिन्तन मनःक्षेत्र पर छाया रहे ऐसा ही अभ्यास लेकर चलना चाहिए । ध्यान इसी को कहते हैं । उपासना में ध्यान अनिवार्य हैं । यदि उसे छोड़कर मात्र क्रिया-कृत्य ही किये जा रहे होंगे तो मन इधर-उधर भागता रहेगा और अधूरा शरीर कर्म ही पूजा-पाठ के नाम पर अपनी लँगड़ी-लूली गाड़ी घसीट रहा होगा ।

ध्यान साकार और निराकार—ध्यान का स्वरूप-आधार दो प्रकार के कहे गये हैं । एक में भगवान् की अमुक मनुष्याकृति को मानकर चला जाता है, दूसरे में प्रकाश पुंज की आस्था जमाई जाती हैं । तात्विक दृष्टि से यह दोनों ही साकार हैं । सूर्य जैसे बड़े और प्रकाश बिन्दु जैसे छोटे आकार का ध्यान रखना भी तो एक प्रकार का आकार ही है अन्तर इतना ही तो हुआ कि उसकी मनुष्य जैसी आकृति नहीं है । ध्यान के लिए ईश्वर की-परमलक्ष्य की-आकृति बनाना आवश्यक है । यों नादयोग, स्पर्शयोग, गन्धयोग को आकृति रहित कहा जाता है, पर ऐसा सोचना अनुपयुक्त हैं । नादयोग में शंख, घण्टा, घड़ियाल, वीणा आदि की ध्वनियाँ सुनी जाती हैं, पर अनचाहे ही वे वाद्ययंत्र कल्पना में आते रहते हैं जिनसे वे ध्वनियाँ निःसृत होती हैं । इसी प्रकार गन्ध ध्यान में मात्र गन्ध पर ही चिन्तन एकाग्र नहीं हो सकता, जिस पुष्प की वह गन्ध है, उसकी आकृति भी अनचाहे ही सामने आती रहेगी । ध्यान में आकृति से पीछा नहीं छूट सकता । मस्तिष्क की बनावट ही ऐसी है कि वह निराकार कहलाने वाले चिन्तन को भी आकृतियाँ बनाकर ही आगे चलता है । वैज्ञानिक के गहरे चिन्तन को निराकार कहा जाता है, पर वस्तुतः वह भी जो सोचता है उसमें कल्पना क्षेत्र की एक पूरी प्रयोगशाला सामने रहती है और प्रयोगात्मक हलचलें आँधी-तूफान की तरह अपना काम कर रही होती हैं । अन्तर इतना ही होता है कि वह स्थूल प्रयोगशाला के उपकरण छोड़ कर वही सारा प्रयोग कृत्य काल्पनिक प्रयोगशाला में कर रहा होता है, ध्यान में आकृति से पीछा छुड़ाना सम्भव नहीं हो सकता, अस्तु किसी को साकार-निराकार के वितण्डावाद में न पड़कर ध्यान धारणा के सहारे आत्म-चिन्तन का प्रयोजन पूरा करना चाहिए ।

ईश्वर की आकृति समेत ध्यान करना हो तो उन्हें नर या नारी की सुन्दरतम प्रतिमा के रूप में इष्टदेव मानना चाहिए और उनके पीछे कोई इतिहास न जोड़कर उत्कृष्टतम सद्गुणों की पूर्ण प्रतिमा अनुभव करना चाहिए । एक ही ब्रह्म को अनेक रूपों में कहा गया है यह उक्ति बहुदेववाद की तो मानती है, पर उनकी पृथकता अस्वीकार करती है । शंकर, दुर्गा, हनुमान, गणेश, सूर्य, राम-कृष्ण, सरस्वती, लक्ष्मी, गायत्री आदि की कोई भी प्रिय आकृति साकार ध्यान के लिए चुनी जा सकती है, पर यह नहीं सोचा जाना चाहिए कि यह अन्य किसी देव सत्ता से भिन्न है । एक ही मनुष्य के अनेक चित्र, पोज या सम्बोधन हो सकते हैं, ठीक इसी प्रकार विश्व में एक ही संव्याप्त चेतना के अनेक नाम रूप रखे जा सकते हैं, पर किसी आकृति को दूसरी आकृतियों से भिन्न नहीं माना जा सकता । इस भिन्नता की मान्यता ने बहुदेववाद के साथ अवांछनीय विग्रह उत्पन्न किये हैं और मूल प्रयोजन को ही लड़खड़ा दिया हैं ।

साकार उपासना में इष्टदेव के समीप अति समीप होने और उनके साथ लिपट जाने, उच्चस्तरीय प्रेम के आदान-प्रदान की गहरी कल्पना करनी चाहिए । इसमें भगवान और जीव के बीच माता-पुत्र, पति-पत्नी, सखा-सहोदर, स्वामी-सेवक जैसा कोई भी सघन सम्बन्ध माना जा सकता है । इससे आत्मीयता को अधिकाधिक घनिष्ठ बनाने में सहायता मिलती है । लोक-व्यवहार में स्वजनों के बीच आदान-प्रदान की वस्तुपरक अथवा क्रियापरक कल्पना की गई है । वस्तुतः यहाँ

प्रतीकों को माध्यम बनाकर भावनात्मक आदान-प्रदान की गहराई में जाया जाना चाहिए। भक्त अपनी अहंता की क्रिया, विचारणा, भावना एवं सम्पत्ति को भगवान के चरणों पर अर्पित करते हुए सोचता है, यह सारा वैभव उसी दिव्य सत्ता की धरोहर है। इसका उपयोग व्यक्तिगत वासना, तृष्णा के लिए नहीं-ईश्वरीय प्रयोजनों के लिए किया जाता है। वह स्वयं तो मात्र खजांची-स्टोर कीपर भर हैं।

ध्यान का एक मात्र उद्देश्य भगवान और भक्त के बीच तादात्म्य स्थापित करना है, मात्र किसी आकृति का ध्यान चित्र देखते भर रहने से काम नहीं चलता। भक्त अपने स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों को क्रिया, विचारणा और भावना को ईश्वर अर्पण करके उसे मात्र दिव्य प्रयोजनों में नियोजित रखने का संकल्प सघन करता है। इसके साथ-साथ भौतिक सम्पत्ति तो अर्पित हो ही जाती हैं। समर्पण का तात्पर्य है व्यक्तिगत-भौतिक महत्वाकांक्षाओं की समाप्ति और उसके स्थान पर ईश्वर इच्छा की, उच्च आदर्शों की, अपने ऊपर नियन्त्रण करने वाली स्थापना। इसी मान्यता को अन्तःकरण में यथार्थवादी निष्ठा के साथ स्थापित करने को आत्म-समर्पण कहते हैं। ध्यान के द्वारा इसी निष्ठा को परिपक्व किया जाता हैं।

भक्त का समर्पण बदले में भगवान का अनुग्रह आश्वासन। इसी के तरह-तरह के लौकिक स्वरूप-चित्र कल्पित किये जा सकते हैं। साकार ध्यान में अपनी रुचि की कल्पनायें करते रहने और उस दृश्यावली में डूबे रहने की पूरी छूट है। ध्यान की एकाग्रता इसी सीमा तक है कि उसमें भक्त और भगवान के बीच होने वाले आदान-प्रदान की कल्पनाएँ ही चलनी चाहिए, भौतिक लाभ या प्रयोजन आड़े नहीं आने चाहिए। पूर्ण एकाग्रता जिन्हें शून्यावस्था, योगनिद्रा या समाधि कहते हैं, बहुत ऊँची स्थिति है। मन कहीं जाये ही नहीं एक बिन्दु पर केन्द्रित रहे ऐसा हो सकने को ही तुरीयावस्था या समाधि कहते हैं। यह आरम्भिक सांधना में लगभग असंभव ही है उसकी बात नहीं सोची जानी चाहिए। ध्यान साधना का व्यावहारिक रूप इतना ही है कि भक्त और भगवान के बीच उच्चस्तरीय आदान-प्रदान चलना चाहिए। भक्त अपनी समस्त आकांक्षाओं और सम्पदाओं को ईश्वर के लिए समर्पित करता है और उसके बदले में वह सब कुछ पाता है जो स्वयं है। मनुष्य को संतुष्ट करने वाली ईश्वरीय सत्ता अपनी अनुभूति आनन्द और उल्लास के रूप में छोड़ती हैं। भगवान से कुछ मिला या नहीं इसकी परख इस रूप में की जा सकती है कि उल्लास-आदर्शवादिता के प्रति उत्कण्ठा भरा उभार अन्तःकरण में उमंगना आरम्भ हुआ या नहीं। सद्भावना और सत्प्रवृत्ति अपनाने वाले को सहज ही मिलते रहने वाला आत्म-संतोष, आनन्द अनुभव में आता हैं या नहीं।

अन्तिम पंचम चरण है सूर्यार्घ दान। पूजा के समय जल पात्र के प्रतिष्ठापित छोटे से पवित्र जल कलश को सूर्य भगवान के सम्मुख अथवा उनकी दिशा में अर्घ दिया जाता है। यह जप रूपी यज्ञ की पूर्णाहुति है। इसे श्रद्धांजलि जलांजलि कह सकते हैं। जल चढ़ाते समय यह भाव रहना चाहिए कि सूर्य परब्रह्म परमात्मा की प्रतिमा है, कलश अपने अस्तित्व का प्रतिनिधि है। कलशों में भरा हुआ जल जीवन सम्पदा माना जाये और उसे सविता के विराट् ब्रह्म के चरणों में समर्पित किया जाये। समर्पित करते समय यह भावनाएँ उभरनी चाहिए कि हमें अपना अस्तित्व, वैभव, विशाल विश्व के लिए, लोक कल्याण के लिए अर्पण करके उसे सच्चे अर्थों में सार्थक बनाना है। समर्पित जल सविता की ऊष्मा से भाप बनकर आकाश में बिखर जाता है और वातावरण में शीतलता उत्पन्न करके सीमित से असीम बनता है। इसी में मानव जीवन की पूर्णता, सार्थकता और ईश्वर की प्रसन्नता सन्निहित है। जीवन जल को परमार्थ के लिए समर्पित करके ही मनुष्य धन्य बनता है, यही आत्म शिक्षण सूर्यार्घ की प्रक्रिया के साथ जुड़ा हुआ है।

उपासना के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि उसमें केवल पूजापरक कर्मकांड ही काफी नहीं वरन् साथ में भावनात्मक समावेश भी होना चाहिये। ज्यों-त्यों कुछ पूजा-पत्री कर देने, थोड़ा जप कर लेने या कुछ पाठ कर लेने मात्र से काम नहीं चलेगा। आमतौर से लोग इतना ही करते हैं और समझ लेते हैं कि उनकी उपासना पूर्ण हो गई। कर्मकांड पूजा का एक महत्त्वपूर्ण अंग तो है पर उतने मात्र से उसमें पूर्णता नहीं आ सकती। उपासना के हर कर्मकांड के साथ आवश्यक भावनाओं का समन्वय रहे तभी उनमें प्रखरता आयेगी।

श्रद्धा में विश्वास का समुचित पुट रहना चाहिये । उपेक्षा, अवज्ञा और कौतूहल की तरह विधि-विधान की लकीर पीट लेने से काम नहीं चल सकता । शारीरिक क्रियाओं के साथ-साथ आत्मिक उद्गारों का समन्वय भी अभीष्ट है । उसी आधार पर उपासना प्राणवान बनती है ।

इसलिये हम सदा से इस बात पर जोर देते रहे हैं कि कोई साधक केवल मात्र पूजन-जप कर लेने से सन्तुष्ट न हो जाये अन्यथा उसे वैसे ही खाली हाथ रहना पड़ेगा, जैसे कि और हजारों, लाखों लोग निराशा के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं कर पाते । हमने अपने जीवन का लगभग सारा ही जीवन उपासना में लगाया है और मन्थन, चिन्तन, मार्गदर्शन, अध्ययन एवं अनुभव के आधार पर यह पाया है कि उपासना में पूजा के अतिरिक्त भावना और साधना का भी समन्वय होना चाहिए, तभी वह अभीष्ट परिणाम प्रस्तुत करने में समर्थ हो सकती है । जितना ध्यान पूजा पद्धति पर दिया जाता है, उससे भी अधिक भावना तथा साधना पर दिया जाना चाहिए । तीनों का सम्मिश्रण जहाँ भी होगा वहाँ सफलता निश्चित रूप से मिलेगी ।

उपासना का उपचार सम्पन्न करते हुए–जप, पूजन, वन्दन, अर्चन, स्तवन, ध्यान करते हुए–हमें यह अनुभूति भी करनी चाहिये कि इष्टदेव हमारे अति निकटवर्ती स्वजन, सम्बन्धी, मित्र, कुटुम्बी एवं आत्मीय है । प्रियजनों के बीच अनेक रिश्ते होते हैं, उन्हीं में से एक रिश्ता उनसे स्थापित कर लेना चाहिये । माता-पिता, गुरु, बंधु, मित्र, पति आदि अपने से बड़े पक्ष का रिश्ता अधिक उपयोगी रहता है । कभी-कभी पुत्र, पत्नी आदि के रिश्ते भी स्थापित किये जाते हैं । कौशिल्या, देवकी, यशोदा, सूरदास आदि ने बालगोविन्द को इष्ट माना था । फारसी भाषा के सूफी कवियों ने इश्क हकीकी की भक्तिधारा में भगवान् को अपनी प्रेयसी के रूप में भी चित्रित किया है । ऐसी भावनाएँ काफी कठिन पड़ती हैं । सरल वे हैं जिनमें भगवान् से अपने से ऊँचे रिश्ते का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है । ऐसे रिश्तों में माता का सम्बन्ध सबसे बड़ा, सबसे सरल और सबसे भावपूर्ण है ।

गायत्री उपासना में भगवान् को माता के रूप में माना गया है । माता के प्रति बालक का प्रेम सबसे सरल और स्वाभाविक है । क्या मनुष्य, क्या मनुष्येत्तर, पशु-पक्षी,कीट-पतंग सभी अपने बच्चों को प्यार करते हैं । माता में तो वह प्यार और भी अधिक होता है । अन्य योनियों में तो बहुधा माता ही एकमात्र शिशु की संरक्षक एवं स्नेह भाजन होती है । अन्य रिश्तों में प्रेम का आधार गुण-दोष एवं लाभ-हानि होते हैं, पर माता का स्नेह इन सबसे ऊँचा, परम निःस्वार्थ और त्याग-बलिदानों से भरा पूरा होता हैं ।

"कुपुत्रो जायेत् क्वाचिदपि कुमाता न भवति" पुत्र, कुपुत्र हो जाता है पर माता, कुमाता नहीं होती । इस उक्ति के आधार पर माता का रिश्ता इस संसार में सर्वोपरि प्रेम का प्रतीक माना गया है । अतएव ईश्वर के साथ उसी की स्थापना अधिक श्रेयस्कर सिद्ध होती है । हम भगवान् को अपनी माता मानें और उसी आधार पर भगवान् हमें अपना पुत्र मानते हुए अनन्त वात्सल्य की वर्षा करे तो यह भावनात्मक आदान-प्रदान प्रेम परम्परा का एक महान् घटक बन जाता है । ईश्वर को माता मानकर एक मातृ-प्रतिमा की अथवा ध्यान-छवि की स्थापना के पश्चात उपासना पथ पर प्रगति में गतिशीलता उत्पन्न होती है । भावनात्मक आदान-प्रदान के लिये इस प्रकार की स्थापना आवश्यक है ।

इसके उपरांत हमारी अनुभूति में दूसरी स्थापना यह होनी चाहिये कि इष्टदेव सर्वव्यापी और न्यायमूर्ति है । घट-घट में, कण-कण में समाये हैं । अपने रोम-रोम में, भीतर और बाहर उन्हीं की सत्ता ओत-प्रोत है । तिल भर भी ऐसी जगह नही जहाँ वे न हों । हर जड़-चेतन पदार्थ में, अपने समीपवर्ती और दूरवर्ती वातावरण में उन्हीं का प्रकाश जगमगा रहा है । उन्हें हर जगह हम देख सकते हैं, और वे हर पदार्थ में से अपनी सहस्रों आँखों द्वारा हमारे बाह्य और अन्तरंग स्तर को बारीकी से देखते रहते हैं । हमारा कोई कृत्य, कोई विचार, कोई भाव उनसे छिपा नहीं रहता ।

उपासक की मनोभूमि में यदि उपर्युक्त अनुभूति हो तो भगवान् की समीपता का आनन्द उपलब्ध होने में कुछ कठिनाई न रहेगी । तब केवल प्रेम भावना का समावेश शेष रह जाता है । यह तत्त्व जितना-जितना जप-ध्यान के साथ-साथ घुलता जायेगा, उसी क्रम से उपासना में आनन्द की अभिवृद्धि होती चलेगी । प्रेम की समीपता सदा सुखद होती है । भगवान् को यदि अपना प्रेम-पात्र बना लिया गया है, उसे माता, गुरू या सखा के रूप

में वरण कर लिया गया है तो निस्सन्देह उसके साथ रहने की भावना अति सुखद होगी और उस अवसर पर मन खूब लगेगा । मन का स्वभाव यह है कि वह प्रेमपात्र के पास, प्रिय वस्तु के साथ, प्रिय कल्पना के सान्निध्य में रहना पसन्द करता है । दौड़-दौड़ कर वहीं जाता है । यदि हम ईश्वर को अपना प्रिय-पात्र बनालें तो मन फिर कहीं भागेगा-दौड़ेगा नहीं वरन् जब भी ध्यान-धारणा में संलग्न होंगे, मन वहीं रमण करता रहेगा और चाहेगा कि उसी सुखद सन्दर्भ में अधिक से अधिक समय बिताने का अवसर मिले । तब मन न लगने का, जी उचटने का, चित्त न लगने का प्रश्न ही उपस्थित न होगा । मन को वश में करने, चित्त प्रवृत्तियों को एकाग्र करने की गुत्थी सुलझ सकती है, जब हम ईश्वर को अपना प्रिय सम्बन्धी बना लें और उसके साथ रहने में वैसा ही सुख अनुभव करें जैसा कि किसी परम प्रिय परिजन के साथ रहने पर अनुभव, करते हैं । इसके अतिरिक्त मन को वश में करने तथा चित्त को एकाग्र करने का कोई और रास्ता है ही नहीं ।

आत्मिक प्रगति के दो प्रधान आधार

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस का शुभारम्भ करते हुए भवानी और शंकर की वन्दना की है । ये दोनों क्या हैं, इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने कहा है–'भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ' । भवानी को उन्होंने श्रद्धा और शंकर को विश्वास के रूप में उल्लेख किया है । बात सोलह आने सच है । भवानी और शंकर में जो शक्ति हो सकती है, वह सारी की सारी–ज्यों की त्यों–श्रद्धा और विश्वास में विद्यमान है । अध्यात्म तत्त्व-ज्ञान का सारा आधार इन्हीं दोनों पर है । दृश्य जगत् के आधार पंचतत्त्व हैं ।

दिखाई देने वाले समस्त जड़ पदार्थ–मिट्टी, पानी, हवा, गर्मी और आकाश द्वारा विभिन्न वस्तुएँ उत्पन्न होतीं, बढ़तीं और जराजीर्ण होकर नष्ट होती हैं, उसी प्रकार श्रद्धा विश्वास के आधार पर भावनाओं का निर्माण होता है । यह भावनाएँ और मान्यताएँ ही चेतन जगत् में विविध-विधि सृजनात्मक ताने-बाने बुनती हैं । श्रद्धा और विश्वास अपने आप में इस सृष्टि के महत्तम शक्ति-स्रोत हैं । इन्हीं के आधार पर व्यक्ति और पदार्थों के साथ हमारे सम्बन्ध जुड़े हुए हैं । आशा और उत्साह इन्हीं पर निर्भर है । सृजनात्मक प्रेरणा यही उत्पन्न करते हैं । भविष्य का निर्माण और निर्धारण इन्हीं के आधार पर सम्भव होता है । यदि यह दोनों तत्त्व चेतना क्षेत्र से अलग हटा दिये जायें तो फिर यह जीवन-जीवन कहलाने योग्य ही न रह जायेगा ।

श्रद्धा, कल्पना को नहीं, उस मान्यता, आस्था एवं दृष्टि को कहते हैं, जो आत्मानुभूति जैसे खरे आधार पर प्रमाणित होती है और जिसके असंख्य प्रमाण सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज तक के इतिहास में पग-पग पर भरे पड़े हैं । श्रद्धा एक सजीव शक्ति है जिसका आरोपण जहाँ भी किया जाये वहीं अभिनव चेतना उपज पड़ती है । आग को जिस वस्तु में भी लगा दिया जाये वही गरम और चमकीली हो जाती है । श्रद्धा का आरोपण जिस भी व्यक्ति अथवा पदार्थ पर किया जाये, वह दूसरों के लिए न सही उस आरोपण करने वाले के लिए तो दिव्य सत्ता से परिपूर्ण बन ही जाता है । देव आस्था का यही स्वरूप है ।

निर्जीव प्रतिमाओं को देव भाव से देखने पर उनमें सचमुच देवत्व उत्पन्न हो जाता है और वे उस श्रद्धालु के लिये उसकी श्रद्धा के अनुरूप फल देने लगती हैं । ईश्वर के बारे में निर्धारित हमारी श्रद्धा उसे हमारे सामने 'भक्त के वश में बने हुए भगवान्' का एक घटक बना कर प्रस्तुत कर देती है ।

श्रद्धा से बनी भूत की कल्पना प्राण-घातक दुष्परिणाम उत्पन्न करती है । भय और आकांक्षाओं से आतंकित लोग अपना अच्छा-खासा स्वास्थ्य खो बैठते हैं । आत्म-विश्वास और मनोबल के आधार पर चमत्कारी प्रतिफल उत्पन्न किये जाते हैं । यह सारे खेल श्रद्धा के ही हैं । साधना के सत्परिणामों की एक विशाल शृंखला है । अगणित साधक, अगणित प्रकार के सत्परिणाम साधना प्रयोगों के आधार पर प्राप्त करते हैं, इसके मूल में उनकी श्रद्धा की शक्ति ही सन्निहित होती है । साधक अपने ही नाम-रूप की साधना करके-अपने ही जैसे एक 'छाया पुरुष' निर्मित और सिद्ध कर लेते हैं । यह मनुष्य आकृति का देव बड़े-बड़े अनोखे काम करता है ।

यह रचना हमारी श्रद्धा द्वारा ही की गई होती है । अनेक देवताओं का सृजन इसी प्रकार होता है । अन्तःकरण में कौन दिव्य शक्ति कितनी, कहाँ कैसे है यह प्रश्न अलग है । यहाँ तो यह कहा-समझाया जा रहा है कि हमारी श्रद्धा-अपनी सामर्थ्य से, अपनी मान्यता, आकृति, रुचि और प्रयोजन का एक स्वतन्त्र देव विनिर्मित कर सकती है । यह देवता उतने ही समर्थ होते हैं, जितनी हमारी श्रद्धा उन्हें बल प्रदान करती है । दुर्बल श्रद्धा से बने देव केवल आकृति मात्र का दर्शन देने में समर्थ होते हैं । वे कुछ अधिक सहायता नहीं कर सकते । पर जिनकी श्रद्धा प्रबल है, उनके देव भी अद्भुत पराक्रम प्रस्तुत करते देखे जाते हैं ।

श्रद्धा और विश्वास का सम्बल लेकर ही हमें अध्यात्म क्षेत्र में प्रवेश करना चाहिये "ईश्वर है–उसकी सत्ता विद्यमान है–उसका सान्निध्य प्राप्त किया जा सकता है और उसका प्रकाश मिल सकता है" यह विश्वास जितना ही प्रखर एवं स्पष्ट होगा उतना ही सफलता हमारी साधना प्रस्तुत करेगी । कितना जप करने से कितने दिन में, ईश्वर की कितनी कृपा मिल सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व यह भी जानना होगा कि साधक की श्रद्धा में कितनी प्रखरता है ? यदि अश्रद्धा और अविश्वास से, उदास मन से बेगार भुगतने की तरह कुछ पूजा-पाठ किया जा रहा है तो उसका परिणाम भी लंगड़े-लूले जैसा होगा । बहुत दिन में थोड़ा-सा लाभ दिखाई देगा । छोटे से दीपक की लौ से जल पात्र बहुत देर में गरम होगा, किन्तु यदि आग तीव्र हो तो थोड़ी ही देर में पानी खौलने लगेगा । उपासना का क्रिया-कृत्य पूरा कर लेना अभीष्ट परिणाम उत्पन्न नहीं कर सकता । आवश्यकता श्रद्धा के समन्वय की भी है । यह समावेश जितना अधिक और जितना प्रखर होगा, सत्परिणाम उतनी ही बड़ी मात्रा में और उतना ही शीघ्र दृष्टिगोचर होगा ।

उपासना, विधान और तत्त्वदर्शन

सामान्य विधि-विधान में गायत्री मंत्र का ॐकार, व्याहृति समेत त्रिपदा गायत्री का जप ही शान्त-एकाग्रमन से करने पर अभीष्ट प्रयोजन की पूर्ति हो जाती है ।जप के साथ ध्यान भी अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ हैं । गायत्री का देवता सविता है । सविता प्रातःकाल के उदीयमान स्वर्णिम सूर्य को कहते हैं । यही ध्यान गायत्री जप के साथ किया जाता है, साथ ही यह अभिव्यक्ति भी उजागर करनी होती है कि सविता की स्वर्णिम किरणें अपने शरीर में प्रवेश करके ओजस मनःक्षेत्र में प्रवेश करके तेजस और अन्तःकरण तक पहुँचकर वर्चस् की गहन स्थापना कर रही है । स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों को समर्थता, पवित्रता और प्रखरता से सराबोर कर रही हैं । यह मान्यता मात्र भावना बनकर ही नहीं रह जाती, वरन् अपनी फलित होने वाली प्रक्रिया का भी परिचय देती है । गायत्री की सही साधना करने वालों में ये तीनों विशेषताएँ प्रस्फुटित होती देखी जाती हैं ।

शुद्ध स्थान पर, शुद्ध उपकरणों का प्रयोग करते हुए, शुद्ध शरीर से गायत्री उपासना के लिए बैठा जाता है । यह इसलिए कि अध्यात्म प्रयोजनों में सर्वतोमुखी शुद्धता का संचय आवश्यक है । उपासना के समय एक छोटा जल-पात्र कलश के रूप में और यज्ञ की धूपबत्ती या दीपक के रूप में पूजा चौकी पर स्थापित करने की परम्परा है । पूजा के समय अग्नि स्थापित करने का अर्थ है अग्नि को अपना इष्ट मानना । तेजस्विता, साहसिकता और आत्मीयता जैसे गुणें से अपने मानस को ओतप्रोत करना । जल का अर्थ है शीतलता, शान्ति, नीचे की ओर ढलना अर्थात् नम्रता का वरण करना ।

पूजा चौकी पर साकार उपासना वाले गायत्री माता की प्रतिमा रखते हैं । निराकार में वही काम सूर्य का चित्र अथवा दीपक, अग्नि रखने से चल जाता है । पूजा के समय धूप, दीप, नैवेद्य, पुष्प आदि का प्रयोग करना होता है । यह सब भी किन्हीं आदर्शों के प्रतीक हैं । अक्षत अर्थात् अपनी कमाई का एक अंश भगवान के लिए अर्पित करते रहना । दीपक अर्थात् स्वयं जल कर दूसरों के लिए प्रकाश उत्पन्न करना । पुष्प शोभायापन भी होते हैं और सुगंधित भी । मनुष्य को भी अपना जीवनयापन इसी प्रकार करना चाहिए । पंचोपचार की पूजा-सामग्री इसलिए समर्पित नहीं की जाती कि भगवान को उनकी आवश्यकता है, वरन् उसका प्रयोजन यह है कि दिव्य सत्ता यह अनुभव करे कि साधक यदि सच्चा हो, तो उसकी भक्ति-भावना में इन सद्गुणों का जुड़ा रहना अनिवार्य स्तर का होना चाहिए ।

उपचार सामग्री यदि न हो, तो सब कुछ ध्यान रूप में मानसिक स्तर पर किया जा सकता है। जिस प्रकार बड़े आकार वाले यज्ञ प्रक्रिया को छोटे दीपयज्ञों के रूप में सिकोड़ लिया गया है उसी प्रकार कर्मकाण्ड सहित पूजा-उपचार को मात्र भावना स्तर पर मानसिक कल्पनाओं के आधार पर किया जा सकता है। रास्ते चलते, काम-धाम करते, लेटे-लेटे भी गायत्री उपासना कर लेने की परम्परा है, पर यह सब होना चाहिए भाव संवेदनापूर्वक मात्र कल्पना कर लेना ही पर्याप्त नहीं है।

गायत्री अनुष्ठानों की भी एक परम्परा है। नौ दिन में चौबीस हजार जप का विधान है, जिसे प्रायः अश्विन या चैत्र की नवरात्रियों में किया जाता है, पर उसे अपनी सुविधानुसार कभी भी किया जा सकता है इसमें प्रतिदिन २७ मालाएँ पूरी करनी पड़ती हैं और अंत में यज्ञ-अग्निहोत्र सम्पन्न करने का विधान है।

सवालक्ष अनुष्ठान चालीस दिन में पूरा होता है, उसमें ३१ मालाएँ प्रतिदिन करनी पड़ती हैं। उसके लिए महीने की पूर्णिमा के आरंभ या अन्त को चुना जा सकता है। सबसे बड़ा अनुष्ठान २४ लाख जप का होता है, जिसे प्रायः एक वर्ष में पूरा किया जाता है।

—0—

गायत्री सर्वतोन्मुखी समर्थता की अधिष्ठात्री

इस विश्व में दो शक्तियाँ काम करती हैं–एक चेतन और दूसरी जड़ । जड़ पदार्थ देखने में ही स्थिर प्रतीत होते हैं, पर उनमें भी अद्भुत क्रियाशीलता विद्यमान है । परमाणु पदार्थ की सबसे छोटी इकाई है । वह चर्मचक्षुओं से स्थिर स्तब्ध दिखाई पड़ता है, पर जब सशक्त सूक्ष्म दर्शक यन्त्रों से उनकी अन्तरंग स्थिति को देखा जाता है, तो प्रतीत होता है कि परमाणु में कितनी प्रचण्ड शक्ति और द्रुतगामी हलचल भरी पड़ी है । अणु विश्लेषण, अणु विस्फोट के प्रयोगकर्त्ता जानते हैं कि पदार्थ का सबसे छोटा यह घटक भी अपने भीतर कितनी भयंकर क्षमता दबाये हुए है और वह क्षमता स्थिर न रह कर कितनी सक्रिय हलचलों में संलग्न है अणु भट्टियों से उत्पन्न ताप द्वारा, जो विशालकाय विद्युत उत्पादन योजनाएँ चल रही हैं और अणु-आयुधों द्वारा संसार भर का सर्वनाश करने की जो विभीषिका सामने खड़ी है, उसके मूल में परमाणु के अन्तराल में काम करने वाली प्रचण्ड सक्रियता ही मूल कारण है ।

परमाणु की तरह दूसरा घटक है-जीवाणु । जीवाणु का शरीर कलेवर तो रासायनिक पदार्थों से ही बना होता है,पर उसकी अन्तःचेतना मौलिक है, जो पदार्थ की शक्ति से उत्पन्न नहीं होती, पर अपने प्रभाव से कलेवर को तथा समीपवर्ती वातावरण को प्रभावित करती है । इसे चेतना कहते हैं । चेतना के दो गुण हैं, एक इच्छा एवं आस्था दूसरी विवेचना एवं विचारणा है । एक को अन्तरात्मा, दूसरी को मस्तिष्क कह सकते हैं । मस्तिष्क जो सोचता है उसके मूल में आकांक्षा, आस्था, विवेचना एवं विचारणा की सम्मिलित प्रेरणा ही काम करती है । इस जीव चेतना को परा प्रकृति कहते हैं ।

परमाणु सृष्टि का सबसे छोटा घटक है, इसका संयुक्त रूप ब्रह्माणु अथवा ब्रह्माण्ड है । व्यष्टि और समष्टि के नाम से भी इस लघुता और विशालता को जाना जाता है । जीवाणु की चेतन सत्ता आत्मा कहलाती है और उसकी समष्टि विश्वात्मा अथवा परमात्मा है । ब्रह्माण्ड में भरी क्रियाशीलता से परमाणु प्रभावित होता है । इसी बात को यों भी कह सकते हैं कि परमाणुओं की संयुक्त चेतना ब्रह्माण्ड-व्यापी हलचलों का निर्माण करती है । इसी प्रकार चेतना के क्षेत्र में इसी तथ्य को परमात्मा द्वारा आत्मा को अनुदान मिलना अथवा आत्माओं की संयुक्त चेतना के रूप में परमात्मा का विनिर्मित होना कुछ भी कहा जा सकता है ।

परमाणु का गहनतम विश्लेषण करने पर जाना गया है कि वह मूलतः ऋण और धन विद्युत प्रवाहों में उतना ही समृद्ध सम्पन्न बनता जाता है । इस विश्व में बिखरी हुई शोभा सम्पन्नता को उसी महाशक्ति का इन्द्रियों से अनुभव किया जा सकने वाला स्वरूप कह सकते हैं । इसकी चर्चा इस प्रकार हुई है–

ईश्वरोऽहम् च सूत्रत्माविराडात्माऽहमस्मि च ।
ब्रह्माऽहम् विष्णु रूद्रौ च गौरी ब्राह्मी च वैष्णवी
सूर्योऽहम् तारकाश्चाहं तारकेशस्तथाऽम्यहम् ।
यच्च किंचिकत्वचिद्वस्तु दृश्यते श्रूयतेऽपि वा ।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्याहम् सर्वदा स्थिता ।।
अपश्यस्ते महादेव्या विराड्रूपं परात्परम् ।
द्यौर्मस्तकं भवेद्यस्य चन्द्रसूर्यौ च चक्षुषी ।।
दिशः श्रोत्रे वचो वेदाः प्राणो वायुः प्रकीर्तितः ।
विश्व हृदयमित्याहुः पृथ्वी जघन स्मृतम् ।
नभस्तल नाभिसरो ज्योतिश्चक्रमुरःस्थलम् ।
महर्लोकस्तु ग्रीवा स्याज्जनलोको मुख स्मृतम् ।
तपोलोको रराटिस्तु सत्यलोकादधः स्थितः ।
इन्द्रादयो बाहवः स्युः शब्दः श्रोत्रं महेशितुः ।
नासत्यदस्त्रो नासे स्तो गन्धो घ्राणं स्मृतो वुधैः
मुखमग्नि समाख्यातो दिवारात्री च पक्ष्मणी ।
एतादृशं महारूपं ददृशुः सुरपुंगवाः ।
ज्वालामालासहस्त्राढ्य लेहिन च जिह्वया ।
सहस्रशीर्षनयनं सहस्रचरणं तथा ।
कोटि सूर्यप्रंतीकाश विद्युत्कोटिसमप्रभम् ।
भयंकरं महाघोरं हृदक्षणोस्त्रासकारकम् ।

–देवी भागवत

मैं ही अणु, मैं ही विभु हूँ । ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, गौरी, ब्राह्मी, वैष्णवी मैं ही हूँ । सूर्य, चन्द्र, तारागण मैं ही हूँ । जो कुछ भी दिखाई पड़ता है, या सुना जाता है, जो कुछ भीतर बाहर है, उस सब में मैं ही व्याप्त हूँ ।

देवताओं ने उसका विराट् रूप देखा । उसका मस्तक-आकाश, सूर्य-चन्द्रमा-नेत्र, दिशायें, कान, वेद-वाणी,

वायु-प्राण, विश्व-हृदय, पृथ्वी-जंघा, पाताल-नाभि, महलोक ग्रीवा, जनःलोक-मुख, सत्यलोक-अधः, तपोलोक-ललाट, इन्द्र-बाहु, शब्द-कान, अश्विनी कुमार-नासिका, गन्ध-नासिका, दिन-रात पलकें देखीं ।

देवताओं ने भगवती के ऐसे विराट् रूप के दर्शन किये । उसके शरीर में ये असंख्य ज्वालाएँ निकल रही थीं । उसके हजारों सिर, हजारों नेत्र, हजारों चरण थे करोड़ों सूर्यों और बिजलियों जैसी दीप्ति निकल रही थी ।

शक्तिवान के साथ शक्ति जुड़ी होती है । यह ब्रह्म शक्ति का समन्वय युग्म है । प्रत्येक शक्तिवान की सामर्थ्य को उसी संव्याप्त क्षमता का स्वरूप कहा जा सकता है । इसे पति-पत्नी के रूप में उदाहरणों सहित चित्रित किया गया है । समर्थों की सामर्थ्य के रूप में, विशिष्टों की विशेषता के रूप में इस महाशक्ति के दर्शन स्थान-स्थान पर किये जा सकते हैं । इसका आलंकारिक वर्णन देवी भागवत में इस प्रकार हुआ है ।

संसार में जितने भी अभाव और कष्ट हैं, जितनी भी आधि-व्याधियाँ हैं, उन सबको शक्ति की न्यूनता का प्रतिफल ही कहा जाना चाहिए । आत्मशक्ति के अभाव में सुख साधनों से वंचित रहना पड़ता, अस्तु शक्ति संयम के निरन्तर प्रयत्न करने चाहिए कि भौतिक समर्थता किस प्रकार प्राप्त होती है । इसे सब जानते हैं, पर आत्मिक तेजस्विता किस प्रकार पाई जा सकती है, इसका मार्ग अध्यात्म विज्ञान में बताया गया है । गायत्री साधना उसी के लिए की जाती है । शक्ति के अभाव में दुर्बलता और दुर्गति होने की चर्चा इस प्रकार आती है–

अनुमानमिदं राजन्कर्तव्य सर्वथा वुधैः ।
दृष्ट्वा रोग युतान्दीनाक्षन्क्षु धितान्निर्धनाञ्छढान् ।।
जनानातीस्थक्षा मूर्खान्पीड़ितान्वैरिभि सदा ।
दासानाज्ञा करान्क्षु द्रनिह्वलानथ ।।
अतप्तन्भोजने भोगे सदार्तानजितेन्द्रियान् ।
तष्णाधिकानशक्तोश्च सदाधिपरिपीड़ितान् ।।

-देवी भागवत

अर्थात्-हे राजन ! तुम कहीं पर लोगों को रोगी, दीन, दरिद्र, भूखे, प्यासे, शठ, आर्त,मूर्ख, पीड़ित पराधीन, क्षुद्र, विकल, विह्वल, अतृप्त, असन्तुष्ट, इन्द्रियों के दास, अशक्त और मनोविकारों से पीड़ित देखो तो समझना, इन्होंने शक्ति का महत्त्व नहीं समझा और उसकी उपेक्षा-अवहेलना की है ।

गायत्री-उपासना आत्मशक्ति एवं मनोबल अभिवर्धन का सरल किन्तु श्रेष्ठतम उपाय है । जो इसके लिए प्रयत्न करते हैं वे समर्थ, सफल और सार्थक जीवन जीकर धन्य बनते हैं ।

गायत्री-शक्ति का नारी स्वरूप

गायत्री महाशक्ति का स्वरूप और रहस्य–

मनुष्य-शरीर का विश्लेषण करके देखा जाय तो पता चलेगा कि पुरुष और नारी का भेद-भाव स्थूल शरीर तक ही है । दोनों के मूल में काम करने वाली चेतना शक्ति में कोई तात्त्विक भेद नहीं । दोनों में समान विचार शक्ति काम करती है । दोनों को ही सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण की अनुभूति होती है । जैसी इच्छायें-आकांक्षायें पुरुष की हो सकती हैं, कम ज्यादा वैसी ही इच्छायें और अनुभूतियाँ स्त्री में भी होती हैं । आत्मिक दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं । अन्तर केवल भावना और शरीर के कुछ अवयवों भर का है ।

गायत्री भी एक प्रकार की ईश्वरीय चेतना है, वह नारी है न नर । फिर भी शास्त्रों में उसे जननी और माता कहकर ही सम्बोधित किया गया है । यह पढ़कर कुछ कौतूहल अवश्य होता है, पर उसमें गलत कुछ भी नहीं है । गायत्री महाशक्ति के स्वरूप और रहस्य को समझने के बाद इस विभेद का अन्तर स्पष्ट समझ में आ जायेगा । वैसे जो उस महाशक्ति की उपासना नारी स्वरूप में न करना चाहें वे निराकार ब्रह्म, प्रकाश अथवा सविता देवता की उपासना मानकर भी उस महाशक्ति से लाभान्वित हो सकते हैं, उसमें न तो कुछ हानि है और न ही कुछ दोष । माता स्वरूप मानकर गायत्री उपासना कुछ सरल अवश्य हो जाती है, इसलिए शास्त्रकार ने उस आद्यशक्ति को माता का स्वरूप दिया है ।

गायत्री महामन्त्र भारतीय तत्वज्ञान एवं अध्यात्मविद्या का मूलभूत आधार है । चारों वेदों में उन्हीं २४ अक्षरों की व्याख्या हुई है । वट वृक्ष की समस्त विशालता उसके नन्हे से बीज में जिस प्रकार सन्निहित रहती है, उसी प्रकार के वेदों में जिस अविच्छिन्न ज्ञान-विज्ञान का विशद् वर्णन है, बीज-रूप से गायत्री मन्त्र में पाया जा सकता है ।

भारतीय धर्म में प्रचलित उपासना-पद्धतियों में सर्वोत्तम गायत्री ही है । उसे अनादि माना गया है । देवता, ऋषि, मनीषी उसका अवलम्बन लेकर आत्मिक

प्रगति के पथ पर आगे बढ़े हैं और इसी आधार पर उन्होंने समृद्धियाँ, सिद्धियाँ एवं विभूतियाँ उपलब्ध की हैं । हमारा प्राचीन इतिहास बड़ा गौरवपूर्ण है । इस गौरव-गरिमा का श्रेय हमारे पूर्व पुरुषों द्वारा उपार्जित आत्म-शक्ति को ही है । कहना न होगा कि इस दिव्य उपार्जन में गायत्री महामन्त्र का ही सर्वोत्तम स्थान है

स्थूल प्रकृति की शक्तियों का वैज्ञानिकों ने बहुत कुछ पता लगा लिया है, यद्यपि जो खोज शेष है, वह प्राप्त उपलब्धियों की तुलना में कहीं अधिक है, फिर भी निस्सन्देह इस दशा में बहुत प्रयत्न हुआ है । जो सफलता मिली है, वह सराहनीय है । प्राचीनकाल के तत्त्वदर्शी विज्ञानवेत्ता भौतिक विज्ञान की शक्ति और उसके उपार्जन की कष्टसाध्य प्रणाली से भली-भाँति परिचित थे, इसलिए वे उसे बाल क्रीड़ा जैसी उपहासास्पद एवं उपेक्षणीय मानते थे । उनकी दृष्टि से सूक्ष्म जगत और उसमें सन्निहित अद्भुत अनुपम एवं दिव्य शक्तियों की महत्ता थी, इसलिए उन्होंने अपना सारा ध्यान उसी ओर लगाया था, श्रम भी उसी दिशा में किया था । फलस्वरूप पाया भी इतना अधिक था कि धरती पर स्वर्ग अवतरित करना, मनुष्य में देवत्व का दर्शन करना सम्भव हो सका था ।

आज के वैज्ञानिक जिस प्रकार भौतिक शक्तियों का पता लगाकर उनका उपयोग यन्त्रों द्वारा कर रहे हैं, और अपनी सफलता से मानव जाति को लाभान्वित कर रहे हैं, उसी प्रकार प्राचीन काल के तत्वदर्शी वैज्ञानिकों ने,ऋषियों ने चेतन-जगत में समाविष्ट एक-से-एक महत्तर शक्तियों की जानकारी प्राप्त की थी और उनके उपयोग का लाभ मानव-जाति को दिया था । इस प्रकार की उनकी अगणित उपलब्धियों में गायत्री शक्ति का महान-उपयोग के लिए अवतरण हो सकना एक बहुत बड़ा वरदान है ।

जड़-जगत् में काम करने वाली विद्युत, गुरुत्वाकर्षण, अणु-विकिरण ब्रह्मांड व्यापी ईथर, उद्भव और विलय आदि अगणित शक्तियों का पता लगाया गया है । इसी प्रकार चेतन जगत् में व्याप्त शक्ति-पुंजों में से जितना कुछ ढूँढ़ा जा सकता है, उसका महत्त्व, उपयोग एवं परिणाम इतना अधिक है कि यदि उनमें से कोई थोड़ा सा भी उपयोग कर सके तो अपने व्यक्तित्त्व को सुनिश्चित करते हुए महामानव, अतिमानव, नरदेव एवं नर-नारायण बन सकता है ।

अणु-समूह की गतिशीलता से उस भौतिक जगत् का सारा क्रियाकलाप चलता है । उसी प्रकार सूक्ष्म जगत् के महदाकाश में चेतना की एक अविच्छिन्न धारा बहती है । उसी के फलस्वरूप जीवन के जितने भी स्वरूप विकसित एवं अविकसित जीवों में पाये जाते हैं, वे उस दिव्य चेतना की गतिशीलता ही प्रदर्शित करते हैं । इस अचिन्त्य अगोचर, अनुपम, विश्व ब्रह्माण्ड में लहराती हुई चेतना का नाम 'ब्रह्म' है । ब्रह्म इस समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त है । कोई कण उसकी उपस्थिति से रहित नहीं । भौतिक जगत की गतिविधियों को प्रेरणा इस ब्रह्म से ही मिलती है । आइन्सटीन प्रभृति चोटी के गणमान्य वैज्ञानिकों ने निस्संकोच भाव से यह स्वीकार किया है कि प्रकृति को सक्रिय रखने वाली अणुगतिशीलता वस्तुतः किसी अज्ञात् चेतनशक्ति के नियन्त्रण में काम करती है और उसी की शक्ति का अनुदान लेकर यह निर्जीव संसार सजीव जैसी चेष्टा कर रहा है । आज के वैज्ञानिक भले ही उस ब्रह्म-चेतना का स्वरूप ठीक तरह समझने में समर्थ न हो पा रहे हों, पर वह दिन दूर नहीं, जब उसका अस्तित्त्व भावना क्षेत्र तक सीमित न रहकर स्थूल जगत् में भी प्रत्यक्ष अनुभव किया जाने लगेगा । भारतीय तत्वदर्शियों ने इस ब्रह्म-चेतना की सत्ता चिर अतीत में ही जान ली और उस शक्ति के मानव-जीवन में उपयोग करने की प्रक्रिया का एक व्यवस्थित विधान बनाकर मानव-प्राणी के नगण्य अस्तित्त्व को इतनी महत्तम स्थिति में परिणित किया था, जिससे स्वयं तक ब्रह्मभूत हो सकें । इस विज्ञान का नाम 'अध्यात्म' रखा गया ।

अगण्य दृष्टिगोचर होने वाला अणु आत्मा जिस प्रक्रिया का अवलम्बन करने से विभु बन सके, नर से नारायण के रूप में विकसित हो सके-परम आत्मा, परमात्मा बन सके, उस विद्या का नाम अध्यात्म अथवा ब्रह्म विद्या रखा गया । ब्रह्म अपने आप में दृष्टा मात्र है । वह ऐसा है तो सही पर अपनी महत्ता एवं गरिमा के अनुरूप उत्पादन एवं व्यवस्था की प्रक्रिया का भी निर्धारण करता है । उसकी सक्रियता-शक्ति यद्यपि उसी का अङ्ग है तो भी उसकी क्रिया प्रणाली की भिन्नता देखते हुए उसे ब्रह्म की पूरक-सामर्थ्य भी कहा जा सकता है ।

३.४ गायत्री की दैनिक

पुराणों में गायत्री महाशक्ति का निरूपण ब्रह्माजी की पत्नी के रूप में हुआ । ब्रह्म अर्थात् ब्रह्म-पत्नी, अर्धांगिनी, अर्थात् क्षमता । पौराणिक उपाख्यान के अनुसार अलंकार यह है कि ब्रह्माजी की दो पत्नी थीं, एक गायत्री दूसरी सावित्री । गायत्री अर्थात् चेतन जगत् में काम करने वाली शक्ति । सावित्री अर्थात् भौतिक जगत् को संचालित करने वाली शक्ति । भौतिक विज्ञान सावित्री उपासना का विधान प्रस्तुत करता है । विभिन्न प्रकार के वैज्ञानिक आविष्कार एवं उपकरण सावित्री शक्ति की अनुकम्पा के ही प्रतीक हैं । गायत्री वह शक्ति है जो प्राणियों के भीतर विभिन्न प्रकार की प्रतिभाओं, विशेषताओं और महत्ताओं के रूप में परिलक्षित होती है । जो इस शक्ति के उपयोग का विधान-विज्ञान ठीक तरह जानता है वह उससे वैसा ही लाभ उठाता है जैसा कि भौतिक जगत के वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशालाओं, मशीनों तथा कारखानों के माध्यम से उपार्जित करते हैं ।

सामान्य स्थिति का नरपशु व्यक्तित्त्व की दृष्टि से विकसित होकर मानव महा-मानव, अति-मानव बनता है तो उसे अनन्त चैतन्य सागर में कल्लोल करने वाली इस ब्राह्मी शक्ति का ही आश्रय लेना पड़ेगा । आकाशवाणी के विभिन्न स्टेशनों से विभिन्न स्तरों पर, विभिन्न अभिभाषण प्रसारित रहते हैं । हमारा रेडियो-यन्त्र यदि निष्क्रिय पड़ा हो तो उसमें कोई ध्वनि सुनाई न देगी पर यदि उसमें बिजली चालू कर दी जाय और सुई निर्धारित मीटर पर लगा दी जाय तो जिस भी स्टेशन का प्रसारण मन्द या तीव्र ध्वनि में सुनना हो सुना जा सकेगा । ठीक इसी प्रकार ब्राह्मी महाशक्ति-गायत्री-सर्वव्यापक होते हुए भी असम्बद्ध लोगों का कोई विशेष हित साधन नहीं कर पाती, पर जो साथ अन्तःचेतना को जोड़ देते हैं वे उस धारा का अवतरण अपने में होता हुआ देखते हैं और उसका लाभ उठाते हैं । गायत्री उपासना की शास्त्रोक्त पद्धति एक ऐसी ही वैज्ञानिक प्रणाली है जो जीव को ब्राह्मी सत्ता के साथ जोड़कर वैसा ही लाभ उठाने का अवसर प्रस्तुत करती है, जैसा कि खाली तालाब भरे तालाब के साथ नाली द्वारा जोड़ दिया जाय तो कुछ ही देर में जल से भर जाने का लाभ ले सकता है ।

यों साधारण उपासना क्रम में गायत्री को एक देवी के रूप में चित्रित, अंकित किया गया है । त्रिकाल सन्ध्या में ब्राह्मी, वैष्णवी, शांभवी आकार-प्रकार में उसका ध्यान भजन किया जाता है । माता के रूप में उसकी भावना करते हैं और नारी आकृति की प्रतिमा में उसका पूजन-वन्दन सम्पन्न करते हैं । पर यह तो ध्यान की एकाग्रता और भक्ति भावना के जागरण का एक तरीका मात्र है । उपासना के लिए मानवीय मनोभूमि की रचना के अनुरूप शब्द एवं भावों का निर्धारण करना पड़ता है । विद्युत महाशक्ति के विश्वव्यापी सूक्ष्म रूप को वैज्ञानिक जानते हैं । साधारण लोग तो उसे बत्ती-पंखा आदि के रूप में कार्य करते हुए ही देखते हैं । उनकी दृष्टि में इस उपकरण में गायत्री की माता के रूप में पूजा अर्चा की जाती है और उसके साथ वैसा ही सम्बन्ध जोड़ा जाता है जैसा कि सांसारिक माँ-बेटे का होता है । यह प्रक्रिया आवश्यक है । क्योंकि निराकार तत्व के साथ पञ्चभौतिक मन अपना सम्बन्ध जोड़ ही नहीं सकता । निराकार का ध्यान सम्भव नहीं, और न उसके साथ किसी प्रकार आत्मीयता की भावना उठ सकती है । इसलिये ब्राह्मी शक्ति के निराकार होते हुये भी उपासना के लिये उसे साकार रूप में ही प्रतिष्ठापित करना पड़ता है । यदि ऐसा न किया जाय तो ध्यान जैसी उपासना की प्रक्रिया का द्वार ही बन्द हो जायगा । इसलिये गायत्री माता के साकार स्वरूप की उपयोगिता आवश्यक मानते हुए भी हमें यह जानना होगा कि ब्राह्मी महाशक्ति वस्तुतः एक विश्वव्यापी चेतन तत्व है, जो प्राणियों के प्राण के रूप में देखा जा सकता है । गायत्री उपासना द्वारा हम अपने सामान्य प्राण को महाप्राण में परिणित-विकसित करते हैं ।

साधारणतया मानव शरीर में रहने वाला अकिंचन-सा प्राण स्फुल्लिंग इतना ही प्रयोजन सिद्ध करता है कि प्राणी अपनी शारीरिक एवं मस्तिष्क की गतिविधियाँ जारी रख सकें जो जीवन धारण किये रहने के लिये आवश्यक है । प्राण के अन्तराल में से शक्ति कम्पन क्षण-क्षण पर उद्भूत होते रहते हैं, वे कोई अन्य उपयोग न होने के कारण यों ही शून्य में जाते और समाप्त होते रहते हैं । इसका कोई विशेष लाभ प्राणधारी को मिल नहीं पाता । पर यदि कोई ऐसा उपाय निकल आवे, जिससे इस प्राणतत्त्व के शक्ति-कम्पनों को सुरक्षित रखा जा सके तो यह कोष एक वृहद् भांडागार के रूप में सञ्चित होकर प्राणी को सच्चे अर्थों में शक्तिवान बना सकते हैं ।

गायत्री शब्द का नामकरण उसके क्रिया-कलाप एवं स्वभाव को ध्यान में रखकर ही किया गया है । इस महाशक्ति के साथ सम्बन्ध होने की प्रथम प्रतिक्रिया होती है कि साधक का प्राण-प्रवाह शून्य में बिखरना रुक जाता है और उसको ऐसा संरक्षण होता है जिससे कोई महत्त्वपूर्ण प्रयोजन सिद्ध किया जा सके । वर्षा का जल नदी-नालों में बहता हुआ यों ही अस्त-व्यस्त हो जाता है पर यदि उसे बाँध लगाकर रोका जा सके तो सिंचाई, विद्युत उत्पादन आदि कई कार्य सिद्ध हो सकते हैं । गायत्री उपासना प्राणशक्ति के क्षरण को रोकती है, उसकी रक्षा करती है और इस संरक्षण से से लाभान्वित उपासक दिन-दिन प्रगति पथ पर अग्रसर होता है, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुये उस महती शक्ति का नाम-गुण के अनुरूप-तत्वदर्शी मनीषियों ने गायत्री रखा ।

परमात्मास्तु या लोके ब्रह्मशक्तिर्विराजते ।
सूक्ष्मा च सात्विका चैव गायत्रीत्वाभिधीयते ।।

-स्कन्द

"सब लोकों में विद्यमान जो सर्वव्यापक परमात्मा शक्ति है, वह अत्यन्त सूक्ष्म सत्प्रकृति ही चेतन शक्ति गायत्री है ।"

अपना परिचय देते हुए इस महाशक्ति ने शास्त्रों के विभिन्न कथा-प्रसंगों में इस रहस्य का रहस्योद्घाटन किया है, कि मनुष्य के अन्दर जो सचेतन विशेषता होगी उसके मूल में ब्राह्मी-शक्ति का ही वैभव रहा होगा । धन-सम्पत्ति तो लोग उचित-अनुचित कई तरीकों से कमा लेते हैं । समृद्ध और श्रीमान् तो भाग्यवश मूर्ख भी बन जाते हैं, पर यदि किसी का व्यक्तित्व विकसित हो रहा होगा, तो उसके अन्तराल में यही ब्राह्मी-चेतना-गायत्री काम कर रही होगी । जिस सामर्थ्य के बल पर लोग विभिन्न प्रकार की सफलतायें उपलब्ध करते हैं, उस शक्ति को भौतिक नहीं, आत्मिक ही समझना चाहिए । आत्मबल के अभाव में समृद्धि का उपार्जन तो दूर, व्यक्ति उसकी रखवाली भी नहीं कर सकता । इस रहस्य का उद्घाटन उसी शक्ति के श्री मुख से इस प्रकार हुआ है ।

अहम् बुद्धि रहे श्रीश्च घृतिः कीर्ति स्मृतिस्तथा ।
श्रद्धा मेधा दया लज्जा क्षुधा तृष्णा तथा क्षमा ।।
कान्तिः शान्तिः पिपासा च निद्रातन्द्रा जराजरा ।
विद्याऽविद्या स्पृहावाञ्छा शक्तिश्चाक्ति देव च ।
बसा मज्जा च त्वज चाह दृष्टिर्वागनृत ऋता ।
परमध्या च पश्यन्ती नाडड्योऽहम् विविधा श्चयाः ।।
किं नांह पश्य सन्सारे मद्वियुक्त क्रियस्ति हि ।
सर्वनेवाहमित्येवं निश्चय विद्धि पद्मज ।।

-देवी भागवत

"मैं क्या नहीं हूँ ? इस संसार में ये मेरे सिवाय और कुछ नहीं है । बुद्धि, धृति, कीर्ति, स्मृति, श्रद्धा, मेधा, दया, लज्जा,क्षुधा, तृष्णा, क्षमा, कांति, शान्ति, पिपासा, निद्रा तन्द्रा, जरा, अजरा, विद्या, अविद्या, स्पृहा, बांछा, शक्ति, अशक्ति, वसा मज्जा, त्वजा दृष्टि असत् और सत्, वाणी परा मध्यमा, पश्यन्ती नाड़ी-संस्थान आदि सब कुछ में ही हूँ ।

मयसी अन्नमति यो विपस्यति यः प्राणिति य ई ।
शृणौत्युक्तम् ऊमन्त वो मांत उप क्षियन्ति शुधि श्रुत
श्रद्धि नै ते वदामि ।

-महार्णव.

"यह विश्व मुझसे ही जीवित है । मेरे द्वारा ही उसे अन्न मिलता है, मेरी शक्ति से ही वह बोलता और सुनता है । जो मेरी उपेक्षा करता है, वह नष्ट हो जाता है, हे श्रद्धावान् ! सुनो, यह रहस्य मैं तुम्हारे कल्याणार्थ ही कहती हूँ ।"

प्रकृति ने जड़ पदार्थ बनाये, पदार्थों की रचना उसने की पर उन पदार्थों को व्यवस्थित करने और उपयोगिता में लाने की क्षमता चेतना में ही रहती है । चेतन की अनुपस्थिति अथवा न्यूनता में सुख साधनों के प्रचुर परिमाण में उपस्थित रहने पर भी उनका कोई उपयोग नहीं । सोना जमीन में गढ़ा है पर किसी सजीव प्राणी को उसकी जानकारी न हो अथवा निकालने की क्रिया करने वाला कोई न हो, तो वह सोना जहाँ का तहाँ पड़ा रहेगा, उससे किसी का कुछ भी लाभ न होगा । उसी प्रकार शरीर जैसा बहुमूल्य यन्त्र जो मस्तिष्क से बहुत कुछ सोचता, हाथ पैरों से बहुत कुछ करता एवं इन्द्रियों से बहुत कुछ रसास्वादन करता है, चेतन तत्व निकल जाने पर निकम्मा बन जाता है । इसलिये सांसारिक सुख-साधनों की उपयोगिता होने पर भी महत्ता चेतन तत्व की ही है । समस्त सुख-साधनों का वास्तविक आधार और मूल स्रोत वही है ।

गायत्री का स्त्री स्वरूप क्यों ?

कई व्यक्ति पूछते हैं–गायत्री महाशक्ति को नारी रूप में क्यों पूजा जाता है, जबकि अन्य सभी देवता नर रूप हैं । इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि गायत्री मन्त्र में सविता देवता की प्रार्थना के लिए पुल्लिंग शब्दों का प्रयोग हुआ है, फिर उसे नारी रूप क्यों दिया गया ?

इन शंकाओं के मूल आधार में मनुष्य की वह मान्यता काम करती है जिसके अनुसार नर को श्रेष्ठ और नारी को निकृष्ट माना गया है । घरों में नारियाँ नर की सेवा पूजा करती हैं, उसके अधिकार आधिपत्य में रहती हैं, उन्हें छोटा या हेय माना जाता है । स्त्री का वर्चस्व स्वीकार करने में पुरुष अपना अपमान मानते हैं । किसी स्त्री अफसर के नीचे पुरुष कर्मचारियों को काम करना पड़े तो बाहर से कुछ न कहते हुए भी भीतर से कुड़कुड़ाते हैं । किसी घर में स्त्री की बात चलती हो, पुरुष अनुगामी हो, तो उसकी मखौल उड़ाई जाती है । नर की नारी के प्रति जो यह सामन्तकालीन तिरस्कार बुद्धि है उसी से प्रभावित होकर उसे यह सोचना पड़ता है कि वह नारी-शक्ति की पूजा क्यों करे ? जब नर देवता मौजूद है तो नारी के आगे मस्तक झुका कर अपने नर तत्व को हेय क्यों बनाया जाय ?

भगवान को नारी रूप में पूजने से किसी की कोई हानि नहीं वरन् लाभ ही है । माता के हृदय में अपार वात्सल्य है । जितनी करुणा एवं ममता माता में होती है, उतनी और किसी सम्बन्धी में नहीं । उपासना के लिए भगवान को किसी घनिष्ट सम्बन्धी के रूप में ही मान्यता प्रदान करनी पड़ती है । निराकार ब्रह्म का ध्यान सम्भव नहीं । ध्यान के बिना उपासना नहीं हो सकती । निराकारवादी भी ध्यान उपासना प्रयोजन के लिए प्रकाश का ध्यान करते हैं । प्रकाश ही आखिर पंचभूतों के अन्तर्गत आता है । ध्यान-भूमिका में प्रयुक्त किये जाने वाले प्रकाश बिन्दु एवम् सूर्य मण्डल का एक आकार बन ही जाता है, इसलिये उपासना में कोई न कोई आकार तो निर्धारित करना ही पड़ता है । इस आकार के साथ जितनी ही आत्मीयता, ममता, घनिष्ठता होगी, उतना ही मन लगेगा और चित्त एकाग्र होगा और भावनात्मक तन्मयता की ओर दृष्टि के साथ, भगवत प्राप्ति की ओर प्रगति होती चली जायगी ।

जिनके साथ घनिष्ठता स्थापित की जाती है, उनके साथ कोई रिश्ता बन जाता है । रिश्ते का अर्थ है असाधारण घनिष्ठता । परिवार के सदस्य कुटुम्बी और कन्याओं के आदान-प्रदान से सम्बन्धित रिश्तेदार कहलाते हैं । उससे अतिरिक्त लोगों को मित्र कहते हैं, गुरुजन भी । इन्हीं वर्गों में स्वाभाविक प्रेम बढ़ता है । इनके सान्निध्य में सुख और वियोग में दुःख मिलता है । भगवान को प्राप्त करने के लिए उसमें प्रेम सम्बन्ध दृढ़ करना होता है और इसके लिये उसे कोई प्रेम-पात्र, कुटुम्बी, रिश्तेदार अथवा मित्र जैसा सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है । इस सम्बन्ध मान्यता में जितनी अधिक आत्मीयता होगी उतनी ही प्रतिक्रिया मिलेगी । गुम्बज अथवा कुएँ की प्रतिध्वनि की तरह हमारा प्रेम ही ईश्वरीय प्रेम एवं अनुग्रह बनकर हमारे पास वापस लौटता है । जिस स्तर का भाव या प्यार हम भगवान के प्रति व्यक्त करते हैं, उसी के अनुरूप दीवार पर मारी हुई रबड़ की गेंद की तरह लौटकर भगवान की अनुकम्पा हमारे पास वापिस आ जाती है, इसलिए भगवान को कोई न कोई सम्बन्धी मानकर चलना होता है । उस मान्यता के आधार पर ही हमारी उपासना में प्रगति होती है ।

भगवान से कोई भी सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है । उस एक को ही किसी भी आत्मीय भावना के साथ देखा जा सकता है, उसके लिए हर मान्यता उपयुक्त है, कहा भी गया है कि–

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धु च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव ।।

प्रार्थना में जिन सम्बन्धों को गिनाया गया है, उनमें माता का सम्बन्ध सर्वप्रथम है, वह सर्वोपरि भी है, क्योंकि माता से बढ़कर परम निःस्वार्थ, अतिशय कोमल, करुणा एवं वात्सल्य से पूर्ण और कोई रिश्ता हो ही नहीं सकता । जब हम भगवान को माता मानकर चलते हैं तो उसकी प्रतिक्रिया किसी सहृदय माता के वात्सल्य के रूप में ही उपलब्ध होती है । इन उपलब्धियों को पाकर साधक धन्य हो जाता है ।

पिता से माता का दर्जा सौ गुना अधिक बताया गया है । यों पिता भी बच्चों को प्यार करते हैं, पर उस प्यार का स्तर माता की तुलना नहीं कर सकता । इसलिए सब में भगवान को माता मानकर चलना अपने ही हित में है । इसमें अपने को ही अधिक लाभ होता है ।

नारी के प्रति मनुष्य में एक वासनात्मक दुष्टता की प्रवृत्ति जड़ जमाये बैठी रहती है। यदि इसे हटाया जा सके, नर और नारी के बीच काम, कौतुक की कल्पना हटाई जा सके, तो विष को अमृत में बदलने जैसी भावनात्मक रसायन बन सकती है। नर और नारी के बीच जो 'रति' और 'प्राण' विद्युतधारा सी बहती है, उनका सम्पर्क वैसा ही प्रभाव उत्पन्न करता है, जैसा कि बिजली के निगेटिव और 'पोजिटिव' धाराओं के मिलन से विद्युत संचार का माध्यम बन जाता है। माता और पुत्र का मिलन एक अत्यन्त उत्कृष्ट स्तर की आध्यात्मिक विद्युत धारा का सृजन करता है। मातृ स्नेह से विहीन बालकों में एक बड़ा मानसिक अभाव रह जाता है, भले ही उन्हें सांसारिक अन्य सुविधाएँ कितनी ही अधिक क्यों न हों। पत्नी, बहिन, पुत्री आदि के रूप में भी नारी, नर को महत्त्वपूर्ण भावनात्मक पोषण प्रदान करती है और उसकी मानसिक अपूर्णता को पूर्ण करने में सहायक होती है। यह सांसारिक स्तर की बात उपासना के भावना क्षेत्र में भी लागू होती है। माता का नारी-रूप ध्यान-भूमिका में जब प्रवेश करता है, तो उसमें प्राण की एक बड़ी अपूर्णता पूरी होती है।

युवती नारी के रूप में माता का ध्यान करके हम नारी के प्रति वासना दृष्टि हटाकर पवित्रता का दृष्टिकोण जमाने का अभ्यास करते हैं। इसमें जितनी ही सफलता मिलती है, उतना ही बाह्य जगत् में भी हमारा नारी के प्रति वासना-दृष्टि रखने में मन हटता जाता है। इस प्रकार नर-नारी के बीच जिस पवित्रता की स्थापना हो जाने पर अनेक आत्मिक बाधायें, कुण्ठायें एवं विकृतियाँ दूर हो सकती हैं, उसका लाभ सहज ही मिलने लगता है। गायत्री माता का ध्यान एक वृद्धा नारी का नहीं वरन् एक युवती का होता है। युवती में यदि उत्कृष्टता की तथा पवित्रता की दृष्टि रखी जा सके तो समझना चाहिए कि आत्मिक स्तर सिद्ध योगियों जैसा तेजस्वी बन गया। गायत्री-उपासना में इस महाशक्ति को नारी रूप देकर इस एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक आवश्यकता की पूर्ति का प्रयत्न किया गया है।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से 'शक्ति' स्त्रीलिंग है। इसलिए यदि ध्यान कल्पना में उसे नारी रूप में निश्चित किया जाय, तो उसमें अनुचित कुछ भी नहीं है। उस महामन्त्र में सविता देवता के लिए पुल्लिंग शब्दों का प्रयोग भले ही हुआ है वह है तो स्तुति ही, प्रार्थना ही। प्रार्थना और स्तुति दोनों ही स्त्रीलिंग हैं। इसी दिशा में यदि गायत्री को स्त्री रूप में निश्चित किया जाता है तो इसमें बुराई क्या है। सच तो यह है कि शक्ति तत्व को स्त्री-पुरुष के वर्गों में विभक्त ही नहीं किया जा सकता। यह विभाजन तो शरीरधारी प्राणियों में सन्तानोत्पत्ति प्रयोजन के लिए ही होता है। दिव्य शक्तियाँ न तो शरीरधारी हैं और न उन्हें प्रजनन ही करना है, ऐसी दशा में उनमें वास्तविक लिंगभेद नहीं। उन्हें नर-नारी के रूप में तो ध्यान-सुविधा के लिए ही चित्रित किया जाता है, अथवा भाषा में जिस प्रकार का लिंग प्रयुक्त होता है, उसी आधार पर उनका शरीर बना दिया जाता है। यह वस्तु वास्तविक नहीं, वरन् मानवी कल्पना का खेल है।

अग्नि स्त्रीलिंग है, तेजस् पुल्लिंग। शब्दों में लिंग भेद है, पर वस्तु एक ही है। वायु स्त्रीलिंग और मरुत पुल्लिंग है, बात एक ही है, पर शब्दों के आधार पर लिंग बदल गया। उपवन पुल्लिंग है, वाटिका स्त्रीलिंग, एक ही चीज के दो स्वरूप। शैया और पलंग एक ही होते हुए भी लिंग पृथक हैं। चन्द्रमा को हिन्दी में नर और अंग्रेजी में नारी मानते हैं, वस्तुतः चन्द्रमा एक ग्रह पिण्ड-मात्र है वह न नर है न नारी। भाषा और कल्पना में उसे नर-नारी के रूप में खींचा जाता है। परब्रह्म की सर्वोपरि शक्ति को स्त्री कहा जाय या पुरुष, यह हमारी भाषा और कल्पना पर निर्भर है। वस्तुतः वह लिंग भेद से परे है। उपासना में गायत्री की तुलना नारी रूप में करके हम अपना ही साधनात्मक एवं भावनात्मक प्रयोजन पूर्ण करते हैं। अतएव इसमें सन्देह तथा विवाद की कोई गुञ्जायश नहीं है।

नर की जननी होने के कारण वस्तुतः नारी उससे कहीं अधिक श्रेष्ठ एवं पवित्र है। उसका स्थान सम्भवतः बहुत ऊँचा है। माता का पूज्य स्थान पिता एवं उससे भी ऊँचा है पुरुष की अपूर्णतायें नारी के स्नेह सिंचन से ही दूर होती हैं। इसलिए यदि नारी के रूप में हमारा उपास्य इष्ट हो तो वह एक औचित्य ही है। अनादिकाल से भारतीय धर्म में ऐसी ही मान्यता चली आ रही है, जिसके अनुसार माता को ही नहीं पत्नी को भी पति से अधिक एवं प्रथम सम्मान मिला है। पति-पत्नी के सम्मिलित मानों में पत्नी की प्राथमिकता है। लक्ष्मी-नारायण, सीताराम, राधेश्याम, उमा-महेश, शची-पुरन्दर, माता-पिता, गङ्गा-सागर आदि नामों में पत्नी को ही

प्राथमिकता मिली है । कारण उसकी वरिष्ठता ही है । इस दृष्टि से भी यदि देवता का पुल्लिंग स्वरूप अधिक उत्तम है या स्त्रीलिंग स्वरूप, तो उसका सहज उत्तर नारी के रूप में ही जायगा । ऐसी दशा में यह शंका-सन्देह करना उचित नहीं कि गायत्री शक्ति को नारी का रूप देकर उसे जो पूज्य स्थान पर बिठाया गया है, उसमें कुछ अनुचित हुआ है । नर की श्रेष्ठता का अहंकार ही इस प्रकार के प्रश्नों का सृजन करता है ।

उपरोक्त तथ्यों की पुष्टि में अगणित शास्त्रीय प्रमाण मिलते हैं । उनमें से कुछ का उल्लेख नीचे किया जाता है ।

अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निगुर्णस्य गुणात्मनः ।
उपासकानां सिद्धयर्थ ब्राह्मणो रूप कल्पना ।।

"परब्रह्म की सभी शक्तियाँ अचिन्त्य और निर्गुण हैं । उन स्वरूपों को, उपासकों को समझाने के उद्देश्य से ऋषियों ने उनके रूपों की कल्पना करके मूर्तियों को बनाया है ।

भेद उत्पत्तिकाले वै सर्गा प्रभवत्यज ।
दृश्यादृश्य विभेदोऽयं दैविध्ये सति सर्वथा ।।
नाऽह नारी पुमांश्चाहं न क्लीवं सगंसंक्षये ।
सग सति विभेदः स्यात् कल्पितोऽयं धिया पुनः।।
अहं बुद्धिरहं श्रीश्च वृतिः कीर्तिः स्मृतिस्तथा ।
श्रद्धा मेधा दया लज्जा क्षुधा,तृष्णा तथा क्षमा ।।

–देवी भागवत

"उत्पत्ति के समय सृष्टि के अर्थ से ही भेद प्रतीत होता है । यह दृश्य, अदृश्य का विभेद, द्वैतभाव सदैव रहता है । अर्थात् सृष्टि-दशा में ब्रह्म और ब्रह्म-शक्ति दोनों स्वतन्त्र रूप से प्रकट होते हैं, प्रलय हो जाने पर न मैं स्त्री हूँ, न पुरुष और न क्लीव हूँ, केवल सृष्टिकाल में ही बुद्धि द्वारा कल्पित भेद, दृष्टि में आता है । सृष्टि की विकास अवस्था में ही बुद्धि, श्री, घृति, कीर्ति, स्मृति, श्रद्धा, मेधा, दया, लज्जा, क्षुधा, पिपासा और क्षमा मैं ही हूँ ।"

अरूपं भावनागम्यं परं ब्रह्म कुलेश्वरि ।
अरूपां रूपिणी कृत्वा कर्मकाण्डरता नरः ।।

–कुलार्णव तन्त्र

"वह ईश्वरीय शक्ति अरूप और केवल भावनागम्य है । पर कर्मकाण्ड में संलग्न मनुष्य उस अरूप में से ही रूप की कल्पना कर लेते हैं ।

"एवं विधो यो भगवान चिदात्मा सा एव गायत्री गायत्री परमेश्वरावेवास्थैव चेतनापुरुषस्य द्वे नामनी ध्यानेन तु स्त्रीलिंग ।"

–विष्णु धर्मोत्तर

"इस प्रकार जो भगवान है, वही गायत्री है । गायत्री और परमेश्वर ये उस चेतन-पुरुष के ही दो नाम हैं । परन्तु ध्यान के लिए वह (गायत्री रूप में) स्त्रीलिंग हैं ।"

जगन्माता च प्रकृतिः पुरुषश्च जगत्पिता ।
गरीयसाति जगतां माता शतगुणैः पितुः ।।

–ब्रह्मवैवर्त पुराण

"जगज्जननी प्रकृति है और जगत् का पिता पुरुष है । जगत् में पिता से सौ गुना महत्व माता का है ।"

न बाला न च त्व वयस्था न वृद्धा,
न च स्त्री न षण्ढः पुमानैव च त्वम् ।
सुरो नासुरो नरो वा न नारी,
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ।।

–महाकाली स्तवन

"हे महामाया ! न तुम बालिका हो, न वयस्क हो न वृद्ध हो, स्त्री, क्लीव और पुरुष भी तुम नहीं हो, न देवता हो, न दानव हो, न नर हो, न नारी हो, तुम केवल परब्रह्म रूपिणी हो ।"

अचिन्त्यापि साकारशक्ति स्वरूपा,
प्रतिव्यवत्यधिष्ठान सत्वैक मूर्तिः ।
गुणातीतानिर्द्वन्द्व बोधैकगम्या,
त्वमेका परब्रह्म रूपेण सिद्ध ।।

–महाकाल स्तवन

"तुम अचिन्तनीय होते हुए भी साकार मूर्तिरूपा हो प्रत्येक प्राणी में सत्वगुण रूप में विराजमान रहती हो तथा गुणातीत हो । केवल तत्वज्ञान से ही तुम जानी जाती हो । तुम्हीं परब्रह्म रूप से प्रसिद्ध हो ।

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं, कुमार उत व कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि त्वं, जातो भवसि विश्नतो मुखः ।।

–श्वे० ४-३

"तू स्त्री है, तू पुरुष भी है, तू ही कुमार और कुमारी है, तू वृद्ध होकर लाठी के सहारे चलता है और तू ही उत्पन्न होकर सब ओर मुख वाला हो जाता है ।"

सा च ब्रह्म स्वरूपा च नित्या सा च सनातनी ।
यथात्मा च तथा शक्तियथाग्नौ दाहिका स्थिता ।।
अत एव हि योगेन्द्रै स्त्री पुम्भेदो न मन्यते ।
सर्व ब्रह्ममयं ब्रह्मन् शश्वत् सदपि नारद ।।

–देवी भाग० ६/१/१०/११

"वही ब्रह्म प्रकृति ब्रह्म स्वरूपा, नित्या और सनातनी है । परब्रह्म परमात्मा के अनुरूप सभी गुण उस प्रकृति में निहित हैं जैसे अग्नि में दाहिका शक्ति सदा रहती है । इसी से परम योगीजन स्त्री-पुरुष में भेद नहीं मानते । हे नारद ! वे कहते हैं, कि सत्-असत् जो कुछ भी हैं, सब ब्रह्ममय हैं ।"

कामधेनु तन्त्र में कहा है कि–

"युवती सा सामाख्याता सा महाकुण्डली परा।।"

अर्थात् "वह परा जैसी महाकुण्डली अर्थात् महागायत्री युवती के रूप में कही गई हैं ।"

स तस्मिन्नेवाकसे स्त्रियमाजगाम
बहुशोभः मानामुमांहैमवतीम् ।

"इन्द्रादि देवताओं को ब्रह्मज्ञान प्रदान करने को ब्रह्मस्थान में जो प्रतिमा प्रकट हुई है, उसी स्त्री-मूर्ति का दर्शन इन्द्र को हुआ है ।"

जगद्धात्रीं महामायां ब्रह्मरूपां सनातनीम् ।
दृष्ट्वा प्रमुदिताः सर्वे देवताप्स किन्नराः ।।

–वृहद विष्णु पुराण

"जगन्माता, महामाया, ब्रह्मरूपा, सनातनी महाशक्ति को देखकर देवगण, गन्धर्व, अप्सरा किन्नर, सब परम हर्षित हुए ।"

जयखिला सुराराध्ये जय कामेशि कामदे ।
जय ब्रह्ममयि देवि ब्रह्मानन्द रसात्मिके ।।

–ललितोपाख्यान ८/२

हे महादेवि ! तुम ही समस्त देवताओं की आराध्या हो, तुम्हीं सर्व कामनाओं की ईश्वरीय और उनको कपूर्ण करने वाली हो ।"

त्वमेव सर्वजननी मूलप्रकृतिरीश्वरी ।
त्वमेवाद्या सृष्टिविधौस्वच्छये त्रिगुणात्मिका ।
कार्यार्थे सगुणा त्व च वस्तुतो निर्गुणा स्वयम् ।
परब्रह्मास्वरूपा त्वं सत्या नित्या सनातनी ।।
तेजः स्वरूपा परमा भक्तानुग्रहविग्रहा ।
सर्वस्वरूपा सर्वेशा सर्वाधारा परात्परा ।।
सर्ववीज स्वरूपा च सर्वपूज्या निराश्रया ।
सर्वज्ञा सर्वतोभद्रा सर्व मंगल मंगला ।।

–ब्रह्मवैवर्त पु० प्रकृति० २१६६/७/१०

"तुम्हीं विश्वजननी, मूल प्रकृति ईश्वरी हो, तुम्हीं सृष्टि उत्पत्ति के समय आद्याशक्ति के रूप में विराजमान रहती हो और स्वेच्छा से त्रिगुणात्मिका बन जाती हो यद्यपि वस्तुतः तुम निर्गुण हो तथापि प्रयोजन वश सगुण हो जाती हो । तुम परब्रह्मस्वरूप, सत्य, नित्य एवं सनातनी हो परम तेजस्वरूप और भक्तों पर अनुग्रह करने के हेतु मानव शरीर धारण करती हो, तुम सर्वस्वरूपा सर्वेश्वरी सर्वाधार एवं परात्पर हो । तुम सर्ववीज स्वरूप, सर्व पूज्या एवं आश्रय रहित हो । तुम सर्वज्ञ, सब प्रकार से मंगल करने वाली और सर्व मंगलों की भी मंगल हो ।"

कथ जगत् किमथं तत् करोषि के न हेतुना ।
नाह जानामि तद्देव यतोह हि त्वदुद्भवः ।।

–शक्तिदर्शन

"हे देवी ! तुम किसके लिए, किस हेतु जगत की सृष्टि करती हो–मैं इस बात को नहीं जानता, क्योंकि मैं तुम से उत्पन्न हूँ ।"

माया ख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वराबुझौ ।

"जीव और ईश्वर दोनों मायारूपी कामधेनु के दो बछड़े हैं ।"

उपरोक्त प्रमाणों में परब्रह्म को नारी रूप में चित्रण करने का रहस्य प्रकट किया गया है । नर और नारी में किसे प्राथमिकता मिले ? इस प्रश्न के उत्तर में नेतृत्व विज्ञान का, जीव विज्ञान का भी सहारा लिया जा सकता है । शोधकर्त्ता इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राथमिकता नारी को ही है । पहले भूमि बनी, बीजों का आविर्भाव उसके उपरान्त हुआ ।

नृतत्वेत्ता 'क्लाक ऐलिस' इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, कि मानवजाति का आरम्भ नारी से ही होता है । पुरुष का अस्तित्व पीछे प्रकाश में आया, उन्होंने लिखा है–

प्राथमिकता और प्रकृति के नियमानुसार पहले नारी की ही उत्पत्ति हुई । साधारणतया प्राणीमात्र की उत्पत्ति नारी जाति पर ही अवलम्बित है । प्राणी जगत की सृष्टि के लिए पुरुष की आवश्यकता ही न थी अथवा गौण थी । रज और वीर्य के संयोग से विभिन्न गुणों द्वारा जीवन-शक्ति को परिपुष्ट एवं प्रफुष्टित करने के हेतु लाभ की दृष्टि से पुरुष जाति का पीछे से विकास हुआ ।

नारी में देवत्व की मात्रा पुरुष की तुलना में कहीं अधिक है । इसलिए जहाँ पुरुष को अपने गुण, कर्म स्वभाव की उत्कृष्टता होने पर ही पूज्य पद एवं सम्मान

मिलता है, वहाँ नारी को उसकी जननी, भगिनी, कन्या आदि विशेषताओं के कारण जन्मजात सम्मान मिल जाता है। उनके हृदय में वह विशालता विद्यमान है, जिसके आधार पर शिशु को अपने शरीर का रस निचोड़कर प्रदान कर सकती है। इन्हीं विशेषताओं के कारण मानवी होते हुए भी उसे देवी कहा जाता है। अधिकांश स्त्रियों के नाम के अन्त में देवी-पद लगता है। जैसे शकुन्तला देवी, उर्मिला देवी, भगवती देवी आदि। शास्त्र कहते हैं–

स्त्रीषु प्रतिर्विशेषेण स्त्रीष्वपत्यं प्रतिष्ठितम् ।
धमार्थौ स्त्रीषु लक्ष्मीश्च स्त्रीषु लोकाः प्रतिष्ठिताः।।

–चरक संहिता-चि० स्था० अ० २

"प्रीति का निवास अधिकतर स्त्रियों में ही होता है। सन्तान की जननी भी वे ही होती हैं। धर्म स्त्रियों में रहता है, लक्ष्मी भी स्त्रियों में रहती है। इसलिए भी संसार स्त्रियों में ही स्थित है।"

नारी रूप में परमात्मा का दिव्य दर्शन हम पग-पग पर कर सकते हैं। इस प्रकार की दिव्य दृष्टि जिसे प्राप्त है, उसे सच्ची आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त हुई समझना चाहिए। गायत्री उपासना में नारी-प्रतिमा को वन्दनीय मानकर मनुष्य को पवित्रतम बनाने का प्रयत्न किया गया है। नारी वस्तुतः मूर्तिमान महामाया ही है। देखिये–

जननी जन्म काले च स्नेह काले च कन्यका ।
भार्या भोगाय सम्पृक्ता अन्तकाले च कालिका ।
एकैव कालिका देवी विहरन्तो जगत्त्रये ।।

"वही महामाया जननी रूप में हमको जन्म देती है, कन्या के रूप में हमारी स्नेह की पात्र बनती है, भार्या के रूप में भोगदात्री बन जाती है और अन्त समय में कालिका के रूप में हमारी इहलीला संवरण कर देती है। इस प्रकार एक ही महादेवी तीनों लोकों में विचरण करती रहती है।"

तन्त्र-ग्रन्थों में नारी को भगवान की मूर्तिमान प्रतिमा मानकर उसकी विधिवत पूजा करने का विधान है। विभिन्न आयु तथा स्थिति की नारियों को विभिन्न देवियों के रूप में पूजनीय मानकर उनका वन्दन-अर्चन किया जाता है। ब्राह्मण भोजन की तरह ही कन्या भोजन का भी पुन्य माना गया है। नवरात्रियों में, पुरश्चरणों के अन्त में तो विशेष रूप से कन्या भोजन की ही परम्परा है। ब्राह्मण तो विद्या, तपश्चर्या एवं सेवा के आधार पर ब्राह्मणत्व प्राप्त करते हैं पर कन्याओं में वह तत्व जन्मजात रूप से ही स्वभावतः अनायास ही विद्यमान रहता है। इस सन्दर्भ में तन्त्र-ग्रन्थ का अभिमत देखिये–

"एक वर्ष की आयु वाली बालिका 'कुमारी' कहलाती है, दो वर्ष वाली 'सरस्वती', तीन वर्ष वाली 'त्रिधामूर्ति', चार वर्ष वाली 'कलिका', पांच वर्ष की होने पर 'सुभगा', छः वर्ष की 'उमा', सात वर्ष की 'मालिनी', आठ वर्ष की 'कुब्जा', नौ वर्ष की 'काल-सन्दर्भा', दसवें में 'अपराजिता', ग्यारहवें में 'रुद्राणी', बारहवें में 'भैरवी', तेरहवें में 'महालक्ष्मी', चौदह पूर्ण होने पर 'पीठनायिका', पन्द्रहवें में 'क्षेत्राज्ञा' और सोलहवें में 'अम्बिका' मानी जाती है। इस प्रकार जब तक ऋतु का उद्गम न हो, तभी तक क्रमशः संग्रह करके प्रतिपदा आदि से लेकर पूर्णिमा तक वृद्धि-भेद से कुमारी पूजन करना चाहिए।"

–रुद्रयामल-उत्तराखण्ड

"आठ वर्ष की बालिका गौरी, नौ वर्ष की रोहिणी और दस वर्ष की कन्या कहलाती है, इसके बाद वही महामाया और रजस्वला भी कही गई है। बारहवें वर्ष से लेकर बीसवें तक यह सुकुमारी कही गई है।"

–विश्वसार तन्त्र

"यजमान को चाहिए कि दस कन्याओं का पूजन करे। उनमें भी दो वर्ष से लेकर दस वर्ष तक की अवस्था की कुमारियों का पूजन करना चाहिये। दो वर्ष की आयु वाली हो वह 'कुमारी', तीन वर्ष की 'त्रिमूर्ति', चार वर्ष की 'कल्याणी', पांच वर्ष की 'रोहिणी', छः वर्ष की कालिका', सात वर्ष की 'चण्डिका', आठ वर्ष की 'शाम्भवी', नौ वर्ष की 'दुर्गा' और दस वर्ष की 'सुभद्रा' कही गई है। इनका मन्त्रों द्वारा पूजन करना चाहिए। एक वर्ष वाली कन्या को पूजा से प्रसन्नता नहीं होगी अतः उसका ग्रहण नहीं है और ग्यारह वर्ष से ऊपर वाली कन्याओं का पूजा में ग्रहण वर्जित है।"

"जो कुमारी को अन्न, वस्त्र, जल अर्पण करता है, उसका वह अन्न मेरु के समान और जल समुद्र के सदृश अक्षुण्ण और अनन्त होता है "योगिनी तन्त्र के कथनानुसार–"कुमारी पूजा का फल अवर्णनीय है, इसलिए सभी जाति की बालिकाओं का पूजन करना चाहिए। कुमारि पूजन में जाति भेद का विचार करना उचित नहीं।" 'काली-तन्त्र' में कहा गया है कि–"सभी बड़े-बड़े पर्वों पर अधिकतर पुण्य मुहूर्त में और महानवमी की

तिथि को कुमारि पूजन करना चाहिए । सम्पूर्ण कर्मों का फल प्राप्त करने के लिए कुमारि पूजन अवश्य करें ।" 'वहन्नीलतन्त्र' के अनुसार–"पूजित हुई कुमारियाँ विघ्न, भय और अत्यन्त उत्कृष्ट शत्रु को भी नष्ट कर डालती हैं ।" रुद्रयामल में लिखा है कि कुमारी साक्षात् योगिनी और श्रेष्ठ देवता है । विधियुक्त कुमारी को अवश्य भोजन कराना चाहिए । कुमारी को पाद्य, अर्घ्य, कुंकम और शुभ चंदन आदि अर्पण करके भक्तिभाव से उसकी पूजा करें ।"

–कुब्जिका तन्त्र

कुमारी कन्याओं तक ही यह दिव्य भाव सीमित नहीं माना गया है । वरन् उसका क्षेत्र अत्यन्त विशाल है । प्रत्येक नारी में देवत्व की मान्यता रखना और उसके प्रति पवित्रतम श्रद्धा रखना एवं वैसा ही व्यवहार करना उचित है, जैसा कि देवी-देवताओं के साथ किया जाता है । नारी मात्र को भगवती गायत्री की प्रतिमाएँ मानकर जब साधक के हृदय को पवित्रता का अभ्यास हो जाय, तो समझना चाहिए कि उसके लिए परमसिद्धि की अवस्था अब समीप है ।

गायत्री माता का परिचय

गायत्री वह शक्ति केन्द्र है, जिसके अन्तर्गत विश्व के सभी दैहिक, दैविक, भौतिक छोटे-बड़े शक्ति-तत्वों का समावेश है । यह छोटे-बड़े शक्ति तत्व अपनी-अपनी क्षमता और सीमा के अनुसार संसार के विभिन्न कार्यों का सम्पादन करते हैं, इन्हीं का नाम देवता है । ये ईश्वरीय सत्ता के अन्तर्गत उसी के अंश रूपी इकाइयाँ हैं, जो सृष्टि संचालन के विशाल कार्यक्रम में अपना कार्य भाग पूरा करते रहते हैं । जिस प्रकार एक शासन-तन्त्र के अन्तर्गत अनेक अधिकारी अपनी-अपनी जिम्मेदारी निबाहते हुए सरकार का कार्य-संचालन करते हैं, जिस प्रकार एक मशीन के अनेक पुर्जे अपने-अपने स्थान पर अपने-अपने क्रियाकलापों को जारी रखते हुए उस मशीन की प्रक्रिया को सफल बनाते हैं, उसी प्रकार ये देव तत्व भी ईश्वरीय सृष्टि-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों की विधि-व्यवस्था का सम्पादन करते हैं ।

गायत्री एक सरकार एवं मशीन के सदृश है, जिसके अंग प्रत्यंगों के रूप में सभी देवता गुथे हुए हैं । 'गायत्री' के तीन अक्षर सत्, रज, तम तीन तत्वों के प्रतीक हैं । इन्हीं की स्थिति के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु, महेश-सरस्वती, लक्ष्मी, काली कहते हैं । इन्हीं तीनों श्रेणियों में विश्व की सभी स्थूल एवं सूक्ष्म शक्तियों की गणना होती है । जितनी भी शुभ-अशुभ, अनुपयोगी, शान्ति-अशान्ति की प्रक्रियायें दृष्टिगोचर होती हैं वे इन्हीं सत, रज, तम, तत्वों के अन्तर्गत हैं और यह तीन तत्व गायत्री के तीन चरण हैं । इस प्रकार समस्त शक्ति तत्वों का मूल आधार गायत्री ही ठहरती है ।

ब्रह्म, इस विशाल सृष्टि का मूल कारण तो अवश्य है पर वह स्वभावतः साक्षी और दृष्टा के रूप में स्थित रहता हुआ स्वयं अपने आप में निष्क्रिय है । उसकी 'गतिशीलता' ही वह तत्व है, जिसके द्वारा जगत् के स्थूल और सूक्ष्म विभिन्न कार्यक्रम सम्पन्न होते हैं । इस गतिशीलता को ही प्रकृति, माया, चेतना, ब्रह्मापत्नी आदि नामों से पुकारा गया है । यही गायत्री है ।

परमात्मा की कार्यकर्त्री देव शक्ति

सृष्टि का आरम्भ करते हुए परमात्मा न अपने भीतर बसे शक्ति तत्व प्रादुर्भूत किया और सृष्टि संचालन की सारी व्यवस्था उसे सौंप कर स्वयं निश्चिन्त हो गया । इस प्रकार वह ब्रह्म निर्लिप्त, निरधिष्ट, निरवद्य एवं अव्यय बना रहा और संसार का सारा कार्य उस प्रादुर्भूत शक्ति तत्व के द्वारा संचालित होने लगता है । इस रहस्य का उद्घाटन निम्म प्रमाणों से होता है ।

देवीह्येकाऽग्र आसीत् । सैव जगदण्डमसृजत ...
.... तस्या एव ब्रह्मा अजोजनत् । विष्णुरजी जनत्
.... सर्वमजी जनत् ...... । सेषा पराशक्तिः ।

सृष्टि के आरम्भ में वह एक ही देवी शक्ति थी । उसी ने ब्रह्माण्ड बनाया । उसी से ब्रह्मा उपजे । उसी ने विष्णु, रुद्र उत्पन्न किये । सब कुछ उसी से उत्पन्न हुआ । ऐसी है वह पराशक्ति ।

निर्दोषो निरधिष्ठेयो निरवद्यसनातनः ।
सवकार्यकरी साहं विष्णोरव्यय विरूपिणः ।।

–लक्ष्मी तन्त्र

वह ब्रह्म तो निर्दोष, निरधिष्ठ, निरवद्य, सनातन अव्यय है । उनकी सर्वकारिणी शक्ति तो मैं ही हूँ ।

इस महाशक्ति की सर्वव्यापकता का, सभी पदार्थों का, अधिष्ठात्री विभूति एवं सभी हलचल की मूल प्रेरिका होने का वर्णन अनेक ग्रन्थों में मिलता है । देखिये–

त्वं भूमि सर्व भूतानां प्राणः प्राणवतां तथा ।
धीः श्रीः कान्तिः क्षमा शान्ति श्रद्धा मेधा धृतिः स्मृतिः
त्वं मुद्गीथेऽर्ध मात्रासि गायत्री व्याहृति स्तथा ।

–देवी० भा० १–५

तुम्हीं सब प्राणियों को धारण करने वाली भूमि हो। प्राणवानों में प्राण हो। तुम्हीं धी, श्री, कान्ति, क्षमा, शान्ति, श्रद्धा, मेधा, धृति, स्मृति हो। तुम ही ओंकार की अर्धयात्रा उद्‌गीथ हो, तुम ही गायत्री व्याहृति हो।

पूषार्यमा मरुत्वांश्च ऋषयोऽपि मुनीश्वराः ।
पितरोनागयक्षाश्च गन्धर्वाप्सरसा गणाः ।।
ऋग्यजु सामवेदाश्च अथर्वाङि्गरसानि च ।
त्वमेव पञ्च भूतानि तत्त्वानि जगदीश्वरि ।
ब्राह्मी सरस्वती सन्ध्या तुरीया त्वं महेश्वरी ।
त्वमेव सर्वं शास्त्राणि त्वमेव सर्वं संहिता ।
पुराणानि च तन्त्राणि महगम मतानि च ।।
तस्मद् ब्रह्म स्वरूपा त्वं किञ्चित्सद सदात्मिका ।
परात्परेशी गायत्री नमस्ते मातरम्बिके ।।

—वशिष्ठ संहिता

पूषा, अर्यमा, मरुत, ऋषि, मुनीश्वर, पितर, नाग, यक्ष, गन्धर्व, अप्सरा, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, अंगिरस, पंचभूत, ब्राह्मी, सरस्वती एवं सन्ध्या, हे महेश्वरि तुम ही हो। सर्वशास्त्र, संहिता, पुराण, तन्त्र, आगम, निगम तथा और भी जो कुछ इस संसार में है, सो हे ब्रह्मरूपिणी, पराशक्ति गायत्री। तुम ही हो। हे माता! तुम्हें प्रणाम है।

आदित्य देवा गन्धर्वा मनुष्याः पितरो सुराः तेषां सर्व भूतानां माता मेदिनी माता मही सावित्री गायत्रीजगत्युर्वी पृथ्वी बहुला विद्या भूता ।

—नारायणोपनिषद्

अर्थात्–देव, गन्धर्व, मनुष्य, पितर, असुर, इनका मूल कारण अदिति अविनाशी तत्व है। वह अदित सब भूतों की माता मेदिनी और माता मही है। उसी विशाल गायत्री के गर्भ में विश्व के सम्पूर्ण प्राणी निवास करते हैं।

परमात्मास्तु या लोके ब्रह्मशक्ति विराजते ।
सूक्ष्मा च सात्विकी चैव गमयत्री त्यमिधीयते ।।

अर्थात् सब लोकों में विद्यमान जो सर्वव्यापक परमात्मा की शक्ति है, वह अत्यन्त सूक्ष्म एवं सतोगुणी प्रकृति में निवास करती है। यह चेतन शक्ति गायत्री ही है।

अहं रुद्रेभिर्वभिञ्चराम्यहमादित्यरुत विश्वेदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभाविभिर्ग्य हिमिन्द्राग्नी अहिमश्वि नोभा ।

—ऋग्वेद ८/७/११

मैं ही रुद्र, वसु, आदित्य और विश्वेदेवाओं में विचरण करती हूँ। मैं ही मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि और अश्विनी कुमारों का रूप धारण करती हूँ।

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ई श्रृणो त्युक्तम् । अमन्त वो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रम श्रद्धि व ते वदामि ।

यह विश्व मुझसे ही जीवित है। मेरे द्वारा ही उसे अन्न मिलता है। मेरी शक्ति से ही वह बोलता और सुनता है। जो मेरी उपेक्षा करता है, वह नष्ट हो जाता है। श्रद्धावानों, सुनो! यह सब मैं तुम्हारे कल्याण के लिए कहती हूँ।

विभूतियों का भण्डागार

इस महाशक्ति का विस्तार अत्यन्त व्यापक है, जब समस्त सृष्टि की अगणित प्रक्रियाओं का संचालन उसी के द्वारा होता है, तो कितने प्रकार की शक्तियाँ उसके अन्तर्गत काम करती होंगी, इसकी कल्पना कर सकना भी कठिन है। पर मनुष्य सीमित है। उसकी आवश्यकताएँ एवं शंकायें भी सीमित हैं, जिन वस्तुओं को प्राप्त करके उसका व्यक्तित्व निखर उठता है एवं मन उल्लसित हो जाता है वे विभूतियाँ भी सीमित हैं। यह सीमित वस्तुएँ गायत्री का एक बहुत छोटा अंश मात्र है। मनुष्यों में जो कुछ प्रशंसनीय एवं आकर्षक विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं, उन सबको उस महाशक्ति का छोटा सा प्रसाद ही समझना चाहिए। मानव शरीर में वह शक्ति किन प्रमुख रूपों में अधिष्ठित है इसका परिचय देते हुए माता स्वयं कहती है–

अहमेक स्वयमिदं वदाति जुष्टंदेवेभिरुत मानुषेभिः ।
य कामये त तमुग्र कृणोमि त ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेघा ।।

मैं तत्वज्ञान का उपदेश करती हूँ, मैं जिसे चाहती हूँ उसे समुन्नत करती हूँ, उसे सद्‌बुद्धि देती हूँ ऋषि बनाती हूँ और ब्रह्मपद प्रदान करती हूँ।

रहस्यों का जानना आवश्यक है

गायत्री तत्त्व के सूक्ष्म रहस्यों को जानने के उपरान्त ही उसकी उपासना वास्तविक रूप में होना सम्भव है। उसके मर्म विज्ञान को समझे बिना साधारण रीति से जो उपासना क्रम चलाया जाता है, उसका परिणाम तो होता है, पर उसकी मात्रा स्वल्प ही होती है। उपासना का समुचित सत्परिणाम प्राप्त करने के लिए इस विज्ञान के रहस्यों को समझना और उनका अनुशीलन करना

आवश्यक है। मनुष्य की आत्मा पर चढ़े हुए मल, विक्षेप आवरणों को हटाने के लिए जैसी तीव्र साधना एवं महान निष्ठा की आवश्यकता है, उसको उपलब्ध करने के लिए गायत्री के तत्त्वज्ञान को समझना चाहिए।

शतपथ ब्राह्मण में एक आख्यायिका आती है, जिसमें यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि एक पुरोहित गायत्री के मर्म से वंचित रहने के कारण साधारण उपासना करते रहने पर भी समुचित सत्परिणाम प्राप्त न कर सका। आख्यायिका इस प्रकार है।

एतद्धवै तज्जन को द्वैदेही बुडिल माश्वतं राश्वि मुवाच यन्नु हो तद्गायत्री विदब्रूथाऽअथकधऊँहस्ती भूताव्वह सीति मुखंह्यस्या सम्राशन विवांचकरेति हो वाच। तस्याऽग्निरेय मुखं यदि हवाऽपि विह्वावाग्ना वभ्यादधति सर्वमेव तत्सन्द हत्येव व है वैव विद्यद्यपि वकिव पापंकरोति सर्व मेव सत्संरसा शुद्धः पूतोऽजरोऽमृतः संभवति।

–शतपथ

अर्थात्–"राजा जनक का पूर्व जन्म पुरोहित बुडिल अनुचित दान लेने पर पाप से मर कर हाथी बन गया। किन्तु राजा जनक ने विज्ञान तप किया और उसके फल से वह पुनः राजा हुआ। राजा ने हाथी को उसके पूर्व जन्म का स्मरण दिलाते हुए कहा, आप तो पूर्व जन्म में कहा करते थे कि मैं गायत्री का ज्ञाता हूँ। फिर अब हाथी बन कर क्यों बोझ ढोते हो? हाथी ने कहा–मैं पूर्व जन्म में गायत्री का मुख नहीं समझ पाया था, इसलिए मेरे पाप नष्ट न हो सके।"

"गायत्री का प्रधान अङ्ग मुख अग्नि ही है। जैसे जो ईंधन डाले जाते हैं उन्हें अग्नि भस्म कर देती है वैसे ही गायत्री का मुख जानने वाला आत्मा, अग्नि मुख होकर पापों से छुटकारा प्राप्त कर अजर-अमर हो जाता है।"

गायत्री के जिस मुख का ऊपर की पंक्तियों में वर्णन है, वह उसका प्रवेश द्वार आरम्भिक ज्ञान ही है, जिस प्रकार भोजन को पेट में पहुँचाने के लिए मुख ही उसका द्वार होता है, उसी प्रकार उपासना का मुख यह है कि उपास्य के बारे में आवश्यक ज्ञान प्राप्त किया जाय। यह ज्ञान ग्रन्थों के स्वाध्याय द्वारा एवं उस विद्या के विशेषज्ञों के सत्संग से जाना जा सकता है। यह दोनों ही माध्यम से प्रत्येक सच्चे जिज्ञासु को अनिवार्यतः अपनाने चाहिए।

गायत्री के ज्ञान विज्ञान की महत्ता बताते हुए उपनिषद्कार ने बताया है कि ज्ञानपूर्वक की हुई उपासना ने आत्मा में सन्निहित दिव्य तत्वों का विकास होता है और इस जीवन तथा संसार में जो कुछ प्राप्त होने योग्य है, वह सभी कुछ उसे प्राप्त हो जाता है।

यो ह व एवं चित् स ब्रह्म वित्पुण्यां च कीर्तिं लभते सुरभींश्च गन्धान्। सोऽपहत पाप्मानन्तां। श्रिय मश्नुतेय एवम् वेद यश्चैव विद्वानेवमेत वेदानां मातर सावित्री संपदमुपनिषद मुपास्त इति ब्राह्मणम्।

–गायत्री उपनिषद

जो इस प्रकार वेदमाता गायत्री को जान लेता है वह ब्रह्मविद, पुण्य कीर्ति एवं दिव्य गन्धों को प्राप्त करता है और निष्पाप होकर श्रेय का अधिकारी बनता है।

तीन चरणों की अनन्त सामर्थ्य

गायत्री को त्रिपदा कहा गया है, उसके तीन चरण हैं। इनमें से प्रत्येक चरण तीन लोकान्तरों तक फैला हुआ है। उसके माध्यम से आत्मा की गति केवल इसी लोक तक सीमित नहीं रहती, वरन् वह अन्य लोकों तक अपना क्षेत्र विस्तृत कर सकता है और वहाँ उपलब्ध साधनों से लाभान्वित हो सकता है।

भूमिरन्तरिक्ष द्यौरित्यष्ठा व क्षराण्यष्ठाक्षर हंवा एवं गायत्र्यै पद मेतदुहैवास्या एतत्सयावेदतेषु लोकेषु तावाद्धि जयति योऽस्याएतदेवं पद वेंद।

–बृहदारण्यक ५।१४।१

भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौ ये तीनों गायत्री के प्रथम पाद के आठ अक्षरों के बराबर है। जो गायत्री के इस पाद को जान लेता है सो तीनों लोकों को जीत लेता है।

जिस प्रकार बाह्य जगत् में अनेक लोक हैं उसी प्रकार इस शरीर के भीतर भी सप्त प्राण, षटचक्र ग्रन्थियाँ, उपतिकायें मौजूद हैं, साधारण मनुष्यों में यह प्रसुप्त अवस्था में अज्ञात पड़े रहते हैं, पर जब गायत्री उपासना द्वारा जाग्रत आत्मा इन अविज्ञात शक्ति केन्द्रों को झकझोरता है तो वे सभी जाग्रत हो जाते हैं और उनके भीतर जो आश्चर्यजनक तत्व भरे पड़े हैं, वे स्पष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार वैज्ञानिक लोग, इस ब्रह्माण्ड में बाह्य जगत् में व्याप्त अनेक शक्तियों को ढूँढ़ते और उनका उपयोग करते हैं, उसी प्रकार आत्म विज्ञानी साधक पिण्ड में-देह में-अन्तर्जगत् में-सन्निहित तत्वों का साक्षात्कार करके उनकी दिव्य शक्तियों

से लाभान्वित होते हैं। आत्म दर्शन, ब्रह्म साक्षात्कार एवं स्वर्ग लोक की प्राप्ति उनके लिए सरल हो जाती है। इस मार्ग में सफलता प्राप्त करने वाले अपनी परम्परा को आगे जारी रखने वाले कोई तेजस्वी उत्तराधिकारी भी अपने पीछे के लिए छोड़ जाते हैं।

तेवाएते पश्च ब्रह्म पुरुषा स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपालस्य एत पश्व व्रद्भ पुरुषवान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाल वेदास्य कुले वी जाय तिपद्यते स्वर्ग लोकम् ।

—छान्दोग्य ३/१३

हृदय चैतन्य ज्योति गायत्री रूप ब्रह्म के प्राप्ति स्थान के प्राण, ध्यान, अपान, समान, उदान ये पाँच द्वारपाल हैं, इनको वश में करें। जिससे हृदय स्थित गायत्री स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति हो, इस प्रकार उपासना करने वाला स्वर्गलोक को प्राप्त होता है और उसके कुल में वीर पुत्र या शिष्य उत्पन्न होता है।

मंगलमयी मधु विद्या

वृहदारण्यक उपनिषद् में जिस मधुविद्या का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, उसका सम्बन्ध गायत्री से ही है। जिस प्रकार पारस मणि के सम्पर्क से लोहे के टुकड़ों का ढेर भी सोना हो जाता है। उसी प्रकार इस संसार की अनेक कड़ुई, कुरूप, कष्टदायक, प्रतिकूल वस्तुएँ तथा परिस्थितियाँ उसके लिए मधुर, सौन्दर्ययुक्त, सुखदायक एवं अनुकूल बन जाती हैं।

गायत्री के तीनों चरण समस्त सृष्टि को अपने लिए आनन्दपूर्ण मधुमय बना देने की शक्ति से परिपूर्ण हैं। नदियों को जलपूर्ण, समुद्र को रत्न और औषधि वनस्पतियों को जीवनी शक्ति से परिपूर्ण गायत्री का प्रथम चरण बनाता है। रात्रि और दिन किसी प्रकृति विपरीतता से तूफान, भूचाल, अति वृष्टि, शीतोष्ण की अधिकता जैसी विकृतियों से बच कर हितकर वातावरण से आनन्दमय रहें, पृथ्वी के परमाणु पर्याप्त मात्रा में अन्न धातु, खनिज, रत्न आदि प्रदान करते रहें तथा द्युलोक की मंगलमयी किरणें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध रहें, ऐसी शक्ति गायत्री के दूसरे चरण में है। गायत्री का तीसरा चरण सूर्य की उत्पादन, प्रेरक एवं विकासोन्मुख शक्तियों को नियन्त्रित एक आवश्यक मात्रा में पृथ्वी पर आह्वान करता है। न तो सूर्य की शक्ति-किरण पृथ्वी पर इतनी अधिक आवें कि ताप से जीवन रस जले और न उसकी इतनी न्यूनता हो कि विकास क्रम में बाधा पड़े। चूँकि वनस्पतियाँ, जन्तु एवं जड़ चेतन सभी अपना जीवन-तत्व सूर्य से प्राप्त करते हैं। मानव प्राणी की चेतना एवं विशेष प्राण क्षमता भी सूर्य पर ही अवलम्बित है। इस विश्व प्रसविता सविता पर गायत्री का तीसरा चरण नियन्त्रण स्थापित करता है, इसलिए सृष्टि के समस्त सन्तुलन को गायत्री शक्ति के आधार पर स्थित रख सकना सम्भव हो सकता है।

गायत्री में अध्यात्म तत्व तो प्रधान-रूप से है ही, वह आत्मबल और अन्तर्जगत् की अगणित सूक्ष्म शक्तियों को विकसित करके मनुष्य को इस पृथ्वी तल का देवता तो बना ही सकता है, साथ ही स्थूल सृष्टि में काम करने वाली सभी भौतिक शक्तियों पर उसका नियन्त्रण है। इस विकास को प्राचीनकाल में जब आत्मदर्शी लोग जानते थे, तब इस संसार को ही नहीं, अन्य लोकों की स्थिति भी शांतिमय, मधुरिमा से पूर्ण बनाये रख सकने में समर्थ थे। भारतवर्ष का यही विज्ञान किसी समय उसे अत्यधिक ऊँची सम्मानास्पद स्थिति में रखे हुए था। आज इसी को खोकर हम मणिहीन सर्प की तरह दीन-हीन एवं परमुखापेक्षी बने हुए हैं। गायत्री में सन्निहित मधु विद्या का उपनिषदों में वर्णन इस प्रकार है—

तत्सवितुर्वरेण्यम् । मधुवाता ऋतायते मधक्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः । भू स्वाहा भर्गोदेवस्य धीमहि । मधुनक्त मतोषसो मधुमत्यार्थिव रजः ।

मधुद्यौररस्तु नः पिता । भुवः स्वाहा, धियो योनः प्रचोदयात् । मधु मान्नो वनस्पतिमधू मा अस्तु सूर्य माध्वीर्गावो भवन्तु नः। स्व-स्वाहा । सवांश्च मदुमती रहभेवेद सर्वभूयांसं भूर्भुव, स्वः स्वाहा ।

—वृहदारण्यक

—(तत्सवितुवरेण्यं) मधुर वायु चले, नदी और समुद्र रसमय होकर रहें। औषधियाँ हमारे लिए सुखदायक हों।

—(**भर्गोदेवस्य धीमहि**) रात्रि और दिन हमारे लिए सुखकारी हों, पृथ्वी की रज हमारे लिये मंगलमय हो। द्युलोक हमें सुख प्रदान करें।

—(**धियोयोनः प्रचोदयात्**) वनस्पतियाँ हमारे लिए रसमयी हों। सूर्य हमारे लिये सुखप्रद हो। उसकी रश्मियाँ हमारे लिए कल्याणकारी हों। सब हमारे लिए सुखप्रद हों। मैं सबके लिये मधुर बन जाऊँ।

अन्तर्जगत के गुप्त तत्त्व

मनुष्य के अन्तर्जगत में जो विलक्षण शक्तियाँ भरी हुई हैं, उनका जागरण भी गायत्री महामन्त्र द्वारा ही सम्भव है। इस महामन्त्र का एक-एक अक्षर शक्ति-बीज है। इन शक्ति बीजों के स्पर्श से शरीर में अवस्थित प्रधान षटचक्रों एवं अठारह उपचक्रों का इस प्रकार कुल २४ चक्रों का जागरण गायत्री उपासना से होता है। इस रत्न भण्डार सरीखे चक्र उपचक्रों में से प्रत्येक में वे शक्तियाँ और सिद्धियाँ भरी हुई हैं, जिन्हें प्राचीन काल में ऋषि मुनि प्राप्त करके अपने को ईश्वरीय तत्वों का अधिकारी-उत्तराधिकारी बनाये हुए थे। इसका प्रमाण इस प्रकार मिलता है।

चतुर्विंशांक्षरी विद्या पर तत्व विनिर्मिता।
तत्कारात् यातकार पर्यन्त शब्द ब्रह्मस्वरूपिणी।।

–गायत्री तन्त्र

अर्थात-'तत्' शब्द से लेकर 'प्रचोदयात्' शब्द पर्यन्त २४ अक्षरों वाली गायत्री पर-तत्त्व अर्थात् पराविद्या से ओत-प्रोत है।

परमात्मा तथा उसकी इस प्रधान शक्ति को लिंग भेद में विभाजित नहीं किया जा सकता। वह न नर है न नारी, परन्तु इतना अवश्य है कि उसे जिस रूप में जिस भाव से माना जाय, उसी के अनुरूप वह सामने उपस्थित होते हैं। भक्त की भावना के ढाँचे में वह महाशक्ति भी मिट्टी की तरह आसानी से ढल जाती है और तदनुसार अपने अस्तित्त्व का परिचय देती है। भगवान को भक्त अपनी अभिरुचि के अनुसार माता, पिता, बन्धु, सखा, पति, पुत्र आदि जो चाहे, सो मान सकता है और उसी के अनुसार उनको प्रत्युत्तर देते अनुभव कर सकता है।

इस संसार में माता का स्नेह एवं वात्सल्य सबसे उत्कृष्ट होता है इसलिए अन्य सम्बन्ध स्थापित करने की अपेक्षा उस ईश्वरीय सत्ता को माता के भाव से मानना, मातृ सम्बन्ध स्थापित करना, अधिक उत्तम है। इस मान्यता के कारण वह शक्ति भी माता के अनुरूप स्नेह एवं वात्सल्य के साथ हमारे सामने आ उपस्थित होती है। भगवान को माता के रूप में प्राप्त करना भक्त के लिये सबसे अधिक आनन्दायक सौभाग्य हो सकता है। इसलिये गायत्री को माता के रूप में माना गया है और उसी रूप में उसकी पूजा होती है।

गायत्री माता को नारी रूप में देखने की प्रतिक्रिया होती है–"नारी मात्र को गायत्री माता का स्वरूप समझना।" स्त्री जाति में मातृ-भावना की स्थापना होकर साधक जब गायत्री की छवि को एक युवा नारी के रूप में सामने रख कर उसके चरणों पर अपना शुद्ध मातृ भाव समर्पित करता है, तो यही अभ्यास धीरे-धीरे दृढ़ होता हुआ इस स्थिति में जा पहुँचता है कि कोई स्त्री चाहे वह रूपवती या तरुणी ही क्यों न हो, गायत्री माता की प्रतीक ही दिखाई पड़ने लगती है। यह मातृ-बुद्धि प्राप्त होना एक बहुत बड़ी आध्यात्मिक सफलता है।

नारी के प्रति पूज्य भावना

गायत्री उपासना से नारी मात्र के प्रति पवित्र भाव बढ़ते हैं और उसके प्रति श्रेष्ठ व्यवहार करने की इच्छा स्वभावतः होती है। ऐसी भावना वाले व्यक्ति नारी सम्मान के, नारी पूजा के, प्रबल समर्थक होते हैं। यह समर्थन समाज में सुख-शांति एवं प्रगति के लिये नितान्त आवश्यक है। शास्त्रों में भी इसका समर्थन है–

जगदम्वम्वामयं पव्य स्त्रीमात्रमविशेषतः।
नारी मात्र को जगदम्बा का स्वरूप माने।।
स्त्रीणां निन्दां प्रहारच कौटिल्तचाप्रियं वचः।
आत्मनो हितमान्विच्छन्ददेवीं भक्तो विवर्जयेत्।।

अपना कल्याण चाहने, वाला माता का उपासक, स्त्रियों की निन्दा न करे, न उन्हें मारे, न उनसे छल करे, न उनका जी दुःखाये।

यत्र नर्यास्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्र नार्यो न पूज्यन्ते श्मशानं तन्नवै गृहम्।।

जहाँ नारी की पूजा होती है, वहाँ देवता निवास करते हैं। जहाँ नारी का तिरस्कार होता है, वह घर निश्चय ही श्मशान है।

गायत्री उपासक की नारी जाति के प्रति गायत्री माता की ही भावना रहती है, उन्हें वह परम पूज्य दृष्टि से देखता है ऐसी स्थिति में वासनात्मक कुविचार तो उसके पास तक नहीं फटकते–

विद्या समस्तास्तवदेविभेदाः स्त्रियः समस्तासकलाजगस्तु।
त्वयेकयापूरितमम्बयैतत् कास्ते स्तुतिः स्तव्यषराषरोक्तिः।।

इस संसार में सम्पूर्ण परा अपरा विद्यायें आपका ही भेद हैं। मेरे संसार की समस्त नारियाँ आपका ही रूप हैं।

पिता से माता अधिक उदार

भक्त की कोमल भावनायें तो यहाँ तक मानती हैं कि न्यायकारी पिता यदि हमारे किन्हीं अपराधों से कुपित होकर दण्ड व्यवस्था करेंगे तो माता अपनी करुणा से द्रवित होकर उस दण्ड से बचा लेंगी । बचा ही नहीं लेंगी वरन् परमपिता को धमका भी देंगी कि मेरे भक्त को दुःख क्यों देते हैं, संसार में पूर्ण निर्दोष कौन है ! जब सभी दोषी हैं, जब आप सभी पर दया करते हैं, उदारता और क्षमा का व्यवहार करते हैं तो मेरे भक्तों के प्रति वैसा उदार व्यवहार क्यों न करोगे ! भक्त मानता है कि जब माता इस प्रकार अपना पक्ष लेंगी तो फिर उनकी सिफारिस पर पिता को झुकना ही पड़ेगा । इन भावनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति देखिए–

पितेवत्वत्प्रेयाञ्जननि परिपूर्णागसिजने ।
हितस्रोती वृत्या भवति च कदाचित्कलुषधीः ।
किमेतन्निर्दोषः व इहजगतीति त्वमुचितैः ।
रुपायै विस्मार्य स्वजनयसि मांता तदसिनः ।

–पराशर भट्ट

परम पिता परमात्मा जब अपराधी जीव पर पिता के समान कुपित हो जाते हैं तब आप ही उन्हें समझाती हो कि "यह क्या करते हो ! इस संसार में पूर्ण निर्दोष कौन है" उनका क्रोध शान्त कर आप ही उन में दया उपजाती हैं । इसलिए आप ही हमारी दयामयी माता हैं ।

परम पिता से महिमामयी माता अधिक उदार, अधिक करुणापूर्ण, अधिक वात्सल्य-युक्त है, इसका एक उदाहरण, कवि ने रामचन्द्र और जानकी की तुलना का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है ।

मातर्मैथिलि राक्षसी स्त्वयि तदेवार्द्रापराधास्त्वया ।
रक्षन्त्या पवनात्मजाल्लघु तरा रामस्य गोष्ठी कृता ।
काकतेच विभीषणं शरणमित्युक्ति क्षमौ रक्षतः ।
सा न स्सान्द्र महागससुखयतुक्षान्तिस्तवा कस्मिकी ।

रामचन्द्र जी ने शरण आने पर ही काक और विभीषण की रक्षा की । इसमें उनका क्या बड़ा गौरव है । जानकी जी की महानता देखो, उनके अपराध करने वाली राक्षसियों को बिना कोई प्रार्थना किये ही दण्ड देने को उद्यत हनुमान जी से छुड़ा दिया । जानकी जी की करुणा रामचन्द्र जी की अपेक्षा कहीं बड़ी है ।

विश्वनारी की पवित्र आराधना

संसार में सब से अधिक प्रेम-सम्बन्ध का अद्वितीय उदाहरण माता है । माता अपने बालक को जितना प्रेम करती है उतना और कोई सम्बन्धी नहीं कर सकता । यौवन के उफान काल में पति-पत्नी में भी अधिक प्रेम देखा जाता है पर वह वास्तविक दृष्टि से माता के प्रेम की तुलना में बहुत ही हलका और उथला बैठता है । पति-पत्नी का प्रेम, आदान-प्रदान एक दूसरे के मनः संतोष एवं प्रति फल के ऊपर निर्भर रहता है । उस में कमी या विघ्न हो तो वह प्रेम विरोध के रूप में परिविर्तित हो जाता है, परन्तु माता का प्रेम अतीव सात्विक और उच्च-कोटि का होता है । बालक से प्रतिफल मिलना तो दूर रहा, उलटे अनेक कष्ट होते हैं, इस पर भी वह वात्सल्य की, परम सात्विक प्रेम की अमृत धारा बालक को पिलाती रहती है । कुपुत्र होने पर भी माता की भावनाएँ घटती नहीं ।

श्रीमद् भागवत में वर्णन आता है कि कंस की सभा में जब श्रीकृष्ण जी पधारे तो सभासदों ने अपनी-अपनी भावनाओं के अनुरूप उन्हें देखा । रामायण में वर्णन है, कि सिया स्वयंवर के समय उपस्थित जन समुदाय राम को साक्षात् वैसा ही देखते थे, जैसी कि उनकी भावना थी । ब्रह्म तत्व स्फटिक मणि के समान स्वच्छ निर्मल एवं निर्विकार है । अपनी-अपनी भावनाएँ ही कंस सभा और सीय स्वयंवर सभासदों की भांति भगवान में परिलक्षित होती हैं । दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब दीखता है । कुए में अपनी ही प्रतिध्वनि वापिस लौटती है । स्फटिक मणि के निकट जिस रंग की वस्तु रक्खी होगी, उसी रंग की वह मणि दिखाई देने लगेगी । भगवान को हम माता, पिता, भ्राता, सखा आदि जिस किसी भाव से देखेंगे, वे उसी भाव के अनुरूप हमारे लिए प्रतिध्वनित होगें ।

हम भगवान को प्रेम करते हैं और उनके अनन्य प्रेम का प्रतिदान प्राप्त करना चाहते हैं । तब माता के रूप में उन्हें भजना सब से अधिक उपयुक्त एवं अनुकूल बैठता है । माता का जैसा वात्सल्य अपने बालक पर होता है वैसा ही प्रेम प्रतिफल प्राप्त करने के लिए भगवान से मातृ-सम्बन्ध स्थापित करना आत्म विद्या के, मनोवैज्ञानिक रहस्यों के, आधार पर अधिक उपयोगी एवं लाभदायक सिद्ध होता है । कंस, भगवान को काल के

रूप में देखता था उसे दिन रात सोते जागते उनका प्राण घाती शस्त्र पाणि महा भयंकर स्वरूप दिखाई पड़ता था । सूरदास के कृष्ण बाल गोपाल स्वरूप थे । हमारे लिये माता का सम्बन्ध अधिक स्नेहमय हो सकता है । माता की गोदी में बालक अपने को सबसे अधिक आनंदित सुरक्षित संतुष्ट अनुभव करता है । प्रभु को माता मानकर जगज्जननी वेदमाता गायत्री के रूप में उसकी उपासना करें, तो उसकी प्रतिक्रिया भगवान की ओर से भी वैसे ही वात्सल्य मय होगी जैसी कि माता की अपने बच्चे के प्रति होती है ।

इसके अतिरिक्त एक वैज्ञानिक कारण यह भी है कि विपरीत लिंग के प्रति आकर्षण स्वभावतः अधिक होता है । पुरुष शरीर और मन में कुछ ऐसी कमियां हैं, जो स्त्री से ही पूरी होती हैं । इन अभावों की पूर्ति के लिए विपरीत लिंग की ओर सदैव खिंचाव रहता है । ध्यान करने में पुरुषाकृति रूप में मन की उतनी प्रवृति नहीं होती जितनी कि स्त्री रूप में । गायत्री माता की उपासना में मन अपेक्षाकृत अधिक शान्त, स्थिर एवं संलग्न रह सकता है, इसलिए गायत्री का इष्ट शीघ्रसिद्ध होता है ।

नारी-शक्ति पुरुष के लिए सब प्रकार आदरणीय, पूजनीय एवं पोषणीय है । पुत्री के रूप में, बहिन के रूप में, माता के रूप में, वह स्नेह करने योग्य, मैत्री करने योग्य एवं गुरुवत् पूजन करने योग्य है । पुरुष के शुष्क अन्तर में अमृत सिंचन यदि नारी द्वारा नहीं हो पाता, तो वैज्ञानिक बतलाते हैं कि वह बड़ा रूखा, कर्कश, क्रूर, निराश, संकीर्ण एवं अविकसित रह जाता है । वर्षा से जैसे पृथ्वी का हृदय हर्षित होता है और उसकी प्रसन्नता हरियाली एवं पुष्प-पल्लव के रूप में फूट पड़ती है । पुरुष भी नारी की स्नेह-वर्षा से इसी प्रकार सिंचन प्राप्त करके अपनी शक्तियों का विकास करता है, परन्तु एक भारी विघ्न इस मार्ग में वासना का है जो अमृत को विष बना देता है । दुराचार, कुदृष्टि एवं वासना का संमिश्रण हो जाने से नर-नारी के सान्निध्य से प्राप्त होने वाले अमृत फल, विष बीज बन जाते हैं । इसी बुराई के कारण स्त्री-पुरुषों को अलग-अलग रहने के, सामाजिक नियम बनाये गये हैं । फलस्वरूप दोनों पक्षों को उन असाधारण लाभों से वंचित रहना पड़ता है, जो नर-नारी के पवित्र मिलन से पुत्री, बहिन और माता के रूप में सामीप्य होने से मिल सकते हैं ।

इस विष विकार की भावना का शमन करने के लिए गायत्री साधना परम उपयोगी है । विश्व नारी के रूप में भगवान की मातृभाव से परम पुण्य भावनाओं के साथ आराधना करना मातृ जाति के प्रति पवित्रता की अधिकाधिक वृद्धि करना है । इस दशा में जितनी सफलता मिलती जाती है उसी अनुपात से अन्य इन्द्रियों का निग्रह, मन का निरोध एवं अनेक मनोविकारों का शमन अपने आप होता जाता है । मातृ भक्त के हृदय में दुर्वासनाएँ अधिक देर नहीं ठहर सकतीं ।

श्रीरामकृष्ण परमहंस, योगी अरविंद घोष, छत्रपति शिवाजी आदि कितने ही महापुरुष शक्ति उपासक थे । शक्ति धर्म, भारत का प्रधान धर्म है । जन्म भूमि को हम भारत माता के रूप में पूजते हैं सभी राष्ट्रवादी भारत माता की, मातृ शक्ति की जय बोलते हैं और उसकी उपासना करते हैं । शिव से पहले शक्ति की पूजा हैं । लक्ष्मी नारायण, सीताराम, राधेश्याम, गौरीशंकर आदि नामों में नारी को प्रथम और नर को गौण रखा गया है । माता का, पिता और गुरु से भी पहला स्थान है । इस प्रकार विश्व नारी के रूप में भगवान की पूजा करना नर पूजा की अपेक्षा अधिक उत्तम उपयोगी है । गायत्री उपासना की यही विशेषता है ।

ब्रह्म निर्विकार है । इन्द्रियों से अतीत तथा बुद्धि से अगम्य है । उस तक सीधा पहुंचने का कोई मार्ग नहीं । नाम, जप, रूप का ध्यान, प्रार्थना, तपस्या, साधना, चिन्तन श्रवण, कीर्तन आदि सभी अध्यात्मिक उपकरण मायिक हैं । सतोगुणी माया, एवं चित शक्ति के द्वारा ही जीव और ईश्वर का मिलन हो सकता है, यह आत्मा और परमात्मा का मिलाप कराने वाली शक्ति गायत्री ही है । ऋषियों ने इसी की उपासना की है क्योंकि यह खुला रहस्य है कि शक्ति बिना मुक्ति नहीं । सरस्वती, लक्ष्मी, काली, माया, प्रकृति, राधा, सीता, सावित्री, पार्वती आदि के रूप में गायत्री की ही पूजा की जाती है । पिता से सम्बन्ध होने का कारण माता है । इसलिए पिता से माता का दर्जा ऊँचा है । समुद्र से ज़ल ला-लाकर मेघमालाऐं ही वर्षा आयोजन करती हैं । ईश्वर की असीम आनन्द राशि का अस्वादन करने का सौभाग्य गायत्री माता द्वारा ही मानव प्राणी को प्राप्त होता है ।

ब्रह्म की इच्छा, शक्ति एवं क्रिया गायत्री है । उसी से उत्पत्ति, विकास एवं अवसान का आयोजन होता है । सुन्दरता, मधुरता, क्रीणा, सम्पत्ति, कीर्ति, आशा, प्रसन्नता, करुणा, मैत्री आदि के रूप में यह महाशक्ति ही जीवन क्षेत्र को आनन्दित एवं तरंगित करती रहती है । इस विश्वनारी की, महागायत्री की, महामाता की आराधना करके हम अधिकाधिक आनन्द की ओर अग्रसर हो सकते हैं ।

महा महिमामयी माता

वृहद्धर्भ पुराण, पूर्व खण्ड अध्याय-२ में परम गुणमय मातृस्तोत्र का वर्णन है, जिसमें आद्यशक्ति माता भगवती के नामों का उल्लेख करते हुए कहा गया है–

'माता धरित्री जननी दयाद्रहृदया शिवा ......

अर्थात् माता धरित्री, जननी, दयाद्रहृदया, शिवा, त्रिभुवन, श्रेष्ठा, देवी, निर्दोषा, सर्वदु:खहा, परम आराधनीया, दया, शांति, क्षमा, धृति, स्वाहा, स्वधा, गौरी, पद्मा, विजया, जया तथा दु:खहन्त्री, ये माता के ही इक्कीस नाम हैं । जो मनुष्य इन नामों को सुनता और सुनाता है, वह सब दु:खों से मुक्त हो जाता है । बड़े से बड़े दुखों से पीड़ित होने पर भी भगवती माता का दर्शन करके मनुष्य को जो आनन्द मिलता है, उसे वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है ।

इस संदर्भ में महर्षि अरविंद का कहना है कि यद्यपि माता एक ही हैं, पर वह हमारे सामने विविध रूपों में आती हैं, उनकी अनेक शक्तियाँ और व्यक्तियाँ हैं, अनेक स्फुलिंग और अनेक विभूतियाँ हैं जो इस विश्व में उनका कर्म करती हैं । जिनको हम पूजते हैं, वह एक ही है और यही भगवान् की वह दिव्य चैतन्यमयी शक्ति है जो 'सर्वमिदं' के ऊपर खड़ी है । है एक, पर इतनी अनेक रूपा है कि उनकी गति को देखना या समझना तेज-से-तेज गति वाले मन और मुक्त-से-मुक्त तथा व्यापक से व्यापक बुद्धि के लिए भी असम्भव है । माता पुरुषोत्तम का चैतन्य है, पुरुषोत्तम की शक्ति है ।

वही सारी सृष्टि करने वाली आदि शक्ति है और अपनी इस सारी सृष्टि से बहुत ऊँचे पर रहती है । पर उनकी यह विविध विलक्षण झाँकी देखी जा सकती है, समझी जा सकती है । उन्हीं की प्रतिमाओं, उन्हीं के ऐसे रूपों को देखकर जो अपने स्वभाव और कर्म में मूल रूप से अधिक व्यक्त और मर्यादित होने के कारण अधिक हृदयंहगम करने योग्य है और जिनके द्वारा माता अपनी संतानों के सामने प्रकट होने में अनुमत होती है ।

माता की सत्ता के तीन रूप हैं, जो तुम जान सकते हो, जब तुम हम को और इस विश्व को धारण करने वाली विन्मयी शक्ति के साथ अपनी एकता (अभिन्नता) का अनुभव करने लगोगे । लोकातीत परा आद्य शक्ति के रूप में वह अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के ऊपर खड़ी है और पुरुषोत्तम के नित्य अव्यक्त रहस्य तथा उनके इस विश्व ब्रह्मांड के बीच की लड़ी हैं । फिर वही विश्व शक्ति, विश्वव्यापनी महाशक्ति कोटि गतियों क्रमों की तथा इन अनन्त कोटि शक्तियों को धारण करती है । इसके बाद है व्यक्ति-शक्ति, जो माता की सत्ता की इन दो विराट् गतियों का व्यक्त रूप हैं जिनके द्वारा वे दो विराट स्वरूप हमारे लिये ज्वलन्त और निकटतर हो जाते हैं और जो मनुष्य तथा दिव्य प्रकृति के बीच में मध्यवर्ती शक्ति के तौर पर हैं ।

महाशक्ति, जगत की जगन्माता वही सृजन करती है, जिसका संकल्प परमेश्वर से उन्हीं के परम चैतन्य के द्वारा प्रेरित किया जाता है । महाशक्ति इस प्रकार सृष्टियों को रचकर उनके अन्दर प्रवेश करती है । इनकी सत्ता ही इन लोकों को भागवत भाव, सर्व प्रतिपालक भागवत शक्ति और आनन्द से भर देती है, जिनके होने से ही ये लोक ठहरे हुए हैं, जिसे हम प्रकृति कहते हैं, वह इस महाशक्ति का केवल अत्यन्त बाह्य सर्ग (कर्म) रूप है । महाशक्ति ही अपनी शक्तियों और गतियों का संचालन और व्यवस्थापन करती है, वही प्रकृति से कर्म कराती है और उन सब कर्मों के अन्दर गुप्त अथवा प्रकट रूप से रहती है, जो कुछ हम देख सकते या अनुभव कर सकते या जिसे जीवनगति दे सकते हैं उन सब में महाशक्ति की ही सत्ता है । प्रत्येक लोक और कुछ नहीं, एक विशेष लोक-समूह या जगत की महाशक्ति का एक विशेष खेल है और इन सब लोकों में वह महाशक्ति उन्हीं आद्याशक्ति भगवती माता की विश्वव्यापिनी चिच्छक्ति और विश्वव्यापनी व्यक्ति है । प्रत्येक लोक का उन्हीं की दृष्टि में साक्षात्कार होता है, फिर उन्हीं के सौंदर्य और शक्तिमय हृदय में एकत्र घनीभूत होकर वह उनके आनन्द-स्फुरण से सृष्ट होता है ।

माता ऊपर से सब का शासन करती है यह नहीं, बल्कि इस छोटे से त्रिविध संसार में वह उतर आती है। केवल दिव्य अक्षररूप की ओर दृष्टि निबद्ध करने से मालूम होगा कि यहाँ की सारी वस्तुएँ, यहाँ तक कि अज्ञान की सारी गतियाँ भी अपनी शक्ति को प्रच्छन्न करती हुई स्वयं माता ही हैं। अपने सत्तत्व में अल्पीकृत (घटी हुई) उन्हीं की सृष्टियाँ हैं, उन्हीं की प्रकृति-शरीर और प्रकृति शक्ति है। और ये सब हैं इसी कारण से कि अनन्त की प्रभाव सम्भावनाओं में कुछ ऐसा था जिसे चुनकर प्रकृतरूप प्रदान करने का रहस्यमय आदेश परमेश्वर से पाकर वह इस महान आत्मबलि के लिए समस्त हुई और उन्होंने छद्मवेश की तरह अज्ञान की आत्मा और रूपों को धारण कर लिया। पर व्यक्ति रूप में भी उन्होंने अपने को यहाँ तक नीचा कर दिया कि वह इस अंधकार में उतर आयीं, इसलिये कि इसे ज्योति की ओर ले जाऊँ, झूठ में और भ्रम में आ गयीं इसलिए कि इन्हें सत्य का रूप दे दूँ, इस मृत्यु में भी आ धमकी, इसलिए कि इसे दिव्य जीवन दे दूँ। संसार के इस क्लेश में, इस हठी शोक और दुःख में पहुँच गयीं, इसलिए कि इसके इस रूप का अन्त करके अपने महत् अत्युच्च आनन्द की दिव्य रूप प्रदान करने वाली प्रगाढ़ता में इसे परिणत कर दूँ।

अपनी सन्तानों के प्रति उनका मातृ प्रेम प्रगाढ़ और महान् है। इसी से उन्होंने अंधकार का यह आवरण ओढ़ना स्वीकार कर लिया है। तमस् और मिथ्या की शक्यिों के दारुण दुर्भाव और दुराक्रमण सह लेना मंजूर कर लिया है, जो जन्म-मृत्यु ही हैं, उसके तारण द्वार के पार होने की वेदना को धार लिया है। सृष्टि की सारी व्यथा, सारा शोक और सारा कष्ट उठा लिया है, क्योंकि ऐसा मालूम हुआ कि यही एक उपाय है जिससे यह सृष्टि उठ कर आलोक, आनन्द, सत्य और सनातन जीवन को प्राप्त हो सकती है। यह महा यज्ञ है जिसे कभी-कभी पुरुष का यज्ञ कहते हैं पर जो इससे अधिक गम्भीर अर्थ में, प्रकृति की ही पूर्ण आत्मबलि है, भगवती माता का ही महायज्ञ है।

जो ज्ञानी हैं, उन्हें वह अधिकाधिक एवं और भी विशद् ज्ञान देती हैं, जिनमें दर्शन-शक्ति है उन्हें अपनी कल्पना और अभिप्राय में शरीक होने का अधिकार देती हैं। जो विरोधी हैं उन पर उस विरोध का परिणाम लादती हैं। जो आनजान और मूर्ख है उन्हें उन्हीं की अन्धता के अनुसार रास्ता दिखाती हैं। प्रत्येक मनुष्य के स्वभाव के भिन्न-भिन्न अंशों की आवश्यकता और प्रेरणा के अनुसार और जिस प्रतिदान के लिए वे आहुति देते हैं उसके अनुसार माता (माहेश्वरी) प्रत्युत्तर देती हैं और उनका प्रयोग करती हैं, उन पर आवश्यक प्रभाव डालती है या उन्हें अपनी प्रीतस्वाधीनता के भरोसे छोड़ देती हैं जिसमें या तो अविद्या के पथ पर समृद्धि लाभ करे या ध्वंस को प्राप्त हों। कारण वह सब के ऊपर हैं, जगत् में किसी से बँधी नहीं, किसी से आसक्त नहीं, तथापि उनका जो हृदय है, वह विश्व-जननी का हृदय है, ऐसा मातृ स्नेह इतना और किसी में नहीं है।

कारण, इनकी दया अनन्त और अक्षय है। उनकी दृष्टि में सभी उनकी सन्तान हैं, उसी एक के अनेक अंश हैं। असुर, राक्षस, पिशाच और उन के विद्रोही और शत्रु भी उनकी दृष्टि में अपनी सन्तान ही हैं। उनका प्रत्याख्यान केवल विलम्बन मात्र है, और उनका दंड विधान तो करुणा ही है।

ज्ञान और शक्ति केवल ये ही दो रूप परम परमेश्वरी माता के नहीं है, उनकी प्रकृति में और भी सूक्ष्मतर एक रहस्य है और वह एक ऐसी चीज है कि जिसके बिना ज्ञान और शक्ति अपूर्ण ही रह जायँगे और पूर्णत्व भी पूर्ण न होगी। इन ज्ञान और शक्ति के ऊपर सनातन सौंदर्य की अलौकिक चमत्कृति है, देवी समन्वय का अगम्य रहस्य है, अप्रतिहत जगद्व्यापिनी मनोहरता और आकर्षण का ऐसा वशीकरण है कि वह अपनी ओर सब वस्तुओं और शक्तियों और सत्ताओं को खींचता है, एकत्र बाँधे रहता है और उन्हें एक दूसरे के साथ मिलने और एक होने को विवश करता है जिनमें वह आनन्द जो परदे के अन्दर छिपा हुआ है, वहाँ से अपना खेल खेले और उन्हें अपने स्वर और रूप बनावे। यह शक्ति है महालक्ष्मी की और कोई रूप इससे अधिक मोहक या आकर्षक नहीं है। महेश्वरी इस पार्थिव-प्रकृति की क्षुद्रता के लिये इतनी अविचल और महान और दूर मालूम हो सकती हैं कि यह वहाँ तक पहुँच न सके या उनका भाव धारण भी न कर सके। महाकाली भी इतनी द्रुतगति और प्रचंड है कि इस पार्थिव प्रकृति की दुर्बलता उनका भाव वहन न कर सके, पर महालक्ष्मी की ओर सभी बड़े आनन्द और लालसा के साथ दौड़ पड़ते हैं। कारण

वह भगवान के उन्मादक माधुर्य का मोहनास्त्र फेंकता है। उनके समीप रहने में अगाध सुख होता है और अपने हृदय के अन्दर उन्हें मालूम करना जीवन को आनन्दोन्माद और कौतुकमय बना देना है। शोभा और मोहकता और मृदुता उनसे वैसे ही प्रवाहमान होती हैं जैसे सूर्य से ज्योति। जहाँ कहीं वह अपनी आश्चर्यमयी दृष्टि डालती हैं या अपनी स्मितकांति बरसाती है, वहाँ आत्मा अभिभूत हो जाता है और अथाह आनंद की गंभीरता में निमग्न हो जाता है। उन के हाथों का स्पर्श चुम्बक के समान है और उनका रहस्मय मृदु प्रभाव मन, प्राण और शरीर में लालित्य मय सूक्ष्मता ले आता है और जहाँ उनके चरण अवस्थित होते हैं वहाँ उन्मत्त कर देने वाले आनन्द के अपूर्व स्रोत बहने लगते हैं।

रामकृष्ण परमहंस ने मातृशक्ति को सर्वोपरि माना है। उनके अनुसार माँ तो सब कुछ है, वह त्रिगुणमयी और साथ ही साथ शुद्ध सत्वगुणमयी भी है। वे उस महाशक्ति को चिन्मयी ब्रह्मशक्ति कहते हैं, जिसने अपनी इच्छा से इस संसार का सृजन किया है। बंगला भाषा में एक गीत है–

'मां त्वं हि तारा । तुमि त्रिगुणधरा परात्परा..

जिसे वे प्रायः नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) से सुना करते और समाधिस्थ हो जाया करते थे।

स्वामी रामतीर्थ ने अपनी स्वानुभूति प्रकट करते हुए कहा है कि ईश्वर की उपासना मातृशक्ति के रूप में करना जितना अधिक फलदायी हो सकता है, उतना अन्य रूपों में नहीं। बच्चे के लिए ममतामयी माता से बढ़कर भला इस संसार में दूसरा और कौन हो सकता है ? वे सच्चे भक्त की तुलना उस नन्हें शिशु से करते हैं जो अपने को माता की गोदी में समर्पित कर निर्द्वन्ध निश्चिन्त हो जाता है और तब उसके लिए सारे संसार का ऐसा कौन सा सुख और आराम है जो शेष रह जाता हो ? आँधी हो, वर्षा हो या तूफान, भूकंप हो, उसका बालबांका नहीं होता, कारण सारे झंझावातों को माता स्वयं झेल जाती है। हमारा इष्ट अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति एवं अनन्त शांति का अक्षय भंडार है। निश्चल मन से शिशुवत अपना नन्हा सा तन और भोला-भाला मन आद्यशक्ति माँ गायत्री की गोदी में समर्पित कर हम भी निश्चिन्त हो सकते हैं और वह सब कुछ पा सकते हैं जो एक सच्चे साधक को उपलब्ध होता है।

गायत्री-साधना का उद्देश्य

नये विचारों से पुराने विचार बदल जाते हैं। कोई व्यक्ति किसी बात को गलत रूप से समझ रहा हो तो उसे तर्क, प्रमाण और उदाहरणों के आधार पर नई बात समझाई जा सकती है। यदि वह अत्यन्त ही दुराग्रही, मूढ़ उत्तेजित या मदान्ध नहीं है, तो प्रायः सही बात को समझने में विशेष कठिनाई नहीं होती। सही बात समझ जाने पर प्रायः गलत मान्यता बदल जाती है। स्वार्थ या मान-रक्षा के कारण कोई अपनी पूर्व मान्यता की वकालत करता रहे यह बात दूसरी है, पर मान्यता और विश्वास क्षेत्र में उसका विचार परिवर्तन अवश्य हो जाता है। ज्ञान द्वारा अज्ञान को हटा दिया जाना कुछ विशेष कठिन नहीं है।

परन्तु स्वभाव, रुचि, इच्छा, भावना और प्रकृति के बारे में यह बात नहीं है। इन्हें साधारण रीति से नहीं बदला जा सकता है। यह जिस स्थान पर जमी होती है वहाँ से आसानी के साथ नहीं हटती। चूंकि मनुष्य चौरासी लाख कीट पतंगों, जीव जन्तुओं की क्षुद्र योनियों में भ्रमण करता हुआ नर-देह में आता है। इसलिये स्वभावतः उसके पिछले जन्म-जन्मान्तरों के पाशविक नीच संस्कार बड़ी दृढ़ता से अपनी जड़ मनोभूमि में जमाये होते हैं। मस्तिष्क में नाना प्रकार के विचार आते और जाते हैं, उनमें परिवर्तन होता रहता है, पर उसका विशेष प्रभाव इस मनोभूमि पर नहीं पड़ता। अच्छे उपदेश सुनने, अच्छी पुस्तक पढ़ने एवं गम्भीरता पूर्वक स्वयं आत्म-चिन्तन करने मनुष्य भलाई और बुराई के, धर्म-अधर्म के अन्तर को भली प्रकार समझ जाता है। उसे अपनी भूलें, बुराइयां, त्रुटियाँ और कमजोरियाँ भली प्रकार प्रतीत हो जाती हैं। बौद्धिक स्तर पर वह सोचता है और चाहता है कि इन बुराइयों से उसे छुटकारा मिल जाय, कई बार तो वह अपनी काफी भर्त्सना भी करता है। इतने पर भी वह अपनी चिर संचित कुप्रवृत्तियों से, बुरी आदतों से अपने को अलग नहीं कर पाता।

नशेबाज, चोर, दुष्ट, दुराचारी प्रकृति के मनुष्य यह भली भांति जानते हैं कि हम गलत मार्ग अपनाये हुये हैं वे बहुधा यह सोचते रहते हैं कि-काश, इन बुराइयों से हमें छुटकारा मिल जाता, पर उनकी इच्छा एक निर्मल कल्पना मात्र रह जाती है उनके मनोरथ निष्फल ही होते

रहते हैं। बुराइयां छूटती नहीं जब भी प्रलोभन का अवसर आता है, तब मनोभूमि में जड़ जमाये हुए पड़ी हुई कुवृत्तियाँ आँधी तूफान की तरह उमड़ पड़ती हैं और वह व्यक्ति आदत से मजबूर होकर उन्हीं बुरे कार्यों को फिर कर बैठता है। विचार और संस्कार इन दोनों की तुलना में संस्कार की शक्ति अत्यधिक प्रबल है। विचार एक नन्हा सा शिशु है, तो संस्कार परिपुष्ट-प्रौढ़। दोनों के युद्ध में प्रायः ऐसा ही परिणाम देखा जाता है कि शिशु की हार होती है और प्रौढ़ की जीत। यद्यपि कई बार मनस्वी व्यक्ति, श्रीकृष्ण द्वारा पूतना और राम द्वारा ताड़का-बध का उदाहरण उपस्थित करके अपने विचार बल द्वारा कुसंस्कारों पर विजय प्राप्त करते हैं। पर आमतौर से लोग कुसंस्कारों के चंगुल में, जाल में फँसे पक्षी की तरह उलझे हुए देखे जाते हैं। अनेकों धर्मोपदेशक, ज्ञानी, विद्वान, नेता सम्भ्रान्त महापुरुष समझे जाने वाले व्यक्तियों का निजी चरित्र जब कुकर्मयुक्त देखा जाता है, तो यही कहना पड़ता है कि इनकी इतनी बुद्धि प्रौढ़ता भी अपने कुसंस्कारों पर इन्हें विजय न दिला सकी। कई बार तो अच्छे-अच्छे ईमानदार और तपस्वी मनुष्य किसी विशेष प्रलोभन के अवसर पर डिग जाते हैं, जिसके लिए पीछे उन्हें पश्चात्ताप करना पड़ता है। चिर-संचित पाशविक वृत्तियों का भूकम्प जब आता है तो सदाशयता के आधार पर चिर प्रयत्न से बनाये हुए सुचरित्र की दीवार हिल जाती है।

उपरोक्त पंक्तियों का तात्पर्य यह नहीं है कि विचार-शक्ति निरर्थक वस्तु है और उसके द्वारा कुसंस्कारों को जीतने में सहायता नहीं मिलती। इन पंक्तियों में यह कहा जा रहा है कि साधारण मनोबल की सदिच्छायें मनोभूमि के परिमार्जन करने में बहुत अधिक समय में मन्द प्रगति से धीरे-धीरे आगे बढ़ती हैं, अनेकों बार उन्हें निराशा और असफलता का मुँह देखना पड़ता है, इस पर भी यदि सद्विचारों का कार्य जारी रहे तो अवश्यक ही कालान्तर में कुसंस्कारों पर विजय प्राप्त की जा सकती है अध्यात्म विद्या के आचार्य इतने आवश्यक कार्य को इतने बिलम्ब तक पड़ा रहने देना नहीं चाहते। इसलिये उन्होंने इस सम्बन्ध में अत्यधिक गम्भीरता, सूक्ष्म दृष्टि और मनोयोग पूर्वक विचार करके मानव अन्तःकरण में रहने वाले पाशविक संस्कारों का पारदर्शी विश्लेषण किया है और वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि मनः क्षेत्र के जिस स्तर पर विचारों के कम्पन क्रियाशील रहते हैं, उससे कहीं अधिक गहरे स्तर पर संस्कारों की जड़ें होती हैं।

जैसे कुआँ खोदने पर भी जमीन में विभिन्न जाति की मिट्टियों के पर्त निकलती हैं वैसे ही मनोभूमि के भी कितने ही पर्त हैं, उनके कार्य, गुण और क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। ऊपर वाले दो पर्त–(१) मन, (२) बुद्धि हैं। मन में इच्छाऐं, वासनाऐं, कामनाऐं पैदा होती हैं, बुद्धि का काम विचार करना, मार्ग ढूँढ़ना और निर्णय करना हैं। यह दोनों पर्त मनुष्य के निकट सम्पर्क में हैं, इन्हें स्थूल मनः क्षेत्र कहते है समझने से तथा परिस्थित को परिवर्तन से इनमें आसानी से हेर-फेर हो जाता है।

इस स्थूल क्षेत्र से गहरे पर्त को सूक्ष्म मनः क्षेत्र कहते हैं। इसके प्रमुख भाग दो हैं : (१) चित्त, (२) अहंकार। चित्त में संस्कार आदत, रुचि, स्वभाव, गुण की जड़ें रहती हैं। अहंकार "अपने सम्बन्ध में मान्यता" को कहते हैं। अपने को जो व्यक्ति धनी-दरिद्र, ब्राह्मण-शूद्र, पापी-पुण्यात्मा, अभागा-सौभाग्यशाली, स्त्री-पुरुष, मूर्ख-बुद्धिमान, तुच्छ-महान, जीव-ब्रह्म, बद्ध-मुक्त आदि जैसा भी कुछ मान लेता है। वह वैसे ही अहंकार वाला माना जाता है। आत्मा के अहम् के सम्बन्ध में मान्यता का नाम ही अहंकार है। इन मन, बुद्धि, चित्त अहंकार के अनेकों भेद उपभेद हैं और उनके गुण कर्म अलग अलग हैं; उनका वर्णन इन पंक्तियों में नहीं किया जा सकता। यहाँ तो उनका संक्षिप्त परिचय देना इसलिये आवश्यक हुआ कि कुसंस्कारों के निवारण के बारे में कुछ बातें भली प्रकार जानने में पाठकों को सुविधा हो।

जैसे मन और बुद्धि का जोड़ा है, वैसे ही चित्त और अहंकार का जोड़ा है। मन में नाना प्रकार की इच्छायें, कामनाऐं रहती हैं पर बुद्धि उनका निर्णय करती है। कौन सी इच्छा प्रकट करने योग्य है कौन सी दबा देने योग्य ? इसे बुद्धि जानती है और वह सभ्यता, लोकाचार, सामाजिक नियम, धर्म, कर्त्तव्य सम्भव, असम्भव आदि का ध्यान रखते हुए अनुपयुक्त इच्छाओं को भीतर दबाती रहती हैं। जो इच्छा कार्य रूप में लाये जाने योग्य जँचती हैं, उन्हीं के लिए बुद्धि अपना प्रयत्न आरम्भ करती है। इस प्रकार यह दोनों मिल कर मस्तिष्क क्षेत्र में अपना तानाबाना बुनते रहते हैं।

अतःकरण क्षेत्र में चित्त और अहंकार का जोड़ा अपना कार्य करता है । जीवात्मा अपने को जिस श्रेणी का जिस स्तर का अनुभव करता है चित्त में उस श्रेणी के, उसी स्तर के पूर्व संचित संस्कार सक्रिय और परिपुष्ट रहते हैं । कोई व्यक्ति अपने को शराबी, पाप वाला, कसाई, अछूत समाज का निम्न वर्ग मानता है, तो उसका यह अहंकार उसके चित्त को उसी जाति के संस्कारों की जड़ जमाने और स्थिर रखने के लिये प्रस्तुत रखेगा । जो गुण कर्म स्वभाव इस श्रेणी के लोगों में होते हैं, वे सभी उसके चित्त में संस्कार रूप से जड़ जमा कर बैठ जायेंगे । यदि उसका अहंकार अपराधी या शराबी की मान्यता का परित्याग कर के लोक सेवी, महात्मा, सच्चरित्र एवं उच्च होने की अपनी मान्यता स्थिर कर ले तो अति शीघ्र उसकी पुरानी आदतें, आकांक्षाऐं अभिलाषाऐं बदल जायेंगी और वह वैसा ही बन जायगा, जैसा कि अपने सम्बन्ध में उसका विश्वास है, शराब पीना बुरी बात है इतनी मात्रा समझाने से उसकी लत छूटना मुश्किल है, क्योंकि हर कोई जानता है कि क्या बुराई है, क्या भलाई । ऐसे विचार तो उसके मन में पहले भी अनेकों बार आ चुके होते हैं । लत तभी छूट सकती है, जब वह अपने अहंकार को प्रतिष्ठित नागरिक की मान्यता में बदले और यह अनुभव करें कि यह आदतें मेरे गौरव के, स्तर के, व्यवहार के अनुपयुक्त हैं । अंतकरण की एक ही पुकार से, एक ही हुंकार से, एक ही चीत्कार से चित्त में जमे हुए कुसंस्कार उखड़ कर एक ओर गिर पड़ते हैं और उनके स्थान पर नये, उपयुक्त, आवश्यक, अनुरूप संस्कार कुछ ही समय में जम जाते हैं । जो कार्य मन और त्रुटि द्वारा अत्यन्त कष्टसाध्य मालूम पड़ता था वह अहंकार परिवर्तन की एक चुटकी में ठीक हो जाता है ।

अहंकार तक सीधी पहुँच साधना के अतिरिक्त और किसी मार्ग से नहीं हो सकती । मन और बुद्धि को शान्त मूर्छित तन्द्रिय अवस्था में छोड़ कर सीधे अहंकार तक प्रवेश पाना ही साधना का उद्देश्य है । गायत्री-साधना का विधान भी इस प्रकार का है । उसका सीधा प्रभाव अहंकार पर पड़ता है । 'मैं ब्राह्मीशक्ति का आधार हूँ, ईश्वरीय स्फूरणा-गायत्री मेरे रोम-रोम में ओत-प्रोत हो रही है, मैं उसे अधिकाधिक मात्रा में अपने अन्दर करके बाह्मीभूत हो रहा हूँ । यह मान्यताऐं मानवीय अहंकार को पाशविक स्तर से बहुत ऊँचा उठा ले जाती हैं और उसे देवभाव में अवस्थित करती हैं । मान्यता कोई साधारण वस्तु नहीं है । गीता कहती है–'यो यच्छ्रद्ध स एवं सः, जो अपने सम्बन्ध में श्रद्धा जैसी मान्यता रखता है, वस्तुतः वह वैसा ही होता है । गायत्री-साधना अपने साधक में दैवी आत्म-विश्वास, ईश्वरीय अहंकार प्रदान करती है और वह कुछ ही समय में वस्तुतः वैसा ही हो जाता है । जिस स्तर पर उसकी आत्म मान्यता है उसी स्तर पर चित्त-वृत्तियाँ रहेंगी वैसी ही आदतें, इच्छाएँ, रुचियाँ, प्रवृत्तियाँ, क्रियायें उसमें दीख पड़ेंगी । जो दिव्य मान्यता से ओत-प्रोत है, निश्चय ही उसकी इच्छाएं, आदतें और क्रियायें वैसी ही होंगी । यह साधना प्रतिक्रिया मानव अन्तःकरण का काया-कल्प कर देती है । जिस आत्म- सुधार के लिये उपदेश सुनना और पुस्तक पढ़ना विशेष सफल नहीं होता था, वह कार्य साधना द्वारा सुविधापूर्वक पूरा हो जाता है । यही साधना का रहस्य है ।

उच्च मनःक्षेत्र (सुपर मेण्टल) ही ईश्वरीय दिव्यशक्तियों के अवतरण का उपयुक्त स्थान है । हवाई जहाज वहीं उतरता है जहाँ अड्डा होता है । ईश्वरीय दिव्य शक्ति मानव प्राणी के इसी उच्च मनः क्षेत्र में उतरती है । यदि वह साधना द्वारा निर्मल ही बना लिया गया है तो अति सूक्ष्म दिव्य शक्तियों को अपने में नहीं उतारा जा सकता । साधना, साधक के उच्च मनः क्षेत्र को उपयुक्त हवाई अड्डा बनाती है, जहाँ वह दैवी शक्ति उतर सके ।

यह अपरा प्रकृति को परा प्रकृति में रूपान्तरित करने का विज्ञान है । मनुष्य की पाशविक वृत्तियों के स्थान पर ईश्वरीय सत् शक्ति को प्रतिष्ठित करना आध्यात्म विज्ञान का कार्य है । तुच्छ को महान, सीमित को असीम, अणु को विभु, बद्ध को मुक्त, पशु को देव बनाना साधना का उद्देश्य है । इस परिवर्तन के साथ-साथ वे सामर्थ्यें भी मनुष्य में आ जाती हैं, जो उस सत्-शक्ति में सन्निहित हैं और जिन्हें ऋद्धि, सिद्धि आदि नामों से पुकारते हैं । साधना आध्यात्मिक कायाकल्प की एक वैज्ञानिक प्रणाली है और निश्चय ही अन्य साधना-विधियों में गायत्री साधना का स्थान सर्वश्रेष्ठ है ।

निष्काम साधना का तत्त्व-ज्ञान

गायत्री की उपासना चाहे निष्काम भावना से की जाय चाहे सकाम भावना से, पर उसका फल अवश्य मिलता है। भोजन चाहे सकाम भाव से किया जाय चाहे, निष्काम भाव से, उससे भूख शान्त होने और रक्त बनाने का परिणाम अवश्य होगा। गीता आदि सत् शास्त्रों में निष्काम कर्म करने पर इसलिए जोर दिया गया है कि उचित रीति से सत्कर्म पर भी वह निश्चित नहीं कि हम जो फल चाहते हैं वह निश्चित रूप से मिल ही जायगा। कई बार ऐसा देखा गया है कि पूरी सावधानी और तत्परता से करने पर भी वह काम पूरा नहीं होता, जिसकी इच्छा से यह सब किया गया था। ऐसी असफलता के अवसर पर साधक खिन्न, निराश अश्रद्धालु न हो जाय और श्रेष्ठ साधना-मार्ग से उदासीन न हो जाय, इसलिए शास्त्रकारों ने निष्काम कर्म को, निष्काम साधना को अधिक श्रेष्ठ माना है और उसी पर अधिक जोर दिया है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि साधना का श्रम निरर्थक चला जाता है यह साधना प्रणाली ही संदिग्ध है उसकी प्रामाणिकता और विश्वस्तता में सन्देह करने की तनिक भी गुञ्जाइश नहीं है। इस दिशा में किये गये प्रयत्न का एक कण भी निरर्थक नहीं जाता। आज तक जिसने भी इस दिशा में कदम बढ़ाये हैं, उसे अपने श्रम का भरपूर प्रतिफल अवश्य ही मिला है। केवल एक ही अड़चन है कि सदा अभीष्ट मनोवांछा पूर्ण हो जाय, यह सुनिश्चित नहीं है।

कारण यह है कि प्रारब्ध कर्मों का परिपाक होकर जो भवतव्यता बन चुकी है, उन कर्म रेख को मेटना कठिन होता है। यह रेखायें कई बार तो साधारण होती हैं और प्रयत्न करने से उसमें हेर-फेर हो जाता है और कई बार वे भोग इतने प्रबल और सुनिश्चित होते हैं कि उनका टलना सम्भव नहीं होता। ऐसे कठिन प्रारब्धों के बन्धन में बड़े-बड़ों को बन्धन और उनकी यातनाओं को भुगतना पड़ा है।

राम का वन गमन, सीता का परित्याग, कृष्ण का ब्याध के बाण से आहत होकर स्वर्ग सिधारना, हरिश्चन्द्र का स्त्री पुत्रों तक को बेचना, नल का दमयन्ती-परित्याग, पाण्डवों का हिमालय में गलना, शब्दबेधी पृथ्वीराज का म्लेच्छों का बन्दी होकर मरना; जैसी असंख्यों घटनायें इतिहास में ऐसी आती हैं, जिनसे आश्चर्य होता है कि ऐसे लोगों पर भी ऐसी विपत्तियाँ किस कारण आ गई ? इसके विपरीत ऐसी घटनाएँ भी हैं कि तुच्छ सावधानी और विपन्न परिस्थितियों के लोगों ने बड़े-बड़े ऊँचे पद तथा ऐश्वर्य पाये, जिन्हें देखकर आश्चर्य होता है कि किस दैवी सहायता से यह तुच्छ मनुष्य इतना उत्कर्ष करके बिना श्रम के समर्थ हो गये। ऐसी घटनाओं का समाधान प्रारब्ध के भले बुरे भागों की अमिटता के आधार पर ही होता है। जो होनहार है, सो होकर रहती है, प्रयत्न करने पर भी उसका टालना सम्भव नहीं होता।

यहाँ यह सन्देह उत्पन्न हो सकता है कि जब प्रारब्ध ही प्रबल हो, तो प्रयत्न करने से क्या लाभ ? ऐसा सन्देह करने वालों को समझना चाहिए कि जीवन के सभी कार्य प्रारब्ध पर निर्भर नहीं होते। कोई विशेष होतव्यताएँ ही ऐसी अटल होती हैं जो टल न सकें। जीवन का अधिकांश भाग ऐसा होता है जिनमें तात्कालिक कर्मों का फल ही प्राप्त होता रहता है, क्रिया का परिणाम अधिकतर हाथों हाथ मिलता जाता है। पर कभी-कभी उनमें ऐसे अपवाद आते रहते हैं भला करते बुरा होता है और बुरा करते भलाई हो जाती है। कठोर परिश्रमी और चतुर व्यक्ति घाटे में रहते हैं और मूर्ख तथा आलसी अनायास लाभ से लाभान्वित हो जाते हैं। ऐसे अपवाद सदा नहीं होते, कभी-कभी ही देखे जाते हैं, यदि ऐसी ही औंधी सीधी घटनाएँ रोज घटित हों तब तो संसार की सारी व्यवस्था बिगड़ जाय, कर्तव्य मार्ग ही नष्ट हो जाय। कर्म और फल का बन्धन यदि न दीख पड़ेगा तो लोग कर्तव्य के कष्टसाध्य मार्ग को छोड़कर जब जैसे भी बन पड़े वैसे प्रयोजन सिद्ध करना या भाग्य भरोसे बैठे रहने की नीति अपना लेंगे और संसार में घोर अव्यवस्था फैल जायगी। ऐसी उलट बासी सदा ही नहीं हो सकती। केवल कभी-कभी ही ऐसे अपवाद देखने में आते हैं। गायत्री की सकाम साधना जहाँ अधिकतर अभीष्ट प्रयोजनों में सफलता प्रदान करती है वहाँ कभी कभी ऐसा भी होता है कि वैसा न हो, प्रयत्न निष्फल दीख पड़े या विपरीत परिणाम हो। ऐसे अवसरों पर अकाट्य प्रारब्ध की प्रबलता ही समझनी चाहिए।

अभीष्ट फल भी न मिले तो भी गायत्री साधना का श्रम खाली नहीं जाता, उससे दूसरे प्रकार के लाभ तो प्राप्त हो ही जाते हैं। जैसे कोई नवयुवक किसी दूसरे नवयुवक को कुश्ती में पछाड़ने के लिये व्यायाम और पौष्टिक भोजन द्वारा अपने शरीर को सुदृढ़ बनाने हेतु उत्साहपूर्वक तैयारी करता है। पूरी तैयारी के बाद भी कदाचित् वह कुश्ती में पछाड़ने में असफल रहता है तो ऐसा नहीं समझा जाना चाहिए कि उसकी तैयारी निरर्थक चली गई। वह तो अपना लाभ दिखावेगी ही। शरीर की सुदृढ़ता, चेहरे की कान्ति, अंगों की सुडौलता, फेफडों की मजबूती, बल-वीर्य की अधिकता, निरोगता,दीर्घ जीवन, कार्यक्षमता, बलवान सन्तान आदि अनेकों लाभ उस बढ़ी हुई तन्दुरुस्ती से प्राप्त होकर रहेंगे। कुश्ती की सफलता से वंचित रहना पड़ा, ठीक है पर शरीर की बल वृद्धि द्वारा प्राप्त होने वाले अन्य लाभों से उसे कोई वंचित नहीं कर सकता। गायत्री साधक अपने काम्य प्रयोजन में सफल न हो सके तो भी उसे अन्य-अन्य अनेकों मार्गों से ऐसे-ऐसे लाभ मिलेगें, जिनकी आशा बिना साधना के नहीं की जा सकती थी।

मनुष्य ऐसी कामना भी करता है, जो उसे अपने लिए लाभदायक एवं आवश्यक प्रतीत होती हैं, पर ईश्वरीय दृष्टि में वह कामना उसके लिए अनावश्यक एवं हानिकारक होती है। ऐसी कामनाओं को प्रभु पूरा नहीं करते। बालक अनेकों चीजें माँगता रहता है, पर माता जानती है कि उसे क्या दिया जाना चाहिए क्या नहीं। बालक के रोने-चिल्लाने पर भी माता ध्यान नहीं देती और उस वस्तु से उसे वंचित रखती है, जो उसके लिए उपयोगी नहीं। रोगियों के आग्रह भी ऐसे होते हैं। कुपथ्य करने के लिए रोगी अक्सर मांग किया करते है, पर चतुर परिचारक उनकी मांग को पूरा नहीं करते, क्योंकि वे देखते हैं कि इनमें रोगी के प्राणों का खतरा है। बालक या रोगी अपनी माँग के उचित होने में कोई सन्देह नहीं करते, वे समझते हैं कि उनकी माँग उचित, आवश्यक एवं निर्दोष हैं। इतना होने पर भी वस्तुतः उनका दृष्टिकोण गलत होता है। गायत्री साधकों में भी बहुत से बालक और रोगी बाल-बुद्धि के हो सकते हैं। अपनी दृष्टि से उनकी कामना उचित है पर ईश्वर ही जानता है कि किसी प्राणी के लिये क्या वस्तु उपयोगी है। वह अपने पुत्रों को उनकी योग्यता स्थिति और आवश्यकता के अनुकूल ही देता है। असफल गायत्री साधकों में से सम्भव है किन्हीं को बाल-बुद्धि की याचना के कारण असफल होना पड़ा हो।

माता अपने किसी बच्चे को खिलौने आकर मिठाई देकर दुलार करती है और किसी को अस्पताल में आपरेशन की कठोर पीड़ा दिलाने ले जाती है एवं कड़वी दवा पिलाती है। बालक इस व्यवहार को माता का पक्षपात,अन्याय, निर्दयता या जो चाहे कह सकता है पर माता के हृदय को खोलकर देखा जाय तो उसके अन्तःकरण में दोनों बालकों के लिए समान प्यार होता है बालक जिस कार्य को अपने साथ अन्याय या शत्रुता समझता है, माता की दृष्टि में वही उसके दुलार का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। हमारी असफलताएँ हानियाँ तथा यातनाएं भी कई बार हमारे लाभ के लिए होती हैं। माता हमारी भारी आपत्तियों को उस छोटे कष्ट द्वारा निकाल देना चाहती है। उसकी दृष्टि विशाल है, उसका हृदय बुद्धिमत्तापूर्ण है, क्योंकि उसी में हमारा हित समाया हुआ होता है। दुःख, दारिद्र, रोग हानि, क्लेश, अपमान, शोक ,वियोग आदि देकर भी वह हमारे ऊपर अपनी महती कृपा का प्रदर्शन करती है। इन कड़ुवी दवाओं को पिलाकर वह हमारे अन्दर छिपी हुई भयंकर व्याधियों का शमन करके भविष्य के लिये पूर्ण निरोग बनाने में लगी रहती है। यदि ऐसा अवसर आवे तो गायत्री साधकों को अपना धैर्य न छोड़ना चाहिए और न निराश होना चाहिए। स्मरण रखना चाहिए कि जो माता की गोदी में अपने को डालकर निश्चिन्त हो चुका है, वह घाटे में नहीं रहता। निष्काम भावना से साधना करने वाला भी सकाम साधना वालों से कम लाभ में नहीं रहता। माता से यह छिपा नहीं है कि उसके किस पुत्र को वस्तुतः किस वस्तु की आवश्यकता है। जो आवश्यकता उसकी दृष्टि में उचित है, उससे वह अपने किसी बालक को वंचित नहीं रहने देती।

अच्छा हो कि हम निष्काम साधना करें और चुपचाप देखते रहें कि हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण में वह आद्य-शक्ति किस प्रकार सहायता कर रही है। श्रद्धा और विश्वास के साथ जिसने माता का आश्रय लिया है, वह अपने सिर पर एक दैवी छत्रछाया का अस्तित्त्व प्रतिक्षण अनुभव करेगा और अपनी उचित आवश्यकताओं से कभी भी वंचित नहीं रहेगा। यह मान्य तथ्य है कि कभी किसी की गायत्री-साधना निष्फल नहीं जाती।

द्विजों का नित्य नियम

गायत्र्युपासना मुक्त्वा नित्यावश्यक कर्मसु ।
उक्तस्तत्र द्विजातीनां नानध्यायो विचक्षणैः ।।

(गायत्र्युपासनां) गायत्री की उपासना को (नित्यावश्यककर्मसु) नित्य आवश्यक कर्मों में (उक्त्वा) बतलाकर (विचक्षणैः) विद्वानों ने (द्विजातीना) द्विजों के लिए (तत्र) उसमें (अनध्यायः) अनध्याय (न उक्त) नहीं कहा ।

आराधयन्ति गायत्रीं न नित्यं ये द्विजन्मनः ।
जायन्ते हि स्वकर्मेभ्यस्ते च्युता नात्र संशयः ।।

(ये द्विजन्मनः) जो द्विज (गायत्रीं) गायत्री की (नित्यं) नित्य प्रति (न आराधयन्ति) आराधना नहीं करते (ते) वे (स्वकर्मेभ्यः) अपने कर्मों से (च्युता जायन्ते) भ्रष्ट हो जाते हैं (अत्र) इसमें (न संशय) कोई संदेह नहीं है ।

नित्य कर्म कौन से हैं ? इसका निर्णय दो आधारों पर किया जाता है-(१) आवश्यक शक्ति की प्राप्ति, (२) मलों का निवारण । भोजन व्यायाम, धन उपार्जन, निदा, मनोरंजन, शिक्षा, सहयोग आदि कार्य आवश्यक शक्ति प्राप्त के लिए किये जाते हैं । शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक शक्तियों के व्यय से हमारा दैनिक कार्यक्रम चलता है यह शक्तियाँ अपने में जितनी ही न्यून होती हैं उतना ही जीवन क्रम का संचालन कठिन एवं कष्टसाध्य हो जाता है । जिन वस्तुओं का नित्य खर्च होता है उनको नित्य कमाना भी आवश्यक है । चूंकि शक्तियों को खर्च किये बिना, जीवन नहीं चल सकता, इसलिए उनका उपार्जन करना आवश्यक ठहराया गया है । हम में से सभी का दैनिक कार्यक्रम अधिक अंश में शक्ति उपार्जन के लिए निहित होता है ।इसलिए हमारे नित्य कर्मों में उपरोक्त प्रकार के उपार्जन सम्बन्धी कार्य सम्मिलित होते हैं । दूसरे प्रकार के नित्य कार्य वे होते हैं जिनमें मलों का निवारण होता है । मल मूत्र का त्याग, कुल्ला दांतोन, स्नान, वस्त्र धोना, हजामत, मकान, वर्तन तथा आवश्यक वस्तुओं की सफाई के लिए नित्य कुछ न कुछ समय देना पड़ता है । क्योंकि मलों की उत्पत्ति नित्य होती है । हर चीज हर घड़ी मैली होती है, उस पर अनावश्यक द्रव्यों के परत जमी हैं, इन्हें न छुड़ाया जाय, न हटाया जाय तो थोड़े ही समय में जीवन की समस्त दिशाऐं मैली, गंदी कुरूप एवं विषाक्त हो जांय और उन मलों से उत्पन्न भयंकर परिणामों का सामना करना पड़े । नाक, कान, आंख, मुख, शिश्न आदि छिद्रों में हर घड़ी थोड़ा-थोड़ा गंदा श्लेष्म स्रवित होता रहता है, उसे बारबार साफ न किया जाय तो गंदगी की एक घृणास्पद एवं हानिकारक मात्रा जमा हो जाती है । मल मूत्र को भीतर भरे रहें सांस को त्यागने में आलस्य किया जाय तब तो स्वास्थ्य का नाश ही समझिए । इन दुर्घटनाओं से बचने के लिए मलों की सफाई नित्यकर्म में सम्मिलित की गई है ।

जिस प्रकार शरीर में तथा सांसारिक पदार्थों में मैल जमता है तथा शक्ति का व्यय होता है, वैसे ही आत्मिक जगत में भी होता है । दैनिक संघर्षों के आघातों से, कटुअनुभवों से, वातावरण के प्रभावों से, लगतार सोचने से, आत्मिक शक्तियों का व्यय होता है और आत्मा को थकान आ जाती है । इस क्षति पूर्ति के लिए नित्य शक्ति संचय की आवश्यकता होती है । जैसे शरीर को भोजन, व्यायाम, निद्रा आदि की जरूरत पड़ती है वैसे ही आत्मा को नई शक्ति प्राप्त करने के लिए कुछ न कुछ करना आवश्यक होता है । इसी "कुछ न कुछ" को साधना, पूजा, भजन, स्वाध्याय, आत्म चिन्तन, आदि नामों से पुकारते हैं । इन उपायों से आत्मबल प्राप्त होता है, आत्मिक थकान मिटती है, प्रकाश, स्फूर्ति और ताजगी मिलती है । जैसे पूरी निद्रा लेकर, पौष्टिक आहार प्राप्त करके प्रसन्न चित्त हुआ मनुष्य जिस कार्य में जुटता है उसे उत्साह चतुरता और शीघ्रता से पूरा कर लेता है उसी प्रकार साधना के द्वारा आत्मबल प्राप्त करने पर मनुष्य की आन्तरिक स्थिति काफी मजबूत और प्रफुल्लित हो जाती है, उसके द्वारा दैनिक जीवन की गतिविधि का संचालन बड़ी ही आशापूर्ण उत्तमता के साथ होता है ।

जैसे शरीर वस्त्र एवं वस्तुओं पर प्रतिक्षण मल जमता है, वैसे ही संसार व्यापी तमोगुणी तत्त्वों, आसुरी प्रवृत्तियों की छाया निश्चित रूप से मन पर पड़ती है । उसकी नित्य सफाई करना आवश्यक होता है । अतः आत्म निरीक्षण करके, अपनी नित्य समालोचना करना, दोषों को ढूंढ़ना और उनका निवारण करना, आत्मिक मल शोधन ही है । साधना से जहाँ शक्ति प्राप्त होती है वहाँ मानसिक मलों का शोधन भी होता है । इसलिए शास्त्रकारों ने आध्यात्मिक साधना को नित्य कर्म कहा है । उसमें आलस्य, अनध्याय, विराम, छुट्टी की गुंजायश नहीं रखी

गई है। हम कुल्ला दातौन, मलमूत्र त्याग, तथा जल वायु सेवन की कभी छुट्टी नहीं करते उसी प्रकार आत्मिक साधनाओं की भी कभी छुट्टी नहीं होती। रोगी, अशुद्ध, असमर्थ तथा विपन्न परिस्थितियों में पड़े होने का अवसर आवे तो अविधि पूजा की जा सकती है उस समय नियमित कर्मकाण्ड की छूट मिल सकती है। किसी भी विधि से सही पर उसका करना आवश्यक है क्योंकि वह नित्य कर्म है। नित्य कर्म में अनध्याय नहीं होता। ऐसे अनध्याय का परिणाम हानिकारक होता है। अनेकों मनुष्य आत्मिक साधन करने में प्रायः आलस्य और उपेक्षा बरतते हैं, फलस्वरूप उनका आन्तरिक जीवन, नाना प्रकार के विषय विकारों से भरा रहता है, आत्म शान्ति के दर्शन उनके लिए दुर्लभ हो जाते हैं, वे जीवन के महान लक्ष्य से वंचित रहकर, भोगैश्वर्य की तुच्छ कीचड़ में बुजबुजाते हुए अमूल्य मानव जन्म को निरर्थक बना देते हैं।

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि—"जिस दिन स्वाध्याय नहीं किया जाता उस दिन व्यक्ति अपने स्वाभाविक पद से च्युत हो जाता है।" कारण स्पष्ट है जिस दिन मनुष्य शौच न जायगा, मूत्र त्याग न करेगा, मुँह हाथ न धोवेगा, उस दिन उसकी वह दशा न रहेगी जो स्वाभावतः साधारण मनुष्य की रहती है। जिस दिन भोजन न किया जाय, जल न पिया जाय, सोया न जाय उस दिन कोई भी मनुष्य अपनी स्वाभाविकता से च्युत अवश्य होगा। इसी प्रकार आत्मिक भोजन प्राप्त किये बिना, आत्मशोधन किये बिना, भी अन्तःकरण स्वस्थ नहीं रह सकता उसकी स्थिति, स्थान भ्रष्ट जैसी ही हो जावेगी। शतपथ कार का यही अभिप्राय है। इस अभिप्राय का दृढ़ फलितार्थ यह है कि हमारे लिए नित्यप्रति साधन करना उचित एवं आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। श्रुति कहती है—"स्वाध्यायान्मा प्रमदतव्यं।" स्वाध्याय में प्रमाद मत करो। इस महत्त्वपूर्ण कार्य में हममें से किसी को प्रमाद नहीं करना चाहिए।

द्विजातियों के लिए-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिए, तो साधना अत्यन्त आवश्यक है। शूद्र उसे कहते हैं जो मनुष्य शरीर तो धारण किये हुए हैं, पर मनुष्य आत्मा जिसके अन्दर नहीं है। ऐसे मानव प्राणियों की कमी नहीं जो नैतिक और आत्मिक दृष्टि से पशुओं से भी गये बीते हैं। ऐसे लोग न तो आत्मा को ही पहचानते हैं और ना आत्मा के उत्तरदायित्व को समझते हैं, उनके लिए न तो साधना का महत्त्व है और न आत्म प्राप्ति का। ऐसे लोगों की प्रवृत्ति ही इस मार्ग में नहीं होती, शास्त्रों के आदेश और सत्पुरुषों के उपदेशों की ओर उनका मन आकर्षित नहीं होता। ऐसी मनोभूमि के लोगों को शास्त्रकारों ने छोड़कर ठीक ही किया है, वे स्वयं ही इधर आंख उठाकर नहीं देखते, उनकी रुचि इधर मुड़ती ही नहीं, ऐसे लोगों पर क्या उत्तरदायित्व लादा जाय। राज के कानून बनते हैं वे बन्दरों पर लागू नहीं होते। ऐसा ही विचार करके शास्त्रकारों ने उस श्रेणी के लोगों का अलग रहना स्वीकार कर लिया है, पर उन चैतन्य लोगों पर, द्विजों पर, इस बात के लिए अत्यधिक जोर दिया है कि वे साधना में अनध्याय न करें, अन्यथा उनकी भी गणना शूद्रों में होगी, उन्हें भी उसी श्रेणी का समझा जायगा।

साधना कौन सी करनी चाहिए। इस प्रश्न के सम्बन्ध में क्या कहा जाय। अन्य साधनाओं के विषय में मतभेद हो सकता है, पर शिखा सूत्र धारी किसी हिन्दू को गायत्री की महानता में सन्देह नहीं हो सकता। क्योंकि वह 'वेदमाता' है, उसकी महत्ता को सम्पूर्ण शास्त्रों, सम्प्रदायों और ऋषियों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। जिसने भी इस महासाधन का अनुभव किया है, उसने उसकी सर्वोत्कृष्टता को माना है। हम भी गायत्री उपासना को अपना नित्य नियम-नित्यकर्म बतावें तो उन्हीं लाभों को प्राप्त कर सकते हैं, जिन्हें असंख्यों ने अब तक प्राप्त किया है।

गायत्री उपासना की अनिवार्यता

गायत्री प्रत्येक द्विज का एक आवश्यकीय धर्म कृत्य है। द्विज वैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को कहते हैं। जो लोग यज्ञोपवीत धारण कर सकते हैं वे द्विज हैं। ऐसे सभी लोगों को गायत्री का अधिकार है। द्विज वह है जिसका दूसरा जन्म हुआ हो। एक जन्म माता के, पिता के रज-वीर्य से सभी का होता है, इसलिए मनुष्य और पशु समान है। दूसरा आध्यात्मिक जन्म गायत्री माता और यज्ञ पिता के संयोग से होता है। गायत्री अर्थात् सद्बुद्धि रूपी माता और यज्ञ अर्थात् परमार्थ रूपी

पिता को जिन्होंने अपना आध्यात्मिक माता-पिता समझ लिया है । जीवन की वस्तु न समझ कर, परमार्थ एवं आत्म-कल्याण का साधन स्वीकार किया है वस्तुतः वे ही द्विज हैं । गायत्री उपासक इसी श्रेणी के होते हैं जिसका ऐसा दृष्टिकोण होता है, वे गायत्री उपासना में संलग्न होते हैं या जो गायत्री उपासना में लगते हैं वे ऐसे हो जाते हैं । इस प्रकार गायत्री और द्विजत्व एक साथ रहते हैं । इसी एकता को संस्कृत में 'अनाधिकार' कहा गया है । जिसमें इस प्रकार की एकता न हो वे अनाधिकारी कहे जाते हैं । उच्च भावना और गायत्री सम्बन्ध बनाये रखने के लिए 'अधिकार' की प्रतिष्ठा की गई है ।

यज्ञोपवीत को गायत्री की मूर्ति, एक प्रतिमा कहना चाहिए । गायत्री को ही हर घड़ी छाती से लगाए रखना, हृदय पर धारण किए रहना यज्ञोपवीत धारण का उद्देश्य है । जनेऊ में तीन तार हैं–गायत्री में तीन चरण हैं । उपवीत में नौ लड़े हैं–यज्ञोपवीत में नौ शब्द हैं, यज्ञोपवीत में तीन मध्य ग्रंथियों और एक ब्रह्म ग्रंथि होती है–गायत्री में तीन व्याहृतियाँ और एक प्रणव है । अन्य देवताओं की मूर्तियाँ पत्थर, धातु आदि की बनाई जाती हैं पर उनका पूजन और ध्यान तो उपासना गृह में ही हो सकता है । किन्तु गायत्री देवता तो मनुष्य का जीवन प्राण ही है उसका पूजन किसी नियत समय पर किसी नियत स्थान पर कर देने से काम नहीं चल सकता । यह देवता तो ऐसा है जिसको सोते, जागते, चलते, फिरते, खाते, नहाते, हर घड़ी साथ रखना है, एक क्षण के लिए भी अपने को अलग नहीं होने देना है । इसलिए उसकी प्रतिमा धातु या पत्थर की न बनाकर सूत की बनाई गई है । यज्ञोपवीत गायत्री की मूर्तिमान प्रतिमा है । इसको प्राण प्रिय समझ हर घड़ी छाती पर, कन्धे पर, हृदय पर, धारण किए रहने के लिए यज्ञोपवीत पहना जाता है । गायत्री उपासक के लिए यज्ञोपवीत धारण करना एक उचित कर्त्तव्य है ।

अपनी बुद्धि को सात्त्विक, सन्मार्ग गामी बनाने के लिए सचेष्ट रहना, यह गायत्री मन्त्र की शिक्षा है । इन शिक्षाओं को अपने व्यवहारिक जीवन में समावेश करने के लिए पूरी तत्परता से कार्य करना, यही यज्ञोपवीत धारण करने का लक्ष्य है । यज्ञोपवीत को सूत्र भी कहते हैं । सूत्र 'डोरे' को भी कहते हैं और उस 'शब्द रचना' को भी कहते हैं जो स्वयं बहुत संक्षिप्त होते हुए भी अपने अन्दर एक विस्तृत अर्थ छिपाये होते हैं । अष्टाध्यायी,षट्दर्शन, गृह्य सूत्र आदि ऐसे ही ग्रन्थ हैं । यज्ञोपवीत में लिपि और भाषा का प्रयोग नहीं हुआ है तो भी वह 'ब्रह्मसूत्र ग्रन्थ' है । इसके एक-एक धागे में जीवन को महान् बनाने वाली शिक्षाएँ भरी हुई हैं । इन शिक्षाओं का हर घड़ी ध्यान रखने के लिए ही यज्ञोपवीत पहना जाता है और उसे पहनने पर इतना जोर दिया जाता है ।

गायत्री को गुरु मन्त्र कहा गया है । प्राचीनकाल में बालक जब गुरुकुल में विद्या पढ़ने जाते थे, तो उन्हें वेदारम्भ संस्कार के समय गुरुमन्त्र के रूप में गायत्री की ही दीक्षा दी जाती थी, वेद का आरम्भ वेदमाता गायत्री से ही होता है । आज के नामधारी गुरु नाना प्रकार के ऊटपटाँग मन्त्र गढ़ कर गुरु दीक्षा की लकीर पीटते हैं, पर प्राचीन काल में गायत्री मन्त्र के अतिरिक्त और कोई दीक्षा मन्त्र न था । भारतीय धर्म में ब्रह्मा, विष्णु, महेश के प्रतीक तीन जीवित देवता भी माने गए हैं, १. माता, २. पिता, ३. गुरु । जिस प्रकार किसी व्यक्ति का माता और पिता होना आवश्यक है, इसी प्रकार उसका गुरु भी होना आवश्यक है । कोई व्यक्ति अपनी माता का पता न बता सके या अपने पिता के सम्बन्ध अपरिचित कहे तो उसकी उत्पत्ति अनैतिक मानी जायगी । इसी प्रकार कोई-कोई व्यक्ति गुरु रहित हो तो उसे भी असंस्कृत कहा जायगा । "निगुरा" एक प्रकार की गाली है । जिसका गुरु नहीं उसकी आध्यात्मिक सुव्यवस्था संदिग्ध मानी जाती है । गायत्री दीक्षा या गुरु दीक्षा एक ही बात है ।

ऐसा उल्लेख मिलता है कि–"गायत्री मन्त्र कीलित है । इसको वशिष्ठ और विश्वामित्र ऋषियों का शाप लगा हुआ है । जो शाप का उत्कीलन कर लेता है उसी की साधना सफल होती है ।" इस अलंकारिक वर्णन में विधिवत् गायत्री साधना करने, उसकी शास्त्रीय प्रक्रिया को समझने एवं अनुभवी पथ प्रदर्शक के ही संरक्षण में साधना क्रम को आगे बढ़ाने का आदेश दिया गया है । 'वशिष्ठ कहते हैं–विशेष रूप से श्रेष्ठ को । प्राचीनकाल में जो व्यक्ति सवा करोड़ गायत्री जप कर लेते थे उन्हें वशिष्ठ की पदवी दी जाती थी । रघुवंशियों के कुलगुरु सदा ऐसे ही वशिष्ठ पदवी धारी होते थे । रघु, अज, दिलीप, दशरथ, राम, लव-कुश इन छैः पीढ़ियों के गुरु एक वशिष्ठ नहीं अलग-अलग ऋषि थे पर उन सभी

ने उपासना के आधार पर वशिष्ठ पद पाया था । 'वशिष्ठ शाप मोचन' का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के किसी अनुभवी उपासक से गायत्री साधना की शिक्षा लेनी चाहिए उसे अपना पथ प्रदर्शक नियुक्त करना चाहिए । विश्वामित्र का अर्थ है–संसार की भलाई करने वाले परमार्थी और सच्चरित्र एवं कर्तव्यनिष्ठ । गायत्री का शिक्षक केवल वशिष्ठ गुण वाला होना ही पर्याप्त नहीं उसे विश्वामित्र भी होना चाहिए । तपस्वी और परमार्थी दोनों ही गुण जिसमें हों उन्हें वशिष्ठ एवं विश्वामित्र की श्रेणी का व्यक्ति कहा जा सकता है । ऐसे ही लोगों से गायत्री की विधिवत् शिक्षा-दीक्षा लेने पर इस महामन्त्र से वह लाभ उठाना सम्भव होता है । अपने आप मन चाहे तरीकों से कुछ न कुछ करने लगने से अधिक प्राप्त नहीं हो सकता । जिसने उपयुक्त पथ-प्रदर्शक प्राप्त कर लिया, उसने साधना की आधी मंजिल पार करली, ऐसा समझना चाहिये । यह शापमोचन एवं उत्कीलन है । गायत्री जैसी विश्वजननी महाशक्ति को कोई भी सत्ता शाप देने में समर्थ नहीं हो सकती । गुरु की महत्ता का प्रतिपादन करने के लिए ही अलंकारिक रूप में शाप लगाने की बात कही गई है ।

यज्ञोपवीत धारण करना, गुरु दीक्षा लेना, विधिवत मन्त्र ग्रहण करना, यह तीनों बातें गायत्री उपासना में सहायक, लाभदायक, आवश्यक एवं मंजिल को पार करने में बड़ी सरलता उत्पन्न कर देने वाली हैं । फिर भी अनिवार्य नहीं है । इन बातों के बिना साधना न हो सकती हो, या गायत्री उपासना न की जा सकती हो, सो बात नहीं है । ईश्वर की वाणी, वेद ऋचा, भगवती महाशक्ति को गायत्री को अपनाने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है । शास्त्र विधान के अनुसार ब्राह्मण बालक का १० वर्ष, क्षत्रिय का १२ वर्ष, वैश्य का १४ वर्ष की आयु में यज्ञोपवीत होना चाहिए । इससे अधिक आयु हो जाने पर जल्दी की दृष्टि से बिना किसी विशेष समारोह के किसी यज्ञ आदि के शुभ अवसर पर साधारण रीति से यज्ञोपवीत धारण किया जा सकता है । पर जिनको ऐसी सुविधा भी न हो उन्हें यज्ञोपवीत के लिए गायत्री उपासना रोकने की आवश्यकता नहीं है । अवसर आने पर वे पीछे भी जनेऊ ले सकते हैं । इसी प्रकार यदि अपने स्थान पर ठीक पथ-प्रदर्शक गुरु प्राप्त न हों तो किसी दूरस्थ व्यक्ति से सम्पर्क स्थापित करके भी काम चलाया जा सकता है ।

पुरुषों की ही भाँति स्त्रियाँ भी गायत्री उपासना से लाभान्वित हो सकती हैं । कई आध्यात्मिक तत्ववेत्ताओं का यह कहना है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को गायत्री उपासना का लाभ अधिक मिलता है क्योंकि माताओं को स्वभावतः पुत्र की अपेक्षा कन्या का अधिक ध्यान रहता है, वह अपनी पुत्रियों के लिए अधिक उदारता का परिचय देती हैं ।

विधि पूर्वक साधना करना एक महत्त्वपूर्ण बात है । किसी कार्य को उचित क्रिया-पद्धति के साथ किया जाय तो उसका लाभ और फल ठीक प्रकार होता है । अविधि पूर्वक किये हुए कार्य या तो असफल रहते हैं या उनका स्वल्प फल होता है । इसलिए गायत्री उपासकों को उपासना का विधि विधान भली प्रकार समझ लेना चाहिए ।

साधक का आहार-व्यवहार

आहारे व्यवहारे च विचारेषु तथैवहि ।
सात्विकेन सदा भाव्यं साधकेन मनीषिणा ।।

(आहारे) आहार में (व्यवहारे) व्यवहार में (तथैव च) और उसी प्रकार (विचारेषु) विचारों में भी (मनीषिणा) बुद्धिमान (साधकेन) साधक को (सदा) सर्वदा (सात्विकेन भाव्यं) सात्विक होना चाहिए ।

कर्तव्य धर्मतः कर्म विपरीतेषु यद्भवेत् ।
तत्साधकस्तु मतिमानाचरेन्न कदाचन ।।

(यत्कर्म) जो काम (कर्तव्य धर्मतः) कर्तव्य धर्म से (विपरीतं) विपरीत (भवेत्) हो (तत्) वह कर्म(मतिमान् साधकः) बुद्धिमान साधक (कदाचत्) कभी (न) नहीं (आचरेत्) करे ।

वस्तुतः जितने भी अध्यात्मपरक दर्शन शास्त्र, जितने भी विचार, विश्वास एवं मान्यताएँ हैं, उन सबका एकमात्र हेतु मनुष्य के धर्मपरायण, कर्तव्य निष्ठ तथा समाज सेवी बनाना है । जीव चौरासीलाख पशु योनियों में भ्रमण करता हुआ मनुष्य योनि को प्राप्त करता है । उसके पिछले जन्मों के अनेक कुसंस्कार भी इस जन्म के साथ आते हैं, इन कुसंस्कारों पर नियंत्रण करके धर्म परायणता को हृदयंगम करने के लिए, तत्वदर्शी आचार्यों ने आध्यात्म विचार विज्ञान की रचना की है । ईश्वर धर्म, पुनर्जन्म, कर्मफल, स्वर्ग-नरक आदि की विशद विवेचनाओं से हमारे धर्मशास्त्रों का सुविस्तृत साहित्य विनिर्मित हुआ है । इस

इतने बड़े साहित्य के केवल मात्र दो उद्देश्य हैं : (१) अपनी पाशविक वृत्तियों का नियंत्रण करना, (२) अपनी शक्तियों को समाज परक बनाना, उन्हें दूसरों के लाभ के लिए अधिक मात्रा में व्यय करना । इन दो तथ्यों को मानव अन्तःकरण पर अधिक गहराई से अंकित करने के लिए नाना प्रकार के उपाख्यानों, सम्वादों, विधि निषेधों की रचना हुई है । समस्त धर्मग्रन्थों का दृष्टि बिन्दु यही है ।

उपरोक्त दृष्टि बिन्दु को मनोविज्ञान के आधार पर मानव मन में वैज्ञानिक प्रक्रिया के साथ अंकित कर देने के लिए विविध प्रकार के धार्मिक कर्मकाण्डों और आध्यात्मिक साधनाओं का आयोजन हुआ है । इनके द्वारा अन्तर्जगत् और दिव्यलोक के महत्त्व की ओर चित्त आकर्षित होता है और भोगोन्मुखी माया बन्धनों में बांधने वाली, स्वार्थपूर्ण तुच्छवृत्तियों की ओर से मन विमुख होकर एक अदृश्य आनन्द की ओर अग्रसर होता है । उस अदृश्य आनन्द की प्राप्ति के लिए उसे जो कर्मकाण्ड और साधन करने होते हैं उनका सूक्ष्म निरीक्षण करने से पता चलता है कि इन सबकी साधक के अन्तर्मन पर एक विशेष छाप पड़ती है और वह छाप उन दो मूल धर्म तत्वों का आत्म निग्रह और परमार्थ परायणता का पोषण करती है । यह समस्त धर्म और आध्यात्म एक मानसिक शासन है जिसे विश्वासों और कर्मकाण्डों के आधार पर मानव मस्तिष्क के ऊपर स्थापित किया जाता है । इस भाव शासन में बँधकर मनुष्य सच्चे अर्थों में मनुष्य बनता है और उस आनन्द को प्राप्त करता है जो उसके लिए अभीष्ट है ।

स्वस्थ विचार और स्वस्थ विश्वास का निश्चित परिणाम क्रिया होती है । जो विचार या विश्वास क्रिया रूप में परिणत न हो सके, केवल मन में घुमड़ता रहे उसे अपूर्ण, अशक्त एवं अपरिपक्व समझना चाहिए । जिन दो आधारों के ऊपर धर्म और अध्यात्म का भवन खड़ा किया गया है यदि वे क्रिया रूप में परिणत नहीं होते, व्यक्तियों के आचरण में उनका समावेश न हो तो इस इतनी बड़ी प्रक्रिया को निरर्थक ही समझना चाहिए । इस बात को ध्यान में रखते हुए शास्त्रकारों ने इस बात की जांच करते रहने की व्यवस्था की है कि धर्म की धारणा साधक के मन में भली प्रकार हुई है या नहीं । इस जांच की कसौटी साधक का आचरण ही हो सकता है ।

गायत्री का साधक यदि वस्तुतः आत्मलाभ प्राप्त करना चाहता है तो उसे अपने व्यवहारिक जीवन में सात्विकता का अधिक से अधिक समावेश करना आवश्यक है । इसीलिए उपरोक्त श्लोक में कहा गया है कि साधक के आहार, व्यवहार और विचारों को सदा सात्विक रखना चाहिए । उसके आहार में सतोगुणी, सादा, सुपाच्य पदार्थ होने चाहिए । अधिक मिर्च मसाले वाले, घी तेल में तले हुए पक्वान्न, मिष्ठान्न, वासी, बुसे, दुर्गन्धित, मद्य मांस आदि से युक्त अभक्ष्य, उष्ण, दाहक, अनीति उपार्जित, अशुचि मनुष्यों के बनाये हुए आहार को ग्रहण न करने का आदेश किया गया है । साधक का आहार दूध, फल, शाक, दलिया, चावल, गेहूँ, मूंग जैसे पदार्थ होने चाहिए । स्वाद की दृष्टि से उन्हें अस्वाद ही रखना चाहिए । नमक, मिर्च, मसाले या मीठा भोजन के साथ न लिया जाय तो उनकी सात्विकता बढ़ जाती है । स्वास्थ्य की दृष्टि से यदि नमक या शकर की आवश्यकता प्रतीत हो तो उसे भोजन से आगे या पीछे लिया जा सकता है । व्यवहार में फैशन परस्ती, रात्रि में जागना, दिन में सोना, सिनेमा, नाच रंग देखना, किसी को चिढ़ाना, निन्दा करना, लड़ना, सताना, कटुवचन कहना, जैसे व्यवहार से बचना चाहिए । ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, कलह, चिन्ता, भय, शोक, स्वार्थ, वासना, व्यभिचार, चोरी, परिग्रह, निष्ठुरता, आलस्य, प्रमाद, अहंकार, मद, मत्सर, लालच, तृष्णा, घबराहट, कायरता जैसे मानसिक शत्रुओं को विचार क्षेत्र में स्थान नहीं देना चाहिए । कुविचारों, कँटीले झाड़-झंखाड़ों को बीन-बीन कर मनोभूमि में से दूर हटाते जाना चाहिए । मन जितना ही पवित्र होगा, उतना ही साधना के लिए क्षेत्र उर्वर होगा । मन की पवित्रता स्वच्छ आहार और शुद्ध विचारों पर रहती है । यह उक्ति सर्वथा सत्य है कि "जैसा खावे अन्न-वैसा बने मन" ।

दूसरे श्लोक में कुकर्मों से, निषिद्ध कार्यों से, अधर्मों से बचे रहने का आदेश दिया गया है । चोरी, व्यभिचार, विश्वासघात, असत्य, दंभ, बेईमानी, हिंसा, शोषण, अपहरण, जुआ, अभक्ष-भक्षण, नशेबाजी, जैसे अधर्म मूलक त्याज्य कर्मों से यदि सदा ही बचे रहा जाय तो बहुत ही उत्तम है पर साधना काल में तो इनका अधिक ध्यान रखना चाहिए और जितना अधिक इससे बचे रहा जा सके, बचना चाहिए ।

साधनाओं से अनेक सिद्धियाँ मिलती हैं । उन सिद्धि दायक साधनाओं में आहार, व्यवहार और विचारों की सात्विकता एक स्वतंत्र साधना है । इसको बिना किसी

जप तप आदि को किया जाय तो भी यह आश्चर्यजनक ऋद्धियों को प्रदान करती है । पातञ्जलि ऋषि ने यम नियमों की, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि उत्तम आचरणों की साधना से अद्‌भुत सिद्धियाँ मिलने का वर्णन योग-दर्शन में किया है । यदि गायत्री की साधना और सात्विक आचरण इन दोनों का एक साथ समन्वय हो जाने से दो साधनाओं का दुहरा फल मिलता है और योग विद्या का वह मूलभूत सिद्धान्त भी पूरा होता है, जिसके अनुसार आत्मनिग्रह और परमार्थ परायणता के आधार पर मनुष्य को सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाने की व्यवस्था की गई है ।

आचार्य का वरण

साधनायै तु गायत्र्याःनिश्छलेन हि चेतसा ।
वरणीयः सद्राचार्यः साधकेन सुभाजनः ।।

(गायत्र्या गायत्री की (साधनायै) साधना के लिए (तु) तो (साधकेन) साधक को चाहिए कि वह (निश्छलेन चेतसा) छल रहित चित्त से (सुभाजनः) योग्य (सदाचार्यः) श्रेष्ठ आचार्य का (वरणीयः) वरण करें ।

सत्पात्रो यदि वाचार्यो न स्वात्संस्थापवेत्तदा ।
नारिकेलं क्षुचं कृत्वाचार्य भावेन चासने ।।

(यदि) अगर (सत्पात्र) श्रेष्ठ एवं योग्य (आचार्यः) आचार्य (न स्यात्) न प्राप्त हो (तदा) तो (शुचं) पवित्रं (नारिकेलं) नारियल को (आचार्य भावेन कृत्वा) आचार्य भाव से वरण करके (आसने च) आसन पर (संस्थापयेत्) स्थापित करे ।

बहुत सी शिक्षाऐं जानकारियां, ऐसी होती है जो पुस्तकें पढ़ने मात्र से प्राप्त हो जाती हैं, साधारण रीति से सुनकर, देखकर या पूछ कर जिन्हें समझ लिया जाता है पर कुछ बातें ऐसी हैं जिनके लिए शिक्षक के अधिक सान्निध्य की आवश्यकता पड़ती है । शरीर की चीड़ फाड़ करने की शिक्षा प्राप्त करने के लिए कुशल सिविल सर्जनों के साथ रहना होता है, इसी प्रकार तरह-तरह की कारीगरी, चित्रकला, रसायन, संगीत, वस्तु निर्माण, शिल्प आदि के लिए शिक्षक की समीपता आवश्यक है । कोई आदमी सफल सुनार, हलवाई, लुहार, बढ़ई, जुलाहा, चित्रकार तब तक नहीं बन सकता, जब तक कि वह इन सब बातों के लिए किसी अनुभवी का साथ करे । आगे चलकर पुस्तकों द्वारा कोई मनुष्य स्वयमेव कितना ही ज्ञान प्राप्त कर ले, पर आरम्भ में उसे भाषा विज्ञान के लिए, बोलना और लिखना-पढ़ना सीखने के लिए दूसरों की क्रियात्मक शिक्षा की आवश्यकता होती है ।

जिन कार्यों के लिए शिक्षक की समीपता की आवश्यकता है, उनमें से एक महत्त्वपूर्ण कार्य 'साधना' भी है । आध्यात्मिक ज्ञान और साधना के सम्बन्ध में बहुत भारी लाभ उठाया जाता है, परन्तु जो साधना के मर्मस्थल हैं, उनके लिए अनुभवी शिक्षक की क्रियात्मक सहायता ही चाहिए । डाक्टरी विज्ञान पर बड़े-बड़े ग्रन्थ मौजूद हैं, यह सभी ग्रन्थ अत्यन्त आवश्यक हैं और डाक्टरी शिक्षा के विद्यार्थी को उन्हें पढ़ना जरूरी है । क्योंकि इतना विस्तृत विज्ञान बिना समझे कोई छात्र अच्छा डॉक्टर नहीं बन सकता । लेकिन कोई छात्र यह कहे कि पुस्तकें निरर्थक हैं यह सब ज्ञान तो मैं गुरुमुख से ही प्राप्त करूँगा तो यह असम्भव है । विचारा शिक्षक कहाँ तक उस महाविज्ञान को कहेगा । यह कार्य तो पुस्तकों द्वारा ही हो सकता, परन्तु हां, सर्जरी का, चीड़फाड़ का कार्य अवश्य ही ऐसा है जिसका व्यवहारिक ज्ञान गुरु के सम्मुख ही प्राप्त हो सकता है । आध्यात्मिक महा विज्ञान में साधना भी ऐसा ही मर्मस्थल है जिसके लिए अनुभवी गुरु की आवश्यकता है ।

गायत्री के साधक को चाहिए कि अपनी साधना के लिए कोई शिक्षक-आचार्य का वरण करे । जिससे साधना सम्बन्धी शंकाओं तथा समय-समय पर उठने वाले प्रश्नों का, विघ्नों का समाधान उसके द्वारा होता रहे । बीच-बीच में ऐसी परिस्थितियाँ आती रहती हैं, ऐसे अनुभव होते रहते हैं जिनके कारण चित्त विचलित हो जाता है, मन में संकल्प विकल्प उठने लगते हैं, उन विक्षेपों का समाधान न हो, तो साधना में मन नहीं लगता है, संदेहों की वृद्धि से श्रद्धा और विश्वास में न्यूनता आ जाती है । इस प्रकार के विघ्नों को टालने के लिए ऐसे शिक्षक की आवश्यकता है, जो उसकी मानसिक स्वस्थता की रक्षा कर सके ।

आजकल 'गुरुडम' काफी बदनाम हो चुका है । धूर्त, अर्थ-लोलुप, मूर्ख, भ्रष्टचरित्र, स्वार्थी एवं ब्रह्मत्त्व से रहित गुरुओं की बाढ़ सी आई हुई है । शिष्य का कानफूँक कर कुछ उलटा सीधा मंत्र बता देना और फिर सदा उनसे दक्षिणा की याचना करते रहना, यही गुरुओं का कार्य रह गया है । इसके अतिरिक्त कभी-कभी तो इन

लोगों द्वारा शिष्यों के साथ भयंकर विश्वासघात-अपहरण भ्रम में डाल देना, चरित्र नाश आदि अनेक कुकर्म भी होते देखे जाते हैं, ऐसी दशा में इन गुरुनाम धारियों के प्रति अविश्वास घृणा एवं तिरस्कार के भाव जन साधारण के मन में फैलना स्वाभाविक हैं । इतना होते हुए भी शिक्षक की आवश्यकता कम नहीं हो जाती है । वनस्पति घी दुकानों में पटा पड़ा है, गांवों की झोंपड़ियों तक उसका प्रवेश हो गया है तो भी असली घी के महत्त्व में कुछ कमी नहीं आई है । नकली सोने के जेवर और नकली जवाहरात प्रचुर परिमाण में बाजार में मौजूद हैं इस पर भी असली सोने और असली जवाहरात का गौरव तनिक भी नहीं घटता । आज का घृणित गुरुडम सर्वथा तिरस्कार का पात्र है, इस पर भी आत्मोन्नति के लिए सच्चे शिक्षकों की आवश्यकता से इनकार नहीं किया जा सकता । उनकी जैसी आवश्यकता प्राचीन काल में थी वैसी ही आज भी है ।

एक आत्मा की शक्ति से दूसरी आत्मा को आत्मबल प्राप्त होता है । इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए गायत्री के साधकों को अपनी पीठ पर एक बलवान रक्षक और सामर्थ्यवान पोषक की नियुक्ति करनी होती है । यह दृढ़पुरुष अथवा शिक्षक कहलाता है । इसे नियुक्त करने से पूर्व उसके ज्ञान आचरण और व्यक्तिगत अनुभव को देख लेना आवश्यक है । जिसमें यह तीनों बातें उचित मात्रा में हों उसे 'आचार्य' कहते हैं । परीक्षा करके सन्तोष प्राप्त कर लेने के उपरान्त इस आचार्य को निष्कपट भाव से श्रद्धा और विश्वासपूर्वक अपना पथ प्रदर्शक मान लेना चाहिए । यदि वह गलत पथ प्रदर्शन करता हो तो भी साधना विषय में उसी की बात को प्रामाणिक मानना चाहिए । जब तक उस गुरु का परित्याग न कर दिया जाय तब तक साधना विषय उसका अनुशासन मान्य होना चाहिए । गलत पथ प्रदर्शन का दोष और दुष्परिणाम उस शिक्षक पर ही पड़ता है, शिष्य पर नहीं ।

श्रद्धा और विश्वास के आधार पर अध्यात्म विज्ञान का सारा महल खड़ा हुआ है । यदि इन दो आधार शिलाओं को हटा दिया जाय तो यह सारी इमारत गिर पड़ेगी । इन दोनों महातत्वों को सुदृढ़ बनाकर ही किसी महान कार्य में लगाया जा सकता है और उसके द्वारा अलौकिक लाभों को प्राप्त किया जा सकता है । इस श्रद्धा और विश्वास की स्थापना और परिपुष्टि का प्रारम्भिक अभ्यास 'गुरु' नामधारी व्यक्ति से किया जाता है, क्योंकि अप्रत्यक्ष तत्वों पर श्रद्धारोपण करने की अपेक्षा प्रत्यक्ष व्यक्तियों पर भक्तिभाव सुगम है । इस पहली सीढ़ी पर मजबूती से पैर जमा लेने के उपरान्त ऊपर की सीढ़ियों पर चढ़ना अधिक सुगम होता है । जितनी अधिक आत्मीयता, श्रद्धा, निष्कपटता, भक्ति भावना इस 'शिक्षक' के प्रति साधक की होती है, उतना ही उसका कार्य अधिक सरल हो जाता है । गुरु के ऊपर फेंकी हुई श्रद्धा उसी तरह लौट कर शिष्य के पास आ जाती है, जिस प्रकार सामने की दीवार पर रबड़ की गेंद जितने जोर से खींच कर मारी जाती है, उतने ही प्रतिघात के साथ लौटकर वापिस आती है । इस श्रद्धा से गुरु को कितना लाभ होता है, इस का हिसाब रखना आसान है, पर शिष्य को जो अपार लाभ होता है उसकी गणना नहीं हो सकती ।

कई बार ऐसी कठिनाई, सामने आती है कि ऐसे श्रेष्ठ, ज्ञान, आचरण और अनुभव से युक्त आचार्य हर स्थान पर नहीं होते, साधक का उनके पास सुदूर स्थानों में जाकर रहना कठिन होता है । ऐसी स्थिति में क्या किया जाय ? क्या उन्हीं लठ, गवार, धूर्तराजों से कान फुँकवा कर काम चलाया जाय ? नहीं ! ऐसी अनुपयुक्त विलक्षणता को गले में बांध लेने से कुछ लाभ न होगा । ऐसी स्थिति के लिए एक दूसरा मार्ग 'आपत्ति धर्म' की तरह शास्त्रकारों ने बताया है वह यह कि नारियल के पवित्र फल को वरण करके आचार्य के आसन पर, स्थान पर–स्थापित करे । अपनी श्रद्धा ही प्रधान है । इस श्रद्धा का आरोपण जिस वस्तु पर किया जाता है वह सजीव जैसा फल प्रदान करने वाली बन जाती है ।

एकलव्य भील की कथा प्रसिद्ध है । वन में शिकार के लिए पाण्डव गये, तो उनके कुत्ते के होठों को किसी अज्ञात व्यक्ति ने वाणों से सी दिया । कुत्ता पाण्डवों के पास लौटा तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि हमसे भी अधिक ऐसा कौन वाणविद्या का ज्ञाता है, जिसने इस प्रकार से तीर चलाना सीखा है कि केवल होठों को ही सी दिया जाय मुँह में अन्यत्र चोट न लगे । पाण्डव रक्त की बूँदों के टपकने की खोज पर उस व्यक्ति के पास जा पहुंचे । वह भील था । उससे पूछा गया तुमने ऐसी शस्त्र विद्या किससे सीखी । उसने बताया, द्रोणाचार्य से । पाण्डव अपने गुरु द्रोणाचार्य पर बड़े कुपित हुए कि उनने उन्हें ऐसी विद्या न सिखा कर एक भील

को सिखाई, द्रोणाचार्य को स्वयं बड़ा आश्चर्य हुआ, वे वहाँ गये और एकलव्य से पूछा, भाई तू कैसा हमारा शिष्य ? हमने तो तुझे देखा तक नहीं । उसने उत्तर दिया–भगवान् आपकी मिट्टी की प्रतिमा बनाकर उसी को मैंने गुरु माना और उसी की संरक्षकता में स्वममेव बाण विद्या सीखी । पांडवों के आग्रह पर द्रोणाचार्य ने एकलव्य से गुरुदक्षिणा में दाहिने हाथ का अंगूठा मांगा जो उसने खुशी-खुशी काट कर दे दिया । यह कथा बताती है कि मिट्टी के बनाये हुए गुरु इतनी अधिक शिक्षा दे सकते हैं, जितने सचमुच के गुरु नहीं दे सकते । स्वामी रामानंद के अनेकों शिष्यों में से इतना ज्ञानी कोई नहीं हुआ था जितने कि–कबीर । कबीर जुलाहे थे जुलाहे को शिष्य बनाने के लिए रामानंद जी तैयार न हुए । एक दिन कबीर उस रास्ते पर जा लेटे, जहाँ होकर रामानंदजी गंगास्नान को प्रातःकाल जाया करते थे । स्वामी जी का पैर कबीर की छाती पर पड़ा, वे 'राम राम' कहते हुए पीछे हट गये । कबीर ने उस चरण-स्पर्श को दीक्षा और राम-राम की गुरु-मंत्र मान लिया और इतने मात्र से उन्होंने वह लाभ उठाया, जो अन्य किसी शिष्य को न मिला । महर्षि दत्तात्रय के २४ गुरु थे । यह सब पशु-पक्षी थे, कौआ, कुत्ता, चील, मकड़ी, चींटी आदि से स्वयमेव शिक्षा-ग्रहण करके उन्हें अपना गुरु माना था और इतना बड़ा ज्ञान भंडार एकत्रित किया था, जितना कि बड़े-बड़े ब्रह्मज्ञानी, वेदशास्त्रों का पाठ करके भी एकत्रित नहीं कर पाते ।

काष्ठ और पाषाण की मूर्तियाँ अपने भक्तों के लिए ईश्वर बन जाती हैं । ईश्वर के समान फल देती हैं, फिर कोई कारण नहीं कि आचार्य भाव से वरण किया हुआ नारियल आचार्य का फल प्रदान न करे । श्रद्धा ही प्रधान है । श्रद्धा की प्राण प्रतिष्ठा कर देने से निर्जीव वस्तुऐं सजीव हो सकती है । आचार्य के अभाव में नारियल को मरुभाव से वरण किया जा सकता है पर उसमें किसी चैतन्य दिव्य आत्मा की भावना करनी आवश्यक है । किसी ऐसे व्यक्ति को मन में गुरु-भाव से स्वीकार किया जा सकता है जो समीप न हो किन्तु उसके ज्ञान,आचरण और अनुभव में अपना विश्वास हो उसका प्रतीक इस नारियल को उसी प्रकार बनाया जा सकता है, जैसे कि भगवान का प्रतीक मूर्ति को बना लिया जाता है । फलों में नारियल का फल अधिक सात्विक, अधिक सजीव, अधिक प्राणयुक्त है । मनुष्य की खोपड़ी से बहुत कुछ सूक्ष्म समता उसमें होने से उसे खोपड़ा या खोपरा कहकर भी पुकारते हैं । हमारे शिर पर जैसे बाल है उसके ऊपर भी जटायें होती हैं । जटा के नीचे आंखों के छेद और नासिका का चिन्ह मिलता है । खोपड़ी के बाहरी अस्थि आवरण के भीतर जैसे भूरा कोमल, स्निग्ध मस्तिष्क रहता है वैसे ही उसके भीतर भी गिरी रहती है । यश में, बलिदान में, दान में, भेंट में, हर पुनीत कार्य में नारियल का फल श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि वह वृक्ष जगत में एक सर्व श्रेष्ठ, चैतन्य एवं सात्विक फल है, उसकी बहुत कुछ समता हमारे मस्तिष्क से है । वह सूक्ष्म भावनाओं को अपने में धारण करने की अद्भुत क्षमता रखता है । जैसी भावनाओं से ओत-प्रोत उसे किया जाता है, वह उन्हें आसानी से अपने में धारण कर लेता है । अपनी कोई भावना किसी को भेंट करनी होती है, तो उसे नारियल के साथ अभिमंत्रित करके भेंट करते हैं । वह भावना नारियल के साथ-साथ बहुत समय तक बनी रहती है । इस सब बातों को देखते हुए गुरुभाव से वरण करने के लिए नारियल का फल ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है ।

जिस आचार्य को गुरु वरण किया जाय, उसका प्रतीक नारियल को बनाकर उत्तम आसन पर स्थापित कर लेना चाहिए । यह नारियल सड़ा-घुना न हो नया, चैतन्य और बड़ा हो । उसे शुद्ध जल में स्नान कराके, कलावा-शुद्ध सूत-चारों ओर लपेट कर वरण करना चाहिए और भक्ति भाव से प्रणाम करके उसे उत्तम, पूजा योग्य स्थान पर स्थापित कर देना चाहिए । यदि उस निर्धारित गुरु का चित्र मिल सके, तो वह भी नारियल के साथ स्थापित करना चाहिए । उस पर नित्य अक्षत, पुष्प, धूप, चंदन आदि मांगलिक द्रव्य चढ़ाकर अपनी भक्ति भावना जाग्रत करनी चाहिए । कोई बात गुरु से पूछनी हो, तो चित्त को स्वस्थ और शान्त करके ध्यानावस्थित हो और निर्धारित गुरु की सूक्ष्म प्रतिमा का दिव्य नेत्रों से चिह्नांकित करें । अपने प्रश्न को उनके सामने रखकर चित्त को बिलकुल खाली कर दें । कुछ समय में अपने आप आपके अन्दर एक उत्तर सूझ पड़ेगा । यह स्फुरणा गुरु का मानकर तदनुसार कार्य करना चाहिए । साधक को अपनी सफलता के लिए आचार्य का वरण आवश्यक है । यदि ऐसा श्रेष्ठ व्यक्ति समीप में न मिले तो किसी दूरस्थ सत्पुरुष को नारियल के माध्यम से गुरु वरण किया जा सकता है । पहले गुरु दीक्षा ली जा

चुकी है या नहीं, इससे साधन-दीक्षा का कोई सम्बन्ध नहीं । एक व्यक्ति के कई गुरु हो सकते हैं । दत्तात्रेय के २४ गुरु थे । अब भी दीक्षागुरु, तीर्थगुरु, शिक्षागुरु, संगीत गुरु, शिल्प गुरु, कुलगुरु, आदि अनेक गुरु होते हैं । यदि कान फूँकने की रस्म अदा कराई जा चुकी हो, तो भी आत्म साधना के लिए गायत्री उपासना के लिए एक "साधना गुरु" का प्रथक् से वरण किया जा सकता है । इस वरण से साधना की सफलता में बड़ी सहायता मिलती है ।

दीक्षा और गुरु मंत्र

दीक्षामादाय गायत्र्या ब्रह्मनिष्ठाग्रजन्मना ।
आरभ्यतां ततः सम्यग्विधिनोपासना सता ।।

(ब्रह्मानिष्ठाप्रजन्मना) ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण से (गायत्र्या) गायत्री की (दीक्षां आदाय) दीक्षा लेकर (ततः) तब (सतां) सत्स्वभाव वाले व्यक्तियें को (सम्यक् विधिना) ठीक विधि से (उपासना आरभ्यतां) उपासना आरम्भ करनी चाहिए ।

अयमेव गुरोर्मन्त्रः यः सर्वोपरिराजते ।
विन्दौ सिन्धुरिवास्मिंस्तु ज्ञान विज्ञानमाश्रितम् ।।

(अयमेव) यह ही (गुरोर्मन्त्रः) गुरुमंत्र है ।(यः) जो (सर्वोपरि) सर्वोपरि (राजते) विराजमान है (विन्दौसिन्धुरिवः) एक बिन्दु में सागर के समान (अस्मिन्) इस मंत्र में (ज्ञान विज्ञानं) समस्त ज्ञान और विज्ञान (आश्रितं) आश्रित हैं ।

आध्यात्मिक जगत में गुरु का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है । जन्म देने वाली माता और पालन करने वाले पिता के पश्चात् सुसंस्कृत बनाने वाले गुरु का ही स्थान है । भारतीय समाज में "निगुरा" एक गाली समझी जाती है । जिसका गुरु नहीं उसे असंस्कृत, अविकसित माना जाता है । कारण यह है कि गुरु के बिना मनोभूमि का ठीक प्रकार निर्माण नहीं हो पाता । माता-पिता कितने ही सुशिक्षित क्यों न हों, पर वे अपने बालकों का उचित निर्माण करने में समर्थ नहीं होते । उन्हें अपने बालकों के प्रति स्वाभाविक मोह, पक्षपात, स्नेह होता है, इस अति के कारण बालक के प्रति उनकी निष्पक्षदृष्टि नहीं रहती, वे उसे ठीक प्रकार समझ नहीं पाते, या समझने की स्थिति में नहीं होते । बच्चा तुतला कर बोल रहा हो तो माता-पिता को बड़ा अच्छा लगता है, वे स्वयं भी उसके साथ वैसी ही तोतली बोली में बात करने लगते हैं और चाहते हैं कि बालक बार-बार उसी प्रकार की तोतली बोली बोले । अपने बालक को इस प्रकार बोलते देख कर उन्हें बड़ा आनन्द आता है ।

ऐसे अवसरों पर गुरु का दृष्टिकोण दूसरा होता है । वह देखता है कि इस प्रकार बोलने से बालक की आदत पड़ सकती है और वह आगे के लिए तुतलेपन की बीमारी से ग्रस्त हो सकता है । अतएव गुरु उस प्रकार के मोह ग्रस्त लाड़चाव से दूर रह कर बालक का तोतली बोली बोलना रोक कर उसे शुद्ध आचरण की शिक्षा देता है । लाड़चाव के कारण, दुलार, स्नेह और असाधारण प्रेम के कारण माता-पिता न तो बालकों पर नियंत्रण कर सकते हैं और न उनकी आन्तरिक स्थिति की वास्तविकता को समझ पाते हैं, ऐसी दशा में उनके हाथ से बच्चों का अच्छा निर्माण नहीं हो पाता, इस कार्य को तो निष्पक्ष, निस्वार्थ, मोह-ममता से रहित, दूरदर्शी, सच्चा, स्थायी हित चाहने वाले ज्ञानवृद्ध गुरु ही कर सकते हैं । यही कारण है कि भारतीय अपने बालकों को थोड़ा सा समर्थ होते ही गुरुकुलों में भेज देते थे और वहाँ उनका निर्माण होता था ।

ज्ञान के दो अंग हैं एक-सिद्धान्त (थ्योरी) दूसरा अनुभव(प्रैक्टिस) । केवल सिद्धान्त समझने मात्र से कोई ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकता । चिकित्सा, शिल्प, रसायन, संगीत, चित्रकारी, शस्त्रविद्या, यंत्र-संचालन, विज्ञान आदि की शिक्षा यदि केवल पुस्तक रूप से प्राप्त हो, तो निश्चित रूप से अधूरी रहेगी । जिसने कपड़ा बुनने की कला को केवल सिद्धान्त रूप से तो समझा है, पर करघा, सूत बुनाई आदि का क्रियात्मक रूप से व्यवहार नहीं किया है, वह कपड़ा नहीं बुन सकता । इसी प्रकार जीवन की अगणित समस्याएँ, जिनका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है, केवल स्कूल कॉलिजों की तोता रटंत से न तो समझी जा सकती है और न उनका हल मालूम होता है । इसलिए किसी भी विषय की शिक्षा प्राप्त करनी होती है, तो उस विषय के अनुभवी द्वारा उस विषय का क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त किया जाता है, तभी सर्वांगपूर्ण शिक्षा मिल पाती है ।

अध्यात्म साधना के लिए तो अनुभव पूर्ण शिक्षा की अत्यधिक आवश्यकता है । क्योंकि प्रत्येक साधक की मनोभूमि, स्वास्थ्य, एवं परिस्थिति में भिन्नता होती है । इस भिन्नता के कारण उनकी साधनाओं में अन्तर करने

की आवश्यकता पड़ती है । किसी के लिए कोई विधि व्यवस्था उपयोगी बैठती है, तो किसी के लिए उसमें हेर-फेर करना जरूरी होता है । इन बातों को साधक स्वयं नहीं जान सकता । स्कूल में जाने वाले बच्चे स्वयं यह निर्णय करने में समर्थ नहीं होते कि हमें कौन पुस्तकें, किस क्रम से पढ़नी चाहिए यदि वे अपने आप, अपनी इच्छा से, मन मर्जी का पाठ्यक्रम चुनें और स्वयं अपनी शिक्षा-विधि निर्धारित करें, तो उनके लिए सफलता प्राप्त करना कठिन होगा, वे समय और शक्ति का दुरुपयोग करेंगे और उस लाभ से वंचित रहेंगे जो गुरु की मर्जी के अनुसार पढ़ने से उन्हें प्राप्त हो सकता था ।

साधना-काल में कई बार कुछ विक्षेप उत्पन्न हो जाते हैं, उन विक्षेपों के, भूलों के सुधार के लिए उपाय जानने की आवश्यकता होती है, कई बार विचित्र अनुभव आते हैं, उनका कारण समझने की जरूरत पड़ती है, बीच बीच में परीक्षा करने की आवश्यकता अनुभव होती है जिससे यह मालूम पड़ता रहे कि साधना की प्रगति किस दिशा में किस गति से हो रही है । यों कोई भी रोगी किसी चिकित्सा पुस्तक को लेकर अपनी दवा-दारू कर सकता है, पर इस उपाय से अभीष्ट लाभ प्राप्त होगा ही, यह नहीं कहा जा सकता । इसलिए किसी चतुर वैद्य के हाथ में चिकित्सा का उत्तरदायित्व सौंपना होता है । वैद्य देखता है कि रोगी को क्या रोग है, उसके लिऐ क्या चिकित्सा अच्छी पड़ेगी, इस निर्णय के लिए वह अपने चिर अनुभव को काम में लाता है और औषधि व्यवस्था करता है, फिर देखता है कि औषधि का क्या असर हो रहा है, उसके अनुसार हेर-फेर करता है । मूत्र परीक्षा, जिह्वा परीक्षा, नाड़ी परीक्षा, वजन, थर्मामीटर, स्टेस्थेस्कोप आदि द्वारा यह जांचता रहता है कि कितनी प्रगति हो रही है, उस प्रगति को सन्तुलित रखने के लिए वह रोगी को आवश्यक सलाह, पथ्य,परिचर्या आदि का आदेश करता रहता है । आध्यात्मिक साधना में साधक के लिए गुरु वही कार्य करता है जो रोगी के लिए वैद्य करता है ।

आध्यात्मिक मार्ग में आगे बढ़ने के लिए सब से प्रथम श्रद्धा और विश्वास को दृढ़ करने की आवश्यकता होती है । जैसे यात्रा के लिए दो पैरों का ठीक होना आवश्यक है, तैरने के लिए हाथों की जरूरत है, वैसे ही योग-मार्ग के लिए श्रद्धा और विश्वास दो मूलभूत तत्व हैं । इनके बिना इस मार्ग पर एक इंच भी प्रगति नहीं हो सकती । इन दोनों तत्वों को सबल बनाने के लिए उनका अभ्यास किसी ऐसे आधार पर करना होता है जो श्रेष्ठ हो, लाभदायक हो, प्राज्ञ हो, तथा प्रत्युत्तर देता हो । ऐसा आधार गुरु ही हो सकता है । सूक्ष्म, निराकार, अप्रत्यक्ष, ईश्वर या उसकी शक्तियों पर दृढ़ आस्था आरोपित करने से पूर्व श्रद्धा विश्वास को स्थूल आधार पर आरोपित करके उन्हें पुष्ट बनाया जाता है । गुरु के ऊपर आरोपित की हुई श्रद्धा-थोड़े ही समय में परिपक्व होकर ईश्वरीय निष्ठा के रूप में परिवर्तित हो जाती है । जैसे छोटी तीर-कमान पर अभ्यास करते-करते योद्धा लोग प्रचंड धनुष वाणों का प्रयोग करने में समर्थ हो जाते हैं, वैसे ही गुरुभक्ति का अभ्यास, स्वल्प काल में ईश्वर भक्ति के रूप में परिणत हो जाता है ।

गुरु स्थापना के प्रत्यक्ष लाभ तो स्पष्ट हैं ही । यह एक प्रकार का आध्यात्मिक विवाह है । जिसमें दो व्यक्ति एक पवित्र उत्तरदायित्व को ओढ़ते हैं । गुरु अपने ऊपर उत्तरदायित्व लेता है कि शिष्य की आत्मा को ऊँचा उठाने में कोई कसर न रखूंगा । शिष्य अपने ऊपर उत्तरदायित्व लेता है, कि गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा रखता हुआ उनके आदेश को शिरोधार्य करूंगा । विवाह और दीक्षा में यद्यपि भौतिक दृष्टि से बहुत अन्तर है पर आध्यात्मिक दृष्टि से उसमें विशेष अन्तर नहीं है । दो आत्माएँ जीवन भर के लिए पूरी ईमानदारी से एक दूसरे की उन्नति और सहायता का व्रत लेती हैं, यही दीक्षा कहलाती है । पति-पत्नी की इस प्रतिज्ञा को विवाह, और गुरु शिष्य की प्रतिज्ञा को दीक्षा, मित्र-मित्र की प्रतिज्ञा को मैत्री या "पगड़ी पलटना" कहते हैं । इस प्रकार के व्रत बन्ध के पश्चात् अधिक जिम्मेदारी से कर्तव्य पालन के भाव दृढ़ होते हैं । शास्त्रों में कहा गया है कि शिष्य के पाप पुण्यों का दसवाँ भाग, गुरु को भी मिलता है । कारण स्पष्ट है कि शिष्य के निर्माण में गुरु का भारी उत्तरदायित्व उन कार्यों में उसे भागीदार बना देता है ।

गायत्री साधना के लिए गुरु की आवश्यकता होती है । इस कार्य के लिए ब्रह्मनिष्ठ आत्मदर्शी, का वरण करना चाहिए । कोई श्रेष्ठ, अनुभवी, आत्मिक दृष्टि वाले सदाचारी व्यक्ति अपने समीप न हों तो दूरस्थ व्यक्तियों से भी यह हो सकता है । शरीर दूर-दूर रहते हुए भी

आत्माओं के लिए दूरी का कोई प्रश्न नहीं । दूरस्थ आत्माएँ उसी प्रकार एक दूसरे की समीपता कर सकती हैं जिस प्रकार पास-पास रहते हुए दो व्यक्ति आपस में निकटता अनुभव करते हैं । यदि ऐसी, दूरस्थ गुरु की भी व्यवस्था न हो सके, तो किसी स्वर्गीय महापुरुष की, आत्मा को गुरु वरण किया जा सकता है । एकलव्य, कबीर आदि ने दूरस्थ व्यक्तियों को गुरुवरण करके अपने आप दीक्षा ले ली थी । इस प्रकार के दूरस्थ या स्वर्गस्थ गुरुओं के बारे में शिष्य को ऐसा भाव मन में धारण करना पड़ता है, कि वे अपने समीप हैं, प्रसन्न हैं और गुरु के समस्त उत्तरदायित्वों को पूरा कर रहे हैं ।

दीक्षा के समय गुरु-शिष्य को एक प्रधान विचार देते हैं । यह विचार-मंत्र-कहलाता है । मंत्रों में सर्वश्रेष्ठ सर्वोपरि मंत्र गायत्री है, क्योंकि इसमें ज्ञान, सांसारिक ज्ञान, विज्ञान, आध्यात्मिक ज्ञान इस प्रकार भरा हुआ है, जैसे बिन्दु में सिन्धु । जल की एक बूंद में वे सब तत्व मौजूद होते हैं, जो समुद्र की विशाल जल राशि में होते हैं । बीज में वृक्ष का सम्पूर्ण आधार छिपा होता है, वीर्य की एक बूंद में सारे शरीर का ढांचा सन्निहित रहता है । गायत्री मंत्र २४ अक्षर का है, पर इसके गर्भ में ज्ञान-विज्ञान के अनन्त भाण्डागार छिपे पड़े हैं । इससे बड़ा कोई मंत्र नहीं, इसलिए इस वेदमाता को गुरु मंत्र के रूप में अन्तस्तल में धारण करना अधिक मंगल मय होता है । दीक्षा और गुरु मंत्र ग्रहण करने की विधि के साथ आरम्भ की हुई गायत्री उपासना विशेष फलवती होती है, ऐसा शास्त्र का मत है ।

गायत्री उपासना विधि पूर्वक ही की जाय !

गायत्री के २४ अक्षरों में भगवान् से सद्बुद्धि की प्रार्थना और याचना की गई है । सद्बुद्धि ऋतम्भरा प्रज्ञा वह तत्व है, जिसे प्राप्त कर लेने पर और कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता । कमल का फूल जब खिलता है तो उसकी सौन्दर्य और गन्ध से आकर्षित होकर कौए, मधुमक्खियाँ और तितलियाँ दूर-दूर से अनायास ही दौड़ते चले आते हैं । उसी प्रकार जिस अन्तःकरण में गायत्री द्वारा आराधित सद्बुद्धि की आभा विकसित होती है, वहाँ लौकिक और पारलौकिक अनेकों सुख-साधन स्वयंमेव आकर्षित होते हुये दौड़े चले आते हैं ।

रामायण में कहा गया है-

जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना ।
जहां कुमति तहँ विपति निदाना ।।

जहाँ सुमति का, सद्बुद्धि का प्रकाश होगा, वहाँ नाना प्रकार की सम्पतियों के भण्डार जमा हो जायेंगें और जहाँ सुमति का अभाव होगा, उसकी प्रतिपक्षी शक्ति कुमति निवास करेगी, वहाँ अनेकों विपत्तियों की घटनाएँ छाई रहेंगी । सद्विवेक की आवश्यक मात्रा मस्तिष्क में हो तो मनुष्य ऐसा श्रेष्ठ आचरण करता है, जिससे उसका जीवन बड़ी शान्ति और सरलतापूर्वक व्यतीत होता है । सदाचारी व्यक्ति को किसी का भय नहीं रहता । वह किसी का अनिष्ट नहीं करता तो दूसरे भी अकारण उसे हानि नहीं पहुँचाते । उसका व्यवहार सबसे मधुरता और उदारता का होता है, तो दूसरे भी बदले में वैसा आनन्ददायक व्यवहार करते हैं । संयमशील, उचित आहार-विहार का जिनका जीवन है उन्हें अस्वस्थता और अल्पायु का भी दुःख नहीं होता । ऐसे विवेकशील लोग शरीर और मन में सदा सुखी एवं सन्तुष्ट रहते हैं ।

प्रार्थना-रूप गायत्री की उपासना में कोई नियम बन्धन नहीं है । जैसे साधारण कथा में भगवान से प्रार्थना की जाती है, उसी प्रकार गायत्री के द्वारा भी भगवान से सद्बुद्धि मांगी जा सकती है । किन्तु यदि आध्यात्म विज्ञान सम्मत प्रक्रिया द्वारा इस ऋतम्भरा तत्व को सूक्ष्म प्रकृति के अन्तराल में से आकर्षित करके अपने लिए समुचित मात्रा में प्राप्त करना हो, तो गायत्री का उपयोग मन्त्र-रूप में करना पड़ेगा । मन्त्र में विशेष शक्ति सम्मिलित रहती है, पर साथ ही इससे शास्त्रीय नियम विधानों का बन्धन भी है । बिना विधान और प्रक्रिया का समुचित पालन किए मन्त्र तत्व जाग्रत नहीं होता और उसका वह फल नहीं मिलता जो उस महाशक्ति के द्वारा प्राप्त होना चाहिए ।

प्रार्थना में भावना की प्रधानता

यों गायत्री को अगणित मनुष्य जानते हैं, उसका उच्चारण और स्मरण भी करते हैं, उसका उतना ही सीमित लाभ भी होता है, जितना कि समय-समय पर ईश्वर से की जाने वाली प्रार्थना का होता है । प्रार्थना में भावना प्रधान होती है, जितनी तीव्र गहरी भावना से प्रार्थना की जायगी उतना ही उसका परिणाम भी होगा । ग्राह के मुख में फँसे हुए गज ने जब अपने अन्तस्तल की पूरी

गहराई और प्रबल भावना के साथ भगवान् को पुकारा तो वे अपने वाहन गरुड़ की मन्दगति अपर्याप्त समझ कर अधिक जल्दी भक्त की रक्षा करने के लिए नंगे ही पैरों दौड़े आये । किन्तु कितने ही लोग ऐसे भी हैं, जो देर तक प्रार्थना करते रहते हैं, फिर भी उसका कुछ परिणाम नहीं होता । कारण एक ही है कि उनकी प्रार्थना में शब्द और विचार तो होते हैं पर भावों की गंभीरता नहीं होती । उसके अन्तस्तल से निकलती हुई प्रार्थना का प्रभाव तो होता है पर बहुत ही कम गायत्री मन्त्र का उपयोग बिना किसी विधि विधान के प्रार्थना रूप में किया जा सकता है । पर उसका न्यूनाधिक परिणाम प्रार्थना करने वाले की भावना के अनुरूप ही होगा ।

प्रार्थना में भावना की प्रधानता का प्रतिपादन करते हुए शास्त्रों में कहा गया है–

भावेन लभते सर्व भावेन देव दर्शनम् ।
भावेन परमं ज्ञानं तस्याद भावावलम्बनम् ।।

–रुद्रमल

भाव से सब कुछ प्राप्त होता है । भावना की दृढ़ता से ही देव-दर्शन होते हैं । भावना से ही ज्ञान प्राप्त होता है । इसलिए भाव का ही अवलम्बन करना चाहिए ।

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ।

जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसी ही सिद्धि मिलती है ।

ऐसी भावमयी प्रार्थना के लिए नियमोपनियमों या साधना-विधानों का कोई बन्धन नहीं है ।

अशुचिर्वाशुचिर्वापि गच्छन् तिष्ठन् यथा तथा ।
गायत्री प्रजपेद्धामान् जपात् पापान्निवर्तते ।।

अपवित्र हो अथवा पवित्र हो, चलता हो अथवा बैठा हो, जिस भी स्थिति में हो, बुद्धिमान मनुष्य गायत्री का जप करता रहे । इस जप के द्वारा पापों से छुटकारा होता है ।

–गायत्री तन्त्र

मानसिक जप को प्रार्थना संज्ञा में माना गया है इसलिये उसमें नियम बन्धनों का प्रतिबन्ध नहीं है ।

अशुचिर्वा शुचिर्वापि गच्छांस्तिष्ठन् स्वपन्नपि ।
मंत्रैक शरणो विद्वान् मनसैव सदाभ्यसेत् ।।
न दोषो मानसे जाप्ये सर्व देशेऽपि सर्वदा ।

पवित्र हो अथवा अपवित्र, चलते-फिरते, बैठते-उठते, सोते-जागते एक ही मन्त्र की शरण लेकर उसका सदा मानसिक जप करता रहे । मानसिक जप में किसी समय या स्थान का दोष नहीं होता ।

प्रार्थना तभी सुनी जाती है, जब उसमें अनन्यता एवं तन्मयता हो । विषयी, लोभी, कामी पुरुषों को अपने विषय में, जैसी लगन होती है, वैसी ही यदि ईश्वर में निष्ठा और भक्ति हो तथा गज के समान गहन अन्तस्तल में प्रार्थना की जाय तो उसका प्रभाव वैसा ही होता है जैसा कि हुमायूँ की बीमारी के समय उसके पिता बाबर ने खुदा से इबादत की कि मेरा बेटा जी जाय और मैं उसके बदले में मर जाऊँ । उसकी प्रार्थना सुन ली गई थी, बाबर मर गया और हुमायूँ कठिन बीमारी में अच्छा हो गया ।

प्रार्थना की सफलता का रहस्य भक्त की इन भावनाओं पर आधारित रहता है ।

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वन पापिनी ।
त्वामनुस्यरतः सा मे हृदयान्याय सर्पतु ।।

–विष्णु पुराण

जिस प्रकार अविवेकी मनुष्यों की प्रीति विषयों में होती है, वैसी ही मेरी प्रीति सदा तुम में बनी रहे ।

मन्त्र विद्या में विधि-विधान की आवश्यकता

मन्त्र विद्या का तत्व-ज्ञान इससे भिन्न है । उसमें विधि-विधान, कर्मकाण्ड और मर्यादा की प्रधानता है । मन्त्र में प्रचण्ड शक्ति सन्निहित है । मन्त्र-शास्त्र एक प्रत्यक्ष विज्ञान है । जिस प्रकार भौतिक विज्ञान के नियमों के आधार पर काम करने वाले यन्त्र विधिवत् चलाये जावें तो अपना कार्य नियमित रूप से करते हैं, उसी प्रकार मंत्र भी यदि निर्धारित कर्मकाण्ड एवं विधान के आधार पर प्रयुक्त किये जायँ तो उनके द्वारा वही लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं जो शास्त्रकारों एवं ऋषियों ने बताये हैं ।

गायत्री की यदि विधिवत् शास्त्रीय प्रक्रियाओं के आधार पर उपासना की जाय तो वह मंत्र रूप होकर चमत्कारी परिणाम उत्पन्न करती है । जिस प्रकार प्रार्थना में भावना प्रधान है, उसी प्रकार मंत्र में साधना-विधान की प्रधानता है । भावना विहीन प्रार्थना निष्फल जाती है, उसी प्रकार साधना विधान उपेक्षा करने पर मंत्र का समुचित परिणाम नहीं होता ।

गायत्री जहाँ प्रार्थना है, वहाँ वह महान रहस्यमयी मन्त्र शक्ति भी है। मन्त्र रूप में इस अनादि शक्ति की उपासना करने वाले साधक बहुत कुछ प्राप्त कर सकते हैं। गायत्री का माहात्म्य बताते हुए साधना ग्रंथों में कहा गया है–

तदित्यृच समोनास्ति मन्त्रे वेद चतुष्टये ।
सर्वे वेदश्च यज्ञाश्च दानानि च तपांस च ।
सम्मानि कलया प्राहुमुनयो न तादित्यृच।

–विश्वामित्र

इस गायत्री के समान चारों वेदों में कोई मन्त्र नहीं। समस्त वेद, यज्ञ, दान, तप भी गायत्री की एक कला के बराबर नहीं हो सकते, ऐसा ऋषियों ने कहा है।

सर्वेपांजप सूक्तानामृचाञ्च यजुषान्त ता ।
साम्नां चैकाक्षरादीनां गायत्री परमो जपः ।।
तस्याश्चैव तु ओंकारो ब्रह्मणा य उपासितः ।
आभ्यान्तु परमं जप्यं त्रैलोक्येऽपि न विद्यते ।।

–वृहत पाराशर संहिता

सम्पूर्ण वेदों, सूक्तों तथा प्रणव आदि मन्त्रों में सबसे श्रेष्ठ गायत्री जप ही है। जिस ओंकार की उपासना ब्रह्माजी द्वारा की गई, वह भी गायत्री का ही अंग है। इनसे बढ़कर तीनों लोकों में और कोई जप संसार में नहीं है।

यतः साक्षात् सर्व देवतात्मनः सर्वात्म द्योतकः
सर्वात्म प्रतिपादकोऽय गायत्री मन्त्रः ।

–संध्या भाष्य

यह गायत्री मन्त्र साक्षात् सर्व देवता स्वरूप, सर्व शक्तिमान्, सर्वत्र प्रकाश करने वाला तथा परमात्मा का प्रतिपादन करने वाला है।

दुर्लभा सर्व मंत्रेषु गायत्री प्रणवान्विता ।
न गायत्र्याधिकं किंचित् त्रधीषु परिगीयते ।।

अर्थात्- इस संसार में गायत्री के समान परम पवित्र और कोई दुर्लभ मंत्र नहीं है। श्रुति में गायत्री से अधिक और कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है।

अष्टादशसु विद्यासु मीमांसाति गरीयसी ।
तपोपितर्क शास्त्राणि पुराणं तेभ्य एवं च ।।
ततोपि धर्म शास्त्राणि तेभ्योगुर्वो श्रुतिर्द्विज ।
तपोप्पुपनिपच्छेष्टा गायत्री च ततोधिका ।।

–वृ० संध्या भाष्य

अठारहों विद्याओं में मीमांसा श्रेष्ठ है। उनसे भी न्याय शास्त्र श्रेष्ठ है। पुराणों की महत्ता उससे भी ऊँची है। धर्म शास्त्र उससे भी श्रेष्ठ है। उनसे ऊपर उपनिषद हैं और उनसे भी श्रेष्ठ गायत्री हैं।

चारों वेदों में विश्व का समस्त ज्ञान-विज्ञान भरा हुआ है। भौतिक और आध्यात्मिक, लौकिक और पारलौकिक सुख-शान्ति के सारे भण्डार वेदों में छिपे हुए हैं। समस्त प्रकार की सिद्धियों और शक्तियों को प्राप्त करने के रहस्य वेदों में मौजूद हैं। गायत्री वेद माता हैं। उसमें वेदों में सन्निहित समस्त विद्याएँ बीज रूप से मौजूद है, उसका सार गायत्री में समाया हुआ है। इसलिए गायत्री उपासना करने वाला वेद-विद्या के समस्त लाभों को प्राप्त कर सकता है।

वेद माता गायत्री की महत्ता का प्रतिपादन ग्रंथों में इस प्रकार किया गया है–

गायत्र्येव परो विष्णु गायत्र्येव परः शिवः ।
गायत्र्येव परो ब्रह्मा गायत्र्येव त्रयी ततः ।।

अर्थात्–गायत्री में ब्रह्मा, विष्णु, महेश की तीनों शक्तियाँ समाई हुई हैं, गायत्री में वेदत्रयी भी सन्निहित है।

गायत्री वेद जननी गायत्री पाप नाशिनी ।
गायवीत्रयास्तु परन्नस्ति दिविचेह च पावनम् ।।

गायत्री वेदों की जननी है, गायत्री पापों का नाश करने वाली है, गायत्री से अधिक श्रेष्ठ पवित्र करने वाला और कोई मन्त्र इस पृथ्वी और स्वर्ग पर नहीं है।

इति वेद पवित्राणएयर्भिहितानि - एम्यः सावित्री विशिष्यते ।

–शंखस्मृति

यों तो सभी वेद मंत्र पवित्र हैं, पर उन सबों में गायत्री मंत्र सर्वश्रेष्ठ है।

त्रिम्यएव तु वेदेभ्यः पादं पादमद्दुहत् ।
तदित्यचोऽस्या सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ।।

–मनु०2-77

अर्थात्–परमेष्ठी प्रजापति ने तीन वेदों का दोहन करके उससे गायत्री के तीन पाद बनाये।

ओंकार पूर्विकास्तिस्त्रों महाव्याहृतयो व्ययाः ।
त्रिपदाचैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ।।

अर्थात्–ॐकार पूर्वक तीन महाव्यहृतियों समेत त्रिपदा गायत्री की वेद का मुख ही जानना चाहिए।

गायत्री उपासना से दुष्कृतों का शमन

गायत्री उपासना का प्रभाव सबसे प्रथम मनुष्य के मनः क्षेत्र पर पड़ता है । उसके कुविचार दूर होते हैं, दुष्कर्मों से घृणा उत्पन्न होती है, आत्म निरीक्षण में अभिरुचि होती है और अपने अन्दर जो-जो दोष दुर्गुण हैं, उसे उपासक ढूंढ़ २ कर तलाश करता है । उनकी हानियों को समझता है और उन्हें त्यागने को तत्पर हो जाता है । इस प्रक्रिया के कारण उसका वर्तमान जीवन पापमुक्त होता है और जैसे जैसे यह पवित्रता बढ़ती है उसी अनुमान से पूर्व जन्मों के दुष्कृत संस्कार भी घटने और नष्ट होने लगते हैं । इसीलिये गायत्री को पाप-नाशिनी, मोक्ष-दायिनी कल्याण-कारिणी कहा गया है । देखिये–

गायत्र्या परमं नास्ति देवि चेह न पावनम् ।
हस्तत्राण प्रदा देवी पततां नरकार्णवे ।।

–शंखस्मृति अ० १२–२५

नरक रूपी समुद्र में गिरते हुए को हाथ पकड़ कर बचाने वाली गायत्री के समान पवित्र करने वाली वस्तु, इस पृथ्वी पर तथा स्वर्ग में कोई नहीं है ।

धर्मोन्नतिमधर्मस्य नाशनं जनहृच्छु चिम् ।
मांगल्ये जगतो माता गायत्री कुसनात्सदा ।।

धर्म की उन्नति अधर्म का नाश, भक्तों के हृदय की पवित्रता और संसार का कल्याण गायत्री माता करें ।

गायत्री जाह्नवी चोमे सर्व पाप हरे स्मृतो ।
गायत्रीच्छन्दसां माता माता लोकस्य जाह्नवी ।।

–नारद पुराण

गायत्री और गंगा यह दोनों ही सब पापों का नाश करने वाली हैं । गायत्री को वेद माता और गंगा को लोकमाता कहते हैं ।

गायत्रीयो जपेन्नित्यं स न पापेन लिप्यते ।

–हरितास्मृति ३-४२

जो गायत्री का नित्य नियमित जप करता है, वह पापों में लिप्त नहीं होता ।

गायत्रीं पावनीं जप्त्वा ज्ञात्वा याति परां गतिम् ।
न गायत्री विहीनस्य भद्रमत्र परत्र च ।।

अर्थात्–परम पावनी गायत्री का श्रद्धापूर्वक जप करके साधक परम गति को प्राप्त करता है । गायत्री रहित का तो न इस लोक में कल्याण होता है न परलोक में।

गायत्री जाप्य निरतो मोक्षोपापं च विंदति

अर्थात्–गायत्री मंत्र का जप करने वाला मोक्ष को प्राप्त करता है ।

परांसिद्धिमवाप्नोति गायत्री मुक्तमां पठे त् ।

गायत्री का जप करने से परा सिद्धि प्राप्त होती है ।

सुख सौभाग्य दायक महा मन्त्र

गायत्री महा मन्त्र की उपासना से उत्पन्न आध्यात्मिक शक्ति से मनुष्य के लौकिक जीवन पर भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है और उसकी अनेकों आपत्तियों तथा कठिनाइयों का समाधान होकर सुख, समृद्धि, सौभाग्य, सफलता एवं उन्नति के अवसर प्राप्त होते हैं । उपासकों के अनुभवों से भी यह प्रत्यक्ष है और शास्त्र वचनों से भी इसकी पुष्टि होती है ।

एहिकामुष्यिकं सर्व गायत्री जपतो भवेत् ।

–अग्नि पुराण

अर्थात्–गायत्री जप से सभी सांसारिक कामनायें पूर्ण होती हैं ।

य एता वेद गायत्रीं पुण्या सर्व गुणान्विताम् ।
तत्वे न भरत श्रेष्ठ सलो के न प्राणश्यति ।।

–म०भा०भीष्म पर्व १४।१६

जो इस पवित्रा सर्वगुणसम्पन्न गायत्री के तत्त्व को जानता है, उसे इस लोक में कोई कष्ट नही होता ।

यो हवा एववित् स ब्रह्मवित् पुण्यां च कीर्ति लभते । सुरभींश्च गन्धान् सोऽपहतपाम्या अनन्तांश्चियययश्रुते य एवं वेद थश्चैव विद्वान एवमेता वेदानां मातरम् सावित्री संपदमुपनिषमुपास्ते।

–गोपथ ब्राह्मण

जो इस तत्त्व को जानता है वह पुण्य, कीर्ति, लक्ष्मी आदि को प्राप्त करता हुआ श्रेय प्राप्त करता है और वही वेदमाता गायत्री की वास्तविक उपासना करता है ।

संकीर्णता यदा पश्येद्रोगाद्वा द्विषतोऽपिवा ।
तदा जपेश गायत्रीं सर्व दोषापनुत्तमे ।।

–वृहत्पाराशर स्मृति ८-६०

रोना, शोक, द्वेष तथा अभाव की स्थिति में गायत्री जपने से इन कष्टों से छुटकारा मिल जाता है ।

मन्त्र शक्ति का मर्म व रहस्य

उपरोक्त प्रकार के लाभों को प्राप्त होना गायत्री उपासक के लिए निश्चित रूप से सम्भव है पर यह सम्भावना तभी है जब मन्त्र की नियमित शौस्त्रोक्त विधि में उसकी उपासना की जाय । गायत्री की मन्त्र संज्ञा तभी होती है जब उसमें विधिविधान की पूर्णता हो । मन्त्र की शक्ति के बारे में कहा है कि–

मननात्सर्वाभावानां त्राण्यात्संसर सागरात् ।
मंत्र रूपाहि तच्छक्तिमर्नत्राण रूपणि ।।

जिसके मनन करने से सब अभाव दूर होते हैं, तथा जिसके द्वारा संसार सागर में त्राण मिलता है वह मनन शक्ति मंत्र रूप है ।

मंत्राराधन के सम्बन्ध में साधना के नियमों पर जोर देते हुए कहा गया है कि–

अर्थ ज्ञानं बिना कर्म न श्रेय साधनं यतः ।
अर्थ ज्ञानं साधनीयं द्विजैः श्रेयोर्थिभिस्तत् ।।
मंत्रार्थज्ञो जपन हूयन स्तथैवाह्यापयन द्विजः ।
अधीत्य यत्किंचिदपि मंत्रार्थधिगमेरतः ।।
ब्रह्मलोक मवाप्नोति धर्मानुष्ठानतो द्विजः ।
ज्ञात्वा ज्ञात्वा च कर्माणि जनोयोयोनुतिष्ठति ।।
विदुष कर्मसिद्धिःस्यात्तषानाविदुषो भवेत् ।
ज्ञानं कर्म च रांयुक्तं भूत्यर्थ कथितं यथा ।।
अधीतं श्रुत संयुक्त तत्र श्रेष्ठं न केवलम् ।

अर्थात्– मंत्र का अर्थ और विधान जानकर ही उपासना करने से अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है । मंत्र के अर्थ का अध्ययन भी करना चाहिए और उसके रहस्य को भी समझना चाहिए तभी मंत्र होता है । जो कर्म करना है उससे अधिकाधिक जानना चाहिए, पूरी जानकारी पर आधारित कर्म में ही सफलता मिलती है । ज्ञान और कर्म को मिलाकर अध्ययन और श्रवण के आधार पर जो किया जाता है वही उत्तम है ।

और भी ऐसे ही कितने अभिवचन हैं, जिनमें गायत्री महामंत्र की महत्ता एवं लाभों का वर्णन करते हुए इस बात का भी संकेत किया है कि यह सब कुछ तभी संभव हो सकता है, जबकि उस साधना को विधि विधानपूर्वक नियमित रूप से सम्पन्न किया जाय ।

गायत्री यः सदा विप्रो जपेत्तु नियतः शुचिः ।
स याति परमस्थानं वायु भूतः स्वमूर्तिमान् ।।

–संवर्त संहिता १-२१

जो साधक गायत्री को 'नित्य नियमित रूप से पवित्रता पूर्वक' जपता है वह सूक्ष्म लोक के परम स्थान को, ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त करता है ।

गायत्रया योग सिद्धर्थ जपं कुर्यात् समाहितः ।

योग की सिद्धि के लिए साधक को सावधानी के साथ गायत्री जप करना चाहिए ।

जपतां जुह्वतां चैव नित्यं च प्रयतात्मनाम ।
ऋषीणां परमं जप्यं गुह्यमे तन्नरा धिप ।।

–महा अनु०

अर्थात्– 'नित्य जप करने के लिए, हवन करने के लिए', ऋषियों का परम मन्त्र गायत्री ही है ।

यथा कथं च जप्तैषा त्रिपदा परम पाविनी ।
सर्व काम प्रदा प्रोक्ता विधिनांकि पुनर्तृय ।।

–विष्णु धर्मोत्तर

हे राजन–जैसे बने वैसे जप करने पर भी परम पावनी गायत्री कल्याण करती है, फिर 'विधि पूर्वक उपासना करने के लाभ का तो कहना ही क्या है ? '

जपतां जुह्वतां चैव विनियाते न विद्यते ।

'गायत्री जप और हवन करते रहने वाले का कभी पतन नहीं होता ।'

न प्रमादोऽत्र कर्तव्यो विदुषमोक्षमिच्छता ।
प्रमादेजृम्मते माया सूर्यापाये तमोयथा ।।

–वेदान्त सिद्धान्तसार

कल्याण की इच्छा करने वाला 'प्रमाद न करे ।'जैसे संध्या होते ही अन्धकार फैल जाता है वैसे ही प्रमाद आते ही माया दबोच लेती है ।

देवो भूत्वा यजेद्देवं नादंवो देवमर्नयेत् ।

'अपने में देवता धारण करके' ही देवता की पूजा करनी चाहिए । इसके बिना देवपूजन अवांच्छनीय है ।

जप संख्यातु कर्तव्या नासंख्यातं जपेत् सुधीः ।

'जप संख्या गिनकर करना चाहिए ।' बुद्धिमान लोग बिना संख्या गिने जप न करें ।

कितने ही मनुष्य शास्त्र विधि की साधना विधान को व्यर्थ मानकर मनमानी रीति से साधना करते हैं, अपनी मनमर्जी में चाहे जैसे नियम बना लेते हैं, चाहे जिस विधान को व्यर्थ कहने लगते हैं । ऐसी मनमानी करने वाले, शास्त्र विधि की अवज्ञा करने वाले एक प्रकार के बन्दर हैं, उनकी उछल-कूद का कितना परिणाम होगा, यह कह सकना अनिश्चित है ।

शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति ये नरः ।
मतयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानरः ।।

जहाँ शास्त्र निर्देश करता है, वहाँ जो जाते हैं वे मनुष्य हैं और जहाँ मन चाहता है, वहाँ जाते हैं वे वानर हैं ।

इसलिये गायत्री महामंत्र से समुचित लाभ उठाने के इच्छुकों के लिए यही उचित है कि शास्त्र विधि से बताते हुये विधि-विधान के साथ अपनी उपासना पूर्ण करें । अध्यात्म विज्ञान के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त के आधार पर नियमित साधना विधान की उपेक्षा न करे ।

गायत्री उपासना में समय साधना का महत्त्व

गायत्री उपासना का एक नाम "संध्या योग" भी है- "त्रिकाल संध्या" का तात्पर्य ही उस गायत्री उपासना से है जो प्रातःकाल सूर्योदय के समय, सायंकाल जब सूर्य अपनी किरणें समेट कर प्रस्थान कर रहे हों और मध्यान्ह अर्थात् सूर्य भगवान मेरुदण्ड के ठीक ऊपर आकाश में हों । इन तीन समयों के अतिरिक्त उपासना कभी भी की तो जा सकती है किन्तु वह संख्या नहीं कहलायेगी अर्थात् गायत्री उपासना के मान्य सिद्धान्तों से पृथक् मानी जायेगी । उस उपासना का लाभ न हो यह बात तो नहीं कही जा सकती किन्तु रात और दिन की इन संधिवेलाओं में गायत्री उपासना का जितना महत्त्व है उतना अन्य समय नहीं । गायत्री उपासना का संध्या नाम इसी तथ्य का बोध कराता है ।

शरद काल की वृष्टि उछल-कूद वाली होती है, कभी यहाँ बरस गई, कभी सौ मील दूर जाकर, किन्तु वर्षा ऋतु में समस्त भूमण्डल बादलों से आच्छादित हो उठता है । उस समय की वृष्टि इतनी व्यापक होती है कि स्वल्प श्रम से ही कोई भी व्यक्ति प्रचुर मात्रा में जल एकत्र कर सकता है । वनस्पति विज्ञान का निष्कर्ष यह है कि हर वनस्पति के फलने-फूलने का सुनिश्चित समय होता है वह उन्हीं दिनों में फलती-फूलती है और वह ऋतु समाप्त होती है, तो उसका फलना-फूलना बन्द हो जाता है । आम, आडू, लीची, गर्मियों में ही फलते और वर्षा ऋतु में पकते हैं, किन्तु ज्वार का समय क्वार-कार्तिक ही होता है । गेहूँ, जौ, चने का उत्पादन शीतकाल में नहीं हो सकता, उस समय तो उनका बीजारोपण हो सकता है पर वह पक कर तैयार माघ-फाल्गुन में ही होता है । गेहूँ माघ-फाल्गुन में बोकर क्वार-कार्तिक में काटने की बात सोची जाये तो सम्भव है किसी तरह पौधे उग आयें, वातावरण प्रदान कर कुछ उत्पादन भी सम्भव है पर भरपूर फसल का लाभ लेना हो तो ऋतु विज्ञान की कभी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ की एक सुनिश्चित तात्विक संरचना होती है । प्रकृति में अनुकूल तत्व उपलब्ध होने की स्थिति में ही प्राणी और पदार्थ बढ़ते और विकसित होते हैं । फूल-पौधे यों वर्षा ऋतु में भी रोपे जाते हैं वे फूल देते भी हैं किन्तु बसन्त ऋतु में वे जिस गति से बढ़ते और पुष्पित, पल्लवित होते हैं, उसे देखकर दर्शक का मन भी हर्षोल्लसित हो उठता है । ऋतुओं का सीधा सम्बन्ध तत्वों के उतार-चढ़ाव से है और तत्वों का न्यूनाधिक ही प्राणियों को प्रभावित करता है ।

गायत्री उपासना को "प्राण साधना" भी कहते हैं । "प्राण और अग्नि" एक ही तत्व है । प्राण विज्ञान कुंडलिनी साधना को पंचाग्नि विद्या भी कहते हैं । प्रश्नोपनिषद में इसी तथ्य का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है-

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्नि रुदयते ।
तदेतदृचाभयुक्तम् ।

अर्थात्- वह प्राण रूप सूर्य अपने तेज से सारे संसार को प्राणवान् बनाता है । जीवन और अग्नि हो कर उदय होता है ।

"एषोऽग्निस्तपत्येस सूर्य"

अर्थात्-यह प्राण ही अग्नि बनकर तप रहा है वही सूर्य है इन सूक्तों में प्राण और अग्नि की एकरूपता प्रतिपादित की गई है ।

प्रातःकाल, मध्यान्ह और सायंकाल पृथ्वी पर सूर्य की रक्तवर्ण किरणें प्रचुर मात्रा में पड़ती हैं । लाल रंग अग्नि अर्थात् प्राण का है, गायत्री उपासना प्राणों की उपासना है । इन किरणों की उपस्थिति के कारण सम्पूर्ण प्रकृति वनस्पति तथा प्राणि जगत में सर्वत्र व्यापक उल्लास और उत्क्रान्ति का वातावरण छा जाता है । प्रातःकाल और सायंकाल जब सूर्योदय और सूर्यास्त की लालिमा आकाश में छाई रहती है, तब उतने समय सारे वातावरण

में प्राणियों की चहचहाहट, उछल-कूद का मनोरंजक वातावरण छा जाता है। पक्षियों का चहचहाना इसी समय होता है। इन दोनों समय कोई भी पक्षी काम नहीं करते वरन् क्रीड़ा मग्न हो उठते हैं। उनके छोटे-छोटे बच्चे यद्यपि उड़ नहीं सकते तो भी वे कोटरों से झांक-झांक कर अभिभावक पक्षियों की उछल कूद देख-देख कर प्रसन्न होते हैं। जलाशयों की मछलियाँ इसी अवधि में उछल-कूद मचाती हैं, सारे वातावरण में कलरव और चारुता छा जाती है। इस अवधि में सोते हुए प्राणी और मनुष्य बहुत ही कम मिलते हैं, जो मिलते हैं वे अत्यधिक तम-साच्छन्न, बीमार रोगी, चिड़चिड़े, नपुंसक स्वभाव के ही मिलेंगे। प्राणों की सक्रियता, जीवन की सरसता और सक्रियता के रूप में परिलक्षित होना स्वाभाविक ही है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर विद्यालयों में बच्चों के खेल-कूद का समय भी प्रातः-सांयकाल रखा गया होता है, तो उसे ऋतु विज्ञान वेत्ताओं की सूझ-बूझ ही मानना चाहिए। उभरती हुई शक्ति को यदि उल्लास या उत्क्रांति प्रयोजन में न लगाया जाय तो यही समय होता है, जब उसका बहाव ध्वंस या पतनोत्मुख प्रवृतियों में हो सकता है।

वनस्पति शास्त्रियों ने पेड़-पौधों की वृद्धि के जो आंकड़े प्रस्तुत किये हैं; उनसे भी यह पता चलता है कि पौधों का सर्वाधिक विकास प्रातःकाल अथवा सांयकाल ही होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि न केवल प्राणी अपितु प्रकृति भी इन 'सन्धि स्थलों' में अधिकतम बिखरी प्राण ऊर्जा का लाभ लेने में जुट जाती है। यही समय मनुष्य के लिए भी प्राण अभिवर्द्धन के लिए सर्वाधिक उपयुक्त हो सकता है। मनीषियों ने तत्वदर्शन की इस गहराई को भली-भांति समझा था। इसी कारण गायत्री उपासना का नाम संध्या और उसे दिन रात के इन संधि अवसरों, प्रातः सायं और मध्यान्ह करने का उपयुक्तता और महत्ता प्रतिपादित की थी।

स्पष्ट है कि जिस समय पृथ्वी पर प्राण शक्ति प्रचुर मात्रा में विद्यमान हो, और उस कारण ही अन्तः चेतना की ग्रहणशीलता सजग हो रही हो उस समय अवधारण का अधिक से अधिक लाभ लिया जा सकता है। इसके बाद तो प्रातःकाल पार्थिव तत्वों की प्रचुरता हो जाने और रात्रि में आकाश तत्व की अधिकता हो जाने के कारण स्वभावतः आग्नेय या प्राण स्फुल्लिंग दब जाते हैं। अतएव उस स्थित में प्राण साधना का उतना लाभ नहीं लिया जा सकता है।

वर्षा ऋतु प्रारम्भ होते ही भारतीय संस्कृनि में पूजा, उपासना के अधिकांश कृत्य समाप्त कर दिये जाते हैं क्योंकि तब देवताओं के सो जाने की अलंकारिक कथा प्रचलित है। यह स्थिति शरद ऋतु के आते ही देवोत्थान एकादशी तक रहती है। ऐसे तत्वों की सूक्ष्म जानकारी के आधार पर ही है इस अवधि में पृथ्वी और उसकी तन्मात्राएँ प्रभाव में रहती हैं। अतएव स्वभावतः लोगों के मन चंचल रहते हैं। मन स्थिर न होने से उपासना निरर्थक रहती है, इसीलिए अलंकारिक रूप में देवताओं के सो जाने का प्रतिबन्ध और देवताओं के जाग उठने की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया प्रारम्भ की गई।

गायत्री उपासना का प्रात-सांय अधिक महत्त्व इसी दृष्टि से है। इस अवधि में पृथ्वी में प्राण तत्व की सक्रियता और इन्द्रियों की उछल-कूद शान्त होने के कारण यह उपासना के लिए सर्वाधिक उपयुक्त समय होता है। इसीलिए गायत्री उपासना को सन्ध्या कह कर उसे इन संधि अवसरों पर ही करने की आवश्यकता से जोड़ दिया गया है।

साधना, एकाग्रता और स्थिरचित्त से होनी चाहिए

साधना के लिए स्वस्थ और शांत चित्त की आवश्यकता है। चित्त को एकाग्र करके, मन को सब ओर से हटाकर,तन्मयता, श्रद्धा और भक्ति भावना से की गई साधना सफल होती है। यदि यह सब बातें साधक के पास न हो तो उसका प्रयत्न फलदायक नहीं होता। उद्विग्न, अशांत, चिन्तित, उत्तेजित, भय एवं आशंका से ग्रस्त मन एक जगह नहीं ठहरता। वह क्षण-क्षण में इधर-उधर भागता है। कभी भय के चित्र सामने आते हैं, कभी दुर्दशा को पार करने के लिये उपाय सोचने में मस्तिष्क दौड़ता है। ऐसी स्थिति में साधन कैसे हो सकता है ? एकाग्रता न होने से गायत्री के जप में मन लगता है, न ध्यान में। हाथ माला को फेरते हैं, मुख मंत्रोच्चारण करता है, चित्त कहीं का कहीं भागता फिरता है। यह स्थिर साधना के लिये उपयुक्त नहीं। जब तक मन सब ओर से हट कर सब बातें भुलाकर

एकाग्र और तन्मयता के साथ भक्ति भावनापूर्वक माता के चरणों में नहीं लग जाता, तब तक अपने में वह चुम्बक कैसे पैदा होगा जो गायत्री शक्ति को अपनी ओर आकर्षित करे और अभीष्ट उद्‌देश्य की पूर्ति में उसकी सहायता प्रदान कर सके ।

दूसरी कठिनाई है श्रद्धा की कमी । कितने ही मनुष्यों की मनोभूमि बड़ी शुष्क एवं अश्रद्धालु होती है, उन्हें आध्यात्मिक साधनों पर सच्चे मन से विश्वास नहीं होता । किसी से बहुत प्रशंसा सुनी तो परीक्षा करने का कौतूहल मन में उठता है कि देखें यह बात कहाँ तक सच है ? इस सच्चाई को जाँचने के लिए अपने किसी कष्टसाध्य काम की पूर्ति को कसौटी बनाते हैं और उस कार्य की तुलना में वैसा परिश्रम नहीं करना चाहते । चाहते हैं कि दस-बीस माला मंत्र जपते ही उनका कष्टसाध्य मनोरथ आनन-फानन में पूरा हो जाय । कई सज्जन तो ऐसी मनौती मनाते देखे गये हैं कि हमारा अमुक कार्य पहले पूरा हो जाय तो अमुक साधना इतनी मात्रा में पीछे करेंगे । उनका प्रयास ऐसा ही है, जैसे कोई कहे कि पहले जमीन से निकल कर पानी हमारे खेत को सींच दे, तब हम जल देवता को प्रसन्न करने के लिये कुआँ खुदवा देंगे । वे सोचते हैं कि शायद अदृश्य शक्तियाँ हमारी उपासना के बिना भूखी बैठी होंगी, हमारे बिना उनका सारा काम रुका पड़ा रहेगा, इसलिये उनसे वायदा कर दिया जाय कि पहले हमारी अमुक मजदूरी कर दो, तब हम तुम्हें खाना खिला देंगे या तुम्हारे रुके हुए काम को पूरा करने में सहायता देंगे । यह वृत्ति उपहासास्पद है, उनके अविश्वास तथा ओछेपन को प्रकट करती है ।

अविश्वासी, अश्रद्धालु, अस्थिर चित्त मनुष्य भी यदि गायत्री-साधना को नियमपूर्वक करते चलें तो कुछ समय में उनके यह तीनों दोष दूर हो जाते हैं और श्रद्धा विश्वास एवं एकाग्रता उत्पन्न होने से सफलता की ओर तेजी से कदम बढ़ने लगते हैं । इसलिये चाहे किसी की मनोभूमि, संयमी तथा अस्थिर ही क्यों न हो पर साधना में लग ही जाना चाहिए । एक न एक दिन त्रुटियाँ दूर हो जायगी और माता की कृपा प्राप्त होकर ही रहेंगी ।

शास्त्र का कथन है–'संदिग्धो हि हतो मन्त्र व्यग्रचित्तो हतोजपः ।' संदेह करने से मन्त्र हत हो जाता है और व्यग्रचित्त से किया हुआ जप निष्फल रहता है । असन्दिग्ध और अव्यग्र-श्रद्धालु और स्थिर चित्त न होने पर कोई विशेष प्रयोजन सफल नहीं हो सकता । इस कठिनाई को ध्यान में रखते हुए आध्यात्म विद्या के आचार्यों ने एक उपाय दूसरों द्वारा साधना कराना बताया है । किसी अधिकारी व्यक्ति को अपने स्थान पर साधना कार्य में लगा देना और उसकी स्थान-पूर्ति स्वयं कर देना एक सीधा-साधा निर्दोष परिवर्तन है । किसान अन्न तैयार करता है और जुलाहा कपड़ा । आवश्यकता होने पर अन्न और कपड़े की अदल-बदल हो जाती है । जिस प्रकार वकील, डाक्टर, अध्यापक क्लर्क आदि का समय, मूल्य देकर खरीदा जा सकता है और उस खरीदे हुए समय का मन चाहा उपयोग अपने प्रयोजन के लिए किया जा सकता है, उसी प्रकार किसी ब्रह्म-परायण सत्पुरुष को गायत्री-उपासना के लिये नियुक्त किया जा सकता है । इससे संदेह और अस्थिर चित्त होने के कारण जो कठिनाइयाँ मार्ग में आती थीं, उसका हल आसानी से हो जाता है ।

कार्यव्यस्त और श्री सम्पन्न, धार्मिक मनोवृत्ति के लोग बहुधा अपनी शान्ति, सुरक्षा और उन्नति के लिए गोपाल सहस्र नाम, विष्णु सहस्रनाम, महामृत्युञ्जय, दुर्गासप्तशती, शिव महिम्न, गंगालहरी आदि का पाठ नियमित रूप से कराते हैं । वे किसी ब्राह्मण को मासिक दक्षिणा पर नियत समय के लिए प्रतिबन्धित कर लेते हैं, जितने समय तक वह पाठ करता है, उसका परिवर्तन मूल्य दक्षिणा के रूप में उसे दिया जाता है । इस प्रकार वर्षों यह क्रम नियमित चलता रहता है । किसी विशेष अवसर पर विशेष रूप से प्रयोजन के लिए विशेष अनुष्ठानों के आयोजन भी होते हैं । नव दुर्गाओं के अवसर पर बहुधा लोग दुर्गा पाठ कराते हैं । शिवरात्रि को शिवमहिम्न, गंगा दशहरा को गंगालहरी, दिवाली को श्री सूक्त का पाठ अनेक पंडितों को बैठा कर अपनी सामर्थ्यानुसार लोग अधिकाधिक कराते हैं । मन्दिरों में भगवान् की पूजा के लिये पुजारी नियुक्त कर दिये जाते हैं । मन्दिरों के संचालक की ओर से वे पूजा करते हैं और संचालक उनके परिश्रम का मूल्य चुका देते हैं । इस प्रकार का परिवर्तन गायत्री-साधना में भी हो सकता है । अपने शरीर, मन, परिवार और व्यवसाय की सुरक्षा और उन्नति के लिये गायत्री का जप एक-दो हजार की संख्या में नित्य ही कराने की व्यवस्था श्रीसम्पन्न लोग आसानी से कर सकते

हैं। इसी प्रकार कोई लाभ होने पर उसकी प्रसन्नता में शुभ आशा के लिए अथवा विपत्ति-निवारणार्थ सवालक्ष जाप का गायत्री अनुष्ठान किसी सत्पात्र ब्राह्मण द्वारा कराया जा सकता है। ऐसे अवसरों पर साधना करने वाले ब्राह्मण को अन्न, वस्त्र, बर्तन तथा दक्षिणा रूप में उचित पारिश्रमिक उदारतापूर्वक देना चाहिए। संतुष्ट साधक का सच्चा आशीर्वाद उस आयोजन के फल को और भी बढ़ा देता है। ऐसी साधना करने वालों को भी ऐसा संतोषी होना चाहिए कि अति न्यून मिलने पर भी सन्तुष्ट रहें और आशीर्वादात्मक भावनाएँ मन में रखें। असन्तुष्ट होकर दुर्भावनाएँ प्रेरित करने पर तो दोनों का ही समय तथा श्रम निष्फल होता है।

अच्छा तो यह है कि हर साधक अपनी साधना स्वयं करे। कहावत है कि-'आप काज सो महाकाज।' परन्तु यदि मजबूरी के कारण वैसा न हो सके, कार्य व्यस्तता, अस्वस्थता, अस्थिर चित्त, चिंताजनक स्थिति आदि के कारण यदि अपने से साधन न बन पड़े तो आदान-प्रदान के निर्दोष एवं सीधे-साधे नियम के आधार पर अन्य अधिकारी पात्रों से वह कार्य कराया जा सकता है। यह तरीका भी काफी प्रभावपूर्ण और लाभदायक सिद्ध होता है। ऐसे सत्पात्र एवं अधिकारी अनुष्ठानकर्ता तलाश करने में अखंड ज्योति संस्था से सहायता ली जा सकती है।

साधना के चार नियम

ब्राह्मे मुहुर्ते प्राच्यस्यो मेरुदण्ड प्रतन्यहि ।
पद्मासनं समासीनः सन्ध्यां वन्दन माचरेत् ।।

(ब्राह्मे मुहूर्ते) ब्राह्म मुहूर्त में (प्राच्यास्याः) पूर्वभिमुख होकर (मेरुदण्ड) मेरुदंड को (प्रतन्य हि) तान कर अर्थात् सीधा कर (पद्मासनं समासीनः) पद्मासन पर बैठ कर (सन्ध्या वन्दनं) सन्ध्या वन्दन (आचरेत्) करे।

गायत्री अभिवन्दन के लिए चार बातें भली प्रकार समझ लेने की है। क्योंकि इन नियमों के बिना किया हुआ साधन समुचित फल उत्पन्न नहीं करता। कोई कार्य कितना ही उत्तम, लाभदायक और सुलभ क्यों न हो, पर उसे यथा नियम करने से ही सफलता प्राप्त होती है। भोजन करना, जल पीना, स्नान, चलना-फिरना, लेटना, बैठना, सांस लेना, पलक मारना, मल मूत्र त्यागना जैसे साधारण दैनिक कार्यों को भी यदि उनके नियत विधि विधान के साथ न किया जाय तो उस अव्यवस्था के कारण भयंकर परिणाम उपस्थित हो सकते हैं। हर कार्य की एक प्रणाली होती है, अपने निर्धारित मार्ग पर चलने से सब वस्तुएँ उपयोगिता प्रकट करती हैं, अवरोध की दशा में उन्हीं से भारी विपत्ति उत्पन्न हो सकती है। रेल गाड़ी अपनी पटरी पर चलती है, यदि पटरी हटा दी जाय और खेत खलियानों में होकर चाहे जिधर उसे चलाया जाय, तो रेलगाड़ी का लाभ यात्रियों को न मिल सकेगा। पर्वतों से निकल कर एक विशाल जल राशि नदियों के मार्ग से चलती हुई समुद्र तक पहुँचती रहती है। यदि उस जल को नियत मार्ग से जाने देने की अपेक्षा चाहे जहाँ होकर बहाया जाय तो उससे जल प्रलय के दृश्य उपस्थित हो सकते हैं। आकाश में असंख्यों ग्रह नक्षत्र अपने-अपने मार्ग पर अतीत काल से द्रुतगति के साथ दौड़ते हुए अपना महान अस्तित्व बनाये हुए हैं, वे अपनी विधि-व्यवस्था छोड़ दें और चाहे जिधर, चाहे जिस गति से दौड़ने लगें तो वे आपस में टकरा-टकरा कर महा प्रलय उत्पन्न कर दें।

सृष्टि का प्रत्येक कार्य एक निर्धारित क्रिया प्रणाली से चलता है, उस व्यवस्था में गड़बड़ी हो जाने से विपन्न अवस्था पैदा होती है। प्रत्येक साधना की भांति गायत्री साधना के सम्बन्ध में भी यही बात है। उसे नियमानुसार करने से ही लाभ प्राप्त होता है। अविधि पूर्वक करने से अन्य साधनाओं की भांति वेद माता गायत्री कोई भयंकर अनिष्ट तो उपस्थित नहीं करती पर उसके लाभ से वंचित ही रहना पड़ता है। यह समय और श्रम की व्यर्थता भी एक हानि ही है, इसलिए गायत्री साधकों को उन चार बातों को भली प्रकार समझ लेना चाहिए, जो इस साधना के लिए आवश्यक हैं।

पहली बात यह है कि साधना को ब्राह्म मुहूर्त में करना चाहिए। सूर्योदय से एक घंटा पीछे तक ब्राह्म मुहूर्त रहता है। यह परम सात्विक शान्ति दायक, चैतन्यता पूर्ण तथा दिव्य वातावरण से युक्त होता है। प्राणी रात्रि में निद्रा लेकर अपनी थकान मिटाते हैं और विश्राम के द्वारा शक्ति संचय करके प्रातःकाल चैतन्य हो उठते हैं, उस समय हर एक के मन में स्फूर्ति, ताजगी एवं स्थिरता होती है। उस दशा में जो भी कार्य किया जाता है बहुत उत्तम होता है। जिस प्रकार प्राणी रात्रि में विश्राम लेकर सवेरे सक्षम हो जाते हैं, उसी प्रकार सृष्टि के जड़

तत्व भी रात्रि में विश्राम करने के पश्चात् नई चेतना के साथ प्रकट होते हैं। दिन में सूर्य की गर्मी से हर एक पदार्थ में हलचल बढ़ जाती है, वह अपने-अपने क्षेत्र में दौड़ धूप करता है। रात्रि आते ही वह गर्मी की उत्तेजना घट जाती है। अन्धकार छा जाता है, स्तब्धता आ जाती है, वैज्ञानिकों का कथन है कि रात्रि में वृक्ष वनस्पति तथा अन्य जड़ कहे जाने वाले पदार्थ भी सोते हैं। हमारे धर्मग्रन्थ तो सदा से ऐसा ही मानते आये हैं, इसलिए उन्होंने रात्रि में पेड़ों के पत्ते न तोड़ने, जलाशयों में हलचल उत्पन्न न करने को धर्म नियमों में सम्मिलित किया है। रात्रि की निद्रा लेकर प्रातःकाल भगवान भास्कर की नवीन सूक्ष्म किरणें, एक घंटा पूर्व से ही आनी आरम्भ हो जाती हैं। पौ फटना, बहुत देर पहले शुरू हो जाता है यह प्राथमिक प्रकाश उन सूक्ष्म किरणों का ही होता है। यह सूर्य नारायण की अग्रदूती उषा ब्राह्मी चेतना है, वह जड़ चेतन सृष्टि को हलके-हलके सोते से जगाती है। दयामयी माता जैसे प्रातःकाल बालक को जगाकर उसे मलमूत्र से निवृत्त कराती है, हाथ मुँह धुलाकर, स्नान कराकर, नवीन वस्त्र पहना कर सुसज्जित कर देती है, उसी प्रकार भगवती उषा इस समस्त सृष्टि को अपने ब्रह्मस्पन्दनों द्वारा जागृतचैतन्य और प्रफुल्ल बना देती है। इस प्रफुल्लता से वन उपवनों में पुष्प खिलखिला कर हँस पड़ते हैं। पौधे हरे-भरे हो जाते हैं, पशु किलकारियाँ मारते हुए उछल-कूद मचाने लगते हैं, पक्षी अपने मनोरम संगीत से दिशाओं को कलरव से गुंजित कर देते हैं। कीड़े-मकोड़े अपने बिलों में से मुँह चमका कर इस नव चेतना का दर्शन और अभिवन्दन करते हैं। वायु मन्द मलय बहाता है, पृथ्वी अपनी गंध से वातावरण को सुगंधित कर देती है, जल की शीतलता चहुँ ओर अनुभव होती है, अग्नि का तेज, चैतन्यता वितरण करता है। अरुण प्राची दिशा को चित्र सा सुन्दर रंगबिरंगा चित्रित कर देता है। यह समय सब प्रकार से दिव्य है। वैज्ञानिक कहते हैं कि प्रातःकाल की वायु में ऑक्सीजन तथा ओनियम के प्राण प्रद तत्व अत्यधिक मात्रा में रहते हैं। आध्यात्मिक आचार्य कहते हैं कि ब्राह्म मुहूर्त में सतोगुण का प्रवाह बड़े संतोषजनक परिमाण में प्रवाहित होता है। सभी दृष्टियों से प्रातःकाल का समय सर्वश्रेष्ठ है। इस श्रेष्ठ समय का उपयोग जीवन के सर्वश्रेष्ठ कार्य में किया जाना चाहिए। ऐसा कार्य है-'आत्मकल्याण' इससे बढ़कर कोई महत्त्वपूर्ण कार्य जीवन में नहीं है। इसलिए प्रातःकाल का ब्राह्म मुहूर्त संध्यावन्दन के लिए नियोजित किया गया है। दोपहर , तीसरे पहर, रात विरात यों तो किसी भी समय भगवान का नाम ले सकते हैं—आत्म चिन्तन कर सकते हैं पर इस समय का महत्त्व निराला है। बाजे तो चाहे जब बजते रहते हैं पर शादी, पुत्र जन्म, उत्सव आदि के समय पर बजने वाले बाजों में कुछ दूसरा ही उत्साह होता है। ब्राह्म मुहूर्त की साधना का आनन्द भी कुछ ऐसा ही अनोखा है उसकी तुलना अन्यों समयों में नहीं हो सकती।

सन्ध्यावन्दन का अर्थ है—वह वन्दन हो संध्या काल में किया जाय। संध्या संधि-काल को कहते हैं। रात्रि और दिवस का जिस समय मिलन होता है, वह संधि कहलाती है और उस मिलन काल में की हुई उपासना संध्या है। प्रातःकाल और सांयकाल की, सूर्योदय और सूर्य अस्त की दोनों संध्याओं में आध्यात्मिक उपासनाओं का विधान किया गया है, पर इन दोनों में प्रातःकाल तो अत्यधिक आवश्यक है। क्योंकि उसकी श्रेष्ठता, सांयकाल की संधि से अनेक गुनी अधिक है। यदि छोड़ना हो तो सांयकाल की संध्या छोड़ी जा सकती है पर प्रातःकाल की उपासना के लाभ से तो किसी को वंचित रहना ही न चाहिए।

उपासना में दूसरी जानने योग्य बात यह है कि पूर्व की ओर मुंह करके साधन किया जाय। यह सर्व विदित है कि उत्तर दिशा में पृथ्वी का केन्द्र ध्रुव होने के कारण उधर से एक चुम्बक शक्ति प्रवाहित होती है, कुतुबनुमा यंत्र की सुई अपने आप उत्तर दिशा की ओर मुँह कर लेती है। उसे कितना ही घुमाइये सुई उत्तर में ही ठहरेगी। कारण यह है कि उत्तर ध्रुव का चुम्बकत्व उन सब पदार्थों को अपनी ओर खींचता रहता है जिनमें चुम्बकत्व शक्ति का अंश विद्यमान है। मनुष्य के मस्तिष्क में भी चुम्बकत्व शक्ति होती है, यदि हम उत्तर को सिर करके सोते हैं, तो रात्रि को मस्तिष्क चैन से नहीं बैठने पाता, उधर खिंचता रहता है और रातभर स्वप्न आते रहते हैं। इसीलिए कर्मकाण्ड ग्रन्थों में दक्षिण को पैर करके (अर्थात् उत्तर को शिर करके) सोने का निषेध किया गया है।

जैसा कि भौतिक चुम्बक ध्रुव उत्तर दिशा में है वैसा ही आध्यात्मिक ध्रुव पूर्व दिशा में है। सूर्य की

दिशा पूर्व में है। पृथ्वी पूर्वकाल में जिस दिशा में थी उसे पूर्व कहते हैं। पूर्व की वायु में अधिक प्राण एवं चैतन्यता होती है। जब वह चलती है तो वर्षा होती है, अगणित उद्भित प्राणी उत्पन्न हो जाते हैं, वनस्पति जगत में नया प्राण उत्पन्न हो जाता है। पृथ्वी में भारतवर्ष को पूर्व कहा जाता है यहाँ आध्यात्मिक तत्वों की सदा से अधिकता रही है। हमारे इस सौर्य मण्डल का केन्द्र सूर्य है जो कि पूर्व में है। समस्त सृष्टि का आध्यात्मिक केन्द्र-ब्रह्म लोक भी पूर्व में है। इसलिए आत्मतत्वों को अधिक मात्रा में प्राप्त करने के लिए हमें उसी दिशा में मुँह करके साधना करनी होती है। रेडियो यंत्र में लगी हुई सुई जिस दिशा की आकाशवाणी सुनने के लिए घुमा दी जाती है उधर की ही शब्दावली हम सुनने लगते हैं। हमारा मुख भी एक प्रकार की रेडियो की सुई है, इसे जिस दिशा में घुमा देते हैं उस दिशा में सूक्ष्म तत्वों से हमारा सान्निध्य हो जाता है। ब्राह्म मुहूर्त में संध्यावन्दन करने के लिए हमें पूर्व की ओर मुँह करके बैठना चाहिए जिससे ब्रह्म दिशा से प्रवाहित होकर आने वाले सूक्ष्म सतोगुणी तत्वों को हम अधिक मात्रा में ग्रहण कर सकें, उनसे लाभान्वित हो सकें।

जानने योग्य तीसरी बात है-मेरुदंड को सीधा रखना। डॉक्टर लोग बताते हैं कि शरीर की आधार शिला मेरुदंड है। यदि मेरुदंड-पीठ की रीढ़ की हडडी-कट जाय तो मनुष्य का प्राण नहीं बच सकता। यह आधार दंड, छोटे-छोटे ३३ अस्थि घटकों से मिल कर बना है, पर इसके भीतर बड़े-बड़े आवश्यकीय तन्तुओं का गुन्थन है। मस्तिष्क की सूक्ष्म चेतनता को शरीर के अंगों से सम्बन्ध रखने वाली टेलीग्राफी की, विद्युत संचालन की, सारी मशीनरी इसी किले के अन्दर रखी हुई है। शरीर शास्त्री मेरुदंड को महत्त्वपूर्ण मर्म स्थान मानते हैं और इसकी सुरक्षा के लिए वे सदा सीधा बैठने का आदेश करते हैं। झुके-झुके संदूकची पर कागज रखकर लिखा पढ़ी करने को डाक्टरों ने बुरा बताया है और मेज कुर्सी की सहायता से सीधा बैठ कर लिखा पढ़ी करने को ठीक प्रमाणित किया है। शिक्षा शास्त्रियों ने अध्यापकों को कड़ी हिदायतें दे रखी हैं कि विद्यार्थियों को झुककर बैठने की आदत न पड़ने दी जाय। कारण यह है कि झुक कर बैठने से रीढ़ की हड्डी मुड़ जाती है और इस पोले बाँस के अन्दर भरे हुए तन्तुओं का कार्य रुक जाता है, मोड़ पड़ने से उसमें रक्त का दौरा कम हो जाता है, फलस्वरूप मानसिक चैतन्यता का सम्बन्ध शरीर से घट जाता है, यह त्रुटि स्वास्थ्य के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध होती है।

स्थूल दृष्टि से, स्वास्थ्य की निगाह से, सदा कमर को सीधा रखकर बैठना आवश्यक है। पर आध्यात्मिक दृष्टि से, विशेष कर साधना काल में तो वह अनिवार्य है। कारण यह है कि मेरुदंड में होकर इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नामक तीन नाड़ियाँ प्रवाहित होती है, जो मूलाधार चक्र में स्थित कुंडलिनी शक्ति तक प्राण वायु पहुंचाकर उसे रेचक कुंभक पूरक कराती रहती हैं। सुप्त कुंडलनी के स्वाभाविक प्राणायाम से शरीर में प्राण स्थिर रहता है, मेरुदंड के मुड़ने से इस प्राणायाम में बाधा पड़ती है और प्राण निर्बल होता है।इस दोष के निवारण के लिए उचित तो यह है कि यथा सम्भव सदा सीधा ही रहने का प्रयत्न किया जाय, पर साधन काल में तो इसकी सर्वोपरि उपयोगिता है, कंडलिनी को पूरा प्राण पहुँचाने के लिए मेरुदंड का सीधा रखना आवश्यक है।

मस्तिष्क से लेकर गुदा मूल तक छः अध्यात्मिक चक्र शरीर में होते हैं जिन्हें आज्ञाचक्र, विशुद्ध चक्र, अनाहत चक्र, मणिपूर चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र और मूलाधार चक्र कहते हैं, इन चक्रों में कितनी-कितनी अद्भुत शक्तियां हैं और उनके जागरण से किस प्रकार सिद्ध लोग अष्ट सिद्धि, नव निद्धि प्राप्त करते हैं, इसका वर्णन तो स्वतन्त्र रूप से करेंगे, यहाँ तो इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा कि यह षट् चक्र मेरुदंड से सम्बन्धित है। साधना काल में आत्मोन्नति के लिए जो विविधि प्रकार के कर्म काण्ड किये जाते हैं उनसे इन चक्रों में निहित गुप्त शक्तियां जाग्रत होती हैं और उस जागरण से आत्मबल बढ़ता है, दिव्यत्व की वृद्धि होती है और अलौकिक सम्पत्तियों का भंडार जमा होता है। यदि मेरुदंड झुका रहे, टेढ़ा रहे तो उसके भीतर होने वाली क्रिया प्रणाली पर स्वभावतः दबाव पड़ेगा और उस दबाव से शारीरिक और आत्मिक दोनों ही प्रकार की क्षति होगी। इन सब बातों को ध्यान में रखकर यह आवश्यक नियम बनाया गया है कि साधना काल में मेरुदंड सीधा रखा जाय।

जानने योग्य चौथी बात यह है कि पद्मासन से बैठा जाय। ब्राह्मी स्थिति में स्थित होने के लिए किस

प्रकार बैठना चाहिए ? इस प्रश्न का उतर पाने के लिए योगियों को आदि काल की सूक्ष्मता तक पहुँचना पड़ा है । ब्रह्माजी ने वेद माता गायत्री से वेद का निर्माण कमल के आसन पर-पद्मासन पर बैठ कर किया । इस पद्मासन की दो और आकृतियाँ हैं, क्षीर सागर में विष्णु का आसन सर्प है जो कुण्डली मारे हुए बैठा है, उसके मध्य में विष्णु भगवान विराजमान हैं । दूसरे मनुष्य की प्राणधारिणी कुंडलिनी शक्ति भी सर्प की भांति कुंडल बांधे हुए अवस्थित है । कमल पुष्प स्थित ब्रह्मा, सर्प स्थित विष्णु और कुंडली धारी शंकर की स्थिरता का अनुकरण करके पैरों को उसी प्रकार कुंडल कार कमलवत बनाकर बैठना ठीक समझा गया ।

नाभि से नीचे का अधोभाग वासनामय और ऊपर का भाग भावनामय माना गया है । पद्मासन में पैरों को इस प्रकार मोड़ा जाता है कि नीचे के सभी वासना मय स्नायु खिंच कर बंध जाते हैं । महिषासुर मर्दनी का अलंकार पद्मासन से लिया गया है । वासना को महिष कहा गया है । उसे पछाड़ कर उसकी छाती पर कुंडलिनी बैठती है । वासनामय अंगों, स्नायुओं को ब्रह्मपाश में बांध कर डाल दिया जाता है , पैरों को मोड़ कर इस प्रकार रखा जाता है कि पिडलियों की नाड़ियां खिंच, जकड़ और बंध जावें, विघ्नकर्त्ता महिषासुर को बांधकर पटक देने के पश्चात् निर्भयता पूर्वक निश्चिन्तिता के साथ साधना की जा सकती है, उसमें विक्षेप नहीं पड़ता । पद्मासन के अनेक रहस्यों में से यह भी एक महत्त्वपूर्ण रहस्य है ।

यों तो पद्मासन के अनेकों प्रकार हैं और उनके विनियोग भी पृथक् हैं । पर हम अपने पाठकों को सौम्य पद्मासन से बैठने की अनुमति देंगे । सीधे साधे तरीके से जैसे भोजन करते समय पालथी मार कर बैठते हैं जिसमें किसी अंग विशेष पर तनाव या दबाव नहीं पड़ता, जिस पर बैठने में किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता उसे सौम्य पद्मासन कहते हैं । प्रायः यही आसन सर्व साधारण के लिए उपयोगी होता है । अन्य कष्टकारक प्रयत्न साध्य, पद्मासन विशेष प्रयोजनों के लिए, खासतौर से हठयोग के लिए हैं ।

भूमि को झाड़ बुहार कर उस पर जल छिड़कें, कुश का या अन्य किसी प्रकार की घास का आसन विछावें, उस पर सौम्य पद्मासन से पूर्व को मुख करके बैठें । मेरुदंड को सीधा रखें । हाथों को गोदी में रख लें अथवा उन्हें फैलाकर दोनों घुटनों पर रख लें । नेत्र अधखुले-ध्यान मुद्रा में हों, और चित्त में शान्ति तथा स्थिरता रहे । इस प्रकार ब्राह्म मुहूर्त में किया हुआ संध्यावन्दन सब प्रकार सफल होता है ।

साधन काल के विक्षेप

कार्यतो यदि चोत्तिष्ठेन्मध्य एव ततः पुनः ।
जल प्रक्षालनं कृत्त्वा शुद्धै रंगैरूपाविशेत् ।।

(यदि च) और यदि (कार्यतः) किसी काम से (मध्ये एव) बीच में ही (उत्तिष्टेत्) उठना पड़े (ततः) तो (पुनः) फिर (जल प्रक्षालनं कृत्वा) पानी से प्रक्षालन करके (शुद्धैः) शुद्ध (अंगैः) अंगों को करके (उपाविशेत्) बैठे ।

कई बार साधना के समय, कारण वश बीच में ही उठना पड़ता है । मल,मूत्र, कफ, नाक आदि की शुद्धि के लिए कभी-कभी बीच में उठने की आवश्यकता होती है । कुत्ते, बिल्ली, बन्दर आदि का उपद्रव, कोई वस्तु गिरना, जरूरी आदेश करना, भूली हुई वस्तु उठाना, किसी आगन्तुक को आसन देना आदि कार्यों के लिए जब कोई दूसरा व्यक्ति नहीं होता और वह अपने को ही करना होता है तो उठना आवश्यक हो जाता है । वैसे ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि जहाँ तक हो सके ऐसे अवसर न आवें या कम से कम आवें, पर यदि आवें ही तो उठने के पश्चात् पुनः ज्यों का त्यों ही न बैठ जाना चाहिए, वरन् शुद्ध जल से हाथ पांव तथा मुख धोकर आचमन करके तब आसन पर बैठना चाहिए ।

बीच में विक्षेप आ जाने से चलता हुआ साधना प्रवाह टूट जाता है । इस अवरोध से उसी प्रकार नियम क्रम में गड़बड़ पड़ जाती है, जैसे पकती हुई देगची के नीचे की आग बुझ जाने से दाल ठंडी हो जाय और फिर दुबारा लकड़ी जलाकर उसे पकाया जाय । कुम्हार का 'अवा' पकने के लिए लगातार आग चाहता है, पर आधा पक कर वह ठंडा हो जाय और फिर दुबारा आग जलानी पड़े तो उसमें कुछ न कुछ दोष ही रह जाता है । इस गड़बड़ी को सुधारने के लिए कुछ विशेष प्रयत्न करने की आवश्यकता पड़ती है । सूत कातते समय तागा टूट जाय तो टूटे हुए स्थान को एक विशेष प्रकार से ऐंठ कर दोनों सिरे जोड़े जाते हैं, टूटे हुए लोहे को जोड़ने

के लिए उसका विशेष संस्कार करना पड़ता है, आग में तपा कर पीटना पड़ता है तब वह टुकड़े जुड़ते हैं। साधना की शृंखला टूटने पर भी एक विशेष संस्कार की आवश्यकता होती है, जिसे जल प्रक्षालन कहते हैं। जल शुद्धि से अवसाद चला जाता है और उत्साह आता है। उचटा हुआ मन जल शुद्धि से पुनः शान्त एवं शीतल होकर अपने काम में लगता है और टुटी हुई साधना शृंखला पुनः जुड़ जाती है।

यदि वा साधना कालेऽनध्यायः स्यात्प्रमादतः।
तदा प्रायश्चितं नूनं कार्य मन्येद्युरेव हि।
प्रायश्चितं समाख्यातं तस्मै सद्भिर्मनीषिभिः।
दिन स्यैकस्य गायत्री मंत्रणामधिकं जपः ।।

(यदि वा) अगर (प्रमादतः) भूल के वश(साधना काले) साधना काल में (अनध्यायः स्यात्) अनध्याय हो जावे (तदा) तो (अन्येद्यु एवं) दूसरे ही दिन (नूनं) निश्चय से प्रायश्चित्य करे। (तस्मै) उसके लिए (सद्भिमनीषिभिः) सत्पुरुषों ने (एकस्य दिनस्य) एक दिन में (गायत्री मंत्राणां) गायत्री मंत्रों का (अधिक जपः) अधिक जप करना (प्रायश्चित्त) प्रायश्चित्त (समाख्यातं) कहा है।

कभी-कभी अपनी भूल से ऐसे हेतु उपस्थित हो जाते हैं जिनके कारण साधना की व्यवस्थित क्रिया प्रणाली में विक्षेप पड़ जाता है। रात्रि को कारण वश अधिक जागने में ऐसा हो सकता है कि प्रातःकाल देर तक सोते रहे और साधना का ब्राह्म मुहूर्त निकल जाय। कोई बीमारी उठ खड़ी होने, घर में कोई आकस्मिक घटना घटित हो जाने से तथा किसी प्रकार आपत्ति जनक परिस्थिति सामने आ जाने से साधना में विघ्न पड़ सकता है और कुछ समय के लिए साधन स्थगित करना पड़ सकता है। ऐसी दशा में यह नहीं समझ लेना चाहिए कि हमारा साधन खंडित हो गया।

यदि इच्छापूर्वक किसी विशेष लाभ के लिए साधना को स्थगित रखा हो तो प्रतिदिन जितना जप करते हैं उतना एक दिन का जप प्रायश्चित्य स्वरूप, जुर्माने में करना चाहिए और उसे साधना पूर्ति की जप संख्या में नहीं गिनना चाहिए। कभी-कभी कई दिन तक साधना बन्द रखने की स्थिति सामने आ सकती है।

ऐसी आकस्मिक स्थिति के कारण साधना में पड़े हुए विघ्न के लिए शास्त्रकारों ने एक प्रायश्चित्य बताया है वह यह कि एक दिन की छुट्टी के लिए एक हजार मंत्र अधिक जप करने चाहिए। यह एक प्रकार का जुर्माना है जो मूलधन में शुमार नहीं होता। जैसे किसी व्यक्ति ने दो दिन साधना बंद रखी तो उसे दो हजार मंत्र-नियत योजना क्रम के अतिरिक्त जपने होंगे। जहाँ तक हो सके ऐसे अवसर कम से कम आने देने चाहिए। क्योंकि टूटी हुई रस्सी को चाहे कितनी ही सावधानी और चतुरता से जोड़ दिया जाय तो भी वहाँ गांठ तो रह ही जाती है।

जनन और मृत्यु के सूतक हो जाने पर शुद्धि न हो जाने तक जप को स्थगित रखना पड़ता है। यह दैवी कारण होने से इसमें मनुष्य का कोई दोष नहीं है। सूतक के दिनों में अविधि पूर्वक मौन जप का क्रम तो चालू रखना चाहिए। पर व्यवस्थित क्रम बन्द रखना चाहिए। सूतक काल के दिन समाप्त होने पर जिस संख्या पर जप को विश्राम दिया था वहाँ से आगे आरम्भ कर देना चाहिये।

यदावस्थासु स्याल्लोके विपन्नासु तदातुसः।
मौनं मानसिकं चैव गायत्री जप माचरेत् ।।

(यदा सः) जब वह (लोके) संसार में (विपन्नासु) विपन्न (अवस्थासु) अवस्थाओं में (स्यात्) हो (तदा) तब वह (मौनं) मौन (मानसिकं) मानसिक (गायत्री जपं) गायत्री जप (आचरेत्) करे।

कई बार ऐसे अवसर आते हैं जब मनुष्य को अपवित्र स्थिति में रहना पड़ता है। स्वयं रोगी हो जाने पर स्नान, शौच आदि की समुचित व्यवस्था नहीं हो पाती। कई बार किसी दूसरे रोगी या विपत्ति ग्रस्त सेवा में रहने के कारण शुद्धि का प्रबन्ध नहीं हो सकता। ऐसी दशा में शुद्ध होकर की जाने वाली गायत्री साधना किस प्रकार हो ? यह प्रश्न उपस्थित होता है।

शास्त्रकारों ने ऐसी विपन्न अवस्थाओं के लिए यह उपाय बताया है कि उस समय मौन होकर जप करें। अर्थात् केवल मानसिक जप करें, अन्य किसी उपादान का प्रयोग न करें।

सामान्य त्रुटिभ्यस्तु प्रायश्चित्तं समादिशत्।
सहस्राणां हि गायत्री मंत्राणामधिकं जपः ।।

(सामान्य त्रुटिभ्यस्तु) साधारण भूलों के लिए (सहस्राणां गायत्री मंत्राणां) एक सहस्र गायत्री मंत्रों का (अधिकं) अधिक (जपः) जप करना (प्रायश्चितं) प्रायश्चित्त (समादिशत्) कहा है।

साधन के समय बोल जाना, अशुद्ध गुप्त अंगों का स्पर्श करक लेना, नींद की झपकी ले जाना, छींक आदि असावधानी से लेकर पूजा सामिग्री को अशुद्ध कर देना आदि आकस्मिक भूलों के लिए प्रायश्चित्त स्वरूप एक हजार मंत्र जपने चाहिए !

साधारण नित्य कर्म

शुद्धं परिधानंमाधाय शुद्धे वै वायु मण्डले ।
शुद्ध देहमनोभ्यां वै कार्यागायत्र्युपासना ।।

(शुद्धं) शुद्ध (परिधानं) वस्त्रों को (आधाय) धारण करके (शुद्धे वै) शुद्ध ही (वायु मण्डले) हवा में (शुद्ध देह मनोभ्यां) देह एवं मन को शुद्ध करके (गायत्र्युपासना कार्या) गायत्री की उपासना करनी चाहिए ।

एकवारं सकृन्मालाँ न्यूनतोन्यून माजपन् ।
धीमामंत्र शतं नित्यमष्टोत्तरं जपेत् ।।

(न्यूनतो न्यूनं) कम से कम (सकृत्) एक बार में (मालां) माला को (एक बारं) एक बार (आजपन्) जपता हुआ (धीमान्) बुद्धिमान पुरुष (नित्यं) नित्य प्रति (अष्टोत्तरं मंत्र शतं) एक सौ आठ मंत्रों का (जपेत्) जप करें ।

आत्मा में पवित्रता उत्पन्न करने के लिए पवित्र वातावरण की आवश्यकता होती है । यह ठीक है कि व्यक्तियों से वातावरण बनता है पर यह भी ठीक है कि वातावरण व्यक्तियों को बनाता है । प्रबल मानसिक शक्ति रखने वाले व्यक्ति अपने आत्म तेज से निकटवर्ती वातावरण को अपने अनुकूल बनाते हैं, वे बुरे को भले में परिवर्तित कर देते हैं पर जिनकी आत्मशक्ति प्रचंड नहीं है वे वातावरण से प्रभावित होते हैं, परिस्थितियाँ उन्हें अपनी ओर खींच ले जाती हैं । साधारण लोग परिस्थितियों से, वातावरण से प्रभावित होकर अपनी पूर्व गति विधि को बदल कर नया रवैया, अख्तियार कर लेते हैं । सत्संग और कुसंग के प्रभाव से मनुष्यों का कुछ से कुछ बन जाना प्रसिद्ध है ।

कि साधक प्रारम्भिक अवस्था में होता है, उस पर वातावरण का प्रभाव पड़ता है । इसलिए यह आवश्यक है कि आत्मिक पवित्रता की स्थापना के लिए वातावरण को पवित्र बनाया जाय । मैले कुचेले, गन्दे, जुएँ आदि से भरे गन्दे वस्त्र शरीर पर लदे हों तो शरीर को स्वच्छ सांस लेने का अवसर नहीं मिलता । यह ध्यान में रखते हुए साधना काल में कम से कम वस्त्र धारण करने चाहिए । ऋतु प्रभाव से शरीर रक्षा के लिए जो वस्त्र आवश्यक हों, उन्हें पहनते हुए यह देख लेना चाहिए कि वे धुले हुए, धूप में सुखाये हुए हों । अच्छा तो यह है कि साधना के लिए एक दो वस्त्र अलग ही रखे जाय । यदि ऐसा न हो सके तो स्नान के साथ मैले कपड़े भी धो डालने चाहिए और दूसरे दिन पहले दिन धोये हुए कपड़े पहनने चाहिए इस क्रम का नित्य व्यवहार करने से नित्य धुले कपड़े मिल सकते हैं । यदि साधना के वस्त्र अलग रखे जायँ तो उनमें सात्विक वातावरण भरा रहता है और वह साधना में सहायक होता है, ऐसे वस्त्र यदि नित्य न धोये जावें तो भी उन्हें धूप अवश्य लगा लेनी चाहिए । विदेशी चर्बी की माँडी लगे हुए, चमड़े आदि से युक्त वस्त्रों का उपयोग न करके ख़ादी के या स्वदेशी कपड़ों का प्रयोग करना चाहिए ।

साधना के लिए ऐसे शुद्ध स्थान की आवश्यकता है जहाँ अनरुद्ध स्वच्छ वायु का आवागमन भली प्रकार होता है, जहाँ सूर्य की किरणें निर्बाध रूप में पहुंचती हैं । शास्त्रकारों ने कहा है कि जहाँ सविता और मरुत देव का आवागमन नहीं होता वहाँ यातुधान (राक्षस) रहते हैं । राक्षसों के घर में, उनके समूह के बीच बैठकर किसी सतोगुणी साधना का सफल होना कठिन है । इसलिए ऐसा स्थान चुनना चाहिए जो प्रकाश एवं वायु के लिए खुला हुआ हो, साथ ही एकान्त भी हो । कोलाहल, धूल, धुआँ, यातायात की जहाँ भरमार है वहाँ चित्त एक स्थान पर नहीं जमता बार बार उचट जाता है । इसलिए उपयुक्त स्थान तलाश करना चाहिए । बहुत बड़े, घनी आबादी के शहरों में ऐसे एकान्त स्थानों की प्रायः कमी होती है, ऐसी दशा में जो स्थान उपलब्ध हो उसमें से जो भाग अधिकतम स्वच्छ और एकान्त हो उसे चुना जा सकता है ।

शरीर की शुद्धि आवश्यक है । साधारणतया स्नान आवश्यक है । भारत जैसे उष्ण प्रदेश में पसीने का स्राव अधिक मात्रा में रहने के कारण, ऊष्मा बढ़ी रहने के कारण, स्नान को हर धार्मिक कार्य के लिए अनिवार्य माना गया है । गायत्री साधना भी आमतौर से स्नान करने के उपरान्त ही की जाती है पर कभी कोई असाधारण अड़चन सामने आ जाय तो उसके लिए अपवाद भी रखा गया है । बीमारी, ऋतु में असाधारण परिवर्तन, अत्यधिक शीत, यात्रा तथा आपत्ति में यदि पूर्ण स्नान सम्भव न हो तो दसों इन्द्रियों को, मल द्वारों को, स्नान

कराके नित्यकर्म की साधना की जा सकती है । हाथ पांव, मुँह तथा मल मूत्रेन्द्रियों को भली प्रकार धो लेने से काम चलाऊ शारीरिक शुद्धि हो जाती है ।

मन की शुद्धि के लिए : (१) चित्त की एकाग्रता (२) संसारिक झंझटों का विस्मरण, (३) साधना में तन्मयता, (४) भावनाओं में सात्विकता तथा शान्ति, इन चार बातों की आवश्यकता होती है इन चार उपचारों से मन शुद्ध होता है । इस स्थिति को लाने के लिए 'शिथलीकरण मुद्रा' करनी चाहिए । उसकी विधि इस प्रकार है–

शान्त चित्त से मेरुदंड को सीधा रखकर पद्मासन से अथवा पालती मार कर बैठ जाइए । हाथों को समेट कर गोदी में या फैलाकर दोनों घुटनों पर रख लीजिए । नेत्र बन्द कर लीजिए । अब ऐसा ध्यान कीजिए कि "मेरा शरीर बिलकुल ढीला तथा शिथिल है, हाथ-पांव आदि अंग निर्जीव, निश्चेष्ट जैसे हो गए हैं । मेरे चारों ओर नीलवर्ण सतोगुणी अनन्त आकाश फैला हुआ है और उसमें मैं, एकमात्र मैं, आनन्द निमग्न होकर कल्लोल कर रहा हूँ ।" इस ध्यान से चित्त का एक स्नान हो जाता है और उसमें तुरन्त शांति तथा एकाग्रता की स्थापना होती है । इस प्रकार वस्त्र, स्थान, शरीर और मन की चतुर्विधि शुद्धि कर लेने से साधना के योग्य पवित्र वातावरण बन जाता है । वस्त्रों से कीड़े, चींटी, धूल आदि झाड़ कर पहनना चाहिए, भूमि पर बुहारी लगाकर पानी छिड़क कर आसन बिछाकर बैठना चाहिए, शरीर को सीधा और स्वस्थ रखना चाहिए तथा मन को प्रफुल्ल, श्रद्धान्वित करके साधना में लगाना चाहिए । इस प्रकार आरम्भ करने से आगे का मार्ग बहुत ही सरल हो जाता है ।

साधना के अनेकों विधान हैं, उनमें से जिसे अपने उपयुक्त जो ठीक जँचे उसे वह अपना सकता है और उनके आधार पर बहुमूल्य लाभों को प्राप्त कर सकता है । पर कम से कम इतना तो हर व्यक्ति को करना ही चाहिए कि नित्य एक माला पूरी करके १०८ मंत्र जप लें । माला में एक सौ आठ दाने होने का कारण चौवन मांत्रिकाओं का उभयपक्षीक्रम है । अ से लेकर ज्ञ तक ५२ अक्षर हैं एक ॐ दूसरा (ल) इस प्रकार ५४ अक्षर (मात्रिकाएँ) होती हैं । यह मात्रिकाएँ नाभि से आरम्भ होकर ओष्टों तक आती है, इनका एक बार चढ़ाव, दूसरी बार उतार होता है, दोनों बार में वे १०८ की एक माला बन जाती है ।

इसी आधार पर जप की माला में १०८ दाने रखने का विधान किया गया है । एक माला के १०८ मंत्र जपने से नाभि चक्र से लेकर जिब्हाग्र तक की १०८ सूक्ष्म तन्मात्राओं का प्रस्फुरण हो जाता है । अधिक जितना हो सके उतना उत्तम है पर नित्य कम से कम १०८ मंत्रों की एक माला का जप तो करना ही चाहिए ।

माला जप में हमारी सहायक होती है । प्रत्येक माला में १०८ दाने रखने का विधान है । इन्हीं पर सभी मन्त्रों का जाप किया जाता है । अंगिरा स्मृति में कहा गया है–

"बिना दर्भैश्च यत्कृत्यं यच्चदानं विनोदकम् ।
असंख्यया तु यज्जप्तं तत्सर्व निष्फलं भवेत् ।।"

अर्थात् बिना कुशा के जो सतत धर्मानुष्ठान और बिना जल संस्पर्श के जो दान तथा बिना माला संख्या ही जो जप किये जाते हैं, वे सब निष्फल होते हैं ।

माला की सहायता से जाप करने के कई प्रत्यक्ष लाभ हैं । इससे यह सरलता से ज्ञात हो जाता है कि हमने मन्त्रों के कितने जाप किये हैं । फिर अँगूठे और अँगुली के संघर्ष से एक विलक्षण विद्युत उत्पन्न होती है, जो धमनी के तार द्वारा सीधी हृदय-चक्र को प्रभावित कर मन को तुरन्त ही निश्चल कर देता है । माला के इन १०८ दानों का अपना विशुद्ध वैज्ञानिक रहस्य है ।

(१) प्रकृति–विज्ञान की दृष्टि से विश्व में प्रमुख रूप से कुल सत्ताईस नक्षत्रों को मान्यता दी गई है तथा प्रत्येक नक्षत्र के चार चरण ज्योतिष शास्त्र में प्रसिद्ध हैं । सत्ताईस को चार चरणों में गुणा करने पर एक सौ आठ संख्या होती है । अतः १०८ संख्या समस्त विश्व का प्रतिनिधित्त्व करने वाली सिद्ध होती है । ब्रह्माण्ड में सुमेरु (जो माला के दानों के अतिरिक्त ऊपरी भाग में पृथक् होता है) की स्थिति सर्वोपरि मानी गई है । अतः माला में भी सुमेरु का स्थान सर्वोपरि ही रखा जाता है तथा उसका उल्लंघन नहीं किया जाता ।

(२) दिन-रात में मनुष्य मात्र के श्वासों की संख्या इक्कीस हजार छः सौ वेद शास्त्रों में दी गई है–

षट् शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येक विंशतिः ।
एतत्संख्यात्मकं मन्त्र जीवो जपति सर्वदा ।।

–(चूड़ामणि उपनिषद् ३२/३३)

इस हिसाब से दिन भर के श्वाँस १०८०० हुए तथा रात भर के श्वाँसों की संख्या भी १०८०० ही

हुई । जप प्रमुख रूप से उपांशु किया जाता है, जिसका फल सामान्य रूप से सौ गुना बताया गया है । अतः प्रातः, सांय, संध्या में १०८-१०८ जप करने से १०८ १०० = १०८०० हुआ ।

(३) ज्योतिष शास्त्र में समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड को १२ भागों में विभाजित किया गया है । जिन्हें "राशि" संज्ञा प्रदान की गई है तथा प्रमुख रूप से ६ ग्रह माने गये हैं । अतः १२ राशि तथा ६ ग्रह का गुणनफल १०८ होता है ।

(४) सृष्टि का मूल है ब्रह्म, जो कि निर्गुण, निर्विकार, नित्य, सत्य एवं एकत्व युक्त है । उससे उत्पन्न अव्यक्त में इस गुण के अतिरिक्त आवरण शक्ति का प्राधान्य है, जिससे उसका स्वभाव दो प्रकार का हो ही जाता है । इससे आगे महत् है, जिसमें उपर्युक्त दो गुणों के अतिरिक्त विक्षेप शक्ति का समावेश भी है । फलतः वह त्रिगुणात्मक हुआ । अहंकार ब्रह्म का चतुर्थावकार है, जो तत्वों के आधिक्य और पूर्ववर्ती पदार्थ के तीन गुणों के भी धारण करने से चार गुणों वाला हुआ ।

इस प्रकार हिंदू संस्कृति में माला के १०८ दाने अपना-अपना पृथक् महत्त्व रखते हैं । सभी मन्त्रों का जाप इन्हीं पर करने का विधान है, जो विशुद्ध वैज्ञानिकता से परिपूर्ण है ।

माला की जरूरत है !

अक्सर यह कहा जाता है कि 'माला जपने की क्या जरूरत है ? मन से जप करना ही पर्याप्त है ।' यह ठीक है, कि जप का सीधा सम्बन्ध मन से ही है, यदि मन में जप की एकाग्र भावनाऐं न हों तो केवल माला के मनके सरकाना कुछ अर्थ नहीं रखता । सिर खुजाते रहना या ऐसा जप करते रहना, बराबर ही कहा जायगा ।

लेकिन जो लोग सच्चे मन से जप करना चाहते हैं, उनके लिए माला एक उपयोगी और आवश्यक साधन है ! घास खोदने वाला यदि चाहे तो अंगुलियों से भी घास उखाड़ता रह सकता है, पर उसे अपना काम सुव्यवस्थित, जल्दी और सुविधापूर्वक करना है तो हँसिया या खुरपी की सहायता लेनी पड़ेगी । ठीक इसी प्रकार माला की जरूरत है । सब कोई जानते हैं कि चित्त का स्वभाव चंचल है, स्वभावतः वह एक जगह पर नहीं टिकता । अभी यहाँ है तो अभी उड़कर कहीं दूसरी जगह चला जायगा । उसे एक जगह पर बराबर जोते रहने के लिए एक भौतिक प्रक्रिया की आवश्यकता है और वह प्रक्रिया माला के रूप में प्रयोग की जाती है । शरीर की बाह्य क्रियाओं पर मन का कुछ न कुछ भाग अवश्य लगा रहता है । जैसे चाकू से कलम बनावें तो उस समय मन किसी दूसरी कल्पना में जा सकता है, पर उसका अधिक भाग कलम बनाने की क्रिया में अवश्य उलझा रहेगा । इसी प्रकार केवल मन ही मन में जप करने पर चित्त दूसरी जगह उड़ जा सकता है । पर मुख से मन्त्र उच्चारण करने एवं हाथ से माला जपने की शक्ति न होने मन का कुछ न कुछ भाग भजन में जरूर उलझा रहेगा । पूर्ण अभ्यासियों को समाधि आनन्द लेते समय भले ही आरम्भिक साधकों के लिए तो माला जपना आवश्यक है ।

गायत्री जप का वैज्ञानिक रूप

भारतीय शास्त्रों में मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति के जो अनेक मार्ग बतलाये हैं, उनमें जप का बड़ा महत्त्व है । वैसे धर्म और पुण्य के हेतु अनेक प्रकार के साधन पाये जाते हैं, पर उनमें से अधिकांश ऐसे हैं कि जिनमें द्रव्य की कुछ न कुछ आवश्यकता पड़ती है । बड़े-बड़े यज्ञ, धार्मिक अनुष्ठान, तीर्थ-यात्रा, ब्रह्मभोज आदि सभी व्यय-साध्य होते हैं । ऐसे कार्यों में पुण्य के साथ ही मनुष्य के मन में द्रव्य का संयोग होने से कुछ विकार भी उत्पन्न होते हैं । वह स्वभावतः यह विचार करता है कि मैंने इस कार्य में इतना व्यय किया, इतना दान दिया, इतनी अन्य लोगों की भलाई की । इससे अहंकार की उत्पत्ति होनी स्वाभाविक होती है, जिससे कर्मों का बन्धन भी उत्पन्न होता है ।

पर जप का मार्ग इससे भिन्न है । उसमें मुख्यता आत्म-चिन्तन की ही होती है । उससे चित्त स्थिर और शुद्ध होकर आत्मा में उच्च भाव उत्पन्न होते हैं । यही कारण है कि गीता में भगवान ने स्वयं कहा है–"यज्ञानां जपयज्ञोस्मि"– अर्थात् "यज्ञों में जप-यज्ञ में हूँ ।" इसमें जप-यज्ञ को अन्य यज्ञों से श्रेष्ट बतलाया है इसका कारण यही है कि आध्यात्मिक उन्नति के लिये जिस चित्त-शुद्धि की परम आवश्यकता है, वह प्रधानता जप द्वारा ही प्राप्त होती है । इसमें विशेष द्रव्य या श्रम की भी आवश्यकता नहीं पड़ती केवल दृढ़ श्रद्धा और एक निष्ठा से निष्काम

उपासना करनी पड़ती है । इसलिये गरीब अमीर, शक्तिशाली और दुर्बल पंडित और सामान्य बुद्धि वाला सभी इसको कर सकते हैं । जो व्यक्ति सकाम भावना से कोई विशेष उद्देश्य सामने रखकर जप करते हैं उनको वैसे फल की प्राप्ति होती है और जो निष्काम भाव से करते हैं उनकी आत्म-शुद्धि होकर मोक्ष-मार्ग में प्रगति होती है ।

अब प्रश्न होता है कि यदि जप करना श्रेष्ठ है तो कौन सा जप किया जाय? अन्य धर्मों की बात छोड़ दें तो हिन्दू शास्त्रों में ही सैकड़ों प्रकार के मंत्रों के जप का विधान बतलाया गया है । इनमें अधिकांश मंत्र किसी एक देव या देवी से सम्बन्ध रखते हैं और उनके द्वारा प्रायः एक ही वस्तु की प्राप्ति होती है । ऐसे मन्त्रों का जप करने वालों का उद्देश्य प्रायः भौतिक या सांसारिक होता है । पर एक तो समस्त भौतिक पदार्थ नाशवान होते हैं, कुछ समय बाद उनका अन्त हो जाना अवश्यम्भावी है । दूसरे वे एक नियत सीमा के भीतर ही होते हैं, इसलिये अगर माँगने वालों की संख्या अधिक हो तो वे इच्छानुसार परिमाण में मिल सकने भी कठिन होते हैं ।

पर मनुष्य का वास्तविक हित तो आत्म-कल्याण में ही है । आत्मा सूक्ष्म है, इसलिये उस पर स्थूल पदार्थों के बजाय सूक्ष्म तत्वों का ही विशेष प्रभाव पड़ सकता है । इस बात को समझ कर भारतीय ऋषि-मुनियों ने हजारों वर्ष तक योगाभ्यास तथा तपश्चर्या द्वारा ऐसी विधि का आविष्कार किया है जिससे सांसारिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के उद्देश्यों की पूर्ति हो सके । इन विधियों में गायत्री जप सबसे अधिक लाभदायक और प्रभावशाली है । यह मन्त्र पूर्ण रूप से सार्थक है और समझदार जप करने वाला इसके अर्थ को ध्यान रखते हुये इच्छानुसार प्रगति कर सकता है । इस सम्बन्ध में एक विद्वान ने लिखा है–

"संसार में पापों के नाश और आत्मोद्धार के लिए गायत्री के जप और पुरश्चरण के समान अन्य कोई विधि नहीं है । गायत्री का जप, तीर्थ, व्रत, तप और दान से भी बढ़ कर है । इसलिए विशुद्ध और एकान्त स्थान में निवास करते हुये श्रद्धा भक्ति पूर्वक निष्काम भाव से अधिक से अधिक गायत्री का जप करना चाहिए गायत्री का जप यदि मानसिक किया जाय तो वह और-भी विशेष लाभप्रद है । श्री मनु महाराज कहते हैं ।

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ।।

अर्थात्–"दर्शपौर्ण मासादि विधि यज्ञों से साधारण जपयज्ञ दस गुना श्रेष्ठ है ।"

एवम् जो केवल भगवत्प्राप्ति के उद्देश्य से श्रद्धा प्रेम और निष्काम भाव पूर्वक किया जाय, उसका फल तो अनन्त गुना श्रेष्ठ है, उसकी तो कोई सीमा ही नहीं है । गायत्री मन्त्र में परमात्मा की स्तुति ध्यान और प्रार्थना है । इस प्रकार एक ही मन्त्र में उक्त तीनों बातों का समावेश बहुत ही कम मिलता है ।

विज्ञान की दृष्टि से भी गायत्री-जप मनुष्य के लिये बहुत हितकारी सिद्ध हुआ है । अब विज्ञान वेत्ता भी यह स्वीकार कर चुके हैं कि मनुष्य के दिमाग या बुद्धि का मूल स्रोत प्रकृति के सामूहिक दिमाग या मन में स्थित है जिससे हम 'इलेक्ट्रोन' के रूप में शक्ति प्राप्त करते रहते हैं । सर जेम्स ने इस सम्बन्ध में एक स्थान पर कहा है–

"समय के प्रवाह के साथ ज्ञान का प्रवाह अध्यात्मवाद की तरफ मुड़ता जाता है । अब हमको यह ब्रह्माण्ड एक बड़ी भारी मशीन के बजाय एक बड़ी भारी विचार (थाट) के रूप में दिखलाई पड़ता है । अब यह कल्पना मिटती जा रही है कि हमारा मन या विचार शक्ति भौतिक पदार्थ में अकस्मात उत्पन्न हो गई है । अब हम यह अनुमान करने लगे हैं कि पदार्थ का बनाने वाला और उसकी व्यवस्था चलाने वाला 'मन' ही होता है । इसका आशय यह नहीं कि मेरा 'मन' या तुम्हारा 'मन' इस कार्य को करता है । वरन् इसका अर्थ यह है कि प्रकृति में 'मन' नाम का जो तत्व है उसी के अणुओं से मेरा और तुम्हारा 'मन' उत्पन्न होता है ।"

इस प्रकृति में रहने वाले 'मन' का ही गायत्री मन्त्र में 'भर्ग' के रूप में वर्णन किया गया है और उसी का ध्यान करके सद्बुद्धि की कामना की जाती है । अगर हम इस ध्यान अथवा जप को विधिपूर्वक करें और अपने मन को विश्व-मन के साथ एकाग्र करने का प्रयत्न करें तो निस्सन्देह हम कल्याण-मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं ।

गायत्री के दैनिक जप का महत्त्व

मनुष्य मात्र के लिये स्वभावतः कुछ बातें परमावश्यक होती हैं । उनमें भोजन, वस्त्र, आवागमन आदि प्रधान हैं । इन सब कार्यों की पूर्ति हम, अपनी शारीरिक शक्ति द्वारा ही करते हैं और शक्ति का संचालन बुद्धि द्वारा होता है । इसलिये हमारी बुद्धि का सदैव विकास होता रहे और दुर्बुद्धि न बन कर सुबुद्धि ही बनी रहे इसके लिये हमको सदैव सचेष्ट रहना चाहिए । गायत्री की साधना इसके लिये सर्वश्रेष्ठ विधान है ।

हर प्राणी को सुख शान्ति का जीवन यापन करने के लिये नित्य नियमित प्रार्थना करनी अति आवश्यक और वांछनीय है । वैसे प्रार्थना का एक नियत समय व नियत स्थान होना उत्तम है, उससे साधना का फल शीघ्र और प्रभावयुक्त होता है, पर जिसका हृदय अपने इष्टदेव में पूर्णतः तल्लीन हो गया है वह किसी समय और कहीं भी प्रार्थना कर सकता है जैसा कि स्वयं विष्णु भगवान ने नारद से कहा था–

नाहं बसामि वैकुण्ठे योगिनाम् हृदयेच ।
मद्भक्ताः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारदा ।।

अर्थात् 'न मैं वैकुण्ठ में रहता हूँ न योगियों के हृदय में; मेरा वास वही है जहाँ मेरे भक्त मेरा गुणगान करते हैं ।"

वर्तमान समय के अधिकांश शिक्षित तो नहीं किन्तु साक्षर व्यक्ति पाश्चात्य सभ्यता के वशीभूत होकर प्रमादी बन गये हैं । वे 'कालहि, कर्महि, ईश्वरहिं, मिथ्या दोष लगाय' वाली उक्ति के अनुसार गुण-कीर्तन, प्रार्थना आदि से विमुख होकर 'आत्म चिन्तन' का दावा करते हैं, उनका यह कथन पंगु द्वारा गिरि लाँघने के समान ही हास्यास्पद है । आत्मचिन्तन का लक्ष्य तो सर्वश्रेष्ठ है, पर उसे जवानी जमाखर्च द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता । नाम गुण कीर्तन, प्रार्थना आदि इसी ब्रह्मज्ञान की सीढ़ियों की तरह हैं । इनके द्वारा ही साधारण मनुष्यों की आत्मशुद्धि हो सकती है और क्रमशः वे आत्मचिन्तन के अधिकारी बन सकते हैं ।

आज द्वेष, कलह का सर्वत्र राज्य है । सहोदर भाई, पिता-पुत्र, यहाँ तक कि अनेकों पति-पत्नी तक का संयुक्त जीवन सुखद नहीं जान पड़ता । कारण है अपने-अपने कर्तव्य से च्युत होना । वैसे तो इतिहास के सभी युगों में मानव-समाज में कोई न कोई त्रुटियाँ रही हैं, जिनके कारण उनको संकट सहन करने पड़े हैं पर वर्तमान समय में तो मनुष्यों के स्वार्थ युक्त संघर्ष की अवस्था एण्क असाध्य रोग की तरह हो गई है । इस विपन्नावस्था से छुटकारा पाने के लिये कोई विशेष औषधि ही काम दे सकती है और हमारे मतानुसार वह औषधि केवल गायत्री जप ही हो सकता है । उससे मनुष्यों की बुद्धि शुद्ध होकर उनको जीवन-लक्ष्य की सच्ची राह दिखाई पड़ने लगेगी ।

सर्व-सिद्धि दात्री, सर्व कष्ट भंजन, वेद जननी, परम पवित्र गायत्री की गुण गरिमा को अंकित करना सूर्य को दीपक दिखाना है । गायत्री की महिमा भारतीय समाज में अति प्राचीन युगों से भली प्रकार विदित है । पर आज भौतिकता की बाढ़ ने, आसुरी भावों की बुद्धि ने अधिकांश लोगों को उससे विमुख कर दिया है । अब अगर हम आत्म कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होकर अपना उत्थान करना चाहते हैं तो हमको नित्य प्रति गायत्री माता का जप और उसके अर्थ का चिन्तन करना एक मात्र उपाय है । हमको चाहिए कि विश्व-कल्याण के सर्वोच्च लक्ष्य तक न पहुँच सकें तो कम से कम अपने तुच्छ स्वार्थ-भाव से मुक्ति पाने के लिये ही कम से कम १०८ बार या यथासम्भव जितना भी अधिक हो सके अपनी परम हितदात्री माता गायत्री का जप करना अपना परम कर्तव्य समझें ।

गायत्री-साधना की सफलता

वेदमाता गायत्री की उपासना का सबसे बड़ा लाभ अज्ञानता का नाश होकर सद्बुद्धि का उदय होना है और यही मानव जीवन का प्रधान कार्य है । इसी प्रकाश को प्राप्त करने के लिए यह देव दुर्लभ शरीर हमको दिया गया है । गायत्री तपोभूमि ने अपने प्रचार-कार्य द्वारा इस महालाभ को प्राप्त करने का मार्ग मनुष्य मात्र के लिये प्रशस्त कर दिया है और लाखों सौभाग्यशाली निस्सन्देह उससे अपनी हित-साधना कर रहे हैं ।

ये उपासना करने वाले भिन्न-भिन्न भावों को लेकर उपासना कर रहे हैं और उसी प्रकार उन्हें सफलता मिल रही है, ऐसा हमको उनके पत्रों, अनुभवों तथा व्यक्तिगत सम्पर्क से प्रतीत होता है । पर कुछ सज्जन ऐसे भी हैं जो २–३ वर्ष तक साधना करने के बाद भी निराशा

का भाव प्रकट करते हैं । ऐसे व्यक्तियों के लिये हम इस लेख में गायत्री-साधना के सम्बन्ध में कुछ ऐसे संकेत देना चाहते हैं जिनसे साधना की सफलता में सहायता प्राप्त हो सकती है ।

साधना का उद्देश्य-प्रत्येक कार्य को करने से पहले उसका उद्देश्य निश्चित कर लेना होता है । बिना उद्देश्य के कार्य करना पागलपन है अथवा अज्ञान का चिह्न है । इसलिए हमारी साधना का कोई उद्देश्य अवश्य होना चाहिए । गायत्री परिवार ने अपने सदस्यों के लिये एक ऐसा उद्देश्य निश्चित किया है जिसे दृष्टिगोचर रख कर साधना करने से निराशा का प्रश्न ही नहीं उठ सकता । वह उद्देश्य यही है कि साधक में इस प्रकार का आत्म-भाव और तेज व्याप्त हो कि वह अपने आस-पास के अन्य व्यक्तियों को भी गायत्री उपासक बना सके । हमें संतोष है कि हमारा यह लक्ष्य अधिकांश में पूरा हो रहा है और जिस घर या मोहल्ले में एक व्यक्ति उपासना करने लगता है तो कुछ समय में उसकी पत्नी, बच्चा, भाई बन्धु, पड़ोसी भी क्रमशः इस ओर आकर्षित होते जाते हैं । जिस प्रकार कोई पेड़ समय आने पर फल देने लगता है उसी प्रकार गायत्री उपासना में हार्दिक अनुराग उत्पन्न हो जाने से उसके संसर्ग से अन्य उपासक भी स्वतः तैयार होने लगते हैं । इसलिए जो व्यक्ति इस उद्देश्य को सामने रखकर साधना करेगा तो वह सफलता का अनुभव अवश्य करता रहेगा । इसके साथ-साथ उसके व्यक्तिगत उद्देश्य तो स्वयं पूरे होते रहेंगे । व्यायाम करने का मुख्य उद्देश्य शरीर को मजबूत बनाना होता है, फिर स्फूर्ति, पाचन शक्ति, चेहरे पर तेज आदि बातें तो साथ-साथ स्वतः उत्पन्न हो जाती हैं ।

साधना में नियमितता-सफलता प्राप्त करने का दूसरा नियम साधना में नियमितता का ध्यान रखना है, प्रातः सूर्योदय से पहले निश्चित समय पर अपनी साधना के लिये आसन पर बैठ जाना चाहिए तथा संकल्पित माला पूरी करके उठना चाहिए । किसी विशेष कारणवश बीच में उठना पड़े, तो प्रायश्चित्त की माला अलग फेरना आवश्यक है । कम या अधिक संख्या में, अनियमित समय पर जप करने से उसकी उत्तमता नष्ट हो जाती है और वह शीघ्र अपना प्रभाव प्रकट नहीं कर पाता ।

गायत्री साधना और स्वाध्याय-कई साधक केवल माला फेरना ही पर्याप्त समझते हैं । उनको चाहिए कि जिस महामंत्र की वे साधना कर रहे हैं उसके महत्त्व और विशेषताओं को जानने के लिये नियमित रूप से थोड़ा समय स्वाध्याय में भी लगाते रहें । जिस पथ-प्रदर्शक के निरीक्षण में वे साधना कर रहे हैं, उसके द्वारा रचित सभी गायत्री ग्रंथों का पढ़ना व उन पर मनन करना भी नितान्त आवश्यक है । उन्हें संकल्प कर लेना चाहिए कि बिना जप किये भोजन नहीं करेंगे और स्वाध्याय किये बिना शयन नहीं करेंगे । इन ग्रन्थों की बातों पर चलते-फिरते, उठते-बैठते विचार करना चाहिए और उनको जीवन के व्यवहारिक कार्यों में प्रयोग करने का अभ्यास करना चाहिए ।

गायत्री-साधना और दान-गायत्री-साधना में केवल जप व पारायण करते हुये भी यदि साधक में कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती तो उसका कारण साधना के साथ दान अथवा त्याग का अभाव होता है । प्रकृति का नियम है कि प्राणी को ग्रहण करने के बाद कुछ त्याग भी करना चाहिए, अन्यथा उसकी शक्तियाँ मन्द पड़ी रहेंगी । इसलिए गायत्री-साधना में सफलता प्राप्त करने के लिये अपने भीतर पाई जाने वाली त्रुटियों, व्यसनों का निरन्तर त्याग करते रहना चाहिए । यह कार्य यदि नित्य प्रति न हो सके तो साप्ताहिक सत्संग, सामूहिक हवन, तीर्थयात्रा, महापुरुषों और महात्माओं से भेंट होने के अवसर पर तो करना ही चाहिए । ऐसा त्याग करने से तुरन्त उस त्याग के बदले का गुण प्राप्त होता रहेगा । जैसे बिना पैसे के बाजार से सामान नहीं मिलता वैसे ही बिना व्यसनों और दोषों के त्याग किये साधना के दिव्य गुण प्राप्त नहीं हो सकते । इस त्याग का कुछ अभ्यास भौतिक सम्पत्ति के दान से भी होता है । साधक को साधना से उठते ही अपने जेब से गायत्री माता के महत्त्व को बढ़ाने तथा उसकी प्रतिष्ठा को अन्य लोगों के मनःक्षेत्र तक पहुँचाने के कार्यक्रम में सहयोग देने के निमित्त कम से कम १ नया पैसे एक अलग डिब्बे में रख देना चाहिए । इसी प्रकार माताएँ भी भोजन पकाने से पूर्व कम से कम एक मुट्ठी आटा और जरा सा घी गायत्री प्रचार के कार्य के लिये निकाल कर रख दें । घर के बालकों के हाथ खर्च में से भी इसके लिये कभी-कभी एकाध पैसा दान कराके उन्हें दान का महत्त्व समझाया जा सकता है ।

घर में एकत्रित इस फण्ड का उपयोग गायत्री चालीसा, माला, चित्र आदि बांटने अथवा गायत्री ज्ञान-मन्दिर की घर में स्थापना करने के लिये किया जा सकता है ।

गायत्री साधना में तप-साधना में उपरोक्त बातों का पालन करने के साथ-साथ यदि तप का योग और कर दिया जाय तो उसमें चार चाँद लग गये, ऐसा समझना चाहिए । तप का सही अर्थ है दूसरों के लिये कष्ट-सहन करना । गायत्री साधना में तप यही है कि गायत्री माता की प्रतिष्ठा जन-जन के मन में स्थापित करने के लिये अपने तन, मन और धन का कुछ अंश नियमित रूप से लगाना । इस युग-निर्माण की योजना में योग देने के लिये, इस परिवार के संगठन को मजबूत करने के लिए जो जितनी अधिक निन्दा, विरोध को सहन कर रहा है, सरदी, गरमी, बरसाात की प्रतिकूलताओं का ध्यान न करके गायत्री-प्रचार के कार्य में श्रम कर रहा है । वही तपस्वी वेदमाता का सपूत, श्रवण कुमार कहला सकता है ।

इन समस्त नियमों और साधन विधियों का मूल तत्व यही है कि गायत्री-भक्त अपने विचारों मनोभावों और दैनिक व्यवहार में स्वार्थ-भाव का त्याग करते हुए परमार्थ को प्रधानता देने की चेष्टा करें । यह सत्य है कि तर्क की दृष्टि से देखा जाय तो श्रेष्ठ से श्रेष्ठ त्याग और तप में भी पुण्य अथवा मुक्त रूपी स्वार्थ का समावेश जान पड़ता है, और अनेक लोग ऐसी बात कहा भी करते हैं । पर सचाई और स्वाभाविकता को तर्क तथा प्रमाणों की आवश्यकता नहीं होती । जो व्यक्ति स्वभावतः निःस्वार्थ भाव से धर्म कार्य करेगा और लोक परलोक में अपने न्याययुक्त अधिकार के सिवा और किसी विशेष लाभ की इच्छा न रखेगा वह निस्सन्देह आत्म सुख और आत्म-सन्तोष को प्राप्त कर सकेगा । वैसे इस प्रकार का कार्य करना कुछ कठिन जान पड़ता है, पर जो व्यक्ति अपनी साधना को सामूहिक रूप से करता है उसके लिए परमार्थ का मार्ग विशेष सुविधा जनक बन जाता है । इसलिए जहाँ आप उपर्युक्त नियम का पालन करें वहाँ सर्वप्रथम सामूहिकता के भाव को भी अपनावें । किसी व्यक्तिगत उद्देश्य को पूरा करने के लिये कोई खास अनुष्ठान करने से तो स्वार्थ का भाव स्पष्टता सामने रहता है और उस दशा में आत्मोन्नति की अधिक आशा रखना कठिन ही है । उस समय तो जैसी हमारी श्रद्धा विश्वास तन्मयता होगी वैसा ही फल हम पायेंगे । पर जब हम जप, अनुष्ठान, हवन आदि को सामूहिक रूप से सबके साथ बैठ कर करते हैं, तब हमें अपने विशेष लाभ का ख्याल छोड़ देना पड़ता है और सब के बराबर फल को ही हम प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेते हैं । जिस प्रकार एक टीम बनाकर खेलने से मैच में जीत होने पर सभी को बराबर पुरस्कार मिलता है, उसी प्रकार अपने व्यक्तिगत सिद्धि के उद्देश्य को त्याग कर सामूहिकता के मार्ग को अपनाने से सब का लाभ ही होता है ।

इस प्रकार गायत्री साधना में नियमित जप के साथ नियमित स्वाध्याय, त्याग और तप करने वाला व्यक्ति गायत्री माता से वह शक्ति प्राप्त कर लेता है जिसके द्वारा कठिन से कठिन कार्य भी सिद्ध किया जा सकता है । उपासक गण अगर इन नियमों का पालन करते हुए साधना करेंगे तो कुछ ही समय में उनको साधना की सफलता का अनुभव होने लगेगा ।

साधकों के लिए कुछ आवश्यक नियम—

गायत्री-साधना करने वालों के लिये कुछ आवश्यक जानकारियाँ नीचे दी जाती हैं—

१. शरीर को शुद्ध करके साधना पर बैठना चाहिए, साधारणतः स्नान द्वारा ही शरीर की शुद्धि होती है । पर किसी विशेषता, ऋतु प्रतिकूलता या अस्वस्थता की दशा में हाथ-मुँह धोकर या गीले कपड़े से शरीर पोंछकर भी काम चलाया जा सकता है ।

२. साधना के समय शरीर पर कम से कम वस्त्र रहना चाहिए । शीत की अधिकता हो तो कसे हुए कपड़े पहनने की अपेक्षा कम्बल आदि ओढ़कर शीत-निवारण कर लेना उत्तम है ।

३. साधना के लिए एकान्त, खुली हवा की ऐसी जगह ढूँढ़नी चाहिए जहाँ का वातावरण शान्तिमय हो । खेत, बगीचा, जलाशय का किनारा, देव मन्दिर इस कार्य के लिए उपयुक्त होते हैं पर जहाँ ऐसा स्थान मिलने में असुविधा हो वहाँ घर का कोई स्वच्छ और शान्त भाग भी चुना जा सकता है ।

४. धुला हुआ वस्त्र पहन कर साधना करना उचित है ।

५. पालती मारकर सीधे साधे ढंग से बैठना चाहिए । कष्टसाध्य आसन लगाकर बैठने से शरीर को कष्ट होता है और मन बार-बार उचटता है इसलिए ऐसी

तरह बैठना चाहिए कि देर तक बैठने में असुविधा न हो ।

६. रीढ़ की हडडी को सदा सीधा रखना चाहिए । कमर झुकाकर बैठने से मेरुदण्ड टेढ़ा हो जाता है और सुषुम्ना नाड़ी में प्राण का आवागमन होने में बाधा पड़ती है ।

७. बिना बिछाये जमीन पर साधना करने के लिये न बैठना चाहिए । इससे साधना-काल में उत्पन्न होने वाली शारीरिक विद्युत जमीन में उतर जाती है । घास या पत्तों से बने हुए आसन सर्वश्रेष्ठ हैं । कुशा का आसन, चटाई, रस्सियों का बना हुआ फर्श सबसे अच्छा है । इसके बाद सूती आसनों का नम्बर है । ऊन के तथा चर्म के आसन तांत्रिक कार्यों में प्रयुक्त होते हैं ।

८. माला तुलसी या चन्दन की लेनी चाहिए । रुद्राक्ष, लाल चन्दन, शंख, मोती आदि की माला गायत्री के तांत्रिक प्रयोगों में प्रयुक्त होती है ।

९. प्रातःकाल दो घण्टे तड़के जप प्रारम्भ किया जा सकता है । सूर्य अस्त होने के एक घण्टे बाद तक जप समाप्त कर लेना चाहिए । १ घण्टा शाम को, २ घण्टा सवेरे कुल तीन घण्टों को छोड़कर रात्रि के अन्य भागों में गायत्री की दक्षिण मार्गी साधना करनी नहीं चाहिए । तान्त्रिक साधनाऐं अर्धरात्रि के आस-पास की जा सकती हैं ।

१०. साधना के लिये पाँच बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए–(अ) चित्त एकाग्र रहे, इधर-उधर न उछलता फिरे । यदि चित्त बहुत दौड़े तो उसे माता की सुन्दर छवि के ध्यान में लगाना चाहिए । (ब) माता के प्रति अगाध श्रद्धा और विश्वास हो ।अविश्वासी और शंका शंकित मति वाले पूरा लाभ नहीं पा सकते । (स) दृढ़ता के साथ साधना पर अड़ा रहना चाहिए । अनुत्साह, मन उचटना, नीरसता प्रतीत होना, जल्दी लाभ न मिलना, अस्वस्थता तथा अन्य सांसारिक कठिनाइयों का मार्ग में आना साधना के विघ्न हैं । इन विघ्नों से लड़ते हुये अपने मार्ग पर दृढ़तापूर्वक बढ़ते जाना चाहिए । (द) निरन्तरता साधना का मुख्य नियम है । अत्यन्त आवश्यक कार्य होने या विषम स्थिति आने पर भी किसी न किसी रूप में चलते-फिरते भी सही, पर माता की उपासना अवश्य करनी चाहिए । किसी भी दिन नागा या भूल न करनी चाहिए । (य) समय को रोज-रोज न बदलना चाहिए । कभी सबेरे, कभी दोपहर, कभी तीन बजे तो कभी दस बजे, ऐसी अनियमितता ठीक नहीं । इन पाँचों नियमों के साथ की गई साधना बड़ी प्रभावशाली होती है ।

११. कम से कम एक माला अर्थात् १०८ मन्त्र नित्य अवश्य जपने चाहिए, इससे अधिक जितने बन पड़े उतने उत्तम हैं ।

१२. प्रातःकाल की साधना के लिये पूर्व को मुँह करके बैठना चाहिए । और शाम को पश्चिम को मुँह करके । प्रकाश की ओर, सूर्य की ओर, मुंह उचित है ।

१३. पूजा के लिए फूल न मिलने पर चावल या नारियल की गिरी को कद्दूकस पर कसकर उसके बारीक पत्रों को काम में लाना चाहिए । यदि किसी विधान में रंगीन पुष्पों की आवश्यकता हो तो चावल या गिरी के पत्रों को केशर, हल्दी, गेरू, मेंहदी के देशी रंगों से रंगा जा सकता है । विदेशी अशुद्ध चीजों से बने रंग काम में नहीं लेने चाहिए ।

१४. मन्त्र जप इस प्रकार करना चाहिए जिसमें कण्ठ, होठ, जिह्वा तो चलते रहें, पर उच्चारण इतना मन्द हो कि पास में बैठा हुआ व्यक्ति भी उसे ठीक तरह न सुन सके ।

१५. पूजा के समय कलश रूप में जल-पात्र रखना चाहिए और अग्नि की साक्षी के लिए दीपक या धूपबत्ती जला लेनी चाहिए । इस प्रकार अग्नि और जल की साक्षी में किया हुआ जप अधिक प्रभावशाली होता है । आचमन के लिए जल-पात्र अलग से रखना चाहिए । पूजा के अन्त में कलश रूप में स्थापित जल सूर्य की दिशा में प्रातःकाल पूर्व में और सांयकाल पश्चिम में अर्घ्य जल को चढ़ा दिया जाय ।

१६. महिलाएँ मासिक धर्म के दिनों में माला सहित जप न करें । अंगुलियों पर गिनकर मानसिक जप किसी भी स्थिति में किया जा सकता है ।

१७. शाप मोचन, मुद्रा, कवच, कीलक, अर्मल आदि की आवश्यकता तांत्रिक पुरश्चरणों में पड़ती है, साधारण उपासना में उनकी आवश्यकता नहीं है ।

१८. गायत्री को गुरु मन्त्र कहा गया है । जिसने कम से कम २४ लक्ष का एक गायत्री पुरश्चरण किया हो ऐसे अधिकारी गुरु से गायत्री की मन्त्र दीक्षा लेकर उपासना करना फलप्रद होता है ।

१६. स्त्रियों को भी पुरुषों की तरह ही गायत्री उपासना का पूर्ण अधिकार है ।

२०. यज्ञोपवीत धारण करके गायत्री उपासना करना अधिक श्रेयस्कर है । पर किसी कारणवश कोई उसे धारण न कर सके तो भी गायत्री उपासना बिना यज्ञोपवीत के हो ही न सकेगी, ऐसा प्रतिबन्ध नहीं है ।

२१. रात्रि में भी जप हो सकता है, पर उस समय मानसिक जप करना चाहिए ।

२२. देर तक पालथी से, एक आसन से, बैठा रहना कठिन होता है, इसलिए जब एक तरह से बैठे-बैठे थक जावें तब उन्हें बदला जा सकता है । इसे बदलने में कोई दोष नहीं है ।

२३. मल-मूत्र का त्याग या अन्य किसी अनिवार्य के लिए साधना के बीच उठना ही पड़े तो शुद्ध जल से हाथ-मुँह धोकर तब दुबारा बैठना चाहिए और विक्षेप के लिये एक माला का अतिरिक्त जप प्रायश्चित स्वरूप करना चाहिए ।

२४. यदि किसी दिन अनिवार्य कारण से साधना स्थगित करना पड़े तो दूसरे दिन एक माला का अतिरिक्त जप दंड स्वरूप करना चाहिए ।

२५. जन्म या मृत्यु के सूतक हो जाने पर शुद्धि होने तक माला आदि की सहायता से किये जाने वाला विधिवत् जप स्थगित रखना चाहिए । केवल मानसिक जप, मन ही मन चालू रख सकते हैं । यदि इस प्रकार का अवसर सवा लक्ष जप के अनुष्ठान-काल में आ जावे तो उतने दिनों अनुष्ठान स्थगित रखना चाहिए । सूतक-निवृत होने पर उसी संख्या में प्रारम्भ किया जा सकता है जहाँ से छोड़ा था । इस विक्षेप काल की शुद्धि के लिए एक हजार जप विशेष रूप से करना चाहिए ।

२६. लम्बे सफर में होने, स्वयं रोगी हो जाने या तीव्र रोगी की सेवा में संलग्न रहने की दशा में स्नान आदि पवित्रता की सुविधा नहीं रहती । ऐसी दशा में मानसिक जप चालू रखना चाहिए । मानसिक जप विस्तर पर पड़े-पड़े, रास्ता चलते या किसी पवित्र-अपवित्र दशा में किया जा सकता है ।

२७. साधक का आहार-विहार सात्विक होना चाहिए । आहार में सतोगुण, सादा, सुपाच्य, ताजे तथा पवित्र हाथों से बनाये हुए पदार्थ होने चाहिए । अधिक मिर्च, मसाले वाले तले हुए पकवान, मिष्ठान्न, बासी, बुरे, दुर्गन्धित, मांस, नशीले, अभक्ष्य, उष्ण, दाहक, अनीति उपार्जित, गन्दे मनुष्य द्वारा बनाये हुए, तिरस्कारपूर्वक दिये हुए भोजन से जितना बचा जा सकेगा उतना ही अच्छा होगा ।

२८. व्यवहार भी जितना ही प्राकृतिक, धर्म-संगत, सरल एवं सात्विक रह सके, उतना ही अच्छा है । फैशनपरस्ती, रात्रि में अधिक जागना, दिन में सोना, सिनेमा, नाच-रंग अधिक देखना, परनिन्दा, छिन्द्रान्वेषण, कलह, दुराचार, ईर्ष्या, निष्ठुरता, आलस्य, प्रमाद, मद, मत्सर आदि से जितना बचा जा सके बचने का प्रयत्न करना चाहिए ।

२६. यों ब्रह्मचर्य तो सदा ही उत्तम है, पर गायत्री-अनुष्ठान के ४० दिनों में विशेष आवश्यकता है ।

अनुष्ठान के कुछ विशेष नियमों का पालन करना पड़ता है, कुछ विशेष तपश्चर्यायें करनी होती हैं । तपश्चर्याओं का महत्त्व और स्वरूप इसी पुस्तक के भिन्न अध्याय में दर्शाया गया है । जप की तरह तप भी जितना किया जा सके शुभ ही है । किन्तु वर्तमान जीवन क्रम में अधिक कठोर तपश्चर्यायें अनुकूल नहीं पड़ती । फिर भी अनुष्ठानों के साथ कुछ नियम तो बनाने ही चाहिए । आज की स्थिति में सर्वोपयोगी या न्यूनतम तपश्चर्याओं के रूप में ५ नियम नीचे दिये जा रहे हैं–

(क) अनुष्ठान काल में ब्रह्मचर्य का पालन करना । यह आत्म नियंत्रण की अंतः शक्ति को सुनियोजित करने के लिए है ।

(ख) उपवास का कोई क्रम अपनाना । पेय पदार्थ पर रहना, फल, शाक तक सीमित रहना, एक समय आहार का क्रम, अस्वाद व्रत का पालन जैसे व्रतों को इस क्रम में अपनी शक्ति एंवं श्रद्धा के अनुसार अपनाया जाय ।

(ग) चारपाई पर न सोना, तख्त या धरती पर सामान्य कपड़े बिछा कर सोना । यह तितीक्षा वृत्ति के विकास की दृष्टि से है ।

(घ) अपने शरीर की सेवायें स्वयं करना । दाढ़ी बनाना, वस्त्र धोना आदि क्रम स्वयं करना, दूसरों से न कराना । यह स्वावलम्बन एवं सेवा वृत्ति के विकास

के लिए साधना चाहिए । अपने शरीर एवं वस्त्रों का स्पर्श यथा साध्य दूसरों से न होने देना भी उचित है।

(ड़) चमड़े के जूतों का उपयोग न करना । अनुष्ठान काल में अधिक समय नंगे पैर नहीं चलना चाहिए, किन्तु चमड़े के जूतों का प्रयोग न करें । अधिकतर चमड़ा हत्या द्वारा प्राप्त किया जाता है । उसमें क्रूरता के संस्कार रहते हैं । साधक को सद्‌भावना एवं संवेदना के वातावरण में रहना चाहिए । सार्वभौम आत्मीयता की दृष्टि से यह साधना अपनाई जाती है ।

३०. एकान्त में जप करते समय माला खुले रूप से जपनी चाहिए । जहाँ बहुत आदमियों की दृष्टि पड़ती हो, वहाँ कपड़े से ढक लेना चाहिए या गौमुखी में हाथ डाल लेना चाहिए ।

३१. माला जपते समय सुमेरु (माला के आरम्भ का सबसे बड़ा दाना) का उल्लंघन नहीं करना चाहिए । एक माला पूरी करके उसे मस्तक तथा नेत्रों से लगाकर पीछे की तरफ उलटा ही वापिस कर लेना चाहिए । इस प्रकार माला पूरी होने पर हर बार उलट कर ही नया आरम्भ करना चाहिए ।

३२. साधना के उपरान्त पूजा के बचे हुए अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य, फूल, जल, दीपक की बत्ती हवन की भस्म आदि की यों ही जहाँ-तहाँ ऐसी जगह नहीं फेंक देना चाहिए जहाँ पर पैर तले कुचलती फिरे । किसी तीर्थ, नदी, जलाशय, देव-मन्दिर, कपास, जौ, चावल का खेत आदि पवित्र स्थानों पर विसर्जन करना चाहिए । चावल चिड़ियों के लिए डाल देना चाहिए । नैवेद्य आदि बालकों को बांट देना चाहिए । जल का सूर्य के सम्मुख अर्घ्य देना चाहिए ।

३३. वेद मन्त्रों का सस्वर उच्चारण करना उचित होता है । पर सब लोग यथाविधि सस्वर गायत्री का उच्चारण नहीं कर सकते । इसलिए जप इस प्रकार करना चाहिए कि कण्ठ से ध्वनि होती रहे, होठ हिलते रहें पर पास बैठा हुआ मनुष्य भी स्पष्ट रूप से मन्त्र को न सुन सके । इस प्रकार किया जप स्वर बन्धनों से मुक्त होता है ।

३४. गायत्री साधना माता की चरण वन्दना के समान है, यह कभी निष्फल नहीं होती । उलटा परिणाम भी नहीं होता, भूल हो जाने से अनिष्ट होने की कोई आशंका नहीं । इसलिए निर्भय और प्रसन्नचित्त से उपासना करनी चाहिए । अन्य मन्त्र अविधिपूर्वक जपे जाने पर अनिष्ठ करते हैं, पर गायत्री में यह बात नहीं है । वह सर्व सुलभ, अत्यन्त सुगम और सब प्रकार सुसाध्य है । हाँ, तान्त्रिक विधि से की गई उपासना पूर्ण विधि-विधान के साथ होनी चाहिए उसमें अन्तर पड़ना हानिकारक है ।

३५. जैसे मिठाई को अकेले-अकेले ही चुपचाप खा लेना और समीपवर्ती लोगों को उसे न चखाना बुरा है, वैसे ही गायत्री साधना को स्वयं तो करते रहना, पर अन्य प्रियजनों, मित्रों, कुटुम्बियों को उसके लिए प्रोत्साहित न करना एक बहुत बड़ी बुराई तथा भूल है । इस बुराई से बचने के लिए हर साधक को चाहिए कि अधिक से अधिक लोगों को इस दिशा में प्रोत्साहित करे ।

३६. अपनी पूजा सामग्री ऐसी जगह रखनी चाहिए जिसे अन्य लोग अधिक स्पर्श न करें ।

३७. कोई बात समझ में न आती हो या सन्देह हो तो जवावी पत्र भेजकर 'शान्तिकुंज' हरिद्वार से उसका समाधान कराया जा सकता है ।

३८. गायत्री का अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि सभी वर्णों को है । वर्ण जन्म से भी होते हैं और गुण, कर्म स्वभाव से भी । आजकल जन्म से जातियों में बड़ी गड़बड़ी हो गई है । कई उच्च वर्ण समय के फेर से नीच वर्णों में गिने जाने लगे हैं और कई नीच वंश उच्च कहलाते हैं । ऐसे लोग अपनी वर्तमान सामाजिक स्थिति को ही ध्यान में रखें पर गायत्री महाशक्ति की आराधना से कोई भी वंचित न रहें । नवयुग की—प्रज्ञायुग की यही आधारशिला है ।

३९. साधना की अनेकों विधियाँ हैं । अनेक लोग अनेक प्रकार से करते हैं । अपनी साधना विधि दूसरों को बताई जाय तो कुछ न कुछ मीन मेख निकाल कर संदेह और भ्रम उत्पन्न कर देते हैं । इसलिए अपनी साधना विधि हर किसी को नहीं बतानी चाहिए । यदि दूसरे मतभेद प्रकट करें तो अपने साधना गुरू के आदेश को ही सर्वोपरि मानना चाहिए । यदि कोई दोष की बातें होंगी, तो उसका पाप और उत्तरदायित्त्व उस साधना गुरू पर पड़ेगा । साधक को निर्दोष और श्रद्धा युक्त होने से सच्ची साधना का ही फल पायेगा । वाल्मीकि जी राम नाम उल्टा जप कर भी सिद्ध हो गये थे ।

४०. तप और हवन की तरह अनुष्ठानों के साथ दान की परम्परा भी जुड़ी है । दान देवत्व का प्रतीक

है । दान किसी को कुछ भी दे देना नहीं है । किसी व्यक्ति के हित की, कल्याण की भावना से प्रेरित होकर विचार पूर्वक दिया गया दान ही 'दान' कहला सकता है । दानों में धन दानों की अपेक्षा जल दान, अन्न दान, वस्त्र दान आदि का महत्त्व अधिक है । किन्तु इन सबसे अधिक फलप्रद ज्ञान-दान है ।

गायत्री साधना के साथ दान परम्परा में जोड़ने योग्य उपयोगी प्रक्रिया है । लोगों को इस परम कल्याणकारी धारा से जोड़ना, गायत्री उपासना जैसे महान कल्याण कारक साधन को लोग भूल बैठे हैं । इसका मूल कारण गायत्री के महत्त्व, माहात्म्य एवं विज्ञान की जानकारी न होना है । जानकारी को फैलाने से ही पुनः संसार में गायत्री माता का दिव्य प्रकाश फैलेगा और असंख्यों हीन दशा में पड़ी हुई आत्मायें महापुरुष बनेंगी । इसलिए गायत्री का ज्ञान फैलाना भी अनुष्ठान की भाँति ही महान पुण्य कार्य है ।

इन साधनाओं में अनिष्ट का कोई भय नहीं

मन्त्रों की साधना की एक विशेष विधि व्यवस्था होती है । नित्य साधना-पद्धति से निर्धारित कर्मकाण्ड के अनुसार मन्त्रों का अनुष्ठान, साधन, पुरुश्चरण करना होता है । आमतौर से अविधि पूर्वक किया हुआ अनुष्ठान, साधक के लिए हानिकारक सिद्ध होता है और लाभ के स्थान पर उससे अनिष्ट की सम्भावना रहती है ।

ऐसे कितने ही उदाहरण मिलते हैं कि किसी व्यक्ति ने किसी मन्त्र की या देवता की साधना की अथवा कोई योगाभ्यास या तांत्रिक अनुष्ठान किया । साधना की नियत रीति में कोई भूल हो गई या किसी प्रकार अनुष्ठान खण्डित हो गया तो उसके कारण साधक को भारी विपत्ति में पड़ना पड़ता है, कई आदमी तो पागल तक होते देखे गये हैं । कई को रोग, मृत्यु, धन-नाश आदि का अनिष्ट सहना पड़ा है । ऐसे प्रमाण इतिहास पुराणों में भी हैं । वृत्त और इन्द्र की कथा इसी प्रकार की है, वेद मन्त्रों का अशुद्ध उच्चारण करने पर उन्हें घातक संकट सहना पड़ा था ।

अन्य वेदमन्त्रों की भांति गायत्री का भी शुद्ध सस्वर उच्चारण होना और विधि पूर्वक साधन होना उचित है । विधि पूर्वक किये हुए साधन सदा शीघ्र सिद्ध होते हैं और उत्तम परिणाम उपस्थित करते हैं, इतना होते हुए भी वेदमाता गायत्री में एक विशेषता है कि कोई भूल होने पर उसका हानिकारक फल नहीं होता । जिस प्रकार दयालु, स्वस्थ और बुद्धिमान माता अपने बालकों को सदा हित चिन्तना ही करती है, उसी प्रकार गायत्री शक्ति द्वारा भी साधक का हित ही सम्पादन होता है । माता के प्रति बालक गलतियाँ भी करते रहते हैं, उसके सम्मान एवं पूज्य भाव में बालक से त्रुटि भी रह जाती है और कई बार तो वे उल्टा आचरण कर बैठते हैं, इतने पर भी माता न तो उनके प्रति दुर्भाव मन में लाती है और न उन्हें किसी प्रकार की हानि पहुँचाती है । जब साधारण माताएँ इतनी दयालुता और क्षमा प्रदर्शित करती हैं तो जगत् जननी, वेदमाता, सतोगुण, की दिव्य सुरसरी, गायत्री से तो और भी अधिक आशा रखी जा सकती है वह अपने बालकों की अपने प्रति श्रद्धा भावना को देखकर प्रभावित हो जाती है, बालक की भक्ति-भावना को देखकर माता का हृदय उमड़ पड़ता है । उसके वात्सल्य की अमृत निर्झरिणी फूट पड़ती है, जिसके दिव्य प्रवाह में साधना की छोटी-मोटी भूलें कर्मकाण्ड में अज्ञानवश हुई त्रुटियाँ तिनके के समान बह जाती हैं ।

सतोगुणी साधन का विपरीत फल न होने का विश्वास भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में दिखाया है-

"नैहाभिक्रम नाशोस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतोभयात ।।"

अर्थात-सत् कार्य के आरम्भ का नाश नहीं होता-वह गिरता-पड़ता आगे ही बढ़ता चलता है । उससे उल्टा फल कभी नहीं निकलता । ऐसा कभी नहीं होता कि सत् इच्छा से किया हुआ कार्य असत् हो जाय और उसका अशुभ परिणाम निकले । थोड़ा सा भी धर्म-कार्य, बड़े भयों से रक्षा करता है ।

गायत्री साधना ऐसा ही सात्विक सत्कर्म है । जिसे एक बार आरम्भ कर दिया जाय तो मन की प्रवृत्तियाँ उस ओर अवश्य ही आकर्षित होती हैं और बीच में किसी प्रकार छूट जाय तो फिर भी समय २ पर बार-बार उस साधन को पुनः आरम्भ करने की इच्छा उठती रहती है । किसी स्वादिष्ट पदार्थ का एक बार स्वाद मिल जाता है, तो बार-बार उसे प्राप्त करने की इच्छा हुआ करती है । गायत्री ऐसा ही अमृतोपम स्वादिष्ट आध्यात्मिक आहार है, जिसे प्राप्त करने के लिये आत्मा बार-बार मचलती है, बार-बार चीख पुकार करती है । उसकी साधना में कोई भूल रह जाय तो भी उल्टा परिणाम

नहीं निकलता, किसी विपत्ति, संकट या अनिष्ट का सामना नहीं करना पड़ता । भूलों की त्रुटियों का परिणाम यह हो सकता है कि आशा से कम फल मिले या अधिक से अधिक यह कि वह निष्फल चला जाय । इस साधना को किसी भी थोड़े से भी रूप में आरम्भ कर देने से उसका फल हर दृष्टि से उत्तम होता है । उस फल के कारण भयों से मुक्ति मिल जाती है, जो अन्य उपायों से बड़ी कठिनाई से हटाई जा सकती है ।

इन सब बातों पर विचार करते हुए साधकों को निर्भय, मन, झिझक, आशंका एवं भय को छोड़कर गायत्री की उपासना करनी चाहिए । यह साधारण मन्त्र नहीं है, जिसके लिए नियम भूमिका बाँधे बिना काम न चले । मनुष्य यदि किन्हीं छुट्टल, बनचारी जीवों को पकड़ना चाहें तो इसके लिये चतुरता पूर्ण उपायों की आवश्यकता पड़ती है, परन्तु बछड़ा अपनी माँ को पकड़ना चाहे तो उसे मातृ-भावना से 'मां' पुकार देना मात्र काफी होता है; गौ माता खड़ी हो जाती है, वात्सल्य के साथ बछड़े को चाटने लगती है और उस अपने पयोधरों से दुग्धपान कराने लगती है । आइये, हम भी वेदमाता को सच्चे अन्तःकरण से भक्ति-भावना के साथ पुकारें और इसके अन्तराल से निकला हुआ अमृत रस पान करें ।

हमें शास्त्रीय साधना-पद्धति से उसकी साधना करने का शक्ति भर प्रयत्न करना चाहिए । अकारण भूल करने से क्या प्रयोजन ? अपनी माता अनुचित व्यवहार को भी क्षमा कर देती है, पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि इनके प्रति श्रद्धा, भक्ति में कुछ ढील या उपेक्षा की जाय । जहाँ तक बन पड़े पूरी-पूरी सावधानी के साथ साधना करनी चाहिए, पर साथ ही इस आशंका को मन से निकाल देना चाहिए कि किंचित मात्र भूल हो गई तो बुरा होगा ।' इस भय के कारण गायत्री साधना से वंचित रहने की आवश्यकता नहीं है । स्पष्ट ही है कि वेद माता अपने भक्तों की भक्ति-भावना का प्रधान रूप से ध्यान रखती है और अज्ञानवश हुई छोटी-मोटी भूल को क्षमा करती है ।

हमारे व्यक्तिगत संरक्षण और मार्ग-दर्शन में लाखों उपासकों ने अनेक गायत्री साधनाएँ और अनुष्ठान सम्पन्न किये हैं, उनसे कई बार ऐसी भूलें हुई कि वे अनिष्ट की सम्भावना से बहुत व्याकुल हो उठे, किन्तु अन्ततः उनकी साधनाओं का कुछ न कुछ लाभ ही मिला है और उससे हमारा विश्वास दृढ़ हो गया है कि गायत्री उपासनाओं से कभी किसी उपासक का अनिष्ट नहीं हो सकता भले ही अभीष्ट फल कुछ विलम्ब से मिले ।

-0-

गायत्री की परम कल्याणकारी सर्वांगपूर्ण सुगम उपासना विधि

उपासना का महत्त्व और आवश्यकता समझ लेने के बाद इस अनिवार्य आवश्यक कृत्य को आरम्भ करने में तनिक भी विलम्ब न करना चाहिये । यों उपासना के लिए किसी भी पद्धति को अपनाया जा सकता है । श्रद्धा और भावना के अनुरूप सभी उपासनाएँ समान रूप से लाभदायी सिद्ध होती हैं, पर अपनी दृष्टि में, निज के अनुभवों के आधार पर वेदमाता का आँचल पकड़ना हर दृष्टि से लाभप्रद है । जब अन्य उपासनायें भी संध्या गायत्री के बिना वांछित लाभ नहीं पहुँचा सकती, उन उपासनाओं को करते समय भी गायत्री का अवलम्बन ग्रहण करना पड़ता है, तो क्यों न गायत्री मंत्र को ही अपनी नित्य और इष्ट उपासना बनाया जाय ।

गायत्री मंत्र की उपासना हर दृष्टि से लाभप्रद है, यह समझ लेने के बाद प्रत्येक व्यक्ति को नियमित गायत्री उपासना अविलम्ब प्रारम्भ कर ही देनी चाहिए । उपासना के लिए समय न मिलने की बात आत्म प्रवंचना युक्त है । हर व्यक्ति को प्रति-दिन पूरे २४ घण्टे का समय मिलता है । उसका उपयोग महत्त्वपूर्ण कार्यों में ही करना समझदारी है । महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिए उन कम महत्त्वपूर्ण कार्यों में कटौती करके सभी लोग समय निकाल सकते हैं । यदि आलस्य अवसाद में नष्ट होने वाले समय को ही बचा लिया, तो भी पर्याप्त समय निकल सकता है ।

गायत्री द्वारा सन्ध्या-वन्दन

कुछ ऐसे कार्य हैं जिनका नित्य करना मनुष्य का आवश्यक कर्तव्य है, ऐसे कर्मों को नित्य-कर्म कहते हैं । नित्य-कर्मों के उद्देश्य हैं, १-आवश्यक तत्वों का संचय २-अनावश्यक तत्वों का त्याग । शरीर को प्रायः नित्य ही कुछ न कुछ नई आवश्यकता होती है । प्रत्येक गतिशील वस्तु अपनी गति को कायम रखने के लिए कहीं-न-कहीं से नयी शक्ति प्राप्त करती है, यदि वह न मिले तो उसका अन्त हो जाता है । रेल के लिए कोयला-पानी, मोटर के लिए पेट्रोल, तार के लिए बैटरी, इञ्जन के लिए तेल, सिनेमा के लिए बिजली की जरूरत पड़ती है । पौधों का जीवन खाद-पानी पर निर्भर रहता है । पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, मनुष्य आदि सभी प्राणियों को भूख प्यास लगती है । अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार अन्न, जल, वायु लेकर वे जीवन धारण करते हैं यदि आहार न मिले तो शरीर यात्रा असम्भव है । कोई भी गतिशील वस्तु चाहे वह सजीव हो या निर्जीव, अपनी गतिशीलता को क़ायम रखने के लिए आहार अवश्य चाहेगी ।

इसी प्रकार प्रत्येक गतिशील पदार्थ में प्रतिक्षण कुछ न कुछ मल बनता रहता है, जिसे जल्दी-जल्दी साफ करने की आवश्यकता पड़ती है । रेल में कोयले की राख, मशीनों में तेल की चीकट जमती है । शरीर में प्रतिक्षण मल बनता है और वह गुदा, शिश्न, नाक, मुख, कान, आँख, त्वचा आदि के छिद्रों द्वारा निकलता रहता है । यदि मल की सफाई न हो तो देह में इतना विष एकत्रित हो जायगा कि दो-चार दिन में ही जीवन-संकट उपस्थित हुए बिना न रहेगा । मकान में बुहारी न लगाई जाय, कपड़ों को न धोया जाय, बर्तन को न मला जाय, शरीर को स्नान न कराया जाय तो एक-दो दिन में ही मैल चढ़ जायगा और गन्दगी, कुरूपता, बदबू, मलीनता तथा विकृति उत्पन्न हो जायगी ।

आत्मा सबसे अधिक गतिशील और चैतन्य है, उसे भी आहार की और मल-विसर्जन की आवश्यकता पड़ती है । स्वाध्याय सत्संग, आत्म-चिंतन, उपासना, साधना आदि साधनों द्वारा आत्मा को आहार प्राप्त होता है और बलवान्, चैतन्य तथा क्रियाशील रहती है । जो लोग इन आहारों से अपने अन्तःकरण को वञ्चित रखते हैं और सांसारिक झंझटों में ही हर घड़ी लगे रहते हैं उनका शरीर चाहे कितना मोटा हो, धन-दौलत कितनी ही जमा हो जाय पर आत्मा भूखी ही रहती है । इस भूख के कारण वह निस्तेज, निर्बल, निष्क्रिय और अर्धमूर्च्छित अवस्था में पड़ा रहता है । इसलिये शास्त्रकारों

ने आत्म-साधना को नित्यकर्म में शामिल करके मनुष्य के लिए उसे एक आवश्यक कर्तव्य बना दिया है ।

आत्मिक साधना में आधार-प्राप्ति और मल-विसर्जन के दोनों महत्त्वपूर्ण कार्य समान रूप से होते हैं । आत्मिक भावना विचारधारा और अवस्थिति को बलवान, चैतन्य एवं क्रियाशील बनाने वाली पद्धति को साधना कहते हैं । यह साधना उन विकारों, मलों एवं विषों की भी सफाई करती है, जो सांसारिक विषयों और उलझनों के कारण चित्त पर बुरे रूप से सदा ही जमते रहते हैं । शरीर को दो बार स्नान कराना, दो बार शौच जाना आवश्यक समझा जाता है । आत्मा के लिए भी यह क्रियायें दो बार होनी आवश्यक हैं, इसी को संध्या कहते हैं । शरीर से आत्मा का महत्त्व अधिक होने के कारण त्रिकाल संध्या की साधना का शास्त्रों में वर्णन है । तीन बार न बन पड़े तो प्रातः-सायं दो बार से भी काम चलाया जा सकता है । जिनकी रुचि इधर बहुत ही कम है, वे भी एक बार तो कम से कम यह समझकर करे कि सन्ध्या हमारा आवश्यक नित्यकर्म है, धार्मिक कर्तव्य है । उसे न करने से पाप-विकारों का जमाव होता रहता है और भूखी आत्मा निर्बल होती चलती है, यह दोनों ही बातें पाप कर्मों में शुमार हैं । अतएव पातक-भार से बचने के लिये भी संध्या को हमारे आवश्यक नित्यकर्मों में स्थान मिलना उचित है ।

सन्ध्यावन्दन की अनेक विधियाँ हिन्दू धर्म में प्रचलित है । उन सबमें सरल, सुगम, सीधी एवं अत्यधिक प्रभावशाली उपासना गायत्री मन्त्र द्वारा होने वाली 'ब्रह्मसन्ध्या' है । इसमें केवल एक ही गायत्री मन्त्र याद करना होता है । अन्य सन्ध्या विधियों की भाँति अनेक मन्त्र याद करने और अनेकों प्रकार के विधि-विधान याद रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

सूर्योदय या सूर्यास्त समय को सन्ध्याकाल कहते हैं यही समय सन्ध्यावन्दन का है । सुविधानुसार इससे थोड़ा आगे-पीछे भी कर सकते हैं । त्रिकाल सन्ध्या करने वालों के लिए तीसरा समय मध्याह्नकाल का है । नित्यकर्म से निवृत्त होकर शरीर को स्वच्छ करके सन्ध्या पर बैठना चाहिए, उस समय देह पर कम से कम वस्त्र होने चाहिए । खुली हवा का एकांत स्थान मिल सके तो सबसे अच्छा अन्यथा घर का ऐसा भाग तो चुनना ही चाहिए, जहाँ कम खटपट और शुद्धता रहती हो । कुश का आसन, चटाई, टाट या चौकी आदि बिछाकर पालती मारकर मेरुदण्ड सीधा रखते हुए सन्ध्या के लिए बैठना चाहिए । प्रातःकाल पूर्व की ओर, सायंकाल को पश्चिम की ओर मुँह करके बैठना चाहिए । पास में जल का भरा पात्र रख लेना चाहिए । सन्ध्या के पाँच कर्म हैं, उनका वर्णन नीचे किया जाता है ।

ब्रह्म सन्ध्या

गायत्र्यां या युता सन्ध्या ब्रह्म सन्ध्यातुसामता।
कीर्तितं सर्वतः श्रेष्ठंतदनुष्ठानमागमैः ।।

(या सन्ध्या) जो सन्ध्या (गायत्रया) गायत्री से (युता) युक्त होती है (सा तु) वह (ब्रह्म सन्ध्या) ब्रह्म सन्ध्या (मता) कहलाती है । (आगमैः) शास्त्रों ने (तदनुष्ठानं) उसका अनुष्ठान (सर्वतः श्रेष्ठ) सबसे श्रेष्ठ (कीर्तितं) कहीं है ।

आचमनं शिखाबन्धः प्राणायामोऽघमर्षणम् ।
न्यासश्चोपासनायांतु पंच कोष मता बुधैः ।।

(आचमनं) आचमन (शिखाबन्धः) शिखा बाधना (प्राणायामः) प्राणायाम (अधमर्षणं) अघमर्षण (च) और (न्यासः) न्यास से (पंच कोषाः) पांच कोष (बुधैः) विद्वानों ने (उपासनायां) उपासना में (मताः) स्वीकार किये हैं।

(१) आचमन

जल भरे हुए पात्र में से दाहिने हाथ की हथेली पर जल लेकर उसका तीन बार आचमन करना चाहिए । बायें हाथ से पात्र को उठाकर हथेली में थोड़ा गड्ढा-सा करके उसमें जल भरें और गायत्री मन्त्र पढ़ें, मन्त्र पूरा होने पर उस जल को पी लें । दूसरी बार फिर उसी प्रकार हथेली में जल भरें और मन्त्र पढ़कर उसे पी लें । तीसरी बार भी इसी प्रकार करें । तीन बार आचमन करने के उपरांत दाहिने हाथ को पानी से धो डालें । कंधे पर रखे हुए अँगोछे से हाथ-मुँह पोंछ लें जिससे हथेली ओठ और मूँछ आदि पर आचमन किये उच्छिष्ट जल का अंश लगा न रह जावे ।

आचमन त्रिगुणमयी माता की त्रिविधि शक्तियों को अपने अन्दर धारण करने के लिए है । प्रथम आचमन के साथ सतोगुणी विश्वव्यापी, सूक्ष्म-शक्ति 'ह्रीं' शक्ति का ध्यान करते हैं और भावना करते हैं कि विद्युत सरीखी सूक्ष्म नील किरणें मेरे मन्त्रोच्चार के साथ-साथ सब ओर से इस जल में प्रवेश कर रही हैं और यह जल उस शक्ति से ओत-प्रोत हो रहा है । आचमन करने के साथ में सम्मिश्रित सब शक्तियाँ अपने अन्दर प्रवेश करने की भावना करनी चाहिए और अनुभव करना चाहिए कि

मेरे अन्दर सतोगुण का पर्याप्त मात्रा में प्रवेश हुआ है। इसी प्रकार दूसरे आचमन के साथ रजोगुण 'श्री' शक्ति की पीतवर्ण किरणों को जल में आकर्षित होने और आचमन के साथ शरीर में प्रवेश होने की भावना करनी चाहिए। तीसरे आचमन में तमोगुणी 'क्लीं' भावना का रक्त-वर्ण शक्तियों को अपने में धारण होने का भाव जाग्रत होना चाहिए।

जैसे बालक माता का दूध पीकर उसके गुणों और शक्तियों को अपने में धारण करता है और परिपुष्ट होता है, उसी प्रकार साधक मंत्र-बल से आचमन के जल को गायत्री-माता के दूध के समान बना लेता है और उसका पान करके अपने आत्मबल को बढ़ाता है। इस आचमन से उसे त्रिविध, ह्रीं, श्रीं, क्लीं शक्ति से युक्त आत्म-बल मिलता है, तद्नुसार उसको आत्मिक-पवित्रता, सांसारिक और सुदृढ़ बनाने वाली शक्ति की प्राप्ति होती है।

(२) शिखा बन्धन

आचमन के पश्चात् शिखा को जल से गीला करके उसमें ऐसी गाँठ लगानी चाहिए, जो सिरा नीचे से खुल जाय। इसे आधी गाँठ कहते हैं। गाँठ लगाते समय गायत्री मन्त्र का उच्चारण करते जाना चाहिए।

शिखा, मस्तिष्क के केन्द्र बिन्दु पर स्थापित है। जैसे रेडियो के ध्वनि-विस्तारक केन्द्रों में ऊँचे खम्भे लगे होते हैं और वहाँ से ब्राडकास्ट की तरंगें चारों ओर फेंकी जाती हैं, उसी प्रकार हमारे मस्तिष्क का विद्युत भण्डार शिखा स्थान पर है। इस केन्द्र में से हमारे विचार, संकल्प और शक्ति-परमाणु हर घड़ी बाहर निकल-निकल कर आकाश में दौड़ते रहते हैं। इस प्रवाह से शक्ति का अनावश्यक व्यय होता है और अपना मानसिक कोष घटता है। इसका प्रतिरोध करने के लिए शिखा में गाँठ लगा देते हैं। सदा गाँठ लगाये रहने से अपनी मानसिक शक्तियों का बहुत-सा अपव्यय बच जाता है

सन्ध्या करते समय विशेष रूप से गांठ लगाने का प्रयोजन यह है कि रात्रि को सोते समय यह गांठ प्रायः शिथिल हो जाती है या खुल जाती है। फिर स्नान करते समय केश-शुद्धि के लिए शिखा को खोलना पड़ता है।सन्ध्या करते समय अनेक सूक्ष्म तत्त्व आकर्षित होकर अपने अन्दर स्थित होते हैं, वे सब मस्तिक केन्द्र से निकल कर बाहर न उड़ जायें और कहीं अपने को साधना के लाभ से वञ्चित न रहना पड़े, इसलिए शिखा में गाँठ लगा दी जाती है। फुटबाल के भीतर की रबड़ में एक हवा भरने की नली होती है, इसमें गाँठ लगा देने से भीतर भरी हुई वायु बाहर नहीं निकलने पाती। साइकिल के पहियों में भरी हुई हवा को रोकने के लिए भी एक छोटी बालट्यूब नामक रबड़ की नली लगी होती है, जिसमें होकर हवा भीतर तो जा सकती है, पर बाहर नहीं आ सकती। गाँठ लगी हुई शिखा से भी यही प्रयोजन पूरा होता है। वह बाहर के विचार और शक्ति-समूह को ग्रहण तो करती है, पर भीतर के तत्त्वों को अनावश्यक व्यय नहीं होने देती।

आचमन से पूर्व शिखा बन्धन इसलिए नहीं होता, क्योंकि उस समय त्रिविध शक्ति का आकर्षण जहाँ जल द्वारा होता है, वहाँ मस्तिष्क के मध्य केन्द्र द्वारा भी होता है। इस प्रकार शिखा खुली रहने से दुहरा लाभ होता है। तत्पश्चात् उसे बाँध दिया जाता है।

(३) प्राणायाम

संध्या का तीसरा कोष है प्राणायाम अथवा प्राणाकर्षण। गायत्री की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए पूर्व पृष्ठों में यह बताया जा चुका है कि सृष्टि दो प्रकार की है-(1) जड़-अर्थात् परमाणुमयी (२) चैतन्य अर्थात् प्राणमयी। निखिल विश्व में जिस प्रकार परमाणुओं के संयोग-वियोग से विविध प्रकार के दृश्य-उपस्थित होते रहते हैं, उसी प्रकार चैतन्य प्राण सत्ता की हलचलें चैतन्य जगत की विविध घटनाएँ घटित होती हैं। जैसे वायु अपने क्षेत्र में सर्वत्र भरी हुई है, उसी प्रकार वायु से भी असंख्यगुना सूक्ष्म चैतन्य प्राणतत्व सर्वत्र व्याप्त है। इस तत्त्व की न्यूनाधिकता से हमारा मानव क्षेत्र बलवान् तथा निर्बल होता है। इस प्राणतत्त्व को जो जितनी मात्रा में अधिक आकर्षित कर लेता है, धारण कर लेता है, उसकी आंतरिक स्थिति उतनी ही बलवान् हो जाती है। आत्म-तेज, शूरता, दृढ़ता, पुरुषार्थ, विशालता, महानता, सहनशीलता, धैर्य, स्थिरता सरीखे गुण प्राण शक्ति के परिचायक हैं। जिनमें प्राण कम होता है, वे शरीर से स्थूल भले ही हों पर डरपोक, दब्बू, झेंपने वाले, कायर, अस्थिर मति, संकीर्ण, अनुदार, स्वार्थी, अपराधी मनोवृत्ति के, घबराने वाले, अधीर, तुच्छ, नीच विचारों में ग्रस्त एवं चंचल मनोवृत्ति के होते हैं। इन दुर्गुणों के होते हुए कोई व्यक्ति महान् नहीं बन सकता। इसलिए साधक को प्राण शक्ति अधिक मात्रा में अपने अन्दर

धारण करने की आवश्यकता होती है। जिस क्रिया द्वारा विश्वव्यापी प्राणतत्त्व में से खींचकर अधिक मात्रा में प्राणशक्ति को हम अपने अन्दर धारण करते हैं, उसे प्राणायाम कहा जाता है।

प्राणायाम के समय मेरुदण्ड को विशेष रूप से सावधान होकर सीधा कर लीजिये, क्योंकि मेरुदण्ड में स्थित इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों द्वारा प्राणशक्ति का आवागमन होता है और यदि रीढ़ टेढ़ी झुकी रहे, तो मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी तक प्राण की धारा निर्वाध गति से न पहुँच सकेगी। अतः प्राणायाम का वास्तविक लाभ न मिला सकेगा।

प्राणायाम के चार भाग हैं—(१) पूरक, (२) अन्तर, कुम्भक, (३) रेचक, (४) बाह्य कुम्भक। वायु को भीतर खींचने का नाम पूरक, वायु को भीतर रोके रहने का नाम अन्तर कुम्भक, वायु को बाहर निकालने का नाम रेचक और बिना श्वास के वायु बाहर रोके रहने को बाह्य कुम्भक कहते हैं। इन चारों के लिए गायत्री मंत्र के चार भागों की नियुक्ति की गई। पूरक के साथ **'ॐ भूर्भुवः स्व'** अन्तर कुम्भक के साथ **'तत्सवितुर्वरण्यं'** रेचक के साथ **'भर्गोदेवस्य धीमहि'** बाह्य कुम्भक के साथ **'धियोयोनः प्रचोदयात्'** मन्त्र भाग का जाप होना चाहिये।

(अ) स्वस्थ चित्त से बैठिये; मुख को बन्द कर लीजिये। नेत्रों को बन्द या अधखुले रखिये।' अब श्वास को धीरे-धीरे नासिका द्वारा भीतर खींचना आरम्भ कीजिये और **'ॐ भूर्भुवः स्वः'** इस मंत्र भाग का मन ही मन उच्चारण करते चलिये और भावना कीजिये कि 'विश्वव्यापी दुखनाशक; सुख स्वरूप; ब्रह्म की चैतन्य प्राण-शक्ति को मैं नासिका द्वारा आकर्षित कर रहा हूँ।" इस भावना और इस मंत्र के साथ धीरे-धीरे श्वास खींचिये और जितनी अधिक वायु भीतर भर सकें भर लीजिये।

(ब) अब वायु को भीतर रोकिये और **'तत्सवितुर्वरेण्यं'** इस भाग का जप कीजिये; साथ ही भावना कीजिए कि नासिका द्वारा खींचा हुआ वह प्राण श्रेष्ठ है। सूर्य के समान तेजस्वी है। उसका तेज मेरे अङ्ग-प्रत्यंग में; रोम-रोम में भरा जा रहा है। इस भावना के साथ पूरक की अपेक्षा आधे समय तक वायु को भीतर रोके रखें।

(स) अब नासिका द्वारा वायु धीरे-धीरे बाहर निकालना आरम्भ कीजिए और **'भर्गो देवस्य धीमहि'** इस मंत्र भाग को जपिये तथा भावना कीजिए कि 'यह दिव्य प्राण मेरे पापों का नाश करता हुआ विदा हो रहा है। वायु को निकालने में प्रायः उतना ही समय लगना चाहिए जितना कि वायु खींचने में लगाया था।

(द) जब भीतर की सब वायु बाहर निकल जावे तो जितनी देर वायु को भीतर रोक रखा था, उतनी ही देर बाहर रोक रखें अर्थात् बिना सांस लिये रहें और **'धियोयोनः प्रचोदयात्'** इस मन्त्र भाग को जपते रहें। साथ ही भावना करें 'कि भगवती वेदमाता आद्य-शक्ति गायत्री हमारी सद्बुद्धि को जाग्रत कर रही है।'

यह एक प्राणायाम हुआ। अब इसी प्रकार पुनः इन क्रियाओं की पुनरुक्ति करते हुए दूसरा प्राणायाम करें। सन्ध्या में यह पांच प्राणायाम करने चाहिए, जिससे शरीर स्थिर प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान नामक पांचों प्राणों का व्यायाम प्रस्फुरण और परिमार्जन हो जाता है।

(४) अघमर्षण

अघमर्षण कहते हैं—पाप के नाश करने को। गायत्री की पुण्य-भावना के प्रवेश करने से पाप का नाश होता है। प्रकाश के आगमन के साथ-साथ अंधकार नष्ट हो जाता है, पुण्य संकल्पों के उदय के साथ-साथ पापों का संहार भी होता है। बल-बुद्धि के साथ-साथ निर्बलता का अन्त होता चलता है। ब्रह्म सन्ध्या की ब्राह्मी भावनाएँ हमारे अघ का मर्षण करती चलती हैं।

अधमर्षण के लिए दाहिने हाथ की हथेली पर जल लेकर उसे दाहिने नथुने के समीप ले जाना चाहिए। समीप का अर्थ है—छः अंगुल दूर। बाएं हाथ के अँगूठे से बायां नथुना बन्द कर लें और दाहिने नथुने से धीरे-धीरे श्वास खींचना आरम्भ करें। सांस खींचते समय ऐसी भावना करें कि 'गायत्री माता का पुण्य प्रतीक यह जल अपनी दिव्य शक्तियों सहित पापों को संहार करने के लिए श्वास के साथ मेरे अन्दर प्रवेश कर रहा है और भीतर से पापों को, मलों को, विकारों को संहार कर रहा है।

जब पूरी श्वास खींच चुकें तो बायां नथुना खोल दें और दाहिना नथुना अंगूठे से बन्द कर दें और श्वास बाहर निकालना आरम्भ करें। दाहिनी हथेली पर रखे हुए जल को अब बाएँ नथुने के सामने करें और भावना करें कि "नष्ट हुए पापों की लाशों का समूह श्वास के

साथ बाहर निकल कर इस जल में गिर रहा है ।" जब श्वास पूरी बाहर निकल जाय तो जल को बिना देखे घृणापूर्वक बाईं ओर पटक देना चाहिए ।

अघमर्षण क्रिया में जल को हथेली पर भरते समय **'ॐ भूर्भुवः स्वः'** दाहिने नथुने से सांस खींचते समय **'तत्सवितुर्वरेण्यं'** इतना मन्त्र भाग जपना चाहिए और बाएं नथुने से सांस छोड़ते समय **'भर्गोदेवस्य धीमहि'** और जल पटकते समय 'धियोयोनः प्रचोदयात्' इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए ।

यह क्रिया तीन बार करनी चाहिए जिससे काया के, प्राण के और मन के त्रिविधि पापों का संहार हो सके ।

(५) न्यास

न्यास कहते है—धारण करने को । अङ्ग-प्रत्यङ्गें में गायत्री की सतोगुणी शक्ति को धारण करने, स्थापित करने, भरने, ओत-प्रोत करने के लिए न्यास किया जाता है । गायत्री के प्रत्येक शब्द का, महत्त्वपूर्ण मर्म-स्थलों का घनिष्ठ सम्बन्ध है । जैसे सितार के, अमुक भाग में, अमुक आघात के साथ उङ्गली का आघात लगाने से अमुक प्रकार, अमुक ध्वनि के स्वर निकलते हैं, उसी प्रकार शरीर-वीणा को सन्ध्याकाल में उङ्गलियों के सहारे दिव्य भाव से झंकृत किया जाता है ।

ऐसा माना जाता है कि स्वभावतः अपवित्र रहने वाले शरीर से दैवी सान्निध्य ठीक प्रकार से नहीं हो सकता, इसलिये उसके प्रमुख स्थानों में दैवी पवित्रता स्थापित करके उसमें इतनी मात्रा दैवी तत्वों की स्थापित कर ली जाती है कि वह देव-साधना का अधिकारी बन जावे ।

न्यास के लिए भिन्न-भिन्न उपासना विधियों में अलग-अलग विधान है कि किन उङ्गलियों को काम में लाया जाय । गायत्री की ब्रह्म सन्ध्या में अंगूठा और अनामिका उङ्गली का प्रयोग प्रयोजनीय ठहराया गया है । अंगूठा और अनामिका उङ्गली को मिलाकर विभिन्न अङ्गों का स्पर्श इस भावना से करना चाहिए कि मेरे यह अङ्ग गायत्री-शक्ति से पवित्र तथा बलवान् हो रहे हैं । अङ्ग स्पर्श के साथ निम्न प्रकार मन्त्रोच्चार करना चाहिये ।

ॐ भूर्भुवः स्वः—मूर्धायै
तत्सवितुः—नेत्रभ्यां
वरेण्यं—कर्णाभ्यां
भर्गो—मुखाय
देवस्यः—कंठाय
धीमहिः—हृदयाय
धियोयोनः—नाभ्यै
प्रचोदयात्ः—हस्तपादाभ्यां

यह सात अङ्ग शरीर ब्रह्माण्ड के सात लोक हैं अथवा यों कहिये कि आत्मा रूपी सविता के सात वाहन अश्व हैं । शरीर सप्ताह के सात दिन हैं । यों साधारणतः दस इन्द्रियाँ मानी जाती हैं, पर गायत्री योग के अन्तर्गत ७ इन्द्रियाँ मानी गई हैं—

१. मूर्धा (मस्तिष्क, मन) २. नेत्र, ३. कर्ण ४. वाणी और रसना ५. हृदय, अन्तःकरण ६. नाभि, जननेन्द्रिय ७. श्रवण (हाथ-पैर) इन सातों में अपवित्रता न रहे, इनके द्वारा कुमार्ग को न अपनाया जाय, अविवेक पूर्ण आचरण न हो इस प्रतिरोध के लिये न्यास किया जाता है । इन सात अङ्गें में भगवती की सात शक्तियाँ निवास करती हैं उन्हें उपयुक्त न्यास द्वारा जाग्रत किया जाता है । जाग्रत हुई मातृकाएँ अपने-अपने स्थान की रक्षा करती हैं, अवांछनीय तत्वों का संहार करती हैं । इस प्रकार साधक का अन्तःप्रदेश ब्राह्मी शक्ति का सुदृढ़ दुर्ग बन जाता है ।

इन पञ्चकोषों का विनियोग करने के पश्चात् आचमन, शिखाबन्धन, प्राणायाम, अघमर्षण न्यास से निवृत्त होने के पश्चात् गायत्री का जप और ध्यान करना चाहिए । सन्ध्या तथा जप में मन्त्रोच्चारण इस प्रकार करना चाहिए कि ओठ हिलते रहें, शब्दोच्चार होता रहे पर निकट बैठा हुआ व्यक्ति उसे सुन न सके ।

दैनिक उपासना की सरल किन्तु महान् प्रक्रिया

नियमित उपासना के लिए पूजा-स्थली की स्थापना आवश्यक है । घर में एक ऐसा स्थान तलाश करना चाहिए जहाँ अपेक्षाकृत एकान्त रहता हो, आवागमन, और कोलाहल कम से कम हो । ऐसे स्थान पर एक छोटी चौकी को पीत वस्त्र से सुसज्जित कर उस पर काँच से मढ़ा हुआ भगवान् का सुन्दर चित्र स्थापित करना चाहिए । गायत्री की उपासना सर्वोत्कृष्ट मानी गई है ।

इसलिये उसकी स्थापना को प्रमुखता देनी चाहिए। यदि किसी का दूसरे देवता के लिये आग्रह हो तो उस देवता का चित्र भी रखा जा सकता है। शास्त्रों में गायत्री के बिना अन्य सब साधनाओं का निष्फल होना लिखा है। इसलिये अन्य देवता को इष्ट माना जाय और उसकी प्रतिमा स्थापित की जाय तो भी गायत्री का चित्र प्रत्येक दशा में साथ रहना ही चाहिए।

अच्छा तो यह है कि एक ही इष्ट गायत्री महाशक्ति को माना जाय और एक ही चित्र स्थापित किया जाय। उससे एकनिष्ठा और एकाग्रता का लाभ होता है। यदि अन्य देवताओं की स्थापना का भी आग्रह हो तो उनकी संख्या कम से कम रखनी चाहिए। जितने देवता स्थापित किये जायेंगे, जितनी प्रतिमाएँ बढ़ाई जायेंगी निष्ठा उसी अनुपात से विभाजित होती जायगी। इसलिये यथासम्भव एक अन्यथा कम से कम छवियाँ पूजा-स्थली पर प्रतिष्ठापित करनी चाहिए।

पूजा-स्थली के पास उपयुक्त व्यवस्था के साथ, पूजा के उपकरण रखने चाहिए। अगरबत्ती, पञ्च-पात्र, चमची, धूपबत्ती, आरती, जल गिराने की तश्तरी, चन्दन, रोली, अक्षत, दीपक, नैवेद्य, घी, दियासलाई आदि उपकरण यथा-स्थान डिब्बों में रखने चाहिए। आसन कुशाओं का उत्तम है। चटाई से काम चल सकता है। आवश्यकतानुसार मोटा या गुदगुदा आसन भी रखा जा सकता है। माला चन्दन या तुलसी की उत्तम है। शंख, सीपी, मूँगा जैसी जीव-शरीरों से बनने वाली मालाएँ निषिद्ध हैं। इसी प्रकार किसी पशु का चमड़ा भी आसन के स्थान पर प्रयोग नहीं करना चाहिए। प्राचीन काल में अपनी मौत मरे हुए पशुओं का चर्म वनवासी सन्त सामयिक आवश्यकता के अनुरूप प्रयोग करते होंगे। पर आज तो हत्या करके मारे हुए पशुओं का चमड़ा ही उपलब्ध है। इसका प्रयोग उपासना की सात्विकता को नष्ट करता है।

नियमित उपासना, नियत समय पर नियत संस्था में, नियत स्थान पर होनी चाहिए। इस नियमितता से वह स्थान संस्कारित हो जाता है और मन भी ठीक तरह लगता है। जिस प्रकार नियत समय पर सिगरेट आदि की 'भड़क' उठती है, उसी तरह पूजा के लिये भी मन में उत्साह जगता है। जिस स्थान पर बहुत दिन से सो रहे हैं, उस स्थान पर नींद ठीक आती है। नई जगह पर अक्सर नींद में अड़चन पड़ती है। इसी प्रकार पूजा का नियत स्थान ही उपयुक्त रहता है। व्यायाम की सफलता तब है जब दण्ड-बैठक आदि को नियत संख्या में नियत समय पर किया जाय। कभी बहुत कम, कभी बहुत ज्यादा, कभी सवेरे, कभी दोपहर, को व्यायाम करने से लाभ नहीं मिलता।

इसी प्रकार दवा की मात्रा भी समय और तोल को ध्यान में न रखकर मनमाने समय और परिमाण में सेवन की जाय तो उससे उपयुक्त लाभ न होगा। यही बात अस्थिर सन्ध्या की उपासना के बारे में कही जा सकती है। यथा-सम्भव नियमितता ही बरतनी चाहिए। रेलवे की रनिंग ड्यूटी करने वाले, यात्रा में रहने वाले, फौजी, पुलिस वाले जिन्हें अक्सर समय-कुसमय यहाँ-वहाँ जाना पड़ता है, उनकी बात दूसरी है। वे मजबूरी में अपना क्रम जब भी, जितना भी बन पड़े, रख सकते हैं। न कुछ से कुछ अच्छा। पर जिन्हें ऐसी असुविधा नहीं उन्हें यथा-सम्भव नियमितता ही बरतनी चाहिए। कभी मजबूरी की स्थिति आ पड़े तो तब वैसा हेर-फेर किया जा सकता है।

सर्वाङ्गपूर्ण साधना पद्धति अपनाने के लिए साधक को लगभग ४५ मिनट का समय लगाना चाहिए। उसमें ३० मिनट जप एवं ध्यान के लिए तथा शेष समय आगे-पीछे के अन्य कर्मकाण्डों के लिए निर्धारित रखना चाहिए। प्रारम्भ में जिनसे इतना न बन पड़े वे न्यूनतम १० मिनट से भी शुरुआत कर सकते हैं। उसमें केवल एक माला जप के लिए ६ मिनट तथा शेष ४ मिनट में षट्कर्म आदि कृत्य पूरे किये जा सकते हैं।

उपासना आरम्भ करने से पूर्व नित्य-कर्म से निवृत्त होना, शरीर, वस्त्र और स्नान उपकरणों की अधिकाधिक स्वच्छता के लिए तत्परता बरतना आवश्यक है। स्नान और धुले वस्त्र बदलने से मन में पवित्रता का संचार होता है। चित्त प्रफुल्लित रहता है। आलस्यवश मलीनता को लादे रहने से मन भारी रहता है और उपासना से जी उचटता है। जँभाई आती हैं। ऊब लगती है और अधिक बैठना भारी पड़ता है। स्थान और पूजा उपकरणों की मलीनता से मन में अरुचि उत्पन्न होती है और उत्साह घटता है। अस्तु, उपासना स्थल को, पूजा के पात्र उपकरण प्रतीक आदि को स्वच्छ कर लेने की बात को महत्त्व दिया ही जाना चाहिये।

पूजा की चौकी पर पीत वस्त्र बिछाया जाय और उस पर गायत्री माँ का, मन्त्र का चित्र स्थापित किया जाय। उसके आगे एक कोने पर जलती अगरबत्ती को रखा जाय। जहाँ शुद्ध घी उपलब्ध है, वहाँ घृत-दीप भी जलाया जा सकता है अन्यथा उसके अभाव में अगरबत्ती से भी काम चल सकता है।

भारतीय धर्म में त्रिकाल सन्ध्या का विधान है। प्रातः सूर्योदय के समय, सायं सूर्यास्त के समय और मध्यान्ह १२ बजे यह मध्यवर्ती समय है। थोड़ा आगे-पीछे होना हो तो वैसा भी हो सकता है। जिन्हें सुविधा हो वे त्रिकाल उपासना करें अन्यथा प्रातः-सायं दो बार से भी काम चल सकता है। अत्यन्त व्यस्त व्यक्तियों को भी प्रातःकाल नित्यकर्म से निवृत्त होकर एक बार तो उपासना करने के लिए समय निकाल ही लेना चाहिए। प्रयत्न यह करना चाहिए कि आधा घण्टे से लेकर एक घण्टे तक का समय उपासना के लिए मिल सके। निःसंदेह इस प्रयोजन में लगा हुआ समय हर दृष्टि से सार्थक होता है। आत्मिक प्रगति, उसके फलस्वरूप व्यक्ति का समग्र विकास, उसके द्वारा सर्वतोमुखी समृद्धि की सम्भावना, यह चक्र ऐसा है, जिससे इस कृत्य में लगाया गया समय सार्थक ही सिद्ध होता है।

उपासना काल में हर घड़ी यही अनुभूति रहनी चाहिए कि हम भगवान के अति निकट बैठे हैं तथा साधक और साध्य के बीच सघन आदान-प्रदान हो रहा है। साधक अपने समग्र व्यक्तित्त्व को भगवान को होम रहा है और वे उसे अपने समतुल्य बनाने की अनुकम्पा प्रदान कर रहे हैं।

नित्य प्रति की गायत्री साधना में किन्हीं विशेष नियमों के पालन करने की आवश्यकता नहीं होती। अनुष्ठान का, पुरश्चरण का, उद्यापन का, तंत्र साधना का विधि विधान विस्तृत है, पर दैनिक साधना सरल है। उसमें प्रायः कोई विशेष भूल नहीं होती, हो भी जाय तो अनिष्ट की कोई आशंका नहीं, गायत्री परम सात्विक स्वभाव की स्नेहमयी माता है जो बालकों से कुछ त्रुटि रह जाने पर भी रुष्ट नहीं होती और रुष्ट हो जाय तो कुछ अनिष्ट नहीं करती। इसलिए जो लोग इस डर से वेदमाता की उपासना नहीं करते हैं कि कुछ भूल हो जाने पर कोई उलटा परिणाम न निकले उन्हें भली-भांति समझ रखना चाहिए कि उलटे परिणाम की बात केवल तांत्रिक प्रयोगों में है। नित्य प्रति की दैनिक साधना में ऐसी कोई बात नहीं है।

जिन्होंने नियमित रूप से अभी तक गायत्री की उपासना नहीं की है, जो उसका आरम्भ ही कर रहे हैं उन्हें सबसे पहले द्विजत्व का व्रत लेना चाहिए। गायत्री को अध्यात्मिक माता, किसी सुयोग्य आचार्य को अध्यात्मिक पिता, मान कर ऐसा संकल्प करना चाहिए कि मैं अब पशुवृत्तियों से मन हटा कर देववृत्तियों को अपना लक्ष्य मानता हूँ। अब मैं निरन्तर दैवी विचारों और दिव्य कर्मो में मन लगाऊँगा और पुराने बुरे स्वभावों को छोड़ने का प्रयत्न करता रहूँगा। यही द्विजत्व है। भोगवाद को जीवनोद्देश्य न मान कर आत्मोन्नति को लक्ष्य स्वीकार करना यही द्विजत्व का संकल्प है। अपने संकल्प की ओर धीरे-धीरे कदम बढ़ाता हुआ द्विज एक न एक दिन पशुता से पूर्ण मुक्त होकर सर्वांश में देव बन जायेगा। द्विजत्व की प्रतिज्ञा के तीन तत्व है (१) अज्ञान (२) अशक्ति (३) अभाव; इन तीनों का निवारण। ज्ञान, शक्ति तथा समृद्धि को अपने तथा दूसरों के लिए अधिकाधिक बढ़ाना है। यही तीन प्रतिज्ञाएँ यज्ञोपवीत के तीन धागे हैं। इस उत्तरदायित्व को कंधे पर धारण करना ही द्विजत्व है।

विधिपूर्वक कर्म काण्ड के साथ यह दीक्षा ली जा सके तो ठीक, अन्यथा एक दिन उपवास रख कर एकान्त सेवन करते हुए यज्ञ प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि मेरी आज से अध्यात्मिक माता गायत्री, मेरा आत्म पिता अमुक आचार्य, मेरा कार्यक्रम यज्ञोपवीत है। गायत्री, आचार्य और यज्ञोपवीत की मन ही मन या पूजा सामग्री के साथ पूजा करके अपना द्विजत्व ग्रहण करते हुए गायत्री की उपासना आरम्भ कर देनी चाहिए। इसके लिए शुक्ल पक्ष की पंचमी, एकादशी तथा पूर्णिमा शुभ हैं। उस दिन दूसरे से या अपने आप दीक्षा लेकर साधना प्रारम्भ कर देनी चाहिए। इस अवसर पर गुरु-पूजन तथा धर्म कार्य के लिए कुछ दान-पुण्य भी करना आवश्यक है। शास्त्र में उल्लेख है कि विना दान का यज्ञ निष्फल होता है।

गायत्री साधना के लिए प्रातःकाल का समय सर्वोत्तम है। सूर्योदय से एक घण्टा पूर्व से लेकर एक घण्टा पश्चात् तक के दो घण्टे उपासना के लिए सर्वोत्तम हैं। शरीर को शुद्ध करके साधना पर बैठना

चाहिए । साधारणतः स्नान द्वारा ही शरीर की शुद्धि होती है पर किसी विवशता, ऋतु प्रतिकूलता, यात्रा या अस्वस्थता की दशा में हाथ, पांव, मुंह धोकर या गीले कपड़े से शरीर पोंछ कर भी काम चलाया जा सकता है । साधना के लिए एकान्त खुली हवा की ऐसी जगह ढूंढ़नी चाहिए जहां का वातावरण शान्तमय हो । कुश, खजूर व बेंत आदि वनस्पतियों के बने हुए आसन उत्तम हैं । माला तुलसी या चन्दन की लेनी चाहिए । पालथी मार कर सीधे-साधे ढंग से बैठना चाहिए । पद्मासन आदि कष्ट साध्य आसन लगा कर बैठने से शरीर और मन दोनों को कष्ट होता है । रीढ़ की हड्डी को सीधा रख कर बैठना चाहिए । प्रातःकाल की साधना पूर्व की ओर और सायंकाल की साधना के लिए पश्चिम की ओर मुंह करके बैठना चाहिए । सूर्य अस्त होने के पश्चात् एक घण्टा रात जाने तक साधना की जा सकती है । सूर्यास्त से एक घण्टा बाद और सूर्योदय से २ घण्टे पूर्व यह तीन घण्टे छोड़ कर रात्रि के अन्य भाग योग मार्गी गायत्री साधना में निषिद्ध हैं । रात्रि में तान्त्रिक प्रयोग किए जाते हैं ।

मल-मूत्र त्याग के किसी अनिवार्य कार्य के लिए साधन के बीच में उठना पड़े तो शुद्ध जल से हाथ पांव धोकर तब बैठना चाहिए । एकान्त में जप करते समय माला को ढकने की जरूरत नहीं है पर जहाँ बहुत आदमियों की दृष्टि पड़ती हो वहां उसे कपड़े से ढक लेना चाहिए या गौमुखी में हाथ डाल लेना चाहिए । माला जपते समय सुमेरु (माला के मध्य का सबसे बड़ा दाना) उल्लंघन न करना चाहिए । एक माला पूरी करके उसे मस्तक तथा नेत्रों से लगा कर फिर पीछे की तरफ उलटा ही वापिस कर लेना चाहिए । सुमेरु का उल्लंघन नहीं किया जाता । इसलिए माला पूरी होने पर उसे हर बार उलट कर ही नया आरम्भ करना चाहिए । तर्जनी उंगली से माला का स्पर्श नहीं करना चाहिए । जहां माला न हो वहां उंगलियों के पोरों की सहायता से भी जप किया जा सकता है ।

जप इस प्रकार करना चाहिए कि कण्ठ से ध्वनि होती रहे, होंठ हिलते रहें पर पास बैठा हुआ मनुष्य भी स्पष्ट रूप से मन्त्र को न सुन सके । सूतक, रोग, अशौच, चारपाई पर पड़े होने, रास्ता चलने आदि परिस्थितियों में होने की दशा में मन ही मन इस प्रकार जप करना चाहिए कि कण्ठ, होठ, जिह्वा आदि का संचालन न हो । ऐसा मानसिक जप सोते जागते चाहे जिस दशा में किया जा सकता है ।

साधना विधि का निर्देश प्राप्त करने के लिए एक ही गुरु होना चाहिए । वह जो विधि बतावे उसी के आधार पर श्रद्धा और भक्ति पूर्वक उपासना आरम्भ कर देनी चाहिए । अनेक लोग अनेक प्रकार से साधना करते हैं और ग्रन्थों में भी अनेक विधियाँ लिखी हैं जिनका आपस में सामंजस्य नहीं क्योंकि अधिकारी भेद से, प्रयोजन भेद से, देश काल भेद से अनेक प्रकार की विधियां प्रचलित हैं । कई व्यक्तियों की सलाह परस्पर विरोधी हो सकती है । ऐसी दशा में साधक भ्रम में पड़ सकता है अतएव किसी एक ही आधार पर अपना कार्यक्रम निर्धारित करना चाहिए । अगर गलत विधि बताई गई है तो इसमें पाप बताने वाले पर पड़ेगा वही उसका दण्ड भुगतेगा । जो साधक अपने मन से नहीं वरन् किसी के आदेश से कार्य कर रहा है उसे किसी प्रकार की हानि नहीं है । उसके लिए वह गलत साधना ही सच्ची साधना का फल देगी । मुद्रा, शाप मोचन, कवच, कीलक, अर्गल आदि क्रियाओं की आवश्यकता तांत्रिक पुरश्चरण में होती है । योग की दक्षिणमार्गी साधना में उनकी कुछ आवश्यकता नहीं है ।

उपयुक्त नियमों को ध्यान में रखते हुए प्रातः या सायंकाल स्वस्थ चित्त में साधना के लिए बैठना चाहिए । पास में जल का भरा पात्र रख लेना चाहिए और आरम्भ में ब्रह्म सन्ध्या करनी चाहिये ।

सबसे पहले शरीर, मन और इन्द्रियों को स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों की शुद्धि के लिए आत्मशुद्धि के पंचोपचार करने चाहिए । यही संक्षिप्त ब्रह्मसन्ध्या है ।

गायत्री उपासना का विधि-विधान

ब्रह्मसन्ध्या—जो शरीर व मन को पवित्र बनाने के लिए की जाती है । इसके अन्तर्गत निम्नांकित कृत्य करने पड़ते हैं ।

पवित्रीकरण

बाएं हाथ में जल लेकर उसे दाहिने हाथ से ढक लें एवं मन्त्रोच्चारण के साथ जल को सिर तथा शरीर पर छिड़क लें । पवित्रता की भावना करें ।

ॐ अपवित्रःपवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपिवा ।
यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स ब्राह्यभ्यन्तरः शुचिः ।।
ॐ पुनातु पुण्डरीकाक्षः पुनातु पुण्डरीकाक्षः पुनातु ।

आचमन

तीन बार वाणी, मन व अंतः करण की शुद्धि के लिए चम्मच से जल का आचमन करें । हर मंत्र के साथ एक आचमन किया जाय ।

ॐ अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ।। १ ।।
ॐ अमृतापिधानमसि स्वाहा ।। २ ।।
ॐ सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ।। ३ ।।

शिखा स्पर्श एवं वंदन

शिखा के स्थान को स्पर्श करते हुए भावना करें कि गायत्री के इस प्रतीक के माध्यम से सदा सद्विचार ही यहाँ स्थापित रहेंगे । निम्न मंत्र का उच्चारण करें

ॐ चिद्रूपिणी महामाये दिव्यतेजः समन्विते ।
तिष्ठ देवि शिखामध्ये तेजावृद्धिं कुरुष्व मे ।।

प्राणायामः

श्वास को धीमी गति से गहरी खींचकर रोकना व बाहर निकालना प्राणायाम कृत्य में आता है । श्वास खींचने के साथ भावना करें कि प्राण शक्ति और श्रेष्ठता श्वास के द्वारा अंदर खींची जा रही है । छोड़ते समय यह भावना करें कि हमारे दुर्गुण-दुष्प्रवृत्तियाँ, बुरे विचार प्रश्वास के साथ बाहर निकल रहे हैं ।प्राणायाम निम्न मंत्र के उच्चारण के बाद किया जाय ।

ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यम् । ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहिधियो योनः प्रचोदयात् । ॐ आपोज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्मभूर्भुवः स्वः ॐ ।

अघमर्षण

अघमर्षण क्रिया में जल को हथेली पर भरते समय 'ॐ भूर्भवः स्वः, दाहिने नथुने से सांस खींचते समय 'तत्सवितुर्वरेणयं, इतना मंत्र भाग जपना चाहिए और बायें नथुने से सांस छोड़ते समय 'भर्गोदेवस्य धीमहि' और जल पटकते समय 'धियोयोनः प्रचोदयात्' इस मंत्र का उच्चारण करना चाहिए ।यह क्रिया तीन बार करनी चाहिए जिससे काया के, वाणी के और मन के त्रिविधि पापों का संहार हो सके ।

न्यास

इसका प्रयोजन है शरीर के सभी महत्त्वपूर्ण अंगों में पवित्रता का समावेश तथा अंतः की चेतना को जगाना ताकि देवपूजन जैसा श्रेष्ठ कृत्य किया जा सके । बायें हाथ की हथेली में जल लेकर दाहिने हाथ की पाँचों उँगलियों को उनमें भिगोकर बताए गए स्थान को मंत्रोच्चार के साथ स्पर्श करें ।

ॐ वाङ्मे आस्येऽस्तु । (मुख को)
ॐ नसोर्मेप्राणोऽस्तु । नासिका के दोनों छिद्रों को
ॐ अक्ष्णोर्मेचक्षुरस्तु । (दोनों नेत्रों को)
ॐ कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु । (दोनो कानों को)
ॐ बाह्वोर्मे बलमस्तु । (दोनों बाहों को)
ॐ ऊर्वोर्मेओजोऽस्तु । (दोनों जंघाओं को)
ॐ अरिष्टानिमेऽअङ्गानि तनूस्तान्वा मे सह सन्तु
—(समस्त शरीर को)

पृथ्वी पूजनम्

धरती माता का पंचोपचार विधि से मंत्रोच्चार के साथ पूजन करें ।

ॐ पृथ्वितया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृताः ।
त्वं च धारण मां देवि पवित्रं कुरु चासनम् ।।

आत्मशोधन की ब्रह्मसंध्या के उपर्युक्त षट् कर्मो का भाव यह है कि साधक में पवित्रता एवं प्रखरता की अभिवृद्धि हो तथा मलिनता, अवांछनीयता की निवृत्ति हो । पवित्र-प्रखर व्यक्ति ही भगवान के दरबार में प्रवेश के अधिकारी होते हैं ।

देव पूजन

गायत्री उपासना का आधार केन्द्र महाप्रज्ञा-ऋतम्भरा गायत्री है । उनका प्रतीक चित्र सुसज्जित पूजा की वेदी पर स्थापित कर उनका निम्न मंत्र के माध्यम से आह्वान करें । भावना करें कि साधक की भावना के अनुरूप माँ गायत्री की शक्ति वहाँ अवतरित हो स्थापित हो रही है ।

आयातु वरदे देवि अक्षरे ब्रह्मवादिनी ।
गायत्रिच्छन्दसां माता ब्रह्मयोनिर्नमोऽस्तुते ।।३ ।।
ॐ श्रीगायत्र्यै नमः। आवाहयामि,स्थापयामि ध्यायाामि । ततो नमस्कारं करोमि ।

जिन्हें जैसी सुविधा हो उपयुक्त मंत्र से अथवा गायत्री मंत्र से आवाहन कर लें ।

आवाहन की हुई गायत्री माता का पूजन करना चाहिए । पूजन में साधारणतया (१) जल (२) धूपबत्ती (३) दीपक (४) अक्षत (५) चन्दन (६) पुष्प (७) नैवेद्य ।

इन सात वस्तुओं से काम चल सकता है । एक छोटी तश्तरी चित्र के सामने रखकर उसमें यह वस्तुएँ

गायत्री मंत्र बोलते हुए समर्पित की जानी चाहिए । तत्पश्चात् उन्हें प्रणाम करना चाहिए । यह सामान्य पूजन हुआ ।

जिन्हें सुविधा हो वे सोलह वस्तुओं से षोडशोपचार पूजन श्री सूक्त के सोलह मन्त्रों से कर सकते हैं । सोलह वस्तुओं में से जो वस्तु न हों उनके स्थान पर जल या अक्षत समर्पित किये जा सकते हैं ।श्री सूक्त के सोलह मंत्र तथा उन्हें किस प्रयोजन के लिए प्रयोग करना है, यह क्रम निम्नलिखित है-

श्री सूक्त से षोडशोपचार

लक्ष्मी, सरस्वती, सावित्री तथा इसी तरह अन्य देवियों का षोडशोपचार पूजन श्री सूक्त से किया जाता है । श्री सूक्त के प्रत्येक मंत्र उच्चारण के साथ उससे सम्बन्धित वस्तुएं देवी को समर्पित करनी चाहिये ।

१. आवाहन

ॐ हिरण्यवर्णा हरिणों सुवर्णरजतस्रजाम् ।
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह ।।

२. आसन

ॐ तां म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम् ।
यस्यां हिरण्यं विन्देय गामश्वं पुरुषानहम् ।।

३. पाद्य

ॐ अश्वपूर्वां रथमध्यां हस्तिनादप्रबोधिनीम् ।
श्रियं देवी मुपह्वये श्रीर्मा देवीजुषताम् ।।

४. अर्घ्य

ॐ कां सोऽस्मि तां हिरण्यप्राकारामार्द्रां
ज्वलन्तीं तृप्तां तर्पयन्तीम् । पद्मे स्थितां
पद्मवर्णां तामिहोपह्वये श्रियम् ।।

५. आचमन

ॐ चन्द्रां प्रभासां यशसा ज्घलन्तीं श्रिय लोके
देवजुष्टामुदाराम्। तां पद्मनेमिशरणमह
प्रपद्येऽअलक्ष्मीर्मे नश्यतां त्वां वृणोमि ।।

६. स्नान

ॐ आदित्यवर्णे तपसोऽधिणातौ वनस्पतिस्तव
वृक्षोऽयबिल्वः । तस्य फलानि मपसा
नुदन्तु तायान्तरायश्च बाह्याऽअलक्ष्मीः ।।

७. वस्त्र

ॐ उपैतु मां देवसखः कीर्तिश्च मणिना सह ।
प्रादुर्भूतो सुराष्ट्रेऽस्मिन् कीर्तिमृद्धिं ददातु मे ।।

८. यज्ञोपवीत

ॐ क्षुत्पिपासामलां ज्येष्ठःमलक्ष्मीं नाशयाम्यहम् ।
अभूतिमसमृद्धिं च सर्वा निर्णुद मे गुहात् ।।

९. गन्ध

ॐ गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम् ।
ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियम् ।।

१०. पुष्प

ॐ मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीमहि ।
पशूनांरूपम नस्य मयि श्रीः श्रयता यशः ।।

११. धूप

ॐ कर्दमेन प्रजा भूतामयि सम्भव कद्र्दम ।
श्रियं वासय मे कुले मातरं पद्ममालिनीम् ।।

१२. दीपक

ॐ आपः सृजन्तु स्निग्धानि चिक्लीत वस मे गृहे ।
न च देवीं मातरं श्रिय वासय मे कुले ।।

१३. नैवेद्य

ॐ आर्द्रापुष्करिणीं पुष्टि पिगलां पद्ममालिनीम् ।
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह ।।

१४. ताम्बूल-पुंगीफल

ॐ आर्द्रां यः करिणीं यष्टि सुवर्णां हेममालिनीम् ।
सूर्यां हिरण्यमयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह ।।

१५. दक्षिणा

ॐ तां म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम् ।
यस्या हिरण्यं प्रभूतिं गावो दास्योऽश्वान्विन्देयं
पुरुषानहम् ।।

१६. पुष्पांजलि

ॐ यः शुचिः प्रयतो भूत्वा जुहुयादाज्यमन्वहम् ।
सूक्तं पंचदशर्चं श्रीकामः सततं जपेत् ।।

गुरु वन्दना

गुरु परमात्मा की दिव्य चेतना का अंश है, जो साधक का मार्गदर्शन करता है । सद्गुरु के रूप में पूज्य गुरुदेव एवं वंदनीया माताजी का अभिवंदन करते हुए उपासना की सफलता हेतु गुरु आह्वान निम्न मंत्रोच्चार के साथ करें ।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुदेव महेश्वरः ।
गुरुदेव परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः ।।
अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदंदर्शितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः ।।
ॐ श्री गुरुवे नमः। आवाहयामि, स्थापयामि, पूजयामि।

माँ गायत्री व गुरुसत्ता के आह्वान व नमन के पश्चात् देवपूजन में घनिष्ठता स्थापना हेतु पंचोपचार किये जाते हैं । इन्हें विधिवत् सम्पन्न करें । जल, अक्षत, पुष्प, धूप-दीप तथा नैवेद्य प्रतीक के रूप में आराध्य के समक्ष प्रस्तुत किये जाते हैं । एक-एक करके छोटी-तश्तरी में इन पाँचों को समर्पित करते चलें । जल का अर्थ है नम्रता-सहृदयता ।अक्षत का अर्थ है–प्रसन्नता, आंतरिक उल्लास । धूप-दीप का अर्थ है-सुगंध व प्रकाश का वितरण, पुण्य-परमार्थ तथा नैवेद्य का अर्थ है–स्वभाव व व्यवहार में मुधरता, शालीनता का समावेश ।

ये पाँचों उपचार व्यक्तित्व को सत्प्रवृत्तियों से संपन्न करने के लिए किये जाते हैं । कर्मकाण्ड के पीछे भावना महत्त्वपूर्ण है ।

जप

गायत्री मंत्र का जप न्यूनतम तीन माला अर्थात् घड़ी से प्रायः पंद्रह मिनट नियमित रूप से किया जाय । अधिक बन पड़े तो अधिक उत्तम । होंठ, कण्ठ मुख हिलते रहें या आवाज इतनी मंद हो कि दूसरे उच्चारण को सुन न सकें । जप प्रक्रिया कषाय-कल्मषों, कुसंस्कारों को धोने के लिए पूरी की जाती है ।

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य
धीमहि धियो योनः प्रचोदयात् ।

इस प्रकार मंत्र का उच्चारण करते हुए माला की जाये एवं भावना की जाये कि निरन्तर हम पवित्र हो रहे हैं । दुर्बुद्धि की जगह सद्बुद्धि की स्थापना हो रही है ।

पंचकोषों का विनियोग करने के पश्चात् एवं जप करने से पूर्व चित्त को प्रमाद, उदासीनता, उद्वेग, अस्थिरता आदि दोषों से बचाने के लिए सावधान किया जाता है । यदि ऐसी स्थिति कभी आने लगे तो उसे रोकने और हटाने के लिए सजग रहना चाहिए । चित्त वृत्तियों के घट जाने, शिथिल पड़ जाने, चंचल या उद्विग्न रहने से जप का प्रयोजन सफल नहीं होता है । प्रेरणा और ग्रहण शक्ति के बिना जप का प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता । इसलिए सावधान हो जाना चाहिए कि चित्त में अवसाद न आने पावे और साधन में प्रीति उन्नति मात्रा में बनी रहे ।

अब तुलसी की माला दाहिने हाथ में लेकर जप आरम्भ करना चाहिए । तर्जनी उंगली को अलग रखना चाहिए । अनामिका, मध्यमा और अंगूठे की सहायता से जप किया जाता है । एक माला पूरी हो जाने पर माला को मस्तक से लगाकर प्रणाम करना चाहिए और बीच की केन्द्र मणी सुमेरु को छोड़ कर दूसरा क्रम आरंभ करना चाहिए । लगातार केन्द्रमणि को भी जपते हुए सुमेरु का उल्लंघन करते हुए जप करना ठीक नहीं । सुमेरु को मस्तक पर लगाने के उपरान्त प्रारम्भ वाला दाना फेरना आरम्भ कर देना चाहिए । कई जप करने वाले सुमेरु पर से माला को वापिस लौटा देते हैं और एक बार सीधी दूसरी बार उलटी इस क्रम से जपते रहते हैं पर वह क्रम ठीक नहीं । जैसे रस्सी को एक बार सीधी बटा जाये ओर दूसरी बार उलटी बटा जाय तो उसकी ऐंठ एक बार लगती है दूसरी बार खुल जाती है । यह प्रयत्न बहुत देर जारी रखा जाय तो भी रस्सी बटने का उद्देश्य सफल नहीं होता । अधिक माला जितनी हो सके उतनी ठीक, पर एक माला तो कम से कम नित्य जपनी ही चाहिए । इस जप को निरन्तर जारी रखना चाहिए क्योंकि निरन्तर प्रयत्न से साधना में सफलता मिलती है वह कभी करने कभी न करने की अनियमितता में नहीं मिल सकती ।

जप के समय चित्त को प्रयोजनीय विषय पर लगाये रखने के लिए ध्यान करना आवश्यक है । चित्त के एक स्थान पर केन्द्रीभूत होने से एक विशिष्ट आध्यात्मिक शक्ति का उद्भव होता है । ध्यान द्वारा मानसिक शक्तियों पर एक स्थान पर केन्द्रित किया जाता है । इससे चित्त वृत्तियों का निरोध होता है, आत्म निग्रह होता है और मंत्र पर काबू प्राप्त किया जाता है ।

मनः शास्त्र के ज्ञाता जानते हैं कि विचारों में एक चुम्बकत्व होता है, एक प्रकार के विचार अपनी जाति के अन्य विचारों को आकाश मार्ग में से खींचते हैं और अपने पास उसी जाति के विचारों का एक भारी भण्डार जमा कर लेते हैं । मनुष्य जो कुछ सोचता है उसकी सूक्ष्म तरंगें विश्वव्यापी आकाश (ईथर) तत्त्व में उत्पन्न होती हैं और वे सारी पृथ्वी पर फैल जाती हैं, इनका कभी नाश नहीं होता है वरन् किसी न किसी रूप में उनका अस्तित्त्व सदा बना रहता है । जब कोई व्यक्ति उसी प्रकार के विचार करता है तो उसकी चुम्बक शक्ति से वे विविध व्यक्तियों द्वारा विविध समयों पर छोड़े हुए विचार आकाश मार्ग में से खिंच-खिंच कर उसके पास जमा होते रहते हैं । इस प्रक्रिया के अनुसार गायत्री साधक को प्राचीन काल के अनुभवों का लाभ अनायास

ही होता रहता है । ध्यान करने वाला मस्तिष्क को एक स्थान पर केन्द्रीभूत करता है तो उसकी चुम्बक शक्ति विशेष रूप से प्रबल हो जाती है और उसके आकर्षण से पूर्ण काल के अनेक साधकों के अनुभव खिंच-खिंच कर जमा होते हैं और उसके ऊपर अध्यात्म धन की वर्षा करके आत्म समृद्धि से सम्पन्न कर देते हैं ।

मनुष्य जिस प्रकार के विचार करता है उसी ढांचे में ढलता है । भृंग और कीट का उदाहरण प्रसिद्ध है । भृंग की गुंजार को तन्मयता से सुनने के कारण कीड़े का मस्तिष्क ही नहीं शरीर भी बदल कर भृंग के समान बन जाता है । संगति की महिमा किसी से छिपी नहीं है, जिस प्रकार की विचारधारा के वातावरण के बीच हम रहते हैं उसी प्रकार के स्वयं भी बन जाते हैं । ध्यान करते समय जो भाव हमारे मन में होते हैं, उसके अनुसार हमारे मस्तिष्क, शरीर और स्वभाव का निर्माण आरम्भ हो जाता है और कुछ ही दिनों में सचमुच वैसे ही बन जाते हैं । पहले पहल कोई बात मस्तिष्क में आती है कुछ दिनों लगातार मन में घूमते रहने से वह संस्कार की प्रेरणा में वैसी ही क्रिया होने लग जाती है । इस प्रकार विचार केवल विचार न रह कर थोड़े से समय में कार्य बन जाता है ।

जप के समय साथ-साथ वेद माता गायत्री का ध्यान करना चाहिए । हृदयाकाश में ज्योति स्वरूप गायत्री की शक्तिमयी किरणों का अपने अन्दर प्रसार होने की भावना करना एक श्रेष्ठ ध्यान है । अधखुले या बन्द नेत्रों में यह ध्यान करना चाहिए । अपने हृदय को नील आकाश के समान विस्तृत शून्य लोक मान कर इनमें ऐसी भावना करनी चाहिए कि ज्ञान की ज्योति सूर्य के समान के समान तेज वाली, अंगूठे के बराबर आकार वाली, दीपक की लौ के समान नीचे से मोटी और ऊपर को पतली प्रकाश प्रभा का ध्यान करना चाहिए । जैसे सूर्य या दीपक में से प्रकाश किरणें निकल कर चारों ओर फैलती हैं वैसे ही हृदयाकाश में स्थित ज्ञान ज्योति गायत्री में से ज्ञान शक्ति और समृद्धि प्रदान करने वाली किरणें निकल कर शरीर के समस्त अंग प्रत्यंगों में फैल रही हैं, ऐसा ध्यान करना चाहिए और इस ध्यान के साथ-साथ जप चालू रखना चाहिए ।

थोड़े ही दिनों में इस ध्यान के समय साधक को विचित्र अनुभव आने लगते हैं । श्वेत वर्ण की ज्योति में कई रंगों की झांकी होती है । प्रधानतः नील,पीत और रक्त वर्ण की आभा उस ज्योति में तथा किरणों में दृष्टिगोचर होती है । अपने अन्दर जिन तत्त्वों की वृद्धि होती है उनका आवरण उस ज्योति के ऊपर आता है, फलस्वरूप उसके अन्दर वैसे ही रंग दिखाई देने लगते हैं, आत्म-ज्ञान की वृद्धि होने से नील रंग की शारीरिक और मानसिक शक्तियों की वृद्धि होने से पीत वर्ण की सम्पन्नता समृद्धि और सौभाग्य की वृद्धि होने से गुलाबी या लाल रंग की छाया होती है । कई बार दो तीन रंग थोड़े करके दिखाई देते हैं और कई बार मिश्रित रंगों की झांकी होती है । उनका कारण उन सभी दिशाओं में प्रगति होना है जिनका प्रतिनिधित्व वे रंग करते हैं । मूल रंग यह तीन ही हैं इनके मिश्रण से अन्य रंग बनते हैं । पीला और नीला मिलने से हरा, पीला और लाल मिलने से नारंगी, नीला और लाल मिलने से बैंगनी रंग बनता है । इस मिश्रण की छाया दृष्टिगोचर होने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि हमारे अन्दर किन तत्त्वों की वृद्धि हुई है । जैसे हरे रंग की किरणें प्रतिभाषित हो तो पीले और नीले रंग के प्रतिनिधि शशि तथा ज्ञान की मिश्रित अभिवृद्धि का लक्षण समझना चाहिए ।

आरंभ में तरह-तरह के रंग तथा हिलती-डुलती, घटती-बढ़ती ज्योति के दर्शन होते हैं यह प्रारम्भिक उतार-चढ़ाव हैं । कालान्तर में जब पूर्णता प्राप्त होती है तो ज्योति का वर्ण शुभ्र होता है और वह निश्चल रहती है । उस स्थिरता के साथ समाधि का अनुभव होता है । सांसारिक ज्ञान विलुप्त होने लगता है और साधक अपने अस्त को उस ज्योति में निमग्न-अभिन्न अनुभव करता है उसे लगता है कि मैं स्वयं ही ज्योति स्वरूप हो गया हूँ । इस अभिन्नता को आत्म-दर्शन अथवा ईश्वर मिलन भी कह सकते हैं । इन क्षणों में जो अनन्त आध्यात्मिक आनन्द आता है उसकी तुलना न तो संसार के किसी आनन्द से हो सकती है और न लिख कर बताई जा सकती है वह गूंगे द्वारा खाये हुए गुड़ की तरह प्रकट नहीं हो सकती वरन् अनुभव में ही लाई जा सकती है । इस प्रकार आत्मदर्शन करने वाला गायत्री का साधक, भगवान की आद्य शक्तिमय हो जाता है, उसका जीव भाव, ब्रह्म भूत हो जाता है इसे ही ब्रह्म विदीर्ण भी कहते हैं ।

समाधि की पूर्णावस्था प्राप्त होने से पूर्व किसी-किसी को पूर्व लक्षण के रूप में उस ज्योति के अन्तर्गत भगवती के अस्तित्व का, प्रसन्नता का चिन्ह परिलक्षित होता

है । यह शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श, में से कोई एक या कई एक का सम्मिश्रण हो सकता है । किसी को इस हृदयाकाश में दिव्य शब्द अथवा संदेश सुनाई पड़ते हैं, किसी को उनके मंगलमय स्वरूप की झांकी होती है, अथवा विचित्र दृश्य दिखाई पड़ते हैं । किसी को स्वादिष्ट भोजनों जैसा अथवा अन्य किसी प्रकार का रस आता है । किसी को अपने भीतर बाहर चारों और गुलाब, खस, कदम्ब, केतकी आदि की सुगंधियां व्याप्त प्रतीत होती हैं, किसी को स्पर्श, आलिंगन, पुलकन, रोमांच, स्खलन, जैसे अनुभव होते हैं । यह अनुभव साधना की सफलता के प्रतीक अथवा अपने में गायत्री तत्त्व की सुदृढ़ स्थिति के चिन्ह हैं । इन अनुभवों का वर्णन विश्वस्त व्यक्तियों के सिवाय हर किसी से न करना चाहिए ।

इस ध्यान युक्त जप की साधना से योग के अन्तिम चारों चरण सिद्ध होते हैं । अवांछनीय दिशाओं से मन को रोकना 'प्रत्याहार' कहलाता है । जब ध्यान में मन लगा तो प्रत्याहार स्वयं ही हो गया है । गायत्री का ज्योतिर्मय ध्यान एक श्रेष्ठ ध्यान है । इस ध्यान से सूक्ष्म तत्त्वों की अपने में धारणा होती है और उस धारणा के फलस्वरूप समाधि की सफलता मिलती है ।

राजयोग की आरंभिक चार-चार सीढ़ियों पर इससे पूर्व ही साधक का पदार्पण हो जाता है । यम–नियम, संयम, सदाचार और उद्यता के लिए गायत्री की प्रेरणा स्वतः होती है । आसन और प्राणायाम का पंच कोषों में प्रधान स्थान हैं ही । इस प्रकार इस ब्रह्म सन्ध्या में राज योग के आठ अंगों की यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की साधना एक साथ होती चलती है और राजयोग का, विषयों का पाठ्यक्रम ब्रह्म संध्या की छोटी से साधना से ही पूरा हो जाता है । नित्य प्रति नियमानुसार ब्रह्म संध्या करने वाले एक प्रकार के योग साधक ही हैं और साधना के पकने पर उन्हें समुचित फल प्राप्त होता है ।

पूजा सामग्री का विसर्जन

समग्रामपि सामग्रीमनुष्ठानस्य पूजिताम् ।
स्थाने पवित्र एवैसां कुत्रचिद्धि विसर्जयेत् ।।

(अनुष्ठानस्य) अनुष्ठान की (समग्रामपि) समस्त (पूजितां) पूजित (एतां) उस (सामग्रीं) सामिग्री को (कुत्रचित्) कहीं (पवित्रे) पवित्र (स्थाने एव) स्थान पर ही (विसर्जयेत) विसर्जित करें ।

साधना के उपरान्त पूजा के पदार्थ बचते हैं । अक्षत् धूप, नैवेद्य, दूर्वा, कलावा, फूल, जल, भोग, दीपक की बत्ती, यज्ञ की भस्म, इधर-उधर गिरी हुई हवन सामिग्री, बची हुई सामिधाएं आदि पदार्थ ऐसे हैं जो दुबारा प्रयोग में आ नहीं सकते, सुरक्षित रखने की आवश्यकता नहीं, इसलिए उनको किसी न किसी प्रकार हटाना ही पड़ता है । कहीं न कहीं उनका अन्त करना ही होता है । कई बार इस विसर्जन में असावधानी बरती जाती है और झाड़बुहार कर कूड़े कचरे के साथ गंदे स्थानों में फेंक दिया जाता है । यह ठीक नहीं । क्योंकि जिन पदार्थों का उच्च भावनाओं के साथ सम्मान किया गया है उनके साथ अन्त तक सम्मान प्रदर्शित किया जाना चाहिए । अपने किसी आत्मीय के मर जाने पर उसके शरीर को हम योंही चाहे जहां नहीं फेंक आते, उसकी दुर्दशा होना पसंद नहीं करते । यद्यपि वह मरा हुआ शरीर अब बेकार है उसका कुछ उपयोग नहीं तो भी मृत व्यक्ति के साथ जो प्रेम और सद्भाव था उसका अन्त भी उसी प्रकार करने की इच्छा उठना स्वाभाविक है । इसीलिए लोग अपने स्वजन सम्बन्धियों के शरीर की अन्त्येष्टि-क्रिया श्रद्धा और सम्मान के साथ करते हैं और उसकी भस्म, अस्थि आदि अवशेषों को गंगा, त्रिवेणी, हरिद्वार आदि पुण्य तीर्थों में विसर्जित करते हैं । साधना से बची हुई सामिग्री के साथ भी हमारे यही भाव होने चाहिए । उसे किसी पवित्र नदी, कूप, सरोवर, जलाशय, देव मन्दिर, निर्जन क्षेत्र आदि में विसर्जन करना चाहिए जिससे किसी के पैरों के नीचे वह कुचली न जाय और गंदे पदार्थों के साथ मिलकर उसकी दुर्दशा न हो । जल को सूर्य के सम्मुख अर्घ्य देते हुए पवित्र भूमि में इस प्रकार चढ़ाना चाहिए कि किसी गंदी नाली आदि में पहुंचने से पहले ही सूख जाय । चावल आदि खाद्य पदार्थ पक्षियों को या गाय को खिला देने चाहिए ।

साधना अवशिष्ट पदार्थों में साधक की आध्यात्मिक भावनाओं का सम्मिश्रण रहता है । वह अगर गंदे पदार्थों के साथ पटक दी जाती है और उसकी दुर्दशा होती है तो उसकी प्रतिक्रियास्वरूप साधक को कष्ट होता है । दूरस्थ पुत्र पर संकट आने से माता को अज्ञान रूप से बेचैनी होती है, भय और आशंका से उसका हृदय धड़कने लगता है । जिन पत्नियों का अपने पतियों

स घानिष्ठ प्रेम होता है तो उन्हें भी ऐसे ही अनुभव होते हैं। कारण यह है कि उस व्यक्ति का माता या पत्नी के साथ घनिष्ठ आत्म सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध उन दोनों को वैसे ही टेलीफोन या रेडियो की तरह एक अदृश्य सम्बन्ध सूत्र में बाँधे रहता है जिसके कारण एक का सुख-दुख दूसरे तक पहुंचता है। यही बात साधन सामिग्री और साधक के सम्बन्ध में है। उस सामिग्री की दुर्दशा हो तो पूर्व स्थापित आत्मिक सम्बन्धों के कारण साधक का चित्त भी उससे दुःखी होता है।

यदि उस सामिग्री को किसी पवित्र स्थान में विसर्जित किया जाता है तो सामिग्री के साथ लिपटी हुई सात्विकता उस पुण्य स्थान में घुल मिल जाती है और फिर उस स्थान या जलाशय का उपयोग करने वालों को सतोगुणी प्रेरणा के अधिक मात्रा में देने का कारण बनती है। उस प्रेरणा उपयोग करने वाले उत्तम लाभ प्राप्त करते हैं। इस प्रकार उस विसर्जन कर्ता को एक पुण्य फल भी प्राप्त होता है। इस प्रकार एक पंथ दो काज की कहावत चारितार्थ हो जाती है।

गायत्री की सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वसुलभ ध्यान

मानव-मस्तिष्क बड़ा ही आश्चर्यजनक, शक्तिशाली एवं चुम्बक गुण वाला यन्त्र है, उसका एक-एक परमाणु इतना विलक्षण है उसकी गतिविधि, सामर्थ्य और क्रिया-शीलता को देखकर बड़े-बड़े वैज्ञानिक हैरत में रह जाते हैं। इन अणुओं को जब किसी विशेष दशा में नियोजित कर दिया जाता है तो उसी दिशा में एक लप-लपाती हुई अग्नि जिह्वा अग्रगामी होती है। जिस दिशा में मनुष्य इच्छा, आकांक्षी और लालसा करता है उसी दिशा में, उसी रंग में, उसी लालसा में, शरीर की अन्य शक्तियाँ नियोजित हो जाती हैं।

पहले भावनाएँ मन में आती हैं। फिर जब उन भावनाओं पर चित्त एकाग्र होता है, तब यह एकाग्रता, एक चुम्बक शक्ति आकर्षण-तत्त्व के रूप में प्रकट होती है और अपने अभीष्ट तत्त्वों को अखिल आकाश में से खींच लाती है। ध्यान का यही विज्ञान है। इस विज्ञान के आधार पर प्रकृति के अन्तराल में निवास करने वाली सूक्ष्म आद्यशक्ति ब्रह्मस्फुरणा गायत्री को अपनी ओर आकर्षित किया जा सकता है। उसके शक्ति-भण्डार को प्रचुर मात्रा में अपने अन्दर धारण किया जा सकता है।

जप के समय अथवा किसी अन्य सुविधा के समय में नित्य गायत्री का ध्यान किया जाना चाहिए। एकान्त, कोलाहल रहित, शान्त वातावरण के स्थान में स्थिर चित्त होकर ध्यान के लिए बैठना चाहिए। शरीर शिथिल रहे। यदि जप-काल में ध्यान किया जा रहा है तब नो पालथी मारकर, मेरुदण्ड सीधा रखकर ही ध्यान करना उचित है। यदि अलग समय में करना हो तो आराम कुर्सी पर लेटकर या मसन्द, दीवार, वृक्ष आदि का सहारा लेकर साधना करनी चाहिए, शरीर बिलकुल शिथिल कर दिया जाय। इतना शिथिल मानो देह निर्जीव हो गया। इस स्थिति में नेत्र बन्द करके दोनों हाथों को गोदी में रखकर ऐसा ध्यान करना चाहिए कि 'इस संसार में सर्वत्र केवल नील आकाश है, उसमें कहीं कोई वस्तु नहीं है। प्रलयकाल में जैसी स्थिति होती है आकाश के अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं रह जाता वैसी स्थिति का कल्पना-चित्र मन में भली-भाँति अंकित करना चाहिए। जब यह कल्पना-चित्र भावना-लोक में भली-भाँति अंकित हो जाय तो सुदूर आकाश में एक छोटे ज्योति पिण्ड को सूक्ष्म नेत्रों से देखना चाहिए। सूर्य के समान प्रकाशवान एक छोटे नक्षत्र के रूप में गायत्री का ध्यान करना चाहिए। यह ज्योति-पिण्ड अधिक समय तक ध्यान में रखने पर समीप आता है, बड़ा होता जाता है और उसका तेज अधिक प्रखर हो जाता है।

चन्द्रमा या सूर्य के मध्य भाग में ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उसमें काले-काले धब्बे दिखाई पड़ते हैं। इसी प्रकार इस गायत्री तेज-पिंड में ध्यानपूर्वक देखने से आरम्भ में भगवती गायत्री की धुँधली सी प्रतिमा दृष्टिगोचर होती है। धीरे-धीरे ध्यान करने वाले को यह मूर्ति अधिक स्पष्ट, अधिक स्वच्छ, अधिक चैतन्य, हँसती, बोलती, चेष्टा करती, संकेत करती तथा भाव प्रकट करती हुई दिखाई पड़ती है। हमारी इस गायत्री पुस्तक के आरम्भ में भगवती गायत्री का एक चित्र दिया हुआ है। उस चित्र का ध्यान आरम्भ में करने से पूर्व कई बार बड़े प्रेम से गौर से, भली-भांति अंग-प्रत्यंगों का निरीक्षण करके उस

मूर्ति को मनःक्षेत्र में इस प्रकार बिठाना चाहिए कि ज्योति-पिण्ड में ठीक वैसी ही प्रतिमा की झाँकी होने लगे। थोड़े दिनों में यह तेजोमण्डल से आवेष्टित भगवती गायत्री की छवि अत्यन्त सुन्दर, अत्यन्त हृदयग्राही रूप से ध्यानावस्था में दृष्टिगोचर होने लगती है।

जैसे सूर्य की किरणें धूप में बैठे हुए मनुष्य के ऊपर पड़ती हैं और वह किरणों की उष्णता को प्रत्यक्ष अनुभव करता है, वैसे ही यह ज्योतिपिण्ड जब समीप आने लगता है, ऐसा अनुभव होता है मानो कोई दिव्य प्रकाश अपने मस्तक में, अन्तःकरण में और शरीर के रोम-रोम में प्रवेश करके अपना अधिकार जमा रहा है। जैसे अग्नि में पड़ने से लोहा भी धीरे-धीरे गरम और लाल रंग का अग्निवर्ण हो जाता है, वैसे ही जब गायत्री तेज को ध्यानावस्था में साधक अपने अन्दर धारण करता है तो वही सच्चिदानन्द स्वरूप, ऋषि कल्प होकर ब्रह्मतेज से झिलमिलाने लगता है। उसे अपना सम्पूर्ण शरीर तप्त स्वर्ण की भाँति रक्तवर्ण अनुभव होता है और अंतःकरण में एक अलौकिक दिव्य रूप का प्रकाश सूर्य के समान प्रकाशित हुआ दीखता है। इस तेज संस्थान में आत्मा के ऊपर चढ़े हुए अपने कलुष कषाय जल-बल कर भस्म हो जाते हैं और साधक अपने को ब्रह्मस्वरूप, निर्मल, निर्भय, निष्पाप, निरासक्त अनुभव करता है।

इस तेज धारण ध्यान में कई बार रंग-बिरंगे प्रकाश दिखाई पड़ते हैं, कई बार प्रकाश में छोटे-मोटे रंग-बिरंगे तारागण प्रगट होते, जगमगाते और छिपते दिखाई पड़ते हैं, वे एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर चलते हैं और फिर बीच में ही तिरछे चलने लगते हैं तथा उलटे वापस लौट पड़ते हैं। कई बार चक्राकार एवं बाण की तरह तेजी से एक दिशा में चलते हुए छोटे-छोटे प्रकाश खण्ड दिखाई पड़ते हैं। यह सब प्रसन्नता देने वाले सफलता के चिन्ह हैं। अन्तरात्मा में गायत्री-शक्ति की वृद्धि होने से छोटी-छोटी अनेकों शक्तियाँ एवं गुणवलियाँ विकसित होती हैं वे ही ऐसे छोटे-छोटे रंग-बिरंगे प्रकाश पिण्डों के रूप में परिलक्षित होते हैं।

जब साधना अधिक प्रगाढ़, पुष्ट और परिपक्व हो जाती है तो मस्तिष्क के मध्यभाग या हृदय स्थान पर वही गायत्री तेज स्थिर हो जाता है। यही सिद्धावस्था है। जब यह तेज बाहर आकाश से खिंचकर अपने अन्दर स्थिर हो जाता है तो ऐसी स्थिति हो जाती है, जैसे अपना शरीर और गायत्री का प्राण एक ही स्थान पर सम्मिलित हो गये हों। भूत-प्रेत का आवेश शरीर में बढ़ जाने पर जैसे मनुष्य उस प्रेतात्मा की इच्छानुसार काम करता है, वैसे ही गायत्री-शक्ति का आधान अपने अन्दर हो जाने से साधक के विचार का कार्य, आचरण मनोभाव, रुचि इच्छा, आकांक्षा एवं ध्येय में परमार्थ प्रधान रहता है। इससे मनुष्यत्त्व में से पशुता घटती है और देवत्त्व की मात्रा बढ़ती जाती है।

उपर्युक्त ध्यान गायत्री का सर्वोत्तम ध्यान है। जब गायत्री तेज-पिण्ड की किरणें अपने ऊपर पड़ने की ध्यान-भावना की जा रही हो तब यह भी अनुभव करना चाहिए कि यह किरणें सद्बुद्धि, सात्विकता एवं सशक्तता को उसी प्रकार हमारे ऊपर डाल रही हैं, जिस प्रकार कि सूर्य की किरणें गर्मी, प्रकाश तथा गतिशीलता प्रदान करती हैं। इस ध्यान से उठते ही साधक अनुभव करता है कि उसके मस्तिष्क में सद्बुद्धि, अन्तःकरण में सात्विकता तथा शरीर में सूक्ष्मता की मात्रा बढ़ गई है। यह बुद्धि यदि थोड़ी-थोड़ी करके भी नित्य होती रहे तो धीरे-धीरे कुछ ही समय में वह बड़ी मात्रा में एकत्रित हो जाती है, जिससे साधक ब्रह्म-तेज का एक बड़ा भण्डार बन जाता है। ब्रह्म तेज की दर्शनी हुण्डी है, जिसे श्रेय और प्रेय दोनों में से किसी भी बैंक में भुनाया जा सकता है उसके बदले में दैवी लाभ या सांसारिक सुख कोई भी वस्तु प्राप्त की जा सकती है।

।। सूर्यार्घ्यदान ।।

विसर्जन—जप समाप्ति के पश्चात् पूजा वेदी पर रखे छोटे कलश का जल सूर्य की दिशा में अर्घ्य रूप में निम्न मंत्र के उच्चारण के साथ चढ़ाया जाता है।

ॐ सूर्यदेव सहस्रांशो तेजोराशे जगत्पते।
अनुकम्पय मां भक्तया गृहाणार्घ्यं दिवाकर!
ॐ सूर्याय नमः, आदित्याय नमः, भास्कराय नमः।

भावना यह करें कि जल आत्मसत्ता का प्रतीक है एवं सूर्य विराट ब्रह्म का तथा हमारी सत्ता सम्पदा समष्टि के लिए समर्पित-विसर्जित हो रही है। इतना सब करने के बाद पूजा स्थल पर विदाई का निम्न मंत्र के उच्चारण के साथ करबद्ध नतमस्तक हो नमस्कार किया जाय।

उत्तमे शिखरे देवि भूम्यां पर्वतं मूर्धनि।
ब्राह्मणेभ्योऽह्यमनु ज्ञातं गच्छ देवि यथासुखम्।।

तत्पश्चात् सब वस्तुओं को समेटकर यथास्थान रख दिया जावे । जप के लिए माला तुलसी या चन्दन की ही लेनी चाहिए । सूर्योदय से दो घण्टे पूर्व से सूर्यास्त के एक घण्टे बाद तक कभी भी गायत्री उपासना की जा सकती है । मौन-मानसिक जप चौबीस घण्टे किया जा सकता है । माला जपते समय तर्जनी उँगली का उपयोग न करें तथा सुमेरु का उल्लंघन न करें ।

गायत्री-साधना से पापमुक्ति

गायत्री की अनन्त कृपा से पतितों को उच्चता मिलती है और पापियों के पाप नाश होते हैं । इस तथ्य पर विचार करते हुए हमें यह बात भली प्रकार समझ लेनी चाहिए कि आत्मा सर्वथा, स्वच्छ, निर्मल, पवित्र, शुद्ध बुद्ध और निर्लिप्त है । श्वेत काँच या पारदर्शी पात्र अपने आप में स्वच्छ होता है, उसमें कोई रंग नहीं होता, पर उस पात्र में किसी रंग का पानी भर दिया जाय तो उसी रंग का दीखने लगेगा साधारणतः उसे उसी रंग का पात्र कहा जायेगा, इतने पर भी पात्र का मूल सर्वथा रंग रहित ही रहता है । एक रंग का पानी उस काँच के पात्र में भरा हुआ है, उसे फैला कर यदि दूसरे रंग का पानी भर दिया जाय तो फिर इस परिवर्तन के साथ ही पात्र दूसरे रंग का दिखाई देने लगेगा । मनुष्य की यही स्थिति है । आत्मा स्वभावतः निर्विकार है, पर उसमें जिस प्रकार के गुण, कर्म, स्वभाव भर जाते हैं, वह उसी प्रकार की दिखाई देने लगती है ।

गीता में कहा गया है कि "विद्या, विनय, सम्पन्न, ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता तथा चाण्डाल आदि को जो समत्व बुद्धि से देखता है वह पण्डित है ।" इस समत्व का रहस्य यह है कि आत्मा सर्वथा निर्विकार है, उसकी मूल स्थिति में परिवर्तन नहीं होता, केवल मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का अन्तःकरण चतुष्टय, रंगीन-विकारग्रस्त हो जाता है, जिसके कारण मनुष्य अस्वाभाविक, विपन्न, विकृत दशा में पड़ा हुआ प्रतीत होता है । इस स्थिति में यदि परिवर्तन हो जाय तो आज के 'दुष्ट' का कल ही 'सन्त' बन जाना कुछ भी कठिन नहीं है । इतिहास बताता है कि एक चाण्डाल कुलोत्पन्न भयंकर तस्कर बदल कर महर्षि बाल्मीकि हो गया । जीवन भर वेश्या-वृत्ति करने वाली गणिका आन्तरिक परिवर्तन के कारण परमसाध्वी देवियो को प्राप्त होने वाली परमगति की अधिकारिणी हुई, कसाई का पेशा करते हुए जिन्दगी गुज़ार देने वाला अजामिल और सदन, परम भागवत कहलाये । इस प्रकार अनेकों नीच काम करने वाले उच्चता को प्राप्त हुए हैं और हीन कुलोत्पन्नों को उच्च वर्ण की प्रतिष्ठा मिली है । रैदास चमार, कबीर जुलाहे, रामानुज शूद्र, षट्कोपाचार्य खटीक, तिरुवल्लुवर अन्त्यजवर्ण में उत्पन्न हुए थे, पर उनकी स्थिति अनेकों ब्राह्मणों से ऊँची थी । विश्वामित्र क्षत्री से ब्राह्मण बने थे ।

जहाँ पतित स्थान से ऊपर चढ़ने के उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है, वहाँ उच्च स्थिति के लोगों के पतित होने के भी उदाहरण कम नहीं हैं । पुलिस्त के उत्तम ब्रह्मकुल में उत्पन्न हुआ चारों वेदों का महापण्डित रावण, मनुष्यता से भी पतित होकर राक्षस कहलाया, खोटा अन्न खाने से द्रोण और भीष्म जैसे ज्ञानी पुरुष, अन्यायी कौरवों के समर्थक हो गए । विश्वामित्र ने क्रोध में आकर वशिष्ठजी के निर्दोष बालकों को हत्या कर डाली, व्यास ने धीवर की कुमारी कन्या से व्यभिचार करके सन्तान उत्पन्न की, विश्वामित्र ने वेश्या पर आसक्त होकर उसे लम्बे समय तक अपने पास रखा, चन्द्रमा जैसे देवता गुरु-माता के साथ कुमार्गगामी बना, देवताओं के राजा इन्द्र को व्यभिचार के कारण शाप का भाजन होना पड़ा- ब्रह्मा अपनी पुत्री पर ही मोहित हो गए, ब्रह्मचारी नारद मोहग्रस्त होकर विवाह करने को स्वयम्बर में पहुंचे, सड़ी-गली काया वाले वयोवृद्ध च्यवनऋषि को सुकुमारि सुकन्या से विवाह करने की सूझी, बलि राजा के दान में भाँजी मारते हुए शुक्राचार्य ने अपनी आँख गँवा दी । धर्मराज युधिष्ठिर तक ने अश्वत्थामा मरने की पुष्टि करके अपने मुख पर कालिख पोती और धीरे से 'नरोवा कुंजरोवा' गुन-गुनाकर अपने को छद्म से बचाने की प्रवंचना की । कहाँ तक कहें, किस-किस की कहें, इस दृष्टि से इतिहास देखते हैं तो बड़ों-बड़ों को स्थान च्युत हुआ पाते हैं । इससे प्रकट होता है कि आंतरिक स्थिति में हेर-फेर हो जाने से भले मनुष्य बुरे और बुरे मनुष्य भले बन सकते हैं ।

शास्त्र कहता है कि जन्म से सभी लोग शूद्र पैदा होते हैं । पीछे संस्कार के प्रभाव से वे द्विज बनते हैं । असल में यह संस्कार ही है जो शूद्र को द्विज और द्विज को शूद्र बना देता है । गायत्री के तत्त्व-ज्ञान

को हृदय में धारण करने से ऐसे संस्कारों की उत्पत्ति होती है जो मनुष्य को एक विशेष प्रकार का बना देते हैं। उस पात्र में भरा हुआ पहला लाल रंग निवृत्त हो जाता है और उसके स्थान पर नीलवर्ण परिलक्षित होने लगता है।

पापों का नाश आत्म-तेज की प्रचण्डता से होता है। यह तेजी जितनी ही अधिक होती है उतना ही संहार का कार्य शीघ्र और अधिक परिणाम में होता है। बिना धार की लोहे की छड़ से वह कार्य नहीं हो सकता जो तीक्ष्ण तलवार से होता है। यह तेजी किस प्रकार आवे ? इसका उपाय तपना और रगड़ना है। लोहे को आग में तपाकर उसमें धार बनाई जाती है और पत्थर पर रगड़ कर उसे तेज किया जाता है। तब वह तलवार दुश्मन की सेना का सफाया करने योग्य होती है। हमें भी अपनी आत्मशक्ति तेज करने के लिए इसी तपाने घिसने वाली प्रणाली को अपनाना पड़ता है। इसे अध्यात्मिक भाषा में 'तप' या 'प्रायश्चित्य' नाम से पुकारते हैं।

अपराधों की निवृत्ति के लिए हर जगह 'दण्ड' का विधान काम में लाया जाता है। बच्चे ने गड़बड़ी की कि माता की डाँट, चपत पड़ी। शिष्य ने प्रमाद किया कि गुरु ने छड़ी सँभाली। सामाजिक नियमों को भंग किया कि पंचायत ने दण्ड दिया। कानून उल्लंघन हुआ कि जुर्माना, जेल, काला पानी या फाँसी तैयार है। ईश्वर दैविक, दैहिक, भौतिक दुख देकर पापों का दंड देता है। यह दण्ड विधान प्रतिशोध या प्रतिहिंसा मात्र नहीं है। 'खून का बदला खून' की जंगली प्रथा के कारण नहीं, दण्ड विधान का निर्माण उच्च आध्यात्मिक विज्ञान के आधार पर किया गया है। कारण यह है कि दण्ड स्वरूप जो कष्ट दिए जाते हैं उनसे मनुष्य के भीतर एक खलबली मचती है, प्रतिक्रिया होती है, तेजी आती है, जिससे उसका गुप्त मानस चौंक पड़ता है और भूल को छोड़कर उचित मार्ग पर आ जाता है। 'तप' में ऐसी ही शक्ति है। तप की गर्मी से अनात्म तत्त्वों का संहार होता है।

दूसरों द्वारा दण्ड के रूप में बलात् तप कराके हमारी शुद्धि की जाती है। उस प्रणाली को हम स्वयं ही अपना लें, अपने गुप्त प्रकट पापों का दण्ड स्वयं ही अपने को देकर स्वेच्छापूर्वक तप करें तो वह दूसरों के द्वारा बलात् कराये हुए तप की अपेक्षा असंख्य गुना उत्तम है। उसमें न अपमान होता है न प्रतिहिंसा एवं न आत्म-ग्लानि से चित्त क्षुभित होता है, वरन् स्वेच्छा तप से एक आध्यात्मिक आनन्द आता है, शौर्य और साहस प्रकट होता है तथा दूसरों की दृष्टि में अपनी श्रेष्ठता, प्रतिष्ठा बढ़ती है। पापों की निवृत्ति के लिए आत्म-तेज की अग्नि चाहिए, इस अग्नि की उत्पत्ति से दुहरा लाभ होता है, एक तो हानिकारक तत्त्वों का, कषाय-कल्मषों का नाश होता है, दूसरे उसी ऊष्मा और प्रकाश से दैवी तत्त्वों का विकास, पोषण एवं अभिवर्धन होता है, जिसके कारण साधक, तपस्वी, मनस्वी एवं तेजस्वी बन जाता है। हमारे धर्म-शास्त्रों में पग-पग पर व्रत, उपवास, दान, स्नान, आचार-विचार आदि के विधि-विधान इसी दृष्टि से किए गये हैं कि उन्हें अपनाकर मनुष्य इन दुहरे लाभों को उठा सके।

अपने से कोई भूल, पाप या बुराइयाँ बन पड़ी हों उनके अशुभ फलों के निवारण के लिए सच्चा प्रायश्चित्य तो यही है कि उन्हें फिर न करने का दृढ़ निश्चय किया जाय, पर यदि इस निश्चय के साथ-साथ थोड़ी तपश्चर्या भी की जाय तो उस प्रतिज्ञा को बल मिलता है और उसके पालन में दृढ़ता आती है। साथ ही यह तपश्चर्या सात्विकता की तीव्र गति से वृद्धि करती है, चैतन्यता उत्पन्न करती है और ऐसे उत्तमोत्तम गुण, कर्म स्वभावों को उत्पन्न करती है जिससे पवित्रतामय, साधनामय, मंगलमय जीवन बिताना सुगम हो जाता है।

जो कार्य पाप दिखाई पड़ते हैं वे सर्वदा वैसे पाप नहीं होते जैसे कि समझते हैं। कहा गया है कि कोई भी कार्य न तो पाप है न पुण्य। कर्ता की भावना के अनुसार पाप पुण्य होते हैं। जो कार्य एक स्थिति के मनुष्य के लिए पाप है वही दूसरे के लिए पाप रहित है और किसी के लिए तो वह पुण्य भी है। हत्या करना एक कर्म है, वह तीन व्यक्तियों के लिए भिन्न परिस्थिति के कारण भिन्न परिणाम वाला बन जाता है। कोई व्यक्ति दूसरों का धन अपहरण करने के लिए किसी की हत्या करता है यह हत्या घोर पाप हुई। कोई न्यायाधीश या जल्लाद समाज के शत्रु अपराधी को न्याय-रक्षा करने के लिए प्राणदण्ड देता है, वह उसके लिए कर्तव्य-पालन है। कोई व्यक्ति आततायी डाकुओं के आक्रमण से निर्दोष

के प्राण बचाने के लिए अपने को जोखिम में डालकर उन अत्याचारियों का बध कर देता है तो वह पुण्य है । हत्या तीनों ने की पर तीनों ही हत्याएँ अलग-अलग परिणाम वाली हैं । तीनों हत्यारे—डाकू, न्यायाधीश एवं आततायी से लड़कर उसका बध करने वाले—समान रूप से पापी नहीं गिने जा सकते ।

चोरी एक बुरा कर्म है । परन्तु परिस्थितियों वश वह भी सदा बुरा कर्म नहीं रहता । स्वयं सम्पन्न होते हुए भी जो अन्याय-पूर्वक दूसरों का धन हरण करता है, वह पक्का चोर है । दूसरा उदाहरण लीजिए—भूख से प्राण जाने की मजबूरी में किसी सुसम्पन्न आदमी का कुछ चुराकर आत्म-रक्षा करना कोई बहुत बड़ा पाप नहीं है । तीसरी स्थिति में—किसी दुष्ट की साधना सामग्री चुराकर उसे शक्तिहीन बना देना और उस चुराई हुई सामग्री को सन्मार्ग में लगा देना पुण्य का काम है । तीनों चोर समान श्रेणी के पापी नहीं ठहराये जा सकते ।

परिस्थिति, मजबूरी, धर्मरक्षा तथा बौद्धिक स्वल्प विकास के कारणोंवश कई बार ऐसे कार्य होते हैं जो स्थूल दृष्टि से देखने में निन्दनीय मालूम पड़ते हैं पर वस्तुतः उनके पीछे पाप-भावना छिपी नहीं होती । ऐसे कार्य पाप नहीं कहे जा सकते । बालक का फोड़ा चिरवाने के लिए माता को उसे अस्पताल ले जाना पड़ता है और बालक को कष्ट में डालना पड़ता है । रोगी की प्राण-रक्षा के लिए डाक्टर को कसाई के समान चीर-फाड़ करने का कार्य करना पड़ता है । रोगी की कुपथ्यकारक इच्छाओं को टालने के लिए उपचारक को झूँठे बहाने बनाकर किसी प्रकार समझाना पड़ता है । बालकों की जिद का भी प्रायः ऐसा ही समाधान किया जाता है । हिंसक जन्तुओं, शस्त्रधारी दस्युओं पर सामने से नहीं बल्कि पीछे से छिपकर आक्रमण करना पड़ता है ।

प्राचीन इतिहास पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि अनेक महापुरुषों को भी धर्म की स्थूल मर्यादाओं का उल्लंघन करना पड़ता है । लोक-हित, धर्म-वृद्धि और अधर्मनाश की सद्भावना के कारण उन्हें वैसा पापी नहीं बनना पड़ा जैसे कि वही काम करने वाले आदमी को साधारणतः बनना पड़ता है ।

भगवान् विष्णु ने भस्मासुर से शंकर जी के प्राण बचाने के लिये मोहनी रूप बनाकर उसे छला और नष्ट किया । समुद्रमन्थन के समय अमृत-घट के बंटवारे में जब देवताओं और असुरों में झगड़ा हो रहा था तब भी विष्णु ने माया-मोहिनी रूप बनाकर असुरों को धोखे में रखा और अमृत देवताओं को पिला दिया । सती वृन्दा का सतीत्व डिगाने के लिए भगवान् ने जालन्धर का रूप बनाया था । राजा बलि को छलने के लिए बामन का रूप धारण किया था । पेड़ की आड़ में छिपकर राम ने अनुचित रूप से बाली को मारा था ।

महाभारत में धर्मराज युधिष्ठिर ने अश्वत्थामा की मृत्यु का छलपूर्वक समर्थन किया । अर्जुन ने शिखण्डी की ओट में खड़े होकर भीष्म को मारा, कर्ण का रथ कीचड़ में गढ़ जाने पर भी उसका बध किया । घोर दुर्भिक्ष में क्षुधापीड़ित होने पर विश्वामित्र ऋषि ने चाण्डाल के घर से कुत्ते का माँस लाकर खाया । प्रहलाद का पिता की आज्ञा को उल्लंघन करना, विभीषण का भाई को त्यागना, भरत का माता की भर्त्सना करना, बलि का गुरु शुक्राचार्य की आज्ञा न मानना, गोपियों का परपुरुष श्रीकृष्ण से प्रेम करना, मीरा का अपने पति को त्याग देना, परशुरामजी का अपनी माता का सिर काट देना आदि कार्य साधारणतः अधर्म प्रतीत होते हैं, पर इनके कर्ताओं ने सद्उद्देश्य से प्रेरित होकर किया था इसलिये धर्म की सूक्ष्म दृष्टि से यह कार्य पातक नहीं गिने गये ।

शिवाजी ने अफजलखाँ का बध कूटनीतिक चातुर्य से किया था । भारतीय स्वाधीनता के इतिहास में क्रांतिकारियों ने ब्रिटिश सरकार के साथ जिस नीति को अपनाया था उसमें चोरी, डकैती, जासूसी, हत्या, कत्ल, झूँठ बोलना, छल, विश्वासघात आदि ऐसे सभी कार्यों का समावेश हुआ था, जो मोटे तौर से अधर्म कहे जाते हैं । परन्तु उनकी आत्मा पवित्र थी, असंख्य दीन दुखी प्रजा की करुणाजनक स्थिति से द्रवित होकर अन्यायी शासकों को उलटने के लिए ही उन्होंने ऐसा किया था । कानून उन्हें भले ही अपराधी बतावे पर वस्तुतः वे कदापि पापी नहीं कहे जा सकते ।

अधर्म का नाश और धर्म की रक्षा के लिए भगवान् को युग-युग में अवतार लेकर अगणित हत्यायें करनी पड़ती हैं और रक्त की धार बहानी पड़ती है । इसमें पाप नहीं होता । सद्उद्देश्य के लिए किया हुआ अनुचित कार्य भी उचित के समान ही उत्तम माना गया है । इस प्रकार

मजबूर किये गये सताये गये, विधुक्षित, संत्रस्त, दुखी, उत्तेजित, आपत्तिग्रस्त अथवा अज्ञानी बालक, रोगी, पागल कोई अनुचित कार्य कर बैठते हैं, तो वह क्षम्य माने जाते हैं, कारण यह है उस मनोभूमि का मनुष्य, धर्म और कर्तव्य के दृष्टिकोण से किसी बात पर ठीक विचार करने में समर्थ नहीं होता ।

पापियों की सूची में जितने लोग हैं उनमें से अधिकांश ऐसे होते हैं जिन्हें उपयुक्त किन्हीं कारणों से अनुचित कार्य करने पड़े, पीछे वे उनके स्वभाव में आ गये । परिस्थितियों ने, मजबूरियों ने, आदतों ने उन्हें लाचार कर दिया और वे बुराई की ढालू सड़क पर फिसलते चले गये । यदि दूसरे प्रकार की परिस्थितियाँ, सुविधायें उन्हें मिलतीं, ऊँचा उठाने वाले और संतोष देने वाले साधन मिल जाते तो निश्चय ही वे अच्छे बने होते ।

कानून और लोकमत चाहे किसी को कितना ही दोषी ठहरा सकता है, स्थूल दृष्टि से कोई आदमी अत्यन्त बुरा हो सकता है पर वास्तविक पापियों की संख्या इस संसार में बहुत कम है । जो परिस्थितियों के वश बुरे बन गये हैं, उन्हें भी सुधारा जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक की आत्मा ईश्वर का अंश होने के कारण तत्वतः पवित्र है । बुराई उसके ऊपर छाया मैला है । मैले को साफ करना न तो असम्भव है न कष्टसाध्य । वरन् यह कार्य आसानी से हो सकता है ।

कई व्यक्ति सोचते हैं कि हमने अब तक इतने पाप किए हैं, इतनी बुराइयाँ की हैं हमारे प्रकट और अप्रकट पापों की सूची बहुत बड़ी है । हम अब सुधर नहीं सकते । हमें न जाने कब तक नरक में सड़ना पड़ेगा । हमारा उद्धार और कल्याण अब कैसे हो सकता है । ऐसा सोचने वालों को जानना चाहिए कि सन्मार्ग पर चलने का प्रण करते ही उनकी पुरानी मैली-कुचैली पोशाक उतर जाती है और उसमें भरे हुए जूएँ भी उसी में रह जाते हैं । पाप-वासनाओं का परित्याग करने और उनका सच्चे हृदय से प्रायश्चित करने से पिछले पापों के बुरे फलों से छुटकारा मिल सकता है । केवल वे परिपक्व प्रारब्ध कर्म जो इस जन्म के लिए भाग्य बन चुके हैं, उन्हें तो किसी रूप में भोगना पड़ता है । इसके अतिरिक्त जो प्राचीन या आजकल के ऐसे कर्म हैं जो अभी प्रारब्ध नहीं बने हैं, उनका संचित समूह नष्ट हो सकता जो इस जन्म के लिए दुखदायी भोग है वह भी इसकी अपेक्षा बहुत हलका हो जाता है और वे कष्ट बिना अधिक दुख दिये चिन्ह पूजा मात्र थोड़ा-सा कष्ट दिखाकर सहज ही शांत हो जाते हैं ।

कोई मनुष्य अपने पिछले जीवन का अधिकांश भाग कुमार्ग में व्यतीत कर चुका है या बहुत सा समय निरर्थक बिता चुका है तो इसके लिए केवल दुख मानने, पछताने या निराश होने से कुछ प्रयोजन सिद्ध न होगा । जीवन का जो भाग शेष रहा है, वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं । राजा परीक्षित को मृत्यु से पूर्व एक सप्ताह आत्म-कल्याण को मिला था, उन्होंने इस छोटे से समय का सदुपयोग किया और अभीष्ट लाभ प्राप्त कर लिया । सूरदास को अपनी जन्म भर की व्यभिचारी आदतों से छुटकारा मिलते न देखकर अन्त में आँखें फोड़ लेनी पड़ी थीं । तुलसीदास का कामातुर होकर रातों रात सुसराल पहुँचना और परनाले में लटका हुआ साँप पकड़कर स्त्री के पास जीवन का अधिकांश भाग बुरे कार्यों में व्यतीत करने के उपरान्त सत्यपथगामी हुए और थोड़े से ही समय में योगी और महात्माओं को प्राप्त होने वाली सद्गति के अधिकारी हुए हैं ।

यह एक रहस्य तथ्य है कि मन्द बुद्धि, मूर्ख, डरपोक कमजोर तबियत के सीधे कहलाने वालों की अपेक्षा वे लोग अधिक जल्दी आत्मोन्नति कर सकते हैं, जो अब तक सक्रिय, जागरूक, चैतन्य, पराक्रमी, पुरुषार्थी एवं बदमाश रहे हैं । कारण जी से यह है कि मन्द चेतना वालों में शक्ति का स्रोत बहुत ही न्यून होता है, वे पूरे सदाचारी और भक्त रहें तो भी मन्द शक्ति के कारण उनकी प्रगति अत्यन्त मन्दगति से होती है । पर जो लोग शक्तिशाली हैं, जिनके अन्दर चैतन्यता और पराक्रम का निर्झर तूफानी गति से प्रवाहित होता है । वे जब भी, जिस दिशा में भी, लगेंगे उधर ही सफलता का ढेर लगा देंगे । अब तक जिन्होंने बदमाशी में अपना झण्डा बुलन्द रखा है, वे निश्चय ही शक्ति-सम्पन्न तो हैं पर उनकी शक्ति कुमार्गगामी रही है । यदि वह शक्ति सत्पथ पर लग जाय तो उस दिशा में भी आश्चर्यजनक सफलता उपस्थित कर सकते हैं । गदहा दस वर्ष में जितना बोझ ढोता है, हाथी उतना एक दिन में ढो सकता है । आत्मोन्नति भी एक पुरुषार्थ है । इस मंजिल पर भी वे ही लोग शीघ्र पहुँच सकते हैं, जो पुरुषार्थी हैं, जिनके स्नायुओं में बल और मन में अदम्य साहस तथा उत्साह है ।

जो लोग पिछले जीवन में कुमार्गगामी रहे हैं, बड़ी ऊटपटांग गड़बड़ करते रहते हैं, वे भूले हुए, पथ-भ्रष्ट तो अवश्य हैं, पर इस गलत प्रक्रिया द्वारा भी उन्होंने अपनी चैतन्यता, बुद्धिमत्ता, जागरूकता और क्रियाशीलता को बढ़ाया है। यह बढ़ोत्तरी एक अच्छी पूँजी है। पथ-भ्रष्टता के कारण जो पाप उनसे बन पड़े वे पश्चाताप और दुख के हेतु अवश्य हैं पर सन्तोष की बात इतनी है कि उस कँटीले, पथरीले, लोहू-लुहान करने वाले, ऊबड़-खाबड़ दुखदाई मार्ग में भटकते हुए भी मंजिल की दिशा में ही यात्रा की है। यदि अब सँभल जाया जाय और सीधे राजमार्ग से, सतोगुणी आधार से आगे बढ़ा जाय तो पिछला ऊलं-जलूल कार्यक्रम भी सहायक ही सिद्ध होगा।

पिछले पाप नष्ट हो सकते हैं, कुमार्ग पर चलने से जो घाव हो गये हैं वे थोड़ा दुःख देकर शीघ्र अच्छे हो सकते हैं। उनके लिये चिन्ता एवं निराशा की कोई बात नहीं। केवल अपनी रुचि और क्रिया को बदल देना है। यह परिवर्तन होते ही बड़ी तेजी से सीधे मार्ग पर प्रगति होने लगेगी। दूरदर्शी तत्वज्ञों का मत है कि जब बुरे आचरणों वाले व्यक्ति बदलते हैं तो आश्चर्यजनक गति से सन्मार्ग में प्रगति करते हैं और स्वल्पकाल में ही सच्चे महात्मा बन जाते हैं। जिन विशेषताओं के कारण वे सख्त बदमाश थे वे ही विशेषताएँ उन्हें सफल सन्त बना देती हैं। गायत्री का आश्रय लेने से बुरे, बदमाश और दुराचारी स्त्री-पुरुष भी स्वल्पकाल में सन्मार्गगामी और पाप रहित हो सकते हैं।

पापनाशक प्रायश्चित

गायत्री-शक्ति के आधार पर की गई तपश्चर्या बड़े से बड़े पापों को भी निष्पाप बनाने, उसके पाप-पुंजों को नष्ट करने तथा भविष्य के लिए उसे निष्पाप रहने योग्य बना सकती है। नीचे कुछ ऐसे ही तपश्चर्याएँ लिखी जाती हैं जो आत्म-तेज की अभिवृद्धि करने और पाप वृत्ति से बचने तथा पापनाशन में बहुत ही उपयोगी हैं-

(१) **उपवास**- इसको तपों में प्रथम स्थान दिया गया है। अनेक व्रतों में उपवास की प्रधानता है। गीता में कहा गया है कि-'निराहार रहने से-विषयों से निवृत्ति होती हैं।' उपवास एक स्वतंत्र विज्ञान है। उस पर एक स्वतंत्र पुस्तक अलग से छापने की तैयारी की जा रही है। यहां तो इतना ही कहा जा सकता है कि अपनी सामर्थ्य के अनुरूप एक समय का भोजन छोड़ देना, भोजन में से नमक, मिर्च, मसाले या मिठाई छोड़ देना, फलाहार करते रहना, केवल जल पीकर रहना अपने-अपने ढंग के उपवास हैं। आरम्भ में इन्हें थोड़े समय के लिए करना चाहिए पीछे चन्द्रायण जैसे एक मास के बड़े उपवास भी किये जा सकते हैं।

(२) **पंच गव्य लेना**- किसी अशुद्धि के प्रायश्चित्य स्वरूप, उपवास करके गो दुग्ध, गो दधि, गो घृत, गो तक्र और शहद इन पांच-पांच चीजों को मिलाकर लेना चाहिए। घृत और शहद की मात्रा दुग्ध आदि की अपेक्षा, पंचमांश होनी चाहिए। कोई-कोई गोबर और गो-मूत्र के लिए भी जोर देते हैं पर उनकी साधारण प्रायश्चित्यों में आवश्यकता नहीं, विशेष प्रायश्चित्यों में कपड़े में निचोड़ कर गोबर की दो-चार बूंदें और इतना ही गो-मूत्र डाला जा सकता है।

(३) **व्रत**- कुछ समय के लिए कुछ आवश्यकताओं को छोड़कर उनके अभाव का कष्ट सहते हुए रहना व्रत कहलाता है। काम सेवन त्याग कर ब्रह्मचर्य से रहना, जूता न पहन कर नंगे पैर रहना या खड़ाऊं पहनना- पलंग पर न सोकर तख्त या भूमि पर शयन करना, स्वल्प वस्त्र धारण करना, खाद्य पदार्थों में थोड़ी चीजों को स्वीकार करके शेष को त्याग देना, धातु के पात्रों में भोजन न करके पत्तल पर या हाथ पर भोजन करना, हजामत बनाने की मर्यादा निर्धारित कर लेना, पशुओं की सवारी पर न चढ़ना, खादी पहनना आदि अनेकों प्रकार के व्रत हो सकते हैं।

(४) **कष्ट सहना**- हठयोगी बड़ी-बड़ी कठिन कष्ट साध्य साधनाएं करते हैं, एक बाहु को ऊपर उठाये रहना, चौरासी धूनी तपना, एक आसन से बैठना, रात्रि को न सोना जैसे साधनों को करते हैं पर हम अपने पाठकों को बिना किसी अनुभवी गुरु की आज्ञा के इस प्रकार के तीव्र कष्ट सहन का निषेध करते हैं क्योंकि इनमें थोड़ी भी भूल हो जाने से अनिष्ट का काफी खतरा रहता है। साधारणतः निम्न कष्ट सहन ऐसे हैं जिनमें से अपनी सुविधा और आवश्यकतानुसार किसी को अपनाया जा सकता है। गर्मी में पंखा, छाता और बर्फ का त्याग, सर्दी में बिना गरम (ताजे) जल से स्नान,

प्रातःकाल एक दो घंटा रात रहे उठकर नित्य कर्म में लग जाना, सर्दी में अधिक वस्त्रों का उपयोग अथवा अग्नि पर तापने का त्याग, अपने हाथ से भोजन बनाना, एक हाथ से कुएं से जल खींचकर अपने लिए पीने को रखना, पैदल तीर्थ यात्रा करना, अपने हाथ से अपने सब काम-वस्त्र सीना, धोना, झाडू लगाना, बर्तन मलना आदि काम करना, दूसरों की सेवा और सहायता कम से कम लेना आदि ऐसे कष्ट सहन किये जा सकते हैं जिनमें उस कष्ट सहिष्णुता का कुछ प्रत्यक्ष लाभ भी होता हो।

(५) दान– अपने पास जो शक्ति हो उसमें से अपने लिए कम मात्रा में रखकर दूसरों को अधिक मात्रा में देना, समय, बुद्धि, दान, विद्या, सहयोग, उधार आदि का देना भी दान ही है। धन दान तो प्रसिद्ध है ही। सत्कार्यों में जीवन को नियोजित करने वाले ब्रह्म परायण लोकसेवी, सेवा संस्थाएं तथा आपत्ति ग्रस्त, दान के अधिकारी हैं। इसके अतिरिक्त अपनी उदार वृत्ति को चरितार्थ करने के लिए अनेकों प्रकार के ऐसे कार्य किये जा सकते हैं जिनसे उपयोगी प्राणियों की सुखवृद्धि होती हो। अन्न दान, पुस्तक दान, पाठशाला, औषधालय, अनाथालय, अबलाश्रय, पुस्तकालय, गौशाला, धर्मशाला, कुँआ, बावड़ी, प्याऊ, बगीचा आदि के लिए धन या समय देना। भाषण, लेखन, सत्संग आदि द्वारा सद्ज्ञान का प्रसार करना आदि अनेकों लोकोपयोगी कार्य हैं। विद्या धनवाले भी सेवा समिति आदि लोक सेवा संस्थाओं को अपना समय देकर या स्वतंत्र रूप से स्थानीय आवश्यकता के अनुरूप सेवा करके दान का पुण्य फल प्राप्त कर सकते हैं। गौ, चींटी, चिड़ियां, कछुए, मछली आदि को थोड़ा बहुत भोजन देकर दान की भावना को स्वल्प व्यय में चरितार्थ किया जा सकता है और भी अनेकों मार्ग हो सकते हैं।

(६) दोष प्रकाशन– अपनी बुराइयों को या गुप्त पापों को छिपाये रहने से मन भारी रहता है और उसमें कलुषित भाव भरे रहते हैं। जिस प्रकार उदर में गंदा मल भरा रहे तो स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता, इस दोष के निवारण के लिए जुलाव देकर पेट साफ कराया जाता है, तब स्वास्थ्य ठीक होता है। इसी प्रकार अपनी भूलों और पापों को छिपाये बैठे रहा जाय तो वह विषैला मल अध्यात्मिक स्वास्थ्य को ठीक नहीं होने देता। इसलिए प्रायश्चित्यों में दोष प्रकाशन का महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। गौ हत्या हो जाने का प्रायश्चित शास्त्रों ने यह बताया है कि मरी गौ की पूँछ हाथ में लेकर एक सौ गाँवों में वह व्यक्ति उच्च स्वर से चिल्ला-चिल्ला कर यह कहे कि मुझसे गौ हत्या हो गई है। इस प्रकार दोष प्रकाशन से गौ हत्या का दोष छूट जाता है। हमने जिसके साथ बुराई की हो उससे क्षमा मांगनी चाहिए। उसकी क्षति-पूर्ति करनी चाहिए, और जिस प्रकार वह संतुष्ट हो वह करने का यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिए। यह न हो सके तो कम से कम अपने किन्हीं अभिन्न सच्चे विश्वासी मित्रों अथवा गुरु के सन्मुख अपने प्रत्येक दोष को सविस्तार प्रकट कर देना चाहिए। इससे भी बहुत हद तक मन स्वच्छ हो जाता है और अन्तरात्मा पर रखा हुआ एक भारी बोझ हल्का हो जाता है।

(७) साधना– गायत्री अनुष्ठान, ब्रह्मसंध्या, गायत्री हवन, पुरश्चरण गायत्री योग आदि साधनों से आत्मबल सतेज किया जा सकता है।

अन्य उद्देश्यों के लिए अन्य अनेकों प्रायश्चित हो सकते हैं, पर यहां तो सर्व साधारण के उपयोगी सामान्य तपश्चर्याओं का ही वर्णन किया जा रहा है। पाठक किसी विज्ञ पुरुष से सलाह लेकर ही अपनी स्थिति को ध्यान में रख कर इस दिशा में कदम बढ़ावें, यदि आवश्यकता प्रतीत हो तो केन्द्र से भी इस सम्बन्ध में सलाह ले सकते हैं और गायत्री तत्वों की तपश्चर्या एवं प्रायश्चित्यों द्वारा पतितावस्था से उच्चता की ओर अग्रसर हो सकते हैं और पापों का नाश कर सकते हैं।

कुमुहूर्त और अशकुनों का परिहार

मुहूर्ता योग दोषा वा येऽप्यिमंगल कारिणः।
भस्मतां यान्ति ते सर्वे गायत्र्यास्तीव्र तेजसा॥

(अमंगल कारिणः) अमंगल करने वाले (येऽपि) जो भी (मुहूर्ताः) मुहूर्त (वा) अथवा (योगदोषाः) योग दोष हैं (ते सर्वे) वे सब (गायत्र्याः) गायत्री के (तीव्र तेजसा) प्रचंड तेज से (भस्मतां यान्ति) भस्म हो जाते हैं।

काल की सूक्ष्म गति का ज्ञान रखने वाले तत्त्वदर्शी आचार्यों ने अपनी चिरकालीन साधना और सूक्ष्म दृष्टि से यह जान लिया था कि विविध ग्रह नक्षत्रों की सूक्ष्म शक्तियाँ पृथ्वी पर किस समय और किस शक्ति के साथ आती हैं उनका आपस में एक-दूसरे से सम्मिश्रण होने पर कैसी प्रतिक्रिया होती है और उस प्रतिक्रिया

का मानव प्राणियों पर तथा भू–लोक की वस्तुओं पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस विज्ञान की जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् उन्होंने कार्यारंभ के लिए ऐसे नियम निर्धारित किये जिनके अनुसार मानो वे अनिष्टकर प्रभाव से बच जाते हैं जो ग्रह नक्षत्रों की सूक्ष्म शक्तियों के कारण मनुष्यों तथा वस्तुओं के लिए हानिकारक होते हैं।

इस विज्ञान के आधार पर मूहूर्तों की रचना की गई है। जो घड़ियां जिस कार्य के लिए अशुभ हैं उन्हें छोड़ कर ऐसे क्षणों में काम करना जो मंगल-मय है मूहूर्त कहलाता है। शुभ मुहूर्त में काम करने से कर्त्ता के मन पर एक उत्साहवर्धक छाप पड़ती है, उसे विश्वास रहता है कि मैंने शुभ घड़ी में कार्य आरम्भ किया है और उसका परिणाम भी शुभ ही होगा। इस विश्वास के आधार पर सचमुच ही उसका कार्य सफल होता है। विश्वास की फलदायिनी शक्ति का महत्त्व अब किसी से छिपा हुआ नहीं है।

कार्य आरम्भ करते समय कुछ संयोग भी ऐसे आते हैं जिनसे कार्य की सफलता असफलता का संकेत मिलता है। ऐसे संयोगों को शकुन नाम से पुकारते हैं। कई बार कोई पशु पक्षी अपनी क्रियाओं द्वारा भविष्यवाणी करते हैं। भली और बुरी संभावनाओं की आगाऊ सूचना देते हैं, इसकी विस्तृत विवेचना हम अपनी 'जीव जन्तुओं की बोली समझना' पुस्तक में सविस्तार कर चुके हैं। कुछ आकस्मिक संयोग आते हैं जैसे तेली, या खाली बर्तन सामने आना, छींक होना, बायां अंग फड़कना आदि अशुभ और भोजन, मृतक, महतर, जल भरे हुए घड़े, दाहिना अंग फड़कना आदि शुभ संयोग अकस्मात सामने आ जाते हैं इनसे भी भविष्य के बारे में कुछ पूर्वाभास मिलता है।

कभी-कभी ऐसे अवसर आते हैं कि कार्य आरम्भ करना अत्यन्त आवश्यक है, उसकी पूर्ण तैयारी हो चुकी है। उस समय कार्य आरम्भ न करने से कोई प्रत्यक्ष हानि या असुविधा दिखाई दे रही है किन्तु उस समय मुहूर्त या शकुन के अशुभ होने के कारण द्विविधा उत्पन्न हो गई है। इसे करें या न करें, कार्यक्रम को स्थापित करें या चालू करें, यात्रा को आरम्भ करे या रुक जायें, इस प्रकार के संकल्प विकल्प मन में उठते हैं। कार्य को रोका जाता है तो पूर्व योजना के खटाई में पड़ने से उत्साह शिथिल होता है और निश्चित योजना में विघ्न पड़ने से चित्त खिन्न होता है तथा समय पर कार्य न होने से, आवश्यक कार्य में हानि होने की संभावना रहती है, दूसरी ओर यह अशकुन और कुमुहूर्त होते हुए भी कार्य आरम्भ होता है तो जी में यही आशंका बनी रहती है कि इस कार्य में सफलता मिलेगी या कोई अनिष्टकर परिणाम होगा। ऐसी स्थिति में करने या न करने का कोई भी निर्णय क्यों न किया जाय मनुष्य की मनोदशा साँप-छछूंदर की सी रहती है।

उस द्विविधा जनक स्थिति से बचने का एक रामबाण उपाय गायत्री माता का आश्रय ग्रहण करना है। उसका ब्रह्मतेज अपने अन्दर धारण करने से मुहूर्त और शकुनों के दोषों का समूह उस ज्वाला में जल बल कर भस्म हो जाता है। ग्रह नक्षत्रों का अनिष्ट कर प्रभाव, तथा शकुनों का पूर्वाभास यद्यपि किसी कारण पर अवलम्बित होता है पर वे कारण इतने प्रबल नहीं हो सकते जो गायत्री के ब्रह्मतेज से अधिक शक्तिशाली हों। भूत-प्रेतों का आक्रमण गायत्री शक्ति से विफल हो जाता है, अशुभ पूर्वाभास भी भगवती की शक्ति से निष्फल हो जाते हैं।

अशुभ लक्षणों के होते हुए भी जब कार्य आरम्भ करना हो तो स्वस्थ चित्त में पूर्वाभिमुख होकर भगवती का ध्यान करना चाहिए और श्रद्धापूर्वक एक सौ आठ मंत्र जप कर मन ही मन प्रणाम करना चाहिए और उत्साहपूर्वक कार्य आरम्भ कर देना चाहिए। उस अनिष्ट निवारक प्रयोग के साथ बुरी घड़ियों में किये हुए काम भी सफल होते हैं। स्वभावतः साधारण कामों को भी इस रीति के साथ आरम्भ किया जाय तो ब्राह्मी शक्ति की सहायता का मार्ग अधिक सुलभ हो जाता है।

गायत्री-साधना से अनेकों प्रयोजनों की सिद्धि

गायत्री-मन्त्र सर्वोपरि मन्त्र है। इससे बड़ा और कोई मन्त्र नहीं। जो काम संसार के किसी अन्य मन्त्र से नहीं हो सकता है, वह निश्चित रूप से गायत्री द्वारा हो सकता है। दक्षिण मार्गी योग साधक वेदोक्त पद्धति से जिन कार्यों के लिए अन्य किसी मन्त्र से सफलता प्राप्त करते हैं, वे सब प्रयोजन गायत्री से पूरे हो सकते हैं। इसी प्रकार वाममार्गी तान्त्रिक जो कार्य तन्त्र-प्रणाली

से किसी मन्त्र के आधार पर करते हैं, वह भी गायत्री द्वारा किये जा सकते हैं । यह एक प्रचण्ड शक्ति है जिसे जिधर भी लगा दिया जायेगा, उधर ही चमत्कारी सफलता मिलेगी ।

काम्य कर्मों के लिए, सकाम प्रयोजनों के लिए अनुष्ठान करना आवश्यक होता है । सवा लक्ष का पूर्ण अनुष्ठान चौबीस हजार का आंशिक अनुष्ठान अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार फल देते हैं । “जितना गुड़ डालो उतना मीठा” वाली कहावत उस क्षेत्र में भी चरितार्थ होती है । साधना और तपश्चर्या द्वारा जो आत्म-बल संग्रह किया गया है, उसे जिस काम में भी खर्च किया जायेगा, उसका प्रतिफल अवश्य मिलेगा । बन्दूक उतनी ही उपयोग सिद्ध होगी, जितने बढ़िया और जितने अधिक कारतूस होंगे । गायत्री की प्रयोग-विधि एक प्रकार की आध्यात्मिक बन्दूक है । तपश्चर्या या साधना द्वारा संग्रह की हुई आत्मिक शक्ति कारतूसों की पेटी है । दोनों के मिलने से ही निशाने को मार गिराया जा सकता है । कोई व्यक्ति प्रयोग विधि जानता हो, पर उसके पास साधन बल न हो तो ऐसा ही परिणाम होगा, जैसा खाली बन्दूक का घोड़ा बार-बार चटकाकर कोई यह आशा करे कि अचूक निशाना लगेगा । इसी प्रकार जिनके पास तपोबल है, पर उसका काम्य प्रयोजन के लिए विधिवत् प्रयोग करना नहीं जानते, वे वैसे हैं जैसे कोई कारतूस की पोटली बाँधे फिरे, उन्हें हाथ से फेंक-फेंक कर शत्रुओं की सेना का संहार करना चाहे । यह उपहासास्पद तरीके हैं ।

आत्म-बल संचय करने के लिए जितनी अधिक साधनाएँ की जायें उतना ही अच्छा है, पाँच प्रकार के साधक गायत्री सिद्ध समझे जाते हैं (१) लगातार बारह वर्ष तक कम से कम एक माला नित्य जप किया हो, (२) गायत्री की ब्रह्म सन्ध्या को नौ वर्ष तक किया हो, (३) ब्रह्मचर्यपूर्वक पाँच वर्ष तक एक हजार मंत्र जपे हों, (४) चौबीस लक्ष गायत्री का अनुष्ठान किया हो, (५) पाँच वर्ष तक विशेष गायत्री जप किया हो । जो व्यक्ति इन साधनाओं में कम से कम एक या एक से अधिक का तप पूरा कर चुके हों, वे गायत्री मन्त्र का काम्य कर्म में प्रयोग करके सफलता प्राप्त कर सकते हैं । चौबीस हजार वाले अनुष्ठानों की पूँजी जिनके पास है, वे भी अपनी-अपनी पूँजी के अनुसार एक ही सीमा तक सफल हो सकते हैं ।

कई बार मनुष्य के सामने ऐसी सामयिक कठिनाइयाँ आ खड़ी होती हैं जिनका निराकरण करने के लिए विशेष मनोबल की आवश्यकता पड़ती है । उसमें न्यूनता रहे तो मनुष्य घबराता है और उस घबराहट के कारण उत्पन्न मानसिक अस्त-व्यस्तता, अन्य नई-नई कठिनाइयाँ उत्पन्न करती हैं । कहा जाता है कि विपत्ति अकेली नहीं आती अपने साथ और भी अनेकों संकट लाती है । मनोबल के अभाव में कठिनाइयों के समय घबराहट होती है, उसी से चिन्ता, निराशा, कातरता जैसी अनेकों नये असंतुलन की घटायें उमड़ पड़ती हैं । फलतः सामने के सामान्य कार्य भी गड़बड़ाने लगते हैं । इसी प्रकार प्रस्तुत बड़ी विपत्तियों की नई सहेलियां भी आ धमकती हैं और मनुष्य बुरी तरह विपत्तियों के कुचक्र में फंस जाता है ।

विपत्ति से उबरने के लिए साथियों के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है । इससे भी अधिक सहायता उन घड़ियों में आन्तरिक साहसिकता से मिलती है । मन को संतुलित रखा जा सके, विपत्ति का सही मूल्यांकन बन पड़े और उबरने के उपायों को दूरदर्शिता के आधार पर खोजा जा सके तो प्रतीत होगा कि संकट उतना बड़ा नहीं था जितना कि समझा गया । बड़ा भी हो तो भी विवेक एवं साहस के बल पर प्रबल पुरुषार्थ करके हर कठिनाइयों से जूझना और उसका हल निकाल लेना संभव हो सकता है । कोई विपत्ति न टले तो उसे हँसते-हँसते सहन कर लेने का मनोबल भी एक बहुत बड़ी बात है । इन्हीं आन्तरिक विशिष्टताओं के आधार पर विपत्तियों से बच निकलना, परास्त करना एवं सरलता पूर्वक सहन कर सकना संभव होता है । इसी दूरदर्शी मनोबल को दैवी सहायता समझा जा सकता है । गायत्री उपासना के कुछ विशेष विधान ऐसे हैं जिनके आधार पर विशेष प्रकार की विपत्तियों के अनुरूप विशेष प्रकार का मनोबल प्राप्त होता है, सूझ-बूझ उत्पन्न होती है । अप्रत्याशित सहायता मिलती है और पर्वत जैसा संकट राई बन कर सहज ही बिन बरसी घटा की तरह उतर जाता है ।

नीचे कुछ खास-खास प्रयोजनों के लिए गायत्री के प्रयोग की विधियाँ दी जाती हैं—

(१) रोग—निवारण— स्वयं रोगी होने पर जिस स्थिति में भी रहना पड़े उसी में मन ही मन गायत्री का जप करना चाहिए । एक मन्त्र समाप्त होने और दूसरा आरम्भ होने के बीच में एक “बीज-मन्त्र” का

सम्पुट भी लगाते चलना चाहिए । सर्दी प्रधान (कफ) रोगों में 'ऐं' बीज मन्त्र, गर्मी प्रधान 'पित्त' रोगों में 'ऐं', अपच एवं 'विष' तथा (वात) रोगों में 'हूँ', बीज-मन्त्र का प्रयोग करना चाहिए । निरोग होने के लिये वृषभ-वाहिनी हरित वस्त्रा गायत्री का ध्यान करना चाहिए ।

दूसरों को निरोग करने के लिए भी इन्हीं बीज-मन्त्रों का और इसी ध्यान का प्रयोग करना चाहिए । रोगी के पीड़ित अंगों पर उपयुक्त ध्यान और तप करते हुये हाथ फेरना, जल अभिमन्त्रित करके रोगी पर मार्जन देना एवं छिड़कना चाहिए । इन्हीं स्थितियों में तुलसी-पत्र और काली मिर्च गंगाजल में पीस कर दवा के रूप में देना, यह सब उपचार ऐसे हैं, जो किसी भी रोग के रोगी पर दिये जायें, उसे लाभ पहुँचाये बिना न रहेंगे ।

(२) विष—निवारण— सर्प, बिच्छू, बर्र, ततैया, मधुमक्खी और जहरीले जीवों के काट लेने पर बड़ी पीड़ा होती है । साथ ही शरीर में विष फैलने से मृत्यु हो जाने की सम्भावना रहती है । इस प्रकार की दुर्घटनाएं घटित होने पर गायत्री शक्ति द्वारा उपचार किया जा सकता है ।

पीपल वृक्ष की समिधाओं से विधिवत् हवन करके उसकी भस्म को सुरक्षित रख लेना चाहिए । अपनी नासिका का जो स्वर चल रहा है, उसी हाथ पर थोड़ी से भस्म रखकर दूसरे हाथ से उसे अभिमन्त्रित करता चले और बीच में 'हूँ' बीज-मन्त्र का सम्पुट लगावे तथा रक्तवर्ण अश्वारूढ़ा गायत्री का ध्यान करता हुआ उस भस्म को विषैले कीड़े के काटे हुए स्थान पर दो चार मिनट मसले । पीड़ा को जादू के समान आराम होता है ।

सर्प के काटे हुए स्थान पर रक्त चन्दन से किये हुये हवन की भस्म मलनी चाहिए और अभिमन्त्रित करके घृत पिलाना चाहिए । पीली सरसों अभिमन्त्रित करके उसे पीसकर दसों इन्द्रियों के द्वार पर थोड़ा-थोड़ा लगा देना चाहिए । ऐसा करने से सर्प-विष दूर हो जाता है ।

(३) बुद्धि—वृद्धि— गायत्री प्रधानतः बुद्धि को शुद्ध, प्रखर और समुन्नत करने वाला मन्त्र है । मन्द बुद्धि, स्मरण शक्ति की कमी वाले लोग इससे विशेष रूप से लाभ उठा सकते हैं । जो बालक अनुत्तीर्ण हो जाते हैं, पाठ ठीक प्रकार याद नहीं कर पाते उनके लिए निम्नलिखित उपासना बड़ी उपयोगी है ।

सूर्योदय के समय की प्रथम किरणें पानी से भीगे हुए मस्तक पर लपेट दें । पूर्व की ओर मुख करके अधखुले नेत्रों से सूर्य का दर्शन करते हुए आरम्भ में तीन बार ॐ का उच्चारण करते हुये गायत्री का जप करें । कम से कम एक माला (१०८ मन्त्र) अवश्य जपने चाहिए । पीछे दोनों हाथों की हथेली वाला भाग सूर्य की ओर इस प्रकार करें मानों आग पर ताप रहे हैं । इस स्थिति में बारह मन्त्र जपकर हथेलियों को आपस में रगड़ना चाहिए और उन उष्ण हाथों को मुख, नेत्र, नासिका, ग्रीवा, कर्ण, मस्तक आदि समस्त शिरोभागों पर फिराना चाहिए ।

(४) राजकीय सफलता— किसी सरकारी कार्य, मुकदमा, राज्य-स्वीकृति, नियुक्ति आदि में सफलता प्राप्त करने के लिए गायत्री का उपयोग किया जा सकता है । जिस समय अधिकारी के सन्मुख उपस्थित होना हो अथवा कोई आवेदन-पत्र लिखना हो, उस समय यह देखना चाहिए कि कौन-सा स्वर चल रहा है । यदि दाहिना स्वर चल रहा हो तो पीतवर्ण ज्योति का मस्तिष्क में ध्यान करना चाहिए और यदि बायां स्वर चल रहा हो तो हरे रंग के प्रकाश का ध्यान करना चाहिए । मन्त्र में सप्त व्याहृतियाँ लगाते हुए **(ॐ भूर्भुवः स्वः तपः जनः महः सत्यम्)** बारह मन्त्रों का मन ही मन जप करना चाहिये । दृष्टि उस हाथ के अंगूठे के नाखून पर रखनी चाहिए, जिसका स्वर चल रहा हो । भगवती की मानसिक आराधना, प्रार्थना करते हुए राजद्वार में प्रवेश करने से सफलता मिलती है ।

(५) दरिद्रता का नाश— दरिद्रता, हानि, ऋण, बेकारी, साधनहीनता, वस्तुओं का अभाव, कम आमदनी, बढ़ा हुआ खर्च, कोई रुका हुआ आवश्यक कार्य आदि की अर्थ-चिन्ता से मुक्ति दिलाने में गायत्री-साधना बड़ी सहायक सिद्ध होती है । उसमें ऐसी मनोभूमि तैयार हो जाती है, जो वर्तमान अर्थ-चक्र से निकाल कर साधक को सन्तोषजनक स्थिति पर पहुँचा दे ।

दरिद्रता-नाश के लिए गायत्री की 'श्री' शक्ति की उपासना करनी चाहिए । मन्त्र के अन्त में तीन बार 'श्री' बीज का सम्पुट लगाना चाहिए । साधनाकाल के लिए पीत वस्त्र, पीले पुष्प, पीला यज्ञोपवीत, पीला तिलक, पीला आसन उपयोग करना चाहिए । शरीर पर शुक्रवार को हल्दी मिले हुए तेल की मालिश करनी चाहिए और

रविवार को उपवास करना चाहिए। पीतवर्ण लक्ष्मी का प्रतीक है, भोजन में भी पीली चीजें प्रधान रूप से लेनी चाहिए। इस प्रकार की साधना से धन की वृद्धि और दरिद्रता का नाश होता है।

(६) सुसन्तति की प्राप्ति— जिसके सन्तान नहीं होती है, होकर मर जाती है, रोगी रहती है गर्भपात हो जाते हैं, केवल कन्याएं होती हैं तो इन कारणों से माता पिता को दुःखी रहना स्वाभाविक है। इस प्रकार के दुःखों से भगवती की कृपा द्वारा छुटकारा मिल सकता है।

इस प्रकार की साधना में स्त्री-पुरुष दोनों ही सम्मिलित हो सकें तो बहुत ही अच्छा, एक पक्ष के द्वारा ही पूरा भार कन्धे पर लिए जाने से आंशिक सफलता ही मिलती है। प्रातःकाल नित्यकर्म से निवृत्त होकर पूर्वाभिमुख होकर साधना पर बैठे। नेत्र बन्द करके श्वेत वस्त्राभूषण अलंकृत किशोर आयु वाली, कमल पुष्प हाथ में लिये गायत्री का ध्यान करें। 'यं' बीज के तीन सम्पुट लगाकर गायत्री का जप चन्दन की माला पर करें।

नासिका से साँस खींचते हुए पेडू तक ले जानी चाहिए। पेडू को जितना वायु से भरा जा सके भरना चाहिए। फिर साँस रोककर या 'यं' बीज सम्पुटित गायत्री का कम से कम एक, अधिक से अधिक तीन बार जप करना चाहिए। फिर धीरे-धीरे साँस को निकाल देना चाहिए। इस प्रकार पेडू में गायत्री-शक्ति का आकर्षण और धारण कराने वाला यह प्राणायाम दस बार करना चाहिए। तदनन्तर अपने वीर्यकोष या गर्भाशय में शुभ्रवर्ण ज्योति का ध्यान करना चाहिए। यह साधन स्वस्थ, सुन्दर, तेजस्वी, गुणवान, बुद्धिमान सन्तान उत्पन्न करने के लिए है। इस साधन के दिनों में प्रत्येक रविवार को चावल, दूध, दही आदि केवल श्वेत वस्तुओं का ही भोजन करना चाहिए।

(७) शत्रुता का संहार— द्वेष, कलह, मुकदमाबाजी, मनमुटाव को दूर करना और अत्याचारी, अन्यायी, अकारण आक्रमण करने वाली मनोवृत्ति का संहार करना, आत्मा तथा समाज में शांति रखने के लिए चार 'क्लीं' बीज-मन्त्रों के सम्पुट समेत रक्त चन्दन की माला से पश्चिमाभिमुख होकर गायत्री का जप करना चाहिए। जप काल में सिर पर यज्ञ भस्म का तिलक लगाना तथा ऊन का आसन बिछाना चाहिए। लाल वस्त्र पहिनने, सिंहारूढ़, खड्ग हस्ता, विकराल बदना, दुर्गा वेषधारी गायत्री का ध्यान करना चाहिए।

जिन व्यक्तियों का द्वेष-दुर्भाव निवारण करना हो उनका नाम पीपल के पत्ते पर रक्त चन्दन की स्याही और अनार की कलम द्वारा लिखना चाहिए। इस पत्ते को उलटा रखकर प्रत्येक मन्त्र के बाद जल-पात्र में से एक छोटी चमची भरके जल लेकर उस पत्ते पर डालना चाहिए। इस प्रकार १०८ मन्त्र नित्य जपने चाहिए। इससे शत्रु के स्वभाव का परिवर्तन होता है और उसकी द्वेष करने वाली सामर्थ्य घट जाती है।

(८) भूत बाधा का शांति—कुछ मनोवैज्ञानिक कारणों, सांसारिक विकृतियों तथा प्रेतात्माओं के कोप से कई बार भूत बाधा के उपद्रव होने लगते हैं। कोई व्यक्ति उन्मादियों जैसी चेष्टा करने लगता है, उसके मस्तिष्क पर कोई दूसरी आत्मा का आधिपत्य दृष्टिगोचर होता है। इसके अतिरिक्त कोई मनुष्य या पशु ऐसी विचित्र दशा का रोगी होता है, जैसा कि साधारण रोगों में नहीं होता। भयानक आकृतियां दिखाई पड़ना, अदृश्य मनुष्यों द्वारा की जाने जैसी क्रियाओं का देखा जाना भूतबाधा के लक्षण है।

इसके लिए गायत्री हवन सर्वश्रेष्ठ है। सतोगुणी हवन सामिग्री से विधिपूर्वक यज्ञ करना चाहिए और रोगी को उसके निकट बिठा लेना चाहिए। हवन की अग्नि में तपाया हुआ जल रोगी को पिलाना चाहिए। बुझी हुई यज्ञ-भस्म सुरक्षित रख लेनी चाहिए, किसी रोगी को अचानक भूतबाधा हो तो उस यज्ञ-भस्म को उसके हृदय, ग्रीवा, मस्तक, नेत्र, कर्ण, मुख, नासिका आदि पर लगाना चाहिए।

(९) दूसरों को प्रभावित करना— जो व्यक्ति अपने प्रतिकूल हैं, उन्हें अनुकूल बनाने के लिए उपेक्षा करने वालों में प्रेम उत्पन्न करने के लिए गायत्री द्वारा आकर्षण क्रिया की जा सकती है। वशीकरण तो घोर तांत्रिक क्रियाओं द्वारा ही होता है, पर चुम्बकीय आकर्षण, जिससे किसी व्यक्ति का मन अपनी ओर सद्भावनापूर्वक आकर्षित हो, गायत्री की दक्षिणमार्गी इस योग-साधना से हो सकता है।

गायत्री का जप तीन प्रणव लगाकर जपना चाहिए और ऐसा ध्यान करना चाहिए कि अपनी त्रिकुटी (मस्तिष्क का मध्य भाग) में एक नील वर्ण विद्युत-तेज की रस्सी जैसी शक्ति निकलकर उस व्यक्ति तक पहुँचती है, जिसे

आपको आकर्षित करना है और उसके चारों ओर अनेक लपेट मारकर लिपट जाती है । इस प्रकार लिपटा हुआ वह व्यक्ति अर्द्धतन्द्रित अवस्था में धीरे-धीरे खिंचता चला जाता है और अनुकूलता की प्रसन्न मुद्रा उसके चेहरे पर छाई हुई हैं । आकर्षण के लिए यह ध्यान बड़ा प्रभावशाली है ।

किसी के मन में, मस्तिष्क में उसके अनुचित विचार हटाकर उचित विचार भरने हों तो ऐसा करना चाहिए कि शांतचित्त होकर उस व्यक्ति को अखिल नील आकाश में अकेला सोता हुआ ध्यान करें और भावना करें कि उसके कुविचारों को हटाकर आप उसके मन में सद्विचार भर रहे हैं । इस ध्यान-साधना के समय अपना शरीर भी बिल्कुल शिथिल और नील वस्त्र से ढका हुआ होना चाहिए ।

(१०) रक्षा—कवच— किसी शुभ दिन उपवास रखकर केशर, कस्तूरी, जायफल, जावित्री, गोरोचन इन पांच चीजों के मिश्रण की स्याही बना कर अनार की कलम से पाँच प्रणव संयुक्त गायत्री-मंत्र बिना पालिश किये हुए कागज या भोजपत्र पर लिखना चाहिए । यह कवच चाँदी के ताबीज में बन्द करके जिस किसी को धारण कराया जाय, उसकी सब प्रकार की रक्षा करता है । रोग, अकाल मृत्यु, शत्रु, चोर, हानि, बुरे दिन, कलह, भय, राजदण्ड, भूत-प्रेत, अभिचार आदि से यह कवच रक्षा करता है । इसके प्रताप और प्रभाव से शारीरिक, आर्थिक और मानसिक सुख-साधनों में वृद्धि होती है ।

(११) प्रसूतिकष्ट निवारण— काँसे की थाली में उपयुक्त प्रकार से गायत्री मन्त्र लिखकर उसे प्रसव-कष्ट से पीड़ित प्रसूता को दिखाया जाय और फिर पानी में घोलकर उसे पिला दिया जाय तो कष्ट दूर होकर सुख-पूर्वक शीघ्र प्रसव हो जाता है ।

(१२) बुरे मुहूर्त और शकुनों का परिहार— कभी-कभी ऐसे अवसर आते हैं कि कोई कार्य करना है या कहीं जाना है, पर उस समय कोई शकुन या मुहूर्त ऐसे उपस्थित हो रहे हैं, जिनके कारण आगे कदम बढ़ाते हुए झिझक होती है, ऐसे अवसरों पर गायत्री की माला जपने के पश्चात् कार्य आरम्भ किया जा सकता है । इससे सारे अनिष्टों और आशंकाओं का समाधान हो जाता है और किसी अनिष्ट की सम्भावना नहीं रहती । विवाह न बनता हो या विधि-वर्ग न मिलते हों विवाह-मुहूर्त में सूर्य, वृहस्पति, चन्द्रमा आदि की बाधा हो तो चौबीस हजार जप का नौ दिन वाला लघु अनुष्ठान करके विवाह कर देना चाहिए । ऐसे विवाह से किसी प्रकार का अनिष्ट होने की कोई सम्भावना नहीं है । वह सब प्रकार शुद्ध और ज्योतिष सम्मत विवाह के समान ही ठीक माना जाना चाहिए ।

(१३) बुरे स्वप्नों के फल का नाश— रात्रि या दिन में सोने से कभी-कभी कई बार ऐसे भयंकर स्वप्न दिखाई पड़ते हैं, जिनसे स्वप्नकाल में भी बड़ा त्रास और दुःख मिलता है एवं जागने पर भी उनका स्मरण करके दिल धड़कता है । ऐसे स्वप्न किसी अनिष्ट की आशंका का संकेत करते हैं । जब ऐसे स्वप्न हों तो एक सप्ताह तक प्रतिदिन दस-दस मालायें गायत्री-जप करना चाहिए और गायत्री का पूजन करना या कराना चाहिए । गायत्री सहस्त्रनाम या गायत्री चालीसा का पाठ भी दुःस्वप्नों के प्रभाव को नष्ट करने वाला है ।

उपर्युक्त पंक्तियों में कुछ थोड़े से प्रयोग और उपचारों का आभास कराया गया है । अनेक विषयों में अनेक विधियों से गायत्री का जो उपयोग हो सकता है, उसका वर्णन बहुत विस्तृत है, उसे तो स्वयं अनुभव करके ही जाना जा सकता है । गायत्री की महिमा अपार है, वह कामधेनु है । उसकी साधना-उपासना करने वाला कभी भी निराश नहीं लौटता ।

महिलाओं के लिए गायत्री उपासना

गायत्री उपासना का अर्थ है—ईश्वर को माता-पिता मानकर उसकी गोदी में चढ़ना, उसका लाड़-दुलार और प्रेम-वात्सल्य प्राप्त करना । संसार में जितने भी सम्बन्ध हैं उन सबमें माता का रिश्ता अधिक प्रेमपूर्ण और घनिष्ठ है । प्रभु को जिस दृष्टि से हम देखते हैं, हमारी भावना के अनुरूप वैसी ही वे प्रत्युत्तर देती हैं । जब ईश्वर की गोदी में जीव मातृ-भावना के साथ चढ़ता है तो निश्चय ही उधर से वात्सल्यपूर्ण उत्तर मिलता है ।

स्नेह, वात्सल्य, करुणा, दया, ममता, उदारता, कोमलता आदि तत्व नारी में नर की अपेक्षा स्वभावतः अधिक होते हैं । ब्रह्म का अर्ध-वामांग ब्राह्मी तत्व अधिक कोमल, आकर्षक एवं शीघ्र द्रवीभूत होने वाला

है, इसलिए अनादिकाल से महर्षिगण भी ईश्वर की मातृ-भावना के साथ उपासना करते रहे हैं और उन्होंने प्रत्येक भारतीय धर्मावलम्बी को इसी सुखसाध्य एवं शीघ्र सफल होने वाली उपासना प्रणाली अपनाने का निर्देश दिया । गायत्री उपासना को इसीलिए प्रत्येक भारतीय का अनिवार्य धार्मिक कृत्य माना गया है । संध्या-वन्दन किसी पद्धति से किया जाता हो, उसमें गायत्री का होना आवश्यक है । विशेष लौकिक या पारलौकिक प्रयोजन के लिए विशेष रूप से गायत्री की उपासना की जाती है, पर उतना न हो सके तो नित्य कर्म की साधना तो दैनिक-कर्तव्य है, उसे न करने से धार्मिक कर्तव्यों की उपेक्षा करने का बड़ा दोष है ।

कन्या और पुत्र दोनों ही माता की प्राण-प्रिय सन्तान हैं । ईश्वर को नर-नारी दोनों ही दुलारे हैं । कोई भी निष्पक्ष और न्यायशील माता-पिता अपने बालकों में इसलिए भेदभाव नहीं करते कि वे कन्या हैं या पुत्र हैं । ईश्वर ने धार्मिक कर्तव्यों एवं आत्म-कल्याण के साधनों की नर और नारी दोनों को ही सुविधा दी है । यह समता, न्याय और निष्पक्षता की दृष्टि से उचित है, तर्क और प्रमाणों से सिद्ध है । इस सीधे-सीधे तथ्य में कोई विघ्न डालना असंगत ही होगा । वह बात अलग है कि अशिक्षित, अपवित्र, हीनमति और मूढ़ स्त्रियाँ स्वयं ही इस दिशा में प्रवृत्त न हों लेकिन स्त्रियाँ गायत्री साधना से वंचित रहें ऐसा कोई प्रतिबन्ध या शास्त्रीय निर्देश नहीं है ।

प्राचीनकाल में अनेक महिलाएँ उच्चकोटि की साधिकायें हुई हैं और उन्होंने गायत्री की साधना की है । आध्यात्म कार्य में वे पुरुष से कभी भी पीछे नहीं रही हैं । नारी का तप ही उसकी कुक्षि से महान आत्माओं का प्रसव कराने में समर्थ होता है । तपस्विनी अदिति ने भावना वामन को जन्म दिया, रोहिणी और यशोदा के आँगन में उन्हें बाल-लीला करनी पड़ी । समस्त देवताओं की जननी अदिति माता है, भगवती कात्यायनी असुरों पर विजय प्राप्त करने में समर्थ हुई । माता शतरूपा के गर्भ से मानव प्राणी का जन्म हुआ । अधिक उदाहरण क्यों दिये जायें, संसार में जितने भी विभूतिवान व्यक्ति हुए हैं उनके जन्म और निवास का श्रेय माताओं को ही तो है ।

बच्चों के स्वास्थ्य, गृहस्थ जीवन में सुख-शान्ति के लिए गायत्री उपासना का संबल सदैव मंगलमय रहता है । प्राचीनकाल की नारियाँ इस तप-शक्ति से ओत-प्रोत होने के कारण ही यशस्वी सन्तान को जन्म देती थीं और तब यह देश नर-रत्नों की खान हुआ करता था । बीच में नारी को प्रतिबन्धित कर हमने पाया कुछ नहीं, खो सब कुछ दिया । हमें अपना प्राचीन गौरव अभीष्ट हो तो अन्ततः महिलाओं को भी गायत्री उपासना करने के प्रति समान रूप से प्रेरित करना होगा और उसी से हमारे पारिवारिक जीवन समर्थ होंगे ।

गायत्री ईश्वर की सर्वोत्तम प्रार्थना है । वेद भगवान की अमृतमयी वाणी है । ऐसे उपयोगी तत्त्व से स्त्रियों को वंचित रखा जाना न्याय-विवेक के तथा भारतीय संस्कृति की मूलभूत भावना के प्रतिकूल है, इसलिए इस प्रकार के भ्रमों में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है । प्राचीनकाल की भाँति आज भी असंख्यो भारतीय महिलायें ऐसी हैं जो गायत्री मंत्र द्वारा उपासना करती हैं और उनके महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक और सांसारिक लाभों को प्राप्त करती हैं ।

गायत्री माता का श्रेय लेना स्त्रियों के लिए हर प्रकार से आवश्यक है । पिता की अपेक्षा माता अपनी कन्या पर अधिक प्यार करती है । गायत्री माता बड़ी कल्याणमयी है, उनका हृदय वात्सल्य से परिपूर्ण है । अपनी गोदी में चढ़ने वाली किसी पुत्री को वे निराश नहीं करतीं ।

महिलाओं के लिए कुछ विशेष साधनाएं

पुरुषों के भाँति स्त्रियों को भी वेदमाता गायत्री की साधना का अधिकार है । गतिहीन व्यवस्था को गतिशीलता में परिणित करने के लिए दो भिन्न जाति के पारस्परिक आकर्षण करने वाले तत्त्वों की आवश्यकता होती है । ऋण (नेगेटिव) और धन (पाजेटिव) शक्तियों के पारस्परिक आकर्षण-विकर्षण द्वारा ही विद्युत-गति का संचार होता है । परमाणु के इलेक्ट्रॉन और प्रोटोन भाग पारस्परिक आदान-प्रदान के कारण गतिशील होते हैं । शाश्वत् चैतन्य को क्रियाशील बनाने के लिए सजीव सृष्टि को नर और मादा के दो रूपों में बाँटा गया है, क्योंकि ऐसा विभाजन हुए बिना विश्व निच्चेष्ट अवस्था में ही पड़ा रहता । “रयि” और “प्राण” शक्ति का सम्मिलन ही तो चैतन्य

है । नर-तत्त्व और नारी-तत्त्व का पारस्परिक सम्मिलन ही तो चैतन्य आनन्द, स्फुरण, चेतना, गति, क्रिया, वृद्धि आदि का लोप होकर एक जड़ स्थित मात्र रह जायेगी । नर-तत्त्व और नारी-तत्त्व एक दूसरे के पूरक हैं । एक के बिना दूसरा अपूर्ण है । दोनों का महत्त्व, उपयोग, अधिकार और स्थान समान है । वेदमाता गायत्री की साधना का अधिकार भी स्त्रियों को पुरुषों के समान ही है । जो यह कहते हैं कि गायत्री वेद-मन्त्र होने से उसका अधिकार स्त्रियों को नहीं हैं, वे भारी भूल करते हैं । 'प्राचीन काल में स्त्रियाँ मन्त्रदृष्टा रही हैं । वेदमन्त्रों का उनके द्वारा अवतरण हुआ है, गायत्री स्वयं स्त्री लिंग हैं, फिर उनके अधिकार न होने का कोई कारण नहीं । हाँ, जो अशिक्षित, हीनमति, अपवित्र स्त्री शूद्र हैं, वे स्वयंमेव इधर प्रवृत्ति नहीं रखतीं न महत्त्व समझती हैं इसलिए वे अपने निज की मानसिक अवस्था से ही अधिकार वंचित होती हैं ।

स्त्रियाँ भी पुरुषों की भाँति गायत्री-साधनाएँ कर सकती हैं । जो साधनाएँ इस पुस्तक में दी गई हैं, वे सभी उनके अधिकार क्षेत्र में हैं । परन्तु देखा गया है कि सधवा स्त्रियाँ जिन्हें घर के कार्य में विशेष रूप से व्यस्त रहना पड़ता है अथवा जिनके छोटे-छोटे बच्चे हैं और वे उनके मल-मूत्र के अधिक सम्पर्क में रहने के कारण उतनी स्वच्छता नहीं रख सकतीं, उनके लिए देर में पूरी हो सकने वाली साधनाएँ कठिन हैं । वे संक्षिप्त साधनाओं से काम चलावें । जो पूरा गायत्री-मन्त्र याद नहीं कर सकतीं वे संक्षिप्त गायत्री पंगाक्षरी मन्त्र (**ॐ भूर्भुवः स्वः**) से काम चला सकती हैं । राजस्वला होने के दिनों में उन्हें विधिपूर्वक साधना बन्द रखनी चाहिए । कोई अनुष्ठान चल रहा हो तो उन दिनों उसे रोककर रजः स्नान के पश्चात् उसे फिर चालू किया जा सकता है ।

निःसन्तान महिलाएँ गायत्री साधना को पुरुषों की भाँति ही सुविधापूर्वक कर सकती हैं । अविवाहित या विधवा देवियों के लिए तो वैसी ही सुविधाएँ हैं जैसी कि पुरुषों को । जिनके बच्चे बड़े हो गये हैं, गोदी में कोई छोटा बालक नहीं है या जो वयोवृद्ध हैं, उन्हें भी कुछ असुविधा नहीं हो सकती । साधारण दैनिक साधना में कोई विशेष नियमोपनियम पालन करने की आवश्यकता नहीं है । दम्पत्ति जीवन के साधारण धर्मपालन करने में उसे कोई बाधा नहीं । यदि कोई विशेष साधन या अनुष्ठान करना हो तो उतनी अवधि के लिए ब्रह्मचर्य पालन करना आवश्यक होता है ।

विविध प्रयोजनों के लिए कुछ साधनाएँ नीचे दी जाती हैं :-

मनोनिग्रह और ब्रह्म प्राप्ति के लिए—

विधवा बहिनें आत्म-संयम, सदाचार, विवेक, ब्रह्मचर्य-पालन, इन्द्रिय-निग्रह एवं मन को वश में करने के लिए गायत्री-साधना को ब्रह्मशास्त्र के रूप में प्रयोग कर सकती हैं । जिस दिन से यह साधना आरम्भ की जाती है, उसी दिन से मन में शांति, स्थिरता, सद्बुद्धि और आत्म-संयम की भावना पैदा होती है । मन पर अपना अधिकार होता है, चित्त की चंचलता नष्ट होती है, विचारों में सतोगुण बढ़ जाता है । इच्छाएँ, रुचियाँ, क्रियाएँ, भावनाएँ सभी सतोगुणी, शुद्ध और पवित्र रहने लगती हैं । ईश्वर-प्राप्ति, धर्मरक्षा, तपश्चर्या, आत्म-कल्याण और ईश्वर आराधना में मन विशेष रूप से लगता है । धीरे-धीरे उसकी साध्वी, तपश्विनी, ईश्वर-परायण एवं ब्रह्मवादिनी जैसी स्थिति हो जाती है । गायत्री के वेश में भगवान् का उसे साक्षात्कार होने लगता है और ऐसी आत्म-शांति मिलती है, जिसकी तुलना में सधवा रहने का सुख उसे नितान्त तुच्छ दिखाई पड़ता है ।

प्रातःकाल वैसे जल से स्नान करें जो शरीर को सह्य हो । अति शीतल या अति उष्ण जल स्नान के लिए अनुपयुक्त है । वैसे तो सभी के लिए, पर स्त्रियों के लिए विशेष रूप से असह्य तापमान का जल स्नान के लिए हानिकारक हैं । स्नान के उपरान्त गायत्री साधन के लिए बैठना चाहिए । पास में जल का भरा हुआ पात्र रहे । जप के लिए तुलसी कर माला और बिछाने के लिए कुशासन ठीक है । वृषभरूढ़, श्वेत वस्त्र-धारी, चतुर्भुजी, प्रत्येक हाथ में-माला, कमण्डल, पुस्तक और कमल पुष्प लिए हुए प्रसन्न मुख प्रौढ़ावस्था गायत्री का ध्यान करना चाहिए । ध्यान सतोगुणी की वृद्धि के लिए, मनोनिग्रह के लिए बड़ा लाभदायक है । मन को बार-बार इस ध्यान में लगाना चाहिए और मुख से जप इस प्रकार करते जाना चाहिए कि कंठ से कुछ ध्यान हो, होठ हिलते रहें परन्तु मन्त्र को निकट बैठा हुआ मनुष्य भी भली प्रकार न सुन सके । प्रातः और सायं

दोनों समय इस प्रकार का जप किया जा सकता हैं । एक माला तो कम से कम जप होना ही चाहिए । सुविधानुसार अधिक संख्या में भी जप करना चाहिए । तपश्चर्या प्रकरण में लिखी हुई तपश्चर्याएँ साथ में की जायें तो और भी उत्तम हैं । किस प्रकार के स्वास्थ्य और वातावरण में कौन सी तपश्चर्या ठीक रहेगी, इस सम्बन्ध में इस पुस्तक के लेखक से जवाबी पत्र द्वारा सलाह ली जा सकती है ।

कुमारियों के लिए आशाप्रद भविष्य की साधना—

कुमारी कन्यायें अपने विवाहित जीवन में सब प्रकार की सुख-शान्ति की प्राप्ति के लिए भगवती की उपासना कर सकती हैं । पार्वतीजी ने मनचाहा वर पाने के लिए नारदजी के आदेशानुसार तप किया था और वे अन्त में सफल मनोरथ हुई थीं । सीताजी ने मनोवांछित पति पाने के लिए गौरी (पार्वती) की उपासना की थी । नवदुर्गाओं में आस्तिक घरानों की कन्यायें भगवती की आराधना करती हैं । गायत्री की उपासना उनके लिए सब प्रकार मंगलमय है ।

गायत्री का चित्र, प्रतिमा अथवा मूर्ति को किसी छोटे आसन या चौकी पर स्थापित करके उसकी पूजा वैसे ही करनी चाहिए, जैसे अन्य देव प्रतिमाओं की की जाती है । प्रतिमा के आगे एक छोटी तस्तरी रख लेनी चाहिए और उसी में चन्दन, धूप, दीप, अक्षत, नैवेद्य, पुष्प, जल, भोग आदि पूजा-सामिग्री चढ़ानी चाहिए, आरती करनी चाहिए, मूर्ति के मस्तक पर चन्दन लगाया जा सकता है पर यदि चित्र है तो उसके चन्दन आदि नहीं लगाना चाहिए, जिससे उसमें मैलापन न आवे । नेत्र बन्द कर ध्यान करना चाहिए और मन ही मन कम से कम २४ मन्त्र गायत्री के जपने चाहिये । गायत्री का चित्र या मूर्ति अपने यहां प्राप्त न हो सके तो इसके लिए अखंड ज्योति मथुरा को लिखना चाहिए । इस प्रकार की गायत्री-साधना कन्याओं को उनके लिये अनुकूल वर, अच्छा घर यथा अचल सौभाग्य प्रदान कराने में सहायक होती है ।

सधवाओं के लिये मंगलमयी साधना—

अपने पतियों को सुखी, समृद्ध, सम्पन्न, स्वस्थ, प्रसन्न, दीर्घजीवी बनाने के लिए सधवा स्त्रियों को गायत्री की शरण लेनी चाहिए । इससे पतियों के बिगड़े हुए स्वभाव, विचार और आचरण शुद्ध होकर उनमें ऐसी सात्विक बुद्धि आती है कि वे अपने गृहस्थ जीवन के कर्तव्य-धर्मों को तत्परता एवं प्रसन्नतापूर्वक पालन कर सकें । इस साधना में स्त्रियों के स्वास्थ्य तथा स्वभाव में एक ऐसा आकर्षण पैदा होता है जिससे वे सभी को परम प्रिय लगती हैं और उनका समुचित सत्कार होता है । अपना बिगड़ा हुआ स्वास्थ्य, घर के अन्य लोगों का बिगड़ा हुआ स्वास्थ्य, आर्थिक तंगी, दरिद्रता, बढ़ा हुआ खर्च, आमदनी की कमी, पारिवारिक क्लेश, मनमुटाव, आपसी रागद्वेष एवं बुरे दिनों के उपद्रवों को शांत करने के लिए महिलाओं को गायत्री-उपासना करनी चाहिए । पिता के कुल एवं पतिकुल दोनों ही पक्षों के लिए यह साधना उपयोगी है, पर सधवाओं की उपासना विशेष रूप से पतिकुल के लिए ही लाभदायक होती है ।

प्रातःकाल से लेकर मध्याह्नकाल तक उपासना कर लेनी चाहिए । जब तक साधन न किया जाय भोजन न करना चाहिए । हाँ, जल पिया जा सकता है । शुद्ध शरीर, शुद्ध मन और शुद्ध वस्त्र से पूर्व की ओर मुँह करकें बैठना चाहिए । केशर डालकर चन्दन अपने हाथ से घिसे और मस्तक, हृदय तथा कण्ठ पर तिलक छाप के रूप में लगावे । तिलक छोटे से छोटा भी लगाया जा सकता है, गायत्री की मूर्ति या चित्र की स्थापना करके उसकी विधिवत् पूजा करे । पीले रंग का पूजा के सब कार्यों में प्रयोग करे । प्रतिमा का आवरण पीले वस्त्रों का रखे । पीले-पुष्प, पीले चायल, बेसनी लड्डू, आदि पीले पदार्थों का भोग, केशर मिले चन्दन का तिलक, आरती के लिए पीला गौ घृत, गौ घृत न मिले तो उसमें केशर मिलाकर पीला कर लेना, चन्दन का चूरा, धूप इस प्रकार पूजा में पीले रंग का अधिक से अधिक प्रयोग करना चाहिए । नेत्र बन्द करके पीतवर्ण आकाश में पीले सिंह पर सवार, पीतवस्त्र पहने गायत्री का ध्यान करना चाहिए । पूजा के समय सब वस्त्र पीले न हो सकें तो कम से कम एक वस्त्र पीला अवश्य होना चाहिये । इस प्रकार पीतवर्ण गायत्री का ध्यान करते हुए कम से कम २४ मन्त्र गायत्री के जपने चाहिए । जब अवसर मिले तभी मन ही मन भगवती का ध्यान करती रहें । महीने की हर पूर्णमासी को व्रत रखना चाहिए । अपने नित्य आहार में एक बीज पीले रंग की अवश्य लेलें । शरीर पर कभी-कभी हल्दी का उबटन कर लेना अच्छा है । यह पीतवर्ण साधना दाम्पत्य जीवन को सुखी बनाने

के लिए परम उत्तम है। इस साधना से घर में सुख शान्ति की वृद्धि होती है और रोग-कष्ट मिटते हैं।

सन्तान सुख देने वाली उपासना—

जिनकी सन्तान बीमार रहती है, अल्प आयु में ही मर जाती है, केवल पुत्र या केवल कन्याएँ ही होती हैं, गर्भपात हो जाते हैं, गर्भ स्थापित ही नहीं होता, बन्ध्यादोष लगा हुआ है अथवा सन्तान दीर्घसूत्री, आलसी, मन्दबुद्धि, दुर्गुणी, आज्ञाउल्लंघनकारी, कटुभाषी या कुमार्गगामी है, वे वेदमाता गायत्री की शरण में जाकर इन कष्टों से छुटकारा पा सकती हैं। हमारे सामने ऐसे सैंकड़ों उदाहरण हैं, जिनमें स्त्रियों ने वेदमाता गायत्री के चरणों में अपने आंचल फैलाकर सन्तान-सुख मांगा है और भगवती ने उन्हें वह प्रसन्नतापूर्वक दिया है। माता के भण्डार में किसी वस्तु की कमी नहीं है, उनकी कृपा को पाकर मनुष्य दुर्लभ से दुर्लभ वस्तु प्राप्त कर सकता है। कोई वस्तु ऐसी नहीं जो माता की कृपा से प्राप्त न हो सकती हो फिर सन्तान सुख जैसी साधारण बात की उपलब्धि में कोई बड़ी अड़चन नहीं हो सकती।

जो महिलाएँ गर्भवती हैं वे प्रातः सूर्योदय से पूर्व या रात्रि को सूर्य अस्त के पश्चात् अपने गर्भ में गायत्री के सूर्य सदृश प्रचण्ड तेज का ध्यान किया करें और मन ही मन गायत्री मन्त्र जपें तो उनका बालक तेजस्वी, बुद्धिमान, चतुर, दीर्घजीवी तथा यशस्वी होता है।

प्रातःकाल कटि प्रदेश में भीगे वस्त्र रखकर शांत चित्त से ध्यानावस्थित होना चाहिए और अपने योनिमार्ग में होकर गर्भाशय तक पहुँचता हुआ गायत्री का प्रकाश सूर्य-किरणों जैसा ध्यान करना चाहिए। नेत्र बन्द रहें। कटि प्रदेश में तेज पुंज भरा हुआ अनुभव हो। मन ही मन जप चलता रहे। यह साधना शीघ्र गर्भ स्थापित कराने वाली है। कुन्ती ने इसी साधना के बल से गायत्री के दक्षिण भाग (सूर्य भगवान) को आकर्षित करके कुमारी अवस्था में ही कर्ण को जन्म दिया था। यह साधना कुमारी कन्याओं को नहीं करनी चाहिए।

साधना से उठकर सूर्य को जल चढ़ाना चाहिए और अर्घ से बचा हुआ एक चल्लू जल स्वयं पीना चाहिए। इस प्रयोग से बन्ध्यायें गर्भ धारण करती हैं, जिनके बच्चे मर जाते हैं या गर्भपात हो जाता है, उनका यह कष्ट मिटकर संतोषदायी संतान होती है।

रोगी, कुबुद्धि, आलसी, चिड़चिड़े बालकों को गोदी में लेकर माताएँ हंसवाहिनी, गुलाबी कमल पुष्पों से लदी हुई, शंख-चक्र हाथ में लिए गायत्री का ध्यान करें और मन ही मन जप करें। माता के जप का प्रभाव गोदी में लगे बालक पर होता है और उसके शरीर तथा मस्तिष्क में आश्चर्यजनक प्रभाव होता है। छोटा बच्चा हो तो इस साधना के समय माता दूध पिलाती रहे। बड़ा बच्चा हो तो उसके सिर और शरीर पर हाथ फिराती रहे। बच्चों की शुभ कामना के लिए गुरुवार का व्रत उपयोगी है। साधना से उठकर जल का अर्घ सूर्य को चढ़ावें और पीछे से बचा हुआ थोड़ा-सा जल बच्चों पर मार्जन की तरह छिड़क दें।

किसी विशेष आवश्यकता के लिए—

अपने परिवार पर परिजनों पर, प्रियजनों पर आई हुई किसी आपत्ति के निवारण के लिए अथवा किसी आवश्यक कार्य में आई हुई किसी बड़ी रुकावट एवं कठिनाई को हटाने के लिए गायत्री-साधना के समान दैवी सहायता के माध्यम कठिनाई से मिलेंगे। कोई विशेष कामना मन में हो और उसके पूर्ण होने में भारी बाधाएँ दिखाई पड़ रही हों, तो सच्चे हृदय से वेदमाता गायत्री को पुकारना चाहिए। माता जैसे अपने प्रिय बालक की पुकार सुनकर दौड़ी आती है वैसे ही गायत्री की उपासिकाएँ भी माता की अमित करुणा का प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त करती हैं।

नौ दिन का लघु अनुष्ठान, चालीस दिन का पूर्ण अनुष्ठान इसी पुस्तक में अन्यत्र वर्णित है। तात्कालिक आवश्यकता के लिए उनका उपयोग करना चाहिए। स्वयं न कर सकें तो किसी गायत्री विद्या के ज्ञाता से उन्हें कराना चाहिए। तपश्चर्या प्रकरण में लिखी हुई तपश्चर्याएँ भगवती को प्रसन्न करने के लिए प्रायः सफल होती हैं। एक वर्ष का गायत्री-उद्यापन सब कामनाओं को पूर्ण करने वाला है, उसका उल्लेख आगे किया जायेगा। जैसे पुरुष के लिए गायत्री अनुष्ठान एक सर्व प्रधान साधन है, वैसे ही महिलाओं के लिए गायत्री-उद्यापन की विशेष महिमा है। उसे आरम्भ कर देने में विशेष कठिनाई भी नहीं है और विशेष प्रतिबन्ध भी नहीं हैं। सरलता की दृष्टि से यह स्त्रियों के लिए विशेष उपयोगी है। माता को प्रसन्न करने के लिए उद्यापन की पुष्पमाला उसका एक परमप्रिय उपहार है।

नित्य की साधना में गायत्री चालीसा का पाठ महिलाओं के लिए बड़ा हितकर है। जनेऊ की जगह पर कण्ठी गले में धारण करके महिलाएँ द्विजत्व प्राप्त कर लेती हैं और गायत्री अधिकारिणी बन जाती हैं।

गायत्री का अर्थ चिन्तन—

गायत्री मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार है-

ॐ (परमात्मा) भूः (प्राण स्वरूप) भुवः (दुःख नाशक) स्वः (सुख स्वरूप) तत् (उस) सवितुः (तेजस्वी) वरेण्यं (श्रेष्ठ) भर्गः (पाप नाशक) देवस्य (दिव्य) धीमहि (धारण करें) धियो (बुद्धि) यः (जो) नः (हमारी) प्रचोदयात (प्रेरित करें)।

अर्थात्— उस प्राण स्वरूप, दुखनाशक, सुख स्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, देव स्वरूप परमात्मा को हम अन्तरात्मा में धारण करें। वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करे।

इस अर्थ का विचार करने से उसके अन्तर्गत तीन तथ्य प्रकट होते हैं : १- ईश्वर के दिव्य गुणों का चिन्तन, २- ईश्वर को अपने अन्दर धारण करना, ३- सद्बुद्धि की प्रेरणा के लिए प्रार्थना। यह तीनों ही बातें असाधारण महत्त्व की हैं।

(१) ईश्वर के प्राणवान् दुःख रहित, आनन्द स्वरूप, तेजस्वी, श्रेष्ठ, पाप रहित, देव गुण-सम्पन्न स्वरूप का ध्यान करने का तात्पर्य यह है कि इन्हीं गुणों को हम अपने में लावें। अपने विचार और स्वभाव को ऐसा बनावें कि उपयुक्त विशेषताएँ हमारे व्यावहारिक जीवन में परिलक्षित होने लगें। इस प्रकार की विचारधारा, कार्य पद्धति एवं अनुभूति मनुष्य की आत्मिक और भौतिक स्थिति को दिन-दिन समुन्नत एवं श्रेष्ठतम बनाती चलती है।

(२) गायत्री मन्त्र के दूसरे भाग में परमात्मा को अपने अन्दर धारण करने की प्रतिज्ञा है। उस ब्रह्म, उस दिव्य गुण सम्पन्न परमात्मा को अपने अन्दर धारण करने, अपने रोम-रोम में बसा लेने, परमात्मा को संसार के कण-कण में व्याप्त देखने से मनुष्य को हर घड़ी ईश्वर-दर्शन का आनन्द प्राप्त होता रहता है और वह अपने को ईश्वर के निकट स्वर्गीय स्थिति में ही रहना अनुभव करता है।

(३) मन्त्र के तीसरे भाग में सद्बुद्धि का महत्त्व सर्वोपरि होने की मान्यता का प्रतिपादन है। भगवान से यही प्रार्थना की गई है कि आप हमारी बुद्धि को सन्मार्ग पर प्रेरित कर दीजिये, क्योंकि यह एक ऐसी महान् भगवत कृपा है कि इसके प्राप्त होने पर अन्य सब सुख सम्पदायें अपने आप प्राप्त हो जाती हैं।

इस मन्त्र के प्रथम भाग में ईश्वरीय दिव्य गुणों को प्राप्त करने, दूसरे भाग में ईश्वरीय दृष्टिकोण धारण करने और तीसरे में बुद्धि को सन्मार्ग पर लगाने की प्रेरणा है। गायत्री की शिक्षा है कि अपनी बुद्धि को सात्विक बनाओ, आदर्शों को ऊँचा रखो, उच्च दार्शनिक विचारधाराओं में रमण करो और तुच्छ तृष्णाओं एवं वासनाओं के लिए हमें नचाने वाली कुबुद्धि को मानस लोक में से बहिष्कृत कर दो। जैसे-जैसे कुबुद्धि का कल्मष दूर होगा वैसे ही वैसे दिव्य गुण सम्पन्न परमात्मा के अंशों की अपने में वृद्धि होती जायेगी और उसी अनुपात से लौकिक और पारलौकिक आनन्दों की अभिवृद्धि होती जायगी।

गायत्री मन्त्र के गर्भ में सन्निहित उपयुक्त तथ्य में ज्ञान, भक्ति, कर्म, उपासना तीनों हैं। सद्गुणों का चिन्तन ज्ञानयोग है। ब्रह्म की धारणा भक्ति योग है और बुद्धि की सात्विकता एवं अनासक्ति कर्म योग है। वेदों में ज्ञान, कर्म और उपासना यह तीन विषय हैं। गायत्री में भी बीज रूप से यह तीनों ही तथ्य सर्वांगपूर्ण ढंग से प्रतिपादित हैं।

इन भावनाओं का एकान्त में बैठकर नित्य अर्थ चिन्तन करना चाहिए। यह ध्यान साधना मनन के लिये अतीव उपयोगी है। मनन के लिए तीन संकल्प नीचे दिये जाते हैं। इन संकल्पों के शब्दों को शान्त चित्त से, स्थिर आसन पर बैठकर; नेत्र बन्द रखकर, मन ही मन दुहराना चाहिए और कल्पना शक्ति की सहायता से इन संकल्पों का ध्यान चित्र मनः क्षेत्र में भली प्रकार अंकित करना चाहिए।

(१) परमात्मा का ही पवित्र अंश—अविनाशी राजकुमार मैं आत्मा हूँ। परमात्मा प्राण स्वरूप है, मैं भी अपने को प्राणवान् आत्मशक्ति सम्पन्न बनाऊँगा। प्रभु दुख रहित है—मैं दुःखदायी मार्ग पर न चलूँगा। ईश्वर आनन्द स्वरूप है—अपने जीवन को आनन्दमय बनाना तथा दूसरों के आनन्द की वृद्धि करना मेरा कर्तव्य है। भगवान तेजस्वी हैं—मैं भी निर्भीक, साहसी, वीर, पुरुषार्थी और प्रतिभावान बनूँगा। ब्रह्म श्रेष्ठ है—श्रेष्ठता, महानता, आदर्शवादिता एवं सिद्धान्तमय जीवन नीति

अपनाकर मैं भी श्रेष्ठ ही बनूँगा । वह जगदीश्वर निष्पाप है–मैं भी पापों से, कुविचारों और कुकर्मों से बच कर रहूँगा । ईश्वर दिव्य है–मैं भी अपने को दिव्य गुणों से सुसज्जित करूँगा । संसार को कुछ देते रहने की देव नीति अपनाऊँगा । इसी मार्ग पर चलने से मेरा मनुष्य जीवन सफल हो सकता है ।

(२) उपरोक्त गुणों वाले परमात्मा को मैं अपने अन्दर धारण करता हूँ । इस विश्व ब्रह्माण्ड के कण-कण में प्रभु समाये हुये हैं वे मेरे चारों ओर, भीतर बाहर सर्वत्र फैले हुये हैं । मैं उन्हीं में रमण करूँगा, उन्हीं के साथ हँसूँगा, खेलूँगा । वे ही मेरे चिर सहचर हैं । लोभ, मोह, वासना और तृष्णा का प्रलोभन दिखाकर पतन के गहरे गर्त में धकेल देने वाली कुबुद्धि से, माया से बचकर अपने को अन्तर्यामी परमात्मा की शरण में सौंपता हूँ । उन्हें ही अपने हृदयासन पर अवस्थित करता हूँ । अब वे ही मेरे हैं और मैं केवल उन्हीं का हूँ । ईश्वरीय आदर्शों का पालन करना और विश्व मानव-परमात्मा की सेवा करना ही अब मेरा लक्ष्य रहेगा ।

(३) सद्बुद्धि से बढ़कर और कोई दैवी वरदान नहीं । इस दिव्य सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए मैं घोर तप करूँगा । आत्मा-चिन्तन करके अपने अन्तःकरण चतुष्टय में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार में छिपकर बैठी हुई कुबुद्धि को बारीकी के साथ ढूँढूँगा और उसे बहिष्कृत करने में कोई कसर न रहने दूँगा । अपनी आदतों, मान्यताओं, भावनाओं, विचारधाराओं में जहाँ भी कुबुद्धि पाऊंगा वहीं से उसे हटाऊंगा । असत्य को त्यागने और सत्य को ग्रहण करने में रत्ती भर भी दुराग्रह न रखूंगा । अपनी भूलें मानने और विवेक संगत बातों को मानने में तनिक भी दुराग्रह न करूँगा । अपने स्वभावों, विचारों और स्वभावों की सफाई करना, सड़े-गले कूड़े-कचरे को हटाकर सत्य शिव सुन्दर भावनाओं से अपनी मनोभूमि को सजाना अब मेरी प्रधान पूजा पद्धति होगी । इसी पूजा पद्धति से प्रसन्न होकर भगवान मेरे अन्तःकरण में निवास करेंगे तब मैं उनकी कृपा से जीवन लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होऊँगा ।

इस संकल्पों में अपने रुचि के अनुसार शब्दों का हेर-फेर किया जा सकता है । पर भाव यही होने चाहिए । नित्यप्रति शान्त चित्त से भावना पूर्वक इन संकल्पों को देर तक अपने हृदय में स्थान दिया जाय तो गायत्री के मन्त्रार्थ की सच्ची अनुभूति हो सकती है । उस अनुभूति से मनुष्य दिन-दिन अध्यात्म मार्ग में ऊँचा उठ सकता है ।

उपर्युक्त तरीके से गायत्री-मन्त्र के अर्थ पर मनन एवं चिन्तन करने से अन्तःकरण में उन तत्त्वों की वृद्धि होती है जो मनुष्य को देवत्व की ओर ले जाते हैं । वह भाव बड़े ही शक्तिदायक, उत्साहप्रद, सतोगुणी, अन्नायक एवं आत्मबल बढ़ाने वाले हैं । इन भावों का नित्यप्रति कुछ समय मनन करना चाहिए ।

मनन के लिए कुछ संकल्प आगे दिए जाते हैं । इन शब्दों को नेत्र बंद करके मन ही मन दुहराना चाहिए और कल्पना शक्ति की सहायता से इनका मानस चित्र मनःलोक में भली प्रकार अंकित करना चाहिए–

१. **"भूः लोक, भुवः लोक, स्वः**– तीनों लोकों में ॐ परमात्मा समाया हुआ है । यह जितना भी विश्व ब्रह्माण्ड है, परमात्मा की साकार प्रतिमा है । कण-कण में भगवान समाये हुये हैं । इस सर्वव्यापक परमात्मा को सर्वत्र देखते हुए मुझे कुविचारों और कुकर्मों से सदा दूर रहना चाहिए एवं संसार की सुख-शांति तथा शोभा बढ़ाने में सहयोग देकर प्रभु की सच्ची पूजा करनी चाहिए ।"

२. **"तत्–वह परमात्मा, सवितुः–तेजस्वी, वरेण्य-श्रेष्ठ, भर्गो**– पाप रहित और देवस्य-दिव्य है । इसको मैं अन्तःकरण में धारण करता हूँ । इन गुणों वाले भगवान मेरे अन्तःकरण में प्रतिष्ठित होकर मुझे भी तेजस्वी, श्रेष्ठ, पाप रहित एवं दिव्य बनाते हैं । मैं प्रतिक्षण इन गुणों युक्त होता जाता हूँ । इन दोनों की मात्रा मेरे मस्तिष्क और शरीर के कण-कण में बढ़ती जाती है । मैं इन गुणों से ओत-प्रोत होता जाता हूँ ।"

३. **"वह परमात्मा, नः–हमारी, धियो–बुद्धि को, प्रचोदयात्–"** सन्मार्ग में प्रेरित करे । हम सब की, हमारे स्वजन परिजनों की बुद्धि सन्मार्गगामी हो । संसार की सबसे बड़ी विभूति सुखों की आदि माता सद्बुद्धि को पाकर हम इस जीवन में ही स्वर्गीय आनन्द का उपभोग करें । मानव जन्म को सफल बनावें ।"

उपर्युक्त तीन चिन्तन संकल्प धीरे-धीरे मनन करने चाहिए । एक-एक शब्द कुछ क्षण रुकना चाहिए और उस शब्द का कल्पना चित्र मन में बनाना चाहिए ।

जब यह शब्द पढ़े जा रहे हों कि परमात्मा भूः भुवः स्वः तीनों लोकों में व्याप्त है, तब ऐसी कल्पना करनी चाहिये, जैसे हम पाताल, पृथ्वी, स्वर्ग को भली प्रकार देख रहे हैं और उसमें गर्मी, प्रकाश, बिजली, शक्ति या प्राण की तरह परमात्मा सर्वत्र समाया हुआ है। यह विराट ब्रह्माण्ड ईश्वर की एक जीवित जाग्रत साकार प्रतिमा है। गीता में अर्जुन को जिस प्रकार भगवान ने अपना विराट रूप दिखाया है, वैसे ही विराट् पुरुष के दर्शन अपने कल्पना-लोक में मानस चक्षुओं से करने चाहिए। खूब जी भरकर इस विराट ब्रह्म के (विश्व पुरुष) के दर्शन करना चाहिए कि मैं इस विश्व पुरुष के पेट में बैठा हूँ। मेरे चारों ओर परमात्मा ही परमात्मा है ऐसी महाशक्ति की उपस्थिति में कुविचारों और कुकर्मों को मैं किस प्रकार अंगीकार कर सकता हूँ। इस विश्व पुरुष का कण-कण मेरे लिए पूजनीय है। उसकी सेवा, सुरक्षा एवं शोभा बढ़ाने में प्रवृत्त रहना ही मेरे लिए श्रेयस्कर है।

संकल्प के दूसरे भाग का चिन्तन करते हुए अपने हृदय को भगवान का सिंहासन अनुभव करना चाहिए और उस परम तेजस्वी, सर्वश्रेष्ठ, निर्विकार, दिव्य गुणों वाले परमात्मा को विराजमान देखना चाहिए। भगवान् की झाँकी तीन रूप में की जा सकती है (१) विराट् पुरुष के रूप में (२) राम, कृष्ण, विष्णु, गायत्री, सरस्वती, आदि के रूप में (३) दीपक की ज्योति के रूप में, यह अपनी भावना, इच्छा और रुचि के ऊपर है। परमात्मा को पुरुष रूप में यां गायत्री को मातृ रूप में अपनी रुचि के अनुसार ध्यान किया जा सकता है। परमात्मा स्त्री भी है और पुरुष भी। गायत्री साधकों को माता गायत्री के रूप में ब्रह्म का ध्यान करना अधिक रुचता है। सुन्दर छवि का ध्यान करते हुए उसमें सूर्य के समान तेजस्विता, सर्वोपरि श्रेष्ठता, परम पवित्र निर्मलता और दिव्य सतोगुण की झाँकी करनी चाहिए। इस प्रकार गुण और रूप वाली ब्रह्म शक्ति को अपने हृदय में स्थायी रूप से बस जाने की, अपने रोम-रोम में रम जाने की भावना करनी चाहिये।

संकल्प के तीसरे भाग का चिन्तन करते हुए ऐसा अनुभव करना चाहिए कि वह गायत्री ब्रह्म शक्ति हमारे हृदय में निवास करने वाली भावना तथा मस्तिष्क में रहने वाली बुद्धि को पकड़ कर सात्विकता के, धर्म के 'कर्तव्य के, सेवा के सत्पथ पर घसीटे लिए जा रही है। बुद्धि और भावना को इसी दिशा में चलाने का अभ्यास तथा प्रेम उत्पन्न कर रही है तथा वे दोनों बड़े आनन्द, उत्साह तथा सन्तोष का अनुभव करते हुए माता गायत्री के साथ-साथ चल रही हैं।

गायत्री में दी हुई यह तीन भावनायें क्रमशः ज्ञान-योग भक्ति-योग और कर्म-योग की प्रतीक हैं। इन्हीं तीन भावनाओं का विस्तार होकर योग के ज्ञान, भक्ति और कर्म यह तीन आधार बने हैं। गायत्री का अर्थ चिन्तन बीज रूप से अपनी अन्तरात्मा को तीनों योगों की त्रिवेणी में स्नान कराने के समान है।

इस प्रकार चिन्तन करने से गायत्री मन्त्र का अर्थ भली प्रकार हृदयांगम हो जाता है और उसकी प्रत्येक भावना मन पर अपनी छाप जमा लेती है, जिससे यह परिणाम कुछ ही दिनों में दिखाई देने लगता है कि मन कुविचारों और कुकर्मों की ओर से हट गया है और मनुष्योचित सद्विचारों एवं सत्कर्मों में उत्साहपूर्वक रस लेने लगा है। यह प्रवृत्ति आरम्भ में चाहे कितनी ही मन्द क्यों न हो, यह निश्चित है कि यदि वह बनी रहे, बुझने न पावे तो निश्चय ही आत्मा दिन-दिन समुन्नत होती जाती है और जीवन का चरम लक्ष्य समीप खिसकता चला आता है।

अर्थ-भावना का साधन

गायत्री मन्त्र के अर्थ पर विचार करते हुए उसका ध्यान करना, तदनुकूल मानसिक चित्रों का बनाना एक उत्तम आध्यत्मिक साधना है। इस साधना से मनःक्षेत्र में मन्त्रोक्त विचार बीजों की स्थापना होती है। ऐसी स्थापना जब नियमित क्रम से नित्य की जाती है तो वे बीज अंकुरित होते हैं और अपना स्वरूप प्रकट करते हैं। अर्थ समेत गायत्री की ध्यान धारणा के प्रभाव से अन्तःकरण की सात्विकता में लगातार वृद्धि होती जाती है और साधक धीरे-धीरे अपने चरम लक्ष्य के समीप पहुंचता जाता है।

अर्थ की भावना के लिए किसी विशेष साधन विधि की आवश्यकता नहीं है और न कोई समय नियत करना ही अनिवार्य है। जब सुविधा हो जब थोड़ा अवकाश

हो तभी थोड़े बहुत समय के लिए इसे करते रहना चाहिए । इस साधन में शरीर को शिथिल करने की आवश्यकता पड़ती है इसलिए आराम-कुर्सी का प्रबन्ध हो जाय तो सबसे अच्छा, अन्यथा साधारण हत्थेदार कुर्सी अथवा मसनद के सहारे से काम चल सकता है ।

प्रसन्नचित्त होकर साधान के लिए बैठें और पीठ को कुर्सी या मसनद का सहारा देकर शरीर को ढीला छोड़ देना । चाहिए नेत्रों को बन्द या अधखुले रख कर ऐसी भावना करनी चाहिए कि शरीर बिलकुल ढीला, निष्प्राण हो रहा है । कुछ मिनटों तक यह भावना करने से शरीर की मांस पेशियां शिथिल हो जाती हैं । इस शिथिलता के कारण मस्तिष्क बहुत हल्का हो जाता है और ध्यान में सुविधा पड़ती है । खिंची हुई पेशियां मस्तिष्क पर अधिक दबाव डाले रहती हैं, शरीर के अंग जितने उत्तेजित एवं क्रिया लग्न होंगे उतनी ही मस्तिष्क में अस्थिरता रहेगी । इसलिए ध्यान के समय सदा ही शरीर की शिथिलता आवश्यक होती है, चाहे वह पद्मासन द्वारा लाई जाय या शिथिलासन द्वारा । हमें व्यक्तिगत रूप से शिथिलासन अधिक रुचिकर हुआ है, इसलिए अपने साधकों को उसी की सलाह दे रहे हैं । जिन्हें पद्मासन अनुकूल पड़े वे उसका प्रयोग कर सकते हैं ।

जब शरीर ढीला होने लगे तो चार बार गहरी सांसें लेनी चाहिए । पहली सांस को खींचने के समय ॐ का दूसरी के साथ 'भूः' का तीसरी के साथ 'भुवः' का, चौथी के साथ 'स्वः' का मानसिक जप करते जाना चाहिए । इसके बाद मन्त्र के अर्थ की भावना नेत्र बन्द करके करनी चाहिए ।

"–मैं अपने अन्तःकरण में उस प्राण स्वरूप ब्रह्म को धारण कर रहा हूँ जो दुःख नाशक, सुख स्वरूप तेजवान्, श्रेष्ठ, पाप नाशक और दिव्य है ।"

"–यह प्राण स्वरूप ब्रह्म मेरी बुद्धि को सत् मार्ग पर प्रेरित कर रहा है ।"

मन्त्र में कहे हुए शब्दों को अर्थ के साथ-साथ जोड़ते चलना चाहिए । जिस शब्द का जो अर्थ है इस शब्द और अर्थ दोनों का ही चिन्तन होना चाहिए । 'उस अर्थ के साथ 'तत्, शब्द 'ब्रह्म' अर्थ के साथ 'ॐ' शब्द, 'प्राण, अर्थ के साथ भूः शब्द, दुःख नाशक अर्थ के साथ भुवः शब्द की । इसी प्रकार अर्थ के साथ शब्द की भावना भी मन में करते चलना चाहिए । कुछ दिनों के अभ्यास में अर्थ और शब्द यह दो बातें अलग-अलग नहीं रह जाती । वरन् मन्त्र में कहे हुए शब्द से ही अर्थ का भाव मन में उत्पन्न हो जाता है । आरम्भ में अंग्रेजी पढ़ने वाले के मन में **'cat'** शब्द से बिल्ली की मूर्ति का ध्यान स्पष्ट रूप में नहीं आता, किन्तु बिल्ली शब्द के साथ बिल्ली की मूर्ति का मनः चित्र उत्पन्न होता है । किन्तु अंग्रेजी का अधिक अभ्यास हो जाने पर **'cat'** शब्द से भी बिल्ली की मूर्ति मन में उठ आती है । अर्थ की भावना अधिक दिनों तक करने के पश्चात् अर्थ और शब्द दोनों का साथ-साथ भावना करने का झंझट छूट जाता है और केवल मन्त्र के शब्दों की भावना के साथ–साथ अर्थ का मानसिक चित्र उत्पन्न होने लगता है । जब तक वह स्थिति प्राप्त नहीं हो तब तक शब्द और अर्थ दोनों साथ-साथ चलने चाहिए ।

ब्रह्म की धारणा और बुद्धि की प्रेरणा यह दो भाग मन्त्र के हैं । ब्रह्म की धारणा पर एक बीच का ठहराव है । इसे भली प्रकार मन में स्थान देकर तब दूसरे भाग, बुद्धि की प्रेरणा का ध्यान करना चाहिए । एक-एक शब्द पर थोड़ा-थोड़ा ठहर कर उसका मूर्तिमान चित्र मनः पटल पर स्पष्ट रूप से अंकित करने का प्रयत्न करना चाहिए । जब यह शब्द मन में आवे "मैं अपने अन्तःकरण में–" तो अपने हृदय का चित्र कल्पना नेत्रों से ध्यान पूर्वक देखना चाहिए । जब "उस प्राण स्वरूप ब्रह्म को धारण करता हूँ–" इन शब्दों की भावना की जाय तो ऐसा ध्यान करना चाहिए कि एक दिव्य विद्युत शक्ति को अन्तरिक्ष में से खींचकर हृदय में स्थापित किया जा रहा है । फिर उस स्थापित हुई विद्युत शक्ति के गुणों की भावना करनी चाहिए । अपने सब दुखदायक परमाणुओं को इस विद्युत शक्ति ने जला दिया उसकी स्थापना होते ही अणु–अणु में सुख का, आनन्द का सोता उमड़ रहा है, शरीर की कान्ति बढ़ रही है । मनःलोक का अन्धकार दूर होकर तेजस्वी प्रकाश उदय हुआ है, अपने अन्दर आत्मिक श्रेष्ठता, सत्य, प्रेम, न्याय की महानता बढ़ रही है, उस प्राणस्वरूप ब्रह्म की स्थापना होते ही पापों का नाश हो गया है और दिव्यता, देवत्व की प्रकृति अपने अन्दर बढ़ गई ।" इस प्रकार शब्दों की मूर्ति का अपने अन्दर प्रत्यक्ष दर्शाना चाहिए । जैसे किसी मूर्ति का अपने अन्दर प्रत्यक्ष दर्शन किया जाता है । जैसे किसी मूर्ति को वस्त्र आभूषण पहने हुए देखते हैं । उसी

प्रकार अपने आप को मानस नेत्रों से श्रेष्ठता दिव्यता तेजस्विता, प्रफुल्लता आदि आत्मिक आभूषणों से सुसज्जित देखने का प्रयत्न करना चाहिए । यह ध्यान जितना ही स्पष्ट और गहरा होगा उतने ही दृढ़ संस्कार जमेंगे ।

ब्रह्म की धारणा का ध्यान करने के उपरान्त सद्बुद्धि के सन्मार्ग की ओर प्रेरित होने की भावना करनी चाहिए । मस्तिष्क में निवास करने वाली बुद्धि, शक्ति, अपनी मूर्छा, अचेतनता, उदासीनता त्याग कर उत्साह और जागरूकता के साथ उत्तम मनुष्योचित विचार और कार्यों की ओर रुचि पूर्वक प्रेरित हो रही है । ऐसा प्रेरक ध्यान गायत्री के अन्तिम चरण की भावना में होना चाहिए ।

जब तक मन ऊब न जाय एक-एक शब्द पर अधिक से अधिक देर तक ध्यान केन्द्रित करना चाहिए । अर्थ भावना के ध्यान में इस बात का महत्त्व नहीं कि यन्त्र को कई बार दुहराया गया है वरन् इस बात का महत्त्व है कि ध्यान कितना साफ, स्पष्ट, गहरा और विश्वासपूर्वक हुआ है । ऐसा ध्यान यदि एक बार भी विशेष मनोयोग के साथ प्रतिदिन किया जावे तो आशातीत लाभ मिलता है ।

माता से वार्तालाप करने की साधना

गायत्री उपासना की सुनिश्चित प्रतिक्रिया यह होती है कि साधक का अन्तःकरण सद्भावनाओं में, मस्तिष्क संस्थान सद् विचारणाओं में और शरीर सत्प्रवृत्तियों में अधिकाधिक रुचि लेने लगता है और अपने अनुकूल गतिविधियों का अभ्यास बढ़ने लगता है । यही देवत्व की दिशा में प्रगति है । इस दिशा में जितना ही आगे बढ़ा जायेगा उसी अनुपात से साधक में दैवी तत्त्व की मात्रा का विस्तार होगा । चुम्बकत्व बढ़ने से सजातीय पदार्थों को अपनी ओर खींच बुलाने का क्रम अनायास ही चलने लगता है । आध्यात्मिक चुम्बकत्व बढ़ाने का प्रतिफल यह होता है कि जगद्धात्री विश्वशक्ति–ऋतम्भरा प्रज्ञा-गायत्री माता का सान्निध्य बढ़ता जाता है और इस प्रगति क्रम पर चलते हुए स्थिति यहाँ तक जा पहुँचती है कि उस दिव्य शक्ति के साथ परामर्श विचार विनिमय एवं आदान-प्रदान का क्रम चल पड़े ।

माता से वार्तालाप उस तरह तो नहीं होता जैसा कि दो मनुष्यों के बीच चलता है पर अन्तर्ध्वनि की प्रतिध्वनि इस प्रकार होने लगती है जिससे यह पता चले कि प्रश्न का उत्तर दूसरी ओर से आ रहा है । यह सांकेतिक भाषा है जिसे समझना हर किसी के लिए संभव नहीं होता मात्र वे ही समझ सकते हैं जो गायत्री महातत्व के अधिक निकट पहुँच चुके हैं और उसके सजातीय बन चुके हैं । पानी में हवा मिली होती है पर उसे हर प्राणी नहीं खींच सकता । मछली जैसे जलचरों के लिए ही यह संभव होता है कि वे अपनी विशेष बनावट के आधार पर पानी में से हवा का आवश्यक अंश खींच कर अपनी आवश्यकता पूरी करते रहें । गायत्री तत्त्व की निकटता एवं घनिष्ठता के अभ्यास से ऐसी स्थिति आ जाती है जब आध्यात्म की समस्त गुत्थियों के समाधान ध्वनि-प्रतिध्वनि की भाषा में उपलब्ध होने लगते हैं । यह उत्तर अपने अन्तराल में से ही उठते हैं । साधारणतया उमगें और उचगें ऐसी उठा करती हैं जिन्हें वैयक्तिक अति उत्साह कहा जा सकता है और सनक अथवा भावावेश ठहराया जा सकता है । ऐसे उभार विवेक के आधार पर नियन्त्रित करने पड़ते हैं, उन्हें उचित अनुचित की कसौटी पर कसना पड़ता है अन्यथा वे उचगें अनर्थ उत्पन्न कर सकती हैं । गायत्री उपासना की स्थिति इससे भिन्न होती है । पवित्र अन्तःकरणों में प्रायः नैतिक एवं उच्चस्तरीय आकांक्षाएँ ही उठती हैं । उन्हीं के सही उत्तर भी दूसरे पक्ष से मिलते हैं ।

साधना की दिव्य ज्योति जैसे-जैसे अधिक प्रकाशित होती चलती है, वैसे ही वैसे अन्तरात्मा की ग्रहशक्ति बढ़ती चलती है । रेडियो यन्त्र के भीतर बल्ब लगे होते हैं, बिजली का संचार होने से वे जलने लगते हैं । प्रकाश होते ही यन्त्र की ध्वनि पकड़ने वाला भाग जाग्रत हो जाता है और ईथर तत्त्व में भ्रमण करती हुई सूक्ष्म शब्द-तरंगों को पकड़ने लगता है, इसी क्रिया को 'रेडियो बजना' कहते हैं । साधना एक बिजली है, जिससे मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के बल्ब दिव्य ज्योति से जगमगाने लगते हैं । इस प्रकाश का सीधा प्रभाव अन्तरात्मा पर पड़ता है, जिससे उसकी सूक्ष्म चेतना जाग्रत हो जाती है और दिव्य सन्देशों को, ईश्वरीय आदेशों को, प्रकृति के गुप्त रहस्यों को समझने की योग्यता उत्पन्न हो जाती है । इस प्रकार साधक का अन्तःकरण रेडियो का उदाहरण बन जाता है और उसके द्वारा सूक्ष्म जगत की बड़ी-बड़ी रहस्यमय बातों का प्रकटीकरण होने लगता है ।

दर्पण जितना ही स्वच्छ निर्मल होगा, उतनी ही उसमें प्रतिच्छाया स्पष्ट दिखाई देगी । मैला दर्पण धुँधला होता है उसमें चेहरा साफ दिखाई नहीं पड़ता । साधना से अन्तरात्मा निर्मल हो जाती है और उसमें दैवी तत्वों का, ईश्वरीय संकेतों का अनुभव स्पष्ट रूप से होता है । अँधेरे में क्या हो रहा है, यह जानना कठिन है, पर दीपक जला देने पर क्षण भर पहले के अन्धकार में छिपी हुई सारी बातें प्रकट हो जाती हैं और पहले का रहस्य भली प्रकार प्रत्यक्ष हो जाता है ।

गायत्री-साधकों की मनोभूमि साफ हो जाती है, उसमें अनेक गुप्त बातों के रहस्य अपने आप स्पष्ट होने लगते हैं । इसी तथ्य को गायत्री-दर्शन या वार्तालाप भी कह सकते हैं । साधना की परिपक्वावस्था में तो स्वप्न में या जाग्रत अवस्था में भगवती के दर्शन करने का दिव्य चक्षुओं को लाभ मिलता है और उसके सन्देश सुनने का दिव्य कानों को सौभाग्य प्राप्त होता है । किसी को प्रकाशमयी ज्योति के रूप में, किसी को अलौकिक दैवी रूप में, किसी को सम्बन्धित किसी स्नेहमयी नारी के रूप में दर्शन होते हैं । कोई उसके सन्देश प्रत्यक्ष वार्तालाप जैसे प्राप्त करते हैं, किसी को किसी बहाने घुमा-फिराकर बात सुनाई या समझाई गई प्रतीत होती है । किन्हीं को आकाशवाणी की तरह स्पष्ट शब्दों में आदेश होता है । यह साधकों की विशेष मनोभूमि पर निर्भर है । हर एक को इस प्रकार के अनुभव नहीं हो सकते ।

परन्तु एक प्रकार से हर एक साधक माता के समीप पहुँच सकता है और उससे अपनी आत्मिक स्थिति के अनुरूप स्पष्ट या अस्पष्ट उत्तर प्राप्त कर सकता है । वह तरीका यह है कि एकान्त स्थान में शान्त चित्त होकर आराम से शरीर को ढीला करके बैठें, चित्त को चिन्ता से रहित रखें, शरीर और वस्त्र शुद्ध हों । नेत्र बन्द करके प्रकाश ज्योति या हंसवाहिनी के रूप में हृदय स्थान पर गायत्री शक्ति का ध्यान करें और मन ही मन अपने प्रश्न का भगवती के सम्मुख बार-बार दुहरावें । यह ध्यान दस मिनट करने के उपरान्त तीन लम्बे श्वास इस प्रकार खींचें मानो अखिल वायुमण्डल में व्याप्त महाशक्ति साँस द्वारा प्रवेश करके अन्तःकरण के कण-कण में व्याप्त हो गई है । अब ध्यान बन्द कर दीजिए, मन को सब प्रकार के विचारों से बिलकुल शून्य कर दीजिए । अपनी ओर से कोई भी विचार न उठावें । मन और हृदय सर्वथा विचार-शून्य हो जाना चाहिए ।

इस शून्यावस्था में स्तब्धता को भंग करती हुई अन्तःकरण में स्फुरणा होती है, जिसमें अनायास ही कोई अचिन्त्य भाव उपज पड़ता है । यकायक कोई विचार अन्तरात्मा में इस प्रकार उद्भूत होता है मानो किसी अज्ञात शक्ति ने यह उत्तर सुझाया हो । पवित्र हृदय जब उपयुक्त साधना द्वारा और भी अधिक दिव्य पवित्रता से परिपूर्ण हो जाता है तो सूक्ष्म दैवी शक्ति जो व्यष्टि अन्तरात्मा और समष्टि परमात्मा में समान रूप से व्याप्त है, उस पवित्र हृदय पटल पर अपना कार्य करना आरम्भ कर देती है और कई ऐसे प्रश्नों, सन्देहों और शंकाओं का उत्तर मिल जाता है जो पहले बहुत विवादास्पद, सन्देहयुक्त एवं रहस्यमय बने हुये थे । इस प्रक्रिया से भगवती वेदमाता गायत्री साधक से वार्तालाप करती है और उसकी अनेकों जिज्ञासाओं का समाधान करती है । यह क्रम व्यवस्थापूर्वक यदि आगे बढ़ता रहे तो आगे चलकर उस शरीर रहित दिव्य माता से उसी प्रकार वार्तालाप करना सम्भव हो सकता है जैसा कि जन्म देने वाली नर-तनधारी माता से बातें करना सम्भव और सुगम होता है ।

माता से वार्तालाप का विषय अपनी निम्न कोटि की आवश्यकताओं के सम्बन्ध में न होना चाहिए । विशेषतः आर्थिक प्रश्नों को माध्यम न बनाना चाहिए, क्योंकि ऐसे प्रश्नों के साथ-साथ मन में लोभ, स्वार्थ, सांसारिकता आदि के अन्य अनेक मलीन भाव उठ आते हैं और अन्तःकरण की उस पवित्रता को नष्ट कर देते हैं, जो कि माता से वार्तालाप करने के सम्बन्ध में आवश्यक है । चोरी में गई वस्तु, जमीन में गढ़ा धन, तेजी-मन्दी, सट्टा, लाटरी, हार-जीत, आयु, सन्तान, स्त्री, मुकदमा, नौकरी, लाभ, हानि जैसे प्रश्नों को माध्यम बनाकर जो लोग उस दैवी शक्ति से वार्तालाप करना चाहते हैं, वे माता की दृष्टि में इस योग्य ऐसे अधिकारी नहीं समझे जाते, जिनके साथ उसे वार्तालाप करना चाहिये । ऐसे अनाधिकारी लोगों के प्रयत्न प्रायः असफल रहते हैं । उनकी मनोभूमि में प्रायः कोई दैवी सन्देश आते ही नहीं, यदि आते हैं तो वे माता के शब्द न होकर अन्य स्रोतों से उद्भूत हुए होते हैं । फलस्वरूप उनकी सत्यता और विश्वस्तता सन्दिग्ध होती है ।

माता से वार्तालाप आध्यात्मिक, धार्मिक, आत्म-कल्याणकारी, जनहितकारी, परमार्थिक, लोकहित के प्रश्नों को लेकर करना चाहिए । कर्तव्य और अकर्तव्य की गुत्थियों को, विवादास्पद विचारों, विश्वासों और मान्यताओं को लेकर यह वार्तालाप आरम्भ होना चाहिए ।

इस प्रकार के वार्तालाप में अपने तथा दूसरे मनुष्यों के पूर्व जन्मों, पूर्व सम्बन्धों के बारे में भी कई महत्त्वपूर्ण बातें प्रकाश में आती हैं । जीवन-निर्माण के सुझाव मिलते हैं तथा ऐसे संकेत मिलते हैं, जिनके अनुसार कार्य करने पर इसी जीवन में आशाजन सफलताएँ प्राप्त होती हैं । सद्गुणों का, सात्विकता का, मनोबल का, दूरदर्शिता का, बुद्धिमत्ता का तथा आन्तरिक शान्ति का उद्भव तो अवश्य होता है । इस प्रकार माता का वार्तालाप साधक के लिए सब प्रकार कल्याणकारक ही सिद्ध होता है ।

आत्म-कल्याण जप के साथ पय-पान का ध्यान

आत्म-कल्याण के लिए गायत्री महामन्त्र की पहली एक माला जप करते समय अपने को एक वर्ष आयु के छोटे बालक के रूप में अनुभव करना चाहिए और सर्व-शक्तिमान गायत्री माता की गोद में खेलने, क्रीड़ा-कल्लोल करने की भावना करनी चाहिए । उसका पय-पान करते हुए यह अनुभूति जगानी चाहिए कि इस अमृत दूध के साथ मुझे आदर्शवादिता, उत्कृष्टता, ऋतम्भरा-प्रज्ञा, सज्जनता एवं सदाशयता जैसी दिव्य आध्यात्मिक विभूतियाँ उपलब्ध हो रही हैं और उनके माध्यम से अपना अन्तःकरण एवं व्यक्तित्व महान् बनता चला जा रहा है ।

ध्यान का स्वरूप नीचे दिया जा रहा है—

(१) प्रलय के समय बची हुई अनन्त जलराशि में कमल के पत्ते पर तैरते हुए बाल भगवान् का चित्र बाजार में बिकता है । वह चित्र खरीद लेना चाहिए और उसी के अनुरूप अपनी स्थिति अनुभव करनी चाहिए । इस संसार से ऊपर नील आकाश और नीचे नील जल के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं । जो कुछ भी दृश्य पदार्थ इस संसार में थे इस प्रलय काल में ब्रह्म के भीतर तिरोहित हो गए । अब केवल अनन्त शून्य बना है जिनमें नीले जल और आकाश के ऊपर कोई वस्तु शेष नहीं । यह उपासना भूमिका के वातावरण का स्वरूप है । पहले इसी पर ध्यान एकाग्र किया जाये ।

(२) मैं कमल पत्र पर पड़े हुए एक वर्षीय बालक की स्थिति में निश्चित भाव से पड़ा क्रीड़ा-कल्लोल कर रहा हूँ । न किसी बात की चिन्ता है, न आकांक्षा और न आवश्यकता । पूर्णतया निश्चित निर्भय, निर्द्वन्द्व, निष्काम जिस प्रकार छोटे बालक की मनोभूमि हुआ करती है, ठीक वैसी ही अपनी है । विचारणा का सीमित क्षेत्र एकाकीपन के उल्लास में ही सीमित हैं । चारों ओर उल्लास एवं आनन्द का वातावरण संव्याप्त है । मैं उसी की अनुभूति करता हुआ परिपूर्ण तृप्ति एवं सन्तुष्टि का आनन्द ले रहा हूँ ।

(३) प्रातःकाल जिस प्रकार संसार में अरुणिम युक्त स्वार्णिमआभा के साथ भगवान् सविता अपने समस्त वरेण्य, दिव्य भर्ग ऐश्वर्य के साथ उदय होते हैं, उसी प्रकार उस अनन्त आकाश की पूर्व दिशा में से ब्रह्म की महान् शक्ति गायत्री का उदय होता है । उसके बीच अनुपम सौन्दर्य से युक्त अलौकिक सौन्दर्य की उपमा जगद्धातृ गायत्री माता प्रकट होती है । वे हँसती-मुस्कराती अपनी ओर बढ़ती आ रही हैं । हम बालसुलभ किलकारियाँ लेते हुए उनकी ओर बढ़ते चले जाते हैं । दोनों माता-पुत्र आलिंगन आनन्द से आबद्ध होते हैं और अपनी ओर से असीम वात्सल्य की गंगा-यमुना प्रवाहित हो उठती हैं और दोनों का संगम परम-पावन तीर्थराज बन जाता है ।

माता और पुत्र के बीच क्रीड़ा कल्लोल भरा स्नेह वात्सल्य का आदान-प्रदान होता है । उनका पूरी तरह ध्यान ही नहीं भावना भूमिका में भी उतारना चाहिए । बच्चा माँ के बाल, कान, नाक आदि पकड़ने की चेष्टा करता है, मुँह-नाक में अंगुली देता है, गोदी में ऊपर चढ़ने की चेष्टा करता है, हँसता, मुस्कराता और अपने आनन्द की अनुभूति उछल-उछल कर प्रकट करता है वैसी ही स्थिति अपनी अनुभव करनी चाहिए । माता अपने बालक को पुकारती है, उसके सिर-पीठ पर हाथ फिराती है, गोदी में उठाती-छाती से लगाती, दुलराती हैं, उछालती है, वैसी ही चेष्टाएँ माता की ओर से प्रेम-उल्लास के साथ हँसी-मुस्कान के साथ की जा रही हैं, ऐसा ध्यान करना चाहिये ।

स्मरण रहे केवल उपर्युक्त दृश्यों की कल्पना करने से ही काम न चलेगा वरन् प्रयत्न यह करना होगा कि वे भावनाएँ भी मन में उठें जो ऐसे अवसर पर स्वाभाविक माता-पुत्र के बीच उठती रहती हैं । दृश्य की कल्पना सरल है पर भाव की अनुभूति कठिन है । अपने स्तर को वयस्क व्यक्ति के रूप में अनुभव किया गया तो कठिनाई पड़ेगी किन्तु यदि सचमुच अपने को एक वर्ष के बालक की स्थिति में अनुभव किया गया, जिसको माता के स्नेह के अतिरिक्त और कोई वस्तु प्रिय होती ही नहीं, तो

फिर विभिन्न दिशाओं में बिखरी हुई अपनी भावनायें एकत्रित होकर उस असीम उल्लास भरी अनुभूति के रूप में उदय होंगी जो स्वभावतः हर माता और हर बालक के बीच में निश्चित रूप से उदय होती हैं। प्रौढ़ता भुलाकर शैशव का शरीर और भावना स्तर पर स्मरण कर सकना यदि सम्भव हो सका तो समझना चाहिए कि साधक ने एक बहुत बड़ी मंजिल पार कर ली।

मन प्रेम का गुलाम है। मन भागता है पर उसके भागने की दिशा अप्रिय से प्रिय होती है। जहाँ प्रिय वस्तु मिल जाती है, वहाँ वह ठहर जाता है। प्रेम ही सर्वोपरि प्रिय है। जिससे भी अपना प्रेम हो जाय वह भले ही कुरूप या निरूप भी हो पर लगता परम प्रिय है। मन का स्वभाव प्रिय वस्तु के आस-पास मँडराते रहने का है। उपयुक्त ध्यान-साधना में गायत्री माता के प्रति प्रेम भावना का विकास करना पड़ता है फिर उसका सर्वांग सुन्दर स्वरूप भी प्रस्तुत है। सर्वांग सुन्दर प्रेम की अधिष्ठात्री गायत्री माता का चिंतन करने से मन उसी परिधि में घूमता रहता है। उसी क्षेत्र में क्रीड़ा-कल्लोल करता रहता है। अतएव मन को रोकने, वश में करने की एक बहुत बड़ी आध्यात्मिक आवश्यकता भी इसी साधना के माध्यम से पूरी हो जाती है।

इस ध्यान-धारणा में गायत्री माता को केवल एक नारी मात्र नहीं माना जाता है। वरन् उसे सत् चित् आनन्दस्वरूप—समस्त सद्गुणों, सद्भावनाओं, सत्प्रवृत्तियों का प्रतीक, ज्ञान-विज्ञान का प्रतिनिधि और शक्ति-सामर्थ्य का स्रोत मानते हैं। प्रतिमा नारी की भले ही हो पर वस्तुतः वह ब्रह्म-चेतना क्रम दिव्य-ज्योति बनकर ही—अनुभूति में उतरे।

जब माता के स्तन-पान का ध्यान किया जाय तो यह भावना उठनी चाहिए कि यह दूध एक दिव्य प्राण है जो माता के वक्षःस्थल से निकल कर मेरे मुख द्वारा उदर में जा रहा है और वहाँ एक धवल विद्युत-धारा बनकर शरीर के अंग—प्रत्यंग—रोम—रोम में ही नहीं—वरन् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, हृदय, अन्तःकरण, चेतना एवं आत्मा में— अन्नमय कोश, मनोमय कोश, प्राणमय कोश, विज्ञानमय कोश, आनन्दमय कोशों में समाये हुए अनेक रोगशोकों—कषाय-कल्मषों का निराकरण कर रहा है। इस पय-पान का प्रभाव एक कायाकल्प कर सकने वाली संजीवनी रसायन जैसा हो रहा है। मैं नर से नारायण, पुरुष से पुरुषोत्तम, अणु से विभु, क्षुद्र से महान् और आत्मा से परमात्मा के रूप में विकसित हो रहा हूँ। ईश्वर के समस्त सद्गुण धीरे-धीरे व्यक्तित्व का अंग बन रहे हैं, मैं द्रुतगति से उत्कृष्टता की ओर अग्रसर हो रहा हूँ। मेरा आत्म-बल असाधारण रूप में प्रखर हो रहा है।

विश्व-कल्याण जप के साथ आत्मार्पण का ध्यान

दूसरी माला विश्व-कल्याण के लिए, युग-निर्माण के महान् आन्दोलन की सफलता के लिए करनी चाहिए। युग-निर्माण के लिए जहाँ रचनात्मक एवं संघर्षात्मक प्रत्यक्ष शतसूत्री कार्यक्रमों की व्यवस्था है, वही सूक्ष्म आध्यात्मिक प्रयोगों का भी समन्वय है। अन्तरिक्ष में आज दुष्प्रवत्तियों का वातावरण बुरी तरह भर गया है। पिछले दिनों मानव-जाति द्वारा जो अनेक दुष्कर्म किये जा रहे हैं और कुविचार अपनाये जा रहे हैं, उनकी प्रतिक्रिया आकाश में भयावह वातावरण की काली घटाएँ बनकर घुमड़ रही हैं। यही घटाएँ बार-बार विभिन्न विभीषिकाओं के रूप में बरस पड़ती हैं और अकाल, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, महामारी, दुर्घटनाएँ, युद्ध, अपराधों की वृद्धि, संघर्ष क्लेश, शोक-सन्ताप आदि के रूप में विपत्तियाँ प्रस्तुत करती हैं। उन्हें टालने के लिए भी उपासना का एक अंश लगना आवश्यक है।

आज जन-मानस निर्जीव, मूर्छित एवं अन्धकारग्रस्त पड़ा है। इसको सजग, समर्थ एवं सत्पथगामी बनाने के लिए सूक्ष्म जगत् में काम करने वाली आध्यात्मिक हलचल ही अभीष्ट परिणाम उत्पन्न करने में समर्थ हो सकती है। यही नव-निर्माण का वास्तविक आधार है। अतएव दिव्य प्रेरणा के आधार पर महत्तम गायत्री महापुरश्चरण आरम्भ किया गया है और उसमें भागीदार होने के लिए हर परिजन को प्रोत्साहित किया गया है। न्यूनतम उपासना क्रम में एक माला जप इसी प्रयोजन के लिए-विश्व-कल्याण के लिए रखा गया है।

प्रथम माला आत्म-निर्माण के लिए जपनी चाहिए और उसके बाद गायत्री चालीसा का एक पाठ करना चाहिए। दूसरी माला युग-निर्माण के लिए जपनी चाहिए और बाद में युग-निर्माण का सत्संकल्प पढ़ना चाहिए। प्रथम माला के साथ गायत्री माता की गोदी में खेलने का ध्यान पिछले लेख में बताया गया है। युग-निर्माण

के लिए की जाने वाली दूसरी माला के साथ दीपक पर पतंगों के द्वारा आत्म-बलिदान करने वाला ध्यान है। समाजकल्याण के लिए हम अपनी सत्ता एवं विभूतियों का समर्पण करें, यह भाव इस ध्यान का है। इसे इस प्रकार करना चाहिए।

(१) "मैं पतंगे की तरह हूँ। इष्टदेव दीपक की तरह। अनन्य प्रेम के कारण द्वैत को समाप्त कर अद्वैत की उपलब्धि के लिए-प्रियतम के साथ एकात्म होता हूँ। जिस प्रकार पतंगा दीपक पर आत्म-समर्पण करता है, अपनी सत्ता को मिटाकर प्रकाश पुंज में लीन होता है, उसी प्रकार मैं अपना अस्तित्व, अहंकार को मिटाकर ब्रह्म में गायत्री तप-तत्व में विलीन होता हूँ।"

(२) "दीपक की ज्योति एक यज्ञ है और मैं उसका हविष्य। अपना अस्तित्व इस यज्ञाग्नि में होम कर स्वयं परम पवित्र तेज-पुंज हो रहा हूँ।"

(३) "अपनी अहंता, ममता और द्विधा मिटा देने के बाद मैं आत्म की परिधि से ऊँचा उठकर परमात्म सत्ता के रूप में विकसित होता हूँ और उसी स्तर की व्यापकता, उदारता, करुणा एवं महानता अपने अन्तरात्मा में धारण करता हूँ।"

(४) "मैं अपनी समस्त श्रद्धा प्रभु को समर्पण करता हूँ। बदले में वे उतना ज्ञान, विवेक, प्रकाश एवं आनन्द मेरे कण-कण में भर देते हैं। मुझे अपने समान बना लेते हैं। वैसी ही रीति-नीति अपनाने की प्रेरणा एवं तत्परता प्रदान करते हैं।"

यह ध्यान दीपक पर पतंगे के जलने की तरह आत्मा का परमात्मा में प्रेम विभोर होकर आत्म-समर्पण करने का है। जीव और ब्रह्म के बीच माया ही प्रथम बन्धन है। वही दोनों को एक दूसरे से पृथक् किये हुए है। अहंता, स्वार्थपरता, ममता, संकीर्णता का कलेवर ही जीव की अपनी पृथकता एवं सीमा बाँधता है। उसी की ममता में वह ईश्वर को भूलता और आदेशों की उपेक्षा करता है। इस अहंता कलेवर को यदि नष्ट कर दिया जाय तो जीव और ब्रह्म की एकता असन्दिग्ध है। ईश्वरीय प्रेम में प्रधान बाधक यह ममता अहंता ही है।

ब्रह्म को दीप ज्योति का और अहन्ता कलेवर युक्त जीव को पतंगा का प्रतीक माना गया है। पतंगा अपने कलेवर को प्रिय पात्र दीपक में एकीभूत होने के लिए परित्याग करता है, आत्म-समर्पण करता है, कलेवर का उत्सर्ग करता है, अपनी सम्पदा विभूति एवं प्रतिभा को प्रभु की प्रसन्नता के लिए सर्वश्रेष्ठ यज्ञकर्ता की तरह होम देता है। विश्व-मानव की पूजा-प्रसन्नता के लिए साधक का परिपूर्ण समर्पण यही आत्म-यज्ञ है। इसमें अपने को होमने वाला, नरमेध करने वाला ईश्वरीय सान्निध्य की सर्वोच्च गति को पाता है।

जिस माया-ममता के कारण ईश्वर और जीव में विरोध था, उसका समर्पण कर देने पर ईश्वरीय अनन्त विभूतियों का अधिकारी साधक बन जाता है और उसे प्रभु का असीम प्यार प्राप्त होता है। बिछुड़ने की वेदना दूर होती है और दोनों ओत-प्रोत होकर अनिर्वचनीय आनन्द का रसास्वादन करते हैं।

इस ध्यान में याचना की नहीं आत्म-दान की भावना है। उच्चस्तरीय साधना का यही आधार भी है। निम्न स्तर की प्राथमिक उपासना में ईश्वर से सांसारिक लाभ अथवा आत्मिक अनुदान माँगे जाते हैं, पर जैसे-जैसे स्तर ऊँचा होता जाता है, साधक माँगने की तुच्छता छोड़ समर्पण की महानता अपनाने के लिए व्याकुल होता है। ध्यान अथवा भावना तक ही उसकी यह साधना सीमित नहीं रह सकती वरन् वस्तुतः वह विश्व के लिए, लोक-मंगल के लिए, बड़े से बड़ा अनुदान देकर अपनी गणना बड़े से बड़े भक्तों में कराने का आत्म-सन्तोष उपलब्ध करता है। उसका व्यवहार अपने जीवन, परिवार एवं समाज के प्रति इतना सज्जनपूर्ण हो जाता है कि प्रतिक्रिया उसे दैवी वरदान की तरह चारों ओर से पुष्प वर्षा करती हुई परिलक्षित होती है। स्वर्ग सुख यही तो है। अहन्ता और ममता, वासना और तृष्णा के- बन्धनों से मुक्त जीव को मरने पर मुक्ति मिलने की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती वह जीवित रहते हुए भी जीवन-मुक्त रहता है।

विश्व-कल्याण के लिए दूसरी माला उपयुक्त ध्यान के साथ पूरी करते हुए एक पाठ युग-निर्माण सत्संकल्प का करना चाहिए। चालीसा और सत्संकल्प अखण्ड-ज्योति संस्थान मथुरा से मँगाये जा सकते हैं।

परम तेज-पुंज ज्योति अवतरण-साधना

ज्योति अवतरण पुंज साधना एक विशिष्ट उपासना पद्धति है। इसका अनुपम लाभ लेने से किसी को भी नहीं चूकना चाहिए। प्रस्तुत ध्यान-साधना के लिए रात्रि का समय ही अधिक उपयुक्त है। यों उसे दिन में भी सुविधानुसार समय पर किया जा सकता है पर रात्रि की नीरवता में जितनी अच्छी तरह इसका सत्परिणाम मिलता है उतना दिन में नहीं।

इसके लिए चित्र आदि की आवश्यकता नहीं। रात्रि को यदि कभी आँख खुल जाय तो बिस्तर पर पड़े-पड़े भी इसे किया जा सकता है। बैठ कर करनी हो तो दीवार, मसनद आदि का सहारा लिया जा सकता है। आराम कुर्सी भी काम में लाई जा सकती है। शरीर को शिथिल, मन को एकाग्र करके सुविधा के समय इस साधना को करना चाहिए। समय कितना लगाना है यह अपनी सुविधा एवं परिस्थिति पर निर्भर है। पर जितना भी समय लगाना हो उसे तीन भागों में विभक्त कर लेना चाहिए। एक तिहाई में स्थूल शरीर, एक तिहाई में सूक्ष्म शरीर और एक तिहाई में कारण शरीर में ज्योति का अवतरण करना चाहिए। अनुमान से या घड़ी की सहायता से यह समय निर्धारित करना चाहिए। यों थोड़ी न्यूनाधिकता रहने से भी कोई हर्ज नहीं होता। पर क्रम ऐसा ही बनाना चाहिए, जिससे शरीर, मन और आत्मा तीनों स्तरों को समुचित प्रकाश मिल सके।

सूक्ष्म जगत् में ईश्वरीय दिव्य प्रकाश की प्रेरणापूर्ण किरणें निरन्तर बहती रहती हैं। उन्हें श्रद्धा, एकाग्रता और भावनापूर्ण ध्यान करके इस लेख में वर्णित विधि से कोई भी साधक ग्रहण कर सकता है। पर अपने परिवार के लिए इस साधना में संलग्न साधकों के लिए दो-दो घण्टे के दो ऐसे समय भी नियुक्त हैं, जिनमें किन्हीं महान् दिव्य शक्तियों द्वारा अपना शक्ति प्रवाह भी जोड़ दिया जाता है और उस समय ध्यान करने में विशेष आनन्द आता है और विशेष प्रभाव पड़ता है। यह समय रात्रि को ८ बजे से १० बजे और प्रातः ३ से ५ बजे का है। इन दोनों अवसरों में से जब जिसे सुविधा हो तब वह अपनी सुविधा के अनुरूप समय निर्धारित कर सकते हैं।

आरम्भ में यह समय एक बार में आधा घण्टे से अधिक का नहीं होना चाहिए। धीरे-धीरे समय बढ़ाकर एक घण्टे तक का किया जा सकता है। रात्रि के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में दोनों बार भी यह साधन किया जा सकता है। तब दो बार में कुल मिलाकर एक घण्टे से लेकर दो घण्टे तक का यह समय हो सकता है। २४ घण्टे में २ घण्टे इसके लिए अधिकतम समय हो सकता है। अधिक तेज के ग्रहण करने और धारण करने में कठिनाई पड़ती है, इसलिए ग्रहण उतना ही करना चाहिए जितना पचाया जा सके। कौन किस समय इस साधना को करे, कितनी देर, किस प्रकार बैठकर करे यह निर्धारण करना साधक का काम है। अपनी परिस्थितियों के अनुसार उसे अपनी व्यवस्था स्वयं ही करनी चाहिए। पर जो क्रम या समय निर्धारित किया जाय, उसे उसी क्रम से चलना चाहिए। समय और स्थिति का एक ही क्रम चलना किसी भी साधना की सफलता के लिए उचित एवं आवश्यक है।

ज्योति अवतरण साधना निम्न प्रकार करनी चाहिये—

(१) शरीर को बिल्कुल शिथिल कर देना चाहिए और ऐसी भावना करनी चाहिए कि अपना मन, शरीर और आत्मा पूर्ण शान्त निश्चिन्त एवं प्रसन्न स्थिति में अवस्थित है। यह भावना पाँच मिनट करने से चित्त में ध्यान के उपयुक्त शान्ति उत्पन्न होने लगती है।

(२) ध्यान कीजिये चारों ओर प्रकाश-पुंज फैला हुआ है। आगे-पीछे ऊपर-नीचे सर्वत्र प्रकाश फैल रहा है। भगवती आदिशक्ति की आभा सूर्यमंडल में से निकल कर सीधी आप तक चली आ रही है और आप उस प्रकाश के घेरे में चारों ओर से घिरे हुए हैं।

(३) यह प्रकाश किरणें धीरे-धीरे आपके शरीर में त्वचा छिद्रों में प्रवेश करती हुई प्रत्येक अवयव में घुस रही है। हृदय, फेफड़े, आमाशय, आँतें, मस्तिष्क, हाथ, पैर आदि अंग उस प्रकाश-पुंज को अपने भीतर धारण करके परिपुष्ट हो रहे हैं। जिह्वा, गुह्येन्द्रिय, नेत्र, कान, नाक आदि इन्द्रियाँ इस प्रकार से आलोकित होकर पवित्र बन रही हैं। उनकी असंयम वृत्ति जल रही है। पवित्रता की यह ज्योति शरीर के कण-कण को पवित्र बनाने में संलग्न है।

स्थूल शरीर में रक्त-माँस अस्थि आदि के बने हुए अवयवों के प्रकाश पुंज बनने और उनके परिपुष्ट, पवित्र, स्फूर्तिवान एवं ज्योतिर्मय का ध्यान करने के उपरान्त सूक्ष्म शरीर पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। सूक्ष्म शरीर का स्थान मस्तिष्क है।

(४) ध्यान करना चाहिए कि मस्तिष्क के भीतर मक्खन जैसे कोमल—बालू के जैसे बिखरे हुए कणों में अगणित प्रकार की मानसिक शक्तियों एवं विचारणाओं के केन्द्र छिपे हुए हैं। उन तक आदिशक्ति माता के प्रकाश की धाराएँ बह रही हैं और वे सभी कण उसके द्वारा रत्नकणों की तरह ज्योतिर्मय होकर जगमगाने लगे हैं।

(५) मन में छिपे हुए अज्ञानान्धकार का असंयम, स्वार्थ, मोह, भय और भ्रम-जंजाल का इस प्रकाश के प्रवेश होने से विनाश हो चला और मानसिक संस्थान का कण-कण विवेक, उच्चविचार सन्तुलन एवं सुरुचि जैसी विभूतियों से जगमगाने लगा। गायत्री माता की इस ज्योति द्वारा अपनी मनोभूमि को महापुरुषों जैसे स्तर की बनाया जा रहा है और हम उस प्रकाश को बड़ी श्रद्धापूर्वक अधिकाधिक मात्रा में मस्तिष्कीय कणों में ग्रहण एवं धारण करते चले जा रहे हैं।

सूक्ष्म शरीर में गायत्री माता के प्रकाश का प्रवेश अनुभव करने के बाद हृदय स्थान में स्थित कारण शरीर में ज्योति धारण का ध्यान करना चाहिए। उपनिषद् द्वारा ऋषियों ने अपनी योग-दृष्टि से जीव का स्वरूप अँगूठे की बराबर ज्योतिर्मय आभा के रूप में हृदय स्थान में निवास करता हुआ देखा है। इस आत्मा के छोटे से प्रकाश को भगवती आदिशक्ति का महान् प्रकाशरूपी अनुदान मिलने से अपूर्णता के स्थान पर पूर्णता का प्रादुर्भाव होता है।

(६) ध्यान करना चाहिए कि आकाश में अनन्त प्रकाश की आभा अवतरित होकर अपने हृदय स्थान में अवस्थित आत्मा के अँगुष्ठ मात्र प्रकाश पुंज में प्रवेश कर रही है। उसकी सीमाबद्धता, संकीर्णता और तुच्छता दूर कर अपने सदृश बना रही है। लघु और महान् का यह मिलन-अणु ज्योति और विभु ज्योति का यह आलिंगन परस्पर महान् आदान-प्रदान के रूप में परिणत हो रहा है। जीवात्मा अपनी लघुता परमात्मा को सौंप रहा है परमात्मा अपनी महानता जीवात्मा को प्रदान कर रहा है। बिछुड़े हुए गौवत्स की तरह दोनों मिल रहे हैं और एकता का दिव्य आनन्द उत्पन्न हो रहा है।

(७) जीवात्मा का लघु प्रकाश परमात्मा की परम प्रकाश से लिपट रहा है और दीपक पर जलने वाले पतंगे की तरह, यज्ञ कुण्ड में पड़ने वाली आहुति की तरह अपने अस्तित्व को होम रहा है। चकोर की तरह उस प्रकाश पुंज को चन्द्रमा मानकर आल्हादित हो रहा है और अनन्त आनन्द का अनुभव कर रहा है।

(८) इस मिलन के फलस्वरूप अन्तःकरण में सद्भावनाओं की हिलोरें उठ रही हैं, आकांक्षाएँ आदर्शवादिता एवं उत्कृष्टता से परिपूर्ण हो चली हैं, ईश्वरीय सन्देशों और आदर्शों पर चलने की निष्ठा परिपक्व हो रही है। विश्व के कण-कण में परम ब्रह्म का ओत-प्रोत देख कर वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना प्रबल हो रही है और सेवा धर्म अपना कर ईश्वर-भक्ति का मधुर रसास्वादन करने की उमंग उठ रही है। आत्मा की महिमा के अनुरूप अपनी विचारणा और कार्यपद्धति रखने का निश्चय प्रबल हो रहा है।

(९) अनन्त प्रकाश के आनन्दमय समुद्र में स्नान करते हुए आत्मा अपने आपको धन्य एवं कृत्य-कृत्य हुआ अनुभव कर रहा है।

इस संसार में जीवन को सफल बनाने की सबसे बड़ी शक्ति अध्यात्म ही है। उसी के द्वारा मनुष्य अपने को पहिचान सकता है और समस्त प्राणियों को एक ही महाशक्ति का अंश समझ कर उनके साथ अपनत्व का अनुभव कर सकता है। इस तरह की भावना हमारी शक्ति को अनेक गुना बढ़ा सकती है। 'ज्योति-अवतरण' की साधना से मनुष्य इस सर्वव्यापी आत्मतत्व की वास्तविकता को बहुत कुछ अनुभव कर सकता है और उससे निश्चय ही इहलोक व परलोक में दैवी महानता का अधिकारी बन सकता है।

'ज्योति-अवतरण' साधना का उद्देश्य आत्मा पर चढ़े मल आवरण और विक्षोभों के कषाय-कल्मषों को हटाकर आन्तरिक स्तर को शुद्ध करना है। जिस प्रकार अग्नि में पड़ कर सोना निर्मल बन जाता है, उसी प्रकार 'ज्योति-अवतरण' का प्रभाव हर साधक पर यह पड़ेगा ही कि उसके दोष, दुर्गुण जलने लगेंगे और वह अपेक्षाकृत अधिक पवित्र एवं उज्ज्वल बनता चला जायेगा। अग्नि के समीप बैठने से जैसे गर्मी आती है, प्रकाश की समीपता में रहने वाली वास्तुएँ भी प्रकाशवान हो जाती हैं, उसी प्रकार इस 'ज्योति-अवतरण' साधना में साधक का अन्तःकरण क्रमशः अधिकाधिक पवित्र एवं प्रकाशवान बनता चला जाता है।

उपासना ही नहीं, साधना भी

न्यूनतम उपासना प्रक्रिया के अन्तर्गत ज्योति-अवतरण ध्यान तथा नित्य पूजा एवं जप का सरल विधान बताया गया है और नवरात्रियों में अनुष्ठानों की तपश्चर्या करते रहने का सुझाव दिया गया है। यह क्रम व्यस्त समय वाले लोगों के लिए भी कुछ कठिन नहीं है। यदि अन्तःकरण में आकांक्षा जाग पड़े तो प्रातः सोकर उठते

ही चारपाई पर पड़े-पड़े आधा घण्टे का ध्यान और नित्यकर्म के उपरान्त आधा घण्टे की पूजा-प्रक्रिया यह समय अथवा विधान ऐसा नहीं है जिससे कहीं सांसारिक कामों में अड़चन पड़ती हो । प्रश्न केवल रुचि और आकांक्षा का है । यदि मन को जाग्रत किया जा सके तो जीवनोद्देश्य को पूर्ण करने की दिशा में इतने मात्र से महत्त्वपूर्ण प्रगति हो सकती है ।

नवरात्रियों में कुछ समय तो अधिक लग जाता है और कुछ अड़चनें भी सहनी पड़ती हैं, पर इससे कई-कई गुने कष्ट सांसारिक कार्यों के लिए बार-बार सहने पड़ते हैं, तो आत्म-कल्याण के लिए इतनी अड़चन सह लेनी भी कुछ मुश्किल नहीं है । जिनमें निष्ठा है, वे सांसारिक कार्यों का बहुत अधिक दबाव रहने पर भी इतना समय बड़ी आसानी से निकाल लेते हैं । यों उपासना का क्षेत्र बहुत विशाल और व्यापक है । जिनके पास समय है, अभिलाषा है, निष्ठा है, उनके लिए एक से एक महत्त्वपूर्ण साधन मौजूद हैं । उन्हें अपनी मनोभूमि और परिस्थितियों के अनुसार मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहिए ।

जितना महत्त्व उपासना का है उतना ही साधना का भी है । हमें उपासना पर ही नहीं साधना पर भी ध्यान और जोर देना चाहिये । जीवन को पवित्र और परिष्कृत, संयत और सुसंतुलित, उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए, अपने गुण–कर्म, स्वभाव को उच्चस्तरीय बनाने के लिए निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए । इस प्रयत्न का नाम ही जीवन–साधना अथवा साधना है ।

उपासना–पूजा तो निर्धारित समय का क्रिया-कलाप पूरा कर लेने पर समाप्त हो जाती है, पर साधना चौबीस घण्टे चलानी पड़ती है । अपने हर विचार और हर कार्य पर एक चौकीदार की तरह कड़ी नजर रखनी पड़ती है कि कहीं कुछ अनुचित, अनुपयुक्त तो नहीं हो रहा है । जहाँ भूल दिखाई दी कि उसे तुरन्त सुधारा–जहाँ विकार पाया कि तुरन्त उसकी चिकित्सा की–जहाँ पाप देखा कि तुरन्त उससे लड़ पड़े । यही साधना है । जिस प्रकार सीमारक्षक प्रहरियों को हर घड़ी शत्रु की चालों और घातों का पता लगाने और जूझने के लिए लैस रहना पड़ता है, वैसे ही जीवन-संग्राम के हर मोर्चे पर हमें सतर्क और तत्पर रहने की आवश्यकता पड़ती है । इसी तत्परता को साधना कहा जा सकता है ।

यह सोचना ठीक नहीं कि भजन करने मात्र से पाप कट जायेंगे और ईश्वर प्रसन्न हो जायेंगे, अतएव जीवन को शुद्ध बनाने अथवा कुमार्गगामिता से बचाने की आवश्यकता नहीं, इसी भ्रमपूर्ण मान्यता ने अध्यात्म के लाभों से हमें वंचित रखा है । यह भ्रम दूर हटाना चाहिए और भारतीय अध्यात्म का तत्वज्ञान एवं ऋषि-अनुभवों के आधार पर यही निष्कर्ष अपनाना चाहिए कि उपासना और साधना आध्यात्मिक प्रगति के दो अविच्छिन्न पहलू हैं । दोनों एक दूसरे के पूरक हैं । एक के बिना दूसरा अपूर्ण है । जिस तरह अन्न और जल, रात और दिन, शीत और ग्रीष्म, स्त्री और पुरुष का जोड़ा है, उसी प्रकार उपासना और साधना भी अन्योन्याश्रित है । एक के बिना दूसरा अकेला, असहाय एवं अपूर्ण ही बना रहेगा, इसलिए दोनों को साथ लेकर अध्यात्म मार्ग पर प्रगतिशील होना ही उचित और आवश्यक है ।

सच्चे आस्तिक एवं सच्चे ईश्वर भक्त का जीवन-क्रम उत्कृष्ट आदर्शवादी एवं परिष्कृत होना ही चाहिए । नशा पीने पर मस्ती आनी ही चाहिए । भक्ति का प्रभाव सज्जनता और प्रगतिशीलता के रूप में दीखना ही चाहिए । इसलिए हमारा उपासना क्रम सांगोपांग होना चाहिए और उसमें आत्म-निरीक्षण, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण एवं आत्म-विकास की परिपूर्ण प्रक्रिया जुड़ी रहनी ही चाहिए । उपासना और साधना का स्वतंन्त्र अस्तित्व है । एक को कर लेने से दूसरे की पूर्ति हो जायेगी यह सोचना उचित नहीं । लाखों साधु-बाबा, पण्डा-पुजारी भजन-ध्यान में नित्य घण्टों समय लगाते हैं पर उनका प्रायः जीवन घृणित एवं निकृष्ट स्तर का बना रहता है ।

ईश्वर की भावनात्मक पूजा की तरह ही सद्आचरण द्वारा भी उपासना की जा सकती है । हम निष्पाप बनें इतना ही पर्याप्त नहीं वरन् यह भी आवश्यक है कि अपने कर्म एवं स्वभाव में सद्गुणों का समुचित समावेश करके दिव्य जीवन बनावें और उसके द्वारा अपना और समस्त समाज का कल्याण करें । व्यक्तित्व को परिष्कृत और विकसित करते हुए ही हम आत्मिक प्रगति के मार्ग पर बढ़ते हैं और पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त कर सकने में सफल होते हैं ।

अतएव यही सनातन क्रम चला आता है कि हर अध्यात्म-प्रेमी ईश्वर की उपासना के साथ जीवन को उत्कृष्ट बनाने की साधना भी करे । गायत्री उपासक का जीवन-क्रम

उत्कृष्ट आदर्शवादी एवं परिष्कृत होना ही चाहिए । नशा पीने पर मस्ती आनी ही चाहिए । उपासना और साधना का स्वतंत्र अस्तित्व है । एक को कर लेने से दूसरे की पूर्ति हो जायेगी, यह उचित नहीं । गायत्री संहिता में कहा गया है–

आहारे व्यवहारे च मस्तिष्केऽपि तथैव हि ।
सात्विकेन सदा भाव्यं साधकेन करीषिण्म ।।
कर्तव्य धर्मतः कर्म विपरीतं तु यद् भवेत् ।
तत्साधकस्तु मातिमानाचरेन्न कदाचन ।।

अर्थात्-आहार में, व्यवहार में और उसी प्रकार मस्तिष्क में भी बुद्धिमान साधक को सात्विक होना चाहिए । जो काम कर्तव्य कर्म से विपरीत हो वह बुद्धिमान साधक नहीं करें ।

बीजमंत्र 'क्लीं' की साधना

बीजमंत्र 'क्लीं' सब प्रकार की मनोकामनाओं की सिद्धि के लिए बड़ा प्रभावशाली माना गया है, इसे एक सफेद कागज पर लिखना चाहिए । लगभग १ फुट व्यास का गोल कागज लेकर पेन्सिल से लगभग चार अंगुल ऊँचा अक्षर लिखना चाहिए फिर उस कागज के खाली भाग को सिंदूर के लाल रंग से रंगना चाहिए तेल मिले हुए सिंदूर का रंग ठीक रहता है, पानी अथवा चाक द्वारा बनाया गया रंग जल्दी उड़ जाता है ।

इस प्रकार आकृति तैयार करने के बाद प्रतिदिन प्रातःकाल मन में शान्त अवस्था में चित्र से लगभग २ फुट दूर बैठना चाहिए । आकृति को सामने की दीवार पर टाँग देना चाहिए अथवा चिपका देना चाहिए । इस आकृति को नित्य प्रति १५ मिनट से आरम्भ करके १ घण्टा तक स्थिर दृष्टि से ताकना चाहिए । यह स्थिर दृष्टि त्राटक की तरह नहीं होती क्योंकि वैसा करने से आंखों की ज्योति घटने का भय रहता है । यह प्रयोग ध्यान का होता है जबकि त्राटक का उद्देश्य दृष्टि को बेधक बनाना होता है थोड़ी देर तक खूब ध्यानपूर्वक 'क्ली' अक्षर को देखकर आँखें बन्द कर लेना चाहिए और तब इस बीज मन्त्र को आँख खोले बिना ही अपने कपाल पर देखने का प्रयत्न करना चाहिए । यदि पहले ध्यान पूर्वक देखा गया है तो आँखें बन्द करने पर भी एकाधक्षण के लिए यह तुम्हें अपने कपाल पर अवश्य दिखलाई पड़ेगा । यदि आरम्भ में मानसिक अस्थिरता के कारण कपाल पर यह दिखलाई न दे तो इसमें निराश होने की कोई बात नहीं है । खुली आँखों से ही सब तरह के विचारों को त्याग कर एकाग्र चित्त से बीज मंत्र को देखते रहना चाहिए । मन में से बाहरी विचारों को हटाने का सरल मार्ग यह है कि बीज मंत्र को देखते समय मन में 'ॐ क्लीं नमः' यह मन्त्र जपते रहना चाहिए, ऐसा करने से अन्य विचार नहीं आयेंगे और बीज मंत्र पर मन स्थिर होता चला जायेगा । इस तरह स्थिरता का अभ्यास बढ़ता जायेगा एवं स्वयं 'क्लीं' मय होने की अनुभूति होगी । इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि यह अभ्यास कोई दो-चार दिन में नहीं हो जाता वरन् उसमें छः से बारह महीने तक का समय लग जाता है ।

यह अभ्यास करते समय वातावरण शांत रहना चाहिए और मनोवृत्ति को भी स्थिर रखना आवश्यक है । अगर दिन के समय यह प्रयोग न हो सके तो रात के समय भी किया जा सकता है । पर यदि मानसिक-शक्ति न हो तो इस प्रयोग का करना ठीक नहीं क्योंकि उससे मस्तिष्क पर हानिकारक प्रभाव पड़ना सम्भव रहता है । प्रातःकाल का समय इस प्रयोग के लिए उत्तम है । रात के शान्त वातावरण में एक दीपक इस प्रकार का रखना चाहिए जिससे आकृति पर प्रकाश पड़े, इस प्रकार भी अभ्यास किया जा सकता है ।

जब आँखें बन्द कर लेने पर 'क्लीं' अक्षर देर तक देखा जा सके तब समझना चाहिए कि ध्यान उचित रीति से हो रहा है ? जैसे-जैसे ध्यान का अभ्यास बढ़ता जायेगा वैसे-वैसे साधक को परिवर्तन होता जान पड़ेगा तथा साधक के अन्दर आकर्षण शक्ति बढ़ती जायेगी जो प्रत्येक क्षेत्र में काम देगी । 'क्लीं' की सिद्धि से साधक मनोकामनाएँ पूरी करने में समर्थ होता है । किसी भी मनुष्य के फोटो के ऊपर अथवा मानसिक आकृति के ऊपर इस बीजमंत्र का ध्यान करने से वह चाहे कितनी दूर क्यों न हो उसे बुलाया जा सकता है ।

इस 'क्लीं' बीज मंत्र का प्रयोग लक्ष्मी प्राप्ति के लिए भी हो सकता है लक्ष्मी के लिए 'क्लीं' की उपासना करनी हो तो आकृति के भीतर लाल की जगह पीला रंग भरना चाहिए और ध्यान के समय 'ॐ क्लीं नमः' का जप करते रहना चाहिए । इस अभ्यास के पूरा होने पर लक्ष्मी की प्राप्ति में वृद्धि होती है ।

जिस प्रकार लाल रंग की 'क्लीं' का ध्यान वशीकरण आकर्षण के लिए किया जाता है और पीले रंग वाली

आकृति धन प्राप्त कराती है उसी प्रकार मंत्र में काला रंग भरकर ध्यान करने से उच्चाटन और विद्वेषण का प्रयोग किया जाता है ।

जो व्यक्ति लम्बे समय से शारीरिक अथवा मानसिक व्याधि से पीड़ित हो अथवा तरह-तरह की बीमारियों के कारण परेशान हो रहे हों उनको बीजाकृति में हरा रंग भर कर ध्यान करना चाहिए । यह हरा रंग खुलता हुआ अर्थात् तोते का सा होना चाहिए । इस आकृति को प्रातः अथवा रात्रि में सामने रखकर 'ॐ क्लीं नमः' का जप करते हुए ध्यान करने से आरोग्यता और शारीरिक सुख प्राप्त होता है ।अशक्त व्यक्ति तो लेटे रहकर भी इसका ध्यान कर सकते हैं । जिसकी आंखें कमजोर हों वे भी इस प्रयोग से अपनी आंखों में सुधार सकते हैं ।

इस प्रकार क्लीं की बीजाकृति में भिन्न-भिन्न रंग भरने से भिन्न–भिन्न फल प्राप्त किये जा सकते हैं । इसमें आवश्यकता यही है कि धैर्य और लगन एवं श्रद्धा के साथ अभ्यास किया जाये । बीज मंत्र लगाकर की गई साधना के कई फल ऐसे विलक्षण होते हैं जिसकी कल्पना कर सकना भी सामान्य बुद्धि के व्यक्ति के लिए संभव नहीं है पर उनका कई लोग अपनी इन्द्रिय लिप्साओं और घोर सांसारिक कामनाओं में दुरुपयोग कर सकते हैं । इसलिए ऐसी साधनाओं के गूढ़ प्रयोग सिद्ध पुरुष केवल गुरु परम्परा से उन्हीं को बताते हैं जिन पर उनका यह विश्वास होता है कि यह व्यक्ति साधना जैसे देव-तत्व का लौकिक वासनाओं में दुरुपयोग नहीं करेगा । उससे साधक का स्वयं भी अनिष्ट होता है । रावण कुंभकर्ण आदि की तन्त्र साधनायें ऐसी ही थीं जिससे वे तापस में डूबे और अन्ततः अपना सर्वनाश ही कर डाला इसलिए इन साधनाओं का प्रयोग आत्मविकास के लिए ही किया जाना चाहिए उसके लिये पर्याप्त साधना विधि यहां बता दी गई है ।

शक्ति पुरश्चरण साधना–

आध्यात्मिक उपचारों से सामयिक वातावरण बनाने और बदलने में बड़ी सहायता मिलती है । प्राचीनकाल में सामयिक विपन्नता एवं विपरीतता को बदलने एवं सुधारने के लिए समय-समय पर विशेष धर्मानुष्ठान होते रहे हैं । शास्त्रों में ऐसे विधान भी हैं ।

वर्तमान काल की राष्ट्र-रक्षा समस्या को हल करने के लिए जहाँ भौतिक साधनों को जुटाया जा रहा है, वहाँ आध्यात्मिक आयोजनों की भी आवश्यकता है । भौतिक शक्ति से आध्यात्मिक शक्ति का महत्त्व कम नहीं । दैवी शक्ति की सहायता से बड़े-बड़े कठिन कार्य सरल होते हैं । फिर वर्तमान समस्याओं के समाधान में उनसे सहायता क्यों न मिलेगी ?

इस संदर्भ में अखण्ड ज्योति परिवार द्वारा सन् **१९६५** की शरदपूर्णिमा से शक्ति साधना महापुरश्चरण प्रारम्भ किया गया है । गायत्री सर्वोपरि शक्ति है । उसके साथ कुछ विशिष्ट बीज मंत्र एवं सम्पुट जोड़ने से उसे विभिन्न भौतिक कार्यों के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है । 'श्री' बीज सफलता एवं समृद्धि के लिए 'ह्रीं' बीज बुद्धि एवं भावना विकास के लिए और 'क्लीं' बीज शक्ति सम्पन्नता एवं अनिष्ट निवारण के लिए किया जाता है । वर्तमान परिस्थितियों में देश में सर्वतोमुखी बल, साहस, शौर्य, एवं पराक्रम का बढ़ना आवश्यक है । साथ ही शत्रुओं का दमन एवं शमन भी होना चाहिए । इन दोनों प्रयोजनों के लिए "क्लीं" तत्त्व अपेक्षित है । गायत्री महामन्त्र के साथ क्लीं बीज तथा सम्पुट जोड़ देने से एक ऐसी विशिष्ट मन्त्र-शक्ति बनती है जो आज की उपर्युक्त दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति में महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकती है ।

मंत्र निम्न प्रकार है–

"ॐ भू भुर्ववः स्वः क्लीं क्लीं क्लीं तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात् क्लीं क्लीं क्लीं ॐ"

इस शक्ति मन्त्र की एक माला तो हम को जब तक संकट की घड़ियाँ विद्यमान हैं तब तक करते ही रहना चाहिए ।

राष्ट्रीय संकट के हल करने में हम सबका योगदान होना चाहिए । उपयुक्त मन्त्र की एक माला जपने में दस मिनट लगती है । इतना समय तो हर व्यक्ति स्नान करने के उपरान्त इस साधना को दे ही सकता है । जो जप न कर सकें वे प्रतिदिन **२४** मंत्र लिखने का क्रम भी बना सकते हैं । किसी न किसी रूप में उस धर्मानुष्ठान में हमें सम्मिलित रहना चाहिए । वर्तमान संघर्ष ऐसे लोगों के विरुद्ध है जिनसे परास्त होने पर हमारा धर्म और संस्कृति भी सुरक्षित नहीं है इसलिए इस उपासना क्रम को धर्म रक्षा का एक आवश्यक अंग मानकर ही करना चाहिए । अखण्ड-ज्योति परिवार के लोग स्वयं तो करेंगे ही, अन्य जो लोग उनकी पहुँच तथा प्रभाव

प्रेरणा के क्षेत्र में आते हों उन्हें भी इसके लिए प्रोत्साहित करना चाहिए ।

चालीस दिन की गायत्री साधना—

गायत्री मंत्र के द्वारा जीवन की प्रत्येक दशा में आश्चर्य जनक मनोवांछित फल किस प्रकार प्राप्त हुए हैं और होते हैं । यह मंत्र अपनी आश्चर्यजनक शक्तियों के कारण ही हिन्दू धर्म जैसे वैज्ञानिक धर्म में प्रमुख स्थान प्राप्त कर सका है । गंगा, गीता, गौ, गायत्री, गोविन्द, यह पांच हिन्दू धर्म के केन्द्र हैं । गुरु शिष्य की वैदिक दीक्षा गायत्री मंत्र द्वारा ही होती है ।

नित्य प्रति की साधारण साधना और संघालक्ष अनुष्ठान की विधियां पिछले पृष्ठों में पाठक पढ़ चुके हैं। यहां पर चालीस दिन की एक तीसरी साधना उपस्थित की जा रही है । शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा से इस साधना को आरम्भ करना चाहिए । साधक का निम्न नियमों को पालन करना उचित है : (१) ब्रह्मचर्य से रहे, (२) शय्या पर शयन न करे, (३) अन्न का आहार केवल एक समय करे, (४) सेंधा नमक और काली मिर्च के अतिरिक्त अन्य सब मसाले त्याग दे (५) लकड़ी की खड़ाऊँ या चट्टी पहिने, बिना बिछाये हुए जमीन पर न बैठे । इन पांच नियमों का पालन करते हुए गायत्री की उपासना करनी चाहिए ।

प्रातःकाल सूर्योदय से कम से कम एक घण्टा पूर्व उठकर शौच स्नान से निवृत्त होकर पूर्वाभिमुख होकर कुशासन पर किसी स्वच्छ एकान्त स्थान में जप के लिए बैठना चाहिए । जल का भरा हुआ पात्र पास में रक्खा रहे । घी का दीपक तथा धूप बत्ती जला कर दाहिनी ओर रख लेनी चाहिए । प्राणायाम तथा ध्यान उसी प्रकार करना चाहिए जैसा कि पिछले पृष्ठों में संघालक्ष अनुष्ठान के सम्बन्ध में बताया गया है । इसके बाद तुलसी की माला से जप आरम्भ करना चाहिए । एक सौ आठ मंत्रों की माला अट्टाईस बार नित्य जपनी चाहिए । इस प्रकार प्रति दिन ३०२६ मंत्र होते हैं । एक मन्त्र आरम्भ में और एक अन्त में दो मंत्र नियत मालाओं के अतिरिक्त अधिक जपने चाहिए इस प्रकार ४० दिन में सवालक्ष मंत्र पूरे हो जाते हैं ।

'गायत्री तंत्र' में ऐसा उल्लेख है कि ब्राह्मण को तीन प्रणव युक्त, क्षत्रिय को दो प्रणव युक्त, वैश्य को एक प्रणव युक्त मंत्र जपना चाहिए । गायत्री में सबसे प्रथम ॐ अक्षर है उसे ब्राह्मण तीन बार, क्षत्रिय दो बार और वैश्य एक बार उच्चारण करे । तदुपरान्त 'भूर्भुवः स्व तत्सवितु' आगे का मंत्र पढ़े । इस रीति से मंत्र की शक्ति और भी अधिक बढ़ जाती है ।

लगभग तीन साढ़े तीन घण्टे में अटठ्ाईस मालाएँ आसानी से जपी जा सकती हैं । यह प्रातःकाल का साधन है । इसे करने के पश्चात् अन्य कोई काम करना चाहिए । दिन में शयन करना, नीच लोगों का स्पर्श, पराये घर का अन्न, इन दिनों वर्जित है । जल अपने हाथ से नदी या कुँए में से लानी चाहिए और उसे अपने लिए अलग से सुरक्षित रखना चाहिए । पीने के लिए यही जल काम में लाया जाय । तीसरे पहर गीता का कुछ स्वाध्याय करना चाहिए । सन्ध्या समय भगवत् स्मरण और सन्ध्या-वन्दन करना चाहिये । रात को जल्दी सोने का प्रयत्न करना उचित है जिससे प्रातःकाल जल्दी उठने में सुविधा रहे । सोते समय गायत्री माता का ध्यान करना चाहिए और जब तक नींद न आवे मन ही मन बिना होठ हिलाये मंत्र का जप करते रहना चाहिए । दोनों एकादशियों, अमावस्या और पूर्णमासी को केवल थोड़े फलहार के साथ उपवास करना चाहिए ।

पूर्णमासी से आरम्भ करके पूरा एक मास और आगे के माह में कृष्णपक्ष की दशमी या एकादशी को पूरे चालीस दिन होंगे जिस दिन यह अनुष्ठान समाप्त हो उस दिन गायत्री मंत्र से कम से कम १०८ आहुतियों का हवन करना चाहिए और यथा शक्ति सदाचारी विद्वान ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए । गौओं को आटा और गुड़ मिले हुए गोले खिलाने चाहिए । साधना के दिनों में तुलसीदल को जल के साथ दिन में दो तीन बार नित्य लेते रहें ।

इन चालीस दिनों में दिव्य तेज युक्त गायत्री माता के स्वप्नावस्था में किसी न किसी रूप में दर्शन होते हैं । यदि उनकी आकृति प्रसन्नता सूचक हो तो सफलता हुई ऐसा अनुभव करना चाहिए यदि उनकी भ्रू-भंगी अप्रसन्नता सूचक, नाराजी से भरी हुई, क्रुद्ध प्रतीत हो तो साधना में कुछ त्रुटि समझनी चाहिए और बारीकी से अपने कार्यक्रम का अवलोकन करके अपने अभ्यास को अधिक सावधानी के साथ चलाने का प्रयत्न करना चाहिए । नेत्र बन्द करके ध्यान करते समय, मंत्र जपते समय मानसिक नेत्रों के आगे कुछ चमत्कार गोलाकार प्रकाशपुंज से दृष्टिगोचर हों तो उन्हें जप द्वारा प्राप्त हुई आत्म-शक्ति का प्रतीक समझना चाहिए ।

चालीस दिन की यह साधना अपने को दिव्य शक्ति से सम्पन्न करने के लिये है । साधना के दिनों में मनुष्य कृश होता है, उसका वजन घट जाता है परन्तु दो बात बढ़ जाती हैं एक तो शरीर की त्वचा पर पहले की अपेक्षा कुछ चमकदार तेज दिखाई पड़ने लगता है, दूसरे एक विशेष प्रकार की गन्ध आने लगती है । जिसमें यह दोनों लक्षण प्रगट होने लगें समझना चाहिए कि उस साधक ने गायत्री के द्वारा अपने अन्दर दिव्य शक्ति का संचय किया है । इस शक्ति को वह अपने और दूसरों के अनिष्टों को दूर करने एवं कई प्रकार लाभ उठाने में खर्च कर सकता है । अच्छा तो यही है कि इस शक्ति को अपने अन्दर छिपा कर रखा जाय और सांसारिक सुखों की अपेक्षा आध्यात्मिक पारलौकिक आनन्द प्राप्त किया जाय ।

एक वर्ष की साधना–

एक वर्ष तक गायत्री की नियमित उपासना का व्रत लेने को **'सहस्रांशु साधना'** कहते हैं । इसका नियम निम्न प्रकार है–

१. प्रतिदिन १० माला का जप, २. प्रतिदिन रविवार को उपवास (जो फल, दूध पर न रह सके वे एक समय बिना नमक का अन्नाहार लेकर भी अर्ध्य उपवास कर सकते हैं) ३. पूर्णिमा या महीने के अंतिम रविवार को १०८ या कम से कम २४ आहुतियों का हवन करें । सामिग्री न मिलने पर केवल घी की अहुतियाँ गायत्री मन्त्र के साथ कर सकते हैं । ४. मन्त्र-लेखन प्रतिदिन कम से कम २४ गायत्री मन्त्र एक कापी पर लिखना । ५. स्वाध्याय-गायत्री साहित्य का स्वाध्याय नित्य करके अपने गायत्री सम्बन्धी ज्ञान को बढ़ाना ।६. ब्रह्म संदीप दूसरों को गायत्री साहित्य पढ़ने की तथा उपासना करने की प्रेरणा एवं शिक्षा देना । अपनी पुस्तकें दूसरों को पढ़ने देकर उनका ज्ञान बढ़ाना एवं नये गायत्री उपासक उत्पन्न करना । इन छः नियमों को एक वर्ष नियम पूर्वक पालन किया जाय तो उसका परिणाम बहुत ही कल्याण कारक होता है । यह साधना बहुत कठिन नहीं है । प्रतिदिन डेढ़ घण्टा आधा-आधा समय प्रातः सायं दोनों समय देने से साधना आसानी से चल सकती है । कभी जप, हवन, उपवास आदि के नियत समय पर कठिनाई आ जाय तो उसकी पूर्ति आगे-पीछे हो सकती है ।

जो लोग एक वर्ष की साधना का व्रत लें वे इसकी सूचना हमें दे दें तो उनकी साधना में रहने वाली त्रुटियों का दोष परिमार्जन होता रहेगा । साल भर के लिखे हुए मंत्रों की कापी मथुरा भेज देनी चाहिए । वर्ष के अन्त में यथाशक्ति हवन, दान, पुण्य, गौ, ब्राह्मण या कन्याओं को भोजन कराना चाहिए । यह एक वर्ष की साधना आध्यात्मिक और सांसारिक दृष्टि से बहुत ही उत्तम परिणाम उत्पन्न करती देखी गई है ।

गायत्री अभियान की साधना

गायत्री को पंचमुखी कहा जाता है । कई चित्रों में अलंकारिक रूप से पाँच मुख दिखाये गये हैं । वास्तव में यह पाँच विभाग हैं : (१) ॐ, (२) **भूर्भुवः स्वः**, (३) **तत्सवितुर्वरेण्यं**, (४) **भर्गोदेवस्य धीमहि**, (५) **धियो योनः प्रचोदयात्** । यज्ञोपवीत के पाँच भाग हैं । तीन सूत्र, चौथा मध्यग्रन्थियाँ, पाँचवां ब्रह्मग्रन्थि । पाँच देवता भी प्रसिद्ध हैं– ॐ गणेश । व्याहृति-भवानी । प्रथम चरण-ब्रह्मा । द्वितीय चरण-विष्णु । तृतीय चरण–महेश । यह पाँच देवता गायत्री के पाँच प्रमुख शक्तिपुंज कहे जा सकते हैं । प्रकृति के संचालक पाँच तत्त्व (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) 'जीव के पाँच कोष (अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष, आनन्दमय कोष), पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, चैतन्य पंचक (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, आत्मा) इस प्रकार की पंच प्रवृत्तियाँ गायत्री के पाँच भागों में प्रस्फुटित, प्रेरित, प्रसारित होती हैं । इन्हीं आधारों पर वेदमाता गायत्री को पंचमुखी कहा गया है ।

पंचमुखी माता की उपासना एक नैष्ठिक अनुष्ठान है, जिसे "गायत्री अभियान" कहते हैं जो पाँच लाख जप का होता है । यह एक वर्ष की तपश्चर्या साधक को उपासनीय महाशक्ति से तादात्म्य करा देती है । श्रद्धा और विश्वासपूर्वक की हुई अभियान की साधना अपना फल दिखाये बिना नहीं रहती । "अभियान" एक ऐसी तपस्या है, जो साधक को गायत्री शक्ति से भर देती है । फलस्वरूप साधक अपने अन्दर, बाहर तथा चारों ओर एक दैवी वातावरण का अनुभव करता है ।

विशेष साधना के रूप में चौबीस हजार एवं सवालक्ष के अनुष्ठान बहुधा लोग कर लेते हैं । इसमें आगे का २४ लक्ष का पुरश्चरण लोगों को कठिन पड़ता है । उसमें नित्य लगभग ६ घण्टे साधना में लगाने पड़ते हैं । इतना समय सामान्य रूप से निकाल पाना कठिन होता है ।

जो साधक लम्बी अवधि का साधना संकल्प करना चाहे और प्रतिदिन घंटे दो घंटे से अधिक समय लगाने की स्थिति में न हो उनके लिए एक वर्षीय गायत्री अभियान साधना बहुत उपयुक्त रहती है । इसके अन्तर्गत एक वर्ष में निर्धारित तपश्चर्याओं के साथ ५ लक्ष गायत्री मंत्र जप पूरा किया जाता है ।

इस साधना अभियान में जप संख्या बहुत अधिक नहीं होती, फिर भी दीर्घकालीन श्रद्धा भरा साधना क्रम साधक के आन्तरिक उत्कर्ष की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है । यह एक वर्ष की तपश्चर्या साधक को उपासनीय महाशक्ति से तादात्म्य करा देती है । श्रद्धा और विश्वास पूर्वक की हुई अभियान की साधना अपना फल दिखाये बिना नहीं रहती । "अभियान" एक ऐसी तपस्या है जो साधक को गायत्री शक्ति से भर देती है । फलस्वरूप साधक अपने अन्दर, बाहर तथा चारों ओर एक दैवी वातावरण का अनुभव करता है ।

अभियान की विधि—

एक वर्ष में पाँच लाख जप पूरा करने का अभियान किसी भी मास शुक्ल पक्ष की एकादशी से आरम्भ किया जा सकता है । गायत्री का आविर्भाव शुक्ल पक्ष की दशमी को मध्य रात्रि में हुआ है, इसलिए उसका उपवास पुण्य दूसरे दिन एकादशी को माना जाता है । अभियान आरम्भ करने के लिए यही मुहूर्त सबसे उत्तम है । जिस एकादशी से आरम्भ किया जाय, एक वर्ष बाद उसी एकादशी को समाप्त करना चाहिये ।

महीने की दोनों एकादशियों को उपवास करना चाहिए । उपवास में दूध, दही, छाछ, शाक आदि सात्विक पदार्थ लिये जा सकते हैं । जो एक समय भोजन करके काम चला सकें, वे वैसा करें । बाल, वृद्ध, गर्भिणी या कमजोर प्रकृति के व्यक्ति दो बार भी सात्विक आहार ले सकते हैं । उपवास के दिन पानी कई बार पीना चाहिए ।

दोनों एकादशियों को २४ मालायें जपनी चाहिए । साधारण दिनों में प्रतिदिन १० मालायें जपनी चाहिए । वर्ष में तीन संध्यायें होती हैं, उन्हें नवरात्रियाँ कहते हैं इन नवरात्रियों में से चौबीस-चौबीस हजार के तीन अनुष्ठान कर लेने चाहिए । जैसे प्रतिदिन प्रातःकाल, मध्यान्ह, सांयकाल की तीन संध्यायें होती हैं, वैसे ही वर्ष में ऋतु परिवर्तनों की संधियों में तीन नवरात्रियाँ होती हैं । वर्षा के अन्त और शीत के आरम्भ में आश्विन शुक्ला १ से लेकर ९ तक । शीत के अन्त और ग्रीष्म के आरम्भ में चैत्र शुक्ला १ से लेकर ९ तक । ग्रीष्म के अन्त और वर्षा के आरम्भ में ज्येष्ठ शुक्ला १ से लेकर ९ तक । यह तीन नवरात्रियाँ हैं । दशमी गायत्री जयन्ती को पूर्णाहुति का दिन होने से यह भी नवरात्रियों में जोड़ दिया गया है । इस प्रकार दस दिन की इन संध्याओं में चौबीस माला प्रतिदिन के हिसाब से चौबीस हजार जप हो जाते हैं । इस प्रकार एक वर्ष में पाँच लाख जप पूरा हो जाता है ।

संख्या का हिसाब इस प्रकार और भी अच्छी तरह समझ में आ सकता है ।

१. बारह महीने की चौबीस एकादशियों को प्रतिदिन २४ मालाओं के हिसाब से २४ x २४ = ५७६ माला ।

२. दस-दस दिन की नवरात्रियों में प्रतिदिन की २४ मालाओं के हिसाब से ३० x २४ = ७२० माला ।

३. वर्ष के ३६० दिनों में से उपरोक्त ३०x२४=५४ काटकर शेष ३०६ दिनों में १० माला प्रतिदिन के हिसाब से ३०६० माला ।

४. प्रति रविवार को पाँच मालायें अधिक जपनी चाहिए अर्थात् १० की जगह पन्द्रह माला रविवार को जपी जायें । इस प्रकार एक वर्ष में ५२ X ५ = २६० मालायें ।

इस प्रकार कुल मिलाकर (५७६+ ७२०+ ३०६० +२६० = ४६१६ मालायें हुई) एक माला में १०८ दाने होते हैं । मालायें ४६१६ X १०८ = ४,९८,५२८ कुल जप हुआ पाँच लाख में करीब उन्नीस सौ कम हैं । चौबीस मालायें पूर्णहुति के अन्तिम दिन विशेष जप एवं हवन करके पूरी की जाती हैं ।

इस प्रकार पाँच लाख जप पूरे हो जाते हैं । तीन नवरात्रियों में काम सेवन, पलंग पर सोंना, दूसरे व्यक्ति से हजामतें बनवाना, चमड़े का जूता पहनना, मद्य मांस सेवन आदि विशेष रूप से वर्जित हैं । शेष दिनों में सामान्य व्रत रखा जा सकता है, उसमें किसी विशेष तपश्चर्या का प्रतिबन्ध नहीं है ।

इस अभियान साधना को पूरा करने की और भी विधियाँ हैं । पहली विधि तो ऊपर बताई जा चुकी

है, दूसरी विधि में साधारणतया ११ माला प्रतिदिन और रविवार या अन्य अवकाश के दिन २४ मालायें करनी होती हैं। यदि अवकाश के दिन अधिक न करनी हों तो ५ लाख को ३६० दिनों में बराबर विभाजन करने पर प्रायः १४ माला का हिसाब बन जाता है। वर्ष में ५ लाख का जप इसी क्रम में पूरा करना आसान हो जाता है। इसमें अपनी सुविधा का क्रम भी निर्धारित हो सकता है पर वह चलना नियमित रूप से ही चाहिए। वर्ष पूरा हो जाने पर उसकी पूर्णाहुति का हवन करा दिया जाय। इसमें एक हजार आहुति से कम न हों। महीने में एक बार शुक्ल पक्ष की एकादशी को १०८ मंत्रों से हवन कर लेना चाहिए।

अभियान एक प्रकार का लक्षबेध है। इसके लिए किसी पथ-प्रदर्शक एवं शिक्षक की नियुक्ति आवश्यक है, जिससे कि बीच-बीच में जो अनुभव हों उनके सम्बन्ध में परामर्श किया जाता रहे। कई बार जबकि प्रगति में बाधा उपस्थित होती है तो उसका उपाय अनुभवी मार्ग-दर्शक से जाना जा सकता है। एकांकी यात्रा की अपेक्षा विश्वस्त पथ-प्रदर्शक की सहायता सदा ही लाभदायक सिद्ध होती है।

शुद्ध होकर प्रातः सायं दोनों समय जप किया जा सकता है। प्रातः काल उपासना में अधिक समय लगाना चाहिए, सन्ध्या के लिए तो कम भाग ही छोड़ना चाहिए। जप के समय मस्तक के मध्य भाग अथवा हृदय में प्रकाश पुंज ज्योतिस्वरूप गायत्री का ध्यान करते जाना चाहिए।

साधारणतः एक घण्टे में दस मालाएँ जपी जा सकती हैं। अनुष्ठान के दिनों में ढाई घण्टे प्रतिदिन और साधारण दिनों में एक घण्टा प्रतिदिन उपासना में लगा देना कुछ विशेष कठिन बात नहीं है। सूतक, यात्रा, बीमारी आदि के दिनों में बिना माला के मानसिक जप चालू रखना चाहिए। किसी दिन साधना छूट जाने पर उसकी पूर्ति अगले दिन की जा सकती है।

फिर भी यदि वर्ष के अन्त में कुछ जप कम रह जाय तो उसके लिए ऐसा हो सकता है कि उतने मंत्र अपने लिए किसी से उधार जपाये जा सकते हैं। जो सुविधानुसार लौटा दिए जायें। इस प्रकार हवन आदि की कोई असुविधा पड़े तो वह भी इसी प्रकार सहयोग के आधार पर पूरी की जा सकती है। किसी साधक की साधना खण्डित न होने देने एवं उसका संकल्प पूरा कराने के लिए अखण्ड ज्योति से भी समुचित उत्साह, पथ-प्रदर्शन तथा सहयोग मिल जाता है।

अभियान एक वर्ष में पूरा होता है। साधना की महानता को देखते हुए इतना समय कुछ अधिक नहीं है। इस तपस्या के लिए जिनके मन में उत्साह है उन्हें इस शुभ आरम्भ को कर ही देना चाहिए। आगे चलकर माता अपने आप सँभाल लेती है। यह निश्चित है कि शुभ आरम्भ का परिणाम शुभ ही होता है।

एक वर्ष की उद्यापन साधना

गायत्री एक अत्यन्त ही उच्च कोटि का आध्यात्मिक विज्ञान है। उसके द्वारा अपने मानसिक दोष-दुर्गुणों को हटाकर अन्तःकरण को निर्मल बनाया जाता है और यह हर किसी के लिए बहुत ही सहज है। इसके अतिरिक्त यदि गहरे आध्यात्मिक क्षेत्र में उतरा जाये तो अनेक प्रकार की चमत्कारी ऋद्धि-सिद्धियाँ उपलब्ध हो सकती हैं। भौतिक दृष्टि से सकाम कामनाओं के लिए सांसारिक कठिनाइयों का समाधान करने तथा सुख-सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए भी महत्त्वपूर्ण सहायता ली जा सकती है। इन साधनाओं में से बहुत का उल्लेख पिछले पृष्ठों पर किया जा चुका है।

विशेष आत्मिक शक्ति अर्जित करने के लिए अधिक समय लगाना पड़ता है। कई व्यक्तियों की स्थिति ऐसी होती है कि वे थोड़ा-सा भी समय नहीं निकाल पाते। उनका जीवन क्रम बड़ा अस्त-व्यस्त होता है और वे सदा कार्य व्यस्त रहते हैं। व्यावहारिक जीवन की कठिनाइयाँ उन्हें चैन नहीं लेने देतीं। जीविका कमाने में, सामाजिक व्यवहारों को निभाने में, पारिवारिक उत्तरदायित्व पूरा करने में, उलझी हुई परिस्थितियों को सुलझाने में, कठिनाइयों के निवारण की चिन्ता में उनके समय और शक्ति का इतना व्यय हो जाता है कि जब फुरसत मिलने की घड़ी आती है तब वे अपने को थका-मांदा, शक्ति-हीन, शिथिल और परिश्रम के भार से चकनाचूर पाते हैं। उस समय उनकी एक ही इच्छा होती है कि उन्हें चुपचाप पड़े रहने दिया जाय, कोई उन्हें छेड़े नहीं ताकि वे सुस्ता कर अपनी थकान उतार सकें। कई व्यक्तियों का शरीर एवं मस्तिष्क अल्प शक्ति वाला होता है, मामूली दैनिक कार्यों के श्रम में ही वे

अपनी शक्ति खर्च कर देते हैं, फिर उनके हाथ पैर शिथिल हो जाते हैं ।

साधारणतः— सभी आध्यात्मिक साधनाओं के लिए और विशेष कर गायत्री-साधना के लिए उत्साहित मन एवं शक्ति-सम्पन्न शरीर की आवश्यकता होती है ताकि स्थिरता दृढ़ता, एकाग्रता और शान्ति के साथ मन साधना में लग सके । इसी स्थिति में की गयी साधनायें सफल होती हैं । परन्तु कितने लोग हैं जो ऐसी स्थिति को उपलब्ध कर पाते हैं । अस्थिर, अव्यवस्थित चित्त किसी प्रकार साधना में जुटाया जाय तो उससे वैसा परिणाम नहीं निकल पाता, जैसा कि निकलना चाहिए । अधूरे मन से की गयी उपासना भी अधूरी होती है और उसका फल भी वैसा ही अधूरा मिलता है ।

ऐसे स्त्री-पुरुषों के लिए एक अति सरल एवं बहुत महत्त्वपूर्ण साधना **'गायत्री-उद्यापन'** है । इसे बहुधन्धी काम काजी और कार्य व्यस्त व्यक्ति भी कर सकते हैं । कहते हैं कि बूंद-बूंद जोड़ने से धीरे-धीरे घड़ा भर जाता है । थोड़ी-थोड़ी आराधना करने से कुछ समय में एक बड़े परिमाण में. साधना-शक्ति जमा हो जाती

उद्यापन की विधि—

प्रतिमास अमावस्या और पूर्णमासी दो रोज उद्यापन की साधना करनी पड़ती है । किसी मास की पूर्णमा से इसे आरम्भ किया जा सकता है । ठीक एक वर्ष बाद इसी पूर्णमासी को उसकी समाप्ति करनी चाहिए । प्रति अमावस्या और पूर्णमासी को निम्न कार्यक्रम होना, चाहिए और इन नियमों का पालन करना चाहिए ।

१. गायत्री उद्यापन के लिए कोई सुयोग्य, सदाचारी, गायत्री विद्या का ज्ञाता ब्राह्मण वरण करके उसे ब्रह्मा नियुक्त करना चाहिए ।

२. ब्रह्मा को उद्यापन आरम्भ करते समय अन्न, वस्त्र, पात्र और यथा सम्भव दक्षिणा देकर इस यज्ञ के लिए वरण करना चाहिए ।

३. प्रत्येक अमावस्या व पूर्णमासी को साधक की तरह ब्रह्मा भी अपने निवास स्थान पर रहकर यजमान की सहायता के लिए उसी प्रकार की साधना करें । यजमान और ब्रह्मा को एक समान नियमों का पालन करना चाहिए जिससे उभयपक्षीय साधनायें मिलकर एक सर्वांगपूर्ण साधना प्रस्तुत हो ।

४. उस दिन ब्रह्मचर्य से रहना आवश्यक है ।

५. उस दिन उपवास रखें । अपनी स्थिति और स्वास्थ्य को ध्यान में रखते हुए एक बार एक अन्न का आहार, फलाहार, दुग्धाहार या इनके मिश्रण के आधार पर उपवास किया जा सकता है । तपश्चर्या एवं प्रायश्चित प्रकरण में इस सम्बन्ध में विस्तृत बातें लिखी जा चुकी हैं ।

६. तपश्चर्या प्रकरण में जो नियम, व्रत पालन किये जा सकें, उनका यथा सम्भव पालन करना चाहिए । उस दिन पुरुषों को हजामत बनाना, स्त्रियों को सुसज्जित चोटी गूंथना वर्जित है ।

७. उस दिन प्रातःकाल नित्य कर्म से निवृत्त होकर स्वच्छता पूर्वक साधना के लिए बैठना चाहिए । गायत्री सन्ध्या करने के उपरान्त गायत्री की प्रतिमा का पूजन धूप, दीप, चावल, पुष्प, चन्दन, रोली, जल, मिष्ठान से करें । तदुपरान्त यजमान इस उद्यापन के ब्रह्मा का ध्यान करके मन ही मन उसे प्रणाम करे और ब्रह्मा यजमान का ध्यान करते हुए उसे आर्शीवाद दे । इसके पश्चात् गायत्री मंत्र का जप आरम्भ करे । एक हजार मंत्र का जप करने के लिए दस मालायें फेरनी चाहिए । एक मिट्टी के पात्र में अग्नि रख कर उसमें घी मिली हुई धूप डालता रहे, जिससे यज्ञ जैसी सुगन्ध उमड़ती रहे साथ ही घी का दीपक जलता रहे ।

८. जप पूरा होने पर कपूर या घृत की बत्ती जलाकर आरती करे । आरती के उपरान्त भगवती को मिष्ठान का भोग लगावें और उसे प्रसाद की तरह समीपवर्ती लोगों में बाँट दें ।

९. पात्र के जल को सूर्य के सम्मुख अर्घ्य रूप से चढ़ा दें ।

१०. यह सब कृत्य लगभग दो घण्टे में पूरा हो जाता है । पन्द्रह दिन बाद इतना समय निकाल लेना कुछ कठिन बात नहीं है । जो अधिक कार्य व्यस्त व्यक्ति है वे दो घण्टे तड़के उठकर सूर्योदय तक अपना कार्य समाप्त कर सकते हैं । सन्ध्या को यदि समय मिल सके तो थोड़ा बहुत उस समय भी साधारण रीति से कर लेना चाहिए । सन्ध्या पूजन आदि की आवश्यकता नहीं । प्रातः और सायं का एक समय पूर्व निश्चित होना चाहिए, जिस पर यजमान और ब्रह्मा साथ-साथ साधना कर सकें ।

११. यदि किसी बार बीमारी, सूतक, आकस्मिक कार्य आदि के कारण साधना न हो सके तो दूसरी बार

दूना करके क्षति पूर्ति कर लेनी चाहिए या यजमान का कार्य ब्रह्म या ब्रह्मा का कार्य यजमान पूरा कर दें ।

१२. अमावस्या, पूर्णमासी के अतिरिक्त भी गायत्री का जप चालू रखना चाहिए, अधिक न बन पड़े तो स्नान के उपरान्त या स्नान करते समय कम से कम चार मंत्र मन ही मन अवश्य जप लेना चाहिए ।

१३. उद्यापन पूरा होने पर उसी पूर्णमासी को गायत्री पूजन हवन तथा जप और कन्या भोजन कराना चाहिए । लोगों को गायत्री सम्बन्धी छोटी या बड़ी पुस्तकें दक्षिणा में देना चाहिए । द्रव्य दान की अपेक्षा ज्ञान दान का पुण्य फल सौ गुना अधिक है । इस युग में तो दान के उपयुक्त पात्र बहुत कम मिलते हैं । अधिकांश प्राप्त दान का दुरुपयोग करते हैं अतः ज्ञान दान ही सर्वोपरि माना जाना चाहिए ।

यह गायत्री-उद्यापन स्वास्थ्य, धन, सन्तान तथा सुख-शांति की रक्षा करने वाला है । आपत्तियों का निवारण करता है, शत्रुता तथा द्वेष को मिटाता है, सद्बुद्धि तथा विवेकशीलता उत्पन्न करता है एवं मानसिक शक्तियों को बढ़ाता है । किसी अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए गायत्री की कृपा प्राप्त करने के लिए यह एक उत्तम तप है जिससे भगवती प्रसन्न होकर साधक का मनोरथ पूरा करती है । यदि कोई सफलता मिले, अभीष्ट कामना की पूर्ति हो, प्रसन्नता का अवसर आवे तो उसकी खुशी में भगवती के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के रूप में उद्यापन करते रहना चाहिए । गीता में भगवान ने कहा है—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परम वाप्स्थ ।।

-अ0 ३—११

इस यज्ञ द्वारा तुम देवताओं की आराधना करो, वे देवता तुम्हारी रक्षा करेंगे । इस प्रकार आपस में आदान-प्रदान करने से परम कल्याण की प्राप्ति होगी ।

कुछ विशेष साधनाएँ

१. उपवास—रविवार का दिन गायत्री के उपवास का दिन है । निराहार केवल जल पर रहना या दूध, फल, छाछ, शाक आदि फलाहारी वस्तुओं पर रहने का निर्णय अपनी शारीरिक स्थिति देखकर करना चाहिए । जो कठिन उपवास नहीं कर सकते वे एक समय बिना नमक का अन्नाहार कर रह सकते हैं ।

२. मंत्रलेखन—जप की अपेक्षा मंत्र लेखन का पुण्य फल सौ गुना अधिक माना गया है । क्योंकि इसमें श्रम और मनोयोग अधिक लगता है । चित्त की एकाग्रता और मन को वश में करने के लिए भी मंत्र लेखन बहुत सहायक होता है । स्कूली साइज की कापी में किसी भी स्याही से शुद्धता पूर्वक गायत्री मंत्र लिखे जा सकते हैं । इसके लिए कोई विशेष नियम या प्रतिबन्ध नहीं है । जब २४०० मंत्र पूरे हो जायें तो वह कापी 'गायत्री तपोभूमि, मथुरा' के पते पर भेज देनी चाहिए । यह मंत्र गायत्री तपोभूमि मथुरा में प्रतिष्ठापित किये जाते हैं और सदैव इनका विधिवत् पूजन होता रहता है । ऐसी मंत्र लेखन श्रद्धांजलियां गायत्री मन्दिर में माता के सम्मुख उपस्थित करना एक बहुमूल्य भेंट है ।

३. हवन—जिन्हें सुविधा हो वे नित्य अथवा रविवार को अथवा अमावस्या पूर्णमासी को अथवा जब सुविधा हो तब गायत्री मंत्र से हवन कर लिया करें । जप के साथ हवन का सम्बन्ध है । अनुष्ठानों में तो जप का दशांश या शतांश हवन करना आवश्यक होता है पर साधारण साधना में वैसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है फिर भी यदा-कदा हवन करते रहना गायत्री उपासकों का कर्तव्य है । हवन की विस्तृत विधि तो 'गायत्री यज्ञ विधान' ग्रन्थ में है उसके आधार पर अथवा अन्य किसी हवन पद्धति के आधार पर अग्नि होत्र कर लेना चाहिए । न्यूनतम २४ आहुतियों का हवन होना चाहिए । १०८ या २४० आहुतियों का हवन हो सके तो और भी उत्तम है ।

४. अभियान—एक वर्ष तक गायत्री की नियमित उपासना का व्रत लेने को अभियान साधना कहते हैं । इसका नियम निम्न प्रकार है—

(१) प्रतिदिन १० माला का जप, (२) प्रतिदिन रविवार को उपवास (जो फल दूध पर न रह सकें वे एक समय बिना नमक का अन्नाहार लेकर भी अर्ध उपवास कर सकते हैं) (३) पूर्णिमा या महीने के अन्तिम रविवार को १०८ या कम से कम २४ आहुतियों का हवन । सामिग्री न मिलने पर केवल घी की आहुतयां गायत्री मंत्र के साथ देकर कर सकते हैं । (४) मन्त्र लेखन—प्रतिदिन कम से कम २४ गायत्री मन्त्र एक कापी पर लिखना, (५) स्वाध्याय—गायत्री साहित्य का थोड़ा बहुत स्वाध्याय नित्य करके अपने गायत्री सम्बन्धी ज्ञान को बढ़ाना,

(६) ब्रह्म संदीप–दूसरों को गायत्री साहित्य पढ़ने की तथा उपासना करने की प्रेरणा एवं शिक्षा देना। अपनी पुस्तकें दूसरों को पढ़ने के लिए देकर उनका ज्ञान बढ़ाना एवं नये गायत्री उपासक उत्पन्न करना। इन छः नियमों को एक वर्ष नियम पूर्वक पालन किया जाय तो उसका परिणाम बहुत ही कल्याणकारक होता है। वर्ष के अन्त में यथाशक्ति हवन, एवं दान पुण्य करना चाहिए।

५. अनुष्ठान–अनुष्ठान विशेष तपश्चर्या है। इससे विशेष परिणाम प्राप्त होता है। लघु अनुष्ठान २४ हजार जप का, मध्यम अनुष्ठान सवा लक्ष जप का तथा पूर्ण पुरश्चरण २४ लक्ष जप का होता है। साधारणतः लघु अनुष्ठान ६ दिन में, मध्यम ४० दिन में और पूर्ण अनुष्ठान लगभग १/२ वर्ष में पूरा होता है। आश्विन और चैत्र की नवरात्रियां लघु अनुष्ठान करने के लिए अधिक उपयुक्त अवसर हैं। सुविधानुसार अनुष्ठानों को कम या अधिक समय में भी किया जा सकता है। प्रतिदिन हो सकने वाले जप की संख्या और अनुष्ठान की जप संख्या का हिसाब लगाकर अवधि निर्धारित की जा सकती है। जप संख्या नित्य समान संख्या में होनी चाहिए। जप का सौवां भाग (शतांश) हवन भी होना चाहिए। अनुष्ठान के दिनों में ब्रह्मचर्य, उपवास, मौन, भूमि शयन, अपनी शारीरिक सेवा दूसरों से न लेना, आदि तपश्चर्यायें अपने से जितनी बन सकें उतनी करने का प्रयत्न करना चाहिए। अनुष्ठान विद्वान वेदपाठी पंडितों से भी कराये जा सकते हैं।

६. अनुज्ञान–गायत्री उपासना जैसे महान कल्याण कारक साधक को लोग भूल बैठे हैं इसका मूल कारण गायत्री के महत्त्व महात्म्य एवं विज्ञान की जानकारी न होना है। इस जानकारी को फैलाने से ही पुनः संसार में गायत्री माता का दिव्य प्रकाश फैलेगा और असंख्यों हीन दशा में पड़ी हुई आत्माएँ महापुरुष बनेंगी। इसलिए गायत्री ज्ञान का फैलाना भी अनुष्ठान की भाँति में ही महान् पुण्य कार्य है। इस प्रचार साधना का नाम "अनुज्ञान" है। किन्हीं गायत्री पुस्तकों को अपनी श्रद्धानुसार २४, १०८, २४०, १००८, २४०० की संख्या में धार्मिक प्रकृति के मनुष्यों को पढ़वाना, दान देना या खरीदवाना 'अनुज्ञान' है। मकर संक्रान्ति पर नवरात्रियों में गायत्री जयन्ती, गंगादशहरा, अपना जन्म-दिन, पूर्वजों के श्राद्ध, पुत्र-जन्म, विवाह, सफलता, उन्नति, व्रत, त्यौहार, उत्सव आदि के शुभ अवसरों पर ऐसे "अनुज्ञान" करते रहना अत्यन्त ही उच्च कोटि की माता को प्रसन्न करने वाली श्रद्धांजलि है। अन्नदान की अपेक्षा ब्रह्मज्ञान का फल हजार गुना अधिक माना गया है।

७.पूर्ण पाठ–गायत्री सहस्रनाम या गायत्री चालीसा के पाठ करना भी फलप्रद है। गायत्री सहस्र नाम के ६ दिन में १०८ पाठ और गायत्री चालीसा के ६ दिन में २४० पाठ करने को पूर्ण पाठ कहते हैं। इनके अन्त में भी हवन तथा दान करना चाहिए।

बहुधा आसुरी शक्तियाँ यज्ञों, अनुष्ठानों, एवं पाठों को असफल बनाने के लिए बीच-बीच में विघ्न फैलाती हैं तथा कभी-कभी साधन करने वाले से कोई त्रुटि रहने से भी साधना सफल नहीं हो पाती। इन विघ्नों से बचने के लिए किसी सुयोग्य अनुभव साधक को अपनी साधनाओं का संरक्षक नियुक्त किया जाता है जो विघ्नों से संरक्षण तथा त्रुटियों का दोष परिमार्जन करता रहे। जिन्हें ऐसे संरक्षक प्राप्त करने में कठिनाई हो वे गायत्री तपोभूमि मथुरा से इस प्रकार की सेवा सहायता प्राप्त कर सकते हैं।

अनेक प्रयोजनों के लिए अनेक प्रकार की अलग-अलग साधनाएँ की जाती हैं। कठिन से कठिन रोगों के निवारण के लिए मन्द बुद्धि लोगों की बुद्धि को तीव्र बनाने के लिए, सर्प आदि प्राण घातक विषैले जन्तुओं का विष निवारण करने के लिए, राजकीय अदालती कार्यों में सफलता के लिए, दरिद्रता नाश के लिए, मनोवाञ्छित सन्तान प्राप्त करने के लिए, शत्रुता का संहार करने के लिए, भूत बाधा की शान्ति के लिए, पथ भ्रष्टों को रास्ते पर लाने के लिए, आक्रमण की संभावना से आत्म रक्षा के लिए विभिन्न रीतियों से अनेक बीज मंत्र एवं सम्पुट लगा कर गायत्री साधना की जाती है।

गायत्री की तांत्रिक साधना हर कोई नहीं कर सकता। इसके लिए दुस्साहसी, धैर्यवान् एवं निर्भय स्वभाव के साधक ही उपयुक्त होते हैं। तन्त्र साधना के परिणाम तो चमत्कारक होते हैं पर उसमें थोड़ी भी भूल रहने से प्राणघातक संकट उत्पन्न होने या पागल होने का भय रहता है। अनधिकारी लोग तन्त्र साधना न करें इसी दृष्टि से उनके विधान गुप्त रहते हैं। वे किसी पुस्तक में नहीं लिखे जाते वह गुरुपरम्परा से सीखे और सिखाये

जाते हैं । गायत्री का तन्त्र मार्ग शक्तिशाली तो अवश्य है, पर उसकी ओर साधारण साधकों को न पड़ना ही उचित है । वैदोक्त दक्षिण मार्गी साधना ही सर्वसुलभ एवं परम कल्याणकारक है । साधना का विस्तृत विधान गायत्री महाविज्ञान आदि ग्रन्थों में मौजूद है । जिन्हें अधिक जिज्ञासा हो वे उन्हें पढ़ लें ।

गायत्री उपासना का मुख्य लाभ 'सद्‌बुद्धि' की वृद्धि है । इस उपासना का आरम्भ करते ही मनुष्य के कुविचार एवं कुसंस्कार, नष्ट होने आरम्भ हो जाते हैं और उनके स्थान पर सद्‌विचार, सद्‌भाव, शुभ संकल्प, सद्‌गुण एवं सत्कर्मों में प्रवृत्ति एवं अभिरुचि बढ़ने लगती है । यह लाभ सबको होता है और निश्चित रूप से होता है । बुरे से बुरे स्वभाव, आचरण और मनोवृत्ति का मनुष्य भी यदि कुछ दिन गायत्री उपासना परीक्षा के रूप में करके देखे तो उसे स्पष्ट प्रतीत होगा कि उसकी बुराइयां तेजी से घट रही हैं और उनके स्थान पर सतोगुणी वृत्तियां बढ़ रही हैं । यह एक लाभ ही ऐसा है जिसकी तुलना में बड़े से बड़ा सांसारिक लाभ भी तुच्छ ठहरता है ।

इस सुनिश्चित लाभ के अतिरिक्त और भी अनेक सांसारिक एवं आत्मिक लाभ हैं । मनुष्य अनेकों सामने आई हुई कठिनाइयों से आत्मरक्षा कर सकता है । कठिन प्रारब्ध भाग भी इस आश्रय को पकड़ने से हल्के हो जाते हैं । उन्नति एवं सुख शान्ति के अनेक द्वार खुलते हैं । शोक, सन्ताप, चिन्ता, निराशा एवं बेचैनी में परेशान मनुष्यों को डूबते से उबरने के अवसर प्राप्त होते हैं ।

आध्यात्मिक लाभ तो अनन्त हैं । योग और तपस्वी लोग नाना प्रकार की कष्ट साध्य साधनाओं से जिस लक्ष्य को बहुत लम्बे समय में प्राप्त करते हैं उसे गायत्री उपासना द्वारा सरलता पूर्वक प्राप्त किया जा सकता है । समस्त ऋद्धि सिद्धियां करतलगत हो सकती हैं । आत्मा पर चढ़े हुए मल विक्षेप नष्ट होकर आत्म साक्षात्कार एवं प्रभु दर्शन का अवसर स्वल्पकाल में ही सम्मुख उपस्थित हो जाता है । जीवन लक्ष्य को प्राप्त करने और जन्म-मरण की फांसी से छुटकारा पाने के लिए गायत्री उपासना से बढ़कर और कोई मार्ग नहीं है । किस प्रयोजन के लिये किस प्रकार साधनाएँ करनी चाहिए इसका विस्तृत वर्णन पिछले पृष्ठों पर देखा जा सकता है ।

गायत्री मंत्र लेखन—एक महान साधना

गायत्री साधना मनुष्य मात्र के लिए सुलभ है और यह है भी अन्य सभी उपासनाओं में श्रेष्ठ और शीघ्र फल दायी । शब्द विज्ञान, स्वर शास्त्र की सूक्ष्म धारायें गायत्री महा मंत्र में जिस विज्ञान सम्मत ढंग से मिली हुई हैं, वैसा संगम अन्य किसी मंत्र में नहीं हुआ है । साधनारत योगियों और तपस्वियों ने अपने प्रयोग परीक्षणों और अनुभवों के आधार पर जो तुलनात्मक उत्कृष्टता देखी है उसी से प्रभावित होकर उन्होंने इस महाशक्ति की सर्वोपरि स्थिति बताई है । यह निष्कर्ष अभी भी जहाँ का तहाँ है । मात्र जप पूजन से तो नहीं, अभीष्ट साधना प्रक्रिया अपनाते हुए कभी भी कोई इस साधना को कर सके तो उसका निजी अनुभव शास्त्र प्रतिपादित सर्वश्रेष्ठता का समर्थन ही करेगा । शास्त्रों में पग-पग पर गायत्री महामंत्र की महत्ता प्रतिपादित है ।

देव्युपनिषद, स्कन्द पुराण, ब्रह्म सन्ध्या भाष्य, उशनः संहिता, विश्वामित्र कल्प के पन्ने गायत्री जप की महिमा से भरे पड़े हैं, देवी भागवत में तो एकमेव भगवती गायत्री की माया का सुविस्तृत वर्णन है । गायत्री जप से सांसारिक कष्टों से मुक्ति तो मिलती ही है गायत्री की सिद्धियाँ मनुष्य को अनेक प्रकार की भौतिक और दैवी सम्पदाओं से विभूषित कर देती हैं ।

जहाँ उसका इतना महत्त्व और पुण्य प्रभाव है वहाँ कुछ नियम बन्धन और मर्यादायें भी हैं । गायत्री उपासना का एक नाम 'संध्या वन्दन' भी है । जिसका अर्थ है—'दो प्रहरों के सन्धिकाल में की गयी उपासना' अर्थात् गायत्री उपासना के परिणाम सुनिश्चित करने के लिए नियमबद्ध जप, उपासना भी आवश्यक है । आज की परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि हर किसी को प्रातः सायं का समय जप के लिए मिल ही जाये यह आवश्यक नहीं । रात को ड्यूटी करने वालों, महिलाओं, देर तक बैठने की जिनकी स्थिति नहीं उनके लिए नियमित उपासना की सुविधा कैसे हो सकती है ? इसका अर्थ हुआ कि ऐसे लोगों का माँ के अनुग्रह से वंचित रहना । मनीषियों ने उस कठिनाई के समाधान के लिये मंत्र लेखन साधना का मार्ग निकाला । जिन्हें वेश-भूषा, आजीविका

के बन्धनों के कारण या ऐसे ही किन्हीं अपरिहार्य कारणों से जप की व्यवस्था न हो सके वे गायत्री मंत्र लेखन अपना कर आत्म कल्याण का मार्ग ठीक उसी तरह प्रशस्त कर सकते हैं । इसके लिए पृथक् उपासना गृह, वेष-भूषा स्थान वाली मर्यादाओं में भी छूट रखी गयी है । पवित्रता के आधार का परित्याग तो नहीं किया जाता पर स्वच्छता पूर्वक कहीं भी किसी भी समय बैठकर कोई भी मंत्र लेखन साधना वैसी ही शास्त्र सम्मत और फलप्रद बताई गयी है ।

मानवो लभते सिद्धि कारणाद्विजपस्यवे ।
जपनो मन्त्र लेखस्य महत्वं तु विशिष्यते ।।

अर्थात्-जप करने से मनुष्यों को सिद्धि प्राप्त होती है किन्तु जप से भी मन्त्र लेखन का विशेष महत्त्व है ।

यज्ञात्प्राण स्थितिमंत्रे जपन्मंत्रस्यजागृति ।
अति प्रकाशवांश्चैव, मन्त्रोभवतिलेखनात् ।।

अर्थ-यज्ञ से मन्त्रों में प्राण आते हैं, जप से मंत्र जाग्रत होता है और लेखन से मंत्र की शक्ति आत्मा में प्रकाशित होती है ।

सिद्धेमार्गो अनेकस्यु साधनायास्तु सिद्धये ।
मंत्रणांलेखनं चैव तत्र श्रेष्ठं विशेषतः ।।

साधना से सिद्धि के अनेक मार्ग हैं इसमें भी मंत्र लेखन ही विशेष श्रेष्ठ है ।

श्रद्धया यदि वै शुद्धं क्रियतंमंत्र लेखनम् ।
फल तर्हि भवेतस्यजपात् दशाः गुणाधिकम् ।।

अर्थ-यदि श्रद्धा पूर्वक शुद्ध मंत्र लिखे जायें तो जप से दस गुना फल देते हैं ।

गायत्री मंत्र लेखस्य विधानाच्छ्रद्धयाऽन्वहम् ।
सम्प्रसीदति गायत्री वेद माता हि साधके ।।

प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक गायत्री मंत्र के लिखने से वेदमाता गायत्री साधक पर अति प्रसन्न होती है ।

उपर्युक्त शास्त्र वचनों के आधार पर गायत्री मंत्र लेखन एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधना विधि है । इसमें स्त्री, पुरुष, बाल, वृद्ध सभी प्रसन्नतापूर्वक भाग ले सकते हैं । इसमें कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं है । जब भी समय मिले, मंत्र लेखन किया जा सकता है । जप की अपेक्षा मंत्र लेखन पुण्य दस गुना अधिक माना गया है । इस प्रकार २४ हजार जप के अनुष्ठान की भाँति ही २४ सौ मंत्र लेखन का एक अनुष्ठान माना जाता है ।

मंत्र जप के समय हाथ की माला के मनके फिराने वाली उँगलियाँ और उच्चारण करने वाली जिह्वा ही प्रयुक्त होती है किन्तु मन्त्र लेखन में हाथ, आँख, मन, मस्तिष्क आदि अवयव व्यस्त रहने से चित्त वृत्तियाँ अधिक एकाग्र रहती हैं तथा मन भटकने की सम्भावनायें अपेक्षाकृत कम होती हैं । मन को वश में करके चित्त को एकाग्र करके मंत्रलेखन किया जाय तो अनुपम लाभ मिलता है । इसी कारण मंत्र लेखन को बहुत महत्व मिला है ।

मंत्र लेखन के लिए गायत्री तपोभूमि, मथुरा द्वारा १००० मंत्र लेखन की सुन्दर पुस्तिकाएँ विशेष रूप से तैयार कराई गयी हैं । सस्ते मूल्य की यह पुस्तकायें वहाँ से मँगाई जा सकती हैं । या फिर बाजार में मिलने वाली कापियों का प्रयोग भी किया जा सकता है । गायत्री तपोभूमि से एक या दो पुस्तिकायें मँगाने में डाक-खर्च अधिक लगता है । अतएव ऐसे कई लोग मिलकर इकट्ठे पच्चीस-पचास प्रतियाँ मँगायें । यज्ञायोजकों को भी अपेक्षित संख्या में मंत्र लेखन पुस्तिकायें स्वयं मँगाकर मंत्र साधना के इच्छुक भागीदारों को वितरित करनी चाहिए ।

मंत्र लिखी पुस्तिकायें प्राण प्रतिष्ठा हुई मूर्ति की तरह हैं जिन्हें किसी भी अपवित्र स्थान में नहीं फेंक देना चाहिए । यह न केवल श्रद्धा का अपमान है, अपितु एक प्रकार की उपेक्षा भी है । प्राण प्रतिष्ठित मूर्तियों को भी विधिवत् पवित्र तीर्थ स्थलों में प्रवाहित करने का विधान है । वही सम्मान इन पुस्तिकाओं को दिया जाता है । जिनके यहाँ इन्हें स्थापित करने के उपयुक्त पवित्र स्थान न हों यह पुस्तिकायें गायत्री तपोभूमि मथुरा भेज देना चाहिए । वहाँ इन मंत्र लेखनों का प्रतिदिन प्रातः सायं विधिवत् आरती पूजन सम्पन्न करने की व्यवस्था है ।

मंत्र लेखन साधना में जप की अपेक्षा कुछ सुविधा रहती है । इसमें षट्कर्म आदि नहीं करने पड़ते । किये जायें तो लाभ विशेष होता है, किन्तु किसी भी स्वच्छ स्थान पर हाथ मुँह धोकर, धरती पर तखत या मेज-कुर्सी पर बैठ कर भी मंत्र लेखन का क्रम चलाया जा सकता है । स्थूल रूप कुछ भी बने पर किया जाना चाहिए परिपूर्ण श्रद्धा के साथ । पूजा स्थली पर आसन पर बैठ कर मंत्र लेखन जप की तरह करना सबसे अच्छा है । मंत्र लेखन की कॉपी की तरह यदि उस कार्य के

लिए कलम भी पूजा उपकरण की तरह अलग रखी जाय तो अच्छा है । सामान्य क्रम भी लाभकारी तो होता ही है ।

संक्षेप में गायत्री मंत्र लेखन के नियम निम्न प्रकार हैं –

१. गायत्री मंत्र लेखन करते समय गायत्री मंत्र के अर्थ का चिन्तन करना चाहिए ।

२.मंत्र लेखन में शीघ्रता नहीं करनी चाहिए ।

३.स्पष्ट व शुद्ध मंत्र लेखन करना चाहिए ।

४.मंत्र लेखन पुस्तिका को स्वच्छता में रखना चाहिए । साथ ही उपयुक्त स्थान पर ही रखना चाहिए ।

५.मंत्र लेखन किसी भी समय किसी भी स्थिति में व्यस्त एवं अस्वस्थ व्यक्ति भी कर सकते हैं ।

गायत्री मंत्र लेखन से लाभ–

१. मंत्र लेखन में हाथ, मन, आँख एवं मस्तिष्क रम जाते हैं । जिससे चित्त एकाग्र हो जाता है और एकाग्रता बढ़ती चली जाती है ।

२. मंत्र लेखन में भाव चिन्तन से मन की तन्मयता पैदा होती है इससे मन की उच्छ्रंखलता समाप्त होकर उसे वशवर्ती बनाने की क्षमता बढ़ती है । इससे आध्यात्मिक एवं भौतिक कार्यों में व्यवस्था व सफलता की सम्भावना बढ़ती है ।

३. मंत्र के माध्यम से ईश्वर के असंख्य आघात होने से मन पर चिर स्थाई आध्यात्मिक संस्कार जम जाते हैं जिनसे साधना में प्रगति व सफलता की सम्भावना सुनिश्चित होती जाती है ।

४. जिस स्थान पर नियमित मंत्र लेखन किया जाता है उस स्थान पर साधक के श्रम और चिन्तन के समन्वय से उत्पन्न सूक्ष्म शक्ति के प्रभाव से एक दिव्य वातावरण पैदा हो जाता है जो साधना के क्षेत्र में सफलता का सेतु सिद्ध होता है ।

५. मानसिक अशान्ति चिन्तायें मिट कर शान्ति का द्वार स्थायी रूप से खुलता है ।

६. मंत्र योग का यह प्रकार मंत्र जप की अपेक्षा सुगम है । इससे मंत्र सिद्धि में अग्रसर होने में सफलता मिलती है ।

७. इससे ध्यान करने का अभ्यास सुगम हो जाता है ।

८. मंत्र लेखन का महत्त्व बहुत है । इसे जप की तुलना में दस गुना अधिक पुण्य फलदायक माना गया है ।

साधारण कापी और साधारण कलम स्याही से गायत्री मंत्र लिखने का नियम उसी प्रकार बनाया जा सकता है जैसा कि दैनिक जप एवं अनुष्ठान का व्रत लिया जाता है । सरलता यह है कि नियम समय पर–नियत मात्रा में करने का उसमें बन्धन नहीं है और न यही नियम है कि इसे स्नान करने के उपरान्त ही किया जाय । इन सरलताओं के कारण कोई भी व्यक्ति अत्यन्त सरलता पूर्वक इस साधना को करता रह सकता है ।

यों विशिष्टता का समावेश तो हर कार्य में किया जा सकता है । भोजन करना यों एक दैनिक जीवन की सामान्य क्रिया है पर यदि उसी में उच्च स्तरीय उत्कृष्टता का समावेश कर दिया जाय तो पिपल्लाद-कणाद आदि की तरह उसे भी एक तप साधन बनाया जा सकता है और आहार साधना करते रहने भर से भी उच्च मन, उच्च अन्तःकरण प्राप्त करते हुए आत्मिक प्रगति की उच्चतम स्थिति तक पहुँचा जा सकता है । ब्रह्मचर्य का स्तर जब जननेन्द्रिय संयम से ऊँचा उठकर नेत्र और मस्तिष्क क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो जाता है तो वह साधना भी परब्रह्म के मिलन तक पहुँचा देती है । यदि कुदृष्टि और अश्लील चिन्तन मिट सके और बौद्धिक एवं भावनात्मक ब्रह्मचर्य की अन्तःकरणों में प्राण प्रतिष्ठा हो सके तो वह तप भी परम सिद्धिदायक हो सकता है । ठीक इसी प्रकार गायत्री मंत्र लेखन में भी उत्कृष्टता का समावेश हो सकता है और उसे भी सामान्य से असामान्य बनाकर असाधारण फलदायक बनाया जा सकता है ।

अनार की लकड़ी से बनी कलम का, रक्त चंदन में केशर मिलाकर बनाई गई स्याही का, भोजपत्र अथवा हाथ के बने कागज का विशेष महत्त्व माना गया है । स्याही में गंगाजल का प्रयोग हो । लिखते समय मौन रहा जाय । पद्मासन या सिद्धासन पर बैठा जाय । स्नान एवं शुद्ध वस्त्र धारण का ध्यान रखा जाय । दिन में लिखना हो तो सूर्य के सम्मुख, रात्रि में लिखना हो तो गौ घृत से जलने वाले दीपक के प्रकाश में लिखा जाय । उपवास–ब्रह्मचर्य आदि तपश्चर्याओं का समावेश

हो । ऐसे-ऐसे विशेष नियमों का पालन करते हुए मंत्र लेखन की साधना भी तप साधनों के साथ किये गये पुरश्चरणों की गणना में ही आते हैं ।

यह उच्चस्तरीय विधान की चर्चा हुई । प्रसंग सर्व-साधारण के लिए अति सरल साधना के रूप में गायत्री मंत्र लेखन का था । उस कसौटी पर इसे सर्वसुलभ कहा जा सकता है । इसमें किसी प्रकार का प्राविधान न होना एक बहुत बड़ी बात है । कई व्यक्ति उपासना के इच्छुक होते हुए भी स्नान, स्थान, समय, विधान आदि में कठिनाई अनुभव करते हैं और असमंजस के कारण जो कर सकते थे उतना भी नहीं कर पाते । ऐसे लोगों के लिए मंत्र लेखन साधना ही सबसे सुगम और सर्वथा असमंजस रहित सिद्ध होती है । इसे किसी भी सुविधा के समय में किया जा सकता है । शुद्धता का यथा संभव ध्यान तो रखा ही जाना चाहिए पर वैसा न बन पड़े तो इसमें किसी अशुभ आशंका की आवश्यकता नहीं है । बीमार लोग उसे चारपाई पर बैठे-बैठे भी करते रह सकते हैं । रोग शैय्या पर पड़े-पड़े कितने ही लोग मंत्र लेखन अनुष्ठान पूरे कर लेते हैं और उसके आत्मिक तथा सांसारिक सत्परिणाम प्राप्त करते हैं ।

जप साधना में मंत्रोच्चार शुद्ध होना आवश्यक है । अनुष्ठानों में मार्गदर्शक एवं संरक्षक की आवश्यकता पड़ती है । साधना में कही हुई त्रुटियों का निराकरण करने के लिए या तो स्वयं तर्पण मार्जन करना पड़ता है या फिर दोष परिमार्जन का उत्तरदायित्व किसी उपयुक्त संरक्षक पर छोड़ना पड़ता है । इन्हीं कारणों से गायत्री की विशिष्ट एवं सफल साधना के लिए तपस्वी एवं अनुभवी गुरु की तलाश करनी पड़ती है । वह व्यवस्था न बन पड़े तो अभीष्ट सत्परिणाम में भी कमी रह जाती है । मंत्र लेखन में वैसी कोई आवश्यकता नहीं है । उसका शुभारम्भ बिना किसी मार्गदर्शक या गुरु की सहायता के स्वेच्छापूर्वक किया जा सकता है । इसमें नर-नारी, बाल-वृद्ध, रोगी-निरोग, जाति, वंश जैसा कोई बन्धन उन रूढ़िवादी लोगों की दृष्टि से भी नहीं हैं जो इस महामंत्र पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगाते हैं । विवेकशीलता की दृष्टि से तो गायत्री मंत्र मनुष्य मात्र का है और उसकी साधना सभी के लिए उपयुक्त है ।

उच्चारण की शुद्धता में स्वर तन्त्र का सही होना और किस अक्षर को किस प्रकार बोला जाय यह अभ्यास करना आवश्यक है । दीक्षा में यही शुद्धि कराई जाती है । उच्चारण की शुद्धि का अभ्यास कराना साधना गुरु का उत्तरदायित्व है । उसके लिए उपयुक्त अभ्यासी और अनुभवी गुरु ढूंढ़ना पड़ता है । किन्तु मंत्र लेखन में उस प्रकार की आवश्यकता नहीं है । लेखन में अक्षर शुद्ध हैं या नहीं यह तो ध्यान रखना पड़ता है । इसके अतिरिक्त और कोई झंझट उसमें नहीं है । अक्षरों की अशुद्धि न होने पावे इसके लिए छपी मंत्र लेखन कापियों में ऊपर की पंक्ति सही छपी होती है । उसकी नकल करते चलने में अक्षरों की अशुद्धि की भी आशंका नहीं रह जाती ।

मंत्र लेखन में सबसे बड़ी अच्छाई यह है कि उसमें सब ओर से ध्यान एकाग्र रहने की व्यवस्था रहने से अधिक लाभ मिलता है । जप में केवल जिह्वा का ही उपयोग होता है और यदि माला जपनी है तो उंगलियों को काम करना होता है । ध्यान साथ-साथ न चल रहा हो तो मन इधर-उधर भटकने लगता है । किन्तु मंत्र लेखन से सहज ही कई इन्द्रियों का संयम निग्रह बन पड़ता है । हाथों से लिखना पड़ता है । आंखें लेखन पर टिकी रहती हैं । मस्तिष्क का उपयोग भी इस क्रिया में होता है । ध्यान न रहेगा तो पंक्तियाँ टेढ़ी एवं अक्षर सघन विरत एवं नीचे-ऊँचे, छोटे-बड़े होने का डर रहेगा । ध्यान न टिकेगा तो मंत्र अशुद्ध लिखा जाने लगेगा । अक्षर कुछ के कुछ बनने लगेंगे । लेखन में सहज ही ध्यान का समावेश अधिक होने लगता है । जप और ध्यान के समन्वय से ही उपासना का समुचित फल मिलने की बात कही गई है । यह प्रयोजन मंत्र लिखने में अनायास ही पूरा होता रहता है ।

मंत्र लेखन की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जिस स्थान पर यह कापियाँ स्थापित की जाती हैं जहाँ इनका नित्य पूजन होता है । वह स्थान एक विशेष आध्यात्म-शक्ति से सम्पन्न बन जाता है । गायत्री तपोभूमि में १२५ करोड़ हस्तलिखित गायत्री मन्त्र रखे हुए हैं, यह हजारों वर्षों तक सुसज्जित रूप से सुरक्षित रखे रहेंगे । इनका नित्य पूजन होता रहेगा । इन मंत्रों को प्रति वर्ष लाखों तीर्थ यात्री देखते और प्रकाश एवं प्रेरणा प्राप्त करते रहेंगे । इन मन्त्र लेखन कापियों के पन्नों में साधकों की आंतरिक श्रद्धा एवं तपस्या लिपटी रहती है । इसलिए वे कागज सूक्ष्म सतोगुणी शक्ति सम्पन्न एवं प्रकाश पुंज बनकर जहाँ उन्हें स्थापित किया जाय, उस

स्थान के वातावरण को बड़ा ही प्रभावशाली एवं शुद्ध बनाते हैं । उस स्थापना स्थान में प्रवेश करने वाला, निवास करने वाला व्यक्ति तुरन्त ही एक असाधारण शक्ति उसी प्रकार प्राप्त करता है जैसे गर्मी से सताया हुआ व्यक्ति बर्फखाने में घुसकर और सर्दी से काँपता हुआ व्यक्ति जलती हुई भट्ठी के पास बैठकर प्रसन्न होता है ।

गायत्री तपोभूमि में जो लोग गये हैं और वहाँ ठहरे हैं, उन्हें वहाँ के सूक्ष्म वातावरण की पवित्रता एवं दिव्य प्रभाव शक्ति का अनुभव निश्चय ही होता है । इसका बहुत कुछ श्रेय १२५ करोड़ गायत्री मंत्र लेखन की स्थापना को है । साधारण जप से भी लाभ है पर मंत्र लेखन की यह विशेषता सब से बड़ी है कि जहाँ उनकी स्थापना की जाती है, उस स्थान का वातावरण चिरकाल तक आत्म-शक्ति से प्रभावित रहता है और उसका उपयोग अनेकों लोगों की मानसिक स्थिति को सुधारने में होता रहता है ।

गायत्री मंत्र लेखन के नियम बहुत सरल हैं, इसमें किसी प्रकार का कोई बन्धन या प्रतिबन्ध नहीं है । कोई भी व्यक्ति, बाल, वृद्ध, स्त्री-पुरुष इस पुनीत साधना को कर सकता है । स्कूल साइज की कापी पर स्याही से शुद्धता पूर्वक अपनी सुविधा के समय में मंत्र लिखे जा सकते हैं । कम से कम २४०० मंत्र लिखने चाहिए । अधिक कितने ही लिखे जा सकते हैं । प्रतिदिन नियत समय और नियत संख्या में लेखन कार्य नियमित रूप से किया जाय तो अधिक उत्तम है ।

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो
देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।

यही शुद्ध मंत्र लिखना चाहिए ।

यदि २४०० ही मंत्र लिखने हैं तो पूरे होने पर और यदि मंत्र लेखन साधना को नियमित चलाना है तो आश्विन और चैत्र की नवरात्रियों तक जितने मंत्र लिख जायें उतने मथुरा भेज देने चाहिए । मथुरा में गायत्री संस्था की जो दिव्य गायत्री तपोभूमि है उसमें हस्तलिखित मन्त्रों की गायत्री मन्दिर में स्थापना कर दी जाती है और उनका नित्य पूजन होता रहता है । इनका दर्शन करके प्रतिवर्ष लाखों यात्री प्रसन्न्ता तथा प्रेरणा प्राप्त करते हैं ।

गायत्री चालीसा पाठ अनुष्ठान

आत्मिक विकास में हर साधक की अलग-अलग गति होती है । एक ही मन, एक ही साधना पद्धति और एक ही गुरु का अवलम्बन लेने पर भी विभिन्न साधकों की प्रगति अलग-अलग देखी जाती है । ऐसा क्यों ? मनीषी इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—अध्यात्म क्षेत्र में श्रद्धा की शक्ति ही सर्वोपरि है । आत्मिक क्षेत्र में श्रद्धा ही अपनी सघनता या विरलता के आधार पर अपने चमत्कार प्रस्तुत करती है ।

प्रातःकाल सूर्योदय के समय गायत्री मंत्र की एक माला का पाठ करें वातावरण संशोधन का अनुष्ठान पहले से ही चल रहा है । उसकी पूर्ति ठीक प्रकार से हो रही है । कुछ छोड़ बैठते हैं तो कुछ नये आ जाते हैं । इस प्रकार प्रतिदिन २४ करोड़ जप करने का क्रम प्रज्ञा परिजनों द्वारा ठीक प्रकर चलाया जा रहा है । आशा की जानी चाहिए कि यह उपक्रम युग सन्धि के शेष १५ वर्षों में भी ठीक प्रकार चलता रहेगा । जिस संगठन के २४ लाख सदस्य हों और वे अपना न्यूनतम कर्त्तव्य निवाहें, उस निर्वाह का लेखा-जोखा ठीक तरह लिया जाता रहे, कमीवेशी को पूरा करते रहने का नियन्त्रण रहे तो व्यक्ति के लिए छोटी किन्तु समाज के लिए अतिशय उच्चस्तरीय प्रभाव उत्पन्न करने वाली प्रक्रिया का सही रूप में चलते रहना कठिन क्यों होना चाहिए ?

हीरक जयन्ती में उपर्युक्त अनुष्ठान के समतुल्य ही एक दूसरा अनुष्ठान प्रारम्भ किया गया है, वह है 'गायत्री चालीसा पाठ' इसमें समय का भी बन्धन नहीं है । अनेकों भावनाशील ऐसे हैं जो साधना तो करना चाहते हैं पर प्रातःकाल सूर्योदय के समय का निर्वाह नहीं कर पाते । जिन लोगों की नौकरी रात में ड्यूटी देने की है ऐसे लोगों की कमी नहीं । वे काम पर से लौटते ही सो जाते हैं और नींद पूरी करके देर में उठते हैं ।

जिन घरों में देर में रोटी खाने देर तक रेडियो सुनने, टी0 वी0 देखने का प्रचलन है वे भी सबेरे देर तक सोते हैं । बच्चों को नींद देर तक आती है और जगाने पर कुड़कुड़ाते हुए जगते हैं । जगने पर नित्य कर्म की बात पहली है । पूजा-पाठ की दूसरी ।

ऐसे लोगों के लिए गायत्री चालीसा पाठ का क्रम सर्व सुलभ समझते हुए किया गया है । गायत्री मंत्र का उच्चारण तो शुद्ध ही होना चाहिए । इसके लिए शिक्षित होना आवश्यक है । अपने देश में दो-तिहाई लोग बिना पढ़े हैं । वे गायत्री मंत्र का जप कैसे कर पायें ? ऐसे लोगों को भी इन महान उपासना में साथ लेकर चलने की बात सोची गई है । वह माध्यम है–गायत्री चालीसा का पाठ । इसे किसी भी समय पढ़ा जा सकता है । यथासम्भव जितनी शुद्धि रखी जा सके उतनी उत्तम है, पर उसके लिए कोई अनिवार्य प्रतिबन्ध नहीं हैं ।

जो नितान्त अशिक्षित हैं । उनके लिए यह तरीका उत्तम है कि एक शिक्षित व्यक्ति एक चौपाई पढ़े । दूसरे पास बैठे हुए बिना शिक्षित बालक, वृद्ध, महिलाएँ उसे दुहरायें । इस प्रकार शिक्षितों के साथ अशिक्षितों की साधना भी चल पड़ती है । कुछ दिनों में तो वह बिना शिक्षितों के भी मौखिक रूप से कण्ठस्थ हो जाता है ।

यदि इसके साथ वाद्य यन्त्रों का भी समावेश किया जा सके तो अच्छा खासा कीर्तन, भजन, संगीत हो जाता है और उससे सारे घर का वातावरण प्रतिध्वनित हो उठता है ।

गायत्री चालीसा का महत्त्व इसलिए भी अधिक है कि उसके सहारे पाठ करने वाले को माहात्म्य विदित होता है और श्रद्धा बढ़ती है । श्रद्धा ही साधना का प्राण है । जो कार्य जप से नहीं हो पाता वह इस माध्यम से पूरा हो जाता है ।

प्रस्तुत हीरक जयन्ती पर्व पर २४० लाख गायत्री चालीसा पाठ के युग-अनुष्ठान का शुभारम्भ किया गया है । घर-घर गायत्री चालीसा पहुँच सकें, इसके लिए उन्हें लागत मूल्य से भी कम प्रसाद रूप में केन्द्र से लिया जा सकता है । जहाँ भी कोई सम्मेलन आयोजन हो वहाँ धार्मिक प्रवृत्ति वालों को गायत्री चालीसा वितरण कर पुण्य लाभ अर्जित करना चाहिए । प्रज्ञायोग साधना का यह भी एक ऐसा पक्ष है जो व्यक्तिगत एवम् सामूहिक दोनों ही रूपों में सबके द्वारा अपनाया जाना चाहिए । इससे वातावरण भावनात्मक बनता है । श्रद्धा सघन होती है एवम् मनःस्थिति आध्यात्मिक ढांचे में ढलती जाती है ।

लघु गायत्री

उपेक्षा या लापरवाही से जैसे कुछ उल्टा सीधा, गलत-सलत मंत्र याद हो जाय उसे ही जप उठना ठीक नहीं । मंत्र का शुद्ध उच्चारण याद होना चाहिए । इस अंक के प्रारम्भ में गायत्री मंत्र अंकित है उसे शुद्धरूप से कंठाग्र कर लेना चाहिए । उच्चारण शुद्ध हुआ या नहीं इसकी परीक्षा किसी विज्ञ पुरुष से करा लेनी चाहिए ।

चौबीस अक्षर वाली गायत्री के आरम्भ में प्रणव और भूः भुवः स्वः, यह तीन व्याहृतियां लगाई जाती हैं । पर तंत्र ग्रन्थों में विविध साधनाओं के लिए अनेक प्रणव और तीन, पांच या सात व्याहृतियां लगाने का भी विधान है । भूः, भुवः स्वः, तपः महः, जनः, सत्यम् यह सात व्याहृतियाँ भी किसी-किसी प्रयोजन के लिए गायत्री मंत्र से पूर्व जोड़ी जाती हैं और ॐ का भी अधिक संख्या में प्रयोग किया जाता है । पर यह तान्त्रिक साधना का विषय है । इसलिए उसकी चर्चा करना वहां अप्रासंगिक होगा । पाठकों को साधारण प्रयोजन के लिए एक प्रणव और तीन व्याहृतियों (ॐ भूर्भुवः स्वः) के साथ चौबीस अक्षर वाली गायत्री का शुद्ध उच्चारण के साथ जप करना चाहिए । जप इस प्रकार होना चाहिए कि होठ, जिह्वा या कंठ की क्रिया तो होती रहे पर पास में बैठा हुआ मनुष्य उसे भली प्रकार सुन या समझ न सके ।

कोई-कोई मनुष्य ऐसे होते हैं जो गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से द्विज होते हुए भी शिक्षा में पिछड़े होते हैं, कइयों की जिह्वा तथा स्वर प्रणाली में ऐसे दोष होते हैं जिनके कारण शुद्ध उच्चारण कठिन होता है ऐसी परिस्थितियों के कारण यदि शुद्ध उच्चारण सहित मंत्र जप न हो सकता हो तो केवल प्रणव और तीन व्याहृतियों का 'ॐ भूर्भुवः स्वः' इतने मात्र मंत्र का जप किया जा सकता है । इसे पंचाक्षरी मंत्र या लघु गायत्री कहते हैं ।

जप विधिपूर्वक, स्नान शुद्धि आदि से भली प्रकार साधन न किया जा सके, जब सूतक चल रहा हो या बीमारी यात्रा, आपत्ति आदि के असाधारण अवसरों पर यथा क्रम उपासना न हो सके, शुद्धि और स्वस्थता की अवस्था न हो सके, ऐसी स्थिति में लघु गायत्री से काम चलाया जा सकता है । स्त्रियों के लिए पूरा मंत्र शुद्ध

रूप से याद करना और आवश्यक शुद्धता रखना प्रायः कठिन होता है वे लघु गायत्री के जप से लाभ उठा सकती हैं ।

इस पंचाक्षरी लघु गायत्री से ब्रह्म सन्ध्या, सवालक्ष अनुष्ठान, प्रायश्चित, शक्ति स्मरण आदि हो सकते हैं । वृहद् गायत्री और लघु गायत्री के फल में कुछ न्यूनाधिकता तो है ही अन्यथा वृहद् गायत्री की आवश्यकता ही क्यों पड़ती ? पर जिनके लिए पूरी गायत्री का साधन यथा विधि करना कठिन है उनके लिए लघु गायत्री एक बड़ा ही उत्तम मार्ग है । (१) सुगमता से याद हो जाना (२) थोड़े समय में जप पूरा हो जाना (३) पूर्ण शुद्धि और पूर्ण विधि विधान में थोड़ी छूट रहने की भी गुंजायश—यह तीन विशेषताएं कम महत्त्व की नहीं हैं । इनके कारण छोटे बालकों को भी स्नान कराके लघु गायत्री का जप कराया जा सकता है और सामूहिक रूप से उसका कीर्तन किया जा सकता है । कीर्तन के लिए एक ध्यान लहरी इस प्रकार बड़ी मधुर बन जाती है ।

"ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ ॐ ।
ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ" ।।

न कुछ से, कुछ अच्छा—

जो सज्जन नियमित्त साधना नहीं कर सकते, किसी विधि विधान का नियमित रूप से पालन करना उनसे नहीं बन पड़ता । उनसे हमारी प्रार्थना है कि सर्वथा साधना विमुख होने की अपेक्षा वे मन ही मन (बिना होठ और जिव्हा हिलाए) उंगली के पोरुओं पर संख्या की गणना करते हुए जितना हो सके गायत्री का जप कर लिया करें । इसके लिए किसी स्थान, माला, आसन आदि की आवश्यकता नहीं है । जब अवसर मिले तभी जप आरम्भ कर दें और साथ ही माता के ज्योतिमान स्वरूप का हृदय में या मस्तिष्क के मध्य भाग में ध्यान करते रहें । इससे भी उन्हें बहुत शान्ति मिलेगी और दिन प्रतिदिन इस मार्ग में उनकी श्रद्धा बढ़ेगी ।

नित्य पाठ

नित्य पाठ के लिए "वेद शास्त्रों का निचोड़ गायत्री" बड़ी ही महत्त्वपूर्ण पुस्तक है । उसमें गायत्री गीता, गायत्री स्मृति, गायत्री अष्टक, गायत्री स्तवन, गायत्री चालीसा और गायत्री की आरती संकलित हैं । आध घण्टे में इस सबका पाठ हो सकता है । जिन्हें इतना भी अवकाश न हो वे केवल गायत्री-गीता या गायत्री-चालीसा का पाठ करके भी काम चला सकते हैं । इस नित्य पाठ का भी बड़ा माहात्म्य है । नित्य की साधना में जप, ध्यान के अतिरिक्त पाठ करना भी आवश्यक है ।

सर्व सुलभ प्रारम्भ

नौ दिन में २४ हजार का आरम्भिक अनुष्ठान बहुत ही सुगम है । प्रतिदिन २६६७ मंत्र जपने होते हैं । इनकी २५ मालाएं होती हैं । यह ढाई घण्टे में जपी जा सकती हैं । नौ दिन तक प्रातःकाल ढाई घण्टा समय निकाल लेना कुछ कठिन काम नहीं हैं । एक समय में इतना समय न मिल सके तो प्रातः डेढ़ घण्टा और सायं एक घण्टा निकाला जा सकता है । आरम्भ में नौ दिन का छोटा अनुष्ठान करके फिर नियमित गायत्री उपासना कर देना गायत्री साधना का सर्व सुलभ मार्ग है ।

यह दिव्य प्रसाद औरों को भी बाँटिये

पुण्य कर्मों के साथ प्रसाद बाँटना एक आवश्यक धर्मकृत्य माना गया है । सत्यनारायण की कथा में अन्त में पंचामृत, पंजीरी बाँटी जाती है, यज्ञ के अन्त में उपस्थित व्यक्तियों को हलुआ या अन्य मिष्ठान बाँटते हैं । गीता-मंगल, पूजा-कीर्तन आदि के पश्चात् प्रसाद बाँटा जाता है, देवता पीर-मुरीद आदि की प्रसन्नता के लिये बतासे, रेबड़ी या अन्य प्रसाद बाँटा जाता है । मन्दिरों में जहाँ अधिक भीड़ होती है और अधिक धन खर्चने को नहीं होता वहाँ जल में तुलसी पत्र डालकर चरणामृत को ही प्रसाद के रूप में बाँटते हैं । तात्पर्य यह है कि शुभ कार्यों के पश्चात् कोई न कोई प्रसाद बाँटना आवश्यक होता है । इसका कारण यह है कि शुभ कार्य के साथ जो शुभ वातावरण पैदा होता है उसे खाद्य पदार्थों के साथ सम्बद्ध करके उपस्थित व्यक्तियों को देते हैं ताकि वे भी उन शुभ तत्त्वों को ग्रहण करके आत्मसात् कर सकें । दूसरी बात यह है कि उस प्रसाद के साथ दिव्य तत्त्वों के प्रति श्रद्धा की धारणा होती है और मधुर पदार्थ को ग्रहण करते समय प्रसन्नता का आविर्भाव होता है । इन दोनों तत्त्वों की अभिवृद्धि से प्रसाद ग्रहण करने वाला आध्यात्म की ओर आकर्षित होता है और यह आकर्षण अन्ततः उसके लिए सर्वतोमुखी कल्याण को प्राप्त कराने वाला सिद्ध होता है । यह परम्परा एक से दूसरे में, दूसरे से तीसरे में चलती रहे और धर्म-वृद्धि का यह क्रम बराबर बढ़ता रहे, इस लाभ को ध्यान में रखते

हुए आध्यात्म विद्या के आचार्यों ने यह आदेश किया है कि प्रत्येक शुभ कार्य के अन्त में प्रसाद बाँटना आवश्यक है । विवाह आदि संस्कारों के उपरान्त उत्सव, कथा, व्रत, उपवास आदि के उपरान्त ब्रह्मभोजों तथा प्रीतिभोजों का आयोजन किया जाता है । शास्त्रों में ऐसे आदेश मिलते हैं जिनमें कहा गया है कि अन्त में प्रसाद वितरण न करने से यज्ञ कर्म निष्फल हो जाता है । इसका तात्पर्य प्रसाद के महत्त्व की ओर लोगों को सावधान करने का है ।

गायत्री साधना भी एक यज्ञ है । यह असाधारण यज्ञ है । अग्नि में सामिग्री की आहुति देना स्थूल कर्मकांड है पर आत्मा में परमात्मा की स्थापना, सूक्ष्म यज्ञ है । जिसकी महत्ता स्थूल अग्निहोत्र की अपेक्षा अनेक गुनी अधिक है । इतने महान् धर्मकृत के साथ-साथ प्रसाद का वितरण भी ऐसा ही होना चाहिए जो उसकी महत्ता के अनुरूप हो । रेबड़ी, बतासे, लड्डू या हलुआ पूड़ी बाँट देने मात्र से यह कार्य पूरा नहीं हो सकता । गायत्री का प्रसाद तो ऐसा होना चाहिए, जिसे ग्रहण करने वाले को स्वर्गीय स्वाद मिले, जिसे खाकर उसकी आत्मा तृप्त हो जाय । गायत्री ब्राह्मी शक्ति है, उसका प्रसाद भी ब्राह्मी प्रसाद ही होना चाहिए । तभी वह उपयुक्त गौरव का कार्य होगा ।

मिठाई आदि के प्रसादों का स्थूल भाग मल बनकर दूसरे दिन विसर्जित हो जाता है और उसका सूक्ष्म भाग भी यदि उसे अधिक पोषण न मिले तो अपना प्रभाव खो देता है, इतने हलके दर्जे की स्थूल वस्तुओं को गायत्री का प्रसाद नहीं बनाया जा सकता उसके लिए तो कोई गहरा आनन्द देने वाली वस्तु चाहिए । इस प्रकार का प्रसाद हो सकता है—ब्रह्म दान, ब्राह्मी स्थिति की ओर चलाने का आकर्षण, प्रोत्साहन । जिस व्यक्ति को ब्रह्म प्रसाद देना है उसे आत्म-कल्याण की दशा में आकर्षित करना और उस ओर चलने के लिए उसे प्रोत्साहन करना सही ब्रह्म प्रसाद है ।

यह प्रकट है कि भौतिक और आत्मिक आनन्दों के समस्त स्रोत मानव प्राणी के अन्तःकरण में छिपे हुए हैं । सम्पत्तियाँ संसार में बाहर नहीं हैं, बाहर तो पत्थर, धातुओं के टुकड़े और निर्जीव पदार्थ, भरे पड़े हैं, सम्पत्तियों के समस्त कोष आत्मा में सन्निहित हैं, जिनके दर्शन मात्र से मनुष्य को तृप्ति मिल जाती है और उनके उपभोग करने पर आनन्द का पारावार नहीं रहता । उन आनन्द-भण्डारों को खोलने की कुंजी आध्यात्मिक साधनों में है और उन समस्त साधनाओं में गायत्री-साधन सर्वश्रेष्ठ है । यह श्रेष्ठता अतुलनीय है, असाधारण है, उसकी सिद्धियों और चमत्कारों का कोई पारावार नहीं । ऐसी श्रेष्ठ साधना के मार्ग पर यदि किसी को आकर्षित किया जाय, प्रोत्साहित किया जाय और जुटा दिया जाय तो इससे बढ़कर उस व्यक्ति का और कोई उपकार नहीं हो सकता । जैसे-जैसे उसके अन्दर सात्त्विक तत्त्वों की वृद्धि होगी, वैसे-वैसे उसके विचार और कार्य पुण्यमय होते जावेंगे और उसका प्रभाव दूसरों पर पड़ने से वे भी सन्मार्ग का अवलम्बन करेंगे, यह शृंखला जैसे-जैसे बढ़ेगी वैसे ही वैसे संसार में सुख-शान्ति की, पुण्य की, मात्रा बढ़ेगी और इस धर्म के पुण्य फल में उस व्यक्ति का भी भाग होगा, जिसने किसी को आत्म-मार्ग से प्रोत्साहित किया था । जिस प्रकार किसी राजा को एक बार प्रसन्न कर देने से जागीर मिल जाती है और जागीर की आमदनी सदा ही आती रहती है, इसी प्रकार एक व्यक्ति को आत्म-कल्याण के मार्ग में लगा देने से, उसे लगा देने वाले को, उसके पुण्य फलों में से एक भाग सदा ही मिलता है । इस प्रकार वह निश्चय ही अक्षय पुण्य का भागीदार बन जाता है ।

जो व्यक्ति गायत्री की साधना करे उसे प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि मैं भगवती को प्रसन्न करने के लिए उसका महाप्रसाद, ब्रह्म प्रसाद अवश्य वितरण करूँगा । यह वितरण इस प्रकार होना चाहिए कि अपने परिचितों में अपरिचितों में ऐसे व्यक्ति तलाश करने चाहिए जिनमें पहले से कुछ शुभ संस्कारों के बीज मौजूद हों । उन्हें धीरे-धीरे गायत्री का माहात्म्य, रहस्य, लाभ समझाते रहा जाय । जो लोग आध्यात्मिक उन्नति के महत्त्व को नहीं समझते उन्हें गायत्री से होने वाले भौतिक लाभों का सविस्तार वर्णन किया जाय, अखण्ड-ज्योति द्वारा प्रकाशित गायत्री साहित्य पढ़ाया जाय इस प्रकार उनकी रुचि को इस दिशा में मोड़ा जाय जिससे वे आरम्भ में भले ही सकाम भावना से सही वेदमाता का आश्रय ग्रहण करें, पीछे तो वे स्वयं ही इस महालाभ पर मुग्ध होकर छोड़ने का नाम न लेंगे । एक बार रास्ते पर डाल देने से गाड़ी अपने आप ठीक मार्ग पर चलती जाती है । जिन्हें किसी प्रकार एक बार गायत्री माता के अंचल की शीतल छाया में गोदी में बैठने का

आनन्द मिल गया, वे उसे जीवन भर छोड़ने का नाम भी नहीं लेंगे और सहज ही उनका आत्मकल्याण हो जायेगा ।

किसी व्यक्ति की मित्रता किसी श्रेष्ठ समर्थ प्रभावशाली व्यक्ति से करा देना उसके विकास के हजार मार्ग खोल देने से जितना लाभप्रद होता है । आदि शक्ति-वेदमाता से सच्चा सम्बन्ध स्थापित कराना, किसी भी जीव को सही दिशा प्रदान करना, किसी भी पुण्य परमार्थ से कम नहीं अधिक ही फलदायक होता है ।

माँ से सम्बन्ध जोड़ने का कार्य विवेकपूर्वक किया जाता है । किसी को पहलवान बनाना हो तो उससे प्रारम्भ में हल्के व्यायाम ही कराए जाते हैं । प्रारम्भ में सद्बुद्धि की अधिष्ठात्री देवी—गायत्री को छवि रूप में या मन्त्र रूप में संस्थापित करके उनके प्रति श्रद्धा भाव बढ़ाना भर पर्याप्त है पर अपना कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व उसके सामने बैठकर अथवा खड़े होकर ही ५—७ मंत्र जपें तथा माँ से अधिक निकटता का अवसर देने की प्रार्थना करें । जीवन में सही दिशा प्रदान करने का भाव भरा आह्वान करें । यह २—४ मिनट का क्रम भी एक अच्छी शुरुआत हो सकती है । बाद में क्रमशः व्यवस्थित उपासना क्रम में प्रवेश कराया जा सकता है ।

यह ब्रह्म प्रसाद अन्य साधारण स्थूल पदार्थों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है । आइये इस धन से नहीं, प्रयत्न से ही वितरण हो सकने वाले ब्रह्म प्रसाद को वितरण करके वेदमाता की कृपा प्राप्त कीजिए और अक्षय पुण्य के भागी बनिये ।

प्रज्ञा आलोक पाएँ भी—बाँटें भी

सूर्य का आलोक चन्द्रमा को प्राप्त होता है । चन्द्रमा उसे मात्र अपने लिए ही प्रयुक्त नहीं करता वरन् उपलब्ध आलोक को पृथ्वी के प्राणियों तक पहुँचाता और उन्हें रात्रि में चाँदनी तथा शीतलता से लाभान्वित होने का अवसर देता है । समुद्र के दिये अनुदानों को बादल स्वयं ही नहीं पचा जाते वरन् अनुदान में उपलब्ध उस सम्पदा को तृषित भूखण्डों पर बरसाते रहने में ही अपने सौभाग्य की सार्थकता समझते हैं । वृक्ष वनस्पतियों से लेकर नदी सरोवरों तक की यही परम्परा है कि ईश्वर प्रदत्त अनुग्रह को अपने तक सीमित न रखा जाय उन्हें अन्यान्यों के लिए वितरित करके आदान-प्रदान का क्रम जारी रखा जाय ।

परिवार की क्रम व्यवस्था इसी आधार पर चलती है कि कमाऊ व्यक्ति अपने पुरुषार्थ एवं कौशल से जो पाते हैं उसका लाभ सभी परिजनों को प्रदान करते हैं । जो कमाया उसे अपने लिए ही सीमित रखा जाय तो फिर परिवार की गाड़ी आगे ही न चल सकेगी । आश्रयदाता और आश्रितों के बीच आदान-प्रदान का उपक्रम ही वह आधार है जो उन्हें परस्पर जोड़ता और घनिष्ठ बनाता है । धुरी के टूट जाने पर पहियों का बिलग होना और गतिगमन रुक जाना स्वाभाविक है । अध्यात्म उपलब्धियों के सम्बन्ध में भी यही बात है । वे जिन्हें मिलें वे अन्यान्यों को वितरित करें इसी में उनकी सार्थकता है ।

गुरु अपने शिष्य को पढ़ाता है । शिष्ट बड़ा होने पर उस ज्ञान सम्पदा का लाभ अपने से छोटों को देता है । वे छोटे भी जब बड़े होते हैं तो उस उपार्जन से दूसरों को लाभान्वित करते हैं । बाप ने बेटे को पढ़ाया, बेटा, अपने बेटे को पढ़ाता है । माँ अपने बच्चों का भरण-पोषण करती है । वे बड़े होकर अपने बालकों का लालन-पालन करते हैं । यह सृष्टि-क्रम अध्यात्म क्षेत्र में भी समान रूप से लागू होता है । आध्यात्मिक उपलब्धियाँ जिन्हें मिलें वे उन्हें दूसरों को वितरित करने का प्रयत्न करें । अग्नि ने दीपक को प्रकाशित किया अब दीपक का उत्तरदायित्व यह है कि अपने क्षेत्र को प्रकाशित करे । जो मिला है उसे अपने तक सीमित-सुरक्षित रखे तो समझना चाहिए कि गति चक्र रुकता और उससे अहित ही अहित होता है । मध्यकाल में अति महत्त्वपूर्ण विधाओं को छिपाकर रखने की संकीर्णता पनपी फलतः उपयोगी ज्ञान का लोप हो गया । निष्णात व्यक्ति उन्हें अपने साथ ही लेकर मर गये । कृपणों का धन भूमि में गढ़ा रह जाता है और किसी के काम नहीं आता । सार्थकता उसी सम्पदा की है जिसका परिभ्रमण होता है और अनेकों को आजीविका उपार्जन का अवसर मिलता है ।

गायत्री ज्ञान के सम्बन्ध में भी यही नीति बरतनी चाहिए । यह आलोक जिन्हें भी उपलब्ध हो वे उससे स्वयं भी लाभान्वित हों और इसके लिए भी प्रयत्न करें

कि दूसरे भी उससे लाभ उठायें । किसान के खेत का उपार्जन उसी के घर में रखा नहीं रह जाता वरन् अन्य अनेकों की क्षुधा निवारण का निमित्त बनता है । उद्योग में जो उत्पादन होता है उससे मालिक भी लाभ उठाते हैं साथ ही दूसरों को भी उसकी सुविधा मिलती है । यह उदार सहकारिता ही प्रगति क्रम की आधारशिला है । जब हर क्षेत्र में यह उपक्रम चलता है तो अध्यात्म क्षेत्र में ही उसका अवरोध क्यों होना चाहिए ? साधकों को अपनी साधना परायणता का स्वाद दूसरों को क्यों नहीं चखाना चाहिए ?

प्राचीनकाल के ऋषि मनीषियों ने अपनी साधन तपश्चर्या से जो जो महान उपार्जन किया उससे समस्त जन समाज को लाभान्वित किया । इस देश के नागरिक देव मानव बने और फिर उन्होंने सर्वत्र सतयुग का स्वर्गीय वातावरण बनाने का अथक प्रयत्न किया । ऋषियों को यह पुण्य परम्परा ही महान भारती संस्कृति की रीढ़ है । इसी ने अपने देश समाज को जगद्गुरु चक्रवर्ती, एवं विपुल सम्पदाओं का अधिपति बनाया । यदि ऋषियों को कृपणता घेर ले तो और वे मात्र अपने लिए ही स्वर्ग, मुक्ति या सिद्धि की बात सोचते रहते तो निजी रूप में वे भले ही चमत्कारी रहते उन्हें जो अनन्त लोक श्रद्धा उपलब्ध हुयी उसकी कोई संभावना न बनती । चमत्कारी तो जादूगर बाजीगर भी होते हैं । उनका कौतुक कौतूहल देखकर मनोरंजन कई लोग करते हैं पर उनके प्रति श्रद्धा किसी की नहीं जगती । सार्थकता उन्हीं सिद्धियों की है जो जन-जन के काम आयें निजी लाभ के लिए चाहें सम्पत्ति कमाई जाय या सिद्धि उससे चर्चा भर हो सकती है, अभ्यर्थना नहीं ।

ब्राह्मण और साधु वर्ग को मानव समाज की उत्कृष्टता का प्रतीक माना जाता है । उन्हें भूसुर—पृथ्वी का देवता कहा जाता है । इसका कारण उनका जप तप ज्ञान अध्ययन नहीं वरन् लोक मंगल के लिए समर्पित जीवन ही माना जाता है । वे आत्मिक पवित्रता, सेवा की उत्कृष्टता, लोक मंगल की क्षमता के लिए जप-तप करते थे । जो सार्थकता एवं विशिष्टता उन्हें उपलब्ध होती थी उससे जन-जन को लाभान्वित करने के लिए परिभ्रमण करते और घर-घर अलख जगाने की प्रक्रिया अपनाते थे । तीर्थयात्रा इसी कारण पुण्य परमार्थ में गिनी जाती थी कि उसके द्वारा धर्म प्रचारक जन सम्पर्क साधते और उत्कृष्टता अपनाने की प्रेरणा देते थे । इस आधार पर मानव समाज को जो लाभ होता था, उसी को देखते हुए तीर्थयात्रा को, तीर्थ यात्रियों को सम्मान मिला । अन्यथा पर्यटन तो विशुद्ध मनोरंजन है । उसके लिए तो लाखों की भीड़ उधर से इधर मारी-मारी फिरती ही रहती है पर्यटकों को, यायावरों को किसी की श्रद्धा सहानुभूति कहाँ प्राप्त होती है ? हिरन इधर से उधर दौड़ते और पक्षी इधर-उधर उड़ते रहते हैं । इसे तीर्थयात्रा थोड़े ही कहा जायगा ?

प्राचीन काल में ब्रह्मभोज की—ब्राह्मणों को दान दक्षिणा देने की जो परम्परा थी उसका एक ही कारण था कि साधु ब्राह्मण का वर्ग समुदाय निरन्तर लोग मंगल में प्रवृत्त रहता था । आजीविका उपार्जन को वे प्रस्तुत परमार्थ की तुलना में महत्त्व ही नहीं देते थे । फलतः समाज के लिए यह कर्त्तव्य हो जाता था कि उनके निर्वाह की श्रद्धा सिक्त व्यवस्था करें । उस समय का साधु ब्राह्मण का जीवन क्रम विशुद्ध रूप में एक सार्वजनिक संस्था होती थी । लोग उन्हें दान देकर निश्चिन्त हो जाते थे कि सामयिक आवश्यकता और उपयोगिता को देखते हुए वे लोग उस धरोहर का ठीक प्रकार उपयोग कर लेंगे । ब्राह्मण को दान प्रकारान्तर से श्रेष्ठ सत्प्रवृत्तियों के सम्वर्धन के लिए दिया गया अनुदान ही होता था । दान दक्षिणा की परम्परा, समर्थ व्यक्तियों को मुफ्त में पैसा देने जैसी आज जो दीखती है, प्राचीन काल में उसका स्वरूप वैसा न था । वंश और वेश की कोई गरिमा नहीं हो सकती । परमार्थ प्रयोजन तो वह आधार है जिसके लिए सम्मान और सहयोग मिलने की बात नैतिक एवं बुद्धि-संगत मानी जा सकती है ।

इन सभी तथ्यों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट है कि आध्यात्मिक साधनाओं को मात्र पूजा उपचारों के क्रिया कृत्यों तक सीमित नहीं रखा जा सकता उनके साथ परमार्थ प्रयोजन का जुड़ा रहना अनिवार्य रूप से आवश्यक है ।

कथा है कि रामानुज स्वामी को कोई चमत्कारी मन्त्र प्राप्त हुआ । उन्होंने उसकी सिद्धि की । मंत्र दीक्षा लेते समय गुरु से यह कहा था कि वे उसे किसी अन्य को नहीं बतायेंगे अन्यथा नरक में जाना पड़ेगा । सिद्धि की सार्थकता देखकर रामानुज स्वामी के मन में आया कि ऐसे उपयोगी तथ्य से जन-जन को परिचित कराया

जाय । अतएव वे घर-घर जाकर उसका प्रचार करने लगे । गुरु को पता चला तो उन्होने नाराजी प्रकट की । इस पर स्वामी जी का उत्तर था प्रतिबन्ध उल्लंघन करने के कारण उन्हें नरक जाना स्वीकार है पर इतने उपयोगी तथ्य से जन-जन को लाभान्वित करने का लोभ संवरण करना उनके वश की बात नहीं है ।

गायत्री आत्मा की भूख और प्यास बुझा कर उसे परितृप्त परिपुष्ट करने वाली वह अमृत उपलब्धि है जिसे पाकर न व्यथा रहती है न वेदना, न दरिद्रता रहती है न कृपणता । देवत्व प्रदान करने वाली देवमाता-सद्ज्ञान का अजस्र अनुदान देने वाली वेदमाता, व्यापक व्यवस्था को सुरम्य बनाने वाली विश्व माता का अंचल पकड़ने वाला न अभाव सहता है न संकट सहता है । यह भूलोक की कामधेनु है जिसका पय-पान करने वाले न जरा-जीर्ण होते हैं, न कुरूप, न मृतक मूर्छित । जिसका प्रहार अनौचित्य पर बज्र की तरह टूटता है । उस ब्रह्मास्त्र से सम्पन्न व्यक्ति को किसी से परास्त नहीं होना पड़ता । उददूण्डता पर अंकुश लगाने की क्षमता से सम्पन्न होने के कारण वह ब्रह्मदण्ड है । अनुशासन और नियंत्रण रखने के लिए उसका असाधारण उपयोग होता है ।

ऐसी आद्य शक्ति गायत्री का तत्व ज्ञान और साधन विधान जानना और अपनाना प्रत्येक दूरदर्शी का कर्तव्य है । इस कर्तव्य का निर्वाह इस आलोक को अपने तक ही सीमित रखने से नहीं हो जाता वरन् उसे व्यापक बनाने का उत्तरदायित्व भी कंधे पर आता है । स्वयं भक्त बनना एक बात है और नारद की तरह अनेकों को भगवद् भक्त बनाना दूसरी । स्वयं खाते रहने का मजा उड़ाना एक बात है और दूसरों को खिलाने का आनन्द लेना दूसरी अध्यात्म का प्रतिफल है—देवत्त्व में पवित्रता और प्रखरता के दोनों तत्व जुड़े हैं । निजी जीवन में अधिकाधिक पवित्रता बढ़ाने के लिए जप तप करना उसका पूर्वार्ध है । अपनी क्षमता को सत्प्रवृत्तियों में नियोजित कराना उत्तरार्ध दोनों के मिलने से ही एक समग्र प्रक्रिया बनती है । पक्षी दो पंखों से उड़ता है, गाड़ी दो पहियों से कम की नहीं बनती, प्रगति पथ पर लम्बी यात्रा पूरी करने के लिए दोनों टाँगें सही सलामत होनी चाहिए । आत्म निर्माण एक धारा है और लोक निर्माण दूसरी । गंगा यमुना का मिलना एक तीसरी उपलब्धि है, सिद्धि सरस्वती का नया उद्भव करता है । फलतः त्रिवेणी संगम में स्नान करने पर काया कल्प होने की अलंकारिक फलश्रुति का प्रत्यक्ष दर्शन होता है ।

गायत्री परिवार के हर साधक से अपेक्षा की जाती है कि वह उपासना के जप पक्ष को पूरा करने भर से सन्तुष्ट न हो । इस तत्वज्ञान का आधार, स्वरूप विधान एवं प्रगति क्रम भी समझे । इसलिए जप ध्यान से प्रक्रिया आरम्भ करने कराने का प्रयोग तो चलता है पर साथ ही उसका विज्ञान समझने समझाने के लिए स्वाध्याय, सत्संग एवं मनन, चिन्तन के सहारे तथ्यों की गहराई तक पहुँचाने का प्रयत्न भी होना चाहिए । जिन्होंने अपनी उपासना पद्धति में इन तथ्यों का समावेश किया है उनकी समग्र साधना फलवती होती रही है । ऐसे समग्र साधनारत नैष्ठिकों को एक मत से अपना अनुभव इन्हीं शब्दों में व्यक्त करते देखा गया है कि कभी किसी की गायत्री साधना निष्फल नहीं जाती । माता का आंचल पकड़ने वाले का कल्याण ही होता है ।

उपासना की सफलता के लिए साधना का बीजारोपण करने के साथ ही उसके उगने और बढ़ने की व्यवस्था भी बनानी चाहिए । उसके लिए खाद भी आवश्यक है और पानी भी । इनका प्रबन्ध न हो सका तो समर्थ बीज कठिनाई से अंकुरित भर हो सकेगा उसे बढ़ने और फलने फूलने का अवसर न मिलेगा । खाद का अर्थ है—जीवन की पवित्रता और पानी का अर्थ है—परमार्थ की प्रखरता । दृष्टिकोण में उत्कृष्टता का समावेश आवश्यक है और आचरण में आदर्शवादिता का । आदर्शवादिता में स्वार्थ सिद्धि को सीमित करने और परमार्थ परायणता को आगे बढ़ाने की प्रेरणा भरी हुई है ।

उपासना का उद्देश्य इष्ट के समीप बैठना और क्रमशः तदनुरूप बनते ढलते जाना है । चंदन के निकट उगे हुए झाड़ झंखाड़ भी सुगन्धित होते हैं और यह लाभ प्राप्त करने के उपरान्त उसकी लकड़ी के टुकड़े बन कर नहीं रह जाते मूल चन्दन से उपलब्ध सुगन्धि को निरन्तर बखेरते हैं । सदाशयता का यह विस्तार ही सच्ची भगवद् भक्ति है । भगवान की समीपता से आलोक तो भक्त को मिलता है किन्तु उसका विस्तार किये बिना वह रह ही नहीं सकता । सम्पर्क में आने वालों को वह सदा भक्ति की गरिमा बताने और भक्त बनने की प्रेरणा देने में लगा रहता है । सन्त भक्तों ने असंख्यों को अपने

अनुरूप, अपनी-अपनी आस्था के अनुकूल बनाया है वे अपने प्रयास आत्म कल्याण तक ही सीमित करके नहीं बैठे। छोटा-सा दीपक जब आलोक को उपलब्ध करने भर से संतुष्ट नहीं होता प्रकाश के वितरण में मरते दम तक लगा रहता है तो फिर भक्त ही कैसे 'स्व' तक सीमा बद्ध रहकर स्वार्थी कहलाने की लोक भर्त्सना और आत्म प्रताड़ना सह सकता है। विस्तार किये बिना उसे भी चैन नहीं पड़ता। लकड़ी, आग के समीप जाकर गरम होती है। अधिक समीपता घनिष्ठता होने पर अग्नि रूप हो जाती है। प्रसंग यहीं समाप्त नहीं हो जाता। अग्नि रूप हुई लकड़ी, अपने इष्ट के प्रति समर्पित होकर तद्रुप हो गई, यह सफलता पूर्वार्ध है। उत्तरार्ध इस रूप में है कि वह जलती लकड़ी अपने सम्पर्क क्षेत्र को गरम करती है और जो कुछ निकट आता है उसी को अपने समान ज्वलन्त बनाने का प्रयत्न करती है। यही देव परम्परा है–भक्तजनों को–साधकों को इसी का अनुसरण करना पड़ता है।

गायत्री उपासकों में से प्रत्येक को अपनी साधनाचर्या में यह तथ्य सम्मिलित करके रखना चाहिए कि उनका एक कर्त्तव्य उत्तरदायित्व यह भी है कि अपने उपास्य आराध्य को सुविस्तृत करने का पुरुषार्थ करें और उस प्रयास के उपचार प्रयोग में आने वाले साधनों एवं विधानों की तरह ही आवश्यक समझें। जो पाया जाय उसे संग्रह न किया जाय वरन् वितरण भी किया जाय। बच्चा थोड़ा सा बड़ा होते ही माता का थोड़ा सा हाथ भी बटाने लगता है। अभिभावकों के अनुदान के बदले उनकी कुछ सहायता करने की बात बाल बुद्धि भी स्वीकार करती है फिर भक्ति भावना में वैसी उत्पन्न न हो यह तो हो नहीं सकता। आलोक वितरण एक बड़ा काम है। उत्पादन की तरह ही वितरण का भी महत्त्व है। व्यवसायी जानते हैं कि फैक्टरी में जो बनता है, खेत में जो उगता है वह उत्पादक के भण्डार में ही भरा नहीं रहता उसे आगे धकेलने, वितरण करने का प्रबन्ध भी उसी तत्परता से करना पड़ता है। यदि ऐसा न किया जाय तो नये उत्पादन का नई उपलब्धियों का गति चक्र ही टूट जायेगा। बिक्री न होगी तो स्टोर भरते चले जायेंगे। नये उत्पादन के लिए जगह ही नहीं बचेगी। पूँजी का परिभ्रमण रुक जाने से कच्चा माल खरीदने के लिए पैसा ही न बचेगा। डायनुमा घूमता है तो बैटरी चलती है। सेवा साधना के सहारे ही आत्मबल बढ़ता है और भक्ति-भावना परिपुष्ट होती है। इस सन्दर्भ में कृपणता बरतने वाले जिस संकीर्ण स्वार्थपरता का परिचय देते हैं। उससे उन्हें लाभ कम और घाटा अधिक होता है।

गायत्री का तत्त्वज्ञान अधिकाधिक होना चाहिए। यह सामूहिक उत्थान और व्यक्तिगत अभ्युदय दोनों ही दृष्टि से नितान्त आवश्यक है। दूसरों के हाथों पर मेंहदी लगाने के लिए जो हाथ उन पत्तियों को पीसते हैं वे अनायास ही रंगते रचते चले जाते हैं। आद्य शक्ति के आलोक का वितरण हर साधक को अपने पवित्र उत्तरदायित्व में सम्मिलित रखना चाहिए। उसे साधना उपचार की तरह ही फलप्रद माननी चाहिए और उसके लिए जो भी अवसर सामने दीखे, उसे चूकना नहीं चाहिए।

—0—

नवरात्रि पर्व और गायत्री की विशेष तप-साधना

सर्दी और गर्मी की ऋतु के मिलन काल को आश्विन और चैत्र की नवरात्रि कहा जाता है । रात्रि और दिन का मिलन प्रातःकालीन और सायंकालीन 'संध्या' के नाम से प्रख्यात है । इस मिलन वेला का विशेष महत्त्व कालचक्र के अनुसार आंका गया है । प्राणायाम में रेचक और पूरक का अपना स्थान है, पर चमत्कार कुम्भक में ही देखे जाते हैं । मिलन की वेला हर क्षेत्र में उल्लास भरी होती है । मित्रों का मिलन, प्रणय मिलन, आकांक्षाओं का सफलता के साथ मिलन कितना सुखद होता है, उसी आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि आत्मा और परमात्मा का मिलन कितना तृप्तिदायक होना चाहिए ? पुराने वर्ष की विदाई और नये वर्ष का आगमन वाला दिन नव-वर्षोत्सव के रूप में मनाया जाता है । कृष्ण-पक्ष और शुक्ल-पक्ष के परिवर्तन के दो दिन अमावस्या, पूर्णिमा पर्व के नाम से जाने जाते हैं और उस दिन विशेष धर्मोत्सवों की व्यवस्था की जाती है । अपने पर्व त्यौहारों में से अधिकांश इसी संधि वेला में मनाये जाते हैं । दिवाली, होली, गुरुपूर्णिमा, श्रावणी, हरियाली अमावस्या, पितृ अमावस्या, शरदपूर्णिमा जैसे प्रधान पर्व कृष्ण-पक्ष, शुक्ल-पक्ष पर ही होते हैं । नवरात्रि की ऋतु संध्या का महत्व भी इसी प्रकार है ।

ऋतु परिवर्तन की वेला में कई तरह की सूक्ष्म हलचलें होती हैं । देखा गया है कि मलेरिया, दस्त, जुकाम, चेचक आदि का दौर आश्विन और चैत्र में आता है । ऋतु परिवर्तन के इन दिनों में शरीर के भीतर अनायास ही ज्वार-भाटे जैसी हलचलें उत्पन्न होती हैं और जीवनी शक्ति प्रयत्नपूर्वक देह में जमी हुई विकृतियों को हटाने के लिए एक विशेष तूफान उत्पन्न करती हैं, इसी को वैद्य, हकीम लोग उभार काल कहते हैं । जुलाब देकर पेट की सफाई, शरीर शोधन को वमन, विरेचन आदि पंचकर्म पुराने चिकित्सक इन्हीं दिनों कराते थे । काया-कल्प के विविध प्रयोग करने के लिए रोगियों को इसी अवसर की प्रतीक्षा करनी पड़ती थी ।

वर्षा के अन्त और सर्दी के आगमन पर गेहूँ, जौ, चना जैसी प्रधान फसलें बोने का ऋतुकाल आश्विन में आता है इन्हीं दिनों प्राणियों की गर्भ धारण स्थिति उभरती है । न केवल मनुष्यों में वरन् सृष्टि के समस्त प्राणियों में यही क्रम चलता है कि आधे गर्भाधान आश्विन और चैत्र के दूसरे पक्षों में होते हैं और शेष आधी प्रक्रिया पूरे वर्ष को मिलाकर पूरी होती है । यह शारीरिक और मानसिक स्थिति में विशेष परिवर्तन के चिह्न हैं । महत्त्वपूर्ण वृक्षों के उद्यान भी प्रायः इन्हीं दिनों लगाये जाते हैं । चैत्र की नवरात्रि आरम्भ होते ही विक्रमी सम्वत् बदलता है और उन नौ दिनों का अन्त होते ही राम जन्मोत्सव रामनवमी आ जाती है । इसके चार-पाँच दिन बाद ही चैत्री पूर्णिमा की हनुमान जयन्ती आती है । आश्विन अमावस्या को पितृ अमावस्या कहते हैं और उसके दूसरे दिन से ही नवरात्रि पर्व आरम्भ हो जाता है । इसके समाप्त होते-होते दुर्गा अष्टमी और विजयादशमी आ जाती है । उसके चार-पाँच दिन बाद ही शरदपूर्णिमा आ जाती है । पर्वों की यह विशिष्ट शृंखला अकारण ही नहीं है । कालचक्र के सूक्ष्म ज्ञाताओं ने प्रकृति के अन्तराल में चल रहे विशेष उभारों को ध्यान में रखते हुए यह सोचा है कि उन दिनों की हुई आध्यात्मिक साधनाएँ भी विशेष रूप से सफल होती हैं । तद्नुसार चैत्र और आश्विन के शुक्ल पक्ष आरम्भ होते ही नौ-नौ दिन के नवरात्रि पर्व मनाये जाते हैं ।

तम और सत् दो ही गुण इस प्रकृति के हैं । तम अर्थात् जड़-सत् अर्थात् चेतन । दोनों अपनी स्थिति में पूर्ण हैं । पर इन दोनों का जब मिलन होता है तो एक नई हलचल उठ खड़ी होती है, जिसे रज कहते हैं । इच्छा, आकांक्षा, भोग, तृप्ति, अहंता, संग्रह, हर्ष, स्पर्धा आदि चित्त को उद्विग्न किये रहने वाले और विविध क्रिया-कृत्यों में जुटाये रहने वाले प्रवाह 'रज' की ही प्रतिक्रियाएँ हैं । साधना की आवश्यकता इस रज के निविड़ बन्धनों से छुड़ाने के लिए ही की जाती है । तम से बना जड़ शरीर समय आने पर आसानी से मर जाता है और उसे जला, सड़ाकर देखते-देखते समाप्त कर दिया जाता है । चेतन आत्मा ईश्वर अंश होने से निर्मल है । मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार से बनी जड़-चेतन मिश्रित जीव चेतना ही हर घड़ी अशान्त रहती है और कृत्य-कुकृत्य करने में जुटी रहती है । परिमार्जन

इसी का करना पड़ता है। योग-साधना एवं तपश्चर्या का उद्देश्य जीव संध्या का परिमार्जन करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

नारी का नारीत्व उसकी 'रज' चेतना पर टिका हुआ है। रजस्वला होने के उपरान्त उसमें यौवन का उभार आरम्भ होता है। यह रज तत्व ही गर्भ धारण और सृष्टि विस्तार का आधार है। 'रयि' और 'प्राण' के बीच रहने वाला चुम्बकत्व ही नर-नारी के बीच कामुक आकर्षण का आधार बनता है। प्राणि वर्ग में पेट भरने के उपरान्त दूसरी हलचलें 'प्रजनन' कर्म की प्रेरणा के फलस्वरूप ही विनिर्मित होती हैं। यह 'रज' तत्त्व का चमत्कार है। आखिर यह 'रज' है क्या? सत् और तम का सम्मिश्रण। इस मिश्रण में उत्पादन की अद्भुत शक्ति है। ऋतुमती मादा गर्भ धारण करती है। प्राणियों के ऋतु कालों में कालचक्र के अनुसार समय का अलग-अलग निर्धारण है। ऋतुएँ वर्ष में दो बार ऋतुमती होती हैं। सर्दी-गर्मी प्रधानतया दो ही ऋतु हैं। दोनों के समय छै-छै महीने के हैं। वर्षा इनके बीच-बीच में ही आँखमिचौनी खेलती रहती है। इन दिनों प्रधान ऋतुओं का ऋतुकाल नौ-नौ दिन का होता है। नवरात्रि इन्हीं दिनों को कहते हैं।

यों सारा ही समय भगवान का है और सभी दिन पवित्र हैं। शुभ कर्म करने का हर घड़ी शुभ मुहूर्त है और अशुभ कर्म के लिए काल राहु, दिशाशूल, योगिनी, विपरीत चन्द्रमा आदि के अनेकानेक बन्धन प्रतिरोध हैं। सामान्य या विशेष उपासना करने में कभी कोई प्रतिबन्ध नहीं है। शुभ कर्म के लिए कभी कोई मुहूर्त देखने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी कालचक्र की प्रतिक्रिया से लाभ उठाने में बुद्धिमत्ता ही है। बसन्त ऋतु में बसन्त पंचमी पड़ती है। उन दिनों उत्सव के साथ जुड़ी हुई भावनाओं के अनुरूप सूक्ष्म प्रवाह वातावरण में बह रहे होते हैं, अस्तु उनकी सहायता से यह पर्व मनाने के लिए उपयुक्त मनःस्थिति स्वतः ही बन जाती है।

नवरात्रि पर्व में विभिन्न उपासनाएँ चलती हैं। राम भक्त उन दिनों रामायण पारायण और कृष्ण भक्त गीता पारायण करते हैं। देवी उपासकों में दुर्गा पाठ के विभिन्न उपचार चलते हैं। तपस्वी इन दिनों व्रत, उपवास करते हैं। तन्त्र विधान में शव साधन, कुमारी पूजन, कुण्डलिनी जागरण, चक्रवेधन आदि की साधनाएँ विशेष रूप से इन्हीं दिनों सम्पन्न की जाती हैं। मध्य काल में तन्त्र प्रयोजनों की मान्यता बहुत थी इसलिए देवी आराधना के विभिन्न उपचारों के लिए इन्हीं दिनों वैयक्तिक एवं सामूहिक रूप से विशेष क्रिया-कृत्य किये जाते थे। अभी भी जहाँ-जहाँ देवियों के मन्दिर हैं, वहाँ-वहाँ छोटे-बड़े तान्त्रिक आयोजन होते हैं। यों सतोगुणी साधनाओं के लिए भी यही समय अधिक उपयुक्त है, पर प्रचलन इन दिनों दुर्गा पूजा के नाम से ही चल पड़ा है। बङ्गाल, आसाम, उड़ीसा, मणिपुर, नेपाल, भूटान एवं गुजरात में दुर्गा पूजा के विशेष समारोह होते हैं। बङ्गाल में तो उन दिनों सरकारी छुट्टियाँ भी रहती हैं। इन प्रचलनों से यह तथ्य उभर कर सामने आता है कि प्राचीन काल में साधना की दृष्टि से नवरात्रियों को कालचक्र के अनुसार कितना अधिक महत्व दिया गया था और वह प्रथा किसी न किसी रूप में अभी भी भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न प्रकार से चलती हुई पाई जाती है। मानवी चेतना के परिमार्जन-परिशोधन हेतु योग साधना एवं तपश्चर्या की जाती है और इसके लिए संधिकाल की नवरात्रिबेला से श्रेष्ठ और कोई समय नहीं।

नवरात्रि-पर्व वर्ष में दो बार आता है। आश्विन सुदी प्रतिपदा से लेकर नवमी तक और चैत्र सुदी प्रतिपदा से लेकर नवमी तक ९-९ दिन की दो नवरात्रियाँ होती हैं। आश्विन में दशमी को विजया दशमी पड़ती है, जबकि चैत्र नवमी को रामनवमी का पर्व आता है। एक तीसरी नवरात्रि ज्येष्ठ सुदी प्रतिपदा से नवमी तक भी होती है। दशमी को गंगा जयन्ती अथवा गायत्री जयन्ती होने के कारण यह नौ दिन का पर्व भी मानने और मनाने योग्य है। पर यदि उसकी व्यवस्था न बन पड़े तो ६-६ महीने के अन्तर से आने वाली आश्विन और चैत्र मास की दो नवरात्रियाँ तो तपश्चर्या के लिए नियत रखनी चाहिए। तिथियाँ प्रायः घटती-बढ़ती रहती हैं। साधना उस झंझट में नहीं पड़ती।

वैदिक साहित्य में नवरात्रियों का सुविस्तृत वर्णन है। ऋषियों ने उसकी व्याख्या विवेचना करते हुए कहा है कि इसका शाब्दिक अर्थ तो नौ रातें हैं, पर इनका गूढ़ार्थ कुछ और ही है नवरात्रि का तात्पर्य यह है कि मानवी काया रूपी अयोध्या में नौ द्वार

अर्थात् नौ इन्द्रियाँ हैं। अज्ञानतावश दुरुप्रयोग के कारण उनमें जो अन्धकार छा गया है उसे अनुष्ठान करते हुए एक-एक रात्रि में एक-एक इन्द्रिय के ऊपर विचारना, उसमें संयम साधना तथा सन्निहित क्षमताओं को उभारना ही वस्तुतः नवरात्रि की साधना कहलाती है। रात्रि का अर्थ ही है-अन्धकार। जो मनुष्य इन नौ द्वारों से-नौ इन्द्रियों के विषयों से जागरूक रहता है, वह उनमें लिप्त नहीं होता, और न ही उनका दुरुपयोग करके अपने ओजस्-तेजस् और वर्चस् को गँवाता है। अज्ञानान्धकार भी इसीअन्धकार को–अज्ञानता को नष्ट करने के लिए किया जाता है।

अनुष्ठान शब्द की परिभाषा यदि दी जाय तो वह इस प्रकार होगी -"अतिरिक्त आध्यात्मिक सामर्थ्य उत्पन्न करने के लिए संकल्पपूर्वक नियत संयम-प्रतिबन्धों एवं तपश्चर्याओं के साथ विशिष्ट उपासना।" इन नवरात्रियों में सर्वसाधारण से लेकर योगी, यती, तपस्वी सभी अपने-अपने स्तर की संयम साधना एवं संकल्पित अनुष्ठान करते हैं। इस अवधि की प्रत्येक अहोरात्रि महत्त्वपूर्ण मानी जाती है और उन प्रत्येक क्षणों को साधक अपनी चेतना को परिष्कृत-परिशोधित करने-उत्कर्ष की दिशा में आगे बढ़ने में लगाता है।

नवरात्रि साधना की विशिष्टता यह है कि यह संकल्पित साधना है। इसमें उपासना क्रम का निर्धारण कुछ ऐसा है जिसका पालन कर सकना सभी के लिए सुलभ है। इस अवधि में २४ हजार का लघु गायत्री अनुष्ठान भी सम्पन्न हो जाता है। इसमें वाममार्गी साधनाओं जैसे मंत्रोपचार के किन्हीं भी पेचीदे विधि-विधानों का झंझट भी नहीं रहता। पुरश्चरण कड़े होते हैं और उन्हीं के लिए उपयुक्त पड़ते हैं जो पूरा समय-पूरा मनोयोग उसी कार्य में नियोजित रखे रह सकते हों व कड़ी तपश्चर्या का पालन कर सकते हों। इसी तरह वाममार्गी तांत्रिक विधान-प्रयोग भी कठिन है। यह विधान प्रयोग मनुष्य में तमोगुणी तत्त्वों का बढ़ा सकते हैं। इसीलिए ऋषियों ने श्रेयपंथ के पथिकों को २४ सहस्र जप की संकल्पित गायत्री साधना ही नवरात्रि के लिए सर्वश्रेष्ठ बतायी है। गायत्री परम सतोगुणी-शरीर और आत्मा में दिव्य तत्त्वों का-आध्यात्मिक विशेषताओं का अभिवर्धन करने वाली महाशक्ति है। यही आत्मकल्याण का मार्ग है। गायत्री साधकों को यही साधना इन दिनों करनी चाहिए।

यों तो नवरात्रि को नवदुर्गा की उपासना से भी जोड़कर रखा गया है। सर्वत्र दुर्गा की-महाकाली की पूजा होती है। दुर्गा कहते हैं-दोष दुर्गणों-कषाय-कल्मषों को नष्ट करने वाली महाशक्ति को। नौ रूपों में माँ दुर्गा की उपासना इसीलिए की जाती है कि वह हमारे इन्द्रिय चेतना में समाहित दुर्गणों को नष्ट करती है। मनुष्य की पापमयी वृत्तियाँ ही महिषासुर हैं। नवरात्रियों में उन्हीं प्रवृत्तियों पर मानसिक संकल्प द्वारा अंकुश लगाया और संयम द्वारा दमन किया जाता है। संयमशील आत्मा को ही दुर्गा, महाकाली, गायत्री कहा गया है। प्राणचेतना के परिष्कृत होने पर यही शक्ति महिषासुर-मर्दिनी बन जाती है।

नवरात्रि-अनुष्ठान की उपचार प्रक्रिया सम्पन्न करने के साथ-साथ इस अवधि में आत्म चिन्तन विशेष रूप से करना चाहिए। मन को चिन्ताओं से जितना खाली रखा जा सके-व्यवस्तता से जितना अवकाश लिया जा सके उनके लिए प्रयत्न करना चाहिए। यह समय आत्म चिन्तन में लगाया जाय। एकान्त मनःचिन्तन के लिए नहीं। अब तक के जीवन की समीक्षा करके उसकी भूलों को समझने और प्रायश्चित के द्वारा परिशोधन की रूपरेखा बनानी चाहिए। वर्तमान की गतिविधियों का नये सिरे से निर्धारण करना चाहिए। उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श कर्तृत्व अपने क्रिया-कलापों में अधिकतम मात्रा में कैसे जुड़ा रखा जा सकता है उसका ढाँचा स्वयं ही खड़ा करना चाहिए और उसे दृढ़तापूर्वक निबाहने का संकल्प करना चाहिए। भावी जीवन की रूप, रेखा ऐसी निर्धारित की जाय जिसमें शरीर और परिवार के प्रति कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए आत्म-कल्याण के लिए कुछ करते रहने की गुंजायश बनी रहे। साधना-स्वाध्याय-संयम और सेवा यही है आत्मोत्कर्ष के चार चरण। इनमें से एक भी ऐसा नहीं है जिसे छोड़ा जा सके और एक भी ऐसा नहीं है जिस अकेले के बल पर आत्म-कल्याण का लक्ष्य पूरा हो सके। अस्तु इन्हें किस प्रकार-कितनी मात्रा में अपनी दिनचर्या में सम्मिलित रखा जा सकता है इस पर अति गम्भीरता पूर्वक विचार करना चाहिए। यह मनन और चिन्तन यदि भावी जीवन की कोई परिष्कृत रूपरेखा बना सके और उसे व्यवहार में उतारने का जितना साहस जमा सके समझना चाहिए उतने

ही परिमाण में गायत्री माता का प्रसाद तत्काल मिल गया । श्रेष्ठता भरी गतिविधियाँ अपनाते हुए ही भगवान की शरण में पहुँच सकना और उनका अनुग्रह प्राप्त कर सकना सम्भव होता है ।

नौ दिन की दिनचर्या एवं मनःस्थिति ऐसी रखी जाय मानो यह अवधि ऋषि जीवन जीने के लिए ही नियत हो । अपने स्वभाव में घुसी हुई बुरी आदतों में से जितनी जिस मात्रा में छोड़ी या घटाई जा सके उसके लिए भरसक प्रयत्न करना चाहिए । इसी प्रकार जिन सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्धन की आवश्यकता अनुभव होती है उनको कार्यान्वित करने के लिए इन दिनों तो प्रयत्न करना ही चाहिए । अनुष्ठान काल में अनेक प्रकार के विधि-निषेधों का नियम पालन करने की परम्परा है । इसमें अपनी ओर से कुछ बातें छोड़ने और कुछ अपनाने का संकल्प करना चाहिए । आत्म परिष्कार के लिए हर व्यक्ति अपनी स्थिति के अनुरूप भावी तैयारी को ध्यान में रखते हुए अपने लिए कुछ विशेष विधि-निषेध बनाने और उनके पालन में कटिबद्ध हो सकता है । घर को तपोवन बनाने और दिनचर्या में सन्त जीवन का समावेश करने का प्रयोग इन दिनों जितनी अच्छी तरह जितनी सफलतापूर्वक सम्पन्न किया जा सकता है उतना अन्य किसी अवसर पर नहीं । नवरात्रि पर्व में हर साधक को इस प्रकार अपने लिए स्वयं अनुशासन स्थापित करने और उनके निबाहने के लिए अपनी अन्तःप्रेरणा से स्वयं ही संकल्प करने चाहिए । इस प्रयोग से प्रस्तुत अनुष्ठान का महत्त्व और भी अधिक बढ़ता है ।

नवरात्रि पर्व शक्ति पर्व कहलाता है, ब्राह्मी शक्ति एक ही है-'गायत्री' । गायत्री को ही आद्यशक्ति कहा गया है । दुर्गा, महाकाली, महालक्ष्मी आदि उसी महाशक्ति के विविध रूप हैं । अतः नवरात्रि में गायत्री अनुष्ठान की महत्ता सर्वोपरि है । सामान्य दैनिक उपासनात्मक नित्यकर्म से लेकर विशिष्ट प्रयोजनों के लिए की जाने वाली तपश्चर्याओं तक में गायत्री को समान रूप से महत्त्व मिला है ।

इसका प्रमुख कारण यह है कि गायत्री महाशक्ति अध्यात्म जगत् में सर्वोपरि है । उसे भारतीय तत्वज्ञान और साधना विज्ञान की रीढ़ कह सकते हैं । ज्ञान दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट है कि इन्हीं चौबीस अक्षरों की व्याख्या से चारों वेद रचे गये । 'वेदमाता' नाम से प्रख्यात इस महामन्त्र के सम्बन्ध में यही माना जाता है कि भारतीय धर्म और अध्यात्म का कल्प-वृक्ष जिस बीज के कारण उगा, बढ़ा और सुविस्तृत हुआ वह गायत्री मन्त्र ही है । चारों वेद गायत्री के चार चरणों के चार व्याख्यान हैं । "ॐ भूर्भुवः स्वः" यह शीर्ष है और तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि-धियो योनः प्रयोदयात्-यह तीन चरण हैं । इन चारों को मिलाकर ही पूर्ण गायत्री मन्त्र बनता है । पौराणिक मान्यता के अनुसार ब्रह्माजी ने अपने चार मुखों से चार वेदों के चार व्याख्यान किये । अर्थात् ब्रह्म-ईश्वर ने-ज्ञान की चार धाराएँ चेतना जगत में प्रवाहित करके मनुष्यों का मार्ग-दर्शन किया । इसी तथ्य की पुष्टि इस कथा से भी होती है कि सृष्टि के आदि में ब्रह्माजी उत्पन्न हुए । वे कमल पुष्प पर बैठे असमंजस कर रहे थे कि हम क्या हैं ? और क्यों हैं ? आकाश से आकाशवाणी हुई कि तुम सृष्टिकर्त्ता हो । अपना कार्य पूरा करने के लिए शक्ति प्राप्त करो । शक्ति साधना के लिए गायत्री उपासना में संलग्न होना चाहिए । उसी समय आकाशवाणी ने ब्रह्माजी को गायत्री मन्त्र सुनाया । ब्रह्माजी ने उसकी उपासना की । शक्ति पाई । सृष्टि रची और ज्ञान की धारा गायत्री और विज्ञान की धारा सावित्री को प्रवाहित करके जीवधारियों के लिए सुख-शान्तिदायिनी गङ्गा-यमुना बहाई गङ्गा और यमुना के मिलन-सङ्गम पर तीर्थराज बना है सर्दी-गर्मी की ऋतुओं के मिलने की तरह ही ज्ञान-विज्ञान की दो धाराओं का समन्वय 'गायत्री' है ।

गायत्री भारतीय धर्म का प्राण है । उसी को शिखा और सूत्र के रूप में धर्म प्रतीक की मान्यता मिली है । हिन्दू धर्मानुयायियों के शिर के सर्वोच्च शिखर पर समारोह पूर्वक मुण्डन संस्कार कराते हुए शिखा रूपी ज्ञान ध्वजा की स्थापना की जाती है, इसे गायत्री स्वरूप माना गया है । हिन्दू धर्म का दूसरा प्रतीक चिह्न है 'यज्ञोपवीत' । यह भी गायत्री मन्त्र का ही प्रतीक है । गायत्री के तीन चरण-यज्ञोपवीत की तीन लड़ें । गायत्री के नौ शब्द-यज्ञोपवीत के नौ धागे । गायत्री में तीन व्याहृतियाँ-यज्ञोपवीत में तीन गांठें । गायत्री में 'ॐ'-यज्ञोपवीत में बड़ी ब्रह्म ग्रन्थि । इस प्रकार गायत्री एक-एक प्रतीक प्रतिनिधि की स्थापना यज्ञोपवीत की कलेवर में जोड़कर उसे धारण करने का विधान बना है । उसमें सन्निहित उत्कृष्ट चिन्तन एवं आदर्श कर्तृत्व को अपनाये रहने का निर्देश हुआ है । कन्धे पर, हृदय पर, कलेजे

पर, पीठ पर चारों ओर से काया के महत्त्वपूर्ण भाग को लपेटा जाता है । इसका अर्थ है । मानवता के उच्चस्तरीय आदर्शों का भार कन्धे पर वहन किया जायेगा, हृदय में धारण किया जायेगा, कलेजे में समा लिया जायेगा, पीठ पर लादा जायगा । सद्ज्ञान की शिखा शरीर किले के सर्वोच्च स्थान पर-सिर पर फहराती रहे और यज्ञीय जीवन जीने का-व्रत निवाहने का स्मरण दिलाते रहने वाला यज्ञोपवीत,धारण किया जाय-यह प्रतीक प्रेरणा का उपयुक्त माध्यम है । इस देव स्थापना में शरीर को देव मन्दिर बनाया जाय और प्रयत्न किया जाय कि मनुष्य जीवन को सार्थक बनाने वाली श्रेष्ठ गतिविधियाँ ही अपनाई जाती रहें । यही है-शिखा सूत्र धारण का प्रयोजन । दूसरे शब्दों में इन धर्मोपचारों का उद्देश्य जीवन को उच्चस्तरीय आदर्शों के अनुरूप जीने का प्रेरणाप्रद निर्देश कहा जा सकता है। वस्तुतः गायत्री मन्त्र में इसी स्तर का तत्त्वज्ञान भरा पड़ा है ।

गायत्री का विज्ञान और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है । उसके शब्दों का गुंथन स्वर शास्त्र के अनुसार सूक्ष्म विज्ञान के रहस्यमय तथ्यों के आधार पर हुआ है । इसका जप ऐसे शब्द कम्पन्न उत्पन्न करता है जो उपासक की सत्ता में उपयोगी हलचलें उत्पन्न करे-प्रसुप्त दिव्य शक्तियों को जगाये और सत्प्रवृत्तियाँ अपनाने की उमंग उत्पन्न करे । गायत्री जप के कम्पन साधक के शरीर से निसृत होकर समस्त वातावरण में ऐसी हलचलें उत्पन्न करते हैं जिनके आधार पर संसार में सुख-शान्ति की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकें ।

भारतीय धर्म की उपासना में प्रातः सायं की जाने वाली 'संध्या विधि' मुख्य है । संध्या कृत्य में सम्प्रदाय भेद से कई प्रकार किये जाते हैं, पर उन सब में गायत्री का समावेश अनिवार्य रूप से होता है । गायत्री को साथ लिए बिना संध्या सम्पन्न नहीं हो सकती । गायत्री को 'गुरु मन्त्र' कहा गया है । यज्ञोपवीत धारण करते समय 'गुरु मन्त्र' देने का विधान है । देव मन्त्र कितने ही हैं । सम्प्रदाय भेद से कई प्रकार के मन्त्रों के उपासना विधान हैं, पर जहाँ तक 'गुरु मन्त्र' शब्द का सम्बन्ध है वह गायत्री के साथ ही जुड़ा हुआ है । कोई गुरु किसी अन्य मन्त्र की साधना सिखाये तो उसे 'गुरु का दिया मन्त्र' तो कहा जा सकता है, पर जब भी 'गुरु मन्त्र' शब्द को शास्त्रीय परम्परा के अनुसार प्रयुक्त किया जायेगा तो उसका तात्पर्य 'गायत्री मन्त्र' से ही होगा । इस्लाम धर्म में 'कलमा' का—ईसाई धर्म में 'वपतिस्मा' का जो अर्थ है वही हिन्दू धर्म में अनादि गुरु मंत्र 'गायत्री' को प्राप्त है ।

साधना की दृष्टि से 'गायत्री' को सर्वाङ्गपूर्ण एवं सर्वसमर्थ कहा गया है । अमृत, पारस, कल्प-वृक्ष और कामधेनु के रूप में इसी महाशक्ति की चर्चा हुई है । पुराणों में ऐसे अनेकानेक कथा प्रसंग भरे पड़े हैं जिनमें गायत्री उपासकों द्वारा भौतिक ऋद्धियाँ एवं आत्मिक सिद्धियाँ प्राप्त करने का उल्लेख है । साधना विज्ञान में गायत्री उपासना को सर्वोपरि माना जाता रहा है । उसके माहात्म्यों का वर्णन सर्व सिद्धिप्रद कहा गया है और लिखा है कि तराजू के एक पलड़े पर गायत्री को और दूसरे पर समस्त अन्य उपासनाओं को रखकर तोला जाय तो गायत्री ही भारी बैठती है । राम, कृष्ण आदि अवतारों की—देवताओं और ऋषियों की उपासना पद्धति गायत्री ही रही है। उसे सर्वसाधारण के लिए उपासना अनुशासन माना गया है और उसकी उपेक्षा करने वालों की कटु शब्दों में भर्त्सना हुई है । सामान्य दैनिक उपासनात्मक नित्यकर्म से लेकर विशिष्ट प्रयोजनों के लिए की जाने वाली तपश्चर्याओं तक में गायत्री को समान रूप से महत्त्व मिला है । गायत्री, गङ्गा, गीता, गौ और गोविन्द हिन्दू धर्म के पाँच प्रधान आधार माने गये हैं, इनमें गायत्री प्रथम है। बाल्मकि रामायण और श्रीमद्भागवत में एक-एक हजार श्लोकों के बाद गायत्री मन्त्र के एक-एक शब्द का सम्पुट लगा हुआ है। इन दोनों ग्रन्थों में वर्णित रामचरित्र और कृष्णचरित्र को गायत्री का कथा प्रसंगात्मक वर्णन बताया जाता है । इन सब कथनोपकथनों का निष्कर्ष यही निकलता है कि 'गायत्री मन्त्र' के लिए भारतीय धर्म में निर्विवाद रूप से सर्वोपरि मान्यता मिली है । उसमें जिन तथ्यों का समावेश है उन्हें देखते हुए निकट भविष्य में मानव जाति का सार्वभौम मन्त्र माने-जाने की पूरी-पूरी सम्भावना है । देश, धर्म, जाति समाज और भाषा की सीमाओं से ऊपर उसे सर्वजनीन उपासना कहा जा सकता है । जब कभी मानवी एकता के सूत्रों को चुना जाय तो आशा की जानी चाहिए गायत्री को महामन्त्र के रूप में स्वीकारा जायगा । हिन्दू धर्म के वर्तमान बिखराव को समेटकर उसके केन्द्रीकरण की एक-रूपता की बात सोची जाय तो उपासना क्षेत्र में गायत्री को ही प्रमुखता देनी होगी ।

हमारा निज का अनुभव एवं विश्वास भी गायत्री उपासना के साथ जुड़ा हुआ है । जीवन भरी उसी के सम्बन्ध में चिन्तन-मनन किया गया है । साधना के नाम पर हमारे जीवन का जो भी बहुमूल्य समय लगा है उसका प्रत्येक क्षण गायत्री को आधार मानकर ही प्रयुक्त किया गया है । इस प्रयोग में जो अनुभव हुए हैं उनने व्यक्तिगत रूप से भी हमारी निष्ठा को क्रमशः अधिकाधिक परिपक्व ही किया है । ऐसी दशा में हमारा परामर्श भी अपने विश्वास एवं अनुभव के आधार पर ही हो सकता है । दैनिक सामान्य उपासना के लिए तथा विशेष शक्ति संचय के लिए गायत्री उपासना ही हमें सर्वश्रेष्ठ लगी है तदनुसार जिनने भी हमारा परामर्श एवं सहयोग मांगा है, उन्हीं के लिए कहा है । अन्य कोई मार्ग देखा ही नहीं तो उसका मार्ग-दर्शन किया भी कैसे जा सकता है ।

गायत्री उपासना का सामान्य समय तो हर दिन, हर घड़ी है, उसे रात में भी जपा जा सकता है दिन में भी । दिन में उपांशु अर्थात् उँगलियों में अथवा माला से गणना का क्रम चलाते हुए, मुँह से मद्धिम उच्चारण करते हुए जप करने का विधान है और रात में मानसिक जप । मंत्र लेखन भी एक प्रकार का मानसिक जप ही है, वह भी रात में हो सकता है । गायत्री की तंत्र साधनाएँ रात में सम्पन्न की जा सकती हैं । अस्वस्थय और आपत्तिकालीन स्थिति में राह चलते या बिस्तर पर लेटे-लेटे भी मानसिक जप किया जा सकता है । इन सबमें कोई विधि निषेध नहीं है पर यदि कहीं मुहूर्त की बात आती हो तो गायत्री उपासना के लिए जितना उपयुक्त अवसर नवरात्रियों का होता है, उतना दूसरा नहीं । वर्ष की दो नवरात्रियों को गायत्री माता के दो अयाचित वरदान ही कहा जा सकता है । इस अवधि में उनका कोमल प्राण धरती पर प्रवाहित होता है । वृक्ष वनस्पति नव पल्लव धारण करते हैं, जीव जन्तुओं में नई चेतना इन्हीं दिनों आती है । विधि पूर्वक सम्पन्न नवरात्रि साधना से स्वास्थ्य की नीवें तक हिल सकती हैं । साध्य बीमारियाँ तक नवरात्रि अनुष्ठान से दूर होती देखी गयी हैं ।

अतः नवरात्रियों की नौ दिवसीय साधना २४ सहस्र गायत्री अनुष्ठान के साथ सम्पन्न करनी चाहिए । गायत्री परम सतोगुणी—शरीर और आत्मा में दिव्य तत्त्वों का—आध्यात्मिक विशेषताओं का अभिवर्धन करने वाली महाशक्ति है । यही आत्म-कल्याण का मार्ग है । हमें यही साधन इन दिनों करना चाहिए । यों कई लोग तमोगुणी रक्त-माँस से सराबोर वध संहार करने वाले देवी-देवताओं की भी पूजा उपासना करते हैं । वह तांत्रिक विधान है । तांत्रिक प्रयोग मनुष्य में तमोगुणी तत्त्वों को बढ़ा सकते हैं, उससे सांसारिक प्रयोजन पूरा हो भी सकता है । पर तमोगुण के वातावरण में आत्मिक प्रगति की आशा नहीं की जा सकती । इसलिये श्रेय पथ के पथिकों को गायत्री अनुष्ठान ही नवरात्रियों में करने चाहिए ।

असामान्य सुयोग उपलब्ध कराने वाली नवरात्रियाँ

नवरात्रि को देवत्व के स्वर्ग से धरती पर उतरने का विशेष पर्व माना जाता है । उस अवसर पर सुसंस्कारी आत्माएँ अपने भीतर समुद्र मंथन जैसी हलचलें उभरती देखते हैं । जो उन्हें सुनियोजित कर सकें वे वैसी ही रत्न राशि उपलब्ध करते हैं जैसी कि पौराणिक काल में उपलब्ध हुई मानी जाती हैं । इन दिनों परिष्कृत अन्तराल में ऐसी उमंगें भी उठती हैं जिनका अनुसरण सम्भव हो सके तो दैवी अनुग्रह पाने का ही नहीं देवोपम बनने का अवसर भी मिलता है यों ईश्वरीय अनुग्रह सत्पात्रों पर सदा ही बरसता है, पर ऐसे कुछ विशेष अवसर भी आते हैं जिनमें अधिक लाभान्वित होने का अवसर मिल सके । इन अवसरों को पावन पर्व कहते हैं । नवरात्रियों का पर्व मुहूर्तों में विशेष स्थान है । उस अवसर पर देव प्रकृति की आत्माएँ किसी अदृश्य प्रेरणा से प्रेरित होकर आत्म कल्याण एवं लोक मंगल क्रिया कलापों में अनायास ही रस लेने लगती हैं ।

बसन्त आते ही कोयल कूकती और तितलियाँ फुदकती दृष्टिगोचर होती हैं । भौंरे गूँजते हैं जबकि अन्य ऋतुओं में उनके दर्शन भी दुर्लभ रहते हैं । वर्षा आते ही मेंढक बोलते और मोर नाचने लगते हैं जबकि साल के अन्य महीनों में उनकी गतिविधियाँ कदाचित ही दृष्टिगोचर होती हैं । आँधी तूफान और चक्रवातों का दौर गर्मी के दिनों में रहता है । ग्रीष्म का तापमान बदलते ही उनमें से किसी का पता नहीं चलता । ठीक यही बात नवरात्रियों के समय पर भी

लागू होती है । प्रातः काल और सायंकाल की तरह इन दिनों की भी विशेष परिस्थितियाँ होती हैं उनमें सूक्ष्म जगत के दिव्य प्रवाह उभरते और मानवी चेतना को प्रभावित करते हैं । न केवल प्रभावित करने वाली वरन् अनुमूलन उत्पन्न करने वाली परिस्थितियाँ भी अनायास ही बनती हैं । इसे समय की विशेषता कह सकते हैं । जीवधारियों में से अधिकांश को इन्हीं दिनों प्रजनन की उत्तेजना सताती है और वे गर्भाधान सम्पन्न कर लेते हैं । इसमें प्राणी तो कठपुतली की तरह अपना रौल पूरा करते हैं-सूत्र संचालन तो किसी ऐसे अविज्ञान मर्मस्थल से होता है जिसे सूक्ष्म जगत या अन्तर्जगत के नाम से मनीषी व्याख्या-विवेचना करते रहते हैं । नवरात्रियों में कुछ ऐसा वातावरण रहता है जिसमें आत्मिक प्रगति के लिए प्रेरणा और अनुकूलता की सहज शुभेच्छा बनते देखी जाती है ।

सूर्य के उदय और अस्त होते समय आकाश में लालिमा छाई रहती है और उस अवधि के समाप्त होते ही वह दृश्य भी तिरोहित होते दीखता है । इसे काल प्रवाह का उत्पादन कह सकते हैं । ज्वार भाटे हर रोज नहीं अमावस्या पूर्णमासी को ही आते हैं । उमंगों के सम्बन्ध में भी ऐसी ही बात है कि वे मनुष्य की स्व उपार्जित ही नहीं होतीं वरन् कभी-कभी उनके पीछे किसी अविज्ञात उभार का ऐसा दौर काम करता पाया गया है कि चिन्तन ही नहीं कर्म भी किसी ऐसी दशा में बहने लगता है जिसकी इससे पूर्व वैसी आशा या तैयारी जैसी कोई बात नही थी । ऐसे अप्रत्याशित अवसर तो यदा-कदा ही आते हैं पर नवरात्रि के दिनों अनायास ही अन्तराल में ऐसी हलचलें उठती हैं जिनका अनुसरण करने पर आत्मिक प्रगति की व्यवस्था बनने में ही नहीं सफलता मिलने में भी ऐसा कुछ बन पड़ता है मानो अदृश्य से अप्रत्याशित अनुदान बरसा हो ।

ऐसे ही अनेक तथ्यों को ध्यान में रखते हुए तत्वदर्शी ऋषियों, मनीषियों ने नवरात्रि में साधना का अधिक माहात्म्य बताया है और इस बात पर जोर दिया है कि अन्य अवसरों पर न बन पड़े सही पर नवरात्रि में आध्यात्मिक तप साधना का सुयोग बिठाने का प्रयत्न तो करना ही चाहिए । तंत्र विज्ञान के अधिकांश कोलकर्म इन्हीं दिनों सम्पन्न होते हैं । वाम मार्गी साधक अभीष्ट मन्त्र सिद्ध करने के लिए इस अवसर की ही प्रतीक्षा करते रहते हैं ।

नवरात्रि देव पर्व है । उसमें देवत्त्व की प्रेरणा और उवी अनुकम्पा बरसती है । जो उस अवसर पर सतर्कता बरतते और प्रयत्नरत होते हैं, वे अन्य अवसरों की अपेक्षा इस शुभ मुहूर्त का लाभ ही अधिक उठाते हैं । भौतिक लाभों को सिद्धियों के नाम से जाना जाता है । संकटों के निवारण और प्रगति के अनुकूलन में सिद्धियों की आवश्यकता पड़ती है । उस आधार पर जो मिलता है उसे वरदान कहा जाता है । नवरात्रियाँ वरदानों की अधिष्ठात्री कही जाती हैं, पर इस शुभावसर पर वास्तविक लाभ है देवत्त्व की विभूतियों का जीवनचर्या में समावेश । वह जिसे जितनी मात्रा में मिलता है वह उतनी ही कला क्षमता का नर देव कहलाता है । देवता स्वर्ग में ही नहीं रहते अपितु महामानवों के रूप में इस धरती पर विचरते हैं ।

नवयुग देवत्व प्रधान होगा । उसमें वे प्रयत्न चलेंगे जो मनुष्य में देवत्व का उदय कर सकेंगे । जहाँ देवता बसते हैं वहाँ स्वर्ग होता है । जहाँ स्वर्ग होगा वहाँ देवता ही बसते होंगे । इसी तथ्य के आधार पर यह अपेक्षा की गई कि उत्कृष्ट व्यक्तित्वों द्वारा जो सुखद वातावरण बनेगा उसे धरती पर स्वर्ग के अवतरण की उपमा दी जा सकेगी ।

युग सन्धि की नवरात्रियों में विशेष सम्भावना इस बात की है कि उनमें अदृश्य लोकों में देवत्व की अतिरिक्त वर्षा हो और उस अनुदान को पाकर देव मानवों का समुदाय अधिक प्रखरता सम्पन्न होता हुआ दृष्टिगोचर होने लगे । युग परिवर्तन की अवसर प्रक्रिया को गतिशील बनाने में इन देव मानवों का ही योगदान प्रमुख रहा है । तत्वदर्शी कहते हैं कि अवतार अकेले ही अपना प्रयोजन पूरा नहीं कर लेते उनके साथ-साथ अनेक सहयोगी भी होते हैं और वे भी देवलोक से उसी प्रयोजन के लिए शरीर धारण करते हैं । पाँचों पाण्डव पाँच देवताओं के अवतार थे । हनुमान-अंगद आदि के बारे में भी ऐसी ही मान्यता है । इन दिनों सृजन योजनाओं में देव मानवों का यह साहस एवं प्रयास ही अग्रिम मोर्चा सँभालते दिखाई देगा ।

नवयुग सृजन की प्रेरणाओं को क्रियान्वित करने तथा उस दिशा में कदम बढ़ाने का यही शुभ मुहूर्त है । प्रज्ञा युग की प्रेरणा को अपनाने और विधि व्यवस्था को चरित्र करने के लिए यों हर घड़ी पवित्र

और महत्त्वपूर्ण है; पर इस प्रयोजन के लिए नवरात्रि पर्व की अत्यधिक गरिमा मानी गई है । यों उपासना की चिन्ह पूजा भी बीजारोपण की दृष्टि से उपयोगी मानी गई है और उसे किसी भी रूप में किसी भी मनःस्थिति में अपनाये रहने पर जोर दिया गया है । फिर भी उसे निष्ठापूर्वक अपनाने की प्रौढ़ता का स्तर ऊँचा ही रहता है । उच्चस्तरीय सत्परिणामों की आशा-अपेक्षा योजनाबद्ध तपश्चर्या अपना कर की जाने वाली साधना के साथ अविच्छिन्न रूप से सम्बन्धित है ।

नवरात्रि पर्व का ऋतु संध्या मुहूर्त विज्ञान की दृष्टि से ही नहीं विशिष्ट साधना पद्धति के कारण भी महत्त्वपूर्ण माना गया है । नैष्ठिक साधकों के लिए आश्विन और चैत्र की नवरात्रियों में अनुष्ठान साधना एक अत्यावश्यक पुण्य परम्परा के रूप में सदा सर्वदा से अपनाई जाती रही है ।

सर्दी और गर्मी दो ही प्रधान ऋतुएं हैं उनका मिलन एक प्रकार से वैसा ही सन्धि काल है जैसा कि रात्रि के अन्त और दिन के प्रारम्भ में प्रभातकाल के रूप में उपस्थित होता है । सन्धियाँ सदा मार्मिक होती हैं । शरीर में अस्थिपिंजर से बने हुए जोड़ों को भी सन्धियाँ कहते हैं । इन्हीं के यथावत् रहने पर काया की विभिन्न क्रिया-प्रक्रियायें गतिशील रहती हैं । यह जोड़ यदि जकड़ने लगें तो फिर चलना-फिरना तो दूर मुड़ना भी सम्भव न रहेगा । मशीनों के सम्बन्ध में भी यही बात है । उनकी क्षमता एवं गतिशीलता उनकी सन्धियों के सही गलत होने पर ही निर्भर रहती है । इन दिनों युग सन्धि चल रही है अतएव जाग्रत आत्माओं को आपत्तिकालीन व्यवस्था की तरह युग धर्म के निर्वाह में जुटना पड़ रहा है । ऋतु संध्या आश्विन और चैत्र में जिन दिनों आती है उन नौ-नौ दिनों की अवधि को नवरात्रि कहते हैं । ऋतुओं में ऋतुमती होने और वातावरण में नये-नये अनुदान भर देने का दृश्य सूक्ष्म जगत में इन्हीं दिनों दृष्टिगोचर होता है ।

ऐसे-ऐसे अनेकों कारण हैं जिनके कारण अध्यात्म क्षेत्र में साधना प्रयोजनों के लिए यह समय विशेष रूप से उपयुक्त माना गया, है । जिस प्रकार प्रभात काल की उपासना अधिक फलवती होती और संध्या के नाम से पुकारी जाती है । उसी प्रकार नवरात्रियों का समय भी दोनों सन्ध्याओं के समतुल्य माना गया है ।

सर्वविदित है कि युग सन्धि की इस परिवर्तन बेला में अनिष्ट के परिमार्जन तथा सृजन के सम्बर्धन को लक्ष्य रखकर जो बीस वर्षीय योजना बनी है उसमें नैष्ठिक महापुरश्चरण को विशेष महत्त्व दिया गया है । एक लाख नैष्ठिक उपासकों द्वारा बीस वर्षीय संकल्प लेकर इतिहास काल के इस अभूतपूर्व धर्मानुष्ठान का नियोजन हुआ है । उसकी भागीदारी लेने वाले साधकों को आधा घन्टे में सम्पन्न हो सकने वाली पाँच मालाओं का नित्य जप करना होता है । साथ ही गुरुवार के दिन अस्वाद ब्रह्मचर्य एवं मौन व्रत साधना का भी अनुशासन जुड़ा है । इसके अतिरिक्त सामूहिक रूप में मासिक यज्ञ करने की व्यवस्था उन्हें बनाये रखनी होती है । सामान्यतया चलने वाले यही अनुबन्ध है जिनका परिचालन करते हुए युग सन्धि महापुरश्चरण की भागीदारी को गतिशील रखा जाता है ।

इन सामान्य नियमों के अतिरिक्त असामान्य तप साधना के रूप में वर्ष की दोनों नवरात्रियों में उन्हें २४ हजार के गायत्री अनुष्ठान भी करने होते हैं । उस समय वे नहीं कर सकते तो आगे पीछे हटकर भी उसकी पूर्ति करनी होती है । यह अनिवार्यता इसलिए रखी गई है कि इन नौ दिनों के साधना सत्रों में वे सभी प्रयोजन पूरे होते हैं जो जन मानस के परिष्कार एवं सत्प्रवृत्ति सम्बर्धन की उभयपक्षीय युग चेतना के अग्रगणी बनाने के लिए नितान्त आवश्यक है ।

गायत्री अनुष्ठानों के नवरात्रि परम्परा के पीछे ऐसे-ऐसे अनेकों कारण सन्निहित हैं इसलिए उपासना में अभिरुचि रखने वाले इन दिनों की प्रतीक्षा करते रहते हैं और उस अवसर पर कुछ न कुछ व्रत पालन निश्चित रूप से करते हैं ।

जो साधारणतया दैनिक उपासना के अभ्यस्त नहीं हैं और यदा-कदा ही कभी कुछ पूजा पाठ करते हैं ऐसे लोगों पर भी जोर दिया जाता है कि वे कम से कम उन दिनों तो कुछ नियम निबाहें और निश्चित साधना की बात सोचें । इन अभ्यासों के लिए भी कई प्रकार की सरल साधनाओं की विशेष व्यवस्था की जाती है ताकि उन्हें बोझ लगने और मन उचटने की कठिनाई का सामना न करना पड़े । मन्त्र लेखन गायत्री चालीसा पाठ, पंचाक्षरी जप आदि की सरल व्यवस्थाएँ उसी आधार पर बनी हैं और २४ हजार वाली संख्या को घटा कर १० हजार

तक हलका कर दिया गया है । नौ दिन में दस हजार जप करने का तात्पर्य मात्र हर रोज एक घण्टा समय लगाना भर होता है । यह किसी के लिए भी भारी नहीं पड़ना चाहिए । मन्त्र लेखन हर रोज ११२ करने में नौ दिन में एक हजार लिख जाते हैं यह भी एक अनुष्ठान है । गायत्री चालीसा के हर दिन बारह पाठ करने से नवरात्रि में १०८ हो जाते हैं । 'ॐ भूर्भुवः स्वः' यह पंचाक्षरी गायत्री है । इतना तो अशिक्षित एवं बालक भी याद कर सकते हैं और सुविधानुसार संख्या निर्धारित करके उसकी पूर्ति करते रह सकते हैं । प्रमुख तथ्य नियमितता है, न्यूनाधिकता नहीं । नियमित साधना को अनुष्ठान कहते हैं । उसके साथ तपश्चर्याओं का अनुशासन जुड़ जाने से उसकी संज्ञा पुरश्चरण हो जाती है । अनुष्ठान पुरश्चरण हलके भारी स्तर के भी होते हैं ।

अनभ्यस्त लोगों के लिए उपासना क्रम में सरलता उत्पन्न करने की तरह व्रत अनुशासनों में भी ढील देकर उन्हें मनीषियों ने बाल सुलभ बना दिया है । भूमिशयन, स्वयं सेवा, उनके लिए अनिवार्य नहीं । ब्रह्मचर्य तो आवश्यक है । पर उपवास में भी ढील की काफी गुंजायश बना दी गई है । रोटी-शाक, दाल-चावल जैसे दो वस्तुओं के युग्म अपना कर नौ दिन काट लेने में मात्र पदार्थों का सीमा बन्धन ही है भूखा रहने जैसी कोई कठिनाई नहीं है । जो इससे आगे बढ़ सकते हैं वे बिना नमक शक्कर का अस्वाद व्रत पालने की हिम्मत भी दिखा लेते हैं । एक समय पूरा भोजन एक समय फल दूध जैसी सरलता उन्हीं लोगों के लिए बनाई गई है जो उपवास करना चाहते हैं पर ऐसी सरलता ढूँढ़ते हैं जिसमें भूखा न रहना पड़े । ऐसे लोगों को निराश न होने देने और न कुछ से कुछ ! अच्छा की सरलता की गई है । इस आधार पर बाल-वृद्ध, और व्यस्त लोग भी नवरात्रि में कुछ न कुछ नियमित साधना का सुयोग बना सकते हैं ।

गायत्री परिवार का जहाँ भी छोटा बड़ा संगठन है वहाँ नवरात्रि पर्व मनाने का प्रयत्न निश्चित रूप से किया जाता है । यों व्यक्तिगत एकाकी साधना करने पर भी कोई रोक नहीं है, पर प्रयत्न यही किया जाता है कि सामूहिक उपासना का उपक्रम बने और उसे एक उत्साह आयोजन का स्वरूप मिले । ऐसी व्यवस्था बनाने में उत्साही लोगों को स्वयं आगे रहने, थोड़ी दौड़ धूप करने साधन जुटाने एवं जन-सम्पर्क साधकर उत्साह दिलाने जैसे प्रयत्न करने होते हैं । ऐसा कुछ कर पाने वाले उत्साही जहाँ एक दो भी हों वहाँ नवरात्रि आयोजन की व्यवस्था सहज ही बन जाती है । वह न तो मँहगी है और न कठिन कष्ट साध्य । जो इसके लिए आगे बढ़कर साहस दिखाते हैं उन्हें अनुभव से इस निष्कर्ष पर पहुँचना होता है कि भारत जैसे धर्म प्रकृति वाले देश में नवरात्रि आयोजनों को साधना सत्रों के रूप में विकसित और व्यापक बना सकने में अनुत्साह के अतिरिक्त और कोई भी कठिनाई नहीं है जो हँसते-हँसाते हल न की जा सके ।

युग सृजन अभियान में नवरात्रि पर्व को साधना सत्र आयोजन के रूप में नियोजित करने और सफल बनाने पर आरम्भ से ही बहुत जोर दिया जाता रहा है । इसमें उपासना और साधना के उभयपक्षीय प्रयोजन पूरे होते हैं । प्रातःकाल सामूहिक जप, हवन-पूजन का और सायं-काल संगीत प्रवचन के ज्ञान यज्ञ की व्यवस्था रहती है । उपासना से आत्म कल्याण की और जीवन साधना की प्रगति भी सदा उसी के सहारे सम्पन्न होती रही है । भविष्य निर्माण में सज्जनों की संगठित सृजन चेतना की ही प्रमुख भूमिका होगी । राम काल के रीछ बानर, कृष्ण काल के ग्वाल-बाल, बुद्ध के भिक्षु सहयोगी, गांधी के सत्याग्रही इसी तथ्य को प्रामाणित करते हैं कि महान प्रयोजनों की पूर्ति के लिए सज्जनों की सहकारिता सम्पादित किये बिना कोई चारा नहीं । देवताओं की संयुक्त शक्ति, दुर्गा ने ही उन्हें असुरों के त्रास से छुड़ाया था । ऋषियों का संचित रक्त घट ही सीता को जन्म देने और दानवी विभीषिकाओं को निरस्त करने में आधारभूत कारण बना था । इन पुराण गाथाओं से सृजन शिल्पियों को भी यही प्रेरणा मिलती है कि वे जागरूकों को तलाश करें और उनकी आन्तरिक प्रखरता जगाने के भाव भरे प्रयास करें । इस प्रयोजन के लिए नवरात्रि के नौ दिन तक चलने वाले साधना सत्रों से बढ़कर अधिक उपयोगी एवं अधिक सरल व्यवस्था अन्य कदाचित ही कोई बन पड़े । महान सांस्कृतिक परम्पराओं का पुनर्जीवन नव सृजन के अभीष्ट आत्म-ऊर्जा का अभिवर्धन तथा जन जीवन में उत्कृष्टता के समावेश का जैसा स्वर्ण सुयोग इन साधना सत्रों में मिल सकता है । उसकी तुलना का उपाय उपचार कदाचित ही कोई

खोजा जा सके । रात्रि के ज्ञान यज्ञ में वह सब कुछ कहा जा सकता है जो प्रज्ञावतार की युगान्तरीय चेतना को जन-मानस में प्रतिष्ठापित करने के लिए आवश्यक है । इस अवसर पर ऐसे संगठित प्रयासों के लिए उपयुक्त वातावरण भी रहता है जिससे साधकों को भी व्रतशील जीवन जीने के अतिरिक्त सृजन प्रयोजनों में सहयोग देने के लिए भी तत्पर किया जा सके ।

इन तथ्यों की जानकारी तो प्रज्ञा पुत्रों को पहले से भी रही है और वे नवरात्रि आयोजनों को इसी उद्देश्य को लेकर पूरा करने एवं अधिकाधिक उत्साहवर्धक बनाने का प्रयत्न करते रहे हैं । इस बार उसमें युग सन्धि के बीजारोपण वर्ष के अभिनव उत्तरदायित्व भी जुड़ गये हैं महापुरश्चरण में भागीदार नैष्ठिक साधकों का सुविस्तृत समुदाय इन्हीं दिनों साधना क्षेत्र में नये सङ्कल्प लेकर अग्रसर हुआ है । उसमें से प्रत्येक को न केवल प्रत्येक नवरात्रि की अनुष्ठान साधना स्वयं करनी है वरन् जन सम्पन्न साधनों में अभी से लगना है तथा पुरानों को प्रोत्साहित और नये भावनाशीलों को तथ्यों से परिचित कराने के प्रयास भी करना है । नवरात्रि आयोजन पिछले दिनों की तुलना में अत्यधिक प्रभावी एवं प्रेरणाप्रद बन सके इसके लिए समग्र तत्परता उत्पन्न कर सकने वाली भाव श्रद्धा को उभारने, उछालने की आवश्यकता है ।

नवरात्रि अनुष्ठान का विधि-विधान

नवरात्रि साधना को दो भागों में बाँटा जा सकता है : एक उन दिनों की जाने वाली जप संख्या एवं विधान प्रक्रिया । दूसरे आहार-विहार सम्बन्धी प्रतिबन्धों की तपश्चर्या । दोनों को मिलाकर ही अनुष्ठान पुरश्चरणों की विशेष साधना सम्पन्न होती है ।

जप संख्या के बारे में विधान यह है कि ९ दिनों में २४ हजार गायत्री मन्त्रों का जप पूरा होना चाहिए । कारण २४ हजार जप का लघु गायत्री अनुष्ठान होता है । प्रतिदिन २७ माला जप करने से ९ दिन में २४० मालायें अथवा २४०० मंत्र जप पूरा हो जाता है । माला में यों १०८ दाने होते हैं पर ८ अशुद्ध उच्चारण अथवा भूल-चूक का हिसाब छोड़ कर गणना १०० की ही की जाती है । इसलिये प्रतिदिन २७ माला का क्रम रखा जाता है । मोटा अनुपात घण्टे में ११-११ माला का रहता है । इस प्रकार प्रायः २(१/२) घण्टे इस जप में लग जाते हैं । चूंकि उसमें संख्या विधान मुख्य है इसलिए गणना के लिए माला का उपयोग आवश्यक है । सामान्य उपासना में घड़ी की सहायता से ४५ मिनट का पता चल सकता है, पर जप में गति की न्यूनाधिकता रहने से संख्या की जानकारी बिना माला के नहीं हो सकती । अस्तु नवरात्रि साधना में गणना की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए माला का उपयोग आवश्यक माना गया है ।

आजकल हर बात में नकलीपन की भरमार है । मालाएँ भी बाजार में नकली लकड़ी की बिकती हैं । अच्छा यह है कि उसमें छल-कपट न हो जिस चीज़ की है उसी की जानी और बताई जाय । कुछ के बदले में कुछ मिलने का भ्रम न रहे । तुलसी, चन्दन और रुद्राक्ष की मालाएँ अधिक पवित्र मानी गई हैं । इनमें से प्रायः चन्दन की ही आसानी से असली मिल सकती है । गायत्री तप में तुलसी की माला को प्रधान माना गया है, पर वह अपने यहाँ बोई हुई सूखी लकड़ी की हो और अपने सामने बने तो ही कुछ विश्वास की बात हो सकती है । बाजार में अरहर की लकड़ी ही तुलसी के नाम पर हर दिन टनों की तादाद में बनती और बिकती देखी जाती है । हमें चन्दन की माला ही आसानी से मिल सकेगी यों उसमें भी सस्ती लकड़ी पर चन्दन का सेन्ट चुपड़ कर धोखे बाजी खूब चलती है । सावधानी बरतने पर वह समस्या आसानी से हल हो सकती है और असली चन्दन की माला मिल सकती है ।

एक दिन आरम्भिक प्रयोग के रूप में एक घण्टा जप करके यह देख लेना चाहिए कि अपनी जप गति कितनी है । साधारणतया एक घण्टे में दस से लेकर बारह माला तक की जप संख्या ठीक मानी जाती है । किन्हीं की मन्द हो तो बढ़ानी चाहिए और तेज हो तो घटानी चाहिए । फिर भी अन्तर तो रहेगा ही । सब की चाल एक जैसी नहीं हो सकती । अनुष्ठान में २७ मालाएँ प्रति दिन जपनी पड़ती है । देखा जाय कि अपनी गति से इतना जप करने में कितना समय लगेगा । यह हिसाब लग जाने पर यह सोचना होगा कि प्रातः इतना समय मिलता है या नहीं । उसी अवधि में यह विधान पूरा हो सके प्रयत्न ऐसा ही करना चाहिए । पर यदि अन्य अनिवार्य कार्य करने हैं तो समय

का विभाजन प्रातः और सायं दो बार में किया जा सकता है । उन दिनों प्रायः ६ बजे सूर्योदय होता है । दो घण्टा पूर्व अर्थात् ४ बजे से जप आरम्भ किया जा सकता है सूर्योदय से तीन घण्टे बाद तक अर्थात् ९ बजे तक यह समाप्त हो जाना चाहिए । इन पाँच घण्टों के भीतर ही अपने जप में जो २(१/२)-३ घण्टे लगेंगे वे पूरे हो जाने चाहिए । यदि प्रातः पर्याप्त समय न हो तो सायंकाल सूर्यास्त से १ घण्टा पहले से लेकर २ घण्टे बाद तक अर्थात् ५ से ८ तक के तीन घण्टों में सवेरे का शेष जप पूरा कर लेना चाहिए । प्रातः ९ बजे बाद और रात्रि को ८ के बाद की नवरात्रि तपश्चर्या निषिद्ध है । यों सामान्य साधना तो कभी भी हो सकती है और मौन मानसिक जप में तो समय, स्थान, संख्या, स्नान आदि का भी बन्धन नहीं है । उसे किसी भी स्थिति में किया जा सकता है । पर अनुष्ठान के बारे में वैसा नहीं है । उसके लिए विशेष नियमों का कठोरता पूर्वक पालन करना पड़ता है ।

उपासना की विधि सामान्य नियमों के अनुरूप ही है । स्नानादि से निवृत्त होकर आसन बिछकर पूर्व को मुख करके बैठें । जिन्होंने कोई प्रतिमा या चित्र किसी स्थिर स्थान पर प्रतिष्ठित कर रखा हो वे दिशा का भेद छोड़कर उस प्रतिमा के सम्मुख ही बैठें । वरुण देव तथा अग्नि देव को साक्षी करने के लिए पास में जल पात्र रख लें और घृत का दीपक या अगरबत्ती जला लें सन्ध्याबन्दन करके, गायत्री माता का आवाहन करें । आवाहन मन्त्र जिन्हें याद न हो वे गायत्री शक्ति की मानसिक भावना करें । धूप, दीप, अक्षत, नैवेद्य, पुष्प, फल, चन्दन, दुर्वा, सुपारी आदि पूजा की जो मांगलिक वस्तुएँ उपलब्ध हों उनसे चित्र या प्रतिमा का पूजन कर लें । जो लोग निराकार को मानने वाले हों वे धूपबत्ती या दीपक की अग्नि को ही माता का प्रतीक मान कर उसे प्रणाम कर लें ।

अपने गायत्री गुरु का भी इस समय पूजन वन्दन कर लेना चाहिए, यही शाप मोचन है । कहा जाता है कि गायत्री मन्त्र कीलित है या शाप लगा हुआ है । उसका उत्कीलन करके जप करना चाहिए । इसका वास्तविक तात्पर्य इतना ही है कि स्वेच्छापूर्ण सर्व तन्त्र स्वतन्त्र साधना नहीं होने चाहिये, वरन् किसी के संरक्षण, सहयोग एवं पथ प्रदर्शन में साधना करनी चाहिए । नवरात्रि में साधना में गुरु पूर्णिमा की विशेष आवश्यकता है क्योंकि अनुष्ठान का कोई ब्रह्मा या संरक्षक अवश्य होता है ।

इस तरह आत्म शुद्धि और देव पूजन के बाद जप आरम्भ हो जाता है । जप के साथ-साथ सविता देवता के प्रकाश का अपने में प्रवेश होते पूर्ववत् अनुभव किया जाता है । सूर्य अर्घ्य आदि अन्य सब बातें उसी प्रकार चलती हैं, जैसी दैनिक साधना में । हर दिन जो आधा घण्टा जप करना पड़ता था वह अलग से नहीं करना होता वरन् इन्हीं २७ मालाओं में सम्मिलित हो जाता है ।

अगरबत्ती के स्थान पर यदि इन दिनों जप के तीन घण्टे घृतदीप जलाया जा सके तो अधिक उत्तम है । घृत का शुद्ध होना आवश्यक है । मिलावट के प्रचलित अन्धेर में यदि शुद्धता पर पूर्ण विश्वास हो तो बाहर से लिया जाय अन्यथा दूध लेकर अपने घर पर घी निकालना चाहिए । तीन घण्टे नित्य नौ दिन तक दीपक जले तो उसमें प्रायः दो ढाई सौ ग्राम घी लग जाता है । इतने घी का प्रबन्ध बने तो दीपक की बात सोचनी चाहिए अन्यथा अगरबत्ती, धूपबत्ती आदि से काम चलाना चाहिए । इनमें भी शुद्धता का ध्यान रखा जायें । सम्भव हो तो यह वस्तुएँ भी घर पर बना ली जायें ।

नवरात्रि अनुष्ठान नर-नारी सभी कर सकते हैं । इसमें समय, स्थान एवं संख्या की नियमितता रखी जाती है इसलिए उस सतर्कता और अनुशासन के कारण शक्ति भी अधिक उत्पन्न होती है । किसी भी कार्य में ढील-पोल शिथलता अनियमितता और अस्त-व्यस्तता बरती जाय उसी में उसी अनुपात में सफलता संदिग्ध होती चली जायेगी । उपासना के सम्बन्ध में भी यह तथ्य काम करता है । उदास मन से ज्यों-त्यों जब, जब वह बेगार भुगत दी जाय तो उसके सत्परिणाम भी स्वल्प ही होंगे, पर यदि उसमें चुश्ती, फुर्ती, की व्यवस्था और तत्परता बरती जायेगी तो लाभ कई गुना दिखाई पड़ेगा । अनुष्ठान में सामान्य जप की प्रक्रिया को अधिक कठोर और अधिक क्रमबद्ध कर दिया जाता है अस्तु उसकी सुखद

प्रतिक्रिया तो अत्यधिक होती है ।

प्रयत्न यह होना चाहिए कि पूरे नौ दिन यह विशेष जप संख्या ठीक प्रकार कार्यान्वित होती रहे । उसमें व्यवधान कम से कम पड़े । फिर भी कुछ आकस्मिक एवं अनिवार्य कारण ऐसे आ सकते हैं जिसमें व्यवस्था बिगड़ जाय और उपासना अधूरी छोड़नी पड़े । ऐसी दशा में यह किया जाना चाहिए कि बीच में जितने दिन बन्द रखना पड़े उसकी पूर्ति आगे चलकर कर ली जाय इस व्यवधान की क्षति पूर्ति के लिए एक दिन उपासना अधिक की जाय जैसे चार दिन अनुष्ठान चलाने के बाद किसी आकस्मिक कार्यवश बाहर जाना पड़ा । तब शेष पाँच दिन उस कार्य से वापस लौटने पर पूरे करने चाहिए । इसमें एक दिन व्यवधान का अधिक बढ़ा देना चाहिए अर्थात् पाँच दिन की अपेक्षा छै दिन में उस अनुष्ठान को पूर्ण माना जाय । स्त्रियों का मासिक धर्म यदि बीच में आ जाय तो चार दिन या शुद्ध न होने पर अधिक दिन तक रोका जाय और उसकी पूर्ति शुद्ध होने के बाद कर ली जाय । एक दिन अधिक करना इस दिशा में भी आवश्यक है ।

अनुष्ठान में पालन करने के लिए दो नियम अनिवार्य हैं । शेष तीन ऐसे हैं जो यथा स्थिति एवं यथा सम्भव किये जा सकते हैं । इन पाँचों नियमों का पालन करना पंच तप कहलाता है, इनके पालन से अनुष्ठान की शक्ति असाधारण रूप से बढ़ जाती है ।

इन नौ दिनों ब्रह्मचर्य पालन अनिवार्य रूप से आवश्यक है । शरीर और मन में अनुष्ठान के कारण जो विशेष उभार आते हैं उनके कारण कामुकता की प्रवृत्ति उभरती है । इसे रोका न जाय तो दूध में उफान आने पर उसके पात्र से बाहर निकल जाने के कारण घाटा ही पड़ेगा । अस्तु मनःस्थिति इस सम्बन्ध में मजबूत बना लेनी चाहिए । अच्छा तो यह है कि रात्रि को विपरीत लिंग के साथ न सोया जाय । दिनचर्या में ऐसी व्यस्तता और ऐसी परिस्थिति रखी जाय जिससे न शारीरिक और न मानसिक कामुकता उभरने का अवसर आये । यदि मनोविकार उभरें भी तो हठ पूर्वक उनका दमन करना चाहिए और वैसी परिस्थिति नहीं आने दी जाय । यदि यह नियम न सधा, ब्रह्मचर्य खंडित हुआ तो वह अनुष्ठान ही अधूरा माना जाय । करना हो तो फिर नये सिरे से किया जाय । यहाँ यह स्पष्ट है कि स्वप्नदोष पर अपना कुछ नियन्त्रण न होने से उसका कोई दोष नहीं माना जाता । उसके प्रायश्चित्य में दस माला अधिक जप कर लेना चाहिए ।

दूसरा अनिवार्य नियम है उपवास । जिनके लिए सम्भव हो वे नौ दिन फल, दूध पर रहें । ऐसे उपवासों में पेट पर दबाव घट जाने से प्रायः दस्त साफ नहीं हो पाता और पेट भारी रहने लगता है इसके लिए एनेमा अथवा त्रिफला-ईसबगोल की भूसी-कैस्टोफीन जैसे कोई हलके विरेचन लिए जा सकते हैं ।

एक समय अन्नाहार, एक समय फलाहार, दो समय दूध और फल, एक समय आहार, एक समय फल दूध का आहार, केवल दूध का आहार इनमें से जो भी उपवास अपनी सामर्थ्यानुकूल हो उसी के अनुसार साधना आरम्भ कर देनी चाहिए ।

महँगाई अथवा दूसरे कारणों से जिनके लिए यह सम्भव न हो वे शाकाहार-छाछ आदि पर रह सकते हैं । अच्छा तो यही है कि एक बार भोजन और बीच-बीच में कुछ पेय पदार्थ ले लिए जायें, पर वैसा न बन पड़े तो दो बार भी शाकाहार, दही आदि लिया जा सकता है ।

जिनसे इतना भी न बन पड़े वे अन्नाहार पर भी रह सकते हैं, पर नमक और शक्कर छोड़कर अस्वाद व्रत का पालन उन्हें भी करना चाहिए । भोजन में अनेक वस्तुएँ न लेकर दो ही वस्तुएँ ली जायें । जैसे-रोटी, दाल । रोटी-शाक, चावल-दाल, दलिया, दही आदि । खाद्य-पदार्थों की संख्या थाली में दो से अधिक नहीं दिखाई पड़नी चाहिए । यह अन्नाहार एक बार अथवा स्थिति के अनुरूप दो बार भी लिया जा सकता है । पेय पदार्थ कई बार लेने की छूट है । पर वे भी नमक, शक्कर रहित होने चाहिए ।

जिनसे उपवास और ब्रह्मचर्य न बन पड़े वे अपनी जप संख्या नवरात्रि में बढ़ा सकते हैं इसका भी अतिरिक्त लाभ है, पर इन दो अनिवार्य नियमों का पालन न कर सकने के कारण उसे अनुष्ठान, संज्ञा न दी जा सकेगी और अनुशासन साधना जितने सत्परिणाम की अपेक्षा भी नहीं रहेगी । फिर भी जितना कुछ विशेष साधन–नियम पालन इस नवरात्रि पर्व पर बन पड़े उत्तम ही है ।

तीन सामान्य नियम हैं–(१) कोमल शैया का त्याग (२) अपनी शारीरिक सेवाएँ अपने हाथों करना (३) हिंसा

द्रव्यों का त्याग ।

इन नौ दिनों में भूमि या तख्त पर सोना तप तितीक्षा के कष्ट साध्य जीवन की एक प्रक्रिया है । इसका बन पड़ना कुछ विशेष कठिन नहीं है । चारपाई या पलंग छोड़कर जमीन पर या बिस्तर लगाकर सो जाना थोड़ा असुविधाजनक भले ही लगे, पर सोने का प्रयोजन भली प्रकार पूरा हो जाता है ।

कपड़े धोना, हजामत बनाना, तेल मालिश, जूता, पालिश, जैसे छोटे-बड़े अनेक शारीरिक कार्यों के लिए दूसरों की सेवा लेनी पड़ती है । अच्छा हो कि यह सब कार्य भी जितने सम्भव हों अपने हाथ किये जायें । बाजार का बना कोई खाद्य पदार्थ न लिया जाय । अन्नाहार पर रहना है तो वह अपने हाथ का अथवा पत्नी, माता जैसे सीधे शरीर सम्बन्धियों के हाथ का ही बना लेना चाहिए । नौकर की सहायता इसमें जितनी कम ली जाय उतना उत्तम है । रिक्शे, ताँगे की अपेक्षा यदि साइकिल, स्कूटर, बस, रेल आदि की सवारी से काम चल सके तो अच्छा है । कपड़े अपने हाथ धोना, हजामत अपने हाथ बनाना कुछ बहुत कठिन नहीं है । प्रयत्न यही होना चाहिए कि जहाँ तक हो सके अपनी शरीर सेवा अपने हाथों ही सम्पन्न की जाय ।

तीसरा नियम है हिंसा द्रव्यों का त्याग । इन दिनों ९९ प्रतिशत चमड़ा पशुओं की हत्या करके ही प्राप्त किया जाता है । वे पशु मांस के लिए ही नहीं चमड़े की दृष्टि से भी मारे जाते हैं । मांस और चमड़े का उपयोग देखने में भिन्न लगता है, पर परिणाम की दृष्टि से दोनों ही हिंसा के आधार हैं । इसमें हत्या करने वाले की तरह उपयोग करने वाले को भी पाप लगता है । अस्तु चमड़े के जूते सदा के लिए छोड़ सकें तो उत्तम है अन्यथा अनुष्ठान, काल में तो उनका परित्याग करके रबड़, प्लास्टिक, कपड़े आदि के जूते चप्पलों से काम चलाना चाहिए ।

मांस, अण्डा जैसे हिंसा द्रव्यों का इन दिनों निरोध ही रहता है । आज-कल एलोपैथी दवाएँ भी ऐसी अनेक हैं जिनमें जीवित प्राणियों का सत मिलाया जाता है । इनसे बचना चाहिए । रेशम, कस्तूरी, मृगचर्म आदि का प्रायः पूजा प्रयोजनों में उपयोग किया जाता है, ये पदार्थ हिंसा से प्राप्त होने के कारण अग्राह्य ही माने जाने चाहिए । शहद यदि वैज्ञानिक विधि से निकाला गया है तो ठीक अन्यथा अण्डे बच्चे निचोड़ डालने और छत्ता तोड़ फेंकने की पुरानी पद्धति से प्राप्त किया गया शहद भी त्याज्य समझा जाना चाहिए ।

न केवल जप उपासना के लिए ही समय की पाबन्दी रहे वरन् इन दिनों पूरी दिनचर्या ही नियमबद्ध रहे । सोने, खाने, नहाने आदि सभी कृत्यों में यथा सम्भव अधिक से अधिक समय निर्धारण और उसका पक्का पालन करना आवश्यक समझा जाय । अनुशासित शरीर और मन की अपनी विशेषता होती है और उससे शक्ति उत्पादन से लेकर सफलता की दिशा में द्रुत गति से बढ़ने का लाभ मिलता है । अनुष्ठानों की सफलता में भी यह तथ्य काम करता है ।

अनुष्ठान के दिनों में मनोविकारों और चरित्र दोनों पर कठोर दृष्टि रखी जाय और अवांछनीय उभारों को निरस्त करने के लिए अधिकाधिक प्रयत्नशील रहा जाय । असत्य भाषण, क्रोध, छल, कटुवचन अशिष्ट आचरण, चोरी, चालाकी, जैसे अवांछनीय आचरणों से बचा जाना चाहिए, ईर्ष्या, द्वेष, कामुकता, प्रतिशोध जैसे दुर्भावनाओं से मन को जितना बचाया जा सके उतना अच्छा है । जिनसे बन पड़े वे अवकाश लेकर ऐसे वातावरण में रह सकते हैं जहाँ इस प्रकार की अवांछनीयताओं का अवसर ही न आवे । जिनके लिए ऐसा सम्भव नहीं, वे सामान्य जीवन यापन करते हुए अधिक से अधिक सदाचरण अपनाने के लिए सचेष्ट बने रहें ।

नौ दिन की साधना पूरी हो जाने पर दसवें दिन अनुष्ठान की पूर्णाहुति समझी जानी चाहिए इन दिनों (१) हवन (२) ब्रह्मदान (३) कन्याभोज के तीन उपचार पूरे करने चाहिए ।

संक्षिप्त गायत्री हवन पद्धति की प्रक्रिया बहुत ही सरल है । जप का शतांश हवन किया जाना चाहिए । प्रतिदिन हवन करना हो तो २७ आहुतियाँ और अन्त में करना हो तो २४० आहुतियों का हवन करना चाहिए । अच्छा यही है कि अन्त में किया जाय और उसमें घर परिवार के अन्य व्यक्ति भी सम्मिलित कर लिये जायें । यदि एक नगर में कई साधक अनुष्ठान करने वाले हों तो वे सब मिलकर सामूहिक बड़ा हवन कर सकते हैं, जिसमें अनुष्ठान कर्ताओं के अतिरिक्त अन्य

व्यक्ति भी सम्मिलित हो सकें। हवन में सुगन्धित पदार्थ अधिक हों, थोड़ी मात्रा में जौ, तिल, चावल, शकर और घी भी मिलाया जाय। गायत्री हवन पद्धति में सारा विधि-विधान लिखा है। ध्यानपूर्वक उसे पढ़ने और किसी जानकार की सहायता से समझने पर हवन की पूरी विधि आसानी से सीखी, समझी जा सकती है। उतना न बन पड़े तो भी ताँबे के कुण्ड में अथवा मिट्टी की वेदी बना कर उस पर आम, पीपल, बरगद, शमी, ढाक आदि की लकड़ी चिननी चाहिए और कपूर अथवा घी में डूबी रुई की बत्ती से अग्नि प्रज्वलित कर लेनी चाहिए। सात आहुति केवल घी की देकर इसके उपरान्त हवन आरम्भ कर देना चाहिए। आहुतियाँ देने में तर्जनी उँगली काम नहीं आती है। अँगूठा, मध्यमा, अनामिका का प्रयोग ही जप की तरह हवन में भी किया जाता है। मंत्र सब साथ-साथ बोलें, आहुतियाँ साथ-साथ दें। अन्त में एक स्विष्टकृत आहुति मिठाई की। एक पूर्णाहुति सुपाड़ी, गोला आदि की खड़े होकर। एक आहुति चम्मच से बूँद-बूँद टपका कर वसोधारा की। इसके बाद आरती, भस्म धारण, घृत हाथों से मल कर चेहरे से लगाना, क्षमा-प्रार्थना, साष्टांग परिक्रमा आदि कृत्य कर लेने चाहिए। इन विधानों के मंत्र न आते हों तो केवल गायत्री मंत्र का भी हर प्रयोजन में प्रयोग किया जा सकता है। अच्छा तो यही है कि पूरी विधि सीखी जाय और पूर्ण विधान से हवन किया जाय। पर वैसी व्यवस्था न हो तो उपरोक्त प्रकार से संक्षिप्त क्रम भी बनाया जा सकता है।

पूर्णाहुति के बाद प्रसाद वितरण, कन्या भोजन आदि का प्रबन्ध अपनी सामर्थ्य के अनुसार करना चाहिए। गायत्री आद्य शक्ति-मातृ शक्ति है। उसका प्रतिनिधित्त्व कन्या करती है। अस्तु अन्तिम दिन कम से कम एक और अधिक जितनी सुविधा हो कन्याओं को भोजन कराना चाहिए।

जिन्हें यह नवरात्रि की साधनायें करनी हों, उन्हें दोनों बार समय से पूर्व उसकी सूचना हरिद्वार भेज देनी चाहिए, ताकि उन दिनों साधक को सुरक्षात्मक, संरक्षण और उस क्रम में रहने वाली भूलों के दोष परिमार्जन का लाभ मिलता रहे। विशेष साधना के लिए विशेष मार्ग-दर्शन एवं विशेष संरक्षण मिल सके तो उससे सफलता की सम्भावना अधिक बढ़ जाती है। वैसे प्रत्येक शुभ कर्म की संरक्षण भगवान स्वयं ही करते हैं।

गायत्री अनुष्ठान और कन्या पूजन

स्नेह शुचिता, सरलता और पवित्र दृष्टि के कारण भारतीय संस्कृति में वैसे ही कुमारी कन्याओं की अपार महिमा गाई गई है। गायत्री उपासक के लिए तो वह साक्षात् गायत्री रूप ही मानी गई है। इसलिए जहाँ अन्यान्य अनुष्ठान और उपासनाओं में ब्रह्मभोजों को जोड़ा गया है वहाँ गायत्री अनुष्ठानों की पूर्ति कुमारी कन्याओं के भोज से हुई मानी जाती है। यज्ञादि अवसरों पर जलयात्रा और मंगल कलश स्थापना में कुमारी कन्याओं को प्राथमिकता दी गई है इससे इन अनुष्ठानों की, पवित्रता चरितार्थ होती है। शास्त्रों में इस अभिमत की पग-पग पर प्रशंसा की गई है।

जो कुमारी की अन्न, वस्त्र, जल अर्पण करता है उसका वह अन्न मेरु के समान और जल समुद्र के सदृश अक्षुण्य और अनन्त होता है "योगिनी तन्त्र" के कथानुसार "कुमारी पूजा का फल अवर्णनीय है, इसलिए सभी जाति की बालिकाओं का पूजन करना चाहिए। कुमारी पूजन में जातिभेद का विचार करना उचित नहीं।" काली-तन्त्र में कहा गया है कि "सभी बड़े-बड़े पर्वों पर अधिकतर पुण्य मुहूर्त में और महानवमी की तिथि को कुमारी पूजन करना चाहिए। सम्पूर्ण कर्मों का फल प्राप्त करने के लिए कुमारी पूजन अवश्य करें।" 'बहन्नीलतन्त्र' के अनुसार-"पूजित हुई कुमारियाँ विघ्न, भय और अत्यन्त उत्कृष्ट शत्रु को भी नष्ट कर डालती हैं।" "रुद्रयामल में लिखा है कि-कुमारी साक्षात् योगिनी और श्रेष्ठ देवता है। विधियुक्त कुमारी को अवश्य भोजन कराना चाहिए। कुमारी को पाद्य, अर्घ्य कुंकुम और शुभ चन्दन आदि अर्पण करके भक्तिभाव से उसकी पूजा करें।"

–कुब्जिका तन्त्र

"यजमान को चाहिए कि दस कन्याओं का पूजन करे। उनमें भी दो वर्ष से लेकर दस वर्ष की अवस्था की कुमारियों का ही पूजन करना चाहिए। दो वर्ष की आयु वाली 'कुमारी', तीन वर्ष की त्रिमूर्ति, चार वर्ष की 'कल्याणी', पाँच वर्ष की 'रोहिणी', छः वर्ष की 'कालिका', सात वर्ष की 'चण्डिका', आठ वर्ष की 'शाम्भवी', नौ वर्ष की दुर्गा और दस वर्ष की 'सुभद्रा' कही गई हैं। इनका मन्त्रों द्वारा पूजन करना चाहिए एक वर्ष वाली

कन्या की पूजा से प्रसन्नता नहीं होगी, अतः उसका ग्रहण नहीं है और ग्यारह वर्ष से ऊपर वाली कन्याओं का पूजा में ग्रहण वर्जित है ।"

'एक वर्ष की आयु वाली बालिका 'कुमारी' कहलाती है, दो वर्ष वाली 'सरस्वती', तीन वर्ष वाली 'त्रिधामूर्ति', चार वर्ष वाली 'कालिका', पांच वर्ष की होने पर 'सुभगा', छः वर्ष की 'उमा', सात वर्ष की 'मालिनी', आठ वर्ष की 'कुब्जा', नौ वर्ष की 'काल-सन्दर्भा', दसवें वर्ष में 'अपरजिता', ग्यारहवें वर्ष में 'रुद्राणी', बारहवें वर्ष में 'भैरवी', तेरहवें वर्ष में 'महालक्ष्मी', चौदहवें वर्ष पूर्ण होने पर 'पीठ-नायिका', पन्द्रहवें वर्ष में 'क्षेत्रज्ञा', और सोलहवें वर्ष में 'अम्बिका', मानी जाती है । इस प्रकार जब तक ऋतु का उद्गम न हो, तभी तक क्रमशः संग्रह करके प्रतिपदा आदि से लेकर पूर्णिमा तक वृद्धि-भेद से कुमारी पूजन करना चाहिए ।"

–रुद्रयामल-उत्तराखण्ड

'आठ वर्ष की बालिका गौरी, नौ वर्ष की रोहिणी और दस वर्ष की कन्या कहलाती है इसके बाद वही महामाया और रजस्वला भी कही गई है । बारहवें वर्ष से लेकर बीसवें तक वह 'सकुमारी' कही गई है ।"

–विश्वसार तन्त्र

कुमारी कन्याओं तक ही दिव्य भाव सीमित नहीं माना गया है । वरन् उसका क्षेत्र अत्यन्त विशाल है । प्रत्येक नारी में देवत्व की मान्यता रखना और उसके प्रति पवित्रतम श्रद्धा रखना एवं वैसा ही व्यवहार करना उचित है जैसा कि देवी-देवताओं के साथ किया जाता है । नारी मात्र को भगवती गायत्री की प्रतिमायें मानकर जब साधक के हृदय को पवित्रता का अभ्यास हो जाय तो समझना चाहिए कि उसके लिए परमसिद्धि की अवस्था अब समीप है । प्रारम्भ तो कुमारी पूजन से ही किया जाता है ।

देवी रूप कुमारिकायें

नारी में सहज पवित्रता है, फिर कन्या को तो साक्षात् देव प्रतिमा ही माना गया है । धर्म कृत्यों में उन्हें ब्राह्मण के समान ही पूजा योग्य बताया गया है । यज्ञादि कर्मों में कन्या भोजन का भी ब्राह्मण भोजन के समान ही माहात्म्य है । गायत्री, सरस्वती, दुर्गा, लक्ष्मी के अनुष्ठानों में तो प्रधान तथा कन्याभोज के साथ ही पूर्णाहुति की जाती है । अन्य अवसरों पर भी उनकी पूजा प्रतिष्ठा का विधान-कुमारी पूजन का माहात्म्य शास्त्रों में निम्न प्रकार बताया गया है–

न तथा तुष्यते शक्रः होमदान जपेन तु ।
कुमारी भोजने नात्र तथा देवी प्रसीदति ।।
अत्र नवरात्रे प्रक्षाल्य पादौ सर्वासां कुमारीणां ।
च वासव सुलिप्ते भूतले रम्ये तत्रमा आस स्थिताः।
पूजयेद् गंध पुष्पैश्च स्रम्भिश्चापि मनोरमैः ।
पूजयित्वा विधानेन भोजनं तासु दापयेत् ।

–देवी भागवत

भगवती इतनी और किसी पूजा उपासना से प्रसन्न नहीं होती जितनी कि कुमारी पूजन से । नवरात्रि में तो विशेषतया कुमारी पूजन करना चाहिए । गन्ध, पुष्प, चन्दन, आसन आदि उपकरणों से उनकी विधिवत् पूजा करनी चाहिए और कन्या भोजन कराना चाहिए ।

कुमारी पूजन से पूर्व यजमान की शारीरिक मानसिक शुचिता पर बहुत अधिक बल दिया है–

सुविताने शुभे स्थाने पंकजो परिपीठके ।
उपवेश्य कुमारी हाँ सर्वांग न्यायोत्समाचरेत्।।

–वृहज्ज्यौतिष्यर्णाद, धर्मस्कन्द ८/३/१२८

यजमान अपने अंगों का न्यास आदि करके पूजा पाठ पर आसन बिछाये और उस पर कुमारी पूजन करे ।

कुमारी कन्यायें केवल उच्चवर्णों की ही पूज्य मानी गई हों सो बात नहीं, उनमें देवी की सत्ता साकार होने के कारण किसी भी वर्ण की कन्या उतनी ही पूज्य है–

तस्माच्च पूजयेद्बालां सर्व जाति समुद्भवाम् ।
जाति भेदो न कर्त्तव्यः कुमारी पूजने शिवे ।।

–तन्त्र विज्ञान

सभी जाति की कुमारियों का पूजन करना चाहिए, क्योंकि कुमारी की पूजा में जाति-भेद निषेध है ।

देवी बुद्धया महाभक्त्या तस्मातां परिपूजयेत ।
सर्व विद्या स्वरूपा हि कुमारी नात्र संशयः ।।

–योगिनी तन्त्र

भक्ति भाव से और देवी में बुद्धि करके कुमारियों की पूजा करें । वे सर्व विद्या रूपिणी हैं, इसमें संशय नहीं है ।

आज तो सच्चे ब्रह्मविदों को ढूँढ़ पाना तो दूर की बात है उसकी पहचान करना भी कठिन हो गया है । आध्यात्म ज्ञान के नाम पर जहाँ-तहाँ अधकचरे धूर्त और ठग ही मिलते हैं । अतएव जहाँ भी ब्रह्मभोज आवश्यक हो वहाँ कन्याओं का भोजन सर्वथा निरापद है उससे भोज का प्रयोजन पूर्ण हो जाता है-

कुमारी पूज्यते यत्र स देषः क्षिति पावनः ।
महापुण्य तमो भूयात्समन्तात्क्रोश पंचक्रम् ।।

–तन्त्र विज्ञान

जहाँ कन्या की पूजा होती है, वह स्थान पृथ्वी में पवित्र है । पाँच कोश तक उसमें अपवित्रता नहीं रहती ।

यों समूची नारी जाति में ही कोमलता, पवित्रता और संवेदनशीलता के तत्व पुरुषों की अपेक्षा अधिक मात्रा में पाये जाते हैं पर कुमारी कन्याएँ विशेष कर किशोरियों में वह तत्व सर्वाधिक मात्रा में विद्यमान रहता है । भगवती गायत्री की उपासना से अन्तःकरण में इन्हीं तत्वों की अवधारण पुष्टि और विकास किया जाता है । इस तरह कन्याओं की पूजा-अर्चा भगवती गायत्री की ही आराधना का एक रूप माना गया है और उसे अनिवार्य कर दिया गया है । भले ही उनकी संख्या पांच सात या ग्यारह हो, पर व्यक्तिगत या सामूहिक नवरात्रि अनुष्ठानों के अवसरों पर पूर्णाहुति के तदनन्तर कन्याओं को भोजन अवश्य कराया जाये । यह भोजन नमक वाला न होकर सदैव मीठा ही कराया जाना चाहिए । देव पूजन में नमक कहीं भी प्रयुक्त नहीं होता है और कुमारी पूजन, देव पूजन के समकक्ष माना गया है । अतएव उसमें भी केवल मिष्ठान का ही प्रयोग हो नमक का नहीं ।

नवरात्रि अनुशासन का तत्व दर्शन

नवरात्रि की अनुष्ठान साधना का अत्यधिक महत्व माना गया है । इसमें पूजा-अर्चा की निर्धारित विधि व्यवस्था का अपना महत्व है और ऋतु सन्धि के अवसर पर इस बेला की समयपरक विशेषता है । इतने पर भी इस रहस्य को भली प्रकार हृदयंगम किया जाना चाहिए कि आत्मिक प्रगति के साथ जुड़ी रहने वाली सिद्धियों की दृष्टि से इन अनुष्ठानों का मर्म उस अवसर पर पालन किये जाने वाले अनुबन्ध, अनुशासनों के साथ जुड़ा हुआ है । वे नियम सामान्य व्यवहार में कुछ कठिन तो पड़ते हैं, पर ऐसे नहीं हैं जिन्हें सच्ची इच्छा के रहते व्यस्त समझे जाने वाले व्यक्ति भी पालन न कर सकें समझे जाने योग्य तथ्य यह है कि इन अनुशासनों का इन दिनों अभ्यास करने के उपरान्त जीवन दर्शन में स्थायी रूप से सम्मिलित करने की जो प्रेरणा है उसी को अपनाने पर प्रगति एवं सिद्धि का समस्त आधार केन्द्रीभूत है ।

नवरात्रि साधना को प्रखर बनाने और साधक की निष्ठा परिपक्व करने के लिए अनुष्ठानों में जो अनुबन्ध रखे गये हैं । उन्हें व्रत कहते हैं । नवरात्रि में उपवास, ब्रह्मचर्य, भूमिशयन, चर्मत्याग, स्वयंसेवा जैसे कुछ नियम पालन की परम्परा इसी दृष्टि से शास्त्रकारों ने बनाई है कि उपासना में अधिक प्रखरता का यह समावेश हो सके जो सुविधा, सरलता के वातावरण में उपलब्ध नहीं होता ।

स्वयं हजामत बनाने, स्वयं कपड़े धोने जैसे काम तो सहज पूरे होते रहते हैं । कठिनाई भोजन के सम्बन्ध में रहती है, स्वयं पकाना कठिन है । बिना पकाई हुई वस्तुओं या फलाहार उपवास को महत्व इसी दृष्टि से मिला है, पर सरलता की दृष्टि से छूट इतनी भी रखी गई है कि एक लगावन एक सब्जी, दाल जैसा ठोस वस्तु का आहार में उपयोग करना भी बाल उपवास मान लिया जाए । शाक-रोटी या दाल-रोटी जैसी दो वस्तुओं पर ही नवरात्रि काट ली जाए तो इतना प्रतिबन्ध भी उद्देश्य की पूर्ति में सहायक और कामचलाऊ सन्तोषजनक माना जाता है । इस तर्क के अनुसार शरीर सेवा से स्वावलम्बी होने से यह सुविधा मिला सकती है कि जिनकी शरीर सेवा स्वयं भी करते रहते हैं उनका श्रम बदले में स्वीकार कर लिया जाता है । माता, पिता, पत्नी एवं सन्तान की गणना ऐसे ही समुदाय में की जा सकती है, अस्तु इस सन्दर्भ में यदि छूट की बात सोचनी हो तो उनकी सेवा स्वीकारते हुए नवरात्रि में उनके बने भोजन को लेते रहा जा सकता है । कड़ाई इतनी तो बरती ही जानी चाहिए कि बाजार से वह आहार न खरीदा जाए जिस में दूसरों का कुसंस्कारी श्रम लगा हो ।

यह स्मरणीय इतना ही है कि अनुबन्ध आदर्शों के परिपालन का स्मरण दिलाने और उस सम्बन्ध में अधिक सतर्क करने की दृष्टि से ही बने या लगे हैं । उन्हें आँखें बन्द करके पालन करने में तो सामाजिक व्यक्तियों की जीवनचर्या की कठिन हो जायेगी । रेल, मोटर आदि की सवारी तक कठिन हो जायेगी । कमरे

में झाड़ू लगाने से लेकर डाक प्राप्त करने जैसे काम भी स्वयं करने की बात सोचने में गतिरोध उत्पन्न हो जायेगा और दैनिक क्रिया कृत्यों का, चलना ही सम्भव न रहेगा। उनकी बात अलग है जो एकान्त में एकाकी रहते हैं और अपना निर्वाह अपने बलबूते स्वतः ही कर लेते हैं। जहाँ तक जिसके लिए जितने अनुबन्धों का पालन कर सकना सम्भव हो वे उसमें कड़ाई बरतें इसमें सतर्कता और ईमानदारी बरतने से काम चल जाता है।

भूमिशयन से तात्पर्य कोमलता के स्थान पर कठोरता अपनाना है। यह प्रयोजन पलंग छोड़कर लकड़ी के तख्त से भी चल सकता है। इसके विपरीत यदि धरती पर फ़ोम के मोटे गद्दे डाल पर सोया जाये तो वे पलंग से भी अधिक कोमल हो सकते हैं। ऐसी दशा में मूल प्रयोजन की पूर्ति कहाँ हुई? बात चिन्ह पूजा से नहीं तपश्चर्या में सन्निहित आदर्शों के लिए कष्ट सहन में प्रसन्नता अनुभव करने की मनःस्थिति निर्माण करने से बनती है।

चमड़े के उपयोग से न केवल नवरात्रि में वरन् अन्य समय में भी कमी करने या बचने की आवश्यकता है। क्योंकि इन दिनों निन्यान्वे प्रतिशत चमड़ा पशु बध से ही उपलब्ध होता है। जिन्हें मांसाहार से परहेज है उन्हें वर्तमान परिस्थितियों में चमड़े का उपयोग भी बन्द करना चाहिए। इस दृष्टि से उस रेशम का उपयोग भी अग्राह्य ठहरता है जिसमें कीड़ों को जीवित ही उबाल कर रेशा उपलब्ध किया जाता है। कस्तूरी का यों प्रचलन है नहीं, पर उस स्तर की अन्य वस्तुएँ जो प्राणियों के वध करने से उपलब्ध होती हैं। साधना की मनःस्थिति बनाने में बाधा उत्पन्न करती है। मृगचर्म, व्याघ्रचर्म, अपनी मौत मरने वालों से प्राप्त होते थे तब पवित्र रहे होंगे। आज तो कहीं भी वैसा चमड़ा उपलब्ध नहीं होता। अतएव प्राचीन काल में मृगचर्म, व्याघ्रचर्म आदि के आसनों को जो मान्यता मिली थी आज की परिस्थिति में पूर्णतया समाप्त हो जाती है। चर्म त्याग की चिन्ह पूजा तो ऐसे भी हो सकती है कि नौ दिन रबड़ की चप्पल पहन कर काट लिये जाएँ, पर नवरात्रि उपासना तत्वज्ञान में सन्निहित संकेत सभी ऐसे हैं जिन्हें साधना अवधि में प्रयुक्त करने के बहाने अभ्यास में उतारा जाए और उसका निर्वाह भविष्य में भी यथासम्भव करते रहा जाए। 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' की अध्यात्म मान्यता का प्राणि वध से उपलब्ध साधनों का उपयोग करने से बढ़ती नहीं वरन् घटती और बुझती ही चली जाती है। अस्तु नवरात्रि में चर्म त्याग की लकीर पीट लेने से ही नहीं प्राणियों के प्रति करुणा बरतने, यहाँ तक कि अत्यधिक भार से लदे घायल पशुओं के श्रम का उपयोग करते समय भी उसी करुणा को अपना कर कुछ निर्णय करना होगा। प्रकारान्तर से नवरात्रि में चर्मत्याग के पीछे अहिंसा वृत्ति के विकास का तत्वज्ञान जुड़ा हुआ समझा जाना चाहिए।

नवरात्रि अनुष्ठानों में उपवास का नियम है। कठिन उपवास मात्र जल पर चलते हैं उसमें नीबू, गुड़ आदि का उपयोग हो सकता है, पर इसमें आने वाली दुर्बलता जिन्हें सहन नहीं वे दूध, दही, फल, शाक आदि अन्नाहार से रहित वस्तुओं को भी प्रयुक्त करते रह सकते हैं। एक समय ही भोजन करना उपवास की परिधि में आता है। यहाँ तक कि दोनों समय रोटी शाक जैसी दो वस्तुओं का जोड़ा दोनों समय लेते रहने वाले भी हलके उपवासकर्ता गिने जाते हैं। बालकों, बीमारों, वृद्धों, गर्भवतियों को प्रायः ऐसे ही सरल उपवास कर लेने का परामर्श दिया जाता है। क्षुधाजन्य विक्षुब्धता के बढ़ जाने पर तो अनुष्ठान काल के लिए आवश्यक शान्त मनःस्थिति में ही व्यतिरेक खड़ा हो जाता है।

उपवास का तत्वज्ञान आहार शुद्धि से सम्बन्धित है, "जैसा खाये अन्न वैसा बने मन" वाली बात आध्यात्मिक प्रगति के लिए विशेष रूप से आवश्यक समझी गई है। इसके लिए न केवल फल, शाक, दूध जैसे सुपाच्य पदार्थों को प्रमुखता देनी होगी, वरन् मात्र चटोरेपन की पूर्ति करने वाली मसाले तथा खटाई, मिठाई, चिकनाई की भरमार से भी परहेज करना होगा। यही कारण है कि उपवासों की एक धारा, 'अस्वाद व्रत' भी है।

साधक सात्विक आहार करें और चटोरेपन के कारण अधिक खा जाने वाली आदत से बचे, यह शरीरगत उपवास हुआ। मनोगत यह है कि आहार को प्रसाद एवं औषधि की तरह श्रद्धा भावना से ग्रहण किया जाए और उसकी अधिक मात्रा से अधिक बल मिलने वालों की प्रचलित मान्यता से पीछा छुड़ाया जाए। वस्तुतः आम आदमी जितना खाता है उससे आधे में उसका शारीरिक एवं मानसिक परिपोषण भली प्रकार हो सकता है। अति

अपनाने पर तो अमृत भी विष बनाता है । एक तत्व ज्ञानी का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि "आधा भोजन हम खाते हैं और शेष आधा हमें खाता रहता है ।" लुकमान कहते थे कि "हम रोटी नहीं खाते,रोटी हमें खाती है-" उन उक्तियों में संकेत इतना ही है कि शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का महत्व समझने वालों को सर्वभक्षी नहीं स्वल्पाहारी होना चाहिए । नवरात्रि उपवास में इस आदर्श को जीवन भर अपनाने का संकेत है ।

आध्यात्मिक दृष्टि से पौष्टिक एवं सात्विक आहार वह है जो ईमानदारी और मेहनत के साथ कमाया गया है । उपवास का अपना तत्वज्ञान है । उसमें सात्विक खाद्यों का कम मात्रा में लेना ही नहीं, न्यायोपार्जित होने की बात भी सम्मिलित है । इतना ही नहीं उसी सिलसिले में एक और बात भी आती है कि इस प्रकार आत्म संयम बरतने से जो बचत होती है उसका उपयोग परमार्थ प्रयोजनों में होना चाहिए न कि संचय करके अमीर बनने में । यही कारण है कि जहाँ नवरात्रि अनुष्ठानों में उपवास करके जो कुछ बचाया जाता है उसे पूर्णाहुति के अन्तिम दिन ब्रह्मभोज में खर्च कर दिया जाता है ।ब्रह्मभोज अर्थात् सत्कर्मों का परिपोषण प्राचीन काल में एक वर्ग ही इस प्रयोजन में रहता था, अस्तु उसका निर्वाह एवं अपनाई हुई प्रवृत्तियों का व्यवस्थाक्रम मिलाकर जो आवश्यकता बनती है उसकी पूर्ति को ब्रह्मभोज कहा जाता था । इस प्रयोजन के लिए दी गई राशि को दान या दक्षिणा भी कहा जाता था । नवरात्रि अनुष्ठान की पूर्णता यज्ञायोजन तथा ब्रह्मभोज के साथ सम्पन्न होती है । इसका कारण तलाश करने पर उपवास का रहस्य विज्ञान और विस्तार समझ में आता है ।

नवरात्रि को ब्रह्मचर्य प्रतिबन्ध के साथ-साथ कुमारिका पूजन की भी एक प्रक्रिया है । कुमारिकाएँ किशोरियाँ होती हैं । देवियों की वय भी यही है । इसका तात्पर्य यह हुआ है कि यौवन का उभार खिलते हुए फूल भर की दृष्टि से देखा जाना चाहिए । उसे मरोड़ने की नहीं सींचने की भावना उमड़नी चाहिए । सींचने, सँजोने का तात्पर्य है उसकी गरिमा में अभिवृद्धि । बालकों की सुन्दरता देखकर सहज प्रसन्नता होती और वात्सल्य अनुदान देने को जी करता है । यौवन को भी इसी दृष्टि से देखा जाए उसे निगलने की अजगर जैसी कुत्सा न उठे इसी का नाम आध्यात्मिक ब्रह्मचर्य है नवरात्रि की व्रतशीलता में रतिकर्म से विरत रहने का अनुबन्ध है । पर ब्रह्मचर्य का स्थूल एवं प्रारम्भिक निर्वाह है । इसे विकसित करने का प्रयास आजीवन चलते रहने में ही उसकी परिपक्वता बनती है ।

नर और नारी के मध्य भाई-बहिन का - पिता-पुत्री का, माता सन्तान का रिश्ता चले और यदि वे दाम्पत्य सूत्र में बँधते हैं तो परस्पर धर्म-पत्नी और धर्म-पति बनकर उच्चस्तरीय आत्मीयता एवं सहकारिता का प्रमाण प्रस्तुत करें । यही है ब्रह्मचर्य का तत्व ज्ञान ।

नवरात्रि की साधना पर्व पर विशेष रूप से प्रयुक्त करने और अनुबन्ध से अपनी जीवनचर्या को जोड़े रहने का वास्तविक उद्देश्य यह है कि थोड़े दिन बन्धन में बँधकर की गई साधना पीछे सामान्य दिनचर्या में उतरे और स्वभाव व्यवहार का अंग बनकर रहे । पूजा अर्चा की उपासना और उसके साथ सम्मिलित रहने वाले आदर्शवादी अनुबन्धों को साधना कहते हैं । उपासना को बीज और साधना को खाद पानी की उपमा दी जाती है और कहा जाता है कि फसल का फलित होना इस समन्वय पर ही निर्भर है ।

नवरात्रि अनुष्ठानों की एक विशेषता नियमितता के अनुशासन का कठोर परिपालन भी है । हर दिन सत्ताईस मालाएँ या ढाई घण्टे का जप ही सम्पन्न होना चाहिए । प्रायः सायं की आरती प्रार्थना में नागा नहीं होनी चाहिए । आहार-विहार के लिए निर्धारित अनुबन्धों का परिपालन संकल्पपूर्वक चलना चाहिए । २४० आहुतियों की व्यवस्था बननी चाहिए । ब्रह्मभोज के रूप में परमार्थ प्रयोजन के लिए उदार अनुदान जुटना ही चाहिए । इस प्रकार के अनुशासनों का नियमितता और निष्ठापूर्वक पालन करने से ही अनुष्ठान का उद्देश्य पूरा होता है । अनियमितता और स्वेच्छाचार बरतने की गन्दी चाल अपना कर साधना की चमत्कारी परिणति का लाभ ले सकना किसी के लिए भी सम्भव नहीं हो सकता ।

अनगढ़ और उच्छृंखल जीवनयापन पशु स्तर का गिना जाता है उसे उच्चस्तरीय, आध्यात्मिक, दैवी बनाने के लिए संयम बरतने, मर्यादा पालने एवं आदर्शवादिता अपनाने के लिए साहसिकता का परिचय देना होता है । इन्हीं तथ्यों को नवरात्रि अनुष्ठानों के साथ जुड़े हुए अनुबन्धों का सार संक्षेप समझा जाना चाहिए । मनुष्य में देवत्व का उदय उद्भव करने की बात देखने में सामान्य

किन्तु परिणाम की दृष्टि से उसे महान् सम्भावनाओं से परिपूर्ण माना जा सकता है ।

अनेकों सत्प्रवृत्तियों का उभार नवरात्रि आयोजनों में

नवरात्रि आयोजनों के साथ कई प्रकार की सत्प्रवृत्तियों को उभारने का अवसर मिलता है । इस दिशा में समुचित सतर्कता बरती जाय तैयारी की जाय तो आशाजनक सत्परिणाम सामने होंगे और यह साधना पर्व सच्चे अर्थों में सृजन पर्व बनकर रहेगा ।

अपने क्षेत्र में रुचि कहाँ-कहाँ है ? किन-किन में इस स्तर की सुसंस्कारिता के बीजांकुर मौजूद हैं । उसकी तलाश इस बहाने सहज ही हो सकती है । उपासना में सम्मिलित करने के लिए जन सम्पर्क अभियान चलाया जाय और घर-घर जाकर जन-जन को इस पुण्य प्रक्रिया का महत्व समझाया जाय तो जहां भी आध्यात्मिक रुचि का अस्तित्व मौजूद होगा वहां उसे खोजा और उभारा जा सकेगा । यह अपने आप में एक बहुत बड़ा काम है । दूब की जड़ें कड़ी धूप पड़ने पर सूख जाती हैं । पर वर्षा पड़ते ही उनमें फिर सजीवता उत्पन्न हो जाती हैं और देखत-देखते हरियाली के रूप में उसका सहज अस्तित्व सामने आ जाता है । जन समुद्र में मोती वाली सीप कहां है यह ढूंढा जा सके और उन्हें स्वाँति वर्षा का लाभ मिल सकने की स्थिति तक पहुँचा दिया जाय तो उनमें से प्रत्येक को मोती जनने का सौभाग्य मिल सकता है । इस खोजबीन के सहारे धर्म रुचि को ढूंढ़ निकालना और उसे विकसित होने का अवसर ला देना ऐसा सत्प्रयत्न है जिसके माध्यम से अपने इर्द-गिर्द अनेकों नर रत्न उत्पन्न होने की संभावना साकार हो सकती है ।

एक दिन का प्रभाव तो हलका और झीना होता है पर नौ दिन तक लगातार किसी साधना को किया जाय और वह भी नियम पूर्वक और तपश्चर्या के साथ तो निश्चय ही उसका प्रभाव उथला न रहकर गहरा होता चला जायेगा । साथ-साथ कोई भी काम किया जाय वह प्रिय लगने लगता है । उत्साह रहता है आभ्यास बनता है और अन्ततः वह स्वभाव का अंग बन जाता है । उपासना के प्रति इन दिनों एक प्रकार से उपेक्षा का ही वातावरण है । नवरात्रि का अभिनव वातावरण उस उपेक्षा को काट कर नया मार्ग दर्शन करता है वह अनुकरण की प्रेरणा भरता है । फलतः इन आयोजन का दूरगामी परिणाम यह होगा कि उस क्षेत्र में आस्तिकता की अभिवृद्धि होगी । कहना न होगा कि आस्तिकता यदि सच्चे अर्थों में सच्चे स्वरूप में समझाई और हृदयंगम कराई जा सके तो उसके साथ अनेकों सत्प्रवृत्तियां मनुष्य को सहज ही उपलब्ध होती हैं । इस उपलब्धि से व्यक्तित्व को विकसित करने की समृद्धि और प्रगति की अनेकानेक संभावनाएँ विकसित होती चली जाती हैं ।

भारतीय समाज की सांस्कृतिक एकता की दृष्टि से कम से कम आस्तिकता के प्रति आस्था तो रहनी ही चाहिए । इतना भी न बन पड़ा तो विलगाव को समन्वय के रूप से विकसित कर सकना अति कठिन हो जायेगा गायत्री ज्ञान और विज्ञान में वे तत्व मौजूद हैं जो व्यक्ति और समाज के ढांचे में सत्प्रवृत्तियों का सतावेश और संवर्धन कर सके । वैयक्तिक समृद्धि और सामूहिक प्रगति के लिए जो करना आवश्यक है उसको बहुमुखी प्रेरणाएँ गायत्री मंत्र के २४ अक्षरों की व्याख्या विवेचना द्वारा सहज ही उपलब्ध हो सकती है । लोक शिक्षण का जन-मानस के परिस्कार का जितना छोटा और जितना सशक्त आधार गायत्री मंत्र है वैसा विश्व भर में अन्यत्र खोज निकालना असंभव है । उस बहुमूल्य आधार की जानकारी और अभिरुचि का क्षेत्र सम्वर्धन नवरात्रि आयोजनों के सरल प्रयासों द्वारा हो सकता है । उज्ज्वल भविष्य के निर्माण ही महान संभावनाएँ इस छोटे से प्रयास द्वारा गीतशील विकसित और परिपुष्ट हो सकती है ।

दार्शनिक एकता न केवल भारत में वरन् समस्त विश्व में भी होनी चाहिए । होकर रहेगी । इसके लिए विश्व भावना को एक सूत्र में जोड़ने वाला कोई आधार तो खोजना या बनाना ही पड़ेगा । कहना न होगा कि इस युग की आवश्यकता को पूरा कर सकने की क्षमता गायत्री मंत्र से बढ़कर और कहीं ढूंढ़ सकना कठिन है । वह प्राचीनतम भी है और नवीनतम भी । उसमें आस्थाओं की गहराई और तथ्यों की तरुणाई का परिपूर्ण समन्वय है । गायत्री के प्रति न केवल भारतीय समाज में वरन् विश्व विस्तार में भी सद्भावना है । जिस प्रकार गीता को हिन्दू धर्म की सीमा में नहीं बांधा जाता विश्व, मानव की सम्पदा समझा जाता है और

संसार भर में समान श्रद्धा के साथ उसे पढ़ा, अपनाया जाता है ठीक उसी प्रकार गायत्री का तत्वज्ञान भी थोड़े से प्रयत्न से विश्व मानव की सम्पत्ति बन सकता है। उसे थोपने की आवश्यकता नहीं। मात्र उसका आलोक और स्वरूप समझाने और समझाये जाने की आवश्यकता है। यह कार्य नवरात्रि आयोजनों से बहुत ही अच्छी तरह हो सकता है। प्रवचनों और पुस्तकों की शक्ति कितनी ही बढ़ी-चढ़ी क्यों न हो जब तक किसी दर्शन को व्यवहार प्रयोग में स्थान नहीं मिलता तब तक उसका लोक मान्यता में, प्रचलन और परम्परा में सम्मिलित हो सकना कठिन है। गायत्री के तत्व ज्ञान को जन-जीवन का अङ्ग बनाने से नवरात्रि के साधना सत्रों का प्रभाव गम्भीर भी होगा और दूरगामी भी। इस माध्यम से उज्ज्वल भविष्य के निर्माण एवं जन कल्याण की आवश्यकता पूरा कर सकने वाले आधार खड़े होते हैं।

नवरात्रि आयोजनों में सामाजिक क्रान्ति के अति महत्त्वपूर्ण तथ्यों का समावेश है। पिछले दिनों की रूढ़िवादिता और प्रतिगामिता ने जाति भेद के नाम पर प्रचलित ऊँच नीच को इस कदर बढ़ा दिया था कि उसने उपासना के सूर्य पर भी ग्रहण लगाये बिना नहीं छोड़ा गायत्री उपासना के संदर्भ में पिछले अन्धकार युग में यह मूढ़ मान्यता फैला दी गई थी कि उसे मंत्र ब्राह्मण ही जप कर सकते हैं। स्त्री-शूद्रों के लिए पूर्ण निषेध था और अन्य जातियों को भी उनसे दूर रखा जाता था। प्रस्तुत नवरात्रि अभियान में जाति लिंग के समस्त भेद प्रतिबन्ध हटा दिये गये हैं। सभी नर नारी बिना किसी जाति भेद के उस उपासना में समान रूप से सम्मिलित हो सकते हैं। इसमें मानवी एकता और समता के आदर्शों का परिपूर्ण समावेश है। फलतः उस संकीर्णता पृथकता और मिथ्या अहमण्यता का इस माध्यम से सहज उन्मूलन होता है जो सदृढ़ भारतीय समाज को छिन्न-भिन्न कर देने में प्रधान रूप से उत्तरदायी है।

नवरात्रि आयोजनों के अन्त में साधकों के सहभोज की भी प्रथा है। इनमें अमृताशन ही परोसा जाता है अमृताशन का तात्पर्य है वे खाद्य पदार्थ जो भगौने में पकाये जा सकते हैं। दाल, चावल, खिचड़ी, दलिया आदि उसी वर्ग के हैं। पक्वान मिष्ठान की तुलना में अत्यंत सस्ता भी पड़ता है और पकाने में भी सरल है। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी बात यह है कि कच्ची पक्की रसोई में जो जातिवाद छूहछात का विलगाव चला आता है उसका इस प्रचलन से अन्त होता है। जगन्नाथपुरी में सभी भक्त जन बिना जातिगत भेदभाव के उबले हुए चावलों का प्रसाद बिना किसी असमंजस के श्रद्धा पूर्वक ग्रहण करते हैं फिर वही भावना गायत्री यज्ञ उपासना के पावन पर्व पर क्यों न ही परिलक्षित होनी चाहिए। जाति गत ऊँच नीच की मान्यता देखने में साधारण भी प्रतीत होती है पर वस्तुतः उसने असंख्यों सामाजिक कुरीतियों सम्प्रदायों और बिलगाव की दुष्प्रवृत्तियों को जन्म दिया है। एक भारतीय समाज टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गया है। इस भूल का परिमार्जन करने के लिए नवरात्रि आयोजनों में बिना किसी जाति और लिंग गत भेदभाव के उपासना एवं सहभोज में सम्मिलित होने का प्रचलन एक प्रकार के क्रान्तिकारी कदम ही कहा जायेगा। सामाजिक परिवर्तन के लिए इन प्रचलनों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आधार जुड़े देखे जा सकते हैं।

गायत्री उपासना में भगवान को नारी रूप माना गया है। प्रकारान्तर से यह नारी तत्व की, मातृ शक्ति की वरिष्ठता को स्वीकार करना है। अगले दिनों भावना क्षेत्र का नेतृत्व नारी के हाथ में होगा। पुरुष अपनी सहज प्रकृति के अनुरूप श्रम साध्य कठोर कार्यों का उत्तर दात्यिव बहन करेंगे। गायत्री उपासना में युवा नारी के प्रति पवित्र तम श्रद्धा को अपनाये रहने का तत्वज्ञान है। इसे परिवार एवं सामाजिक जीवन में स्थान दिया जायेगा तो सद्भावना और उत्कृष्टता और सच्चरित्रता को उभरने का परिपूर्ण अवसर मिलेगा। नवरात्रि के अन्त में ब्रह्मभोज के स्थान पर कन्या भोज होते हैं। इस प्रथा में कन्या को देवता के ब्राह्मण के तुल्य उत्कृष्ट मानने का प्रावधान है। पुत्र और कन्या के बीच अन्तर करने वाले कन्या जन्म को दुर्भाग्य मानने वाले नवरात्रि के अवसर पर व्यक्त की जाने वाली मान्यता के आधार पर अपनी भूल सुधार सकते हैं।

सामूहिक साधना का उपयुक्त अवसर नवरात्रि पर्व

नवरात्रि पर्व पर एकाकी अथवा पारिवारिक साधनाओं की अपेक्षा सामूहिक रूप से अनुष्ठान सम्पन्न हों तो उनकी महत्ता बहुत अधिक होती है। प्रचीन काल

में ऐसे आयोजनों की सर्वत्र परम्परा थी। कहीं-कहीं आज भी नवरात्रि पर्व गाँव के गाँव मिलकर सम्पन्न करते हैं। जहाँ ये परम्परा न चलती हों वहाँ भी नवरात्रि पर्व सामूहिक रूप से पंडाल बनाकर, उसे सजा कर सम्पन्न की जानी चाहिए। सामूहिक हवन का क्रम प्रतिदिन चले तो अच्छा अन्यथा अन्तिम दिन तो रखा ही जाये।

कुछ काम ऐसे होते हैं जो नितान्त वैयक्तिक होते हैं। दूसरों की जानकारी या भागीदारी उनमें विक्षेप उत्पन्न करती है ऐसा कोई कार्य एकान्त में ही किया जा सकता है। पर अन्य सारे काम मिलजुल कर करने होते हैं। मनुष्य की संरचना ही ऐसी है जिसमें हर महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी कार्य मिलजुल कर ही करना उपयुक्त पड़ता है। मल, मूत्र का विसर्जन, स्नान, शयन, अश्लील आचरण जैसे कुछ ही कार्य है जो दूसरों को अरुचि कर लगते हैं, वे एकान्त में ही किये जाते हैं। जिन जानकारियों को प्राप्त करके दूसरे अपनी हानि कर सकते हैं, ऐसे जमीन में धन गाढ़ने जैसे काम भी गोपनीय रखे जाते हैं। अच्छी योजनायें तो सबको बताई जाती हैं और उसमें सलाह परामर्श भी माँगे जाते हैं। किन्तु कोई दुरभिसन्धि रचनी हो, कुकृत्य करना हो तो उस षड्यन्त्र का दूसरों को पता नहीं चलने दिया जाता।

उपासना का एक स्तर ऐसा भी होता है जिसमें वैज्ञानिक प्रयोग परीक्षण की तरह एकान्त की आवश्यकता पड़ती है, पर वह विशेष स्थिति विरले लोगों के लिए ही कुछ ही समय के लिए आती है। सामान्यतया भौतिक और आत्मिक प्रगति के सभी प्रयोजन मिलजुल कर करने पड़ते हैं, उन्हीं में आनन्द भी आता है, उन्हीं में सफलता मिलती है और श्रेय सम्मान भी ऐसे ही कार्यों में मिलता है, जो पारस्परिक सहयोग के साथ किये जाते हैं। उपासना के सम्बन्ध में भी यही बात है।

सामूहिक प्रार्थना को समस्त संसार में समस्त धर्मों में सदा से महत्व दिया जाता रहा है। ईसाइयों की सामूहिक प्रार्थना रविवार के दिन गिरजे में होती है, मुसलमान मस्जिद में एकत्रित होते हैं और एक नियत समय पर नियत विधि से मिल-जुल कर उस कृत्य को पूरा करते हैं। ईद-बकरीद जैसे पर्व सामूहिक पूजा प्रार्थना के रूप में ही सम्पन्न होते हैं। जो रोज मस्जिद नहीं जा सकते, वे सप्ताह में एकबार शुक्र को तो वहाँ पहुँचने का प्रयत्न करते ही हैं। ईसाइयों में बड़े दिन जैसे पर्वों पर हँसी-खुशी अन्यान्य व्यक्तियों के साथ मिल-जुल कर बड़े रूप में उपासना कृत्य सम्पन्न किया जाता है। यदि यह कार्य सब लोग अलग-अलग बैठकर करें तो आनन्द मिलना तो दूर मन लगाना तक कठिन हो जायेगा।

यहूदी, पारसी, बौद्ध, आदि संसार के सभी धर्मों में उपासना पर्व मिल-जुल कर ही सम्पन्न किये जाते हैं। प्राचीन काल में योग विज्ञान के कुछ अन्वेषक अपने विशिष्ट प्रयोगों और अनुसंधानों के लिए एकान्त की आवश्यकता अनुभव करते थे और वन प्रदेशों एवं कन्दराओं में चले जाते थे पर यह प्रयोग सर्व साधारण के लिए कुछ विशेष व्यक्तियों के लिए ही आवश्यक होता है। शेष के लिए तो समूची आध्यात्म साधनाएँ भी मिलजुल कर सम्पन्न होती थीं।

सूत शौनक सम्वादों में नैमिषारण्य आदि क्षेत्र में हजारों ऋषियों का एकत्रित होना और सत्संग क्रम चलना प्रसिद्ध है। पुराण चर्चा ऐसी ही ज्ञान गोष्ठियों में सम्पन्न होती थी। वानप्रस्थों के लिए विशाल काय आरण्यक की व्यवस्था थी। जिस प्रकार गुरुकुल में विद्यार्थी मिलजुल कर रहते और पढ़ते थे उसी प्रकार वानप्रस्थ सन्यासी भी इन आरण्यकों में निवास, अध्ययन, साधना का लाभ लेते थे। तीर्थों का रचना ही इस प्रयोजन के लिए हुई थी कि वहाँ पहुँच कर सामान्य व्यक्ति भी साधना एवं शिक्षण सत्र में सम्मिलत रहकर आत्म परिष्कार का अवसर प्राप्त कर सकें।

उपासना भी ऐसा कृत्य है जिसमें सामूहिकता अपनाने में कहीं अधिक आनन्द मिलता है और कहीं अधिक सफलता मिलती है। मन्दिरों में आरती की परम्परा आदिकाल से चली आ रही है।

पाठशालाओं में अध्ययन करने से पूर्व बालक सामूहिक प्रार्थना करते हैं। पर्वों का निर्माण ही इस उद्देश्य को लेकर हुआ है कि लोग मिल-जुलकर धर्म कृत्य करने का महत्व समझें। बसन्त पंचमी, शिवरात्रि, होली, रामनवमी, गंगादशहरा, गुरुपूर्णिमा, श्रावणी, जन्माष्टमी, विजयादशमी आदि सभी पर्वों पर जगह-जगह अपने-अपने ढंग से उत्सव मनाये जाते हैं और एकत्रित लोग मिल-जुलकर परम्परागत धर्म कृत्यों को सम्पन्न करते हैं।

मेलों का रूप अब मनोरंजन प्रधान या व्यावसायिक भले ही बन गया हो पर उनके आरम्भ करने वालों का

क्या प्रयोजन रहा है तथा अभी भी उनके पीछे मूल उद्देश्य क्या छुपा हुआ है ? इसका थोड़ी-सी गहराई में अन्वेषण करने पर एक ही तथ्य उभर कर आता है-धर्म धारणा को मिल-जुलकर प्रोत्साहित एवं परिपक्व करना ।

सामूहिक प्रयत्नों से अधिक सुविधा व्यवस्था और सफलता मिलती ही है, साथ ही सबसे बड़ी बात यह है कि मन लगा रहता है और उत्साह मिलता है । यह सोचना गलत है कि एकान्त में मन लगता है । सच तो यह है कि चित्त उचटने की उसी में अधिक कठिनाई पड़ती है । समूह में तो अन्य मनों के साथ अपना मन भी रस्से में बँधा रहता है और झुण्ड में उड़ने वाले पक्षियों की तरह एक दिशा में उड़ता रहता है, किन्तु एकाकी पखेरू, अकेला रहने वाला पशु जिस प्रकार खिन्न उद्विग्न दिखाई पड़ता है उसी तरह एकाकी मन भी उदास नीरस, खिन्न बना रहता है ।

सुख और दुःख मिल-बाँटकर ही भोगे जा सकते हैं । करोड़पति और समस्त साधन सम्पन्न व्यक्ति को यदि एकाकी रहने दिया जाय तो उन समस्त साधनों के रहते हुए भी उस पर उदासी ही छाई रहेगी । बिना दूसरों के सहयोग के प्रसन्नता की अनुभूति कठिन है । जंगलों में कभी-कभी कोई जानवर झुण्ड से अलग होकर एकाकी रहने लगते हैं, तो इस दुष्प्रवृत्ति को अपनाते ही उन्हें अपने समाज की सौम्य परम्पराओं से भी हाथ धोना पड़ता है । वनवासी जानता है कि इकट्ठे अकेले रहने वाले पशु कितने खतरनाक होते हैं, वे अकारण मनुष्यों तथा दूसरे पशुओं पर हमला बोलते हैं । देखते ही वनवासी उनसे पीछा छुड़ाने का काम हाथ में लेते हैं । मनुष्यों में भी इक्कड़ प्रवृत्ति जहाँ भी मिलेगी वहाँ उन लोगों में संकीर्णता, स्वार्थपरता, अनुदारता, निष्ठुरता जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ भरी दिखाई देंगी, न वे किसी के काम आ रहे होंगे और न कोई उन्हें सहयोग दे रहा होगा फलतः उन्हें सबसे और सबको उनसे शिकायत ही बनी रहेगी ।

नवरात्रि पर्व सामूहिक उपासना का पर्व है । साधना के लिए प्रकृति गत अनुकूलता एवं सूक्ष्म जगत में उन दिनों विशिष्टता का ध्यान रखते हुए इन दिनों अधिक साधना रत होने की परम्परा चली आती है । यह प्रयत्नशीलता और परिस्थिति का भली प्रकार ताल मेल मिलना है ।

नवरात्रि साधना में प्रकृतिगत-अनुकूलता की बात जितनी महत्त्वपूर्ण है उतनी ही उपयोगिता सामूहिक साधना के प्रचलन की भी है । यह पर्व सर्वत्र स्नेह सहयोग के वातावरण में मिलजुल कर ही मनाया जाता है । उत्साह और आनन्द के सभी ज्वार भाटे सहकारिता के चुम्बकत्व भरी पवन से ही उत्पन्न होते हैं । हर कोई अलग-अलग ही टंट-घण्टा करता रहे तो उतने भर से उमंगों और भाव भरी गुदगुदी का कहीं दर्शन भी न हो सकेगा ।

नवरात्रि में रामलीला, रासलीला, रामायण, सप्तशती पाठ, भागवत् पाठ, अखंड कीर्तन जैसे सामूहिक धर्मानुष्ठान चलते रहते हैं, इनसे जो वातावरण बनता है उससे जन मानस को एक दिशा विशेष में प्रभावित होने का सहज अवसर मिलता है । रामलीला के मेले में हनुमान, काली आदि के मुखौटे और तीर कमान बिकते हैं बच्चे उन्हें बड़े चाव से खरीदते हैं और राम लक्ष्मण जैसे तीर चलाने हनुमान, काली जैसे उछल-कूद करने का अभिनय करते हैं । यह आचरण किसी के कहने से नहीं अनुकरण की मानव प्रकृति के प्रभाव से स्वतः ही सम्पन्न होते हैं । ठीक इसी प्रकार अन्यान्य धर्मानुष्ठानों से भी उनके साथ जुड़ी हुई प्रेरणाओं का प्रभाव पड़ता है । जन मानस को प्रभावित करने और उसे श्रेष्ठता की दिशा में प्रभावित करने के विशेष लाभ को ध्यान में रखते हुए ही तत्वदर्शकों ने धर्मानुष्ठान की परम्परा में सामूहिकता का उल्लास जोड़ा है । यह परम्परा हर दृष्टि में दूरदर्शिता पूर्ण और उपयोगी देख कर ही आरम्भ की गई है ।

नवरात्रि के पावन पर्व पर प्राचीन काल में गायत्री उपासना का ही एक मात्र प्रसंग मिलता है । विभिन्नताएँ तो साम्प्रदायिक उन्माद की देन है । सनातन संस्कृति में तो पूरी तरह एकरूपता, एकनिष्ठा, एक दिशा, एक लक्ष्य का ही निर्धारण था । ज्ञान और विज्ञान के आधार थे । वेद और उपासना का समूचा तत्वज्ञान और विधि-विधान गायत्री उपासना की धुरी पर परिभ्रमण करता था, उन दिनों सर्व साधारण के लिए दैनिक संध्यावन्दन के रूप में गायत्री मंत्र ही उपासना का मेरुदण्ड था । विशिष्ट साधकों के लिए इसी कल्प वृक्ष के नीचे अभीष्ट सफलताओं की साधना का उपयुक्त आश्रय मिलता था । योगी और तपस्वी इसी अवलम्बन के सहारे अपना महामंत्र प्राप्त करते थे । देवताओं और अवतारों के लिए भी शक्ति का स्रोत यही महा यज्ञ था । तब और

कुछ न तो सोचने की गुंजायश थी और न भटकाने वाली भूल भुलैया ही तब तक रची गयी थी। ऐसी दशा में सामान्य अथवा विशिष्ट उपासना में रुचि रखने वाले एक ही मार्ग पर धीमी या तेज गति से चलते थे। नवरात्रि पर्व पर जहाँ जैसी साधना-योजना बनती थी, उससे गायत्री मंत्र को केन्द्र और सामूहिक आयोजन को प्रक्रिया का अवलम्ब बनाया जाता था।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान के इस पुण्य प्रभात में हमें अपनी विस्मृत परम्पराओं को फिर से खोज निकालने और सजीव करने की आवश्यकता है। इस दृष्टि से जाग्रत आत्माओं को नवरात्रि पर्व और गायत्री उपासना का सामूहिक उपक्रम मिला देने का प्रयत्न करना चाहिए। विलगाव और भटकाव के जंजाल में से निकल कर निर्धारित लक्ष्य की ओर चल पड़ने का यही एक उपाय है।

नवरात्रि के साथ दुर्गावतरण की कथा जुड़ी हुई है असुरों से संत्रस्त देवता प्रजापति के पास जाते हैं और पूछते हैं कि हम सद्गुणों से सम्पन्न होते हुए भी दुष्ट असुरों से हारते क्यों हैं ? ब्रह्माजी ने सीधा उत्तर दिया-संगठन और पराक्रम के अभाव में अन्य गुण निष्प्राण ही बने रहते हैं। संकट से छूटने और वर्चस्व पाने के लिए संगठित और पराक्रमी बनने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं। देवता सहमत हुए। योजना बनी और संगठित पराक्रम की देवी दुर्गा का अवतरण संभव हुआ। उन्हीं के प्रहार से तत्कालीन असुर-दानवों का पराभव संभव हुआ। आज भी वही स्थिति है। देवत्व को हारते और दैत्य को जीतते पग-पग पर देखते हैं। उसमें दैत्य की वरिष्ठता कारण नहीं वरन् तथ्य यह है कि देव पक्ष ने न तो संगठित होने की आवश्यकता समझी और न पराक्रम के हाथ दिखाये, इस भोलेपन को दैत्यों ने दुर्बलता समक्षा और आक्रमण का खंग निर्द्वन्द होकर चलाना शुरू कर दिया। संक्षेप में आज की विभीषिकाओं के मूल में यही एक कारण है। इसका निराकरण भी जब तक संभव न होगा तब तक कि दुर्गावतरण की पुनरावृत्ति न होगी। गायत्री जयन्ती पर उस महाशक्ति का पवित्र पावनी गायत्री-गंगा शक्ति का अभिनन्दन किया जाता है। नवरात्रि में उसका उत्तरार्ध किया जाना चाहिए। असुर निकन्दिनी के प्रचण्ड भर्ग को जीवित, जाग्रत और सक्रिय करने का ठीक यही समय है। नवरात्रि की दुर्गा पूजा से आत्म साधना के साधकों को ब्रह्मवर्चस की प्रेरणा उपलब्ध करनी चाहिए। सामूहिकता की शक्ति से बाल, वृद्ध विज्ञ, अज्ञ सभी परिचित हैं। सींकों से मिलकर बुहारी, धागों से मिलकर रस्सा, ईंटों से मिलकर भवन बनने की बात सर्व विदित है। सिपाहियों का समूह सेना, मनुष्यों का समूह समाज कहलाता है। इसे कौन नहीं जानता ? बिखरे हुए धर्म प्रेमियों को एक झण्डे के नीचे इकट्ठे और संगठित करने का प्रयास नवरात्रि की सामूहिक साधना के माध्यम से भली प्रकार सम्पन्न किया जा सकता है। बिखराव को संगठन में, उदासी को पराक्रम में बदलने की प्रेरणा नवरात्रि के नवदुर्गा के पुरातन इतिहास का अविछिन्न अंग है। पुरातन को अर्वाचीन में प्रत्यावर्तित करने के लिए नवरात्रि के साथ जुड़े हुए दुर्गावतरण के कथा प्रसंग को भली प्रकार उभारा जा सकता है। यह इसलिए आवश्यक नहीं है कि हमें अतीत की महानता उपलब्ध करनी है इसलिए भी अभीष्ट है कि संगठन और पराक्रम के बिना युग की समस्याओं का समाधान भी संभव न हो सकेगा।

एक समय में एक उद्‌देश्य के लिए एक मन से जो काम किये जाते हैं उनका प्रभाव और प्रतिफल असाधारण होता है। कोई भारी चट्टान, छप्पर आदि उठाते समय मंजूर एक साथ मिलकर जोर लगाने के लिए 'हईन्शा' जैसा कोई नारा लगाते हैं। सामान्य प्रयत्नों से सामान्य गति से काम करने की अपेक्षा इस प्रकार के काम अधिक सरलता पूर्वक सम्पन्न हो जाते हैं। एकसाथ जोर लगाने का परिणाम शक्ति विज्ञान का हर विद्यार्थी भली प्रकार जानता है। नवरात्रि के एक ही पर्व पर प्रातःकाल एक ही इष्ट के प्रेमीजन जब एक ही विधि से एक ही उपासना करते हैं तो इसका परिणाम सामान्य क्रम की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेयस्कर होता है।

पुलों पर चलती हुई सेना को कदम मिलाकर चलने को मना कर दिया जाता है। एक ही समय में एक ही क्रम से बनने वाली पद यात्रा की शब्द तरंगें इतनी विचित्र होती हैं कि उनके प्रभाव से वह पुल फट या टूट तक सकता है। सामूहिक उपासना में एक ही क्रम का शब्द प्रवाह हर दृष्टि से उपयोगी होता है।

अन्यान्य धर्मों में भी इस समय साधना को बहुत महत्व दिया गया हैं । नमाज में समय पालन पर बहुत जोर दिया गया है । दौज के चन्द्रमा के दर्शन को विशेष महत्व दिया गया है । इसमें एक ही समय पर एक ही मनोवृत्ति को उभारने का प्रयत्न है । भक्ति भाव के प्रभाव में इस भौतिक समावेश का भी लाभ जुड़ जाता है तो उसकी प्रतिक्रिया सूक्ष्म जगत में बहुत ही अनुकूल होती है । वातावरण बनता है और उसके प्रभाव से हर प्राणी और पदार्थ प्रभावित होता है ।

सदुद्देश्य के लिए सामूहिक प्रयत्नों की शक्ति को तत्वदर्शियों ने सदा स्वीकार किया है । अवतारों तक ने उसे अपने साथ लिया है । राम ने रीछ बानरों और गिद्ध-गिलहरियों के सहयोग का संचय किया था । गोवर्धन उठाने में कृष्ण को भी जन शक्ति साथ लेकर चलना पड़ा था, बुद्ध और गांधी की सफलताओं में जन-सहयोग का प्रत्यक्ष परिचय है । ऋषियों ने रक्त संचय करके घट भरा था और उसके द्वारा असुरों का विनाश करने की सूत्र संचालिनी सीता का जन्म हुआ था । युग परिवर्तन भी ऐसा ही अवतारी प्रयोजन है इसमें धर्म प्रिय जाग्रत आत्माओं द्वारा सामूहिक साधना किये जाने की आवश्यकता है । इसकी संयुक्त शक्ति से अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति में असाधारण सहायता मिलेगी । नवरात्रि सामूहिक उपासना में ऐसे ही प्रक्रिया का समावेश समझा जा सकता है ।

तीर्थ स्थानों पर, विभिन्न पर्वों पर स्नान का विशेष माहात्म्य बताया गया है ।सोमवती अमावस्या, गंगादशमी, कार्तिकी पूर्णिमा आदि अवसरों पर गंगा, यमुना, नर्मदा, आदि नदियों के कुछ निर्धारित घाटों पर भारी भीड़ें जमा होती हैं । लोग एक ही समय एक ही प्रकृति, एक ही स्थान पर पहुँचें और एक ही कृत्य करें । यह बात मोटी दृष्टि से देखने में सामान्य सी लगती है पर सूक्ष्म दृष्टि से खोजने पर इसका अदृश्य महत्व असाधारण रूप से परिलक्षित होता है । यह संयुक्त शक्ति का उद्भव है । मनुष्यों की एक दिशा में प्रवाहित होने वाली मानसिक धाराएँ जब मिलती हैं तो उनका सूक्ष्म जगत में एक प्रवाह बन जाता है । खेतों का पानी छोटी-छोटी नाली के रूप में बहता चला जाता है । इसी मिलन की संयुक्त शक्ति नालों और नदियों के रूप में प्रख्यात होती है । यही उपक्रम उपयुक्त पर्वों पर एकत्रित जनसमूह की धर्मचेतना एकत्रित होने से सम्भव होता है । उस संयुक्त भावशक्ति से जो तरंगें उत्पन्न होती हैं वे अपने साथ अनेकों को साथ लेकर आंधी की तरह आसमान में उड़ती दिखाई पड़ती हैं । यों तीर्थ स्थानों में कोई भी जा सकता है । देवालयों का दर्शन और जलाशयों का स्नान सदा सबके लिए श्रेयस्कर ही होता है । फिर किसी विशेष समय पर विशेष उत्साह लेकर वहाँ एकत्रित होना, सामान्य बुद्धि से कोई विशेष महत्व भले ही न रखता हो, पर सूक्ष्मदर्शी जानते हैं कि जन समुदाय की भावभरी मनःस्थिति जब कभी एकत्रित होती है तो उसकी प्रतिक्रियाएँ असाधारण प्रतिफल ही एकत्रित करती हैं । नवरात्रि पर्व पर गायत्री उपासना का विशिष्ट महत्व माना गया है इसमें समय या मुहूर्त ही एक कारण नहीं है । इसका सबसे बड़ा कारण है कि उस अवसर पर सामूहिक साधना का उत्साह उत्पन्न होना और उसको सम्मिलित धर्मानुष्ठान के रूप में क्रियान्वित किया जाना ।

प्रातःकाल पक्षी मिलजुल कर चहचहाते और अरुणोदय का अभिवन्दन करते हैं । मेघ गरजने पर सभी मेघ मिल कर उनके स्वागत का जयघोष करते हैं । बसन्त में प्रायः सभी भोंर गूंजते हैं और सभी कोयलें कूकती हैं । नवयुग के इस वासन्ती प्रभाव में युग शक्ति के अवतरण का स्वागत भी जाग्रत आत्माओं को मिल जुल कर ही करना चाहिए । साधना ही पुरुषार्थ है । नल-नील की तरह हमें भी युग सेतु बांधना है उसके पत्थर और पेड़ जमा करने में हममें से किसी को भी पीछे नहीं रहना चाहिए । नवरात्रि का पुण्य पर्व इस प्रयोजन के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण और उपयुक्त समय है । उसमें सामूहिक साधना के रूप में हम सबको अपने आध्यात्मिक पुरुषार्थ का समन्वय करना ही चाहिए ।

—0—

गायत्री अनुष्ठान का विज्ञान और विधान

साधारण ढंग से साधारण कार्यों को बड़ी सरलतापूर्वक सम्पन्न किया जा सकता है। किन्तु विशिष्ट कार्यों को सम्पन्न करने में अभीष्ट सफलता प्राप्त करनी हो तो उसके लिए विशेष ढंग से योजना बनानी पड़ती है, विशेष साधन जुटाने पड़ते हैं और विशेष मनोयोग लगाना पड़ता है। इस विशिष्टता को अपनाये बिना महत्त्वपूर्ण कार्यों को नियत अवधि में अपेक्षित सफलता प्राप्त करते हुए सम्पन्न कर पाना सम्भव नहीं होता। साधना के सम्बन्ध में भी यही बात है। नित्य-कर्म के रूप में गायत्री की सामान्य उपासना प्रतिदिन की जाती है। उससे प्रायः मनःशुद्धि का उद्देश्य पूरा होता रहता है। शरीर से हमेशा पसीना निकलता रहता है और चमड़ी पर मैल जमा होता रहता है। उसकी सफाई के लिए नित्य स्नान की आवश्यकता पड़ती है और स्वच्छ रहने के लिए वह किया भी जाता है। गन्दगी जमना स्वाभाविक है तो उसकी सफाई का क्रम भी रखना आवश्यक है। मन के ऊपर वातावरण के प्रभाव से कषाय-कल्मषों की परतें जमती रहती हैं। दैनिक उपासना का नित्य क्रम बना लेने से उनकी सफाई का उद्देश्य पूरा होता रहता है। प्रायः सभी नित्य कर्मों का उद्देश्य सहज रीति से स्वभावतः होने वाली मलीनता का निवारण, निष्कासन करना है। इसका अपना महत्व है और अपनी उपयोगिता।

यदि अतिरिक्त रूप से आध्यात्मिक सामर्थ्य उत्पन्न करना हो तो उसके लिए संकल्पपूर्वक नियत प्रतिबन्धों और तपश्चर्याओं के साथ विशिष्ट उपासनाएँ करनी होती हैं। इन्हें अनुष्ठान कहते हैं। सामान्य उपासना की तुलना में अनुष्ठानों द्वारा उत्पन्न शक्ति का स्तर तथा परिणाम कहीं अधिक होता है। अधिक श्रम, अधिक समय, अधिक तत्परता और अधिक तपश्चर्या का समावेश होने से गायत्री उपासना में विशिष्टता उत्पन्न होती है और उसका प्रभाव परिणाम अधिक ऊँचे स्तर का दीख पड़ना स्वाभाविक है।

अनुष्ठान-गायत्री उपासना के उच्च सोपान

एक नागरिक प्रश्न करता है आर्य ! वह कौन-सी उपासना है जिससे जातीय जीवन गौरवान्वित होता है ? इस पर गोपथ ब्राह्मण के रचयिता ने उत्तर दिया-

"तेजो वै गायत्री छन्दसां तेजो रथन्तरम्
साम्नाम् तेजश्चतुर्विंशस्तो माना तेज एवं
तत्सम्यक् दधाति पुत्रस्य पुत्रस्तेजस्वी भवति"

—गोपथ ब्राह्मण

हे तात् ! समस्त वेदों का तेज गायत्री है सामवेद का यह छन्द ही २४ स्तम्भों का वह दिव्य तेज है जिसे धारण करने वालों की वंश परम्परा तेजस्वी होती है।

हिन्दुओं के लिए अनिवार्य सन्ध्यावंदन की प्रक्रिया यहीं से प्रारम्भ होती है। इस ब्रह्म तेज को धारण करने वाली हिन्दू जाति को शौर्य, साहस और स्वाभिमान की दृष्टि से कोई परास्त नहीं कर सका। यहाँ का कर्मयोग विख्यात है। यहाँ के पारिवारिक जीवन का शील और सदाचार, यहाँ के वैयक्तिक जीवन की निष्ठायें जब तक मानव वंश है, अजर-अमर बनी रहेंगी। यह गायत्री उपासना के ही बल पर था।

यह दुर्भाग्य ही है कि कालान्तर में इस पुण्य परम्परा के विशृंखलित हो जाने के कारण जातीय जीवन निस्तेज और निष्प्राण होता गया किन्तु युग निर्माण योजना ने अब उस अन्धकार को दूर कर दिया है। लम्बे समय तक उसे अपनी आजीविका का साधन बनाकर, बन्दीगृह में, मिथ्या भ्रान्तियों में डाले रखकर उस महान विज्ञान से वंचित रखा गया। अब वैसा नहीं रहा। गायत्री उपासना का पुण्य लाभ हर कोई प्राप्त कर सकता है। प्रातः मध्यान्ह और संध्या साधना के विधान में निश्चित है। अपनी सुविधा के अनुसार कम या अधिक मात्रा में गायत्री उपासना का मुफ्त लाभ हर कोई भी ले सकता है।

उससे उच्च स्तर का ब्रह्म तेज, सिद्धि और प्राण की प्रचुर मात्रा अर्जित करनी हो, किसी सांसारिक कठिनाई को पार करना हो अथवा कोई सकाम प्रयोजन हो, उसके लिए गायत्री की विशेष साधनायें सम्पन्न की जाती हैं। यों तो गायत्री नित्य उपासना करने योग्य है। त्रिकाल सन्ध्या में प्रातः मध्याह्न, सायं, तीन बार उसकी उपासना करने का नित्यकर्म शास्त्रों में आवश्यक बताया गया है। जब भी जितनी अधिक मात्रा में भी गायत्री का जप, पूजन, चिंतन, मनन किया जा सके उतना ही अच्छा है, क्योंकि -**"अधिकस्य अधिकं फलम् ।"**

परन्तु किसी विशेष प्रयोजन के लिए जब विशेष शक्ति का संचय करना पड़ता है तो उसके लिए एक विशेष क्रिया की जाती है। इस क्रिया को अनुष्ठान नाम से पुकारते हैं, जब कहीं परदेश के लिए यात्रा की जाती है तो रास्ते के लिए कुछ भोजन सामिग्री तथा खर्च को रुपये साथ रख लेना आवश्यक होता है। यदि यह मार्ग व्यय साथ न हो तो यात्रा बड़ी कष्टसाध्य हो जाती है। अनुष्ठान एक प्रकार का मार्ग व्यय है। इस साधना को करने से जो पूँजी जमा हो जाती है उसे साथ लेकर किसी भी भौतिक या आध्यात्मिक कार्य में जुटा जाय तो यात्रा बड़ी सरल हो जाती है।

यदि धन अपने पास हो तो उसके बदले में कोई भी वस्तु खरीदी जा सकती है। यदि शारीरिक बल अपने पास हो तो उससे किसी भी प्रकार का काम पूरा किया जा सकता है। यदि बुद्धि बल अपने पास हो तो उससे कठिन से कठिन उलझनें सुलझाई जा सकती हैं। इसी प्रकार यदि आत्म बल अपने पास हो तो उससे जीवन को उन्नत बनाने, मनोकामनाएँ पूरी करने, सामने उपस्थित कठिनाइयों को सरल बनाने एवं आपत्तियों से छूटने के कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं। गायत्री अनुष्ठान आत्म-बल संचय की एक विशेष प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया द्वारा जो आत्म बल संचय होता है वह दैवी वरदान की तरह आपत्तियों का निवारण और सम्पत्तियों का आयोजन करने में बड़ी भारी सहायता करता है।

सिंह जब हिरन पर झपटता है, बिल्ली जब चूहे पर छापा मारती है, बगुला जब मछली पर आक्रमण करता है तो उसे एक क्षण स्तब्ध होकर, साँस रोक कर, जरा पीछे हट कर अपने अन्दर की छिपी हुई शक्ति को जाग्रत और सतेज करना पड़ता है, तब वह अचानक अपने शिकार पर पूरी शक्ति के साथ टूट पड़ते हैं और मनोवांछित लाभ प्राप्त करते हैं। ऊँची छलाँग या लम्बी छलांग भरने से पहले खिलाड़ी लोग कुछ क्षण रुकते-ठहरते और पीछे हटते हैं तदुपरान्त उछाल भरते हैं। कुश्ती लड़ने वाले पहलवान ऐसे पेंतरे बदलते हैं। बन्दूक चलाने वाले को भी घोड़ा दबाने से पहले यही करना पड़ता है। अनुष्ठान द्वारा यही कार्य आध्यात्मिक आधार पर होता है। किसी विपत्ति को छलांग कर पार करना है या कोई सफलता प्राप्त करनी है, तो उस लक्ष पर टूट पड़ने के लिए जो शक्ति संचय आवश्यक है वह अनुष्ठान द्वारा प्राप्त होती है।

बच्चा दिन भर माँ-माँ पुकारता रहता है माता भी दिन भर बेटा लल्ला कहकर उसको उत्तर देती रहती है, यह लाड़दुलार यों ही दिन भर चलता रहता है। पर जो कोई विशेष आवश्यकता पड़ती है, कष्ट होता है कठिनाई आती है, आशङ्का होती है या सहायता, की जरूरत पड़ती है तो बालक विशेष बलपूर्वक, विशेष स्वर से माता से माता को पुकारता है इस विशेष पुकार को सुनकर माता अपने अन्य कामों को छोड़कर बालक के पास दौड़ जाती है और उसकी सहायता करती है अनुष्ठान साधक की ऐसी ही पुकार है। जिसमें विशेष बल एवं विशेष आकर्षण होता है, उस आकर्षण से गायत्री-शक्ति विशेष रूप से साधक के समीप एकत्रित हो जाती है।

जब सांसारिक प्रयत्न असफल हो रहे हों, आपत्ति का निवारण होने का मार्ग न सूझ पड़ता हो, चारों ओर अन्धकार छाया हुआ हो, भविष्य निराशाजनक दिखाई दे रहा हो, परिस्थितियाँ दिन-दिन बिगड़ती जाती हों, सीधा करते उलटा परिणाम निकलता हो तो स्वभावतः मनुष्य के हाथ-पैर फूल जाते हैं। चिंताग्रस्त और उद्विग्न मनुष्य की बुद्धि ठीक काम नहीं करती। जाल के फँसे कबूतर की तरह वह जितना फड़फड़ाता है, उतना ही जाल में और अधिक फँसता जाता है। ऐसे अवसरों पर "हारे को हरनाम" बल होता है। गज, द्रौपदी, नरसी, प्रहलाद आदि को उसी बल का आश्रय लेना पड़ा था। देखा गया है कि कई बार जब सांसारिक प्रयत्न कुछ विशेष कारगर नहीं होते तो दैवी सहायता मिलने पर सारी स्थिति ही बदल जाती है और विपदाओं की रात्रि के घोर अन्धकार को चीरकर अचानक ऐसी बिजली

कौंध जाती है, जिसके प्रकाश से पार होने का रास्ता मिल जाता है । अनुष्ठान ऐसी ही प्रक्रिया है । वह हारे हुए का चीत्कार है, जिससे देवताओं का सिंहासन हिलता है ।अनुष्ठान का विस्फोट हृदयाकाश में एक ऐसे प्रकाश के रूप में होता है, जिसके द्वारा विपत्तिग्रस्त को पार होने का रास्ता दिखाई दे जाता है ।

सांसारिक कठिनाइयों में, मानसिक उलझनों में आंतरिक उद्वेगों में गायत्री-अनुष्ठान से असाधारण सहायता मिलती है । यह ठीक है कि "किसी को सोने का घड़ा भरकर अशर्फियाँ गायत्री नहीं दे जाती", पर यह ठीक है कि उसके प्रभाव से मनोभूमि में ऐसे मौलिक परिवर्तन होते हैं, जिनके कारण कठिनाई का उचित हल निकल आता है । उपासक में ऐसी बुद्धि, ऐसी प्रतिभा, ऐसी सूझ, ऐसी दूरदर्शिता पैदा हो जाती है, जिसके कारण वह ऐसा रास्ता प्राप्त कर लेता है, जो कठिनाई के निवारण में रामवाण की तरह फलप्रद सिद्ध होता है । भ्रान्त मस्तिष्क में कुछ असङ्गत असम्भव और अनावश्यक विचार धाराएँ, कामनाएँ, मान्यताएँ घुस पड़ती हैं । जिनके कारण वह व्यक्ति अकारण दुखी बना रहता है । गायत्री-साधना से मस्तिष्क का ऐसा परिमार्जन हो जाता है, जिसमें कुछ समय पहले जो बातें अत्यन्त आवश्यक और महत्त्वपूर्ण लगती थीं, वे ही पीछे अनावश्यक और अनुपयुक्त जँचने लगती हैं । वह उधर से मुँह मोड़ लेता है । इस प्रकार यह मानसिक परिवर्तन इतना आनन्दमय सिद्ध होता है, जितना कि पूर्व कल्पित भ्रान्त कामनाओं के पूर्ण होने पर भी सुख न मिलता । अनुष्ठान द्वारा ऐसे ही ज्ञात और अज्ञात परिवर्तन होते हैं जिनके कारण दुखी और चिंताओं से ग्रस्त मनुष्य थोड़े ही समय में सुख-शान्ति का स्वर्गीय जीवन बिताने की स्थिति में पहुँच जाता है । गायत्री संहिता में कहा गया है ।

दैन्यरुक् शोक चिंतानां विरोधाक्रमणापदाम् ।
कार्य गायत्र्यनुष्ठानं भायानां वारणाय च।।४१।।

दीनता, रोग, शोक, विरोध, आक्रमण, आपत्तियाँ और भय इनके निवारण के लिए गायत्री का अनुष्ठान करना चाहिए ।

जायते स स्थितिरस्मान्मनोऽभिलाषयान्विताः ।
यतः सर्वेऽभिजायन्ते यथा काल हि पूर्णताम्।।४२।।

अनुष्ठान से वह स्थिति पैदा होती है जिससे समस्त मनोवांछित अभिलाषायें यथा समय पूर्णता को प्राप्त होती हैं ।

अनुष्ठानात्तु वै तस्मात् गुप्ताध्यात्मिक शक्तयः।
चमत्कारमयां लोके प्राप्यन्तऽनेकधा बुधः।।४३।।

अनुष्ठान से साधकों को संसार में चमत्कार से पूर्ण अनेक प्रकार की गुप्त आध्यात्मिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं ।

अनुष्ठानों की एक सुनिश्चित शास्त्रीय मर्यादा है । २४ हजार से छोटा और २४ लक्ष से बड़ा अनुष्ठान नहीं होता । गायत्री अनुष्ठान में साधारणतः **"ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि, धियोयोनः प्रचोदयात्"** यही मन्त्र जपा जाता है । पर किन्हीं विशेष प्रयोजनों के लिए व्याहृतियों से पहले या पीछे ह्रीं श्रीं, क्लीं, हुँ, ऐं, ठं, यं, आदि बीज अक्षर भी लगाए जाते हैं । बीज अक्षरों के प्रयोग के लिए किसी अनुभवी की सलाह ले लेना आवश्यक है । अशिक्षित, बहुधन्धी, कार्य, व्यस्त रोगी स्त्री पुरुष या बालक केवल 'ॐ भूर्भुवः स्वः' इस पञ्चाक्षरी मन्त्र से भी गायत्री का अनुष्ठान कर सकते हैं ।

सवा लाख मन्त्रों के जप को अनुष्ठान कहते हैं । हर वस्तु के पकने की कुछ मर्यादा होती है । दाल, साग, ईंट, काँच आदि के पकने के लिए एक नियत श्रेणी का तापमान आवश्यक होता है । वृक्षों पर फल एक नियत अवधि में पकते हैं । अण्डे अपने पकने का समय पूरा कर लेते हैं, तब फूटते हैं । गर्भ में बालक अपना जब पूरा समय ले लेता है, तब जन्मता है । यदि उपयुक्त क्रियाओं में नियत अवधि से पहले ही विक्षेप उत्पन्न हो जाय तो उसकी सफलता की आशा नहीं रहती । अनुष्ठान की अवधि, मर्यादा, ताप-मात्रा सवालक्ष जप है । इतनी मात्रा में जब वह पक जाता है, तब स्वस्थ परिणाम उत्पन्न होता है । पकी हुई साधना ही मधुर फल देती है ।

महासिद्धि दाता-गायत्री अनुष्ठान

'गायत्री की दैनिक साधना' में यह बताया गया है कि प्रतिदिन गायत्री मंत्र का जप किस प्रकार करना चाहिए । उस विधि के अनुसार यथा शक्ति संख्या में नित्य जप करने से शरीर का स्वास्थ्य, चेहरे का तेज और वाणी का ओज बढ़ता जाता है । बुद्धि में तीक्ष्णता और सूक्ष्मदर्शिता की मात्रा में वृद्धि होती है एवं अनेक मानसिक सद्गुणों का विकास होता है, यह लाभ ऐसे हैं जिनके द्वारा जीवन यापन में सहायता मिलती है ।

विशेष अनुष्ठान पूर्वक गायत्री मंत्र को सिद्ध करने से उपयुक्त लाभों के अतिरिक्त कुछ अन्य विशिष्ट लाभ भी प्राप्त होते हैं जिनको चमत्कार या सिद्धि भी कहा जा सकता है । गायत्री अनुष्ठान की अनेक विधियाँ हैं, विभिन्न आचार्यों द्वारा पृथक् रीति से विधान बताये गये हैं इनमें से कुछ विधान ऐसी तान्त्रिक प्रक्रियाओं से परिपूर्ण हैं कि उनका तिल-तिल विधान यथा नियम पूरा किया जाना चाहिए, यदि उसमें जरा भी गड़बड़ हो तो लाभ के स्थान पर हानि होने की आशङ्का अधिक रहती है । ऐसे अनुष्ठान गुरु की आज्ञा से उनकी उपस्थिति में करने चाहिए तभी उनके द्वारा समुचित लाभ प्राप्त होता है ।

किन्तु कुछ ऐसे भी राजमार्गी साधन हैं जिनमें हानि की कोई आशङ्का नहीं जितना है लाभ ही है । जैसे राम नाम अवधि पूर्वक जपा जाय तो भी कुछ हानि नहीं हर हालत में कुछ न कुछ लाभ ही है । इसी प्रकार राजमार्ग के अनुष्ठान ऐसे होते हैं जिनमें हानि की किसी दशा में कुछ सम्भावना है । हां लाभ के सम्बन्ध में यह बात अवश्य है कि जितनी श्रद्धा, निष्ठा और तत्परता से साधन किया जायगा उतना ही लाभ होगा । आगे हम ऐसे ही विधि अनुष्ठान का वर्णन करते हैं यह गायत्री की सिद्धि का अनुष्ठान हमारा अनुभूत है और भी कितने ही हमारे अनुयायियों ने इसकी साधना को सिद्ध करके आशातीत लाभ उठाया है ।

देवशयनी एकादशी (आषाढ़ सुदी ११) से लेकर देवउठनी एकादशी (कार्तिक सुदी ११) के चार महीनों को छोड़कर अन्य आठ महीनों में गायत्री की सवालक्ष सिद्धि का अनुष्ठान करना चाहिए । शुक्ल पक्ष की दौज इसके लिए शुभ मुहूर्त है । जब चित्त स्थिर और शरीर स्वस्थ्य हो तभी अनुष्ठान करना चाहिए । डाँवाडोल मन और बीमार शरीर से अनुष्ठान तो क्या कोई भी काम ठीक तरह नहीं हो सकता ।

प्रातःकाल सूर्योदय से दो घण्टे पूर्व उठकर शौच स्नान से निवृत्त होना चाहिए । फिर किसी एकान्त स्वच्छ, हवादार कमरे में जप के लिए जाना चाहिए । भूमि को जल से छिड़क कर दाभ का आसन फिर उसके ऊपर कपड़ा बिछाना चाहिए । पास में घी का दीपक जलता रहे तथा जल से भरा हुआ एक पात्र हो । जप के लिए तुलसी या चन्दन की माला होनी चाहिए । गंगाजल और खड़िया मिट्टी मिलाकर मालाओं की संख्या के गिनने के लिए छोटी-छोटी गोलियां बना लेनी चाहिए । यह सब वस्तुएँ पास में रख कर आसन पर पूर्व की ओर मुख करके जप करने के लिए बैठना चाहिये । शरीर पर धुली हुई धोती हो, और कन्धे के नीचे खद्दर का चादर या ऊनी कम्बल ओढ़ लेना चाहिए । गरदन और सिर खुला रहे ।

प्राणायाम—मेरु दंड सीधा रख कर बैठना चाहिए । आरम्भ में दोनों नथुनों से धीरे-धीरे पूरी सांस खींचनी चाहिए । जब छाती और पेट में पूरी हवा भर जाय तो कुछ समय उसे रोकना चाहिए और फिर धीरे-धीरे हवा को पूरी तरह बाहर निकाल देना चाहिए । "ॐ" मंत्र का जप मन ही मन सांस खींचने रोकने और छोड़ने के समय करते रहना चाहिए । इस प्रकार से कम से कम ५ प्राणायाम करने चाहिए । इससे चित्त स्थिर होता है, प्राण शक्ति सतेज होती है और कुवासनाएँ घटती हैं ।

प्रतिष्ठा—प्राणायाम के बाद नेत्र बन्द करके सूर्य के समान तेजवान अत्यन्त स्वरूपवती कमल पुष्प पर विराजमान गायत्री माता का ध्यान द्वारा आह्वान करना चाहिए । उनके लिये जगज्जननी; तेजपुंज, सर्वव्यापक, महाशक्ति की भावना धारण करनी चाहिए । मन ही मन उन्हें प्रणाम करना चाहिए और अपने हृदय कमल पर आसन देकर उन्हें प्रीति पूर्वक विराजमान करना चाहिए ।

इसके बाद जप आरम्भ करना चाहिए । **"ॐ भूर्भवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ।"** इस एक मन्त्र के साथ माला का एक मनका फेरना चाहिए । जब एक माला के १०८ दाने पूरे हो जायें तो खड़िया को गङ्गाजल मिश्रित जो गोलियां बना कर रखी हैं उनमें से एक उठा कर अलग रख देनी चाहिए । इस प्रकार हर एक माला समाप्त होने पर एक गोली रखते जाना चाहिए जिससे मालाओं की संख्या गिनने में भूल न पड़े ।

जप के समय नेत्र अधखुले रहने चाहिए । मन्त्र इस तरह का जपना चाहिए कि कण्ठ, जिह्वा,तालु, ओष्ठ आदि स्वर यन्त्र तो काम करते रहें पर शब्द का उच्चारण न हो । दूसरा कोई उन्हें सुन न सके । वेद मंत्र को जब उच्च स्वर सें उच्चारण करना हो तो सस्वर ही

उच्चारण करना चाहिए । सर्व साधारण पाठकों के लिए स्वर विधि के साथ गायत्री मंत्र का उच्चारण कर सकना कठिन है इसलिए उसे इस प्रकार जपना चाहिए कि स्वर यन्त्र तो काम करें पर आवाज ऐसी न निकले कि उसे कोई दूसरा आदमी सुन सके । जप से उठने के बाद जल पात्र को अर्घ रूप, में सूर्य के सम्मुख चढ़ाना चाहिए । दीपक की अधजली बत्ती को हटा कर हर बार नई बत्ती डालनी चाहिए ।

अनुष्ठान में सवा लक्ष मन्त्र का जप करना है । इसके लिए कम से कम सात दिन और अधिक से अधिक पन्द्रह दिन लगाने चाहिए । सात, नौ, ग्यारह या पन्द्रह दिन में समाप्त करना ठीक है । साधारणतः एक घण्टे में १५ से लेकर २० माला तक जपी जा सकती हैं । कुल मिला कर ११५८ माला जपनी होती हैं । इसके लिए करीब ६० घण्टे चाहिए । जितने दिन में जप पूरा करना हो उतने ही दिन में मालाओं की संख्याँ बाँट लेनी चाहिए यदि एक सप्ताह में करना हो करीब ८—६ घण्टे प्रतिदिन पड़ेंगे इनमें से आधे से अधिक भाग प्रातःकाल और आधे से कम भाग तीसरे पहर पूरा करना चाहिए ।जिन्हें १५ दिन में पूरा करना हो उन्हें करीब ४ घण्टे प्रतिदिन जप करना पड़ेगा जो कि प्रातः काल ही आसानी से हो सकता है ।

जप पूरा हो जाय तब दूसरे दिन एक हजार मन्त्रों का जप के साथ हवन करना चाहिए । गायत्री हवन में वैदिक कर्मकाण्ड की रीतियां न बरती जा सकें तो कोई हानि नहीं । स्वच्छ भूमि पर मृतिका की वेदी बनाकर, पीपल, गूलर या आम की समिधाएँ जलाकर शुद्ध हवन सामिग्री से हवन करना चाहिए । एक मन्त्र का जप पूरा हो जाय तब "स्वाहा" के साथ हवन में और बिठाना चाहिए जो आहुति के साथ घी चढ़ाता जाय । जब दस मालाएँ मन्त्र जप के साथ हवन समाप्त हो जाय तो अग्नि की चार प्रदक्षिणा करनी चाहिए । तत्पश्चात भजन, कीर्त्तन, प्रार्थना, स्तुति करके प्रसाद का मिष्ठान्न बांटकर कार्य समाप्त करना चाहिए ।

जिन्हें गायत्री मन्त्र ठीक रीति याद न हो सके वे **"ॐ भूर्भुव स्वः"** केवल इतना ही जाप करें । जिन दिनों अनुष्ठान चल रहा हो, उन दिनों एक समय ही सात्विक भोजन करना चाहिए, सन्ध्या को आवश्यकता पड़ने पर दूध या फल लिया जा सकता है । भूमि पर सोना चाहिए, हजामत नहीं बनवानी चाहिए, ब्रह्मचर्य से रहना चाहिए । चित्त को चंचल क्षुब्ध या कुपित करने वाला कोई काम नहीं करना चाहिए । कम बोलना, शुद्ध वस्त्र पहिनना, भजन, सत्सङ्ग में रहना, स्वाध्याय करना, तथा प्रसन्न चित्त रहना चाहिए । अनुष्ठान पूरा होने पर सत्पात्रों को अन्न धन का दान देना चाहिए ।

इस प्रकार सवा लक्ष जप द्वारा गायत्री मन्त्र सिद्ध कर लेने पर वह चमत्कार पूर्ण लाभ करने वाला हो जाता है । बीमारी, शत्रु का आक्रमण, राज दरबार का कोप, मानसिक भ्रान्ति, बुद्धि या स्मरण शक्ति की कमी, ग्रह जन्य अनिष्ट, भूत बाधा, सन्तान सम्बन्धी चिन्ता, धन हानि व्यापारिक विघ्न; बेरोजगारी, चित्त की अस्थिरता, वियोग, द्वेष, भाव, असफलता आदि अनेक प्रकार की आपत्तियां और विघ्न बाधाएँ दूर होती हैं । यह अनुष्ठान सिद्धि प्रदान करने वाला, अपनी और दूसरों की विपत्ति टालने में बहुत हद तक दूर करने में हर प्रकार समर्थ होता है । गायत्री संहिता में इसे विघ्न विदारक अनुष्ठान कहा गया है ।इस अनुष्ठान से अनेक बुद्धिमानों ने अब तक गुप्त आध्यात्मिक शक्तियां प्राप्त की हैं और उनके चमत्कार पूर्ण लाभों का रसास्वादन किया है । जिस मनोरथ के लिए अनुष्ठान किया जाता है उस मार्ग की प्रधान बाधाएँ दूर हो जाती हैं और कोई न कोई ऐसा साधन बन जाता है कि जो कठिनाई पहाड़ सी प्रतीत होती थी वह छोटा ढेला मात्र रह जाती है, जो बादल प्रलय वर्षाने वाले प्रतीत होते थे वे थोड़ी सी बूँदें छिड़क कर विलीन हो जाते हैं । प्रारब्ध कर्मों के कठिन भोग बहुत हलके होकर, नाम मात्र का कष्ट देकर अपना कार्य समाप्त कर जाते हैं । जिन भोगों को भोगने में साधारणतः मृत्यु तुल्य कष्ट होने की संभावना थी वे गायत्री की कृपा से एक छोटा फोड़ा बनकर सामान्य कष्ट के साथ भुगत जाते हैं और अनेकों जन्मों तक भुगती जाने वाली कठिन पीड़ायें हलके-हलके छोटे-छोटे रूप में इसी जन्म से समाप्त होकर आनन्द मय भविष्य का मार्ग साफ कर देती है । इस प्रकार के कष्ट भी गायत्री माता की कृपा ही समझनी चाहिए ।

कभी-कभी ऐसा ही देखा जाता है कि जिस प्रयोजन के लिए अनुष्ठान किया गया था वह तो पूरा नहीं हुआ पर दूसरे अन्य महत्त्वपूर्ण लाभ प्राप्त हुए । किसी पूर्व संचित प्रारब्ध कर्म का फल भोग अनिवार्य हो और उसका

पलटा जाना दैवी विधान के अनुसार उचित न हो, तो भी अनुष्ठान का लाभ तो मिलना है ही, वह किसी दूसरे रूप में अपना चमत्कार प्रकट करता है, साधक को कोई न कोई असाधारण लाभ उससे अवश्य होता है। उससे भविष्य में आने वाले संकटों की पूर्व ही अन्त्येष्टि हो जाती है और सौभाग्य के शुभ लक्षण प्रकट होते हैं। आपत्ति निवारण के लिए गायत्री का सवालक्ष अनुष्ठान एक राम बाण जैसा आध्यात्मिक साधन है। किसी वस्तु के पकने के लिए एक नियत काल या तापमान की आवश्यकता होती है। फल, अंडे आदि के पकने में एक नियत अवधि की आवश्यकता होती है और दाल, साग, चाशनी, ईट कांच आदि की भट्ठी पकने में अमुक श्रेणी का तापमान आवश्यक होता है। गायत्री की साधना पकने का माप दंड सवालक्ष जप है। पकी हुई साधना ही मधुर फल देती है।

साधारणतः सवालक्ष जप की एक मर्यादा समझी जाती है। दूध के नीचे आग जलाने से अमुक मात्रा की गर्मी आ जाने पर एक उफान आता है, इसी प्रकार सवालक्ष जप हो जाने पर एक प्रकार का क्षरण होता है। उसकी शक्ति से सूक्ष्म जगत में एक तेजोमय वातावरण का उफान आता है जिसके द्वारा अभीष्ट कार्य के सफल होने में सहायता मिलती है। दूध को गरम करते रहने से कई बार उफान आते हैं। एक उफान आया वह कुछ देर के लिए उतरा कि फिर थोड़ी देर बाद नया उफान आ जाता है। इसी प्रकार सवालक्ष जप के बाद एक लक्ष जप पर शक्ति मय क्षरण के उफान आते हैं, उनसे निकटवर्ती वातावरण आन्दोलित होता रहता है और सफलता के अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न होती रहती हैं।

नीति का वचन है—'अधिकस्य अधिकम् फलम्' अधिक का अधिक फल होता है। गायत्री की उपासना सवालक्ष जप करने पर बन्द कर देनी चाहिए ऐसी कोई बात नहीं है, वरन् यह है कि जितना अधिक हो सके करते रहना चाहिए, अधिक का अधिक फल है। इच्छा शक्ति श्रद्धा, निष्ठा और व्यवस्था की कमी के कारण अनुष्ठान का पूरा फल दृष्टिगोचर नहीं होता किन्तु यदि अधिक काल तक निरन्तर साधना को जारी रखा जाय तो धीरे-धीरे साधक का ब्रह्मतेज बढ़ता जाता है। यह ब्रह्मतेज आत्मिक उन्नति का मूल है, स्वर्ग मुक्ति और आत्म शांति का पथ निर्माण करता है, इसके अतिरिक्त लौकिक कार्यो की कठिनाइयों का भी समाधान करता है, विपत्ति निवारण और अभीष्ट प्राप्ति में इस ब्रह्म तेज द्वारा असाधारण सहायता मिलती है

महा अनुष्ठान

चतुर्विंशति लक्षाणां सततं तदुपासकः।
गायत्रीणामनुष्ठानाद् गायत्र्या सिद्धिमाप्नुते ।।

(तदुपासकः) गायत्री का उपासक (सततं) निरन्तर (चतुर्विंशति लक्षाणां) चौबीस लाख (गायत्रीणां) गायत्री के (अनुष्ठानतू) अनुष्ठान करने से (गायत्र्याः)गायत्री की (सिद्धिमाप्नुते) सिद्धि को प्राप्त करता है। अर्थात् उसे गायत्री सिद्ध हो जाती है।

लघ्वानुष्ठानतोवापि महानुष्ठानतोऽथवा।
सिद्धिं विन्दति वै नूनं साधकः सानुपातिकाम् ।।

(लघ्वानुष्ठानतः) लघुअनुष्ठान करने से (अथवा) (महाअनुष्ठानतः) महाअनुष्ठान करने से (साधकः) साधक (नूनं) निश्चय से (सानुपातिकां) उसी अनुपात से (सिद्धि विन्दति) सिद्धि को प्राप्त करता है।

सवालक्ष जप की अनुष्ठान विधि पीछे वर्णन की जा चुकी है। इसे करने से अनेक प्रकार की कठिनाइयों का समाधान होता है। इससे बड़ा अनुष्ठान चौबीस लक्ष गायत्री जप का होता है। इसे पूरा करने के लिए साधक को विशेष सुविधाएँ होनी चाहिए। घर छोड़कर बाहर जाने का अवसर बार-बार न आने चाहिए। इसे बहुधन्धी, चिन्ताग्रस्त, दौड़धूप करते रहने वाले नहीं कर सकते। इसे करने के लिए चिन्ता रहित परिस्थितियाँ होनी चाहिए। पर जब यह अनुष्ठान पूरा हो जाता है तो गायत्री की सिद्धि मिल जाती है।

चौबीस लक्ष जप के लिए कम से कम चौबीस मास और अधिक से अधिक तीन वर्ष लगने चाहिए। दो वर्ष में करने वाले को प्रतिमास एक लक्ष जप पूरा करना होता है और तीन वर्ष करने वाले को लगभग ६७०० मन्त्र प्रतिमास जपने होते हैं। अपनी सुविधा और स्थिति को ध्यान में रखकर इस प्रकार का कार्यक्रम बनाया जा सकता, जिसमें प्रतिदिन समान संख्या में मंत्र जप चलता रहे। अन्य सब विधियां सवालक्ष जप के समान ही हैं।

कोई साधक मण्डली किसी सामूहिक प्रयोजन के लिए चौबीस लक्ष गायत्री का अनुष्ठान कर सकते हैं।

किसी बहुत छोटे प्रयोजन के लिए सवा लक्ष का अनुष्ठान भी हो सकता है जितने साधक मिल कर जितने दिन में उसे पूरा करना चाहें उसे ध्यान में रखते हुए प्रत्येक साधक के प्रतिदिन कितने मंत्र जपने चाहिए इसका कार्यक्रम बनाया जा सकता है ।

धनी लोग दूसरे पंडितों या साधकों द्वारा सवालक्ष का चौबीस लक्ष का अनुष्ठान पूरा करा सकते हैं । ऐसे अनुष्ठान पूरा करने में १, ३, ५, ७ इस प्रकार जप संख्या के दिन या मासों का कार्यक्रम बनाना चाहिए और उसके प्रारंभ तथा अन्त होने के दिन शुभ हों इसका ध्यान रखना चाहिए । चन्द्रवार, गुरुवार तथा शुक्रवार गायत्री के आरम्भ तथा अन्त के लिए शुभ है । परन्तु यह स्मरण रहे दूसरों से कराये हुए अनुष्ठान की अपेक्षा की जाने वाली साधना का फल अधिक नही है ।

सवालक्ष जप वाला साधन लघु अनुष्ठान कहा जाता है और चौबीस लक्ष वाला महा अनुष्ठान इन दोनों में लगभग बीस गुना अन्तर है, फल की दृष्टि से भी यह अन्तर इतना ही बड़ा है । मोटी कहावत है कि "जितना गुड़ डालते हैं ।उतना मीठा होता है ।" जितना परिश्रम किया जाता है उतना अधिक फल प्राप्त होता है । साधारणतः नित्य प्रति बिना प्रतिबन्ध का जप करना–साधारण दैनिक साधना है, उसका फल मन्थर गति से धीरे-धीरे परन्तु सुदृढ़ होता है । अनुष्ठान एक विशेष-सामयिक-क्रिया कलाप है और उसका फल भी वैसा ही होता है ।

विधिवत उपासना के सुनिश्चित परिणाम

सामान्य रीति से अनेकों सामान्य कार्य ऐसे ही किये जाते हैं और उनकी व्यवस्था तथा सफलता सामान्य क्रम से चलती रहती है । इस प्रकार के कामों में कब तक कितनी मात्रा में क्या सफलता मिलेगी ? इसका कुछ निश्चय नहीं रहता । ढर्रे पर गाड़ी लुढ़कती रहती है और उसका कुछ न कुछ परिणाम निकलता ही रहता है । किन्तु यदि किसी आवश्यक कार्य को नियत समय में सम्पन्न करना है और अभीष्ट सफलता प्राप्त करनी है तो फिर सामान्य ढर्रे से काम नहीं चलता । इसके लिए विशेष योजना बनाने साधन जुटाने विशेष मनोयोग लगाने और विशेष श्रम करने की आवश्यकता पड़ती है । इस विशिष्टता को अपनाये बिना महत्त्वपूर्ण कार्यों को नियत अवधि में अभीष्ट सफलता के साथ सम्पन्न कर सकना सम्भव नहीं होता ।

साधना के सम्बन्ध में भी यही बात है नित्य कर्म के रूप में सामान्य गायत्री उपासना की जाती रहती है । उसमें प्रायः मनः शुद्धि का उद्देश्य ही पूरा हो पाता है । शरीर से नित्य पसीना निकलता त्वचा पर जमता है अस्तु नित्य स्नान करने की आवश्यकता पड़ती है । गन्दगी जमना स्वाभाविक है तब उसकी सफाई भी होनी ही चाहिए । मन के ऊपर प्रस्तुत वातावरण में कषाय कल्मषों की परतें जमते रहना भी स्वाभाविक है । उसकी सफाई दैनिक उपासना नित्य नियम का पालन करने से ही संभव होती है । प्रायः सभी नित्य कर्मो का उद्देश्य सहज रीति से उत्पन्न होती रहने वाली मलीनता का निवारण निष्कासन करना है । यह भी कम महत्व का नहीं है । उपेक्षा करने पर जो हानि हो सकती है और तत्परता बरतने पर श्रेष्ठता का जो स्तर बना रहता है उस पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया जा सके तो प्रतीत होगा कि नित्य कर्म के रूप में दैनिक उपासना का भी कितना बड़ा महत्व है ।

अतिरिक्त रूप से आध्यात्मिक सामर्थ्य उत्पन्न करने के लिए संकल्पपूर्वक नियत प्रतिबन्धों और तपश्चर्याओं के साथ विशिष्ट उपासनायें करनी होती हैं । इन्हें अनुष्ठान कहते हैं । अनुष्ठान सर्व साधारण के लिए हैं । उनमें उपासना क्रम ऐसा रहता है जिसे पालन कर सकना सर्वसुलभ हो । उनमें मंत्रोपचार के पेचीदा विधि-विधानों का दबाव नहीं रहता । पुरश्चरण इसमें कुछ कड़े होते हैं । उनमें कवच, कीलन, अर्गलन हृदय, न्यास के हवनतर्पण, मार्जन के विधान पूरे करने पड़ते हैं । इसके लिए संस्कृत भाषा का आवश्यक ज्ञान तथा विधानों को कार्यान्वित करने का शास्त्रोक्त प्रशिक्षण आवश्यक है । इसलिए पुरश्चरणों की प्रक्रिया उन लोगों के लिए ही उपयुक्त पड़ती है जिनके लिए आजीविका उपार्जन के--गृहस्थी के--बहुत से काम नहीं हैं, जो पूरा समय और मनोयोग उसी कार्य में नियोजित रखे रह सकते हैं । निर्धारित तपश्चर्या कड़ाई के साथ पालन कर सकते हैं । संस्कृत भाषा का समुचित ज्ञान रहने से उसे प्रयोग में आने वाले मन्त्रों का उपयोग सही कर सकते हैं । अनुष्ठानों से पुरश्सचरणों के विधान कठिन हैं । इसलिए उनके प्रतिफल भी

अधिक हैं । सर्व साधारण के लिए अनुष्ठान ही उपयुक्त पड़ते हैं । पुरश्चरणों का प्रशिक्षण जिन्हें आवश्यक लगता हो उन्हें उसके लिए व्यक्तिगत सम्पर्क साधना चाहिए ।

सामान्य जप की तुलना में अनुष्ठानों से उत्पन्न शक्ति का स्तर तथा परिमाण कहीं अधिक होता है । अधिक श्रम, समय, अधिक तत्परता, अधिक तपश्चर्या का समावेश होने से गायत्री उपासना में विशिष्टता उत्पन्न हो जाना और उसका प्रभाव परिणाम अधिक ऊँचे स्तर का दीख पड़ना स्वाभाविक है ।

अनुष्ठानों के विशेष नियम यह हैं (१) नियत दिनों में नियत जप संख्या पूरी करनी होती है, जिसमें सामान्य उपासना की तुलना में अधिक समय लगता है । इसके लिए दिन चर्या में आवश्यक हेर-फेर करके अधिक समय लगाने का प्रबन्ध करना पड़ता है । (२) अनुष्ठान के दिनों में ब्रह्मचर्य पालन अनिवार्य रूप से आवश्यक होता है । (३) भोजन में उपवास तत्व का समावेश किसी न किसी रूप में करना ही होता है । साधारण भोजन क्रम नहीं चल सकता । (४) अनुष्ठान काल में साधक की स्थिति तपस्वी जैसी होती है । उन दिनों इतना तो करना ही होता है अपनी शारीरिक सेवा जहां तक हो सके दूसरों से न कराये उन्हें अपने हाथों ही पूरा करें । (५) भूमि शयन कम वस्त्रों उपयोग, चमड़े से बनी वस्तुओं का त्याग जैसी तितीक्षायें सम्पन्न करें । (६) अन्त में हवन, ब्रह्मभोज की पूर्णाहुति सम्पन्न करें । यह छैः कार्य करने से अनुष्ठान की मर्यादायें पूरी होती हैं और उनके अभीष्ट सत्परिणाम उत्पन्न होते हैं ।

अनुष्ठानों की तीन श्रेणियां हैं --लघु मध्यम और पूर्ण । लघु अनुष्ठान के २४ हजार जप ६ दिन में पूरा करना होता है । मध्यम सवा लाख जप का होता है उसके लिये ४० दिन की अवधि नियत है । पूर्ण अनुष्ठान २४ लाख जप का होता है । उसमें एक वर्ष लगता है । माला में यों १०८ दाने होते हैं पर अनुष्ठान गणना में उन्हें १०० ही माना जाता है । आठ भूल-चूक, अशुद्धि, उच्चारण आदि के लिए अतिरिक्त छोड़ दिये जाते हैं एक घण्टे में १० से १२ मालायें पूरी होती हैं । यह मध्यम गति है । किसी की मुख संरचना इससे न्यूनाधिक हो सकती है । ऐसी दशा में संख्या सन्तुलन ठीक करने की अपेक्षा यह अधिक उत्तम है कि घड़ी रखकर उतना समय पूरा कर लिया जाय जो मध्यम गति से जप करने में लगा है । २४ हजार जप ६ दिन में पूरा करने के लिए हर दिन २७ मालायें जपनी होती हैं । इनमें प्रायः ढाई घण्टा समय लगता है । सवा लाख जप ४० दिन में करने पर प्रतिदिन ३३ मालायें की जाती हैं जो प्रायः तीन घण्टे में पूरी होती हैं । २४ लाख जप एक वर्ष में होता है और उसमें ६६ मालायें हर दिन की जाती हैं जिनमें प्रायः छैः घण्टे का समय लगता हैं सर्वोत्तम समय प्रातःकाल का ही है पर यदि वह एक बार में पूरा न हो सके तो प्रातः सायं दो बार में पूरा किया जा सकता है । त्रिकाल संध्या की दृष्टि से मध्यान्ह काल में भी कुछ अंश पूरा किया जा सकता है पर परम्परा में अधिकांश प्रातःकाल और जो कम पड़े वह सायं-काल कर लेने का प्रचलन है ।

जप से पूर्व स्नान, और धुले वस्त्र पहनने का नियम है । उपासना कक्ष, पूजा के पात्र हर दिन साफ करने चाहिए । पूजा उपचार की वस्तुओं में से जो पहले दिन प्रयोग में आ चुके हों उन्हें दुबारा काम में नहीं लाना चाहिए आधी जली हुई धूप बत्ती दूसरे दिन प्रयोग में नहीं आनी चाहिए । इसी प्रकार दीपक में बचा हुआ घी या बत्ती दूसरे दिन प्रयोग में नहीं लाई जाती । कटोरी में बचा हुआ चन्दन भी अगले दिन काम का नहीं रहता फूल आदि वस्तुयें तो नई ही ली जाती हैं । अक्षत नैवेद्य जैसी वस्तुयें ही ऐसी हैं जो डिब्बी में रखी रहती हैं और उनमें से थोड़ी-थोड़ी निकाली और काम में लाई जाती रहती हैं ।

यों नियम तो सम्मिलित उपासना में भी वहीं है पर अनुष्ठान के दिनों में अग्नि और जल को साक्षी रखा ही जाना चाहिए । जल कलश के लिए छोटी-सी लुटिया रखी जाती है जिसमें देव शक्तियों का आह्वान करते हैं और पीछे उसे ही सूर्यार्घ के लिए चढ़ा देते हैं । अग्नि के लिए इन दिनों अगरबत्ती से काम चल जाता है । यों महत्व दीपक का अधिक है । पर यह शुद्ध घृत का ही होना चाहिए । तेल वेजीटेबिल आदि से काम नहीं चलेगा । इन दिनों शुद्ध घी मिलना उन्हीं के लिए सम्भव है जो या तो स्वयं गाय पालें या दूध खरीदकर उसमें से अपने हाथों निकालें । पैक बन्द डिब्बों का घृत भी शुद्ध हो सकता है । बाजार में खुला बिकने वाला तो प्रायः संदिग्ध ही होता है । जहाँ द्विविधा हो वहाँ अगरबत्ती धूपबत्ती से ही काम चला

लेना पर्याप्त है । अनुष्ठान काल में पूरी अवधि तक अखण्ड दीपक जलाने की बात सोचना तो उत्तम है पर उसके लिए सावधानी बहुत बरतनी पड़ती है । तनिक भी असावधानी रहने से दीपक बुझ जाता है और उसमें देवता की नाराजी आदि का अनुमान लगाकर साधक को व्यर्थ ही खिन्न बनना पड़ता है । इसलिए यदि दीपक जलाना हो तो जप काल की अवधि तक ही उसे जलाना चाहिए ।

पूजा वेदी यदि दैनिक उपासना के लिए पहले से ही बनी हुई है तो वही पर्याप्त है । अन्यथा नई चौकी स्थापित की जानी चाहिए । गायत्री माता का चित्र आवश्यक है । पिछला चित्र मैला धुंधला हो गया हो तो अनुष्ठान के समय नया चित्र बदल लिया जाय और पुराना जल में विसर्जित कर दिया जाय । चौकी पर बिछने वाला कपड़ा अनुष्ठान के लिए बदल लेना चाहिए । वह पुराने कपड़े में से निकाला हुआ नहीं वरन् नया ही होना चाहिए । पीले रंग में रंगा हुआ । पूजा उपचार के लिए पंचपात्र में जल, पुष्प, अक्षत, नैवेद्य अगरबत्ती, चन्दन रोली यह वस्तुयें काम में लाई जाती हैं । अन्य वस्तुओं में कठिनाई नहीं होती पर नये फूल प्रातःकाल मिलने कठिन हो जाते हैं शाम को पानी छिड़कर फूल खुली जगह में रखे रहने दिये जायें तो वे मुरझाते नहीं । बिना मुरझाये फूल पूजा के काम आते हैं । यदि वे न मिलें तो चावलों को चन्दन तथा हल्दी के रंग में रंगकर उन्हें फूलों के स्थान पर प्रयोग में लाया जा सकता है ।

आसन चमड़े का नहीं लेना चाहिए । इन दिनों वध किये गये जानवरों का ही चमड़ा मिलता है । प्राचीन काल में अपनी मौत मरे हुए मृग चर्म काम में आते थे । अब वैसी सुविधा नहीं रही ।

साथ ही अन्य आसन भी सुविधापूर्वक उपलब्ध हैं । प्राचीन काल में वनवासी तपस्वी न केवल आसन का वरन् वस्त्रों का काम भी चमड़े से ही चलाते थे । अब वैसी स्थिति नहीं रही । अस्तु कुशा के आसन, चटाई, कम्बल आदि के आसन ही काम में लाने चाहिए । कपड़ा प्रयोग करना हो तो उसे धोते रहना चाहिए ।

जप के समय पालथी मारकर बैठना चाहिए । यह सुखासन ही सुविधाजनक है । पद्मासन आदि पर देर तक नहीं बैठा जा सकता । टाँगों पर दबाव पड़ने से ध्यान भी उचटता है । जप काल में कमर सीधी रखी जाय । आंखें अधखुली । माला चन्दन की अधिक उपयुक्त है । इन दिनों तुलसी और रुद्राक्ष के नाम पर नकली वस्तुयें ही बाजार में बिकती हैं । चन्दन की आसानी से मिल जाती है । अनुष्ठान काल में जप में पूरे वस्त्र पीले रखने में कठिनाई हो तो कम से कम कन्धे पर दुपट्टा तो पीला रहना ही चाहिए । पीत वस्त्र अनुष्ठान का परिधान है । पायजामे का नहीं धोती का ही अनुष्ठान काल में उपयोग होने की परम्परा है ।

जप काल में पालथी बदलते रहने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है ।देर तक बैठना सम्भव न हो सके तो खड़े होकर भी जप किया जा सकता है । बीच में पेशाब जाना हो तो हाथ पैर धोकर फिर बैठना चाहिए । शौच जाना पड़े तो धोती बदलने एवं स्नान करने की आवश्यकता पड़ेगी ।जम्हाई, या झपकी आने लगे तो उस उदासी को दूर करने के लिए मुँह धोने और आचमन करने से चेतनता आ जाती है ।

अनुष्ठान के उपरोक्त नियमों में कई बार कुछ शिथिलता करने की आवश्यकता पड़ती है । देश, काल, पात्र को ध्यान में रखते हुए वैसी छूटें दी जाती हैं । अति शीत प्रधान देशों में अथवा कमजोरों-रोगियों को शीत ऋतु में प्रातःकाल स्नान करते नहीं बन पड़ता । गर्म पानी उपयोग करने की तो छूट है पर उतने से भी काम न चले तो शरीर को तौलिये से पोंछकर या हाथ-पैर मुँह धोकर भी काम चल सकता है । कपड़ों में वे वस्त्र तो बदल ही लेने चाहिए जिन से पसीना पेशाब आदि का स्पर्श होता है ।

यज्ञोपवीत पहनना, शरीर मन्दिर पर गायत्री की प्रतीक प्रतिमा धारण कर लेने के समतुल्य है अस्तु अनुष्ठान के दिनों में तो हमें पहन ही लेना चाहिए पीछे भले ही अनुष्ठान की पूर्ति होने पर विसर्जित कर दिया जाय । नर और नारी दोनों ही समान रूप से यज्ञोपवीत धारण करने के अधिकारी हैं । स्त्रियों को मासिक धर्म होने के उपरान्त पुराना यज्ञोपवीत उतार कर नया धारण करना होता है ।

अनुष्ठान काल में ब्रह्मचर्य पालन आवश्यक है । स्वप्नदोष होना अपने हाथ की बात नहीं, इसलिए उसमें दोष नहीं आता । किन्तु यदि मध्य में ब्रह्मचर्य टूटता है तो वह अनुष्ठान जितना हो चुका खंडित माना जायेगा और आरम्भ नये सिरे से करना पड़ेगा ।

अनुष्ठान का दूसरा व्रत है उपवास । केवल जल पर नहीं रहना चाहिए । उसके लिए विशेष सतर्कता और अनुभव की आवश्यकता पड़ती है अन्यथा हानि होने का डर रहता है । दूध, छाछ, फलों का रस शाकों को उबालकर बनाया गया रस जैसे द्रव पदार्थों पर चलने वाला उपवास पूर्ण माना जाता है । नौ दिन तो वह आसानी से निभ सकता है । यदि उतना न बन पड़े तो उसके हलके स्वरूप और भी हैं । जैसे (१) नमक और शकर का त्याग कर अस्वाद व्रत का पालन । (२) एक समय भोजन एक समय दूध छाछ पर निर्वाह (३) शाकाहार--फलाहार । (४) एक वस्तु खाने की दूसरी लगाने की मात्र दो ही वस्तुओं का उपयोग । जैसे रोटी साग, चावल, दाल आदि । थाली में दो से अधिक वस्तुयें न हों ।

अपने शरीर की सेवा आप करने में अपने हाथों की तप-तितीक्षा में भोजन अपने हाथ से बनाने की बात भी आती है । उतना न बन पड़े तो अपनी पत्नी, माता अथवा कुमारियों के हाथ का पकाया हुआ भोजन लिया जा सकता है । कुसंस्कारी हाथों का पकाया हुआ बाजारू भोजन तो ग्रहण नहीं ही किया जाय । हजामत अपने हाथों बनाने से काम चल सकता है । कपड़े अपने हाथों धोये जायें तो उत्तम है अन्यथा माता पत्नी मात्र की सेवायें उसके लिये स्वीकार की जाय । मनुष्य द्वारा खींचे जाने वाले रिक्शे में बैठने से बचा जा सके तो उत्तम है । बुहारी लगाने, तेल मालिश, करने जैसे काम भी अपने हाथों ही उन दिनों स्वयं करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

भूमि शयन का स्थानापन्न लकड़ी का तख्त हो सकता है । उसमें भी कठोरता होती है । कोमल शय्या पर तितीक्षा नहीं सधती । भूमि शयन का नियम इसीलिए बनाया गया है । जहाँ तक हो सके कम वस्त्र पहने ताकि सर्दी गर्मी का प्रभाव कुछ तो सहन करना ही पड़े । यदि चलने की भूमि बहुत अनुपयुक्त न हो तो अनुष्ठान के दिनों नंगे पैर भी रहा जा सकता है । चमड़े के बने जूतों का तो अनुष्ठान काल में निषेध है ही क्योंकि बध किया चमड़ा ही आज उपलब्ध होता है । इस वध कृत्य में काटने वाला ही नहीं उस मांस और चमड़े का उपयोग करने वाला भी पाप का भागी बनता है ।

अनुष्ठान के अन्त में जप की शतांश आहुतियां देनी चाहिए । यज्ञ हवन अब सर्व साधारण की अर्थ शक्ति से बाहर है । २४ हजार जप के लिये २४० आहुतियां दी जाती हैं । इन्हें कई व्यक्ति मिलकर करे तो उसी हिसाब से कम बार आहुति देनी होंगी । २४० आहुतियाँ पांच व्यक्ति मिलकर दें ४८ बार मन्त्रोच्चार करके साथ-साथ आहुतियाँ देने से वह कार्य सम्पन्न हो जाता है । यदि प्रतिदिन आहुतियाँ दी जाती रहें तो एक व्यक्ति भी २७ आहुति नित्य देकर भी अपने अनुष्ठान का हवन पूरा करता रह सकता है । यदि कारण वश हवन की व्यवस्था न बन पड़े तो दशांस जप अधिक करने से भी उसकी पूर्ति हो सकती है । चौबीस हजार जप के लिए २४०० जप अधिक कर लिया जाय तो भी विवशता की स्थिति में उसे भी पर्याप्त मान लिया जायेगा ।

प्रसाद वितरण ब्रह्मभोज की आवश्यकता उन दिनों ज्ञान प्रसाद वितरण से की जानी चाहिए । आत्मिक प्रगति में सहायक सद्ज्ञान प्रदान करने वाला ऐसा सस्ता साहित्य युग निर्माण योजना द्वारा इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए छापा गया है न्यूनतम सवा रुपया इस ब्रह्मभोज के लिए ज्ञान वितरण के लिए खर्च किया जाय । अधिक बन सके तो और भी उत्तम है । इस प्रसाद को जिस-तिस को बखेर नहीं देना चाहिए वरन् सत्पात्रों के पास डाक से या व्यक्तिगत रूप से पहुँचाना चाहिए ताकि उसका समुचित उपयोग हो सके ।

आश्विन और चैत्र की नवरात्रियाँ लघु अनुष्ठानों के लिए अत्यन्त उपयुक्त समय है । यों उन्हें कभी सम्पन्न किया जा सकता है किसी तिथि मुहूर्त का कोई बन्धन नहीं है । फिर भी दोनों नवरात्रियों का विशेष महत्व है ज्येष्ठ में प्रतिपदा से दशमी तक गायत्री जयन्ती पर भी तीसरी नवरात्रि मानी गई है । चौबीस लाख का लम्बा अनुष्ठान करने के स्थान पर सवा लाख के बीस या चौबीस हजार के सौ कर लेना अधिक सुविधाजनक रहता है । किसी कारण वश कोई अनुष्ठान खंडित हो जाय तो उसे नये सिरे से करना चाहिए । यदि स्त्रियों का अनुष्ठान मासिक धर्म आ जाने से बीच में ही खण्डित हुआ हो तो जितना शेष था उसकी पूर्ति शुद्ध के बाद की जा सकती है उसे खण्डित हुआ नहीं माना जायेगा मात्र व्यवधान ही गिना जायेगा ।

अनुष्ठान से संकल्प शक्ति का संवर्धन

संकल्पित गायत्री साधना का तीन श्रेणियों में सबसे सरल २४ हजार जप का नौ दिन में सम्पन्न होने वाला अनुष्ठान है । लम्बे समय तक व्रत पालन करते रहने के लिए सुदृढ़ मनोबल चाहिए । देखा यह गया है कि बाल उत्साह क्षणिक होता है । लम्बे-चौड़े लाभ तुर्त-फुर्त मिलने की कल्पना से अबोध मस्तिष्कों को उत्साह भी आशा से अधिक आता है पर वह देर तक ठहर नहीं सकता । महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करने में कितना समय लगता है, कितना धैर्य रखना पड़ता है, कितने व्यवधान आते हैं और उनसे किस प्रकार जूझना पड़ता है इसका उन्हें ज्ञान अनुभव होता नहीं । सब कुछ सरल ही सरल होने की कल्पना रहती है पर जब वस्तु स्थिति सामने आती है और महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के लिए आवश्यक मूल्य चुकाने का तथ्य सामने आता है तो फिर आरम्भिक जोश पानी के बबूले की तरह ठण्डा पड़ जाता है ।

बाधाओं में सबसे बड़ी बाधा अपने मन की होती है वह चंचलता के लिए प्रसिद्ध है । नवीनता के कौतूहल से हर घड़ी उचकता-मचकता रहता है । उसके लिए अनुष्ठान भी एक कौतूहल ही है । उसका रसास्वादन लेने की जो ललक आरम्भ में किसी बढ़ी-चढ़ी आशा को लेकर उठी थी वह देर तक ठहरती नहीं । वरन् एक डाली पर देर तक नहीं बैठ सकता भले ही उसे वहां कितनी ही सुविधा क्यों न हो । अनगढ़ मन देर तक किसी ऐसे काम में रुचि नहीं लेता जिसमें वासना तृष्णा अहंता की पूर्ति जैसा प्रत्यक्ष लाभ न हो । परोक्ष लाभ पर तो विवेकशील सुसंस्कृत मन ही ठहरता है । उसी के लिए यह सम्भव होता है कि दूरवर्ती सत्परिणामों का विचार करके आज की कठिनाइयों से जूझने को विवेकशीलों जैसी दृढ़ता और साहसिकता का परिचय दे सकें ।

बच्चों को हलके-फुलके अभ्यास कराये जाते हैं । नौ दिन तक ढाई घण्टे नित्य उपासना करने की संकल्पित साधना बहुत कठिन नहीं पड़ती । आरम्भ में करने का उत्साह रहता है और चार-पाँच दिन बाद ही अन्त भी निकट दीखने लगता है । आरम्भ का उत्साह जब तक ठण्डा होने को आता है तब तक पूर्णता की घड़ी निकट होने से धैर्य बंध ही जाता है । इस प्रकार किसी तरह वह छोटी अवधि आसानी से पूर्ण हो जाती है । ४० दिन का सवा लाख और एक वर्ष का चौबीस लाख का जप पूरा करने के लिए अधिक दृढ़ता और परिपक्वता चाहिए । उसके अभाव में कुछ ही समय में ऊब आने लगती है । जिसके कारण या तो वह संकल्प किसी तनिक से बहाने की आड़ में टूट ही जाता है या फिर उपेक्षा पूर्वक किसी तरह चिन्हपूजा करके काम चलाना पड़ता है । इस स्थिति से बचने की दृष्टि से यही उत्तम है कि छोटे संकल्प लिए जायें । आरम्भिक साधकों के कच्चे उत्साह को ध्यान में रखते हुए २४ हजार जप का अनुष्ठान ही ठीक पड़ता है ।

लम्बे अनुष्ठानों में अधिक परिपक्व धैर्य होता है इसलिए उनकी ऊर्जा भी अधिक होती है । यह निश्चित है । अन्यथा कोई सवा लक्ष और चौबीस लक्ष का संकल्प ही क्यों लेगा ? लम्बे समय तक लगातार दृढ़ता पूर्व की गई तपश्चर्या अधिक प्रखर होती है तो यह उचित ही है । अधिक बड़ा साहस करने वाला लाभ भी बड़ा ही उठाता है किन्तु वैसा हर किसी के लिए सुलभ नहीं । सामान्यतया यही नियम ठीक है कि मनोभूमि में जितनी दृढ़ता हो उतना ही बड़ा संकल्प लिया जाय । सवा लक्ष करने की इच्छा हो तो चौबीस हजार के स्थान पर पच्चीस हजार जप के पाँच अनुष्ठान कर लेने चाहिए इसमें ४५ दिन लगते हैं । यदि संख्या कुछ बढ़ा ली जाय २७ माला के स्थान पर ३० कर ली जाय तो आठ-आठ दिन के पाँच अनुष्ठान चालीस दिन में भी पूरे हो सकते हैं । इसी प्रकार चौबीस लक्ष का पूर्ण अनुष्ठान करना हो तो २४ हजार के सौ खण्डों में उसे पूरा किया जा सकता है । इस प्रकार करने में प्रायः दो वर्ष लगते हैं । एक वर्ष में ६६ मालायें प्रतिदिन करनी पड़ती हैं । इसमें प्रायः छैः घण्टा समय चाहिए । इतना तो कोई निवृत्त निश्चिन्त व्यक्ति ही लगा सकता है । काम-काजी मनुष्य के लिए सबेरे शाम मिलाकर तीन घण्टे नित्य निकल सकें तो बहुत हैं । इस प्रकार दो वर्ष में २४ हजार के 100 अनुष्ठान पूरे हो सकते हैं और उनका योग पूर्ण अनुष्ठान कहा जा सकता है ।

जिन्हें लम्बे समय के बड़े अनुष्ठान करने की इच्छा हो उन्हें हम यही परमर्श देते रहे हैं कि वह उसे खण्ड-खण्ड करके पूर्ण करें । इसमें कई सुविधायें रहती हैं । एक

तो यह कि कभी कोई व्यवधान आ जाय तो उतने अनुष्ठान पूरे करके कुछ समय के लिए वह शृंखला रोकी जा सकती है और पीछे सुविधानुसार फिर कभी उसे उसी गणना से आरम्भ किया जा सकता है जहाँ से कि उसे छोड़ा गया था ।

तपश्चर्या में प्रधान शक्ति ब्रह्मचर्य की ही होती है । इसके बाद उपवास है । उपवास में न्यूनतम यह है कि सदाचारी स्वजनों के हाथ का ही बना हुआ सात्विक आहार हो । बाजार का, दावतों का स्वाद प्रधान गरिष्ठ भोजन नहीं चलता । इस प्रकार की गड़बड़ी से भी उसे खंडित माना जाता है । छोटे अनुष्ठान में यह सुविधा है कि इच्छा से या विवशता से कोई अनुष्ठान टूटा तो एक टुकड़ा ही बर्वाद हुआ । शेष तो बचा रहा । लम्बे संकल्प में तो वह पूरा ही चला जायेगा । इसलिए आरम्भ में छोटे-छोटे खण्डों में इस अनुष्ठान तपश्चर्या का सिलसिला चलना चाहिए और जब अधिक दृढ़ता विकसित हो जाय तो फिर लम्बे संकल्प लेने में भी हर्ज नहीं है । अधिक साहसिकता रहने से अधिक ऊर्जा उत्पन्न होना और अधिक लाभ मिलना तो स्पष्ट ही है ।

जो लोग नौ दिन तक भी नहीं कर सकते इतनी देर नहीं बैठ सकते, उतने नियम भी निभा नहीं सकते हैं उनके लिए और भी छोटी व्यवस्थायें मौजूद हैं इनमें सरलता अधिक है इसलिए उसी अनुपात से उनका प्रतिफल भी कम है । उतने पर भी जो कुछ भी नहीं कर सकते उनके लिए कुछ करना भी उत्तम है । धीरे-धीरे साहस और अभ्यास बढ़ाने का सिलसिला चल पड़े तो उससे भी क्रमिक अनुभव बढ़ता है । अधिक सरलता की शृंखलायें कुछ संकल्पित साधनायें निम्नलिखित आती हैं–

१. पंचाक्षरी गायत्री का अनुष्ठान । ॐ भूर्भुवः स्वः यह पंचाक्षरी गायत्री है । जो पूर्ण मन्त्र शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते उन बच्चों एवं अशिक्षितों के लिए यह ठीक है । इसकी २७ मालायें प्रायः एक घण्टे में पूरी हो जाती है । समय बढ़ाना हो तो ९ के स्थान पर कम दिन में भी उसकी पूर्ति हो सकती है ।

२. गायत्री चालीसा पाठ । प्रतिदिन १२ पाठ करने से ९ दिन में १०८ पाठ हो जाते हैं । इसमें भी प्रायः एक घण्टा ही नित्य लगाना पड़ता है ।

३. मन्त्र लेखन । नौ दिन में २४०० मन्त्र लिखने में २७० मन्त्र नित्य लिखने पड़ते हैं । इसमें प्रायः दो घण्टे लग जाते हैं । इसे रात्रि में भी लिखा जा सकता है और वाणी से उच्चारण न होने के कारण स्नान का भी बन्धन नहीं है ।

अनुष्ठान में न्यूनतम एक घण्टा समय की मर्यादा है । एक घण्टा से कम की साधना नित्य कर्म में गिनी जाती है । वह मानसिक शुद्धता का दैनिक प्रयोजन पूरा करती है । अवशिष्ट शक्ति उत्पादन के लिए एक घण्टे से अधिक का समय लगाने पर ही आवश्यक ऊर्जा उत्पन्न होती है । छैः घण्टे अधिकतम इसलिए माने गये हैं कि उतने में आध्यात्मिक श्रम की चरम सीमा पूरी हो जाती है । शारीरिक श्रम ८ घण्टे मानसिक श्रम ७ घण्टे और आध्यात्मिक श्रम ६ घण्टे बन पड़े तो उसे पूर्ण माना जायेगा । इससे अधिक भार उठाने पर अनुपयुक्त थकान चढ़ती है और श्रम करने की सामान्य क्षमता को आघात पहुँचता है । मध्यम चाल और सीमित दूरी तक नित्य चलते रहने पर बहुत दिनों तक यात्रा जारी रखी जा सकती है और लम्बी मंजिल पूरी हो सकती है । किन्तु यदि दौड़ लगाई जाय तो दो-चार दिन में ही टाँगें दुखने लगेंगी । सामान्य क्रम से चलते रहने पर जितना सफर हो सकता था वह भी न हो सकेगा । अति को सर्वत्र वर्जित किया गया है । अनुष्ठानों में अतिवादी उत्साह भर देने से मस्तिष्क में अनावश्यक गर्मी उत्पन्न होती है और सिर भारी या गरम रहने जैसी शिकायतें उत्पन्न हो जाती हैं ।

अधिक लाभ पाने के लिए अधिक जल्दी करने अधिक भार बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है । श्रद्धा की मात्रा बढ़ा देना ही पर्याप्त है । अधिक मनोयोग और अधिक भावना रहने से ही आध्यात्मिक साधनाओं में प्रगति होती है । भावनात्मक पवित्रता और चारित्रिक उत्कृष्टता का खाद पानी पाकर उपासना की फसल तेजी से बढ़ती है । उसे अनावश्यक शारीरिक श्रम से लादने पर वह जल्दबाजी अभीष्ट परिणाम प्राप्त होने में और भी देरी लगा देती है । इस सन्दर्भ में उतावली बरतना असन्तुलन का परिचायक है । इसमें लाभ कम और हानि अधिक है । असन्तुलित मात्रा में घी खाने, दूध पीने, औषधि लेने, व्यायाम करने से लाभ के स्थान पर हानि ही होती है । यही बात उपासना अनुष्ठान के सम्बन्ध में भी है ।

चैत्र एवं आश्विन की नवरात्रियों में २४ हजार का अनुष्ठान करने की परम्परा है । उसमें समय की घटा-बढ़ी नहीं की जानी चाहिए । अन्य दिनों के अनुष्ठान में उपयुक्त मर्यादा को ध्यान में रखते हुये ९ दिन, ४० दिन की उपासनाओं में समय की कमी की जा सकती है । पर वह आरम्भ करने से पूर्व ही निश्चय हो जानी चाहिए और उसका नियम यथा समय नियत संख्या में पूरा होते रहना चाहिए ।४० दिन का सवा लक्ष्य अनुष्ठान जल्दी से जल्दी २० दिन में हो सकता है । इसमें ६६ माला प्रतिदिन करनी होती हैं जो जप की चरम सीमा है । इसी प्रकार चौबीस हजार को चार दिन में भी किया जा सकता है इससे कम में करने की बात नही सोचनी चाहिए । दैनिक क्रम बना रहे यह बात भी आरम्भ से पहले ही निश्चय कर लेनी चाहिए । प्रातः सायं दो खण्डों में साधना पूरी की जा सकती है । इसमें निश्चय रहना चाहिए कि प्रातः कितना और सांय कितना किया जायेगा । इसी प्रकार यह भी निश्चय किया जाय कि कितने बजे से कितने बजे तक प्रातः एवं सायं काल का जप चला करेगा । यह समय की नियमितता भी औषधि सेवन की तरह ध्यान रखने योग्य है । जो निर्धारण कर लिया जाय उसे अपने परिजनों-परिचितों के बीच घोषित भी कर देना चाहिए । इस प्रकटीकरण से उस कार्य को पूरा करना प्रतिष्ठा का प्रश्न बन जाता है और उसमें लोक लज्जा की बात को ध्यान में रखकर भी नियम का पालन करना पड़ता है । संकल्प लेने में निश्चय को पूरा करने की जिम्मेदारी आती है । इसलिए प्रत्येक श्रेष्ठ कार्य के आरम्भ में संकल्प लेना आवश्यक माना गया है । उससे मन में उठने वाली ऊब और उपेक्षा पर नियन्त्रण करना सरल हो जाता है । छोटे-छोटे संकल्प पूरे करते चलने पर जो आत्म विश्वास बढ़ता है वह आगे चलकर महत्त्वपूर्ण महान कार्य सम्पन्न करने के लिए बहुत ही कारगर सिद्ध होता है ।

सामान्य नियम यह है कि अनुष्ठान ९ या चालीस या ३६० दिनों में पूरा करके अगले दिन उसकी पूर्णाहुति का हवन किया जाये । किन्तु कई बार कारणवश जिस दिन जप पूरा होना है उसी दिन हवन पूर्णाहुति करने की व्यवस्था बना ली जाती है । ऐसा हो तो सकता है पर इससे उस दिन का जप पूरा करके हवन करने से समय की दृष्टि से विलम्ब हो जाता है । जो असुविधाजनक पड़ता है । यदि जप के अन्तिम दिन ही हवन करना है तो और अधिक सुविधाजनक यह रहेगा कि अन्तिम दिन के लिए कुछ कम रखा जाय और वह संख्या पहले दिनों में ही पूरी कर ली जाय । जैसे २४ हजार अनुष्ठान नौ दिन में पूरा करना है । हवन भी नौवें दिन ही किया जाना है । तो अन्तिम दिन के लिए २७ के स्थान पर ११ माला ही रखी जाय और १६ मालायें पिछले आठ दिन में दो-दो माला नित्य बढ़ाकर पूरी कर ली जाय । उसमें २ के स्थान पर २६ का नियम बनाना पड़ेगा । ऐसा हो तो सकता है पर यह उलट-पलट बीच में नहीं होनी चाहिए । इसका निश्चय आरम्भ में ही कर लेना चाहिए । उसी क्रम से सारी व्यवस्था आदि से अन्त तक चलनी चाहिए । अनिवार्य विवशता आ खड़ी हो तब तो बात दूसरी है अन्यथा यथा सम्भव क्रमबद्धता का ध्यान रखा ही जाना चाहिए । ब्रह्मचर्य, उपवास, अपने शरीर की सेवा स्वयं करना, भूमि शयन, चमड़े की वस्तुओं का त्याग यह पांच नियम अनुष्ठान के हैं । इनमें से किसी की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ।

आरम्भ के दिन या उससे एक दिन पूर्व अनुष्ठान के साधन क्रम का संकल्प देवताओं की साक्षी में लेना चाहिए । इसी क्रम में (१) परिशोधन के पाँच कृत्य (२) देव पूजने (३) कलश पूजन (४) दीप पूजन (५) स्वस्ति वाचन (६) यज्ञोपवीत धारण (७) हाथ में कलावा बाँधना (८) चन्दन धारण (९) संकल्प धारण (१०) अभिशिंचन यह नौ कृत्य सम्पन्न किये जाते हैं । इन विधियों के मन्त्र विधान पुस्तकों में लिखे हैं । वे याद न हों तो यह सभी अकेले गायत्री मन्त्र से हो सकते हैं । यदि संस्कृत भाषा न आती हो तो मातृ भाषा में भी संकल्प और घोषणा की जा सकती है कि इन नियमों का पालन करते हुए इतने दिन में संख्या का गायत्री अनुष्ठान पूरा करूँगा ।

संकल्पित साधनाओं में एक वर्ष में ५ लाख जप पूरा करने की अभियान साधना भी है । उसमें साधारणतया ११ माला प्रतिदिन और रविवार या अन्य अवकाश के दिन २४ मालायें करनी होती हैं । यदि अवकाश के दिन अधिक न करनी हों तो ५ लाख को ३६० दिनों में बराबर विभाजन करने में प्रायः १४ माला का हिसाब बन जाता है । वर्ष में ५ लाख जप इसी क्रम से पूरा होता

है। इसमें अपनी सुविधा का क्रम भी निर्धारित हो सकता है पर वह चलना नियमित रूप से ही चाहिए। वर्ष पूरा हो जाने पर उसकी पूर्णाहुति का हवन करा दिया जाय। इसमें एक हजार आहुति से कम न हों। हर महीने पर हर सप्ताह हवन का क्रम-चलाने में सुविधा हो तो वह और भी उत्तम है। अभियान साधना में ब्रह्मचर्य उपवास, भूमि शयन आदि तपश्चर्या अनिवार्य तो नहीं है पर उनका जितना अधिक पालन निर्वाह हो सके उतना उत्तम है।

अनुष्ठान में पंच सूत्री तप साधना

दूध को गर्म करने से उसका घृत वाला अंश मलाई के रूप में ऊपर तैरने लगता है। गर्मी से पिघल कर विशेष पत्थरों के भीतर रमा हुआ शिलाजीत बाहर निकल आता है। सूर्य की गर्मी बढ़ते ही सभी प्राणी निद्रा त्याग कर जाग पड़ते और काम में लगते हैं। तप की गर्मी से मनुष्य की अन्तः चेतना जाग्रत, सक्रिय और सक्षम बनती है। झकझोरने से सोया हुआ व्यक्ति जाग पड़ता है। आन्तरिक मूर्छा और उदासी को दूर करने के लिए तपश्चर्या से उत्पन्न उत्तेजना अपना चमत्कार दिखाये बिना नहीं रहती। उसका प्रभाव संचित कुसंस्कारों को जलाता है। और ऐसी अभिनव शक्ति प्रदान करता है जिसके सहारे प्रगति पथ पर द्रुत गति से बढ़ चलना संभव हो सके, आग तापने से ठंडक दूर होती है। अगति और अकर्मण्यता को निरस्त करने में तप की गर्मी से भी वैसा ही उद्देश्य पूरा होता है।

गायत्री साधना पञ्च मुखी है। उसके प्राण रूपी प्रकरण पांच-पांच अध्याय-सोपानों में बंटे हुए हैं। तप साधना वाला प्रकरण भी पाँच भागों में विभक्त है। पाँच तत्त्वों से बना हुआ काय कलेवर, पाँच प्राणों से बने हुए चेतना संस्थान भी पाँच प्रकार की तपश्चर्याओं से प्रभावित परिष्कृत होते हैं। गायत्री उपासना को सफल बनाने वाली पांच तपश्चर्याऍं (१) उपवास (२) ब्रह्मचर्य (३) मौन (४) तितीक्षा (५) अनुदान इन पाँच नामों से प्रसिद्ध हैं। साधना के साथ-साथ इनका समन्वय जितना हो सकेगा उसी उनुपात में उसकी कार्य क्षमता बढ़ती चली जायगी।

उपवास का प्रयोजन है आहार की संयम शीलता और सात्विकता, पापों के प्रायश्चित्य के लिए तो चन्द्रायण संतापन आदि कितने ही विशिष्ट व्रत हैं। अमावस्या, पूर्णिमा, एकादशी एवं साप्ताहिक उपवासों का क्रम कितने ही लोग चलाते हैं। श्रावण, कार्तिक, माघ, बैसाख महीने के पूरे व्रत साधनों का विस्तृत माहात्म्य है। रमजान में रोजे तो मुसलमान भी रखते हैं। जन्माष्टमी, राम नवमी, शिवरात्रि, गंगा दशमी, नवरात्रि आदि के पर्वों पर उपवासों की परम्परा है। आहार न करने से पेट को विश्राम मिलना और उसका नई शक्ति नई स्फूर्ति अर्जित करना स्वास्थ्य की दृष्टि से तो हितकर है ही उसका प्रभाव मन पर भी पड़ता है। शारीरिक आवश्यकता भूख के रूप में प्रकट होती और आहार माँगती है। धर्म श्रद्धा के साथ जुड़ी हुई संकल्प शक्ति उस मांग को पूरा करने से इन्कार करती है। संस्कार और संकल्प के बीच विग्रह खड़ा होता है। समझा कर या बल पूर्वक संस्कार का दमन किया जाता है और धर्मबुद्धि के सहारे शरीर को सन्तोष समाधान कराया जाता है। इस अनुशासन स्थापना को तपश्चर्या कहा गया है। इस अभ्यास में अन्यान्य प्रकार की वासनाओं का दमन समाधान हो सकता है। इन्द्रिय निग्रह और मनोनिग्रह में इस सफलता से क्रमशः उत्साह साहस बढ़ता चलता है। मन को जीतना सब में बड़ी विजय है जो इस क्षेत्र में पूरी तरह सफल हो सके उसे जीवन मुक्त कहा जायेगा। उपवास की तपश्चर्या के सहारे आत्मानुशासन स्थापित करने का महत्त्व-पूर्ण प्रयोजन सिद्ध होता है।

उपवास किसे किस प्रकार कितना करना चाहिए ? यह साधक की मनः स्थिति और परिस्थिति पर निर्भर है। पूर्ण उपवास तो वही है जो मात्र जल पर रहा जाय। आंशिक उपवास के कितने ही प्रकार हैं। (१) दूध, छाछ, फलों का रस, शागों का रस जैसे पेय पदार्थों पर रहना। (२) अन्नाहार छोड़कर शाक फल दूध आदि पर निर्वाह करना। (३) एक समय भोजन करना। (४) एक अन्न, एक लगावन की रोटी, शाक दाल, भात आदि से पेट भरना। (५) खिचड़ी, दलिया जैसी एक ही भगौनी से पकाई वस्तु से काम चलाना। उपवास की इन प्रक्रियाओं में से जो जितना कठिन सरल चुनाव कर सके वह उसे अपना सकता है।

अस्वाद व्रत इसी उपवास प्रक्रिया का एक अतिरिक्त भाग है । नमक, शक्कर, मसाले छोड़कर बिना स्वाद का भोजन करना इन्द्रिय निग्रह का एक बड़ा कदम है । स्वास्थ्य की दृष्टि से इसमें तनिक भी हानि नहीं । खाद्य पदार्थों में उपयोगी क्षारों की मात्रा प्रकृतितः होती है । उसमें ऊपर से नमक शक्कर आदि मिलाने की स्वास्थ्य की दृष्टि से इसमें तनिक भी आवश्यकता नहीं है ।सृष्टि का कोई भी प्राणी ऊपर से नमक मसाले नहीं खाता । शरीर के लिए सभी आवश्यक तत्व सामान्य खाद्य पदार्थों में ही मिल जाते हैं । जीव को चटोरेपन की आदत डाल कर भोजन को अखाद्य बनाया जाता है और उसे अनावश्यक मात्रा में खाकर पेट खराब किया जाता है । मन में चंचलता और तामसिकता की वृद्धि भी उन मिलावटों के कारण ही उत्पन्न होती है ।

अस्वाद व्रत जिह्वा इन्द्रियों का संयम है । जीभ को चटोरेपन के दुर्गुण से छुड़ा लेने में साहसिकता का समावेश है । इसे जीत लेने पर अन्य सभी इन्द्रियों पर अनुशासन स्थापित कर सकना सरल हो जाता है । इसमें भी आत्म निग्रह का आत्मानुशासन का संकल्प प्रखर होता है और इससे बढ़ा हुआ साहस अन्य कुसंस्कारी दुष्प्रवृत्तियों पर विजय पा सकने में समर्थ हो जाता है । स्वाद छूटने पर जो कुछ खाया जायेगा प्रायः वह सीमित और सात्विक ही रहता है । आहार का संयम मन का संयम होता है और उससे आत्मिक प्रगति में बड़ी सहायता मिलती है । इसलिए उपवास और उसकी एक महत्त्वपूर्ण शाखा अस्वाद व्रत का पालन तपश्चर्या में ही सम्मिलित है । उसका लगातार कितने समय तक पालन किया जाय यह साधक की इच्छा पर निर्भर है । न्यूनतम सप्ताह में एक बार इस तप के पालन का अभ्यास तो करना ही चाहिए ।

जप स्तवन, कीर्तन, पठन आदि जिह्वा से किये जाते हैं । इस उपकरण की शुद्धि नितान्त आवश्यक है । जिस जीभ रूपी बन्दूक से मन्त्र रूपी कारतूस चलाया जाता है उसकी सफाई पहले ही कर लेनी चाहिए । नली में कूड़ा-करकट भरा हो दबाने का घोड़ा तथा दूसरे पुर्जे अस्त-व्यस्त हों तो अच्छे कारतूस होने पर भी निशाना लगाना कठिन है । वंशी बजाने वाले यह देख लेते हैं कि उसके छेद साफ हैं या नहीं । मैले बर्तन में दूध दुहने या उबालने से उसके फटने की आशंका रहेगी ।अशुद्ध जिह्वा के सम्बन्ध में भी है उसके द्वारा किये गये पूजा उपचार एवं मन्त्र साधन सफल नहीं होते । अस्तु उपासना को सार्थक बनाने के लिए जिह्वा शुद्ध की प्रक्रिया पर पूरा ध्यान देना चाहिए ।

कहा जा चुका है कि अभक्ष्य आहार से जिह्वा की पवित्रता और आध्यात्मिक क्षमता नष्ट होती है । इसलिए भोजन को सात्विकता पर पूरा-पूरा ध्यान देने की आवश्यकता है । स्वाद को जीतना आवश्यक है । इसके बिना आहार को सात्विक रखा ही न जा सकेगा । चटोरापन न केवल पेट के स्वास्थ्य को बिगाड़ता है वरन् मानसिक चंचलता और तामसिकता का भी निमित्त होता है । भोजन पवित्र हाथों का बनाया हुआ हो । पकाने और परोसने वाले के संस्कार आहार में रहते हैं । इसलिए साधको अपने हाथ का अथवा सुसंस्कारी हाथों का पकाया परोसा आहार लेने की व्यवस्था करनी चाहिए और हर हालत में भूख से कम ही खाना चाहिए । बेईमानी से कमाया हुआ-युद्ध में पाया हुआ धन भी बुद्धि भ्रष्ट करने का बड़ा कारण है । ऐसे धन से खरीदे गये खाद्य पदार्थ वस्त्र तथा दूसरे उपकरण आध्यात्मिक प्रगति में घोर बाधा पहुंचाते हैं । इन सब बातों ध्यान रखा जाय तो उपासना की सफलता सुनिश्चित होती है ।

जिह्वा का एक कार्य है आहार ग्रहण, दूसरा है उच्चारण । उच्चारण का तात्पर्य है साधक के सम्भाषण में पवित्रता का समावेश । असत्य भाषण, छल, शेखीखोरी, अवांछनीय परामर्श, अपमान, तिरस्कार कटु वचन, चुगली, हिम्मत गिराना जैसे अनेक वाणी दोष हैं । इनके रहते भी वाणी की पवित्रता नहीं बन पाती । साधक को नपा-तुला बोलना चाहिए । व्यर्थ की बकझक करते रहने की आदत पड़ गई हो तो वह दूर करनी चाहिए । अन्य वाणी दोषों को सुधारने के लिए पूरा-पूरा ध्यान देना चाहिए इस संदर्भ में वाणी का विश्राम, निरीक्षण, संशोधन करने के लिए मौन का अभ्यास करना चाहिए । मौन को वाणी का तप कहा गया है ।

सुविधानुसार हर दिन जागृति स्थिति में एक दो घण्टे मौन रहने का अभ्यास करने का प्रयत्न करना चाहिए । भोजन के समय मलमूत्र विसर्जन में उपासना के समय तो मौन रहने की परम्परा भी है । इसके लिए जिस समय कम जन सम्पर्क रहता है उस समय एक दो घण्टे का मौन रखने का नियम बनाना चाहिए । सप्ताह

में या महीने में एक दिन पूरा मौन रखना भी जिह्वा की अवांछनीय गतिविधियों पर रोक लगाने पुरानी आदतें भुलाने का एक अच्छा उपाय है ।

शक्ति संचय की दृष्टि से कम बोलना उपयोगी है । जब मनुष्य अधिक दुर्बल हो जाता है । तो उसकी वाणी बन्द हो जाती है । या लड़खड़ाने लगती है । यद्यपि होश हवाश बने रहते हैं । बोलने में अन्तः शक्तियों पर बहुत जोर पड़ता है । अनेकों अवयवों की संयुक्त शक्ति के अतिरिक्त उसमें शरीर की विद्युत शक्ति का भी एक बहुत बड़ा भाग खर्च होता है । दुर्बलता की स्थिति में उतनी सामर्थ्य न रहने से ही बोलने में कठिनाई होती है ।

'वायस आफ साइलेन्स' ग्रंथ में थियोसोफी के जन्म दाताओं ने यह बताया है कि मौन रहने की स्थिति में दैवी वाणी को सुनने का अवसर मिलता है । कहने और सुनने को दोनों क्रियाएं साथ-साथ चलाने में कितनी कठिनाई होती है यह सभी जानते हैं । ईश्वर की वाणी सुनने अदृश्य लोक के दिव्य संदेशों को पकड़ने के लिए मौन धारण का अभ्यास करना उचित ही है । गायत्री उपासकों के लिए उपवास अस्वाद एवं मौन का अभ्यास करने के साथ में जिह्वा के माध्यम से की जाने वाली दोनों ही तपश्चर्याएं आवश्यक हैं । आहार की तामसिकता और अनर्गल वार्ता का संयम करने से जिह्वा में वह शक्ति उत्पन्न होती है । जिससे उसके द्वारा किया हुआ जप आराधन सफल हो सके ।

तीसरा तप है—ब्रह्मचर्य । ब्रह्मचर्य का मोटा अर्थ है । वीर्य रक्षा । स्वास्थ्य सुरक्षा की दृष्टि से यह भी आवश्यक है । इस बहुमूल्य धातु का सूक्ष्म रूप ओजस् है । नेत्रों में ज्योति, वाणी में प्रभाव मस्तिष्क में स्मृति, व्यक्तित्व में प्रतिभा, शरीर में स्फूर्ति, चेहरे पर तेजस्विता मन में साहसिकता के रूप में यह ओजस् ही काम करता हैं । जीवन ज्योति का आलोक जिस तेल के आधार पर प्रकाशवान रहता है वह वीर्य रक्षा से ही संचित होता है । आत्मिक प्रगति के लिए प्रचण्ड संकल्प शक्ति की आवश्यकता पड़ती है । भौतिक आकर्षणों से लेकर कुसंस्कारों के अवरोधों से पग-पग पर जूझना होता है । इसके लिए योद्धाओं जैसे शौर्य साहस की आवश्यकता पड़ती है । इसके लिए अभीष्ट शक्ति संचय की दृष्टि से ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है । दाम्पत्य जीवन का अर्थ आत्मघात नहीं है । पति पत्नी भी दो भाइयों और मित्रों की तरह दो बहिनों और सहेलियों की तरह मित्रता और प्रसन्नता भरा जीवन सरलता और सफलता पूर्वक जी सकते हैं ।

ब्रह्मचर्य का सूक्ष्म और महत्त्वपूर्ण भाग वह है जिसमें नर नारी को और नारी नर को कामुकता की दृष्टि से न देख कर सामान्य प्राणी की तरह देखते हैं । अश्लील विचारों की वासनात्मक कुदृष्टि का समन्वय नहीं होने देते । यदि स्नेह पूर्वक एक दूसरे को देखना आवश्यक हो तो पुत्री भगिनी या माता की, पुत्र भाई या पिता की पवित्र दृष्टि रखते हुए घनिष्ठता एवं मित्रता का भी निर्वाह हो सकता है । मस्तिष्क को अनावश्यक रूप से उत्तेजित करने में चिन्तन को उच्चस्तरीय प्रयोजनों में संलग्न न होने देने में कामुकता के विचार ही अत्यधिक बाधक होते हैं । कल्पना शक्ति का महत्त्वपूर्ण भाग इन्हीं कुप्रसंगों का ताना बाना बुनने में नष्ट हो जाता है । कामुक दृष्टि रहने पर नेत्रों की दिव्य दृष्टि का बुरी तरह अपव्यय होता रहता है । ऐसा चिन्तन वीर्यपात से भी अधिक हानिकारक होता है । रति कर्म से स्थूल शरीर में जैसी हानि होती है वैसी ही कामुक शरीर से सूक्ष्म शरीर की प्राण प्रतिभा को क्षति उठानी पड़ती है इसलिए ब्रह्मचर्य की तप साधना में न केवल वीर्य रक्षा का वरन् कामुक दृष्टि को निरस्त करने का भी अनुशासन है ।

गायत्री माता का चित्र युवा नारी का है । उसमें पवित्रता भरी मातृ बुद्धि की श्रद्धा जमाने का एक उद्देश्य यह भी है कि नारी यौवन पर दृष्टि जाते ही उत्कृष्ट चिन्तन उभरने का अभ्यास होता रहे । सरस्वती, लक्ष्मी, काली आदि अन्य देवियों की प्रतिमाओं में भी यौवन के साथ भाव भरी श्रद्धा संजोये रहने की मान्यता है । इसी प्रकार देवताओं को रूप यौवन सम्पन्न बनाकर नारी को वह अभ्यास करने का अवसर दिया गया है कि वे नर यौवन से कामुक उत्तेजना ग्रहण न करें वरन् ईश्वर तुल्य मान्यताओं का अभ्यास करें । मीरा आदि की आराधना इसी स्तर की थी ।

चौथी तपश्चर्या है-तितीक्षा । तितीक्षा का अर्थ है सुविधाओं का स्वेच्छा पूर्वक परित्याग और कष्ट साध्य जीवन क्रम का अभ्यास । यह कई कारणों से आवश्यक है । मितव्ययी ब्रास्मण जीवन की स्थिति अपनाने पर

ही परमार्थ प्रयोजनों के लिए समय मन और धन बच सकता है । विलासी व्यक्ति की आवश्यकताएं आकांक्षाएं इतनी बढ़ी-चढ़ी होती हैं कि उसके लिए परमार्थ प्रयोजन के लिए कुछ कर सकना तो दूर सोच सकना भी कठिन पड़ता है । अल्प व्यय में निर्वाह करने वाले को कई प्रकार की असुविधाएँ सहन करनी पड़ती हैं इसका पूर्वाभ्यास तितीक्षा से ही करना पड़ता है ।

लोक मंगल की सेवा साधना ईश्वर उपासना का अविछिन्न अंग है । विराट् ब्रह्म की-विशाल विश्व की सेवा आराधना से विरत रहकर मात्र पूजा अर्चा मात्र से कोई भी जीवन लक्ष प्राप्त नहीं कर सकता । सेवा साधन में निरत व्यक्तियों को कितने ही प्रकार से कष्ट सहने पड़ते हैं । परिव्राजक जीवन की कठिनाइयाँ तो सर्व विदित ही हैं । वानप्रस्थ सन्यास में भी कष्ट साध्य जीवन यापन ही करना पड़ता है । तितीक्षा इसी का पूर्वाभ्यास है ताकि समय आने पर अभ्यास प्रक्रिया अपनाने में कठिनाई अनुभव न हो ।

सचाई और न्याय निष्ठा अपनाने वाले को अनीति के विरुद्ध संघर्ष भी करना पड़ता है इसमें प्रतिपक्षों असुरता के प्रत्याक्रमण होने स्वाभाविक हैं । ईसा, गाँधी, सुकरात, दयानन्द, मंसूर, बन्दा वैरागी, गुरु गोविन्द सिंह के बालक जैसे असंख्यों पुरुषों को प्राणों से हाथ धोने पड़े हैं । त्रास तो असंख्यों ने सहे हैं । हिंस्र व्याघ्र आदि तो आक्रमण करने से रोकने पर प्रतिरोध करने वाले पर ही टूट पड़ते हैं । असुरता की यही नीति रही है कि वह सज्जनता को अपने अस्तित्त्व के लिए संकट मानती है और उस पर आक्रमण करती है । जिनके स्वार्थों को क्षति पहुँचती है वे सब अपने विराने आध्यात्मवादी से रुष्ट रहते और हानि पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं । ऐसी विपत्तियों के फँसने की जानकारी एवं तैयारी पहले से ही बनी रहे इसलिए कई प्रकार के कार्य कष्ट सहने की तितीक्षा को तपश्चर्या माना गया है और साधक को उसका अभ्यास करते रहने के लिए कहा गया है ।

सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास सहने का अभ्यास तितीक्षा है । भूमि शयन, बिना जूते चलना कम वस्त्रों का उपयोग भी इसी श्रेणी में आता है । बिना दूसरों की सहायता का स्वावलम्बी जीवन, अपनी शरीर यात्रा के कार्य अपने हाथों करने का अभ्यास भी इसी प्रयोजन के लिए है । कपड़े धोना, हजामत बनाना जैसे दैनिक आवश्यकता के काम बिना दूसरों की सहायता लिए करने के नियम इसी तितीक्षा तप के अन्तर्गत आते हैं ।

पाँचवा तप है अनुदान । अपने सुविधा साधनों में कमी करके उस बचत को सत्प्रयोजन में लगाते रहना अनुदान अथवा अंशदान है । समय दान, श्रम दान, धन दान, ज्ञानदान आदि इसी वर्ग में आते हैं । अपने धर्म कृत्यों में से प्रत्येक के साथ किसी न किसी रूप में दान देने का विधान जुड़ता हुआ है । विविध प्रकार के दान पुण्यपरमार्थ एवं धर्म कृत्य माने गये हैं ।

अंशदान का अर्थ है अपना उपार्जन । उसका एक न्यूनतम अंश ही अपने निर्वाह में खर्च करना शेष को परमार्थ में लगा देना तपश्चर्या का एक रूप है । समय दान और धन दान का न्यूनतम अनुदान युग-निर्माण परिवार के सदस्यों को ज्ञान यज्ञ के लिए प्रस्तुत करना पड़ता है । ज्ञानघटों की स्थपना से इसी तपश्चर्या का शुभारम्भ होता है ।अपने युग का सबसे बड़ा परमार्थ ज्ञान यही माना गया है । हमें प्राचीन काल के ऋषियों महामानवों और देव पुरुषों की तरह बढ़ा-चढ़ा अंशदान पीड़ा और पतन का समय निवारण कर सकने वाले ज्ञान दान के निमित्त करते रहना चाहिए । तपश्चर्या का यह पंचम चरण है । इन पाँचों को किसी न किसी रूप में कार्यान्वित करके गायत्री उपासना के वास्तविक सत्परिणाम देखने का अवसर प्राप्त करना चाहिए ।

रविवार का व्रत उपवास

अनुष्ठान काल में व्रत उपवास का विशेष महत्व है । यों तो उपवास का शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को सुधारने में बड़ा महत्व है ही । इससे पेट के पाचन यंत्रों को उपवास से विश्राम मिलता है, फलस्वरूप वे शक्ति संचय करके और भी अधिक उत्साह से काम करने लगते हैं । कर्मचारियों को साप्ताहिक छुट्टी मिलती है, नगरों के बाजार भी सप्ताह में एक दिन बन्द रहते हैं । इससे घाटा किसी को नहीं वरन् सभी को लाभ है । एक दिन छुट्टी मिलने से छैः दिन की थकान मिटाने और अगले छैः दिन तक उत्साह पूर्वक काम करने के लिए शक्ति संचय का अवसर मिल जाता है । दिन में ठीक प्रकार काम तभी हो सकता है जब रात में सोने की छुट्टी मिले । यदि कोई लोभी इस छुट्टी से हानि की संभावना समझ कर दिन रात काम ही करता रहे

तो इससे उसका कल्पित अतिरिक्त लाभ तो मिलेगा नहीं, शक्ति के समाप्त हो जाने से उलटी हानि ही होगी।

पेट को विश्राम देने की समस्या भी ठीक इसी प्रकार की है। इससे पेट की कमजोरी दूर होती है, जो अपच आमाशय एवं आंतों में जमा है वह इस विश्राम के दिन पच जाता है। दफ्तर के जिन बाबुओं के पास बहुत काम रहता है और कागज रोज नहीं निपट पाते वे उस पिछड़े हुए काम को छुट्टी के दिन पूरा कर लेते हैं। पेट के बारे में भी यही बात है। यदि पिछला अपच जमा है तो उसे वह उपवास के दिन पचाकर शरीर को उदर व्याधि से ग्रस्त होने से बचा लेता है। सारी बीमारियों की जड़ अपच है। यदि पेट को विश्राम देते रह कर अपच से बचे रहा जाय तो बीमारियों से आसानी के साथ छुटकारा प्राप्त हो सकता है। रोग ग्रस्त होकर लोग बहुत कष्ट पाते हैं और धन व्यय करते हैं। दुर्बलता के कारण उनका उपार्जन कार्य एवं इन्द्रिय बल घट जाता है, इससे दरिद्रता और निराशा की चिन्ताजनक परिस्थितियों में पड़ना पड़ता है। उपवास में कुछ विशेष कष्ट नहीं है पर लाभ बहुत हैं।

मानसिक चिन्ताओं दुर्गुणों और कुविचारों का समाधान करने में भी उपवास का विशेष महत्त्व है। पापों के प्रायश्चित में उपवास कराया जाता है। इसे आत्म दंड भी माना जाता है पर वास्तविकता यह है कि अन्न दोष के कारण जो विक्षेप मन में उठते रहते हैं वे उपवास के समय नहीं उठते और आत्मा के सतोगुण को विकसित होने का अवसर मिल जाता है। यह अनुभव की बात है कि जिस दिन उपवास रखा जाता है उस दिन कुविचार बहुत कम आते हैं, कुसंस्कार दबे रहते हैं और पाप कर्मों की ओर सहज ही अरुचि होती है। बारबार उपवास करते रहने से यह सत् प्रवृत्तियाँ अभ्यस्त होती जाती हैं और दिन-दिन मनुष्य अधिक सतोगुणी बनता जाता है। आत्म उत्कर्ष और मानसिक सुधार के लिए उपवास का इतना अधिक लाभ है उसे धर्मव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

गायत्री परिवार में साप्ताहिक उपवास रविवार को किया जाता है। गायत्री का देवता सविता अर्थात् सूर्य। सूर्य का दिन रविवार है। इस दिन का कुछ विशेष वैज्ञानिक महत्व है। उपवास करने वाले व्यक्ति की आत्मा सविता देवता से विकीर्ण होने वाली सूक्ष्म आध्यात्मिक तरंगों को अधिक मात्रा में ग्रहण करती है फलस्वरूप उसे शारीरिक और मानसिक ही नहीं, कुछ विशेष आध्यात्मिक लाभ भी प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से अन्य दिनों की अपेक्षा रविवार के दिन उपवास रखने का और भी अधिक महत्व है। शास्त्रकारों का भी ऐसा ही कथन है। सूर्य पुराण में रविवार के दिन उपवास रखने का माहात्म्य इस प्रकार वर्णन किया गया है।

एक समय शौनक ऋषि के आश्रम में अति बुद्धिमान सूतजी ने आगमन किया उस समय शौनक अनेक ऋषियों के सहित स्वयं वहाँ विराजमान थे। शौनक ने सूतजी को आते देख सम्पूर्ण शिष्यों के सहित पृथ्वी पर गिरकर साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया एवं बैठने के लिए दिव्य आसन देकर स्वयं सम्पूर्ण मुनियों सहित स्वस्थान में विराजे। मुनियों की श्रद्धा को देखकर सूतजी ने कहा हे मुनियो! मैं आप लोगों के समक्ष रविवार के व्रत को सविस्तार वर्णन करता हूँ उसे आप लोग ध्यान पूर्वक सुनें। एक समय नारद ऋषि घूमते हुए पृथ्वी के अग्निकोणस्थित कोणार्क नामक पवित्र स्थान में पहुँचे। वह स्थान लवण समुद्र के समीप एक पवित्र भूमि है वहाँ श्री, कृष्णावीर्योत्पन्न जाम्ववती के पुत्र साम्व को कुष्ट रोग से पीड़ित देख उन्होंने पूछा–हे साम्व आपका रूप इस प्रकार कुरूप क्यों हुआ, उसे आप सविस्तार वर्णन करें।

नारद के उपर्युक्त वचन को सुनकर भक्ति पूर्वक साम्व ने प्रणाम कर कहा–हे प्रभु! आप तो सर्वज्ञ हैं अतः आपको सर्वविदित ही है मैं और क्या कहूँ जो आप मुझे पूछ रहे हैं। आपके आदेश पालन हेतु मैं बता रहा हूँ। हे मुनि! किसी कारण से पिता ने मुझ पर क्रोधित होकर कुष्ट रोगी होओ कह कर श्राप दिया। हे गुरुदेव! मुझे इससे मुक्ति का कोई उपाय बतावें, मैं आपसे इतनी विनती करता हूँ।

ऋषि श्रेष्ट नारद साम्व का वचन सुनकर बोले हे साम्व! इस रोग से मुक्ति पाने के लिए आप रविवार का व्रत करें जिसे ब्रह्मादि देवताओं ने करके सद्गति प्राप्त की एवं सर्वजनों का मनोरथ पूरक यह व्रत है। इस व्रत को करने वाला अचल सम्पत्ति प्राप्त कर सम्पूर्ण रोगों से मुक्ति प्राप्त करता है। इसी रविवार व्रत के करने से ब्रह्मा ने रचना शक्ति प्राप्त की तथा इन्द्र देव इसी के प्रभाव से हजारों लोक विचरण कर "सहस्राक्ष"

कहलाए। कुबेर इस व्रत को कर धनवान बने; यम ने भी प्राणी हत्या से मुक्ति प्राप्त की, अग्नि ने सर्व भक्षण किया पर उनको इसके प्रभाव से एक भी दोष न लगा। अनेक युग तक राक्षस राज सुकेश भी इसके वरदान से जीवित रहा। सप्तद्वीप विख्यात नल राजा ने इस व्रत को करके पुनः स्वराज्य तथा पत्नी को प्राप्त किया। कृपालु प्रभु रामचन्द्र ने इसी के प्रभाव से रावण का वध किया। धर्मपुत्र युधिष्ठिर महाभारत युद्ध में कौरव दल को जीत कर समस्त पृथ्वी के राजा हुए। इन्हीं का ध्यान कर देवताओं का वास स्थान स्वर्ग में हुआ। मैं भी उन्हीं सूर्य की कृपा से श्वासत परब्रह्म होकर सर्वस्थान का दर्शन कर रहा हूँ। अतः आप भी इस महिमामयी व्रत को कर सर्वदा शुभफल की अभिलाषा करें।

नारद के मुख से साम्व ने श्रद्धापूर्वक रविवार व्रत का महात्म्य सुना और वह संकल्प पूर्वक व्रत करके पितृ श्राप से मुक्ति पाकर संपत्ति युक्त हुए एवं इस लोक में ऐश्वर्यशाली होकर अन्तकाल में बैकुण्ठ धाम को प्राप्त हुए। यह रविवार व्रत उसी दिन से इस मंडल में विख्यात हुआ।

गायत्री उपासना में विशेष रूप से रविवार का व्रत किया जाता है। उस दिन अपनी सामर्थ्यानुसार निराहार, फलाहार, दुग्धाहार, स्वल्पाहार, अस्वाद आहार, करके पूर्ण या आंशिक उपवास करना चाहिए। विशेष तपश्चर्या के रूप में ९ दिन में चौबीस हजार लघु अनुष्ठान, चालीस दिन में सवा लक्ष का अनुष्ठान, दो वर्ष में २४ लाख का महाअनुष्ठान किया जाता है।

अनुष्ठान की विधि

अनुष्ठान किसी भी मास में किया जा सकता है। तिथियों में पंचमी, एकादशी, पूर्णमासी शुभ मानी गई हैं। पञ्चमी को दुर्गा, एकादशी को सरस्वती, पूर्णमासी को लक्ष्मी तत्व की प्रधानता रहती है। शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष दोनों में से किसी का निषेध नहीं है, पर कृष्ण पक्ष की अपेक्षा शुक्ल पक्ष अधिक शुभ है।

अनुष्ठान आरम्भ करते हुए नित्य गायत्री का आवाहन और अन्त करते हुए विसर्जन करना चाहिए। इस प्रतिष्ठा में भावना और निवेदन प्रधान है। श्रद्धा पूर्वक 'भगवती' जगज्जननी भक्त-वत्सला गायत्री यहाँ प्रतिष्ठित होने का अनुग्रह कीजिये। ऐसी प्रार्थना संस्कृत या मातृभाषा में करनी चाहिए और विश्वास करना चाहिए कि प्रार्थना को स्वीकार करके वे कृपापूर्वक पधार गई हैं। विसर्जन करते समय प्रार्थना करनी चाहिए कि "आदि शक्ति, भयहारिणी, शक्तिदायनी, तरणतारिणी मातृके ! अब विसर्जित हूजिये" इस भावना को संस्कृत या अपनी मातृ भाषा में कह सकते हैं। इस प्रार्थना के साथ-साथ यह विश्वास करना चाहिए कि प्रार्थना स्वीकृत करके वे विसर्जित हो गई हैं।

कई ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि जप से दसवाँ भाग हवन, हवन से दसवाँ भाग तर्पण, तर्पण से दसवाँ भाग ब्राह्मण भोजन कराना चाहिए। यह नियम तन्त्रोक्त रीति से किये हुए पुरश्चरण के लिए है। इन पंक्तियों में वेदोक्त योग विधि की दक्षिण मार्गी साधना बताई जा रही है, इसके अनुसार तर्पण की आवश्यकता नहीं है। अनुष्ठान के अंत में १०८ आहुति का हवन तो कम से कम होना आवश्यक है, अधिक सामर्थ्य और सुविधा के अनुसार है। इसी प्रकार त्रिपदी गायत्री के लिए कम से कम तीन ब्राह्मणों का भोजन भी होना ही चाहिए। दान के लिए इस प्रकार की कोई मर्यादा नहीं बाँधी जा सकती। यह साधक की श्रद्धा का विषय है पर अंत में दान करना अवश्य चाहिए।

किसी छोटी चौकी, चबूतरी या आसन पर फूलों का एक छोटा सुन्दर-सा आसन बनाना चाहिए और उस पर गायत्री की प्रतिष्ठा होने की भावना करनी चाहिए। साकार उपासना के समर्थक भगवती का कोई सुन्दर-सा चित्र अथवा प्रतिमा को उन फूलों पर स्थापित कर सकते हैं। निराकार के उपासक निराकार भगवती की शक्ति पुञ्ज का एक स्फुल्लिंग वहाँ प्रतिष्ठित होने की भावना कर सकते हैं। कोई-कोई साधक धूपबत्ती की, दीपक की अग्नि-शिखा में भगवती की चैतन्य ज्वाला का दर्शन करते हैं और उस दीपक या धूपबत्ती को फूलों पर प्रतिष्ठित करके अपनी आराध्य शक्ति की उपस्थिति अनुभव करते हैं। विसर्जन के समय प्रतिमा को हटाकर शयन करा देना चाहिए। पुष्पों को जलाशय या पवित्र स्थान में विसर्जित कर देना चाहिए। अधजली धूपबत्ती या रुईबत्ती को बुझाकर उसे भी पुष्पों के साथ विसर्जित कर देना चाहिए। दूसरे दिन जली हुई बत्ती का प्रयोग फिर न होना चाहिए।

गायत्री पूजन के लिए पाँच वस्तुएं प्रधान रूप से माङ्गलिक मानी गयी गई हैं । इन पूजा-पदार्थों में वह प्राण है, जो गायत्री के अनुकूल पड़ता है । इसलिए पुष्प-आसन पर प्रतिष्ठित गायत्री के सन्मुख धूप जलाना, दीपक स्थापित रखना, नैवेद्य चढ़ाना, चन्दन लगाना तथा अक्षतों की वृष्टि करनी चाहिए । अगर दीपक या धूप को गायत्री की स्थापना में रखा गया है तो उसके स्थान पर जल का अर्घ देकर पाँचवें पूजा-पदार्थ की पूर्ति करनी चाहिए ।

पूर्ववर्णित विधि से प्रातःकाल पूर्वाभिमुख होकर शुद्ध भूमि पर शुद्ध होकर कुश के आसन पर बैठे । जल का पात्र समीप रख लें धूप और दीपक जप के समय जलते रहने चाहिए बुझ जाय तो उस बत्ती को हटाकार नई बत्ती डाल कर पुनः जलाना चाहिए । दीपक या उसमें पड़े हुए घृत को हटाने की आवश्यकता नहीं है ।

पुष्प आसन पर गायत्री की प्रतिष्ठा और पूजा के अनन्तर जप प्रारम्भ कर देना चाहिए । नित्य यही क्रम रहे । प्रतिष्ठा और पूजा अनुष्ठान-काल में नित्य होते रहने चाहिए । जप के समय मन को श्रद्धान्वित रखना चाहिए, स्थिर बनना चाहिए । मन चारों ओर न दौड़े, इसलिए पूर्ववर्णित ध्यान-भावना के अनुसार गायत्री का ध्यान करते हुए जप करना चाहिए । साधना के इस आवश्यक अंग-ध्यान में-मन लगा देने से वह एक कार्य में उलझा रहता है और जगह-जगह नहीं भागता । भागे तो उसे रोक-रोककर बार-बार ध्यान-भावना पर लगाना चाहिए । इस विधि से एकाग्रता की दिन-दिन वृद्धि होती चलती है ।

सवालक्ष जप को चालीस दिन में पूरा करने का क्रम पूर्वकाल से चला आता है, पर निर्बल अथवा कम समय तक साधना कर सकने वाले साधक उसे दो मास में भी समाप्त कर सकते हैं । प्रतिदिन जप की संख्या बराबर होनी चाहिए, किसी दिन ज्यादा, किसी दिन कम ऐसा क्रम ठीक नहीं । यदि चालीस दिन में अनुष्ठान पूरा करना हो तो १,२५, 000÷४0= ३, १२५ मन्त्र नित्य जपने चाहिए । माला में १0८ दाने होते हैं, इतने मन्त्रों की ३१२५÷१0८=२६ इस प्रकार उन्तीस मालायें नित्य जपनी चाहिए । यदि दो मास में जप करना हो तो १,२५,000÷६0=२0८0 मन्त्र प्रतिदिन जपने चाहिए । इन मंत्रों की मालायें २0८0÷१0८=२0 मालायें प्रतिदिन जपी जानी चाहिए । माला की गिनती याद रखने के लिए खड़िया मिट्टी को गङ्गाजल में सानकर छोटी-छोटी गोली बना लेनी चाहिए और एक माला जपने पर १ गोली एक स्थान से दूसरे स्थान पर रख देनी चाहिए । इस प्रकार जब सब गोलियाँ इधर से उधर हो जायें तो जप समाप्त कर देना चाहिए । इस क्रम से जप संख्या में भूल नहीं पड़ती ।

अनुष्ठान के दिनों में ब्रह्मचर्य से रहना आवश्यक है सिर के बाल नहीं काटने चाहिए । ठोड़ी की हजामत अपने हाथ ही बनानी चाहिए । चारपाई या पलंग का त्याग करके चटाई या तख्त पर सोना चाहिए । उनकी कठोरता कम करने के लिए ऊपर गद्दे बिछाये जा सकते हैं ।आहार विहार सात्विक रहना चाहिए । मद्य मांस तो पूर्ण रूप से त्याग देना उचित है । अन्य नशीली, बासी, बुरी, गरिष्ठ, चटपटी, तामसिक, उष्ण उत्तेजक वस्तुओं से बचने का यथा सम्भव प्रयत्न करना चाहिए । कुविचार, कुकर्म, विलासिता, अनीति आदि बुराइयों से वैसे तो सदा ही बचना चाहिए पर अनुष्ठान काल में इनका विशेष ध्यान रखना चाहिए । जनन या मृत्यु का सूतक हो जाने पर सूतक निवृत्ति एक अनुष्ठान स्थगित रखना चाहिए । शुद्धि होने पर उसी संख्या से आरम्भ किया जा सकता है जहां से बन्द किया था । इस विशेष काल के प्रायश्चित के लिए एक हजार मन्त्र विशेष रूप से जपने चाहिए । अनुष्ठान काल में अपने शरीर और वस्त्रों का दूसरों से जहाँ तक हो सके कम ही स्पर्श होने देना चाहिए । उस अवधि में एक समय अन्नाहार दूसरे समय फल या दूध लेकर अर्द्धउपवास का क्रम चल सके तो बहुत उत्तम है । इनके अतिरिक्त उन नियमों को भी पालन करना चाहिए जो दैनिक सर्व सुलभ साधनाओं के प्रकरण में लिखे गये हैं ।

अनुष्ठान के आरम्भ में पूजन करना चाहिए । शीशे में मढ़ी हुई गायत्री की तस्वीर या प्रतिमा को सामने रख कर धूप, दीप, नैवेद्य, चन्दन, अक्षत, पुष्प, जल आदि मांगलिक पदार्थों से पूजा करनी चाहिए । पूजा से पूर्व आह्वान मन्त्र पढ़ना चाहिए और प्रतिदिन जप समाप्त करते समय विसर्जन मन्त्र पढ़ना चाहिए । दोनों मन्त्र निम्न प्रकार हैं–

गायत्री का आह्वान मन्त्र—

आयातु वरदा देवी अक्षरं ब्रह्म वादिनी ।
गायत्री छन्दसां माता ब्रह्मयोने नमोऽस्तुते ।।

गायत्री विसर्जन का मन्त्र—

उत्तमे शिखरे देवि भूम्यां पर्वतमूर्धनि ।
ब्राह्मणेभ्योह्यनुज्ञातं गच्छदेवि यथासुखम् ।।

अनुष्ठान का पथ-प्रदर्शक एवं संरक्षक किसी आचार्य को ब्रह्मा रूप में वरण करना चाहिए । अनुष्ठान भी एक यज्ञ है । यज्ञ में पुरोहित या ब्रह्मा न हो तो वह निष्फल होता है । इसी प्रकार अनुष्ठान का पुरोहित या ब्रह्मा नियुक्त करना आवश्यक है । यदि वरण किया हुआ ब्रह्मा नित्य उपस्थित न हो सके तो उसके चित्र की अथवा उसका प्रतिनिधि मान कर स्थापित किए हुए नारियल की पूजा करनी चाहिए । गायत्री तथा ब्रह्मा रूपी आध्यात्मिक माता पिताओं का पूजन करने के उपरान्त ब्रह्म संध्या के पाँच कोष (आचमन, शिखा बन्धन, प्राणायाम, अघमर्षण, न्यास) करके जप आरम्भ कर देना चाहिए । जप के अन्त में आरती करनी चाहिए और बची हुई पूजा सामिग्री को किसी पवित्र स्थान में तथा जल को सूर्य की ओर विसर्जित कर देना चाहिए । यदि प्रातः सायं दो बार में अनुष्ठान करना हो तो प्रातःकाल के लिए अधिक संख्या में और सायं काल के लिए उससे कम जप रखना चाहिए । दोनों ही बार पूजन संध्या के उपरान्त जप होना चाहिए ।

कई ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख है कि शापमोचन, कवच, कीलक, अर्गल, मुद्रा के साथ जप करना और जप से दसवां भाग हवन, हवन से दसवां भाग तर्पण, तर्पण से दशवां भाग ब्राह्मण भोजन कराना चाहिए । यह नियम तन्त्रोक्त रीति से किए हुए गायत्री पुरश्चरण के लिए हैं । इन पंक्तियों में वेदोक्त योग विधि से दक्षिण मार्गी साधना बताई जा रही है । इसमें अन्य विधियों की आवश्यकता तो नहीं है, पर हवन और दान आवश्यक है ।

अनुष्ठान के अन्त में १०८ आहुतियों का हवन अवश्य करना चाहिए, तदनन्तर शक्ति के अनुसार दान और ब्रह्मभोज करना चाहिए । ब्रह्मभोज उन्हीं ब्राह्मणों को कराना चाहिए जो वास्तव में ब्राह्मण हैं, वास्तव में ब्रह्म-परायण हैं । कुपात्रों को दिया हुआ दान और कराया हुआ भोजन निष्फल जाता है, इसलिए निकटस्थ या दूरस्थ सच्चे ब्राह्मणों को ही भोजन कराना चाहिए । हवन की विधि नीचे लिखते हैं—

सदैव शुभ गायत्री यज्ञ

गायत्री अनुष्ठान के अन्त में या किसी भी शुभ अवसर पर "गायत्री-यज्ञ" करना चाहिए । जिस प्रकार वेदमाता की सरलता, सौम्यता, वत्सलता, सुसाध्यता प्रसिद्ध है उसी प्रकार गायत्री हवन भी अत्यन्त सुगम है । इसके लिए बड़ी भारी मीन-मेख निकालने की या कर्मकाण्डी पण्डितों का ही आश्रय लेने की अनिवार्यता नहीं है । साधारण बुद्धि के साधक इसको स्वयमेव भली प्रकार कर सकते हैं ।

कुण्ड खोदकर या वेदी बनाकर दोनों ही प्रकार हवन किया जा सकता है । निष्काम बुद्धि से आत्म कल्याण के लिए किये जाने वाले हवन, कुण्ड खोदकर करना ठीक है और किसी कामना से मनोरथ की पूर्ति के लिए किये जाने वाले यज्ञ वेदी पर किये जाने चाहिए । कुण्ड या वेदी की लम्बाई-चौड़ाई साधक के अंगुलों से चौबीस-२ अंगुल होनी चाहिए । कुण्ड खोदा जाय तो उसे चौबीस अंगुल ही गहरा भी खोदना चाहिए और इस प्रकार तिरछा खोदना चाहिए कि नीचे पहुँचते-२ छः अंगुल चौड़ा और छः अंगुल लम्बा रह जावे । वेदी बनानी हो तो पीली मिट्टी की चार अंगुल ऊँची वेदी चौबीस-२ अंगुल लम्बी चौड़ी बनानी चाहिए । वेदी या कुण्ड को हवन करने से दो घण्टे पूर्व केवल पानी से इस प्रकार लीप देना चाहिए कि वह समतल हो जावे, ऊँचाई-नीचाई अधिक न रहे । कुण्ड या वेदी से चार अंगुल हटकर एक छोटी-सी नाली दो अंगुल गहरी खोदकर उसमें पानी भर देना चाहिए । वेदी या कुण्ड के आस-पास गेहूँ का आटा, हल्दी, रोली आदि मांगलिक द्रव्यों से चौक पूर कर चित्र-विचित्र बना कर अपनी कलाप्रियता का परिचय देना चाहिए । यज्ञ-स्थल को अपनी सुविधानुसार मण्डप, पुष्प-पल्लव आदि से जितना सुन्दर एवं आकर्षक बनाया जा सके उतना अच्छा है ।

वेदी या कुण्ड के ईशानकोण में कलश स्थापित करना चाहिए । मिट्टी या उत्तम धातु के बने हुए कलश में पवित्र जल भर कर उसके मुख में आम्र-पल्लव रखने चाहिए और ऊपर ढक्कन में चावल, गेहूँ का आटा, मिष्ठान्न अथवा कोई अन्य मङ्गलीक द्रव्य रख देना चाहिए । कलश के चारों ओर हल्दी से स्वस्तिक (सन्थिया) अङ्कित कर देना चाहिए । कलश के समीप एक छोटी चौकी या वेदी पर पुष्प और गायत्री की प्रतिमा, पूजन सामिग्री रखनी चाहिए ।

वेदी या कुण्ड के तीन ओर आसन बिछाकर इष्ट मित्रों, बन्धु-बान्धवों सहित बैठना चाहिए । पूर्व दिशा में जिधर कलश और गायत्री स्थापित है, उधर किसी श्रेष्ठ ब्राह्मण अथवा अपने वयोवृद्ध को आचार्य वरण करके बिठाना चाहिए, वह इस यज्ञ का ब्रह्मा है । यजमान पहले ब्रह्मा के दाहिने हाथ में सूत्र (कलावा) बाँधे रोली या चन्दन से उनका तिलक करे, चरण स्पर्श करे तथा पुष्प, फल, मिष्ठान्न की एक छोटी-सी भेंट उनके सामने उपस्थित करें । तदुपरांत ब्रह्मा उपस्थित सब लोगों को क्रमशः अपने पास बुलाकर उनके दाहिने हाथ में कलावा बाँधे मस्तक पर रोली का तिलक करें और उनके ऊपर अक्षत छिड़क कर आशीर्वाद के मङ्गल वचन बोलें ।

यजमान को पश्चिम की ओर बैठना चाहिए, उसका मुख पूर्व को रहे । हवन सामिग्री और घृत अधिक हो तो उसे कई पात्रों में विभाजित करने के लिए कई आदमी हवन करने बैठ सकते हैं । सामिग्री थोड़ी हो तो यजमान हवन सामिग्री अपने पास रखें और उसकी पत्नी घृत-पात्र सामने रखकर चम्मच (श्रुवा) सँभाले । पत्नी न हो तो भाई या मित्र घृत-पात्र लेकर बैठ सकता है ।समिधायें सात प्रकार की होती हैं । यह सब प्रकार की न मिल सकें तो जितने प्रकार की मिल सकें, उतने प्रकार की ले लेनी चाहिए । हवन सामिग्री, त्रिगुणात्मक साधना में आगे दी हुई हैं । वे तीनों गुण वाली लेनी चाहिए, पर आध्यात्मिक हवन हो तो सतोगुणी सामिग्री आधी और चौथाई-चौथाई रजोगुणी, तमोगुणी लेनी चाहिए । यदि किसी भौतिक कामना के लिये हवन किया गया हो तो रजोगुणी आधी और सतोगुणी, तमोगुणी चौथाई-चौथाई लेनी चाहिए । सामिग्री को भले प्रकार साफ कर धूप में सुखा कर जौकुट कर लेना चाहिये । सामिग्रियों की किसी वस्तु के न मिलने पर या कम मिलने पर उसका भाग उसी गुण वाली दूसरी औषधि को मिलाकर किया जा सकता है ।

उपस्थित लोगों में जो हवन की विधि में सम्मिलित हों, वे स्नान किये हुए हों । जो लोग दर्शक हों, वे थोड़ा हटकर बैठें । दोनों के बीच थोड़ा फासला होना चाहिये ।

हवन आरम्भ करते हुए यजमान ब्रह्मसंध्या के आरम्भ में प्रयोग होने वाले पंचकोषों (आचमन, शिखाबन्ध, प्राणायाम, अघमर्षण तथा न्यास) की क्रियायें करें । तत्पश्चात् वेदी या कुण्ड पर समिधायें चिनकर कपूर की सहायता से गायत्री मंत्र के उच्चारण सहित अग्नि प्रज्वलित करें । सब लोग साथ-साथ मन्त्र बोलें और अन्त में स्वाहा के साथ घृत तथा सामिग्री वाले उनका हवन करें । आहुति के अन्त में चम्मच में से बचे हुए घृत की एक-एक बूँद पास में रखे हुए जल पात्र में टपकाते जाना चाहिए और आदि 'शक्तिगायत्र्यै इदन्नमम' का उच्चारण करना चाहिए । हवन में साथ-साथ बोलते हुए मधुर स्वर से मंत्रोच्चारण करना उत्तम है । उदात्त अनुदान और स्वरित के अनुसार होने न होने की इस सामूहिक सम्मेलन में शास्त्रकारों को छूट दी हुई है ।

आहुतियाँ कम से कम १०८ होनी चाहिए । अधिक इससे दो, तीन, चार या चाहे जितने गुने किये जा सकते हैं । सामिग्री कम से कम प्रति आहुति के लिये तीन मासे के हिसाब से ३२ तोले अर्थात् करीब ६ ।।छटाँक और धूत एक मासे प्रति आहुति के हिसाब से २ ।।छटाँक होना चाहिए । सामर्थ्यानुसार इससे अधिक चाहे जितना बढ़ाया जा सकता है । ब्रह्मा माला लेकर बैठे और आहुतियाँ गिनता रहे । जब पूरा हो जाय तो आहुतियाँ समाप्त करा दे । उस दिन बने हुये पकवान मिष्ठान्न आदि में से अलौने और मधुर पदार्थ लेने चाहिए । नमक मिर्च मिले हुए शाक, अचार, रायते आदि का अग्नि होमने का निषेध है । इस भोजन में से थोड़ा-थोड़ा भाग लेकर वे सभी लोग चढ़ावें जिन्होंने स्नान किया है और हवन में भाग लिया है । अन्त में एक नारियल की भीतरी गिरी का गोला लेकर उसमें छेद करके यज्ञशेष घृत भरना चाहिये और खड़े होकर पूर्णाहुति के रूप में उसे अग्नि में समर्पित कर देना चाहिये । यदि कुछ सामिग्री बची हो तो वह सब इसी समय चढ़ा देनी चाहिए ।

इसके पश्चात् सब लोग खड़े होकर यज्ञ की चार परिक्रमा करें और 'इदन्नमम' का पानी पर तैरता हुआ घृत उँगली से लेकर पलकों पर लगावें । हवन की बुझी हुई भस्म लेकर सब लोग मस्तक पर लगावें । कीर्तन या भजन गायन करें और प्रसाद वितरण करके सब लोग प्रसन्नता और अभिवादन पूर्वक विदा हों । यज्ञ की सामिग्री को दूसरे दिन किसी पवित्र स्थान में विसर्जित करना

चाहिए । यह गायत्री यज्ञ अनुष्ठान के अन्त में नहीं हो सकता, अन्य समस्त शुभ कर्मों में किया जा सकता है ।

प्रयोजन के अनुरूप ही साधक भी जुटाने पड़ते हैं । लड़ाई के लिए युद्ध सामिग्री जमा करनी पड़ती है और जिस प्रकार का व्यापार हो उसके लिए उस तरह का सामान इकट्ठा करना होता है भोजन बनाने वाला रसोई सम्बन्धी वस्तुएँ लाकर अपने पास रखता है और चित्रकार को अपनी आवश्यक चीज जमा करनी होती हैं । व्यायाम करने की और दफ्तर जानें की पोशाक में अन्तर रहता है । जिस प्रकार की साधना करनी होती है, उसी के अनुरूप, उन्हीं तत्वों वाली, उन्हीं प्राणों वाली, उन्हीं गणों वाली सामिग्री उपयोग में लानी होती है । सबसे प्रथम यह देखना चाहिए कि हमारी साधना किस उद्देश्य के लिए है ? सत, रज, तम में किसी तन्त्र की वृद्धि के लिए है । जिस प्रकार की साधना हो, इसी प्रकार की साधना-सामिग्री व्यवहृत करनी चाहिए । नीचे सम्बन्ध में एक विवरण दिया जाता है–

सतोगुण–

माला–तुलसी । आसन-कुश । पुष्प–श्वेत । पात्र–ताँबा । वस्त्र–सूत (खादी) । मुख–पूर्व को । दीपक में घृत-गौ–घृत । तिलक–चन्दन । हवन में समिधा–पीपल, बड़,गूलर । हवन–सामिग्री–श्वेत चन्दन, अगर,छोटी इलायची, लोंग, शंखपुष्पी, ब्राह्मी, शतावरि, खस, शीतल चीनी, आँवला, इन्द्रजौ, वंशलोचन, जावित्री, गिलोय, बच, नेत्रवाला, मुलहठी, कमल केशर, बड़ की जटाएं, नारियल, बादाम, दाख, जौ, मिश्री ।

रजोगुण–

माला–चन्दन । आसन–सूत । पुष्प–पीले । पात्र–काँसा । वस्त्र–रेशम । मुख–उत्तर को । दीपक में घृत–भैंस का घृत । तिलक–रोली । समिधा–आम, ढाक, शीशम । हवन–सामिग्री–देवदारु, बड़ी इलायची, केशर, छारछबीला, पुनर्नवा, जीवन्ती, कचूर, तालीस पत्र, रास्ना, नागरमौथा, उन्नाव, तालमखाना, मोचरस, सौंफ, चित्रक, दालचीनी, पद्माख, छुहारा, किशमिश, चावल, खाँड़ ।

तमोगुण–

माला–रुद्राक्ष । आसन–ऊन । पुष्प–हल्के या गहरे लाल । पात्र–लोहा । वस्त्र–ऊन । मुख–पश्चिम को । दीपक में घृत–बकरी का । तिलक–भस्म का । समिधा–बेल, छोंकर, करील । सामिग्री–रक्त चन्दन, तगर, असगन्ध, जायफल, कमलगट्टा, नागकेशर, पीपर बड़ी, कुटली, चिरायता, अपामार्ग, काँकड़ासिङ्गी, पोहकरमूल, कुलञ्जन, मूसली स्याह, मेथी के बीज, काकजंघा, भारङ्गी, अकरकरा, पिस्ता, अखरोट, चिरोंजी, तिल, उड़द, गुड़ ।

गुणों के अनुसार साधना-सामिग्री उपयोग करने से साधक में उन्हीं गुणों की अभिवृद्धि होती है, तदनुसार सफलता का मार्ग अधिक सुगम हो जाता है ।

नित्य हवन विधि

गायत्री उपासना से हवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है । गायत्री उपासक को अपनी सुविधा और स्थिति के अनुसार हवन भी करते रहना चाहिए । बड़े यज्ञों का 'यज्ञ विधान' तथा छोटे हवनों की 'हवन विधि' छापी जा चुकी है । पर जिन्हें नित्य हवन करना हो, या जिनके पास बहुत ही कम समय हो उनके लिए और भी संक्षिप्त विधि नीचे दी जा रही है । जप के बाद हवन किया जाता है । हवन करना हो तो विसर्जन, अर्घ्यदान आदि उपासना समाप्ति की क्रियाएँ यज्ञ के बाद ही करनी चाहिए । हवन में यदि अन्य व्यक्ति भी भाग लें तो उनसे ब्रह्मसंध्या कराके तब हवन में सम्मिलित करना चाहिए ।

दैनिक हवन

(१) **अग्नि स्थापन**–कुण्ड या वेदी को शुद्ध करके उस पर समिधाएँ चिन लें फिर अग्निस्थापन के लिए चम्मच से कपूर या घी में भिगोई हुई रुई बत्ती को जलाकर उन समिधाओं के बीच में स्थापित करें । मंत्र–

ॐ भूर्भुवः स्वः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीववरिम्णा ।
तस्यातेपृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादघे ।।
अग्निं दूतं पुरो धते हव्यवाहमुपब्रुबे । देवांऽआसादयादिह।।
ॐ अग्नये नमः । अग्निं आवाहयामि । स्थापयामि ।
इहागच्छ इह तिष्ठ । इत्यावाह्य पञ्चोपचारैः पूजयेत् ॥

(२) **अग्नि प्रदीपन**–जब अग्नि समिधाओं में प्रवेश कर जावे तब उसे पंखे से प्रज्वलित करें और यह मंत्र बोलें-

ॐ उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृह त्वमिष्ठा पूर्ते सँ **सृजेथामयंच । अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजयमानश्च सीदत ।।**

(३) **समिधाधान**—तत्पश्चात् निम्न चार मन्त्रों से छोटी-छोटी चार समिधाएँ प्रत्येक मन्त्र के उच्चारण के बाद क्रम से घी में डुबोकर अग्नि में डालें-

(क) **ॐ अयं त इघ्म आत्मा जतवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व । चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसे नान्नाद्येन समेधयस्वाहा । इदमग्नये जातवेदसे इदं न मम।।**

(ख) **ॐ समिधाग्नि दुबस्यत घृतैबोधयता तिथिम् । अस्मिन हव्या जुहोतन स्वाहा ।। इदमग्नये इदं न मम ।**

(ग) **ॐ सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन । अनग्ये जातवेदसे स्वाहा ।। इदमग्नये जातवेदसे इदं न मम ।।**

(घ) **ॐ तंत्वा समिदिभरि रो घृतेन वर्धयामसि । वृहच्छीचायविष्ठया स्वाहा । इतमग्नयेऽङ्गिरसे इदं न मम ।।**

(४) **जल प्रसेचन**—तत्पश्चात् अञ्जलि (या आचमनी) में जल लेकर यज्ञ कुण्ड (बेदी) के चारों ओर छिड़कावें ।

इसके मन्त्र ये हैं—

ॐ अदितेऽनुमन्यस्व ।। इससे पूर्व को
ॐ अनुमतेऽनुमन्यस्व ।। इससे पच्छिम को
ॐ सरस्वत्यनुमन्यस्व ।। इससे उत्तर को
ॐ देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुवं यज्ञपतिं भगार्य । दिव्बो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ।

(५) **आज्याहुति होम**—नीचे लिखी साम आहुतियाँ केवल घृत की देवें और स्रुवा (घी होमने का चम्मच) से बचा हुआ घृत इदन्नमम उच्चारण के साथ प्रणीता जल भरी हुई कटोरी में हर आहुति के बाद टपकाते जाते हैं । यही टपकाया हुआ घृत अन्त में अवघ्राण के काम आता है ।

(क) ॐ प्रजापतये स्वाहा । इदं प्रजापतये इदं न मम ।
(ख) ॐ इन्द्राय स्वाहा । इदमिद्राय इदं न मम ।
(ग) ॐ अग्नये स्वाहा । इदमग्नये इदं न मम ।
(घ) ॐ सोमाय स्वाहा । इदं सोमाय इदं न मम ।
(ड़) ॐ भूः स्वाहा । इदं अग्नये इदं न मम ।
(च) ॐ भुवः स्वाहा । इदं वायवे इदं न मम ।
(छ) ॐ स्वः स्वाहा । इदं सूर्याय इदं न मम ।

(६) **गायत्री मन्त्र की आहुतियाँ**— इसके पश्चात् गायत्री मन्त्र से जितनी आहुतियाँ देनी हों हवन सामिग्री तथा घी से देनी चाहिए । यदि दो व्यक्ति हवन करने वाले हों तो एक सामग्री, दूसरा घी होमे । यदि एक ही व्यक्ति हो तो घी सामग्री मिलाकर आहुति देवें । गायत्री मन्त्र-

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात् ।

इदं गायत्र्यै इदं न मम ।

(७) **स्विष्टकृत होम**— अभीष्ट संख्या में गायत्री मन्त्र से आहुतियाँ देने के पश्चात् मिष्ठान्न, खीर, हलुआ आदि पदार्थों की एक आहुति देनी चाहिए-

ॐ यदस्य कर्मणो त्यरीरिचं यद्वान्यूनमिहाकरं अग्निष्टत् स्विष्टकृद्विद्यात्सर्व स्विष्टं सुहुतं करोतुमे । अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामनां समधयित्रे सर्वान्नः कामान् समेधय स्वाहा । इदमग्नये स्विष्टकृते इदन्नमम ।

(८) **पूर्णाहुति**— इसके बाद स्रुचि चम्मच में घृत समेत सुपाड़ी रखकर पूर्णाहति दे ।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्ण मादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।
ॐ पूर्णादर्विपरापत सुपूर्णा पुनरापत ।
वस्नेवं विक्रीणा वहाऽइषमूर्ज शतक्रतो स्वाहा ।।
ॐ सर्व वै पूर्ण स्वाहा ।

(९) **वसोधरा**— चम्मच से ही भर कर धीरे-धीरे धार बाँध कर छोड़ें ।

ॐ वसो पवित्र मसि शतंधारं वसो पवित्रमसि सहस्त्र धारम् । देवस्त्वा सविता पुनातु वसो पवित्रेण शत धारेण सुप्वा कामाधुक्षः स्वाहा ।।

(१०) **आरती**— तत्पश्चात् निम्न मन्त्रों को पढ़ते हुए आरती उतारें—

यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैः ।
बेदैः सा पदक्रमोपनिषदै गायन्ति यं सामगाः ।।
ध्यानावस्थित तद्‌गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो ।
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणाः देवाय तस्मै नमः ।

(११) **घृत अवध्राण**—प्रणीता में इदन्नमम के साथ टपकाये हुये घृत को हथेलियों पर लगा कर अग्नि पर सेके और उसे सूंघे तथा मुख, नेत्र, कर्ण आदि पर लगावे ।

ॐ तनूपा अग्नेसि तन्व मे पाहि ।
ॐ आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि ।
ॐ वर्चोदा अग्नेसि वर्चो मे देहि ।
ॐ अग्ने यन्ये तन्वा उनन्तन्म आपृण ।

ॐ मेधा मे देवः सविता आदधातु ।
ॐ मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु ।
ॐ मेधां मे अश्विनौ देवा वाधतां पुष्कर स्रजौ ।

(१२) भस्म धारण— स्रुवा से यज्ञ भस्म लेकर अनामिका उंगली से निम्न मन्त्रों द्वारा ललाट, ग्रीवा, दक्षिण वाहु मूल तथा हृदय पर लगावे ।

ॐ त्र्यायुषं जमदग्नेरिति ललाटे ।
ॐ कश्यपश्य त्रायुषमिति ग्रीवायाम् ।
ॐ यद्देबेषु त्र्यायुषमिति दक्षिण बाहु मूले ।
ॐ तन्नोअस्तु त्र्यायुषमिति हृदि ।

(१३) शान्ति पाठ— हाथ जोड़ कर सबके कल्याण के लिए शान्ति पाठ करें ।

ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष शान्तिः पृथ्वी शान्ति राप शान्तिरोषधयः शान्तिः वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्व शान्तिरेव शान्तिः साभा शान्तिरे ध ।। ॐ शान्ति शान्ति शान्ति । सर्वारिष्टा सुशान्तिर्भवतु ।।

साधना के संरक्षण— परिमार्जन की आवश्यकता

आत्मिक प्रगति आत्मानुशासन से आरम्भ होती है । कई व्यक्ति उपासना के लिए बने हुए विधि-विधानों पर नियमोपनियमों पर ध्यान नहीं देते और मनमौजी स्वेच्छाचार बरतते हैं । ऐसा करने से उसके सत्परिणाम संदिग्ध रहते हैं । यह ठीक है कि प्राचीन काल की कई व्यवस्थायें इन दिनों असामयिक हो गई हैं और उनमें फेर बदल किये बिना कोई चारा नहीं । किन्तु वह परिवर्तन भी किसी सुनिश्चित आधार एवं सिद्धान्त के अनुरूप होना चाहिए । जिस परिवर्तन को मान्यता दे दी जाय फिर उसे तो उसी कड़ाई के साथ पालन करना चाहिए जैसा कि परम्परावादियों का प्राचीन प्रचलनों पर जोर रहता है । यह अनुशासन एवं मर्यादा पालन ही अध्यात्म की भाषा में विश्वास कहा जाता है और उसका महत्व श्रद्धा के समतुल्य ही माना जाता है । कहा गया है कि श्रद्धा विश्वास के अभाव में धर्मानुष्ठान का महत्त्व उतना ही स्वल्प रह जाता है जितना कि काम में हलका-सा शारीरिक श्रम किया जाता है । शक्ति का स्रोत तो श्रद्धा एवं विश्वास ही है । इन्हीं दोनों को रामायणकार ने पार्वती और शिव की उपमा देते हुए कहा है कि इन दोनों के सहयोग से ही अन्तरात्मा में विराजमान परमेश्वर का दर्शन सम्भव हो सकता है ।

श्रद्धा का सहचर है— विश्वास । इसे निष्ठा भी कहते हैं । किसी तथ्य को स्वीकार करने के पूर्व उस पर परिपूर्ण विचार कर लिया जाये । तर्क, प्रमाण, परामर्श, परीक्षण आदि के आधार पर तथ्य का पता लगा लिया जाय और समुचित मन्थन के बाद किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जाय । इनमें देर लगे तो लगने देनी चाहिए । उतावली में इतना अधूरा निष्कर्ष न अपना लिया जाय जिससे किसी के तनिक से बहकावे मात्र से बदलने की बात सोची जाय । कई व्यक्ति विधि-विधानों के बारे में ऐसे ही अनिश्चित रहते हैं । एक के बाद दूसरे से पूछते फिरते हैं । फिर दूसरे का तीसरे से और तीसरे का चौथे से समाधान पूछते हैं । भारतीय धर्म का दुर्भाग्य ही है कि इसमें पग-पग पर मतभेदों के पहाड़ खड़े पाये जा सकते हैं । यदि मतभेदों और कुशंकाओं के जंजाल में उलझे रहा जाय तो उसका परिणाम मतिभ्रम-अश्रद्धा-अनिश्चितता एवं आशंका से मनःक्षेत्र भर जाने के अतिरिक्त और कुछ भी न होगा । ऐसी मनःस्थिति में किये गये धर्मानुष्ठानों का परिणाम नहीं के बराबर ही होता है । श्रद्धा विश्वास का प्राण ही निकल गया तो फिर मात्र कर्मकाण्ड की लाश लादे फिरने से कोई बड़ा प्रयोजन सिद्ध न हो सकेगा ।

विश्वास का तात्पर्य है जिस तथ्य को मान्यता देना उस पर दृढ़ता के साथ आरूढ़ रहना । इस दृढ़ता का परिचय उपासनात्मक विधि-विधानों की जो मर्यादा निश्चित करली गई है उसे बिना आलस उपेक्षा बरते पूरी तत्परता के साथ अपनाये रहने में मिलता है । विधि-विधानों के पालन करने के लिए शास्त्रों में बहुत जोर दिया गया है और उसकी उपेक्षा करने पर साधना के निष्फल जाने अथवा हानि होने–निराशा हाथ लगने का भय दिखाया गया है । उसका मूल उद्देश्य इतना ही है कि विधानों के पालन करने में दृढ़ता की नीति अपनाई जाय । हानि होने का भय दिखाने में इतना ही तथ्य है कि अभीष्ट सत्परिणाम नहीं मिलता । अन्यथा सत्प्रयोजन में कोई त्रुटि रह जाने पर भी अनर्थ की आशंका करने का तो कोई कारण है ही नहीं ।

साधना मार्ग पर चलने वाले को अपनी स्थिति के अनुरूप विधि-व्यवस्था का निर्धारण आरम्भ में ही कर लेना चाहिए । जो निश्चित हो जाय उसमें आलस उपेक्षा बरतने की ढील-पोल न दिखाई जाय । दृढ़ता न बरती जायेगी तो आस्था में शिथिलता आने लगेगी । तत्परता मन्द पड़ जायेगी फलतः मिलने वाला उत्साह और प्रकाश भी धूमिल हो जायेगा ।

दैनिक उपासना में समय, स्थान, संख्या एवं क्रम व्यवस्था का ध्यान रखना पड़ता है । उपासना के लिए जो समय निर्धारित हो उसकी पाबन्दी की जाय । जितनी संख्या में क्रम आदि कृत्य किया जाना है उसका घड़ी या माला के आधार पर निर्वाह किया जाय । पूजा कक्ष निर्धारित करने का उद्देश्य यह है कि उसी स्थान पर प्रतिदिन बैठा जाय । उपासना का जो 'क्रम बना लिया जाय उसी प्रकार उसे करते रहा जाय । इनमें उलट-पुलट करते रहने से अन्तर्मन को वैसा करते रहने की आदत नहीं पड़ती, आदत को ही संस्कार कहते हैं । समय, स्थान, संख्या, क्रम, व्यवस्था को बहुत समय तक एक ही तरह अपनाये रहने पर अचेतन मन उस ढांचे में ढल जाता है । यह ढलना ही शक्ति स्रोत है ।साधना विज्ञान की सफलता का रहस्य अचेतन को अभीष्ट ढँचे में ढाल देना उपयुक्त ढर्रे का अभ्यस्त बना देना ही है । इसके लिए उपयुक्त क्रमबद्धता को अपनाये रहना-विधान मर्यादाओं का पालन करते रहना आवश्यक माना गया है ।

प्रतिबन्धों का पालन करने से दक्षता उत्पन्न होती और तीक्ष्णता आती है । इसलिए सामान्य उपासना क्रम में भी एक निष्कर्ष पर पहुँचने और अनुशासन स्थापित करने के लिए साधना गुरु को मार्गदर्शन के रूप में नियत करना होता है । अपने लिए विधि-विधान निश्चित करते समय उनसे परामर्श कर लिया जाय और जो निर्धारित किया गया हो उस पर दृढ़ रहा जाय । फेर बदल करना पड़े तो वह भी अपनी मनमर्जी से नहीं वरन् मार्गदर्शक के परामर्श से ही किया जाय । इससे निश्चितता और निश्चिन्तता दोनों ही रहती हैं । इसके विपरीत मनमौजी विधान बनाते और बदलते रहने का कौतूहल साधक की उच्छृंखलता और स्वेच्छाचारिता का ही परिचय देगा । इस मार्ग को अपनाने में अहम्मन्यता का पोषण भले ही हो जाय उसका सत्परिणाम नहीं मिल सकेगा ।

अनुष्ठान और सामान्य जप का अन्तर यही नहीं है कि सामान्य जप की तुलना में अनुष्ठान अधिक देर तक लगने वाला होता है वरन् यह है कि उसमें अपेक्षाकृत अधिक कड़े अनुशासन का पालन करना होता है । इस कड़ाई से असुविधा तो अवश्य होती है किन्तु इस आधार पर जो तितीक्षा बन पड़ती है, मन को मारने से जिस संकल्प शक्ति की अभिवृद्धि होती है, उससे सामान्य मन्त्र साधन की शक्ति भी कई गुनी बढ़ जाती है और उसका प्रतिफल आश्चर्यजनक मात्रा में बढ़ा-चढ़ा कर होता है । इस दृढ़ता में प्रत्यक्ष ही 'विश्वास' की निष्ठा की प्रौढ़ता का परिचय मिलता है ।जहां यह तत्त्व जितनी अधिक मात्रा में होते हैं वहां उसी अनुपात में उस परिश्रम का उत्साहवर्धक प्रतिफल भी परिलक्षित होता है ।

अनुष्ठानों की एक आवश्यकता यह है कि उसका (१) मार्गदर्शन (२) संरक्षण एवं (३) परिमार्जन करने के लिए किसी उपयुक्त व्यक्ति को नियुक्त करना पड़ता है । विशेष साधनाओं में इन तीनों का ही समुचित प्रबन्ध करना पड़ता है । मार्गदर्शन का तात्पर्य है व्यक्ति विशेष की मनःस्थिति और परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए उपासना के सामान्य विधि-विधान में जो हेर-फेर करना आवश्यक हो उसका निर्धारण करना । बीच-बीच में जो व्यवधान आवें, अड़चनें पड़ें, उनका समाधान बताना, जैसी बात मार्गदर्शन के अन्तर्गत आती हैं । संरक्षण इसलिए आवश्यक है कि अनुष्ठानों से उत्पन्न शक्ति असुरता को दुर्बल बनाती है, उसके वर्चस्व को नष्ट करती है, इसलिए वे उलटकर ऐसे स्थल पर आक्रमण करते हैं जहाँ से कि उन्हें अपने लिए खतरा दीखता है । विश्वामित्र के यज्ञ में ताड़का सुबाहु, मारीच आदि असुरों के हमले होते थे, उनसे रक्षा करने के लिए राम और लक्ष्मण को प्रहरी बनाया गया था । इसी प्रकार प्राचीन काल में अन्यान्य छोटे-बड़े यज्ञों की रक्षा के लिए संरक्षक नियुक्त करने की परम्परा रही है । यज्ञ के पाँच काष्ठ पात्रों में एक 'स्फय' भी होता है । यह खड्ग है इसमें संरक्षण एवं सुरक्षा की आवश्यकता का संकेत है। अनुष्ठान भी जप यज्ञ की गणना में आता है उसके लिए भी संरक्षण की आवश्यकता पड़ती है । यह कार्य लगभग उसी स्तर का व्यक्ति कर सकता है जैसा कि मार्गदर्शन के लिए अपने विषय का पारंगत तथा अनुभवी का होना आवश्यक है ।

क्रिया-कृत्यों में गलतियां रहती हैं, उनका परिशोधन परिमार्जन आवश्यक होता है। बही खातो की जाँच पड़ताल आडीटरों द्वारा कराई जाती है और जहाँ जो लूज होती है उसका परिशोधन किया जाता है। यह कार्य अन्य विषयों के लिए भी आवश्यक है। पुरश्चरणों के अन्त में तर्पण और मार्जन का विधान है। मार्जन का तात्पर्य शुद्धिकरण-परिमार्जन होता है। इसमें अशुद्धियों को सुधारने का भाव है। यदि साधक की स्थिति ऐसी हो कि वह अपनी गलतियों को स्वयं समझ और सुधार सके तब तो उसे स्वयं ही कार्य सम्पन्न कर लेना चाहिए। अन्यथा वह कार्य दूसरे ऐसे व्यक्ति से कराना चाहिए जो गलती पकड़ने के अतिरिक्त उसे सुधारने की क्षमता से भी सम्पन्न हो। बहीखाता लिखने वालों की योग्यता और ईमानदारी असंदिग्ध हो तो भी परम्परा यही है कि जाँच पड़ताल दूसरों से कराई जाय और सुधार भी किसी बाहरी व्यक्ति के निरीक्षण में ही सम्पन्न होता है। यह बात अनुष्ठान साधना में रही हुई त्रुटियों के सम्बन्ध में भी है। साधारणतया अपनी गलती का आप पता भी नहीं चलता। अपनी आँख से, अपनी पुतली से उत्पन्न हुई खराबी दीख नहीं पड़ती, उसे दूसरे ही देखते और सुधारते हैं। चिकित्सक दूसरों की चिकित्सा तो करते हैं पर अपनी बीमारी का सही निदान करने के लिए दूसरे चिकित्सक की सहायता लेते हैं। इसी प्रकार अनुष्ठान कर्ता को भी मार्गदर्शन के लिए किन्हीं पुस्तकों के सहारे सब कुछ निर्णय कर लेने का साहस नहीं होता। इसी प्रकार साधना और संरक्षण के दो मोर्चों पर लड़ाई भी ठीक तरह नहीं लड़ी जाती। अपनी गलतियाँ ढूँढ़ पाना और अपने आप उन्हें सुधार लेना सम्पन्न करने से भी अधिक जटिल है। ऐसी दशा में यह तीनों ही काम तीन अलग-अलग व्यक्तियों को सौंपने की अपेक्षा एक ही ऐसे व्यक्ति को सौंपने पड़ते हैं, जो योग्यता और सदाशयता का धनी हो, इस प्रकार परमार्थ करने के लिए संवेदनशील हो, साथ ही अपना उत्तरदायित्व प्राण-पण से निर्वाह कर सकने के लिए आवश्यक आत्मबल से तपोधन से सम्पन्न भी हो।

साधना शास्त्र में विशिष्ट साधनाओं के सन्दर्भ में यन्त्रों के कीलित होने का उल्लेख है। सामान्यतया दैनिक जप साधन में कोई मन्त्र कीलित नहीं है। उसका जप, पाठ, हर कोई सहज सरल रीति से करता रह सकता है। किन्तु जब उन्हीं मन्त्रों की उच्चस्तरीय साधना की जाती है तो कहा जाता है कि वह कीलित है। उसका उत्कीलन करने पर ही साधना की सिद्ध होगी। गायत्री मन्त्र के सम्बन्ध में उसे शाप लगने का उल्लेख है और कहा गया है कि उसका शाप मोचन होना चाहिए। कीलित या शापित होना एक ही बात है।

दुर्गा सप्तशती के सामान्य पाठ पर कोई बंधन प्रतिबन्ध नहीं है, पर यदि शतचण्डी, सहस्रचण्डी आदि का अनुष्ठान करना हो तो उसके पूर्व कवच, कीलक और अर्गल का विधान सम्पन्न करना होता है। कवच उस विशिष्ट अवतरण को कहते हैं जिसे योद्धा लोग रण क्षेत्र में जाते समय अपने शरीर पर सुरक्षा के लिए पहनते हैं। कीलक, प्रतिबन्धों को कहते हैं। ताले में ताली डालकर खोलना उत्कीलन कहलाता है। भूल-भुलैयों से बचकर अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अवरोधों का पार करना उत्कीलन है। संक्षेप में उसे उपयुक्त मार्गदर्शन कह सकते हैं। अर्गला कहते हैं जंजीरों की शृंखला को। इसे तारतम्य एवं गतिशीलता कह सकते हैं। अर्गला हटाने का तात्पर्य परिमार्जन कहा जा सकता है।

गायत्री उपासना में भी यही तीन अवरोध शस्त्र कहे जाते हैं। उल्लेख मिलता है कि गायत्री को तीन शाप लगे हुये हैं—एक ब्रह्मा का, दूसरा वशिष्ठ का, तीसरा विश्वामित्र का। इन तीनों का शाप विमोचन करने पर गायत्री साधना सफल होती है अन्यथा निष्फल चली जाती है।

मोटे तौर पर यह बात उपहासास्पद लगती है कि विश्वमाता, वेदमाता, ब्रह्मशक्ति को कोई क्यों शाप देगा और किसी के शाप से उस पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? सर्व समर्थ माता पर इस प्रकार कोई क्यों तो आक्रमण करेगा और क्यों उस आक्रमण को प्रभावी होने का अवसर मिलेगा ? ब्रह्मा गायत्री के पति माने जाते हैं। वशिष्ठ और विश्वामित्र उसके परम आराधक प्रवीण पारंगत थे। उन्हें ऋषि का पद गायत्री के अनुग्रह से ही मिला था। नन्दिनी को पृथ्वी पर आई कामधेनु की आत्मा ही कहा जाता है। गायत्री कामधेनु ही है। वशिष्ठ को इस नन्दिनी कामधेनु की कृपा से ही ब्रह्मर्षि पद मिला था। विश्वामित्र गायत्री विनियोग में उसके पारंगत ऋषि के रूप में स्मरण किये जाते हैं। ऐसी दशा में ब्रह्मा

का, वशिष्ठ का और विश्वामित्र का गायत्री को अकारण शाप देना सर्वथा अविश्वस्त लगता है । आशंका होती है कि मत, मतान्तर फैलाने वाले लोगों ने गायत्री की सर्वोपरि गरिमा के प्रति अविश्वास उत्पन्न करने और उसके स्थान पर अपनी-अपनी मन गढ़न्त साम्प्रदायिक साधनायें चलाने के लिए यह कुचक्र रचा और भ्रम फैलाया होगा ।

किन्तु गम्भीरता से विचार करने पर इस शाप पहली के पीछे कुछ दूसरा ही रहस्य छिपा प्रतीत होता है । कवच कीलक अर्गल के रूप में दुर्गा सप्तशती में जिन प्रतिबन्धों का संकेत है उन्हीं की गायत्री उपासना में शाप मोचन के नाम से दूसरे शब्दों में चर्चा कर दी गई है । इसका तात्पर्य यही है कि उच्चस्तरीय साधना में आवश्यक सतर्कता और संरक्षण का प्रबन्ध रहना चाहिए हाथ से चलने वाली आटे की चक्की को तो घर की बुढ़िया भी चला सकती है पर बिजली से चलने वाली चक्की को चलाने के लिए आवश्यक जानकारी और उपयुक्त व्यवस्था चाहिए । अन्यथा बिजली का करेण्ट पुली पर चढ़ा हुआ पट्टा कुछ भी मुसीबत पैदा कर सकते हैं । अनुष्ठानों की साधना सामान्य जप की तुलना में कहीं अधिक शक्तिशाली एवं उच्च स्तरीय मानी जाती हैं । इसलिए उसे ठीक तरह सम्पन्न करने के लिए उपयुक्त मार्गदर्शन, संरक्षण एवं परिमार्जन का प्रबन्ध करना पड़ता है । इन दोनों का उत्तरदायित्व संभाल सकने वाला सहायक यदि मिल जाय और वह अपना उठाया हुआ उत्तरदायित्व ठीक तरह संभाल सके तो निश्चय ही अनुष्ठानकर्ता के लिए सफलता का मार्ग बहुत सरल हो जाता है ।

गायत्री को गुरुमन्त्र कहा गया है । उसकी सफलता के लिए गुरु का सहयोग आवश्यक माना गया है और कहा गया है कि इसका प्रबन्ध न हो सकने पर सफलता संदिग्ध ही बनी रहेगी । यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या गुरु का उत्तरदायित्व कोई भी व्यक्ति उठा सकता है । क्या चेलों को मूंड़कर पेट भरने वाले तथा कथित गुरु भी इस कार्य को पूरा कर सकते हैं । उसके उत्तर ब्रह्मा–वशिष्ठ और विश्वामित्र के तीनों गुणों से सम्पन्न गुरु की आवश्यकता का संकेत तीन शापों के माध्यम से किया गया समझा जाना चाहिए । ब्रह्मा का अर्थ है–वेद ज्ञान में पारंगत । वशिष्ठ का अर्थ है ब्रह्म परायण, सदाचार सम्पन्न, विशिष्ट आत्मबल का धनी । विश्वामित्र का अर्थ है परम तपस्वी, विश्व कल्याण के क्रियाकलापों में निरन्तर संलग्न । इन तीनों विशेषताओं से जो सम्पन्न हो उसे गायत्री मन्त्र की गुरु दीक्षा देने और अनुष्ठान कर्ताओं का मार्गदर्शन, संरक्षण, परिमार्जन कर सकने के लिए समर्थ अधिकारी माना गया है । ऐसे गुरु का सहयोग जिसे मिल सके समझना चाहिए उसकी साधना का समुचित सत्परिणाम उत्पन्न होकर रहेगा ।

—0—

उच्चस्तरीय साधना के दो सोपान—जप और ध्यान

जपयोग का माहात्म्य

जपयोग अचेतन मन को जागृत करने की एक वैज्ञानिक विधि है। सद्गुणों के समुच्चय ईश्वर से अपनी अन्तरात्मा को जोड़ने का यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है। इसमें परमात्मा के इष्ट के नाम का रूप स्मरण के साथ ही उसके गुण-कर्मों की भावभरी स्मृति उपासक के मानस पटल पर अंन्तःकरण पर सतत् छाई रहती है। इससे न केवल साधक का मनोबल दृढ़ होता है, आस्था परिपक्व होती है, वरन् विचारों में विवेकशीलता आती है। बुद्धि निर्मल व पवित्र बनती है तथा आत्मा में ईश्वर का प्रकाश अवतरित होता है। उससे मनुष्य अनेक प्रकार की ऋद्धि-सिद्धियों का स्वामी बन जाता है। शास्त्रकारों ने इसकी महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि समस्त मानव जाति के लिए जपयोग एक ऐसा विधान है कि जिससे मनुष्य प्रेरणा ग्रहण कर बन्धन मुक्त हो व्यक्तिगत जीवन में शांति एवं सामाजिक जीवन में श्रेय तथा सम्मान का अधिकारी बनने का सौभाग्य पा सकता है।

विश्व के समस्त धर्मों में जप को समुचित स्थान दिया गया है और इसे मनुष्य को उसका चरम उद्देश्य प्राप्त कराने वाला अमोघ अस्त्र कहा गया है। सम्प्रदाय विशेष के मन्त्र जो भी हों, जप की आवश्यकता सर्वत्र बताई गई है। हिन्दू धर्म के आध्यात्मिक कर्मकाण्ड का तो यह मेरुदण्ड है। बौद्ध एवं जैन मतावलम्बियों ने भी इसे अपनाया है। उनके साधना विधान में इस पर बल दिया गया है। सूफी मत एवं कैथोलिक मत वाले इसे प्राचीन काल से अपनाये हुए हैं। योगियों ने क्रियायोग में इसे स्वाध्याय का एक अंग माना है।

जप यौगिक अभ्यास के अन्तर्गत आता है, जिसका अर्थ होता है—'किसी पवित्र मंत्र की पुनरावृत्ति करते रहना।" जप धातु का दूसरा अर्थ है—"जप व्यक्तायां वाचि" अर्थात् स्पष्ट बोलना। अतः मंत्र के बार-बार उच्चारण को ही जप कहते हैं। यह अभ्यासकर्त्ता को उसके अंतिम उद्देश्य पर पहुँचने के योग्य बनाता है। इसकी व्याख्या करते हुए रामकृष्ण परमहंस ने कहा है—"एकान्त में बैठकर मन ही मन भगवान का नाम लेना ही जप है।" इस प्रकार नाम स्मरण से अंतःकरण की शुद्धि होती है और उससे कषाय कल्मषों के बन्धन शिथिल पड़ते हैं। पापवृत्तियाँ छिन्न-भिन्न होती हैं।

भगवान कृष्ण ने इसे सब यज्ञों में श्रेष्ठ कहा है और अपनी विभूति बताया है। गीता के दसवें अध्याय में २५वें श्लोक में कहा गया है—"यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि" अर्थात् यज्ञों में मैं जप यज्ञ हूँ। इसका अवलम्बन साधक के भयों का नाश करता है। नियत संख्या में नियमित रूप से गायत्री अथवा अन्य किसी इष्ट मंत्र का भाव प्रवण जप अभीष्ट लक्ष्य की पूर्ति करता है। संत तुलसीदास के शब्दों में विश्वासपूर्वक भगवद् नाम स्मरण से कठिन से कठिन संकटों पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है। इसका आश्रय लेने पर दसों दिशाओं में साधक या उपासक पर कल्याण की मंगलमयी अमृत वर्षा होती है। वे कहते हैं "नाम जपत मंगल दिशि दसहूँ।" प्रमाण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा है कि उलटा-सीधा जैसे भी बन पड़े भगवान के नाम का स्मरण करते रहना चाहिए। वाल्मीकि को राम नाम का सीधा उच्चारण कहाँ आता था? फिर भी—"उलटा नाम जपत जग जाना। वाल्मीकि भए ब्रह्म समाना।" समस्त ऋषि-मुनियों, संत-महात्माओं ने मंत्र जप के माध्यम से ही महानता को वरण किया है, आत्म-साक्षात्कार किया है।

भगवत् स्मरण उपासना का प्रधान अंग है। नाम के आधार पर ही किसी सत्ता का बोध और स्मरण हमें होता है। ईश्वर को स्मृति पटल पर बिठाने के लिए प्रतिष्ठापित करने के लिए उसके नाम का सहारा लेना पड़ता है। शरीर पर नित्य मैल चढ़ता है और उसे साफ करने के लिए रोज नहाना पड़ता है। इसी तरह मन पर भी नित्य वातावरण में उड़ने फिरने वाली दुष्प्रवृत्तियों की छाप पड़ती है। उस मलीनता को धोने के लिए नित्य ही उपासना करनी पड़ती है। यह कार्य जप से आसानी से पूर्ण हो जाता है। स्मरण से आह्वान, आह्वान से स्थापन और स्थापन से उपलब्धि का क्रम चल पड़ना शास्त्र सम्मत ही नहीं, विज्ञान सम्मत भी है।

जपयोग की विधि-व्यवस्था

प्रतीक उपासना की पार्थिव पूजा के कितने ही कर्मकाण्डों का प्रचलन है । तीर्थयात्रा, देव-दर्शन, स्तवन, पाठ, षोडशोपचार, परिक्रमा, अभिषेक, शोभायात्रा, श्रद्धाञ्जलि, रात्रि-जागरण, कीर्तन आदि अनेकों विधियाँ विभिन्न क्षेत्रों और वर्गों में अपने-अपने ढंग से विनिर्मित और प्रचलित हैं । इससे आगे का अगला स्तर वह है, जिसमें उपकरणों का प्रयोग न्यूनतम होता है और अधिकांश कृत्य मानसिक एवं भावनात्मक रूप से ही सम्पन्न करना पड़ता है । यों शारीरिक हलचलों, श्रम और प्रक्रियाओं का समन्वय उनमें भी रहता ही है ।

उच्चस्तरीय साधना क्रम में मध्यवर्ती विधान के अन्तर्गत दो प्रधान साधनाएँ प्रत्येक धर्म सम्प्रदाय में समान रूप से मिलती हैं–(१) जप (२) ध्यान । सम्प्रदाय विशेष के मंत्र जो भी हों जप की आवश्यकता सर्वत्र बताई गई है । इसी प्रकार जिन धर्मों में मूर्ति पूजा का प्रचलन नहीं है, वे भी निराकार-प्रकाश का ध्यान करते हैं । इस तरह यह दो क्रियाएँ जो परस्पर एक दूसरे की पूरक हैं उनका प्रचलन हर धर्म में मिलता है । भारतीय योग शास्त्र में तो इनकी महत्ता असाधारण बताई गई है । इन्हीं के माध्यम से शरीर के अंग-प्रत्यंग में प्रवेश, सूक्ष्मतम चक्रों उपत्यिकाओं का बेधन होता है ।

साधना की अन्तिम स्थिति में शारीरिक या मानसिक कोई कृत्य करना शेष नहीं रहता । मात्र अनुभूति, सम्वेदना, भावना तथा संकल्प शक्ति के सहारे विचार रहित शून्यावस्था प्राप्त की जाती है । इसी को समाधि अथवा तुरियावस्था कहते हैं । ब्रह्मानन्द का, परमानन्द का अनुभव इसी स्थिति में होता है । इसे ईश्वर और जीव के मिलन की चरम अनुभूति कह सकते हैं । इस स्थान पर पहुँचने से ईश्वर प्राप्ति का जीवन लक्ष्य पूरा हो जाता है । यह स्तर समयानुसार आत्म-विकास का क्रम पूरा करते चलने से ही उपलब्ध होता है । उतावली में काम बनता नहीं बिगड़ता है । तुर्त-फुर्त ईश्वर दर्शन, समाधि स्थिति, कुण्डलिनी जागरण, शक्तिपात जैसी आतुरता से बाल-बुद्धि का परिचय भर दिया जा सकता है, प्रयोजन कुछ सिद्ध नहीं होता । शरीर को सत्कर्मों में और मन को सद्विचारों में ही अपनाये रहने से जीव सत्ता का उतना परिष्कार हो सकता है, जिससे वह स्थूल और सूक्ष्म शरीरों को समुन्नत बनाते हुए शरीर अकारण के उत्कर्ष से सम्बद्ध दिव्य अनुभूतियाँ और दिव्य सिद्धियाँ प्राप्त कर सके ।

समयानुसार उस अन्तिम स्थिति की (कॉलेज पाठ्यक्रम की भी) शिक्षा उपलब्ध हो जाती है । ऐसी दिव्य सत्ताएँ इस संसार में मौजूद हैं जो पात्रता के बादलों की तरह बरस कर सदा भरा-पूरा रखने को अयाचित सहायता प्रदान कर सके । हमें शरीर के जड़ और मन के अर्ध चेतन स्तरों को परिष्कृत बनाने में ही अपना सारा ध्यान केन्द्रित करना चाहिए । साधना विज्ञान की दौड़ इन्हीं दो क्षेत्रों के विकास में सहायता करने वाले विधि-विधान बताने में केन्द्रीभूत है । इतना बन पड़े तो अगली बात निखिल ब्रह्माण्ड में संव्याप्त दिव्य-चेतना के प्रत्यक्ष मार्ग-दर्शन पर छोड़ी जा सकती है । अपना आपा ही इतना ऊँचा उठ जाता है कि पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से ऊपर निकल जाने के बाद राकेट जिस प्रकार अपनी यात्रा अपने बलबूते चलाने लगते हैं और अमुक कक्ष बनाकर भ्रमण करने लगते हैं, उसी प्रकार स्वयंमेव आत्म-साधना का शेष भाग पूरा हो जाता है ।

आत्मोत्कर्ष की जिन कक्षाओं का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पाठ्यक्रम सीखने-सिखाने की आवश्यकता पड़ती है, वे चिन्तन की उत्कृष्टता एवं कर्तृत्व की आदर्शवादिता के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं । उनकी उपेक्षा करके मात्र कर्मकाण्डों के सहारे कोई बड़ी सफलता हाथ नहीं लग सकती । व्यक्तित्व को अमुक विधि-विधानों के सहारे ऊँचा उठाने की शिक्षा को चाइल्डगार्डन शिक्षण में प्रयुक्त होने वाले मनोरंजन उपकरणों से तुलना की जा सकती है, जो बच्चे के अविकसित मस्तिष्क में अमुक जानकारी को ठीक तरह जमाने में सहायता करती है । पहलवानी में सफलता पाने वाले डंबल, मुद्गर आदि उपकरणों का सहारा लेकर अपनी बल-बृद्धि करते हैं । ऊँचा चढ़ने के लिए लाठी की और जल्दी पहुँचने के लिए वाहन की जरूरत पड़ती है । यह उपकरण बहुत ही उपयोगी और आवश्यक है, पर यह ध्यान रखना चाहिए कि स्वतन्त्र रूप से कोई जादुई शक्ति से सम्पन्न नहीं है । स्वस्थ शरीर को बलिष्ठ बनाने में वे सहायता भर करते हैं । ठीक यही स्थिति उपासना क्षेत्र में फैले हुए अनेकानेक कर्मकाण्डों की है ।

स्थूल शरीर को प्रभावित करने वाली तपश्चर्या और प्रतीक पूजा के साथ जुड़े हुए क्रिया-कृत्यों की चर्चा पिछले लेख में हो चुकी है । सूक्ष्म शरीर के संशोधन में जप

और ध्यान का प्रयोग करना पड़ता है। जप द्वारा अपने आप ही उस परमेश्वर को पुकारना है, जिसे हम एक प्रकार से भूल ही चुके हैं। मणि विहीन सर्प जिस तरह अशक्त एवं हताश बना बैठा रहता है, उसी प्रकार हम परमात्मा से बिछुड़ कर अनाथ बालक की तरह डरे, सहमे बैठे हैं और अपने को असुरक्षित और आपत्तिग्रस्त स्थिति में अनुभव कर रहे हैं। लगता है हमारा कुछ बहुमूल्य खो गया है। जप की पुकार उसी को खोजने के लिए है। बिल्ली अपने बच्चों के इधर-उधर छिप जाने पर उन्हें ढूँढ़ने के लिए म्याऊँ-म्याऊँ करती-फिरती है और उस पुकार के आधार पर उन्हें खोज निकालती है। कोई बालक खो जाने पर उसके ढूँढ़ने के लिए नाम और हुलिया की मुनादी कराई जाती है। राम नाम की रट इसी प्रयोजन के लिए है।

गज की एक टाँग ग्राह के मुँह में चली गई थी। गज पानी से बाहर निकलना चाहता था और ग्राह उसे भीतर घसीटता था। दोनों में से हारता भी कोई नहीं था। इस खींचतान में हाथी को भारी कष्ट हो रहा था। न मरते बनता था न जीते। निदान हेतु गज ने भगवान को पुकार लगाई। उनका नाम हजार बार लिया, तब भगवान उसे बचाने आये थे। द्रौपदी ने भरी सभा में लाज जाते देखकर भगवान को पुकारा था और वे उसे आश्वस्त करने आये थे। अज्ञानान्धकार में भटकने वाले जीव की स्थिति गज से भी गई-बीती है। गज की एक टाँग को एक मगर खा रहा था। यहाँ काम, क्रोध, मद, मत्सर रूपी चार ग्राह दोनों हाथ, दोनों पैर, सिर और धड़ इन छहों अवयवों को खाये जा रहे हैं।

द्रौपदी का शरीर ही निर्वसन हो रहा था, पर आत्मा की शालीनता का आवरण उतरता जाने से उसका बहिरंग अन्तरंग एक रूप में बनते चले जा रहे थे। ऐसी दशा में गज रूपी मन और आत्मा रूपी द्रौपदी का भगवान को पुकारना उचित ही है। जप में भगवत नाम की रट पतन के गर्त में से हाथ पकड़कर ऊपर उबारने के लिए ही लगाई जाती है।

सीता चोरी चली गई थीं। राम उन्हें ढूँढ़ने के लिए वृक्षों से, पक्षियों से, पर्वतों से पूछते फिरते थे कि आप लोगों ने कहीं सीता को देखा हो तो बताओ। वे ऐसे ही सीता-सीता की पुकार लगाते थे ताकि वे उधर कहीं हो तो मिल जायें। बिछोह की वेदना उन्हें ऐसा करने के लिए विवश कर रही थी। मनुष्य अपनी आत्मा को खो बैठा है और सीता को गँवा कर वियोग विह्वल राम की तरह नाम की रट लगाता है। जप का एक उद्देश्य यह भी है।

परमात्मा की दिव्य चेतना के अभाव में मनुष्य नर-पशु, नर-कीटक मात्र बनकर रह जाता है। पञ्चतत्वों की काया में पेट और प्रजनन मात्र की दो आकांक्षाएँ रहती हैं और वह उनकी पूर्ति के लिए वासना-तृष्णा में ग्रसित रहकर अचिन्त्य चिन्तन तथा अकर्म करने में निरत रहता है। आदर्शों को अपनाने के लिए न उसकी उत्कण्ठा जगती है और न चेष्टा होती है। सड़ी कीचड़ में कुलबुलाते रहने वाले घिनौने कीड़े की तरह उसे कुत्साओं और कुण्ठाओं की शोक-सन्तापों की प्रताड़नाएँ सहन करते हुए इस सुरदुर्लभ अवसर को रोते-कलपते गँवाना पड़ता है। इस अन्धकार में भटकने से त्राण पाने के लिए आत्मा प्रकाश को पुकारती है। यह प्रकाश भगवान ही हो सकता है। उसे पाने की आतुरता में जिन शब्दों का उच्चारण होता है, उसे नाम-जप कह सकते हैं।

यह सोचना व्यर्थ है कि भगवान का मन इतना ओछा है कि वे अपना नाम लेने वाले से, चापलूसी भरे शब्दोचार करने वाले से प्रसन्न हो जाते हैं। उन्हें नाम लेने न लेने से कोई वास्ता नहीं। वह दिव्यसत्ता तो केवल इतना ही देखती है कि जो काम सौंपे गये थे वे पूरे किये गये या नहीं। वे अनुशासन और कर्त्तव्य-पालन भर की अपेक्षा मनुष्य से करते हैं और इसी कसौटी पर कस कर दण्ड, पुरस्कार की व्यवस्था करते हैं। उनका रोष और प्रेम ठीक विद्युत शक्ति की तरह है। बिजली का विधिवत् उपयोग करने वाले उससे तरह-तरह के लाभ उठाते हैं। रोशनी, पंखा, रेडियो, हीटर जैसे अनेक प्रयोजन पूरे करते हैं, किन्तु जो उसके खुले तार छूने की उच्छृंखलता बरतते हैं वे रोष के भाजन बनते और अपने प्राण गँवा बैठते हैं। भगवान का नाम 'रुद्र' भी है। रुद्र अर्थात् भयंकर अनीति बरतने वालों को वे बिना दया माया प्रदर्शित किये कसकर दण्ड भी देते हैं। नाम-जप की चापलूसी से ईश्वर को फुसला लेने और जो लाभ सन्मार्ग पर चलने वालों को मिलता है, वही पूजा-पत्री से पा लेने की बात सोचना मूर्खतापूर्ण है। ईश्वर को इतना मूर्ख और ओछा नहीं समझा जाना चाहिए कि नाम लेने भर से किसी को भक्त मान ले और निहाल कर दे। उसका अनुग्रह तो व्यक्तित्व को परिष्कृत करने और सन्मार्ग पर चलने से ही सम्भव हो सकता है।

शरीर पर नित्य मैल चढ़ता है और उसे साफ करने के लिए नित्य स्नान करना पड़ता है। कपड़े नित्य मैले होते हैं और उन्हें रोज ही धोना होता है। कमरे में झाड़ू लगाना, दाँत माँजना, बालों में कंघी करना नित्य का काम है। मन पर नित्य ही वातावरण में उड़ती फिरने वाली दुष्प्रवृत्तियों की छाप पड़ती है। उस मलीनता को धोने के लिए नित्य ही उपासना करनी पड़ती है। भगवत् स्मरण उपासना का प्रधान अंग है। नाम के आधार पर ही किसी सत्ता का बोध और स्मरण हमें होता है। ईश्वर को स्मृति पटल पर प्रतिष्ठापित करने के लिए उसके नाम का सहारा लेना पड़ता है। स्मरण से आह्वान, आह्वन से स्थापना और स्थापना से उपलब्धि का क्रम चल पड़ना मनोविज्ञान शास्त्र द्वारा समर्थित है।

चेतना को प्रशिक्षित करने के लिए मनोविज्ञान शास्त्र में चार आधार और स्तर बताये गये हैं। इनमें प्रथम है–शिक्षण। जिसे अँग्रेजी में 'लर्निंग' कहते हैं। स्कूल के बच्चों को इसी स्तर पर पढ़ाया जाता है। उन्हें तरह-तरह की जानकारियाँ दी जाती हैं। उन जानकारियों को सुन लेने भर से काम नहीं चलता। विद्यार्थी उन्हें बार-बार दुहराते हैं। स्कूली पढ़ाई का सारा क्रम ही दुहराने और याद करने के सहारे खड़ा होता है। पहाड़े रटने पड़ते हैं। संस्कृत को तो रटन्त विद्या ही कहा जाता है। प्रकारान्तर से यह रटाई किसी न किसी प्रकार हर छात्र को करनी पड़ती है। स्मृति पटल पर किसी नई बात को जमाने के लिए बार-बार दुहराये जाने की क्रिया अपनाये बिना और कोई रास्ता नहीं।

एक बार याद कर लेने से कुछ बातें तो देर तक याद बनी रहती हैं, पर कुछ ऐसी हैं जो थोड़े दिन अभ्यास छोड़ देने से एक प्रकार से विस्मरण ही हो जाती हैं। स्कूली पढ़ाई छोड़ देने के उपरान्त यदि वे विषय काम में न आते रहें तो कुछ समय बाद विस्मृत हो जाते हैं। फौजी सिपाहियों को नित्य ही परेट करनी पड़ती है। पहलवान लोग बिना नागा अखाड़े में जाते हैं और रोज ही दण्ड बैठक करते हैं। संगीतकारों के लिए नित्य 'रियाज' आवश्यक हो जाता है। कुछ समय के लिए भी वे गाने-बजाने का अभ्यास छोड़ दें तो उँगलियाँ लड़खड़ाने लगेंगी और ताल स्वरों में अड़चन उत्पन्न होने लगेंगी।

शिक्षण की 'लर्निंग' भूमिका में पुनरावृत्ति का आश्रय लिया जाना आवश्यक है। जप द्वारा अनभ्यस्त ईश्वरीय चेतना को स्मृति पटल पर जमाने की आवश्यकता होती है ताकि उपयोगी प्रकाश की अन्तःकरण में प्रतिष्ठापना हो सके। कुएँ की जगत में लगे पत्थर पर रस्सी की रगड़ बहुत समय तक पड़ते रहने से उसमें निशान बन जाते हैं। हमारी मनोभूमि भी इतनी ही कठोर है। एक बार कहने से बात समझ में तो आ जाती है, पर उसे स्वभाव की, अभ्यास की, भूमिका तक उतारने के लिए बहुत समय तक दुहराने की आवश्यकता पड़ती है। पत्थर पर रस्सी की रगड़ से निशान पड़ने की तरह ही हमारी कठोर मनोभूमि पर भगवत् संस्कारों का गहराई तक जम सकना सम्भव है।

शिक्षण की दूसरी परत है–'रिटेन्शन' अर्थात् प्रस्तुत जानकारी को स्वभाव का अंग बना लेना। तीसरी भूमिका है– 'री-काल' अर्थात् भूतकाल की किन्हीं विस्मृत स्थितियों को कुरेद बीनकर फिर से सजीव कर लेना। चौथी भूमिका है–'रीकाग्नीशन' अर्थात् मान्यता प्रदान कर देना। निष्ठा आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास में परिणित कर देना। उपासना में इन्हीं सब प्रयोजनों को पूरा करना पड़ता है। यह चारों ही परतें छेड़नी होती हैं। भगवान की समीपता अनुभव कराने वाली प्रतीक पूजा 'रिटेन्शन' है। ईश्वर के साथ आत्मा के अति प्राचीन सम्बन्धों को भूल जाने के कारण ही जीवन में भटकाव होता है। पतंग उड़ाने वाले के हाथ से डोरी छूट जाती है तभी वह इधर-उधर छितराती फिरती है। बाजीगर की उँगलियों से बँधे कठपुतली के सम्बन्ध सूत्र टूट जायें तो फिर वे लकड़ी के टुकड़े नाच किस प्रकार दिखा सकेंगे। कनेक्शन तार टूट जाने पर बिजली के यन्त्र अपना काम करना बन्द कर देते हैं। ईश्वर और जीव का सम्बन्ध सनातन है, पर वह माया में अत्यधिक प्रवृत्ति के कारण एक प्रकार से टूट ही गया है। इसे फिर से सोचने, सूत्र को नये सिरे से ढूँढ़ने और टूटे सम्बन्धों को फिर से जोड़ने की प्रक्रिया 'री-काल' है। जप द्वारा यह उद्देश्य भी पूरा होता है। चौथी भूमिका में 'रीकाग्नीशन' में पहुँचने पर जीवात्मा की मान्यता अपने भीतर ईश्वरीय प्रकाश विद्यमान होने की बनती है और वह वेदान्त तत्वज्ञान की भाषा में 'अयमात्मा ब्रह्म'–'तत्वमसि' सोहमस्मि– चिदानन्दोहम्– शिवोहम् की निष्ठा जीवित करता है। यह शब्दोच्चार

नहीं वरन् मान्यता का स्तर है, जिसमें पहुँचे हुए मनुष्य का गुण, कर्म, स्वभाव, दृष्टिकोण एवं क्रिया-कलाप ईश्वर जैसे स्तर का बन जाता है । उसकी स्थिति महात्मा, देवात्मा एवं परमात्मा जैसी देखी और अनुभव की जा सकती है ।

आत्मिक प्रगति के लिए चिन्तन क्षेत्र की जुताई करनी पड़ती है, तभी उसमें उपयोगी फसल उगती है । खेत को बार-बार जोतने से ही उसकी उर्वराशक्ति बढ़ती है । नाम जप को एक प्रकार से खेत की जुताई कह सकते हैं । प्रहलाद की कथा है कि वे स्कूल में प्रवेश पाने के उपरान्त पट्टी पर केवल राम नाम ही लिखते हैं । आगे की बात पढ़ने के लिए कहे जाने पर भी राम नाम ही लिखते रहे और कहते रहे । इस एक को ही पढ़ लेने पर सारी पढ़ाई पूरी हो जाती है । युधिष्ठिर की कथा भी ऐसी ही है । अन्य छात्रों ने आगे के पाठ याद कर लिये, पर वे पहला पाठ 'सत्यंवद' ही रटते लिखते रहे । अध्यापक ने आगे के पाठ पढ़ाने के लिए कहा तो उनका उत्तर यही था कि एक पाठ याद हो जाने पर दूसरा पढ़ना चाहिए । उनका तात्पर्य यह था कि सत्य के प्रति अगाध निष्ठा और व्यवहार में उतारने की परिपक्वता उत्पन्न हो जाने तक उसी क्षेत्र में अपने चिन्तन को जोते रहना चाहिए ।

नाम जप में होने वाली पुनरावृत्ति के पीछे युधिष्ठिर और प्रहलाद द्वारा अपनाई गई प्रक्रिया का संकेत है । भगवानमय जीवन बनाने की स्थिति आने तक नाम स्मरण करते रह जाना चाहिए । अन्तरात्मा द्वारा एक मन और दस इन्द्रियों को पढ़ाने के लिए खोली गई पाठशाला को उपासना कृत्य समझा जा सकता है, उसमें नाम जप की रटाई कराई जाती है ताकि यह छात्र वर्णमाला, गिनती, पहाड़े भली प्रकार याद कर सकें । एक ही विधान को लगातार दुहराते रहने के पीछे यही बाल-शिक्षण की प्रक्रिया काम करती है ।

कपडे को देर तक रंग भरी नाद में डुबोये रहने से उस पर पक्का रंग चढ़ जाता है । चन्दन वृक्ष के समीप उगे हुए झाड़-झंखाड़ भी सुगन्धित हो जाते हैं । गुलाब के फूल जिस मिट्टी पर टूट-टूट कर गिरते रहते हैं, वह भी सुगन्धित हो जाती है । सान्निध्य का लाभ सर्वविदित है । सत्संग और कुसंग के भले-बुरे परिणाम आये दिन सामने आते रहते हैं । उपासना कृत्य भगवान की समीपता है, उसका सत्परिणाम सामने आये बिना नहीं रह सकता । कीट भृंग का उदाहरण प्रख्यात है ।

जप के लिए भारतीय धर्म में सर्वविदित और सर्वोपरि मंत्र गायत्री मंत्र का प्रतिपादन है । उसे गुरु-मंत्र कहा गया है । अन्तःचेतना को परिष्कृत करने में उसका जप बहुत ही सहायक सिद्ध होता है । वेदमाता उसे इसीलिए कहा गया है कि वेदों में सन्निहित ज्ञान-विज्ञान का सारा वैभव बीज रूप से इन थोड़े से अक्षरों में ही सन्निहित है ।

जप का भौतिक महत्त्व भी है । विज्ञान के आधार पर भी उसकी उपयोगिता समझी, समझाई जा सकती है । शरीर और मन में अनेकानेक दिव्य क्षमताएँ, चक्रों, ग्रन्थियों, भेद और उपत्यिकाओं के रूप में विद्यमान हैं, उनमें ऐसी सामर्थ्य विद्यमान हैं जिन्हें जगाया जा सके तो व्यक्ति को अतीन्द्रिय एवं अलौकिक विशेषताएँ प्राप्त हो सकती हैं । साधना का परिणाम सिद्धि है । यह सिद्धियाँ भौतिक प्रतिभा और आत्मिक दिव्यता के रूप में जिन साधना आधारों के सहारे विकसित होती हैं, उनमें जप को प्रथम स्थान दिया गया है ।

ब्रह्मवर्चस् साधना में गायत्री महामंत्र के साधना काल में सवा लक्ष जप का प्राविधान रखा गया है । भारतीय संस्कृति में वैसे भी प्रत्येक द्विज को नियमित रूप से गायत्री मंत्र जप का निर्देश है, उसका उल्लंघन करना ही अन्त्यज श्रेणी में जाना अर्थात् अस्पर्श्य माना जाता है । आज तो इस सिद्धान्त ने वंश परम्परा का काम धारण कर लिया है, किन्तु प्राचीन भारत में कभी ऐसा नहीं रहा । द्विज शब्द का अर्थ ही यह है कि जो पहला जन्म छोड़कर उच्च संस्कार सम्पन्न करने का संकल्प वरण करे । गायत्री मंत्र का जप उसके लिए अनिवार्य माना गया था । इस मान्यता के पीछे मात्र भावनात्मक या मनोवैज्ञानिक कारण मात्र नहीं थे । जप भौतिक विज्ञान की उच्च-मान्यताओं से सब प्रकार पोषित और समर्थित है ।

मुख को अग्निचक्र कहा गया है । मोटे अर्थों में उसकी संगति जठराग्नि से मिलाई जा सकती है । मन्दाग्नि, तीव्राग्नि का वर्णन मुँह से लेकर आमाशय अन्त्रि संस्थान तक विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई पाचन ग्रन्थियों की निष्क्रियता-सक्रियता का परिचय देने के रूप में ही किया

जाता है। मुँह चबाता है और पचाने का प्राथमिक कार्य अपने गह्वर में पूरा करता है। आगे चलकर आहार की पाचन क्रिया अन्याय रूपों में विकसित होती जाती है। अग्निचक्र की (मुख में अवस्थित ऊष्मा की) स्थूल चर्चा ही पाचन प्रक्रिया के रूप में की जा सकती है। वस्तुतः उस संस्थान को यज्ञाग्नि का दिव्य कुण्ड कह सकते हैं, जिससे पाचन का ही नहीं, वाक् शक्ति का भी उद्‌भव होता है। वाणी की शक्ति का जीवन के उत्कर्ष-अपकर्ष में कितना अधिक योगदान है, इसकी जानकारी किसी गूँगे और ओजस्वी वक्ता की स्थिति की तुलना करके देखने से मिल सकती है। सम्भावना का आदान-प्रदान कितना प्रभावी है, इसका इसलिए पता नहीं चलता कि वह ढर्रा सहज अभ्यास में चलता रहता है और हम उससे कुछ विशेष निष्कर्ष नहीं निकाल पाते। यदि हम किसी मूक योनि के प्राणी रहे होते और बातचीत का आनन्द एवं लाभ लेने वाले मनुष्य की सुविधा का लेखा-जोखा लेते तो पता चलता कि यह कितनी बड़ी उपलब्धि है।

मुख का अग्निचक्र स्थूल रूप से पाचन का सूक्ष्म रूप में उच्चारण का और कारण रूप में चेतनात्मक दिव्य प्रवाह उत्पन्न करने का कार्य करता है। उसके तीनों कार्य एक से एक बढ़कर हैं। पाचन और उच्चारण की महत्ता सर्वविदित है। दिव्य प्रवाह संचार की बात कोई-कोई ही जानते हैं। जपयोग का सारा विज्ञान इसी रहस्यमयी सामर्थ्य के साथ सम्बद्ध है।

शब्दों का उच्चारण मात्र जानकारी ही नहीं देता वरन् उनके साथ अनेकानेक भाव अभिव्यंजनाएँ, सम्वेदनाएँ, प्रेरणाएँ एवं शक्तियाँ भी जुड़ी होती हैं। यदि ऐसा न होता तो वाणी से मित्रता एवं शत्रुता उत्पन्न करने की सामर्थ्य न होती। दूसरों को उठाने-गिराने में उसका उपयोग न हो पाता। कटु शब्द सुनकर क्रोध का आवेश चढ़ आता है और न कहने योग्य कहने तथा न करने योग्य करने की स्थिति बन जाती है। चिन्ता का समाचार सुनकर भूख–प्यास और नींद चली जाती है। शोक सम्वाद सुनकर मनुष्य अर्ध मूर्छित जैसा हो जाता है। तर्क तथ्य, उत्साह एवं भावुकता भरा शब्द प्रवाह देखते-देखते जन-समूह का विचार बदल देता है और उस उत्तेजना से सम्मोहित असंख्य मनुष्य कुशल वक्ता का अनुसरण करने के लिए तैयार हो जाते हैं। द्रौपदी ने थोड़े से व्यंग्य-उपहास भरे अपमानजनक शब्द दुर्योधन से कह दिये थे। उनका घाव इतना गहरा उतरा कि अठारह अक्षौहिणी सेना का विनाश करने वाले महाभारत के रूप में उसकी भयानक प्रतिक्रिया सामने आई। इन तथ्यों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि वाणी का काम जानकारी देना भर नहीं है। शब्द-प्रवाह के साथ-साथ उनके प्रभावोत्पादक चेतन तत्व भी जुड़े रहते हैं और वे ध्वनि कम्पनों के साथ घुले रहकर जहाँ भी टकराते हैं, वह चेतनात्मक हलचल उत्पन्न करते हैं। शब्द को पदार्थ विज्ञान की कसौटी पर भौतिक तरंग स्पन्दन भर कहा जा सकता है, पर उसकी चेतना को प्रभावित करने वाली सम्वेदनात्मक क्षमता की भौतिक व्याख्या नहीं हो सकती। वह विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक है।

जपयोग में शब्द शक्ति के इसी आध्यात्मिक प्रभाव को छान कर काम में लाया जाता है। नीबू का रस निचोड़ कर उसका छिलका एक ओर रख दिया जाता है। दूध में से घी निकालकर छाछ को महत्त्वहीन ठहरा दिया जाता है। जपयोग में ऐसा ही होता है। उसके द्वारा ऐसी चेतन शक्ति का उद्‌भव होता है, जो जपकर्त्ता के शरीर एवं मन में विचित्र प्रकार की हलचलें उत्पन्न करती है और अनन्त आकाश में उड़कर विशिष्ट व्यक्तियों को, विशेष परिस्थितियों को तथा समूचे वातावरण को प्रभावित करती है।

मंत्रों का चयन ध्वनि-विज्ञान को आधार मानकर किया गया है। अर्थ का समावेश गौण है। गायत्री मंत्र की सामर्थ्य अद्‌भुत है, पर उसका अर्थ अति सामान्य है। भगवान से सद्‌बुद्धि की कामना भर उसमें की गई है। इसी अर्थ प्रयोजन को व्यक्त करने वाले मन्त्र श्लोक हजारों हैं। हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में भी ऐसी कविताओं की कमी नहीं जिनमें परमात्मा से सद्‌बुद्धि की प्रार्थना की गई है। फिर उन सब कविताओं को गायत्री मंत्र के समकक्ष क्यों नहीं रखा जाता और उनका उच्चारण क्यों उतना फलप्रद नहीं होता ? वस्तुतः मन्त्र सृष्टाओं की दृष्टि में शब्दों का गुंथन ही महत्त्वपूर्ण रहा है। कितने ही बीज मंत्र ऐसे हैं जिनका खींचतान के ही कुछ अर्थ भले ही गढ़ा जाय, पर वस्तुतः उनका कुछ अर्थ है नहीं। ह्रीं, श्रीं, क्लीं, ऐं, हुं, यं, फट् आदि शब्दों का क्या अर्थ हो सकता है, इस प्रश्न पर माथा-पच्ची करना बेकार है। उनका सृजन यह ध्यान में रखते हुए

किया गया है कि उनका उच्चारण किस स्तर का शक्ति कम्पन उत्पन्न करता है और उनका जपकर्त्ता, बाह्य वातावरण तथा अभीष्ट प्रयोजन पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

मानसिक, वाशिक एवं उपांशु जप में ध्वनियों के हलके भारी किये जाने की प्रक्रिया काम में लाई जाती है। वेद मन्त्रों के अक्षरों के साथ-साथ उदात्त-अनुदात्त और स्वरित क्रम से उनका उच्चारण नीचे-ऊँचे तथा मध्यवर्ती उतार-चढ़ाव के साथ किया जाता है। उनके सस्वर उच्चारण की परम्परा है। यह सब विधान इसी दृष्टि से बनाने पड़े हैं कि उन मंत्रों का जप अभीष्ट उद्देश्य पूरा कर सकने वाला शक्ति प्रवाह उत्पन्न कर सके।

मंत्र जप की दुहरी प्रतिक्रिया होती है। एक भीतर, दूसरी बाहर। आग जहाँ जलती है, उस स्थान को गरम करती है, साथ ही वायुमण्डल में ऊष्मा बखेर कर अपने प्रभाव क्षेत्र को भी गर्मी देती है। जप का ध्वनि प्रवाह समुद्र की गहराई में चलने वाली जलधाराओं की तरह तथा ऊपर आकाश में छितराई हुई उड़ने वाली हवा की परतों की तरह अपनी हलचलें उत्पन्न करता है। उनके कारण शरीर में यत्र-तत्र, सन्निहित अनेकों 'चक्रों' तथा 'उपत्यिकाओं' ग्रन्थियों में विशिष्ट स्तर का शक्ति संचार होता है। लगातार के एक नियमित क्रम से चलने वाली हलचलें ऐसा प्रभाव उत्पन्न करती हैं, जिन्हें रहस्यमय ही कहा जा सकता है। पुलों पर सैनिकों को पैरों को मिलाकर चलने से उत्पन्न क्रमबद्ध ध्वनि उत्पन्न न करने के लिए इसलिए मना किया जाता है कि इस साधारण-सी क्रिया से पुल तोड़ देने वाला असाधारण प्रभाव उत्पन्न हो सकता है।

जप लगातार करना पड़ता है और एक ही क्रम से इस प्रक्रिया के परिणामों को विज्ञान की प्रयोगशाला में अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है। एक टन भारी लोहे का गार्टर किसी छत के बीचों-बीच लटका दिया जाय और पाँच ग्राम भारी हलके से कार्क के लगातार आघात लगाने प्रारम्भ कर दिये जायें तो कुछ ही समय में वह सारा गार्टर काँपने लगेगा। यह लगातार एक गति से, आघात क्रम से उत्पन्न होने वाली शक्ति का चमत्कार है। मंत्र जप यदि विधिवत् किया गया है तो उसका परिणाम भी यही होता है। सूक्ष्म शरीर में अवस्थित चक्रों और ग्रन्थियों को जप ध्वनि का अनवरत प्रभाव अपने ढंग से प्रभावित करता है और उत्पन्न हुई हलचल उनकी मूर्छना दूर करके जागृति का अभिनव दौर उत्पन्न करती है। ग्रन्थि-भेदन तथा चक्र जागरण का सत्परिणाम जपकर्त्ता को प्राप्त होता है। जगे हुए यह दिव्य संस्थान साधक में आत्म-बल का नया संचार करते हैं। उसे ऐसा कुछ अपने भीतर जगा, उगा प्रतीत होता है जो पहले नहीं था। इस नवीन उपलब्धि के लाभ भी उसे प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होते हैं।

टाइप राइटर के उदाहरण से इस तथ्य को और भी अच्छी तरह समझा जा सकता है। उँगली से चाबियाँ दबाई जाती हैं और कागज पर तीलियाँ गिरकर अक्षर छापने लगती हैं। मुख में लगे उच्चारण में प्रयुक्त होने वाले कलपुर्जों को टाइप राइटर की कुन्जियाँ कह सकते हैं। मंत्रोच्चार उँगली से उन्हें दबाना हुआ। यहाँ से उत्पन्न शक्ति प्रवाह नाड़ी तन्तुओं की तीलियों के सहारे सूक्ष्म चक्रों और दिव्य ग्रन्थियों तक पहुँचता है और उन्हें झकझोर कर जगाने, खड़ा करने में संलग्न होता है। अक्षरों का छपाना वह उपलब्धि है जो इन जागृत चक्रों द्वारा रहस्यमयी सिद्धियों के रूप में साधक को मिलती है। यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि यदि जपयोग को विधिवत् साधा गया होगा तो उसका सत्परिणाम उत्पन्न होगा ही।

पुलों पर होकर गुजरती हुई सेना को पैर मिलाकर चलने की, ध्वनि प्रवाह उत्पन्न करने की, मनाही कर दी जाती है। पुलों पर से गुजरते समय वे बिखरे हुए स्वच्छतापूर्ण कदम बढ़ाते हैं। कारण यह है कि लेफ्ट राइट के ठीक क्रम से तालबद्ध पैर पड़ने से जो एकीभूत शक्ति उत्पन्न होती है उसकी अद्भुत शक्ति के प्रहार से मजबूत पुलों में दरार पड़ सकती है और भारी नुकसान हो सकता है। मन्त्र जप के क्रमबद्ध उच्चारण से उसी प्रकार का तालक्रम उत्पन्न होता है और उसके फलस्वरूप शरीर के अन्तः संस्थानों में विशिष्ट हलचल उत्पन्न होती है। यह हलचलें उन आलौकिक शक्तियों की मूर्छना दूर करते हैं जो जागृत होने पर सामान्य मनुष्य को असामान्य चमत्कारों से सम्पन्न सिद्ध कर सकती हैं।

हाथों को लगातार थोड़ी देर तक घिसा जाय तो वे गरम हो जाते हैं। रगड़ से गर्मी और बिजली पैदा

होती है, यह नियम विज्ञान की प्रथम कक्षा में पढ़ने वाले छात्र भी जानते हैं । जप में अनवरत उच्चार क्रम एक प्रकार का घर्षण उत्पन्न करता है । पत्थर पर रस्सी की रगड़ पड़ने से घिसाव के निशान बन जाते हैं । श्वास के आवागमन तथा रक्त की भाग-दौड़ से शरीर में गर्मी उत्पन्न होती है और उसी पर जीवन अवलम्बित रहता है । डायनमों में पहिया घूमने से बिजली उत्पन्न होने की बात सभी जानते हैं । जप में जो घर्षण प्रक्रिया गतिशील होती है, वह दौड़ लगाने पर शरीर के उत्तेजित हो जाने की तरह सूक्ष्म शरीर में उत्तेजना पैदा कर रही है और उस गर्मी से मूर्छित पड़ा अन्तर्जगत नये जागरण का अनुभव करता है । यह जागरण मात्र उत्तेजना नहीं होती उसके साथ-साथ दिव्य उपलब्धियों की सम्भावना भी जुड़ी रहती है ।

ध्वनियाँ उतनी ही नहीं हैं जितनी कि कानों से सुनाई पड़ती हैं । कान तो एक निश्चित स्तर के ध्वनि कम्पनों को ही सुन पाते हैं । उनकी प्रकड़ से ऊँचे और नीचे कम्पनों वाले भी असंख्य ध्यान प्रवाह होते हैं, जिन्हें मनुष्य के कान तो सुन नहीं सकते, पर उनके प्रभावों को उपकरणों की सहायता से प्रत्यक्ष देखा जा सकता है । इन्हें 'सुपर सौनिक' ध्वनि तरंगें कहते हैं ।

मनुष्य की ग्रहण और धारण शक्ति सीमित है । वह अपनी दुबली-सी क्षमता के लिए उपयुक्त शब्द प्रवाह ही पकड़ सके, इसी स्तर की कानों की झिल्ली बनी है, किन्तु संसार तो शक्ति का अथाह समुद्र है और इसमें ज्वार-भाटे की तरह श्रवणातीत ध्वनियाँ गतिशील रहती हैं । अच्छा ही हुआ कि मनुष्य की ग्रहण शक्ति सीमित है और वह अपने लिए सीमित प्रवाह ही ले पाता है अन्यथा यदि श्रवणातीत ध्वनियाँ भी उसे प्रभावित कर सकतीं तो जीवन धारण ही सम्भव न हो पाता ।

शब्द की गति साधारणतया बहुत धीमी है । वह मात्र कुछ सौ फुट प्रति सैकिण्ड चल पाती है । तोप चलने पर धुआँ पहले दीखता है और धड़ाके की आवाज पीछे सुनाई पड़ती है ।जहाँ दृश्य और श्रव्य का समावेश है, वहाँ हर जगह ऐसा ही होगा ।दृश्य पहले दीखेगा और उस घटना के साथ जुड़ी हुई आवाज कान तक पीछे पहुँचेगी ।

रेडियो प्रसारण में एक छोटी-सी आवाज को विश्वव्यापी बना देने और उसे १ लाख ८६ हजार मील प्रति सैकिण्ड की चाल से चलने योग्य बना देने में इलेक्ट्रो मैगनेटिक तरङ्गों का ही चमत्कार होता है । रेडियो विज्ञानी जानते हैं कि 'इलेक्ट्रो मैगनेटिक' वेव्स पर साउण्ड का सुपर कम्पोज रिकार्ड कर दिया जाता है और वे पलक मारते सारे संसार की परिक्रमा कर लेने जितनी शक्तिशाली बन जाती हैं ।

इलेक्ट्रो मैगनेटिक तरंगों की शक्ति से ही अन्तरिक्ष में भेजे गये राकेटों की उड़ान को धरती पर से नियन्त्रित करने, उन्हें दिशा और संकेत देने, यांत्रिक खराबी दूर करने का प्रयोजन पूरा किया जाता है । वे 'लेसर' स्तर की बनती है तो शक्ति का ठिकाना नहीं रहता । एक फुट मोटी लोहे की चद्दर में सूराख कर देना उनके बायें हाथ का खेल है । पतली वे इतनी होती हैं कि आँख की पुतली के लाखवें हिस्से में खराबी होने पर मात्र उतने ही टुकड़े का निर्धारित गहराई तक ही सीमित रहने वाला सफल आपरेशन कर देती हैं । अब इन किरणों का उपयोग चिकित्सा क्षेत्र में भी बहुत होने लगा है । केन्सर, अन्त्रशोथ, यकृत की विकृति, गुर्दे की सूजन, हृदय की जकड़न जैसी बीमारियों की चिकित्सा में इनका सफल उपयोग हो रहा है ।

'सुपर सौनिक' तरंगों का जप प्रक्रिया के द्वारा उत्पादन और समन्वय होता है । जप के समय उच्चारण किये गये शब्द–आत्मनिष्ठा, श्रद्धा एवं संकल्प शक्ति का समन्वय होने से वही क्रिया सम्पन्न होती है, जो रेडियो स्टेशन पर बोले गये शब्द-विशिष्ट विद्युत शक्ति के साथ मिलकर अत्यन्त शक्तिशाली हो उठते हैं और पलक मारते समस्त भूमण्डल में अपना उद्देश्य प्रसारित कर देते हैं । जप प्रक्रिया में एक विशेषता यह है कि उससे न केवल समस्त संसार का वातावरण प्रभावित होता है, वरन् साधक का व्यक्तित्व भी झनझनाने, जगमगाने लगता है । जबकि रेडियो स्टेशन से प्रसारण तो होता है, पर कोई स्थानीय विलक्षणता दिखाई नहीं पड़ती । लैसर रेडियम किरणें फेंकने वाले यन्त्रों में कोई निजी प्रभाव नहीं देखा जाता । वे उन स्थानों को ही प्रभावित करते हैं, जहाँ उनका आघात लगता है । जप-प्रक्रिया में साधक को और वातावरण को प्रभावित करने की वह दुहरी शक्ति है, जो नव वैज्ञानिकों के सामान्य यन्त्र उपकरणों में नहीं पाई जाती ।

जप में शब्दों की पुनरावृत्ति होते रहने से उच्चारण का एक चक्र-व्यूह-सर्किल बनता है । क्रमिक परिभ्रमण से शक्ति उत्पन्न होती है । पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती

है। उस परिभ्रमण से आकर्षण शक्ति तथा भूलोक में सन्निहित अनेक स्तर की क्षमताएँ उत्पन्न होती हैं। यदि पृथ्वी का परिभ्रमण बन्द हो जाय तो उस पर नीरवता, निर्जीवता एवं अशक्तता छा जाएगी। शक्ति उत्पादन के लिए परिभ्रमण कितना आवश्यक है इसे 'डायनमो' के प्रयोगकर्त्ता जानते हैं। घुमाव बन्द होते ही बिजली बनना बन्द हो जाती है। स्थूल और सूक्ष्म शरीर में विशिष्ट स्तर के विद्युत प्रवाह उत्पन्न करने के लिए विशिष्ट शब्दों का विशिष्ट गति एवं विधि से उच्चारण करना पड़ता है। मंत्र जप का सामान्य विज्ञान यही है।

जप में एक शब्दावली को एक क्रम और गति से बिना विश्राम दिये गतिशील रखा जाता है। साधारण वार्त्तालाप में अनेकों शब्द अनेक अभिव्यक्तियाँ लिए हुए अनेक रस और भावों सहित उच्चारित होते हैं। अस्तु इनमें न तो एकरूपता होती है न एक गति। कभी विराम, कभी आवेश व्यक्त होते रहते हैं, पारस्परिक वार्त्तालाप में प्रतिपादन का एक केन्द्र या एक स्तर नहीं होता। अतएव उससे वार्ताजन्य प्रभाव भर उत्पन्न होता है, कोई विशिष्ट शक्तिधारा प्रवाहित नहीं होती। जप की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। उसमें सीमित शब्दावली ही प्रयुक्त होती है और वही लगातार बोली जाती रहती है। रेखागणित के विद्यार्थी जानते हैं कि एक रेखा यदि लगातार सीधी खींची जाती रहे तो वह अन्ततः उसी केन्द्र से आकर जुड़ जायेगी, जहाँ से आरम्भ हुई थी। प्रत्येक गतिशील पदार्थ गोल हो जाता है। पृथ्वी गोल है। ग्रह-नक्षत्र सभी गोल हैं। भौतिक जगत का छोटा घटक परमाणु और चेतन जगत का छोटा घटक जीवाणु दोनों ही गोल हैं। गोलाई पर चलते रहा जाय तो उसका अन्त आरम्भ वाले स्थान पर ही होगा। ग्रह-नक्षत्रों की भ्रमण कक्षाएँ इसी आधार पर सुनिश्चित रहती हैं। सीधी रेखा में हम पृथ्वी की परिक्रमा करने निकल पड़ें तो लौटकर वहीं आ जायँगे, जहाँ से चले थे। इस सिद्धान्त के अनुसार मंत्र-जप की परिणति एक गतिशील शब्द-चक्र की स्थापना के रूप में होती है।

कहा जाता है कि वाल्मीकि ऋषि ने उल्टा मन्त्र जपा था अर्थात् "राम-राम" के स्थान पर "मरा-मरा" कहा था। वस्तुतः यह सुनने-समझने वालों का ही भ्रम रहा होगा। लगातार एक ही गतिक्रम से राम-राम कहते रहने पर उसकी गति गोल हो जायगी और उसे आसानी से मरा-मरा समझा जा सकेगा। इसी प्रकार मरा-मरा मंत्र का संकल्प लेकर किया गया उच्चारण भी राम-राम प्रतीत होन लगेगा। असल में होता यह कि एक शब्दावली को अनवरत गति से बोलने पर उसमें आदि अन्त का भेद नहीं रहता, पूरी शब्दावली एक गोलाई में घूमने लगती है और शब्द-चक्र बनाती है। मंत्र जप के विधान का निर्देश करते हुए "तैलधार वत्" सूत्र में कहा गया है कि जिस तरह तेल को एक गति से गिराने पर उसकी धारा बँध जाती है, उसी प्रकार मंत्रोच्चारण का क्रम एक ही गति से चलना चाहिए। न उसके प्रवाह क्रम में अन्तर आवे और न उच्चारण स्तर में। रुक-रुककर कभी धीमे, कभी तीव्र, कभी उच्च स्वर, कभी मन्द ऐसा जप में नहीं हो सकता। वेदमन्त्रों के सस्वर उच्चारण की बात दूसरी है। वे छन्द हैं, इसलिए पाठ करते समय उन्हें स्वरबद्ध अनुशासन का ध्यान रखते हुए गाया जाना अथवा पाठ करना उचित है। जप की व्यवस्था इससे सर्वथा भिन्न है। गायत्री मृत्युञ्जय आदि वेद मन्त्रों को भी जप करते समय स्वर रहित ही जपा जाता है, साथ ही धारा जैसी एक रस, एक समगति बनाये रखी जाती है। इसमें कोई अन्तर तो नहीं पड़ा, इसकी जाँच-पड़ताल माला के आधार पर की गई गणना से होती है। गायत्री मंत्र जप में साधारणतया एक घण्टे में १०-११ माला होती हैं। नित्य वही क्रम चला या नहीं, इसकी जाँच-पड़ताल घड़ी और माला के समन्वय से हो सकती है। प्रत्येक माला पूरी होने में समान समय लगना चाहिए तभी मंत्र शक्ति का वैज्ञानिक आधार बन गया ऐसा समझा जा सकता है। भक्ति-विभोर होकर बिना गति का ध्यान रखे ही जप हो सकता है, पर वह भावनात्मक प्रक्रिया हुई, उसका परिणाम भावना की शुद्धता और गहराई पर निर्भर है। ऐसे जप को शब्द-शक्ति के आधार पर उत्पन्न होने वाले मंत्र-जप से भिन्न स्तर का समझा जाना चाहिए। ब्लडप्रेशर नापने की मशीन रोगी की बाँह पर बाँधकर डॉक्टर घड़ी पर निगाह लगाये रहते हैं, हवा का दबाव बढ़ाते रहते हैं, कान में स्टेथिस्कोप से धड़कन गिनते रहते हैं, तभी वे समझ पाते हैं कि रक्त-चाप कितना है। घड़ी और माला-गणना पर ध्यान लगाये रहकर नये साधक को अपने जप की गति को एक रस, एक सम बनाना पड़ता है। उतना बन पड़े तो समझना चाहिए कि शब्द गति का चक्र बन गया और उसके आधार पर

मंत्र विज्ञान के विशिष्ट परिणाम उत्पन्न होंगे । विशेष पुरश्चरणों में जप विद्या के निष्णात साधक इसीलिए बिठाये जाते हैं कि उनकी सही क्रम प्रक्रिया, सही परिणाम उत्पन्न कर सके ।

गति जब गोलाई में घूमने लगती है तो उससे उत्पन्न होने वाले चमत्कार हम अपने दैनिक जीवन में नित्य ही देखते रहते हैं । बच्चे छोटी 'फिरकनी' अथवा लट्टू जमीन पर घुमाने का खेल खेलते हैं । एक बार होशियारी से घुमा देने पर यह खिलौने देर तक अपनी धुरी पर घूमते रहते हैं और गिरते नहीं, जबकि गति बन्द होते ही वे जमीन पर गिर जाते हैं । यह गति का चमत्कार ही है कि एक बार का धक्का देर तक काम देता है और उत्पन्न गति प्रवाह को देर तक चलते रहने की स्थिति उत्पन्न करता है । जप के द्वारा उत्पन्न गति भी साधना काल के बहुत पश्चात् तक चलती रहती है और साधक की आत्मिक विशेषता को गतिशील एवं सुस्थिर बनाये रहती है ।

मशीनों का बड़ा पहिया 'फ्लाईह्वील' एक बार घुमा देने पर मशीन के अन्य पुर्जों को न केवल गतिशील ही करता है, वरन् उनकी चाल को नियन्त्रित भी करता है । आरी का उपयोग हाथ से आगे–पीछे की गति से करने पर भी लकड़ी कटती तो है, पर यदि गोलाई में घुमा दिया जाय तो वही आरी कई गुनी शक्तिशाली सिद्ध होगी और अधिक मात्रा में, अधिक जल्दी कटाई कर सकेगी । आरा मशीनें यही करती हैं । वे मोटे-मोटे लट्ठे और कठोर जड़ें आसानी से चीर–चारकर रख देती हैं, जबकि आगे-पीछे करने पर उसी आरी के लिए वही लकड़ी काटना काफी कठिन पड़ता । यह सब गोलाई में घूमने वाले गति प्रवाह का चमत्कार है ।

तेजी के साथ गोलाई का घुमाव "सैन्ट्री फ्यूगल फोर्स" उत्पन्न करता है । गोफन में कंकड़ रखकर घुमाने और उसे छोड़कर पक्षी भगाने का कार्य पकी फसल रखाने के लिए किसानों को बहुधा करना पड़ता है । ज्वार, बाजरा, मक्का जैसे खुले दाने की फसलों को अक्सर तोते, कौए खराब करने लगते हैं, तब यह गोफन घुमाकर कंकड़ फेंकने की प्रक्रिया रखवाली के काम आती है । यह घुमाव से उत्पन्न हुई शक्ति ही है जो कंकड़ को गोली जैसी गति के साथ दूर तक फेंकती है । वह कंकड़ इतनी तेजी पर होता है कि कोई पक्षी उसका निशाना बन जाने पर ढेर होकर ही रहता है ।

देहाती मेलों में हवाई जहाज उड़ने अथवा घोड़े दौड़ाने का मजा देने वाले झूले आते हैं । बच्चे उन पर बैठकर मजा लेते हैं । यह झूले अक्सर इन्जन या मोटर से चलते हैं । घुमाव पकड़ते ही नीचे लटकने वाले घोड़े या जहाज पंख फैलाने लगते हैं और चौड़े दायरे में घूमने लगते हैं । खड़े होने पर झूले का घेरा ३० फुट था तो तेजी से घूमने पर वह चाल के अनुपात से ७०-८० फुट तक चला जाता है । फैलाव तो होता ही है और साथ ही बैठने की सीटें तिरछी हो जाने पर भी बच्चे गिरते नहीं । यहाँ तक कि तिरछेपन के कारण गिरने का डर भी उन्हें नहीं लगता और अनुभव करते हैं कि वे सीधे सड़क पर चल रहे हैं ।

सरकसों में एक लकड़ी के घेरे पर मोटरसाइकिल घुमाने का खेल अक्सर देखा जाता है, इसे मौत का कुआँ कहते हैं । दर्शक चकित रह जाते हैं कि साइकिल सवार बिलकुल तिरछा घूम रहा है फिर भी गिरता नहीं । लोटे में पानी भरा जाय, उसकी गरदन में रस्सी बाँधकर घुमाया जाय तो पानी उस लोटे में ही भरा रहेगा, गिरेगा नहीं ।

घुमाव की शक्ति के यह आश्चर्यचकित करने वाले परिणाम साधारणतया देखने में आते रहते हैं । जप के माध्यम से गतिशील शब्द शक्ति का प्रतिफल भी वैसा ही होता है । झूले पर बैठे बच्चों को जिस तरह अधिक बड़े दायरे में तेजी से घूमने का और गिरने की आशंका होने पर भी न गिरने का आनन्द मिलता है, उसी प्रकार अन्तःचेतना की सीमा परिधि छोटी सीमा से बढ़कर कहीं अधिक व्यापक क्षेत्र तक अपना विस्तार देखती है और दुर्भावनाओं एवं दुष्प्रवृत्तियों के कारण अधःपतन की जो आशंका रहती है, उसके बचाव की सहज सम्भावना बन जाती है । गोफन द्वारा फेंके गये कंकड़ की तरह साधक अभीष्ट लक्ष्य की ओर द्रुतगति से दौड़ता है और यदि फेंकने वाले के हाथ सधे हुए हैं तो वह ठीक निशाने पर भी जा लगता है । घुमाव की स्थिति में रहने पर तिरछा हो जाने पर भी लोटे का पानी नहीं फैलता । उसी प्रकार अपने भीतर भरे जीवन तत्व के, संसार के अवांछनीय आकर्षणों में गिर पड़ने का संकट घट जाता है । लोटा धीमे घुमाया गया हो तो बात दूसरी है, पर तेजी का घुमाव पानी को नहीं गिरने देता । जप के साथ जुड़ा विधान और भावना-स्तर यदि सही हो तो

आन्तरिक दुष्प्रवृत्तियों से आये दिन जूझने और कदम-कदम पर असफल होने की कठिनाई दूर हो जाती है।

मौत के कुएँ में मोटरसाइकिल घुमाने वाला सवार तिरछेपन और दौड़ने के लिए स्थान कम होने के कारण संकट उत्पन्न होने की आशंका से बचा रहता है। जप-साधना का साधक भी प्रगति के मार्ग में उत्पन्न होते रहने वाले अनेक अवरोधों पर विजय प्राप्त करता है और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी आगे बढ़ता चला जाता है।

औजारों से जो प्रयोजन सिद्ध होते हैं उनमें मात्र उन यन्त्रों, मशीनों, पुर्जों, उपकरणों का ही महत्त्व नहीं होता, उन्हें चलाने वाली शक्ति की भी अनिवार्य आवश्यकता रहती है। मशीनें स्वसंचालित कितनी भी क़ीमती क्यों न हों, बिजली, भाप की, हाथ की या अन्य किसी प्रकार की शक्ति उन्हें चलाने के लिए चाहिए ही, इसका प्रबन्ध न हो सका तो बहुमूल्य मशीनों से सुसज्जित कारखाने में भी कुछ उत्पादन न हो सकेगा। जप आदि कर्मकाण्डों को औजार, उपकरण, मशीन आदि कहा जा सकता है। साधक का व्यक्तित्व उसका चरित्र, लक्ष्य, दृष्टिकोण एवं भावनास्तर मिलकर चेतनात्मक शक्ति के रूप में परिणित होता है और उसका बल पाकर शारीरिक हलचल मात्र दीखने वाले कर्मकाण्डों में दिव्य चेतना का संचार होता है। इसी समन्वय के आधार पर साधना को सिद्धि बनने का अवसर मिलता है।

जप की पूर्णता ध्यान साधना में

उच्चस्तरीय साधना विधान में मन की एकाग्रता स्थिर करने के लिए जप के साथ ध्यान की प्रक्रिया जोड़ी गई है, वस्तुतः यह एक-दूसरे के पूरक हैं। जब तक समाधि अवस्था नहीं मिल जाती, तब तक मन में संकल्प-विकल्प उठने स्वाभाविक हैं, किन्तु अन्तिम लक्ष्य मन की दौड़ को, आत्मिक चेतना में मिलाकर परमात्मा में घुला देने का ही है। अर्थात् ध्यान को ही विराट् की अनुभूति का अंग बना लेना ध्येय है, किन्तु जब तक वह स्थिर न हो, जप का आश्रय अनिवार्य हो जाता है। इस तरह यह दोनों क्रियाएँ, अन्योन्याश्रित साधना मानी गई हैं। योग साधनाओं में जप की तरह ही ध्यान की असीम महत्ता प्रतिपादित की गयी है।

मनुष्य का मस्तिष्क अनन्त शक्तियों का भण्डागार है, पर कठिनाई एक ही है कि वे बिखरी रहती हैं और एक स्थान पर केन्द्रित नहीं हो पाती इसलिए उनका अभीष्ट लाभ नहीं मिलता। यदि उन्हें एकाग्र किया जा सके तो सामान्य स्तर का समझा जाने वाला मस्तिष्क भी तीक्ष्ण हो सकता है और आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है।

सूर्य की बिखरी हुई किरणें यदि आतिशी काँच द्वारा एक छोटे केन्द्र पर एकत्रित की जा सकें तो दो इन्च घेरे की धूप में ही अग्नि प्रगट हो सकती है और अवसर पाकर दावानल का रूप धारण कर सकती है। एकाग्रता की भी ऐसी ही शक्ति है, मस्तिष्क का बिखराव यदि एक बिन्दु पर इकट्ठा किया जा सके तो कोई भी व्यक्ति अपने सामान्य मस्तिष्क से अद्भुत प्रतिभा का परिचय दे सकता है।

वैज्ञानिक, दार्शनिक, योगी, गणितज्ञ तथा अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य करने वाले एकाग्रता के अभ्यस्त होते हैं। यह अभ्यास उन्होंने किसी विशेष साधना व्यायामों के सहारे पूरे किये हैं या दैनिक सामान्य कार्यों को ही दत्त-चित्त होकर करते रहने से इस विशेषता का विकास कर लिया है, यह अलग बात है, पर इतना निश्चित है कि एकाग्रता का अभ्यास किये बिना कोई प्रतिभाशाली मस्तिष्क भी महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकने में समर्थ नहीं हो सकता। क्या आध्यात्मिक, क्या भौतिक दोनों ही क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा विकसित करने के लिए एकाग्रता का आश्रय लेना नितान्त आवश्यक है। अस्त-व्यस्त, चंचल और बिखरी हुई मनःस्थिति के व्यक्ति न किसी बात पर गहराई से विचार कर सकते हैं और न ही प्रयासों के बीच आने वाले उतार-चढ़ावों के पक्ष-विपक्ष को समझ सकते हैं। तन्मय होकर अभीष्ट प्रयोजन में जुट जाने की विशेषता भी उनमें नहीं होती, अस्तु कोई कहने लायक सफलता भी किसी क्षेत्र में उनके पल्ले नहीं पड़ती।

भौतिक और आध्यात्मिक जगत में समान रूप से एकाग्रता को महत्त्व दिया जाता रहा है। योग की चित्त-वृत्तियों के निरोध के रूप में महर्षि पातंजलि ने व्याख्या की है। योग साधना में प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि यह चार अंग विशुद्ध रूप से एकाग्रता की प्रगति के चार चरण हैं। भाव, चिन्तन और कर्तृत्व की तीन धाराएँ, जहाँ समन्वित होती हैं, वहाँ मनुष्य तीर की तरह सनसनाता हुआ निकलता है और किसी भी

लक्ष्य को बेधकर रख देता है। वैज्ञानिकों से लेकर तत्वदर्शियों तक की उपलब्धियों में मात्र एकाग्रता के अनुदान उपहार हैं।

हम अपने बिखराव को रोककर नियत लक्ष्य की ओर द्रुतगति से बढ़ सकें, इसके लिए प्रत्येक कार्य को पूर्ण जागरूकता, अभिरुचि, तन्मयता और प्रसन्नता के साथ करने की आदत डालनी चाहिए। कर्म योग के व्याख्याताओं ने श्रेष्ठ कर्म को ईश्वर की पूजा कहा है। श्रेष्ठ का अर्थ है सदुद्देश्य पूर्ण और सुव्यवस्थित रीति से किया हुआ काम। यह एकाग्रता की अनवरत साधना ही होगी यदि हम जागने से लेकर सोने तक के प्रत्येक कार्य को ईश्वरीय प्रयोजनों की पूर्ति के लिए अपना श्रद्धा–सिक्त उपहार मानें और उसे लाभ-हानि के तराजू पर न तोल कर अपनी मानसिक एवं शारीरिक स्तर की समीक्षा करते हुए परखें। यदि कोई कार्य पूरी जिम्मेदारी और सद्भावना के साथ करने पर भी असफल रहता है तो इसके कर्त्ता को तनिक भी खिन्न होने की आवश्यकता नहीं। उसने अपना कर्त्तव्य पूरी तरह निबाहा इतना भर होना किसी के लिए गर्व और गौरव की बात है, भले ही उसे सफलता न मिले।

विज्ञानी ऐडीसन अपने किसी प्रयोग में असफल होने पर इतना ही कहते थे---मैंने एक ओर ऐसा अनुभव बढ़ा लिया, जिसके आधार पर भीविष्य में असफलता से बचा जा सकेगा।

आशावादी यदि दुर्घटनाग्रसित होगा तो ईश्वर को धन्यवाद देगा कि उसका जीवन बच गया, मात्र थोड़ी-सी चोट लगी। इसके विपरीत निराशावादी थोड़ी-सी चोट के लिए भी अपने आप को, ईश्वर को और भाग्य को कोसता दिखाई पड़ेगा। इस प्रकार परिष्कृत दृष्टिकोण रखने वाला व्यक्ति हानि और लाभ दोनों ही परिस्थितियों में प्रसन्न रह सकता है और अपने लक्ष्य में बिना विचलित हुए एकान्त निष्ठा बनाये रह सकता हैं।

एकाग्रता ईश्वरीय देन नहीं है और न वह वरदान की तरह किसी को प्राप्त होती है। उसे विशुद्ध रूप से एक 'अच्छी आदत' कहा जा सकता है जो अन्य आदतों की तरह चिरकाल तक नियमित रीति-नीति अपनाने के कारण स्वभाव का अंग बनती है और व्यक्तित्व के साथ घनिष्ठतापूर्वक जुड़ जाती है।

एकाग्रता के दो पक्ष हैं, अभीष्ट विचारों से भिन्न प्रकार के विचारों को मस्तिष्क से हटाना और इच्छित विचारधारा का मनःक्षेत्र में अनवरत रूप से प्रवाहित रहना। आरम्भ थोड़े समय से करना चाहिए। प्रयोग १५ मिनट से भी आरम्भ किया जा सकता है। लेखन, अध्ययन, ध्यान आदि जो भी प्रयोजन हो उसके आकर्षक पक्षों को सामने रखना चाहिए और पूर्ण उत्साह के साथ अभीष्ट विचारों में मन को गहराई तक डुबोना चाहिए। मन तब भागता है, जब अभीष्ट प्रयोजन में गहरी दिलचस्पी नहीं होती और उसके लिए पूरे उत्साह के साथ तन्मय होने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। बेगार भुगतने जैसी उदास मनःस्थिति में ही मन बेसिलसिले इधर-उधर भागता है यदि चिन्तन के विषय को उपयोगी, लाभदायक एवं आवश्यक मान लिया जाय तो मन उसमें जरूर लगेगा। इतने समय तक पूरी तन्मयता रखी ही जानी है। वह संकल्प यदि पूरी दृढ़ता के साथ प्रयोग से पूर्व कई बार दुहरा लिया जाय और उसी उत्साह से चिन्तन में अपने आपको खो देने का प्रयत्न किया जाय तो जल्दी ही सफलता मिलने लगती है।

लगातार बहुत समय तक एक ही विचार में डूबे रहने की अपेक्षा यही अच्छा है कि बीच-बीच में विश्राम ले लें और चिन्तन की धारा में जो छोटे-मोटे मोड़ या विभाजन लाये जा सकते हों, उनमें तन्मयता को विभक्त कर लिया जाय। किसी विषय के कई पक्ष होते हैं। उनका पहले से ही वर्गीकरण कर लिया जाय और एकाग्र साधना के लिए जितना समय निर्धारित किया है उसे उन खण्डों के विभाजित क्रम के अनुसार काम में लाया जाय। स्वास्थ्य सम्वर्धन के प्रश्न पर विचार करना हो तो बिगड़ने के कारण, सुधार के लिए परिवर्तन---परिवर्तन के साधन आदि वर्गों में उसे बाँटा जा सकता है और निर्धारित क्रम से उन बातों पर विचार करते हुए, चिन्तन की शृंखला की जा सकती है।

मानसिक व्यायाम के रूप में एकाग्रता की साधना को ध्यान योग कहते हैं। इसके दो भाग हैं। एक वह जो आमतौर से पूजा प्रयोजनों में काम आता है। किसी देवी-देवता के चित्र को आँखों से देखने और फिर नेत्र बन्द करके सुदूर आकाश में अथवा मस्तिष्क के मध्य में प्रतिष्ठित देखना। ऐसे देव चित्रों के साथ तेजोवलय जुड़ा हुआ होने की भावना की जाती है।

निराकार उपासना वाले मात्र सूर्य का या दीपक की लौ जैसे प्रकाश बिन्दु का ध्यान करते हैं । इस आधार पर की गयी साधना में चिन्तन के बिखराव को एकत्रित करने का अवसर मिलता है । इष्ट देव के वाहन, आयुध, अलंकार, उपकरण आदि की विविधता यह मन को एक सीमित क्षेत्र में चाहे जितनी दौड़ लगाते रहने का अवसर देती है । भाव निष्ठा जुड़ी होने से वह लाभ और भी अधिक बढ़ा-चढ़ा कर बन जाता है । उसके सत्परिणाम कई प्रकार की चमत्कारी अतीन्द्रिय सिद्धियों के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं ।

ध्यान योग का दूसरा पक्ष है किन्हीं विचारों में ऊहापोह में गहराई तक उतरते जाना । एकाग्रता में उभय पक्षीय पर्यवेक्षण की, समुद्र मन्थन जैसे विचार मन्थन की पूरी गुञ्जायश है । वैज्ञानिक और तत्वदर्शी अपने लक्ष्य चिन्तन में निमग्न हो जाते हैं । इसका अर्थ मस्तिष्क को ठप्प करके किसी नियत बात को ही निरन्तर सोचते रहना नहीं वरन् यह है कि उस प्रसंग की सीमाओं में रहकर जितना अधिक विवेचन विश्लेषण किया जा सकता हो, किया जाय । विषय की निर्धारित सीमा से बाहर न भागना ही ध्यान का प्रधान उद्देश्य है । यह सोचना मूर्खतापूर्ण है कि ध्यान में मस्तिष्क जड़ हो जाता है और किसी एक ही प्रतिमा अथवा विचार में डूबा रहता है। ऐसा मस्तिष्कीय संरचना को देखते हुए किसी सामान्य व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं हो सकता । अर्ध मूर्छित स्तर की तथाकथित सामान्य अवस्था में किसी के लिए ऐसा होना सम्भव होता होगा तो होता ही होगा, पर एकाग्रता को ध्यान साधना के साधकों को वैसा सम्भव नहीं होता ।

प्रतिमा पर अथवा किसी विचार प्रक्रिया पर ध्यान एकाग्र करने के लिए नियत स्थान, नियत समय एवं नियत साधन प्रक्रिया अपनानी चाहिए । किसके लिए कौन समय, कैसा स्थान और क्या साधना विधान उपयुक्त रहेगा, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है । यह व्यक्ति की मनःस्थिति और परिस्थिति पर निर्भर है । उसमें भिन्नताएँ रह सकती हैं । अपने परिवार में गायत्री मन्त्र के जप और प्रकाश ज्योति के ध्यान की परम्परा चल रही है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि अन्य कोई साधना सफल हो ही नहीं सकती । श्रद्धा और निष्ठा का समन्वय किसी भी प्रकार एवं विधान को सफलता के स्तर तक पहुँचा सकता है ।

ध्यान योग के पीछे कितने ही अति महत्त्वपूर्ण प्रयोजन छिपे हुए हैं । इस पुण्य प्रक्रिया को अपनाकर मनुष्य अन्तर्जगत में प्रवेश करना और उसकी खोजबीन करना सीखता है । बहिरंग जगत में जो कुछ भी प्रिय लगता है, रसानुभूति होती है, वह अन्तरंग की प्रतिक्रिया मात्र है । जिह्वा के रस तन्तु संवेदनशील हों तो ही भोजन में स्वाद की अनुभूति होगी । पेट ठीक हो, तो ही आहार का आनन्द मिलेगा । यह बात अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी है । नेत्र ज्योति शिथिल हो गई हो तो फिर सौन्दर्य की अनुभूति कैसे होगी ? कान जवाब दे चुके हों तो मधुर गायन और सारगर्भित श्रवण में कुछ रस न रह जायेगा ? नपुंसकता घेर ले तो फिर काम सेवन के सारे साधन निरर्थक हैं । इन्द्रियों की तरह ही मन की प्रखरता और संवेदनशीलता के कारण ही सामान्य परिस्थितियों में स्वर्ग जैसा उत्साह अथवा नरक जैसा असन्तोष देखा जा सकता है । एक ही स्थिति, एक ही व्यक्ति को एक ही प्रकार की और दूसरे को उससे ठीक विपरीत दूसरे तरह की लगती है । यह चिन्तन और दृष्टिकोण का अन्तर ही है, जिसके कारण वस्तुओं और व्यक्तियों से चित्र विचित्र प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं ।

अन्तर्जगत को सुव्यवस्थित बना लिया जाय तो बाह्य जगत में जो विपन्नताएँ घिरी रहती हैं वे देखते-देखते सामान्य एवं सुखद बन जाती हैं । अपना व्यवहार बदलते ही दूसरों के स्नेह सद्भाव की प्रतिक्रिया उभरने लगती है । अपना चिन्तन सुलझ जाने पर सन्तुलन बनते और तालमेल बैठते देर नहीं लगती । आत्मीयता के व्यापक होते ही सर्वत्र अपनापन फैला दीखता है और हर वस्तु अपनी दीखने के कारण रुचिर और सुखद लगने लगती है । कण-कण में ईश्वर की झाँकी का ब्रह्मानन्द मिलने में अपनी चिन्तन विकृति के अतिरिक्त और कोई बाधा नहीं है ।

अन्तरंग को देखने, परखने, सुधारने, सुविकसित और सुसंस्कृत का परम पुरुषार्थ तभी बन पड़ता है, जब भीतर प्रवेश करने का द्वार खुले । इसका प्रथम चरण ध्यान है । ध्यान द्वारा अन्तर्मुखी होने की आदत पड़ती है । तत्वदर्शन के सम्बन्ध में मनन और चिन्तन कर सकना सम्भव होता है । आत्म-सत्ता की स्थिति, आकांक्षा एवं आवश्यकता को समझने और तदनुरूप साधन जुटाने

की बात बनती है, जब अन्तर्जगत को ठीक तरह देख और समझ सकना सम्भव हो सके । यह कार्य ध्यान में तीक्ष्णता उत्पन्न होने पर ही बन पड़ता है ।

ध्यान का दूसरा लाभ एकाग्रता सम्पादन का है । चित्तवृत्तियाँ प्रायः अनियन्त्रित और उच्छृंखल बनी अव्यवस्थित रूप से अस्त-व्यस्त परिभ्रमण करती रहती हैं। इस बिखराव में बहुमूल्य मानसिक शक्तियों का अपव्यय ही होता है । बहुत करके तो चिन्तन की इस विशृंखलता के साथ-साथ अवांछनीय तत्व ही लिपट पड़ते हैं । कहते हैं कि "खाली दिमाग शैतान की दुकान ।" यदि विचारों को व्यवस्थित एवं उपयोगी कार्यों में न लगाया जायेगा, तो उसके अभाव का लाभ आसुरी तत्व उठावेंगे और पतनोन्मुख पशु–प्रवृत्तियों का मनःक्षेत्र पर अधिकार सघन होता चला जायेगा । एकाग्रता से बिखराव सिमटता है और उससे शक्ति उत्पन्न होती है ।

अनियन्त्रित विचार शोक, क्रोध, व्यामोह, विलाप, ईर्ष्या, चिन्ता, भय, निराशा आदि निषेधात्मक गलियों में भटकते रहते हैं और स्वल्प कारणों को लेकर भयंकर मानसिक विक्षोभ उत्पन्न करते हैं । फलतः जीवन का सारा आनन्द नष्ट हो जाता है और पग-पग पर जलने, झुलसने जैसा कष्ट सहना पड़ता है । ध्यान द्वारा विचारों को पकड़ने और एक दिशा से हटाकर दूसरी में नियोजित करने की क्षमता उत्पन्न होती है । यह कहने-सुनने में छोटी, किन्तु व्यवहार में अति महत्त्वपूर्ण विशेषता है । यदि कोई व्यक्ति अपनी प्रचण्ड मनस्विता के सहारे क्रोध, शोक, कामुकता जैसे उभारों को वशवर्ती करने और चिन्तन की धारा तत्काल किसी उपयोगी प्रयोजन में लगा देने की विशेषता प्राप्त कर ले तो समझना चाहिए उसने भव-बन्धनों को काट लिया और स्वर्गीय आनन्द को करतल गत कर लिया ।

हर कोई जानता है कि असफलताओं का कारण साधनों की कमी अथवा परिस्थितियों की प्रतिकूलता उतनी बाधक नहीं होती जितनी कि चित्त की चञ्चलता । आधे–अधूरे मन से उपेक्षा और अन्यमनस्कता के साथ किये गये कार्य प्रायः अस्त–व्यस्त ही रहते हैं और उनकी प्रतिक्रिया, भर्त्सना एवं असफलता के रूप में ही सामने आती है । यदि तन्मयता और तत्परता के साथ कार्य किये जायें तो कालिदास, वरदराज जैसे मन्द बुद्धि लोग भी उच्चकोटि के विद्वान बन सकते हैं । शारीरिक क्षमता के प्रति उदासीनता का अर्थ है–आलस्य । मानसिक दक्षता का उपयोग न करने की प्रवृत्ति को कहते हैं–प्रमाद । सर्वविदित है कि मनुष्य की दरिद्रता और दुर्दशा का बहुत कुछ उत्तरदायित्व आलस्य और प्रमाद का ही होता है । इन दोनों महाशत्रुओं की जननी चित्त की चंचलता है । ध्यान का उद्देश्य चंचल चित्त को मजबूत रस्सों से कसकर नियत प्रयोजन में लगा देने की दक्षता प्राप्त कर लेना है । मनोनिग्रह इसी को कहते हैं ।

योग विद्या में मनोनिग्रह का बहुत महत्त्व बताया गया है । मन को वश में कर लेने पर सब कुछ वश में हो जाता है । निग्रहीत मन को कल्पवृक्ष कहा गया है और उसकी चमत्कारी उपलब्धियों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है । इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि मूर्धन्य स्तर के लोग–वैज्ञानिक, कलाकार, साहित्यकार, साधन-सम्पन्न, प्रगतिशील, श्रेयाधिकारी महामानव मनोनिग्रह के सहारे ही ऊँचे उठे और सफलता के शिखर तक पहुँचे हैं । भौतिक आत्मिक अथवा दोनों क्षेत्रों की समन्वित सफलता मानसिक दक्षता को अभीष्ट प्रयोजन में नियोजित किये रह सकने की विशेषता पर निर्भर है । यही आत्म-नियन्त्रण धैर्य, साहस, संकल्प-बल, दृढ़ चरित्र आदि के रूप में सद्गुण बनकर प्रगट परिलक्षित होता है । सफलाताएँ इसी मनन स्थिति के चरण चूमती रही हैं और यही क्रम अनन्त काल तक बना रहेगा ।

ध्यान का तीसरा लाभ है–संकल्प शक्ति की परिपक्वता । शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के विभिन्न उपचारों से कई प्रकार के अभ्यास साधकों को कराये जाते हैं । माहात्म्य तो देवताओं, मन्त्रों, दृश्यों, आवाजों का बताया जाता है और उनके साथ तन्मयतापूर्वक मनःचेतना को लपेटे रहने का निर्देश गुरुजनों द्वारा दिया जाता है । इसके पीछे मूल लाभ एक ही है कि विचार प्रवाह की अस्त-व्यस्तता रोक सकने वाली-सीमित बिन्दु पर ध्यान जमाये रहने वाली प्रचण्ड-संकल्प शक्ति का उद्भव किया जाय । साधारणतया विचारों की दौड़ बेलगाम होती है, जंगली हिरनों की तरह वे किसी भी दिशा में दौड़ते हैं और किसी का अंकुश स्वीकार नहीं करते । इन्हें नियन्त्रित करने के लिए धारण के चित्र अथवा शब्द गढ़े जाते हैं । देवताओं के तथा प्रकाश आदि के चित्रों पर अथवा नादयोग के आधार पर चित्र-विचित्र ध्वनियों पर विचार शक्ति को, कल्पना एवं भावना को-गहन श्रद्धा के

साथ नियोजित किया जाता है । इसमें उतनी ही सफलता मिलती है, जितनी कि विचारों पर हावी हो सकने वाली सङ्कल्प शक्ति प्रचण्ड होगी । वस्तुतः ध्यान धारणा का सारा उपक्रम उस संकल्प शक्ति को प्रबल बनाना है जो रिंग मास्टर द्वारा सरकस के जानवरों को हन्टर के बल पर नचाने की तरह विचारों को किसी भी केन्द्र पर केन्द्रित कर देने में सफल हो सकती है ।

यह संकल्प-बल ही प्राणबल, आत्म-बल, ब्रह्मवचर्स आदि नामों से पुकारा गया है । इसी विद्युतधारा को अन्तरंग की प्रसुप्त क्षमताओं के ऊपर फेंका और उन्हें जागृत किया जाता है । स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीरों में एक से अद्‌भुत शक्ति संस्थान छिपे पड़े हैं, इन्हें ढूँढ़ निकालना और परिष्कृत कर सकना इसी संकल्पों की केन्द्रीय शक्ति के लिए सम्भव है । अतीन्द्रिय क्षमता जगाने का यही एकमात्र उपकरण है । एक ही बन्दूक से अनेक शत्रुओं को धराशायी बनाया जा सकता है । एक ही कलम से विभिन्न स्तर के लेख लिखे जा सकते हैं । एक ही खेत में कई प्रकार की फसलें उग सकती हैं । एक ही रुपये से कई वस्तुयें खरीदी जा सकती हैं । एक ही मनुष्य कई तरह के कृत्य कर सकता है । ठीक इसी प्रकार एक ही प्रचण्ड संकल्प-शक्ति से अन्तर्जगत के कितने ही शक्ति संस्थानों को जगाया-उठाया जा सकता है । एक ही क्रेन कितने ही भारी भरकम पार्सलों को उठाती-चढ़ाती रहती है । मनोबल के सहारे वजनदार षटचक्रों, उपत्यिकाओं तथा अन्तर्मन की गहरी दबी-गढ़ी परतों को उभारा तथा उठाया जा सकता है । सूर्य उदय होता है तो प्राणधारियों में सक्रियता का संचार होता है । मनोबल सूर्य जिस भी क्षेत्र में अपनी प्रकाश किरणें फेंकता है, उसी की आभा निखरने लगती है ।

मनुष्य में जन्मजात रूप से ईश्वरीय अंश उतना ही जागृत रहता है जिससे पेट प्रजनन का सामान्य निर्वाह क्रम सरलतापूर्वक चलता रह सके । शेष दिव्य क्षमताओं के भण्डार प्रसुप्त स्थिति में पड़े होते हैं, उन्हें प्रयत्नपूर्वक जागृत करना पड़ता है । अतीन्द्रिय क्षमताओं की आये दिन चर्चा होती रहती है । बहुत से व्यक्तियों में कितने ही प्रकार की अलौकिकताएँ पाई जाती हैं । यह उनके साधन प्रयासों द्वारा अथवा पूर्व संचित जागरण प्रयत्नों का प्रतिफल होता है । जीवात्मा क्रमशः महात्मा, देवात्मा, परमात्मा स्तर पर विकसित होती है और लघु से महान् बनती है । यह सफलताएँ किसी दूसरे का दिया हुआ अनुग्रह उपकार नहीं होता, वरन् आत्म-सत्ता के क्रमिक विकास की प्रतिक्रिया ही होती है । जिस उपकरण के माध्यम से यह प्रगति क्रम अग्रसर होता है उसे मनोबल ही कह सकते हैं । इस पेट्रोल के बिना कोई मोटर किसी भी सड़क पर दौड़ लगाने में असमर्थ रहती है ।

मनुष्य के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में एक अद्‌भुत शक्ति केन्द्रों के समुच्चय विद्यमान है । अल्पज्ञ जीव सर्वज्ञ बन सके और असमर्थ दीखने वाला व्यक्ति सर्व समर्थ स्तर तक पहुँच सके ऐसी सम्भावनाएँ मौजूद हैं । प्रश्न प्रसुप्ति को जागृति में बदलने का है । इसी प्रयत्न पुरुषार्थ को योग साधना कहते हैं । योग-साधना की प्रधान क्षमता मनोबल है । संकल्प बल के प्रहार से शक्ति संस्थानों का समुद्र मन्थन होता है और उसी में से सिद्धियों की रत्न राशि निकल कर ऊपर आती है ।

ध्यान एक प्रकार का व्यायाम है, जिसमें प्रत्याहार और धारणा के उभय पक्ष पूरे करने पड़ते हैं । प्रत्याहार का अर्थ है—अनुपयुक्त चिन्तन का बलपूर्वक प्रतिरोध करना और धारणा का तात्पर्य है जो अभीष्ट है उसे अंगीकार करने के लिए अतिशय आग्रह करना । यह सरकस में वन्य पशुओं को प्रशिक्षित करने जैसी प्रक्रिया है । ताड़ना और प्रलोभन की उल्टी-सीधी चालें चलकर उद्‌दड पशुओं को साधना पड़ता है । चित्तवृत्तियों की स्थिति भी लगभग वैसी ही है । साधने की सफलता में उन पशुओं को भी यश मिलता है और शिक्षक की कुशलता भी सराही जाती है । इन साधकों और सिद्धों की उपयोगिता बढ़ती है और उनका बढ़ा-चढ़ा मूल्यांकन होता है । यह ध्यान का ही चमत्कार है कि प्रत्याहार और धारणा की दण्ड-बैठक करते हुए साधक को मनोबल सम्पन्न बनाने का अवसर मिलता है । चक्र-वेधन, कुण्डलिनी जागरण, अतीन्द्रिय उन्नयन, दिव्य आभास, शक्ति संचरण जैसी आध्यात्मिक उपलब्धियों का आधार बढ़ा हुआ संकल्प बल ही होता है । ध्यान साधना का यही सबसे बड़ा लाभ है ।

ध्यान के यह प्रमुख लाभ हैं । व्यायामशाला में जाकर शरीर बल उपार्जित किया जाता है और फिर उससे निरोग काया, दीर्घजीवन, प्रतियोगिता, विजय, अधिक उपार्जन, प्रभाव, वर्चस्व जैसे कितने ही लाभ मिलते रहते

हैं। ठीक इसी प्रकार ध्यान की मानसिक व्यायाम प्रक्रिया से संकल्प-शक्ति प्रखर एवं परिपक्व होती है और उससे चेतना की विशिष्टता का परिचय देने वाले अनेकानेक सत्परिणाम सामने आते हैं। समृद्धियों और विभूतियों से जीवन को सुख-सम्पदा से, शान्ति-सन्तोष से, वैभव-वर्चस्व से भर देने वाले अवसर जिस आधार पर मिलते हैं उनमें शरीर बल से भी बढ़कर मनोबल का स्थान है। कहना न होगा कि इस महान् उपलब्धि के अभिवर्धन में ध्यान साधना से बढ़कर और कोई दूसरा सरल एवं सफल उपाय नहीं है।

छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय के छठे और सातवें खण्ड में ध्यानयोग को उपासना की उच्च कक्षा कहा गया है। नामोच्चार से बढ़कर वाक्, वाक् से भी बड़ा मन, मन से अधिक महत्वपूर्ण संकल्प और संकल्प से बलवत्तर चित्त को कहा गया है। नाम, जप, वाक्-संयम, मनोनिग्रह, संकल्पोद्भव, चित्तनिरोध, ये सब उपासना की क्रमिक भूमिकाएँ हैं। ध्यान इन सबसे ऊपर है।

मन को एक विशेष परिधि में दौड़ाने के लिए साधना ध्यान है। निर्धारित परिधि के अन्तर्गत ही ध्यान-चेष्टाएँ केन्द्रित रहना साधनाक्रम की सही दिशा का संकेत है। मन की चञ्चलता से यदाकदा उल्लघंन तो होगा, पर सतत् प्रयत्न से यह उल्लघंन घटता जाएगा और मन सधता जायेगा।

ध्यान धारणा की विधि

आमतौर से उपासना करने वालों को यह शिकायत रहती कि भजन करते समय उनका मन स्थिर नहीं रहता, अनेक जगह भागता रहता है। साधना में मन न लगे, चित्त कहीं का मारा कहीं भागा फिरे तो उसमें वह आनन्द नहीं आता जो आना चाहिए। इस कठिनाई का उपाय सोचने से पूर्व यह विचार करना होगा कि मन क्यों भागता है ? और भागकर कहाँ जाता है। हमें जानना चाहिए कि मन प्रेम का गुलाम है। जहाँ भी जिस वस्तु में भी प्रेम मिलेगा, वही मन उसी प्रकार दौड़ जायगा, जैसे फूल पर भौंरा जा पहुँचता है। साधारणतया लोगों का प्रेम अपने स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, व्यवसाय यश, मनोरंजन आदि में होता है। इन्हीं प्रिय वस्तुओं में मन दौड़-दौड़कर जाता है। भजन को हम एक चिन्ह पूजा की तरह पूरा तो करते हैं, पर उसमें सच्चा-प्रेम नहीं होता। इष्ट देव को भी हम कोई बहुत दूर का अपने से सर्वथा भिन्न तत्व मानते हैं, उसमें कुछ चाहते तो हैं, पर अपने तथा उसके बीच में कोई प्रेम और आत्मीयता का सम्बन्ध सूत्र नहीं देखते। राजा और भिखारी के बीच जो अन्तर होता है, वही हमें अपने और इष्टदेव के भीतर लगता रहता है। ऐसी दशा में मन यदि भजन में न लगे और अपने प्रिय विषयों में भागे तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं यह स्वाभाविक ही है।

बलात्कार पूर्वक नहीं

भजन में मन लगे इसके लिए बलात्कार पूर्वक मन को रोकने का यह प्रयत्न निष्फल ही रहता है। यह एक तथ्य है कि मन प्रेम का गुलाम है। वह वहीं टिकेगा जहाँ प्रेम होगा। यदि भजन के साथ प्रेम-भावना का समावेश कर लिया जाय तो निश्चित रूप से मन उसमें उसी प्रकार लगा रहेगा जैसा संसारी मनुष्यों का अपने स्त्री-पुत्र, धन आदि में लगा रहता है।

नाम, रूप का जोड़ा

जप के साथ ध्यान का अनन्य सम्बन्ध है। नाम और रूप का जोड़ा है। दोनों को साथ-साथ लेकर ही चलना पड़ता है। अर्थ चिन्तन एक स्वतंत्र साधन है। गायत्री के एक-एक शब्द में सन्निहित अर्थ और भाव पर पाँच-पाँच मिनट भी विचार किया जाय तो एक बार पूरा एक गायत्री मंत्र करने में कम से कम आधा या एक घण्टा लगना चाहिये। अधिक तन्मयता से यह अर्थ चिन्तन किया जाय तो पूरे एक मंत्र की भावनाऐं हृदयगंम करने में कई घण्टे लग सकते हैं। मन्त्र जप उच्चार कितनी जल्दी से हो जाता है उतनी जल्दी उसके शब्दों का अर्थ ध्यान में नहीं लाया जा सकता है। इसलिए जप के साथ अर्थ चिन्तन की बात सर्वथा अव्यवहारिक है। अर्थ चिन्तन तो एक स्वतंत्र साधना है जिसे जप के समय नही वरन् कोई अतिरिक्त समय निकाल कर करना चाहिए।

जप, योग-साधना का एक अंग है। योग चित्तवृत्तियों के निरोध को कहते हैं। जप के समय चित्त एक लक्ष में लगा रहना चाहिए। यह कार्य ध्यान द्वारा ही सम्भव है। इसलिए विज्ञ, उपासक जप के साथ ध्यान किया करते हैं। 'नाम' के साथ 'रूप' की संगति मिलाया करते हैं। यह तरीका सही भी है।

निराकार की उच्च-कक्षा

साधन की आरम्भिक कक्षा साकार उपासना से शुरू होती है और धीरे-धीरे विकसित होकर वह निराकार तक जा पहुँचती है। मन किसी रूप पर ही जमता है, निराकार का ध्यान पूर्ण परिपक्व मन ही कर सकता है, आरम्भिक अभ्यास के लिए वह सर्वथा कठिन है। इसलिए साधना का आरम्भ साकार उपासना से और अन्त निराकार उपासना में होता है। साकार और निराकार उपासनाऐं दो कक्षाऐं हैं। आरम्भिक बालक पट्टी पर खड़िया और कलम से लिखना सीखता है वही विद्यार्थी कालान्तर में कागज, स्याही और फाउन्टेन पेन से लिखने लगता है। दोनों स्थितियों में अन्तर तो है पर इसमें कोई विरोध नही है जो लोग निराकार और साकार का झगड़ा उत्पन्न करते हैं वे ऐसे ही हैं जैसे पट्टी खड़िया और कागज स्याही को एक-दूसरे का विरोधी बताने वाले।

जब तक मन स्थिर न हो तब तक साकार उपासना करना उचित है। गायत्री जप के साथ माता का एक सुन्दर नारी के रूप में ध्यान करना चाहिए। माता के चित्र 'अखण्ड ज्योति' कार्यालय से छपे हैं। पर यदि उनसे भी सुन्दर चित्र किसी चित्रकार की सहायता से बनाये जा सकें तो उत्तम हो। सुन्दर से सुन्दर आकृति की कल्पना करके उसे अपने सगी माता मानकर जप करते समय अपने ध्यान क्षेत्र में प्रतिष्ठित करना चाहिए।

अपने आपको एक साल के छोटे बच्चे की स्थिति में अनुभव करना चाहिए। छोटे बालक का हृदय सर्वथा शुद्ध निर्मल और निश्चिन्त होता है। वैसा ही अपने बारे में भी सोचना चाहिए। कामना, वासना, भय, लोभ, चिन्ता, शोक, द्वेष आदि से अपने को सर्वथा मुक्त और सन्तोष, उल्लास एवं आनन्द में ओत-प्रोत स्थिति में अनुभव करना चाहिए। साधक का अन्तःकरण साधना काल में बालक के समान शुद्ध एवं निश्छल रहने लगे तो प्रगति तीव्र गति से होती है। भजन में मन लगता है और वह निर्मल स्थिति व्यवहारिक जीवन में भी बढ़ती जाती है।

एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ध्यान

माता और बालक परस्पर जैसे अत्यन्त आत्मीयता और अभिन्न ममता के साथ सुसम्बद्ध रहते हैं हिल-मिलकर प्रेम का आदान-प्रदान करते हैं वैसा ही साधक का भी ध्यान होना चाहिए। "हम एक वर्ष के अबोध बालक के रूप में माता की गोदी में पड़े हैं और उसका अमृत सदृश दूध पी रहे हैं। माता बड़े प्यार से अपनी छाती खोल कर उल्लासपूर्वक अपना दूध हमें पिला रही है। वह दूध रक्त बनकर हमारी नस-नाड़ियों में घूम रहा है और अपने सात्विक तत्वों से हमारे अंग-प्रत्यंगों को परिपूर्ण कर रहा है।" यह ध्यान बहुत ही सुखद है। छोटा बच्चा अपने नन्हे-नन्हे हाथ पसार कर कभी माता के बाल पकड़ता है कभी नाक-कान आदि में उगलियाँ डालता है कभी अन्य प्रकार अटपटी क्रियाऐं माता के साथ करता है वैसा ही कुछ अपने द्वारा किया जा रहा है ऐसी भावना करनी चाहिए। माता भी जब वात्सल्य प्रेम से ओत-प्रोत होती है, तब बच्चे को छाती से लगाती है, उसके सिर पर हाथ फिराती है, पीठ खुजलाती है, थपकी देती है, पुचकारती है, उछालती तथा गुदगुदाती है, हँसती और हँसाती है वैसा ही क्रियाएँ गायत्री माता के द्वारा अपने साथ हो रही हैं यह ध्यान करना चाहिए। इस समस्त विश्व में माता और पुत्र केवल मात्र दो ही हैं और कहीं कुछ नहीं है। कोई समस्या, चिन्ता, भय, लोभ आदि उत्पन्न करने वाला कोई कारण और पदार्थ इस संसार में नही केवल माता और पुत्र दो ही इस शून्य नील आकाश में अवस्थित होकर अनन्त प्रेम का आदान-प्रदान करते हुए कृत-कृत्य हो रहे हैं।"

भावना की अभिवृद्धि

जप के समय आरम्भिक साधक के लिए यही ध्यान सर्वोत्तम है। इससे मन को एक सुन्दर भावना में लगे रहने का अवसर मिलता है और उसकी भाग-दौड़ बन्द हो जाती है। प्रेम-भावना की अभिवृद्धि में भी यह ध्यान बहुत सहायक होता है। मीरा, शबरी, चैतन्य महाप्रभु, सूरदास, रामकृष्ण परमंहस आदि सभी भक्तों ने अपनी प्रेम भावना के बल पर भगवान को प्राप्त किया था। प्रेम ही वह अमृत है जिसके द्वारा सींचे जाने पर आत्मा की सच्चे अर्थों में परिपुष्टि होती है और वह भगवान को अपने में और अपने को भगवान में प्रतिष्ठित कर सकने में समर्थ बनती है। यह ध्यान इस आवश्यकता की पूर्ति करता है।

उपरोक्त ध्यान गायत्री उपासना की प्रथम भूमिका में आवश्यक है। भजन के साथ भाव की मात्रा भी पर्याप्त होनी चाहिए। इस ध्यान को कल्पना न समझा

जाय वरन् साधक अपने को वस्तुतः उसी स्थिति में अनुभव करे और माता के प्रति अनन्य प्रेम-भाव के साथ तन्मयता अनुभव करे । इस अनुभूति की प्रगटता में अलौकिक आनन्द का रसास्वादन होता है और मन निरन्तर इसी में लगे रहने की इच्छा करता है । इस प्रकार मन को वश में करने और एक ही लक्ष में लगे रहने की एक बड़ी आवश्यकता सहज ही पूरी हो जाती है ।

आगे की अन्य भूमिकाऐं

साधना की दूसरी भूमिका तब प्रारम्भ होती है जब मन की भाग-दौड़ बन्द हो जाती है और चित्त जप के साथ ध्यान में संलग्न रहने लगता है । इस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर चित्त को एक सीमित केन्द्र पर एकाग्र करने की ओर क़दम बढ़ाना पड़ता है । उपरोक्त ध्यान के स्थान पर दूसरी भूमिका में साधक सूर्यमंडल के प्रकाश तेज में गायत्री माता के सुन्दर मुख की झाँकी करता है । उसे समस्त विश्व में केवल मात्र एक पीतवर्ण सूर्य ही दीखता है और उसके मध्य में गायत्री माता का मुख हँसता मुस्कराता हुआ दृष्टिगोचर होता है । साधक भावनापूर्वक उस मुख-मण्डल को ध्यानावस्था में देखता है उसे माता के अधरों से, नेत्रों से, कपोलों की रेखाओं से एक अत्यन्त मधुर स्नेह, वात्सल्य, आश्वासन, सान्त्वना एवं आत्मीयता की झाँकी होती है । वह उस झाँकी को आनन्दविभोर होकर देखता रहता है और सुधि-बुधि भुलाकर चन्द्र-चकोर की भाँति उसी में तन्मय होती है ।

इस दूसरी भूमिका की साधना में ध्यान की सीमा सीमित हो गई । पहली भूमिका में माता-पुत्र दोनों का क्रीड़ा विनोद काफी विस्तृत था । मन को भागने-दौड़ने के लिये उस ध्यान में बहुत बड़ा क्षेत्र पड़ा था । दूसरी भूमिका में वह संकुचित हो गया । सूर्य मंडल के मध्य माता की भावपूर्ण मुखाकृति पहले ध्यान की अपेक्षा काफी सीमित है । मन को एकाग्र करने की परिधि को आत्मिक विकास के साथ-साथ क्रमशः सीमित ही करते जाना होता है ।

तीसरी सर्वोच्च भूमिका में गायत्री माता के दाहिने नेत्र की पुतली ही ध्यान का केन्द्र बिन्दु बनती है । पुतली के बीच में जो काला मध्य बिन्दु है जिसे 'तिल' कहते हैं उसका ज्योति स्रोत के रूप में ध्यान किया जाता है । उस ज्योति में साधक अपनी आत्मा को उसी प्रकार होमता है जैसे जलती हुई अग्नि में लकड़ी को डालने से उसे भी अग्नि की समरूपता मिलती है । माता की ज्योति में अपने आपका आत्म-समर्पण करने से 'लय योग' की सिद्धि होती है । उसी स्थिति में अद्वैत अनुभव होता है । आत्मा और परमात्मा एक हुये परिलक्षित होते हैं ।

यह सार्वभौम एवं सर्वजनीन प्रक्रिया है । आस्तिक-नास्तिक सभी इसे अपनाकर समान रूप से अपना मनोबल बढ़ा सकते हैं । चित्त की चंचलता का समाधान, एकाग्रता का अभिवर्धन जिस उपाय से बन पड़े उसे ध्यान कहा जा सकता है । अन्तःक्षेत्र में घुसी हुई पशु-प्रवृत्तियों के स्थान पर दैवी-तत्वों की स्थापना के लिए जो प्रयत्न किये जायें उन्हें धारणा वर्ग का कहा जायेगा । इसके लिए किसी पुष्प को भी माध्यम बनाया जा सकता है । देवताओं के स्थान पर किन्हीं महामानवों के व्यक्तित्व एवं चरित्र को ध्यान धारणा के लिए चुना जा सकता है ।

निराकार ध्यान साधना—

चूँकि गायत्री का सीधा सम्बन्ध है, गायत्री का देवता सविता है अतएव निराकार ध्यान के लिए सूर्य का ध्यान किया जाता है । सामान्य जप के साथ भी सूर्य तेज मध्यस्था भगवती गायत्री का ध्यान करते हैं । निराकार ध्यान में माँ की छवि का स्थान सविता का तेजोवलय ले लेता है । भावना करनी पड़ती है । हमारे प्राण अन्तरिक्ष की यह विशाल दूरी पार करने के लिए निकल पड़े हैं पृथ्वी और आकाश के विविध काल्पनिक दृश्यों को मानस पटल पर उभारना पड़ता है । धीरे-धीरे प्राणों को सविता के प्रकाश में डुबा देते हैं, मन हटात भागना चाहे तो अनन्त सितारों की जगमग के दृश्य दिखाकर उसे फिर उसी सूर्य तेज में उतारा जाये । भावना की जाये कि अपनी सारी कालिमा, ताप-ताप और अहंताएँ नष्ट होती जा रही हैं । मुझ में और सविता के प्रकाश में कोई अन्तर नहीं रहा । मैं ही समस्त सौरमण्डल में प्रभासित हो रहा हूँ । मेरे ही प्रकाश स्फुल्लिंग वृक्ष-वनस्पति बने हुए हैं, मेरी ही गति से ब्रह्माण्ड गतिमान हो रहा है । साक्षी और दृष्टा रूप में मैं स्वयं सर्वत्र संचरण कर रहा हूँ । समस्त प्राणिजगत् में मेरा ही प्राण

समाया हुआ है सबके दुःख-दर्द, हँसी-खुशी, गति-अगति में निर्विकार भाव से मैं ही परिलक्षित हो रहा हूँ ।

इस तरह का ध्यान जितना प्रगाढ़ होता है । दिव्य दृष्टि का उतना ही विकास होता है । तन्मयता जितनी बढ़ेगी पुलक और दिव्यता का अंश भी उतना ही बढ़ता चला जायेगा । मानवीय संकीर्णता उतने ही अंश में घटती चली जायेगी और अन्तरात्मा अपने आप को उतना ही अधिक व्यापक अनुभव करता चला जायेगा ।

एकान्त कोलाहल रहित स्थान में जहाँ शान्ति हो, ध्यान का अभ्यास किया जाता है । प्रारम्भ में ध्यान का आधार किसी भौतिक माध्यम को भी बनाया जा सकता है । हम गुलाब के फूल से शुरू कर सकते हैं । एक चौकी पर हरे या नीले रङ्ग का कपड़ा बिछाएँ । उस पर खिला हुआ गुलाब का फूल रखें । फूल की पंखुरियों की बनावट तथा रंगों के उतार-चढ़ाव और मध्यवर्ती पराग को गहराई के साथ देखते हुए बारीक विश्लेषण जैसा करते हुए एक-एक चीज मस्तिष्क में स्थिर करते जायें, मानो थोड़ी देर बाद परीक्षा में ये सब विवरण पूछे जाने वाले हैं । जब फूल देखते-देखते मन ऊबने लगे, तो फिर गुलाब से बनने वाली वस्तुओं की बावत सोचें – गुलाबजल, इत्र, गुलकन्द, फूलमाला आदि के बनने की विधि एवं इनके स्वरूप का स्मरण-मनन करें । गुलाब की खेती, उससे लाभ, गुलाब की आध्यात्मिक प्रकृति-काँटों के बीच सन्तोषपूर्वक रहना, हँसना-हँसाना, खिलना-खिलाना, परिवेश का सौन्दर्य बढ़ाना, सुगन्ध और पराग का दान, प्रभु चरणों में समर्पण आदि का विचार करें । तात्पर्य यह कि घण्टों गुलाबपुष्प पर ही सोचते रहें । उद्देश्य है – मन की अस्त-व्यस्त घुड़-दौड़ को परिधिबद्ध व व्यवस्थित करना । अभ्यास से एकाग्रता बढ़ेगी, मन की भाग-दौड़ घटेगी ।

यही अभ्यास किसी महापुरुष के जीवन-वृत्तान्त को चिन्तन की परिधि बनाकर किया जा सकता है । किसी गीत या श्लोक के भावार्थ, संगीत की किसी धुन के विवेचन, किसी गुण विशेष जैसे ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिंसा, संयम, उदारता आदि का सुदीर्घ विश्लेषण-मनन आदि कोई भी आधार लिया जा सकता ।

आत्मोत्कर्ष साधना में ईश्वर भक्ति का अति महत्त्वपूर्ण स्थान है ।'परिपूर्ण व्यक्तित्व' के रूप में ईश्वर की अन्तःकरण में प्रतिष्ठापना की जाती है और फिर उसमें आत्म-सात होने का भावभरा उपक्रम चलता है । इष्टदेव का अर्थ है – अपने विकास का अन्तिम लक्ष्य । हम राम, कृष्ण, हनुमान, सूर्य आदि नर रूपकों में अथवा गायत्री, सरस्वती, लक्ष्मी आदि नारी कलेवरों में इष्टदेव का निर्धारण करते हैं और आत्मोत्कर्ष के उस शिखर तक पहुँचने का संकल्प करते हैं । इष्टदेव के साथ तन्मय अविछिन्न एकाकार हो जाने की साधना 'लय-योग' कहलाती है । भक्ति-मार्ग में इसी दिशा में बढ़ा जाता है । द्वैत को मिटाकर अद्वैत बन जाने की आकांक्षा को आत्म-समर्पण, ईश्वर प्राप्ति कहा जाता है । दीपक पतंग का उदाहरण इसी प्रयोजन को समझाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है ।

आत्म-समर्पण स्तर की साधना में अपने अस्तित्व को भगवान की सत्ता में समर्पित होने का ध्यान करना होगा । परमेश्वर के विराट् रूप का चिन्तन-विवेचन इसमें सहायक होगा । विराट् ब्रह्म को इस चराचर जगत का शरीर मानते हुऐ कल्पनाएँ की जायें । इस विराट् ब्रह्म का एक क्षुद्रतम घटक है अपना 'अहम्' । इसका स्वतन्त्र क्या अस्तित्व ? हमारी सत्ता ब्रह्म सत्ता की ही एक इकाई है । अतः विराट्-ब्रह्म-विश्वमानव के लिए हमें अपने अस्तित्व का समर्पण करते हुए ही जीवन-यापन करना चाहिए । विराट्-ब्रह्म की ध्यान-धारणा का यही निष्कर्ष है । आत्मा को शरीर से भिन्न सत्‌चित्‌-आनन्द स्वरूप मानना और शरीर तथा आत्मा की भिन्नता की गहराई से अनुभूति करना तथा मात्र शारीरिक सुविधाओं में जुटे रहने की व्यर्थता का स्मरण कर आत्म-कल्याण का सोत्साह संकल्प भी ध्यान-प्रक्रिया का एक प्रयोजन है ।

प्राणि-जगत तथा पदार्थ मात्र में एक ही चेतन-तत्व परिव्याप्त है । समस्त विश्व चेतन-सत्ता का स्वरूप है । व्यापक चेतना के साथ एकाग्रता होने पर ऐसी अनुभूति का सातत्य ही भागवत्-प्राप्ति का स्वरूप है ।

इस समस्त विश्व को ईश्वर का विराट् रूप मानकर उसमें अपने आपको समर्पित कर देना साधु और ब्राह्मण जीवन की परम्परा है । विश्व पीड़ा को अपनी पीड़ा मानना और अपनी सुख-सम्पदा का लोक-हित में होम देना लोक-सेवियों की परमार्थ साधना रही ।संकीर्ण स्वार्थपरता को छोड़कर अपने को विश्व परिवार का सदस्य मानना– **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की भावना से ओत-प्रोत

रहकर लोकहित के क्रिया-कलापों में निरत रहना भी आत्म-समर्पण का ही एक अति महत्त्वपूर्ण योग साधन है ।

ध्यान-धारणा की दिव्य-शक्ति

ध्यान एक ऐसी विद्या है जिसकी आवश्यकता हमें लौकिक जीवन में भी पड़ती है और आध्यात्मिक अलौकिक क्षेत्र में भी उसका उपयोग किया जाता है । ध्यान को जितना सशक्त बनाया जा सके, उतना ही वह किसी भी क्षेत्र में उपयोगी सिद्ध हो सकता है । मनुष्य को जो कुछ प्राप्त है उसके ठीक-ठीक उपयोग तथा जो प्राप्त करना चाहिए, उसके प्रति प्रखरता--दोनों ही दिशाओं में ध्यान बहुत उपयोगी है । उपासना क्षेत्र में भी ध्यान की इन दोनों ही धाराओं का उपयोग किया जाता है । अपने स्वरूप और विभूतियों का बोध तथा अपने लक्ष्य की ओर प्रखरता दोनों ही प्रयोजनों के लिए ध्यान का प्रयोग किया जाता है ।

हम अपने स्वरूप, ईश्वर के अनुग्रह-जीवन के महत्त्व एवं लक्ष्य की बात को एक प्रकार से पूरी तरह भुला बैठे हैं । न हमें अपनी सत्ता का ज्ञान है, न ईश्वर का ध्यान और न लक्ष्य का ज्ञान । अज्ञानान्धकार की भूल-भुलैयों में बेतरह भटक रहे हैं । यह भुलक्कड़पन विचित्र है । लोग वस्तुओं को तो अक्सर भूल जाते हैं, सुनी, पढ़ी बातों को भूल जाने की घटनायें भी होती रहती हैं । कभी के परिचित भी विस्मृत होने से अपरिचित बन जाते हैं, पर ऐसा कदाचित ही होता है कि अपने आपे को भी भुला दिया जाय । हम अपने को शरीर मात्र मानते हैं । उसी के स्वार्थों को अपना स्वार्थ, उसी की आवश्यकताओं को अपनी आवश्यकता मानते हैं । शरीर और मन यह दोनों ही साधन जीवन रथ के दो पहिये मात्र हैं । पर घटित कुछ विलक्षण हुआ है । हम आत्मसत्ता को सर्वथा भुला बैठे हैं । यों शरीर और आत्मा पृथकता की बात कही-सुनी तो अक्सर ताजी है, पर वैसा भान जीवन भर में कदाचित ही कभी होता हो । यदि होता भी है तो,बहुत ही धुँधला । यदि वस्तु स्थिति समझ ली जाती है और जीवन सत्ता तथा उसके उपकरणों की पृथकता का स्वरूप चेतना में उभर आता है तो आत्म-कल्याण की बात प्रमुख बन जाती है और वाहनों के लिए उतना ही ध्यान दिया जाता है, जितना कि उनके लिए आवश्यक था । आज तो 'हम' नंगे फिर रहे हैं और वाहनों को स्वर्ण आभूषणों से सजा रहे हैं । 'हम' भूखे मर रहे हैं और वाहनों को घी पिलाया जा रहा है ।'हम' से मतलब है आत्मा और वाहन से मतलब है शरीर और मन । स्वामी-सेवकों की सेवकाई में लगा है और अपने उत्तरदायित्वों को सर्वथा भुला बैठा है, यह विचित्र स्थिति है । वस्तुतः हम अपने आपे को खो बैठे हैं ।

आध्यात्मिक ध्यान का उद्देश्य है, अपने स्वरूप और लक्ष्य की विस्मृति के कारण उत्पन्न वर्तमान विपन्नता से छुटकारा पाना ।'एक बच्चा घर से चला ननिहाल के लिए । रास्ते में मेला पड़ा और वह उसी में रम गया । वहाँ के दृश्यों में इतना रमा कि अपने घर तथा गन्तव्य को ही नहीं अपना नाम पता भी भूल गया ।' यह कथा बड़ी अटपटी लगती है, पर है सोलहों आने सच और वह हम सब पर लागू होती है । अपना नाम पता, परिचय-पत्र, टिकट आदि सब कुछ गँवा देने पर हम असमंजस भरी स्थिति में खड़े हैं कि आखिर हम हैं कौन ? कहाँ से आये हैं और कहाँ जाना था ? स्थिति विचित्र है इसे न स्वीकार करते बनता है और न अस्वीकार करते । स्वीकार करना इसलिए कठिन है कि हम पागल नहीं, अच्छे-खासे समझदार हैं । सारे कारोबार चलाते हैं, फिर आत्म-विस्मृत कहाँ हुए ? अस्वीकार करना भी कठिन है क्योंकि वस्तुतः हम ईश्वर के अंश हैं । महान मनुष्य जन्म के उपलब्धकर्त्ता हैं तथा परमात्मा को प्राप्त करने तक घोर अशान्ति की स्थिति में पड़े रहने की बात को भी जानते हैं । साथ ही यह भी स्पष्ट है जो होना चाहिए, वह नहीं हो रहा है और जो करना चाहिए, वह कर भी नहीं रहे हैं । यही अन्तर्द्वन्द्व उभर कर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में छाया रहता है और हमें निरन्तर घोर अशान्ति अनुभव होती है ।

जीवन का लक्ष्य पूर्णता प्राप्त करना है । यह पूर्णता ईश्वरीय स्तर की ही हो सकती है । आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए उस लक्ष्य पर ध्यान को एकाग्र करना आवश्यक है । महत्त्वपूर्ण इमारतें बनाने से पूर्व उनके नक्शे, छापे एवं मॉडल बनाये जाते हैं । इंजीनियर, कारीगर उसी को देख-देखकर अपना निर्माण कार्य चलाते हैं और समयानुसार इमारत बनकर तैयार हो जाती है । भगवान का स्वरूप और गुण, कर्म, स्वभाव कैसा हो इसकी

ध्यान प्रतिमा विनिर्मित की जाती है और फिर उसके साथ समीपता, एकता तादात्म्यता स्थापित करते हुए उसी स्तर का बनने के लिए प्रयत्न किया जाता है । ध्यान प्रक्रिया का यही स्वरूप है ।

व्यक्तिगत जीवन में कितने ही व्याकुल विचलित कर देने वाले ऐसे प्रसंग आते हैं, जो मनःस्थति को उद्विग्न करके रख देते हैं । इन आवेशग्रस्त क्षणों में मनुष्य संतुलन खो बैठता है । न सोचने योग्य सोचता है, न कहने योग्य कहता है और न करने योग्य करता है । गलती आखिर गलती ही रहती है और उसके दुष्परिणाम भी निश्चित रूप से होते हैं । इसीलिए कहा जाता है कि मुसीबत अकेली नहीं आती अपने साथ विपत्तियों का नया परिवार समेट लाती है । इस कथन में सच्चाई इसलिए है कि जिन कारणों से मानसिक सन्तुलन बिगड़ा था उनकी हानि तो प्रत्यक्ष ही थी । हानि न होती तो उद्वेग क्यों होता ? अब उद्वेग के कारण जो असंगत चिन्तन, कथन, और क्रिया-कलाप आरम्भ हुआ उसने अन्यान्य कितनी ही नई समस्याएँ उत्पन्न करके रख दीं कई बार तो उद्विग्नता शारीरिक, मानसिक अस्वस्थता उत्पन्न करने से भी आगे बढ़ जाती है और आत्महत्या अथवा दूसरों की हत्या कर डालने जैसे संकट उत्पन्न करती है ।

असंतुलन को संतुलन में बदलने के लिए ध्यान-एकाग्रता के कुशल अभ्यास से बढ़कर और कोई अधिक उपयोगी उपाय हो ही नहीं सकता । कई बार मन, क्रोध, शोक, कामुकता, प्रतिशोध, विक्षोभ जैसे उद्वेगों में बेतरह फँस जाता है उस स्थिति में अपना या पराया कुछ भी अनर्थ हो सकता है । उद्विग्नताओं में घिरा हुआ मन कुछ समय में सनकी या विक्षिप्त स्तर का बन जाता है । सही निर्णय कर सकना और वस्तुस्थिति को समझ सकना उसके बस से बाहर की बात हो जाती है । इन विक्षोभों से मस्तिष्क को कैसे उबारा जाये और कैसे उसे संतुलित स्थिति में रहने का अभ्यस्त कराया जाय इसका समाधान ध्यान साधना से जुड़ा हुआ है । मन को अमुक चिन्तन प्रवाह से हटाकर अमुक दिशा में नियोजित करने की प्रक्रिया ही ध्यान कहलाती है । इसका प्रारम्भ भटकाव के स्वेच्छाचार से मन को हटाकर एक नियत निर्धारित दिशा में लगाने के अभ्यास से आरम्भ होता है । इष्टदेव पर अथवा अमुक स्थिति पर मन को नियोजित कर देने का अभ्यास ही तो ध्यान में करना पड़ता है । मन पर अंकुश पाने, उसका प्रवाह रोकने में, सफलता प्राप्त कर लेना ही ध्यान की सफलता है । यह स्थिति आने पर कामुकता, शोक संतृप्तता, क्रोधान्धता, आतुरता, ललक, लिप्सा जैसे आवेशों पर काबू पाया जा सकता है । मस्तिष्क को इन उद्वेगों से रोक कर किसी उपयोगी चिन्तन में मोड़ा-मरोड़ा भी जा सकता है । कहते हैं कि अपने को वश में कर लेने वाला सारे संसार को वश में कर लेता है । आत्म-नियन्त्रण की यह स्थिति प्राप्त करने में ध्यान साधना से बढ़कर और कोई उपाय नहीं है । इसका लाभ आत्मिक और भौतिक दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से मिलता है । अभीष्ट प्रयोजनों में पूरी तन्मयता, तत्परता नियोजित करने से ही किसी कार्य का स्तर ऊँचा उठता है, सफलता का सही मार्ग मिलता है और बढ़ी-चढ़ी उपलब्धियाँ पाने का अवसर मिलता है । आत्मिक क्षेत्र में भी यही तन्मयता प्रसुप्त शक्तियों के जागरण से लेकर ईश्वर प्राप्ति तक का महत्त्वपूर्ण माध्यम बनती है ।

ध्यान योग का उद्देश्य अपनी मूलभूत स्थिति के बारे में, अपने स्वरूप के बारे में सोच विचार कर सकने योग्य स्मृति को वापस लौटाना है । यदि किसी प्रकार वह वापस लौट सके तो लम्बा सपना देखकर डरे हुये व्यक्ति जैसी अन्तःस्थिति हुए बिना नहीं रह सकती । तब प्रतीत होगा कि मेले में खोये हुए बच्चे से, आत्म विस्मृत मानसिक रोगियों से अपनी स्थिति भिन्न नहीं रही है । इस व्यथा से ग्रसित लोग स्वयं घाटे में रहते हैं और अपने सम्बन्धियों को दुःखी करते हैं । हम आत्म-बोध को खोकर भेड़ों के झुण्ड में रहने वाले सिंह की तरह दयनीय स्तर का जीवन-यापन कर रहे हैं और अपनी माता-परमसत्ता को कष्ट दे रहे हैं—रुष्ट कर रहे हैं ।

विस्मरण का निवारण-आत्मबोध की भूमिका में जागरण—यही है ध्यान योग का लक्ष्य । उसमें ईश्वर का स्मरण किया जाता है—अपने स्वरूप का भी अनुभव किया जाता है । जीव और ब्रह्म के मिलन की स्मृति फिर से ताजा की जाती है और यह अनुभव किया जाता है कि जिस दिव्य सत्ता से एक तरह से सम्बन्ध विच्छेद कर रखा गया है, वही हमारी जननी और परम शुभचिन्तक है । इतना ही नहीं वह कामधेनु की तरह सशक्त भी है कि उसका पय-पान करके देवोपम स्तर का लाभ ले सकें । कल्प-वृक्ष की छाया में बैठकर सब कुछ पाया

जा सकता है, ईश्वर सत्ता से सम्पर्क, सानिध्य, घनिष्ठता बना लेने पर भी ऐसा कुछ शेष नहीं रहता जिसे अभाव दारिद्रय अथवा शोक-सन्ताप कहा जा सके। ध्यान योग हमें इस लक्ष्य की पूर्ति में सहायता करता है। स्पष्ट है कि आत्मबोध से बढ़कर मानव-जीवन का दूसरा लाभ नहीं हो सकता। भगवान बुद्ध को जिस वटवृक्ष के नीचे आत्मबोध हुआ था उसकी डालियाँ काट-काट कर संसार भर में इस आशा से बड़ी श्रद्धापूर्वक आरोपित की गयी थीं कि उसके नीचे बैठ कर अन्य लोग भी आत्मबोध का लाभ प्राप्त कर सकेंगे और दूसरे बुद्ध बन सकेंगे। किसी स्थूल वृक्ष के नीचे बैठकर महान जागरण की स्थिति प्राप्त कर सकना कठिन है, पर ध्यानयोग के कल्पवृक्ष की छाया में सच्चे मन से बैठने वाला व्यक्ति आत्मबोध का लाभ ले सकता है और नर-पशु के स्तर से ऊँचा उठकर नर-नारायण के समकक्ष बन सकता है।

मन जंगली हाथी की तरह, जिसे पकड़ने के लिए प्रशिक्षित हाथी भेजने होते हैं। सधी हुई बुद्धि पालतू हाथी का कार्य करती है। ध्यान के रस्से से उसे पकड़-जकड़कर उसे काबू में लाती है और फिर उसे सत्प्रयोजनों में संलग्न हो सकने योग्य सुसंस्कृत बनाती है।

पानी का स्वभाव नीचे गिरना है। उसे ऊँचा उठाना है, तो पम्प चरखी, ढेंकी आदि लगाने की व्यवस्था बनानी पड़ती है। निम्नगामी पतनोन्मुख प्रवृत्तियों से भी हमारी अधिकांश शक्तियाँ नष्ट होती रहती हैं। उन्हें ऊपर उठाने के लिए मस्तिष्क में दिव्य-प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त होने की ध्यान की प्रक्रिया अपनानी पड़ती है।

शक्ति की उपलब्ध करना बड़ी बात नहीं, उसे बिखराव के निरर्थक एवं अपव्यय की अनर्थ मूलक बर्बादी से भी बचाया जाना चाहिए। शक्ति की उपलब्धि का लाभ तभी मिलता है जब उसे संग्रहीत रखने और सत्प्रयोजन में लगाने की व्यवस्था बन पड़े।

धूप, गर्मी से ढेरों से पानी समुद्र तालाबों में से भाप बनकर उड़ता रहता है, चूल्हों से कितनी ही भाप उत्पन्न होती है और उड़ती है। उसका कोई उपयोग नहीं है, किन्तु इंजन में थोड़ा-सा पानी भाप बनाया जाता है। उसी भाप को हवा में उड़ जाने से बचाकर टंकी में एकत्रित किया जाता है और फिर उसका शक्ति प्रवाह एक छोटे छेद में होकर पिस्टन तक पहुँचा दिया जाता है। इतने मात्र से रेलगाड़ी का इन्जन चलने लगता है। चलता ही नहीं दौड़ता भी है। उसकी दौड़ इतनी सामर्थ्य युक्त होती है कि अपने साथ-साथ बहुत भारी लदी रेलगाड़ी के दर्जनों डिब्बे घसीटता चला जाता है।

सेरों बारूद यदि जमीन में फैलाकर माचिस से जलाई जाय तो थोड़ी-सी चमक दिखाकर भक् से जल जायेगी। उसका कुछ भी उपयोगी परिणाम न निकलेगा न कोई आवाज होगी। किन्तु यदि उसे बन्दूक के छोटी नली के अन्दर कड़े खोल वाले कारतूस में बन्द कर दिया जाय और घोड़ा दबाकर नन्हीं सी चिनगारी से स्पर्श कराया जाय तो वह एक तोले से भी कम वजन की बारूद गजब ढाती है। सनसनाती हुई दिशा विशेष की ओर प्रचण्ड गति से दौड़ती है। अपने साथ लोहे की गोली व छर्रों को भी घसीटते ले जाती है और जहाँ टकराती है, वहाँ सफाया उड़ा देती है। बिखरी हुई बारूद की निरर्थकता और उसकी संग्रहीत शक्ति की दिशा विशेष में प्रयुक्त किये जाने की सार्थकता में कितना अन्तर है, इसे सहज ही समझा जा सकता है।

सूर्य की किरणें सुविस्तृत क्षेत्र में बिखरी पड़ी रहती हैं। रोज ही सूर्य निकलता और अस्त होता है। धूप थोड़ी-सी गर्मी, रोशनी पैदा करने जितना ही काम कर पाती है, किन्तु यदि उन किरणों के एक-दो इन्च के बिखराव को आतिशी शीशे द्वारा एक ही केन्द्र पर केन्द्रित कर दिया जाय तो देखते-देखते आग जलने लगेगी और उसे किसी बड़े जंगल में डाल दिया जाय तो दावानल बनकर भयंकर विनाशलीला प्रस्तुत कर सकता है।

स्थूल शक्तियों की तरह सूक्ष्म शक्तियों का लाभ भी उन्हें एकत्रित करके दिशा विशेष में लगा देने से ही सम्भव हो सकता है। मस्तिष्क एक सशक्त बिजलीघर है। इसमें निरन्तर प्रचण्ड विद्युत प्रवाह उत्पन्न होता रहता है और उसके शक्तिशाली कम्पन ऐसे ही अनन्त आकाश में उड़ते-बिखरते नष्ट होते रहते हैं। यदि इस प्रवाह को केन्द्रित करके किसी विशेष लक्ष्य पर नियोजित किया जा सके, तो आश्चर्यजनक परिणाम हो सकते हैं। एकाग्रता की चमत्कारी शक्ति कहीं भी देखी जा सकती है। सरकस में एक से एक बढ़कर आश्चर्यजनक खेल होते हैं। उनमें शारीरिक शक्ति का उपयोग कम

और एकाग्रता का अधिक होता है । एक पहिये की साइकिल, एक तार पर चलना, एक से दूसरे झूले पर उछल जाना, तश्तरियाँ तेजी से लगातार एक हाथ से उछालना और दूसरे से पकड़ना जैसे खेलों में एकाग्रतापूर्वक कुछ अंगों को सधा लेने का अभ्यास ही कौतूहल उत्पन्न करता है ।

द्रौपदी स्वयंवर में चक्र पर चढ़ी हुई नकली मछली की आँख को तीर से वेध देना विजेता होने की शर्त थी । द्रोणाचार्य उसका पूर्व अभ्यास अपने शिष्यों को करा चुके थे । निशाने पर तीर छोड़ने से पहले वे छात्रों से पूछते थे कि तुम्हें क्या दिखाई दे रहा है ? शिष्यगण मछली के आस-पास का क्षेत्र तथा उसका पूरा शरीर दीखने की बात कहते । द्रोणाचार्य उनकी असफलता पहले से ही घोषित कर देते थे । जब अर्जुन की बारी आई तो उसने प्रश्न के उत्तर में कहा–मुझे मात्र मछली की आँख दीखती है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं । गुरुदेव ने उसके सफल होने की पूर्व घोषणा कर दी और सचमुच वही स्वयंवर में मत्स्य वेध की शर्त पूरी करके द्रौपदी विवाह का अधिकारी बन सका ।

एकाग्रता की शक्ति असाधारण है । भौतिक प्रयोजनों में उसका चमत्कारी उपयोग नित्य ही देखा जाता है । बहीखाता सही रखने और मीजान ठीक जोड़ने में एकाग्रता के अभ्यासी ही सफल होते हैं अन्यथा सुशिक्षितों से भी पन्ने पर भूल होने और काँट-फाँस करने की कठिनाई उत्पन्न होती रहती है । वैज्ञानिकों की यही विशेषता है कि वे अपने विषय में तन्मय हो जाते हैं और विचार समुद्र में गहरे गोते लगाकर नई-नई खोजों के रत्न ढूँढ़ लाते हैं ।

लोकमान्य तिलक के जीवन का एक संस्मरण प्रसिद्ध है कि उनके अँगूठे का आपरेशन होना था । डॉक्टर ने दवा सुँघाकर बेहोश करने का प्रस्ताव रखा तो उसने कहा–'मैं गीता के प्रगाढ़ अध्ययन में लगता हूँ, आप बेखटके आपरेशन कर लो ।' डॉक्टर को तब आश्चर्य हुआ, जब उन्होंने बिना हिले-डुले शान्तिपूर्वक ऑपरेशन करा लिया । पूछने पर तिलक ने इतना ही कहा–तन्मयता इतनी प्रगाढ़ थी जिसमें ऑपरेशन की ओर ध्यान ही नहीं गया और दर्द भी नहीं हुआ ।

कहते हैं कि भृंग नाम का उड़ने वाला कीड़ा झींगुर पकड़ लाता है और उनके सामने निरन्तर गुन्जन करता रहता है । उस गुंजन को सुनने और छवि देखते रहने में झींगुर की मनःस्थिति भृंग जैसी हो जाती है । वह अपने को भृंग समझने लगता है, अस्तु धीरे-धीरे उसका शरीर ही भृंग रूप में बदल जाता है । कीट विज्ञानी इस किम्बदंती पर स्नेह कर सकते हैं, पर यह तथ्य सुनिश्चित है कि एकाग्रतापूर्वक जिस भी व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति का देर तक चिन्तन करते रहा जाय, मनुष्य की सत्ता उसी ढाँचे में ढलने लगती है । यह सब इच्छा या अनिच्छा से किसी केन्द्र बिन्दु पर अपने चिन्तन को केन्द्रित करने का परिणाम है ।

असंख्य विशेषतायें और क्षमतायें मानवी सत्ता के कण-कण में भरी पड़ी हैं । दसों इन्द्रियाँ जादू की पिटारियाँ हैं । उन्हें रचनात्मक दिशा में नियोजित रखा जा सके, भटकाव से-बिखराव से बचाया जा सके तो अभीष्ट सफलता की दिशा में द्रुतगति से बढ़ा जा सकता है । मन ग्यारहवीं इन्द्रिय है । मस्तिष्कीय क्षमता का कोई अन्त नहीं । उसके विचार-पक्ष और बुद्धि-पक्ष का ही थोड़ा-सा प्रयोग होता है, शेष चित्त अहंकार वाला अचेतन समझा जाने वाला, किन्तु चेतन से लाखों गुना अधिक शक्तिशाली चित्त और अहंकार कहा जाने वाला भाग तो अविज्ञात स्थिति में निष्प्रयोजन ही पड़ा रहता है । अचेतन का अर्थ यहाँ उपेक्षित कहना भी उचित है । मन और बुद्धि वाले भाग का जितना उपयोग किया जाता है उतना ही चित्त, अहंकार का भी प्रयोग होने लगे तो मनुष्य दुनियादार बुद्धिमानों की तुलना में असंख्य गुनी विचारशीलता, प्रज्ञा, भूमा प्राप्त कर सकता है और मात्र समझदार न रहकर तत्व दृष्टा की स्थिति में पहुँच सकता है ।

विखराव को रोकने की, उपलब्ध शक्ति को संग्रहीत रखकर अभीष्ट प्रयोजन में प्रयुक्त कर सकने की कुशलता को आध्यात्मिक एकाग्रता कहते हैं । अध्यात्म शास्त्र में मनोनिग्रह अथवा चित्त निरोध इसी को कहते हैं । 'मेडीटेशन' की योग-प्रकिया में बहुत चर्चा होती है । इसे एकाग्र हो सकने की कुशलता भर ही समझना चाहिए । सुनने-समझने में यह सफलता नगण्य जैसी मालूम पड़ती है, पर वस्तुतः वह बहुत बड़ी बात है । इस प्रयोग में प्रवीण होने पर मनुष्य अपनी बिखरी चेतना को एकत्रित करके किसी एक कार्य में लगा देने पर जादू जैसी सफलतायें-उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकता है ।

एक मोटा लोहा लेकर उसे किसी कड़ी वस्तु में धँसाया जाय तो उसमें भारी कठिनाई पड़ेगी, किन्तु यदि उसकी नोंक पतली कर दी जाय तो साधारण दबाव से ही वह गहराई तक धँसता चला जायेगा । मोटे तार और सुई की पतली नोंक का अन्तर सहज ही देखा जा सकता है । तार को कपड़े या कागज की तह में ठूँसना कठिन पड़ेगा किन्तु पतली नोंक वाली सुई सरलतापूर्वक प्रवेश करती चली जायेगी । लकड़ी, पत्थर, लोहे जैसे कड़े पदार्थों में छेद करने के लिए नोंकदार बरमे ही काम देते हैं । नोंक की इस चमत्कारी शक्ति का इतना ही रहस्य है कि बड़ी परिधि की अपेक्षा छोटी परिधि में जब दबाव केन्द्रित होता है तो उसकी शक्ति सहज ही बढ़ जाती है ।

जमीन देखने में मिट्टी, धूलि की निरर्थक-सी वस्तु प्रतीत होती है, पर यह उसकी ऊपरी परत का ही मूल्यांकन है । उसे खोदने पर एक से एक बहुमूल्य वस्तुयें मिलती चली जाती हैं । थोड़ा खोदने पर पानी निकल आता है । उससे दैनिक उपयोग के सारे काम चलते हैं । पेड़-पौधों की सिंचाई तथा कल-कारखाने चलते हैं । इससे गहरे उतरने पर अनेक रासायनिक पदार्थ, धातुयें, रत्न, गैस, तेल जैसी बहुमूल्य वस्तुएँ हाथ लगती हैं । स्मरण रखा जाना चाहिए कि यह गहरी खुदाई नोंकदार बरमे ही कर सकते हैं । एकाग्रता से ही शक्तियों का एकीकरण कर सकते हैं । इससे अन्तःक्षेत्र में छिपी हुई विभूतियाँ और बाह्य क्षेत्र में फैली हुई सम्पत्तियाँ प्रचुर परिणाम में उपलब्ध हो सकती हैं और सामान्य-सा जीवन असामान्य विशेषताओं और तज्जनित सफलताओं से भरा-पूरा दृष्टिगोचर हो सकता है । जिस प्रकार जमीन खोदने में एक से एक बढ़कर बहुमूल्य खनिज सम्पदायें निकलती हैं, उसी प्रकार एकाग्रता की शक्ति में व्यक्तित्व के साथ जुड़ी हुई गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टतायें और बल, बुद्धि, विद्या, मैत्री, कीर्ति, प्रतिभा जैसी विशेषतायें प्रचुर परिणाम में उपलब्ध होती रह सकती है ।

एकाग्रता का एक चमत्कार मैस्मेरेज्म-हिप्नोटिज्म भी है । प्रयोगकर्त्ता अपनी दृष्टि को एक बिन्दु पर एकत्रित करने का अभ्यास करता है । अपनी इच्छा शक्ति को समेट कर लक्ष्य केन्द्र में समाविष्ट करता है । फलस्वरूप जादुई शक्ति उत्पन्न होती है और उसमें दूसरों को सम्मोहित करके उन्हें इच्छानुवर्ती बनाया जा सकता है । उनमें मानसिक परिवर्तन लाये जा सकते हैं तथा प्रखरता के नये बीज बोये जा सकते हैं । प्राण-विद्या के द्वारा शारीरिक, मानसिक चिकित्सा के अनेक कठिन कार्य पूरे किये जाते हैं । यह सब एकाग्रता का ही चमत्कार है ।

ध्यानयोग का उद्देश्य मस्तिष्कीय बिखराव को रोककर उसे एक चिन्तन बिन्दु पर केन्द्रित कर सकने में प्रवीणता प्राप्त करना है । इस प्रयोग में जिसे जितनी सफलता मिलती जाती है, उसकी अन्तःचेतना में उसी अनुपात से बेधक प्रचण्डता उत्पन्न होती जाती है । शब्दवेधी बाण की तरह लक्ष्यवेध कर सकना उसके लिए सरल हो जाता है । यदि अध्यात्म उसका लक्ष्य होगा तो उसे क्षेत्र में आशाजनक प्रगति होगी और विभूतियों से, दिव्य ऋद्धि सिद्धियों से उसका व्यक्तित्व भरा-पूरा दिखाई पड़ेगा । यदि लक्ष्य भौतिक उन्नति है तो भी इस एकाग्रता का समुचित लाभ मिलेगा और अभीष्ट प्रयोजनों में आशाजनक सफलता मिलती चली जायेगी । शक्ति का जब, जिस भी दिशा में प्रयोग किया जायेगा उसी में सत्परिणाम प्रस्तुत होते चले जायेंगे ।

एकाग्रता मस्तिष्क में उत्पन्न होते रहने वाली विचार तरंगों के निरर्थक बिखराव को निग्रहीत करना है । छोटे से बरसाती नाले का पानी रोककर बाँध बना लिए जाते हैं और उसके पीछे सुविस्तृत जलाशय बन जाता है । इस जलराशि से नहरें निकालकर दूर-दूर तक क्षेत्र हरा-भरा बनाया जाता है । वही नाला जब उच्छृंखल रहता है तो किनारों को तोड़-फोड़कर इधर-उधर बहता है और उस बाढ़ से भारी बर्बादी होती है । मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाली विचारधारा को किसी विशालकाय विद्युत निर्माण कारखाने से कम नहीं आँका जाना चाहिए । बिजलीघरों की शक्ति सीमित होती है और वे अपनी परिधि के छोटे से क्षेत्र को ही बिजली दे पाते हैं, पर मस्तिष्क के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है । उसकी आज की क्षमता अगले दिनों अनेक गुनी हो सकती है और प्रभाव क्षेत्र, जो आज घर-परिवार तक सीमित है, वह कल विश्व-व्यापी बन सकता है । बिजलीघर के तार निर्धारित वोल्टेज की क्षमता धारण किये रहने के लिए बाध्य हैं, पर मस्तिष्क की प्रचण्ड सत्ता परिस्थिति के अनुसार ही इतनी अधिक क्षमता सम्पन्न हो सकती है कि क्षेत्र, समाज की सीमा को पार करते हुए अपने प्रभाव से समस्त संसार को प्रभावित कर सके और वातावरण को बदल देने में अति महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सके ।

ध्यान की अद्भुत क्षमताओं के कारण उसका उपयोग ईश्वर प्राप्ति, जीवन लक्ष्य प्राप्ति जैसे महानतम उद्देश्यों के लिए भी किया जाता है । उपासना के साथ ध्यान को अविच्छिन्न रूप से जोड़ा जाता है । विभिन्न सम्प्रदायों तथा विधियों में उसके प्रकारों में थोड़ा बहुत अन्तर भले ही हो पर ध्यान का समावेश हर पद्धति में है अवश्य ।

उपासना क्षेत्र में ध्यान साकार और निराकार दो प्रकार के कहे गये हैं । एक में भगवान की अमुक मनुष्याकृति को मान कर चला जाता है, दूसरे में प्रकाश पुञ्ज की आस्था जमाई होती है । तात्विक दृष्टि से यह दोनों ही साकार हैं । सूर्य जैसे बड़े और प्रकाश बिन्दु जैसे छोटे आकार का ध्यान रखना भी तो एक प्रकार का आकार ही है, अन्तर इतना ही तो हुआ कि उसकी मनुष्य जैसी आकृति नहीं है । ध्यान के लिए ईश्वर की परम लक्ष्य की, आकृति बनना आवश्यक है । यों नादयोग, स्पर्शयोग, गन्धयोग को आकृति रहित कहा जाता है, पर ऐसा सोचना अनुपयुक्त है । नादयोग में शंख, घण्टा, घड़ियाल, वीणा आदि की ध्वनियाँ सुनी जाती हैं, पर अनचाहे ही वे वाद्य यन्त्र कल्पना में आते रहते हैं, जिनसे वे ध्वनियाँ निःसृत होती हैं । इस प्रकार गन्ध ध्यान में मात्र गन्ध पर ही चिन्तन एकाग्र नहीं हो सकता, जिस पुष्प की वह गन्ध है, उसकी आकृति अनचाहे ही सामने आती रहेगी । ध्यान में आकृति से पीछा नहीं छूट सकता । मस्तिष्क की बनावट ही ऐसी है कि वह निराकार कहलाने वाले चिन्तन की भी आकृतियाँ बनाकर ही आगे चलता है । वैज्ञानिक के गहरे चिन्तन को निराकार कहा जाता है, पर वस्तुतः वह भी जो सोचता है, उसमें कल्पना क्षेत्र की एक पूरी प्रयोगशाला सामने रहती है और प्रयोगात्मक हलचलें आँधी-तूफान की तरह अपना काम कर रही होती हैं । अन्तर इतना ही होता है कि वह स्थूल प्रयोगशाला के उपकरण छोड़कर वही सारा प्रयोग कृत्य काल्पनिक प्रयोगशाला में कर रहा होता है । ध्यान में आकृति से पीछा छुड़ाना सम्भव नहीं हो सकता । अस्तु किसी को साकार-निराकार के वितंडावाद में न पड़कर ध्यान धारणा के सहारे आत्म चिन्तन का प्रयोजन पूरा करना होगा ।

मानसिक ध्यान की सफलता के लिए मस्तिष्कीय विकास सामान्य स्तर की अपेक्षा कुछ अधिक ऊँचा होना चाहिए । यदि उसे अध्ययन, चिन्तन, मनन आदि के द्वारा गहरा गोता मारने, कोमल संवेदनाओं को उभारने, किसी बात पर देर तक चिन्तन कर सकने योग्य विकसित न किया गया होगा तो समुचित ध्यान कर सकना सम्भव ही न हो सकेगा । अविकसित मानसिक स्तर के लोग इन्द्रिय सम्वेदना भर अनुभव करते हैं, वे कान या आँख की सहायता से देख या सुनकर कुछ सोच-समझ सकते हैं । कवियों, वैज्ञानिकों एवं दृष्टाओं जैसा सूक्ष्म चिन्तन उनके लिए सम्भव नहीं होता । अस्तु उन्हें उनकी स्थिति के अनुरूप दृश्य प्रतिमाओं के आधार पर परमात्मा की समीपता का उपासना-उद्देश्य पूरा कराना होता है ।

हर व्यक्ति नये क्षेत्र में प्रवेश करते समय बालक ही होता है, चाहे वह अन्य विषयों में कितना ही सुयोग्य क्यों न हो ? कोई अच्छा वकील अपने विषय का विशेषज्ञ हो सकता है, पर उसे नया शिल्प सीखते समय बाल कक्षा के छात्र की तरह ही आरम्भ करना होगा । उपासना जिनका विषय नहीं रहा, वे अन्य विषयों के विद्वान होते हुए भी इस क्षेत्र में नौसिखियों की तरह ही प्रवेश करते हैं । अस्तु उन्हें ध्यान प्रक्रिया का अभ्यास करने के लिए प्रतीक पूजा का आश्रय लेना सुविधाजनक ही रहता है । छतों पर सीमेण्ट, गिट्टी, लोहे का स्लैव डालने के लिए उसके नीचे 'सहारे' खड़े करने होते हैं । छत कड़ी हो जाने पर 'सहारे' निकाल दिये जाते हैं और फिर वह अपने आप खड़ी रहती है । इतना ही नहीं, अपने ऊपर वजन भी उठा लेती है किन्तु आरम्भ में जबकि वह ढलाई गीली थी, तो बिना सहारे के काम नहीं चल सकता था । प्रतीक पूजा की आरम्भिक अवस्था में आवश्यकता पड़ती ही है । निराकारवादी व्यक्ति रूप में न सही अन्य किसी प्रतीक को माध्यम बनाकर अपना काम चलाते हैं । नमाज पढ़ते समय कावा की तरफ मुँह किया जाता है । कावा का अर्थ ईश्वरीय शक्ति का विशेष प्रतिनिधित्व करने वाली इमारत है । दूसरे लोग सूर्य आदि की प्रकाश ज्योति को आधार बनाते हैं । कुण्डलिनी जागरण, चक्रवेधन आदि योगाभ्यासों में भी अमुक स्थानों को दिव्य शक्ति का केन्द्र मानकर वहाँ अपनी इच्छा शक्ति नियोजित करनी पड़ती है । यह भी ध्यान के ही रूप हैं और इनमें आकृति का सहारा लेना होता है ।

ध्यान में केवल रूप देखते रहना भर पर्याप्त नहीं उसमें गहरी तन्मयता पैदा करनी होती है। साकार उपासना में इष्ट देव के समीप—अति समीप होने और उनके साथ लिपट जाने-उच्चस्तरीय प्रेम के आदान-प्रदान की गहरी कल्पना करनी चाहिए। इसमें भगवान और जीव के बीच माता-पुत्र, पति-पत्नी, सखा-सहोदर, स्वामी-सेवक जैसा कोई भी सघन सम्बन्ध माना जा सकता है, इससे आत्मीयता को अधिकाधिक घनिष्ठ बनाने में सहायता मिलती है। लोक व्यवहार में स्वजनों के बीच आदान-प्रदान उपहार और उपचार की तरह चलते हैं। मन, वचन, कर्म से घनिष्ठता एवं प्रसन्नता व्यक्त की जाती है। भेंट उपहार में कई तरह की वस्तुयें दी जाती हैं। नवधा भक्ति में ऐसे ही आदान-प्रदान की वस्तुपरक अथवा क्रिया परक कल्पना की गई है। वस्तुतः यहाँ प्रतीकों को माध्यम बनाकर भावनात्मक आदान-प्रदान की गहराई में जाया जाना चाहिए। भक्त और भगवान के बीच सघन आत्मीयता की अनुभूति उत्पन्न करने वाला आदान-प्रदान चलना चाहिए। भक्त अपनी अहंता को क्रिया, विचारणा, भावना एवं सम्पत्ति को भगवान के चरणों पर अर्पित करते हुए सोचता है कि यह सारा वैभव उसी दिव्य सत्ता की धरोहर है। इसका उपयोग व्यक्तिगत वासना, तृष्णा के लिए नहीं ईश्वरीय प्रयोजनों के लिए किया जाता है। वह स्वयं तो मात्र खजान्ची-स्टोरकीपर भर हैं।

ध्यान का एकमात्र उद्देश्य भगवान और भक्त के बीच एकात्म भाव की स्थापना करना है, मात्र किसी आकृति का ध्यान चित्र देखते भर रहने से काम नहीं चलता। भक्त अपने स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों को क्रिया, विचारणा और भावना को ईश्वर अर्पण करके उसे मात्र दिव्य प्रयोजनों में नियोजित रखने का संकल्प सघन करता है। इसके साथ-साथ भौतिक धन सम्पत्ति तो अर्पित हो ही जाती है। समर्पण का तात्पर्य है—व्यक्तिगत भौतिक महत्त्वाकांक्षाओं की समाप्ति और उसके स्थान पर ईश्वर इच्छा की उच्च आदर्शों की अपने ऊपर नियन्त्रण करने वाली स्थापना। इसी मान्यता को अन्तःकरण में यथार्थवादी निष्ठा के साथ स्थापित करने को आत्म-समर्पण कहते हैं। ध्यान के द्वारा इसी निष्ठा के परिपक्व किया जाता है।

भक्त का समर्पण बदले में भगवान का अनुग्रह आश्वासन। इसी के तरह-तरह के लौकिक स्वरूप चित्र कल्पित किये जा सकते हैं। साकार ध्यान में अपनी रुचि की कल्पनायें करते रहने और उस दृश्यावली में डूबे रहने की पूरी छूट है। ध्यान की एकाग्रता इसी सीमा तक है कि उसमें भक्त और भगवान के बीच होने वाले आदान-प्रदान की कल्पनायें ही चलनी चाहिए, भौतिक लाभ का प्रयोजन आड़े नहीं आना चाहिए। पूर्ण एकाग्रता जिन्हें शून्यावस्था, योगनिद्रा या समाधि कहते हैं, बहुत ऊँची स्थिति है। मन कहीं जाये ही नहीं एक ही बिन्दु पर केन्द्रित रहे, ऐसा हो सकने को ही तुरीयावस्था या समाधि कहते हैं। यह आरम्भिक साधना में लगभग असम्भव ही है, इसकी बात नहीं सोची जानी चाहिए। ध्यान साधना का व्यावहारिक रूप इतना ही है कि भक्त और भगवान के बीच उच्चस्तरीय आदान-प्रदान चलना चाहिए। भक्त अपनी समस्त आकांक्षाओं और सम्पदाओं को ईश्वर के लिए समर्पित करता है और इसके बदले में वह सब कुछ पाता है, जो ईश्वर स्वयं है। मनुष्य को स्पष्ट करने वाली ईश्वरीय सत्ता अपनी अनुभूति, आनन्द और उल्लास के रूप में छोड़ती है। भगवान से कुछ मिला या नहीं इसकी परख इस रूप में की जा सकती है कि उल्लास-आदर्शवादिता के प्रति उत्कण्ठा भरा उभार अन्तःकरण में उमंगना आरम्भ हुआ या नहीं। सद्भावना और सत्प्रवृत्ति अपनाने वाले को सहज ही मिलते रहने वाला आत्म-संतोष, आनन्द, अनुभव में आता है या नहीं।

ईश्वर दर्शन के सम्बन्ध में यह भ्रान्त धारणा निरस्त की जानी चाहिए कि सपने में या जागृति में इष्टदेव की किसी आकृति की झांकी मिलती है अथवा प्रकाश आदि दीखने जैसा कोई चित्र-विचित्र दृश्य दिखाई पड़ता है। यदि ऐसा किसी को होता हो तो उसे झाड़ी का भूत, रस्सी का साँप दीखने की तरह अपने संकल्पों की मानसिक प्रतिक्रिया भर समझना चाहिए। जब चेतना की कोई आकृति हो ही नहीं सकती तो फिर उसका निर्भान्त दृश्य दिखाई ही कैसे दे सकता है ? इस तथ्य को हजार बार हृदयंगम कर लिया जाना चाहिए कि ईश्वर का जीवन में समावेश श्रेष्ठ वृत्तियों के रूप में होता है। आदर्शवादी आकांक्षायें प्राणप्रिय प्रतीत होने लगने और तदनुरूप गति-विधियाँ अपनाने पर मिलने वाले आनन्द-उल्लास की अनुभूति का स्तर ही ईश्वर प्राप्ति का एकमात्र प्रमाण है।

निराकार ध्यान में प्रायः सर्वत्र सूर्य के प्रकाश को ही माध्यम बनाया जाता है। प्रभातकाल के उदीयमान सूर्य का सविता देवता के प्रतीक रूप में दर्शन, उसकी दिव्य किरणों का शरीर मन और अन्तरात्मा में प्रवेश, उस प्रवेश की सत्कर्म, सद्ज्ञान के रूप में प्रतिक्रिया। इसी परिधि में निराकार ध्यान धारणा परिभ्रमण करती है। यज्ञाग्नि रूपी ईश्वर में आहुति द्रव्य की तरह जीव सत्ता का समर्पण नाले का गंगा में, बूँद का समुद्र में सम्पादन, दीप ज्योति का सूर्य ज्योति में विलय अर्घ्य जल का भाप बनकर व्यापक क्षेत्र में विस्तार, पतंगे का दीपक को समर्पण जैसे कितने ही दृश्य-चित्र कल्पना क्षेत्र में बनाये जा सकते हैं और उनके सहारे एकात्म भाव की अनुभूति का आनन्द लिया जा सकता है।

यहाँ यह तथ्य स्मरणीय है कि ध्यान में एकाग्रता का महत्व तो है किन्तु एकाग्रता ही ध्यान है यह भ्रम मन से निकाल देना चाहिए। एकाग्रता का अभ्यास क्रमशः होता है और वह समय साध्य है। इसलिए उसमें उतावली बरतने की आतुरता प्रदर्शित करने की तनिक भी आवश्यकता नहीं। निरन्तर जीवन लक्ष्य का ध्यान रखा जाय तो उस धारा प्रवाह को 'एक दिशा' कहा जाता है और उससे एकाग्रता का वास्तविक प्रयोजन पूरा हो सकता है।

ध्यान धारणा में एक बिन्दु पर मन एकाग्र करने की बात बहुत आगे की है। पहले तो साकार ध्यान में साकार की ध्यान प्रतिमायें बनानी पड़ती हैं। निराकारवादी भी सूर्य आदि का कोई न कोई रूप बनाते हैं अथवा नादयोग में विभिन्न शब्दों को सुनते हैं। रूप या शब्द का ध्यान करने के माध्यम से एकाग्रता का अभ्यास किया जाता है, पर विचारपूर्वक देखा जाय तो प्रतीत होगा कि उस ध्यान प्रक्रिया में भी बिखराव ही बिखरव भरा पड़ा है। इष्टदेव की प्रतीक छवि में उनके अंग-प्रत्यंग, वस्त्र-आभूषण, आयुध, वाहन आदि का बड़ा आवरण रहता है और उस विस्तृत क्षेत्र में यहाँ से वहाँ उड़ते-फिरने की मन को पूरी छूट रहती है। इष्टदेव यदि शिव हैं तो ध्यान करते समय साधक को छूट है कि वह उनके सिर पर टँगे चन्द्रमा को, गंगा के उद्भव को, लिपटे हुए सर्पों को, कटि प्रदेश में पहने व्याघ्र चर्म को, गले की मुण्डमाला को, नान्दी वाहन की छवि को देखे और उस सीमित ध्यान क्षेत्र में कहीं भी दौड़ लगाता रहे। फिर एकाग्रता कहाँ हुई ?

निराकारवादी प्रायः सूर्य किरणों का शरीर के रोम-रोम में प्रवेश करने का अथवा चित्र-विचित्र ध्वनियाँ सुनने का अभ्यास करते हैं। इसमें भी चिन्तन विस्तार का उतना ही क्षेत्र विद्यमान है, जितना साकारवादी मान्यताओं में। जब मन को इतनी दौड़-धूप करने और इतने भिन्न प्रकार के अनुभव करने की छूट रही तो वह एकाग्रता कैसे बनी ?

वस्तुतः जिसे हम एकाग्रता कहते हैं वह सब चित्त की भाग-दौड़ को असीम से रोककर एक सीमित क्षेत्र में प्रतिबन्धित करता है। मन बार-बार भागता है और उसे पकड़-पकड़ कर बार-बार निश्चित ध्यान परिधि में लाया जाता है। यही प्रयोग चलता रहता है। पूर्ण एकाग्रता समाधि अवस्था है और वह पूर्णता पर जा पहुँचने पर ही मिलती है। उसके लिए किसी को भी अधीर नहीं होना चाहिए।

हजार बार इस तथ्य को समझ लेना चाहिए कि पूर्ण एकाग्रता साधना काल की आरम्भिक प्रक्रिया या आवश्यकता किसी भी दृष्टि से नहीं है। उसके लिए न तो लालायित होना चाहिए न खिन्न। प्रयत्न करते रहना भर पर्याप्त है। मीरा, सूर, चैतन्य, समकृष्ण परमहंस आदि भक्तजनों की भाव स्थिति का सूक्ष्म अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि वे एकाग्रता नहीं तन्मयता प्राप्त कर सके और उसी में उनका लक्ष्य मिल गया। भक्त सम्प्रदाय में प्रणय, वियोग, अश्रुपात, समर्पण आलिंगन जैसे भावोन्मादों की घटायें ही उमड़ती रहती हैं। उस मनःस्थिति में एकाग्रता किसी भी प्रकार संभव नहीं। यदि एकाग्रता ही सर्वोपरि रही होता तो भक्तजनों पर हर घड़ी छाया रहने वाला भावोन्माद तथा उसके उभार में उठने वाले हास्य, रोदन, नृत्य, अवसाद आदि की उद्विग्नता लक्ष्य प्राप्ति में बहुत बड़ी बाधा बन गई होती, पर ऐसा हुआ नहीं है।

यहाँ एकाग्रता का महत्त्व घटाया नहीं जा रहा है और न उसे त्याज्य या उपेक्षणीय कहा जा रहा है। एकाग्रता की उपयोगिता में किसी को सन्देह नहीं होना चाहिए, इतने पर भी सर्वसाधारण के मन में जमी हुई इस भ्रान्ति का निराकरण होना ही चाहिए कि–'भजन में मन लगाना अर्थात् चित्त का एकाग्र होना आवश्यक है, वह है तो भजन की सफलता, नहीं है तो असफलता', इस चिन्तन को हटाकर यों सोचना चाहिए कि 'चित्त

निरोध नहीं' 'चित्तवृत्तियों का निरोध' आवश्यक है। एकाग्रता नहीं 'एक दिशा' अभीष्ट है। यदि ऐसा बन पड़े तो समझना चाहिए कि ध्यान साधना की सही पृष्ठभूमि बन चली।

समूची ब्रह्म सत्ता को समझा जा सकना मनुष्य की छोटी बुद्धि के लिए असम्भव है। ब्रह्माण्ड बहुत बड़ा है, उसका विस्तार हमारी कल्पना शक्ति से बाहर है। अपनी पृथ्वी पर प्रकृति की जो कार्य पद्धति है, अन्य लोकों में उससे भिन्न है। पृथ्वी के प्राणधारियों की आकृति-प्रकृति चिन्तन एवं जीवन-यापन पद्धति में आकाश-पाताल जैसा अन्तर है। फिर अन्य लोकवासी चैतन्य प्राणियों की रीति-नीति के बारे में तो कहा ही क्या जा सकता है? समूचा ब्रह्म न तो हमारी समझ में ही आ सकता है और न उसे समझने की आवश्यकता है। मानवी चेतना के साथ ब्रह्म चेतना का जितना अंश सम्बन्धित है उस भाग को ईश्वर या परमेश्वर कहते हैं। हमारे आनन्द एवं उत्थान में उसी की भूमिका रहती है। अस्तु साधना के लिए उसी छोटी ब्रह्म परिधि के साथ हमारा सम्पर्क मिला लेना पर्याप्त माना गया है। उपासना का केन्द्र बिन्दु यह ईश्वर ही रहता है।

आवश्यकतानुसार विशेष सूक्ष्म शक्ति उपार्जन करने के लिए अमुक देवी-देवताओं की उपासना की खण्ड साधना भी की जा सकती है, पर अपना अनुभव और परामर्श यह है कि समग्र ब्रह्म की साधना ही सर्वोत्तम है। आहार वही आदर्श माना जाता है जिसमें पोषण के सभी तत्व मौजूद हों। प्रोटीन कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, अकेले उसी को खाना लाभदायक न रहेगा। अमुक देवता की उपासना अकेली प्रोटीन, अकेली कैल्शियम खाने की तरह हैं। आवश्यकता पड़ जाने पर चिकित्सा उपचार की तरह कोई विशेष तत्व अमुक मात्रा में लिया जाता है, इसी प्रकार विशेष प्रयोजन के लिए कोई देव-साधना उपयोगी हो सकती है, पर सर्वतोमुखी प्रगति के लिए, सर्वकालिक साधना समग्र ब्रह्म की ही होनी चाहिए।

कई तरह के देवी-देवताओं की, कई प्रकार की आकृतियों का संग्रह करने में ध्यान बँटता है और निष्ठा विकेन्द्रित होती है। पूजा-स्थली एवं ध्यान प्रक्रिया में चित्र-विचित्र, साज-सज्जा इकट्ठी इसलिए की जाती है कि कई देवता कई तरह के वरदान देंगे और सभी से थोड़ा-थोड़ा सम्बन्ध बना रहने से पंचमेल स्वाद मिलेगा और भी कई तरह के लाभ होंगे। पर यह मान्यता उपासना के क्षेत्र में उल्टी बैठती है। ध्यान और निष्ठा को केन्द्रित रखना उपासना का महत्त्वपूर्ण आधार है। उसे बिखेरना नहीं चाहिए। हमने एक ही रूप को पर्याप्त माना है और परामर्श मानने वालों को अपनी ही भाँति एक ही ध्यान के लिए अनुरोध किया है। सविता देवता के रूप में परब्रह्म की उपासना सर्वोत्तम है। 'प्रकाश' की साधना साकार और निराकारवादी दोनों ही पक्षों के लिए समाधान कारक है। सभी धर्म सम्प्रदायों ने किसी न किसी रूप में प्रकाश ध्यान की महत्ता स्वीकार की है। हर साधक उसे अपने इष्टदेव का चेतनात्मक रूप मान सकता है। इसलिए उसे सार्वभौम भी कह सकते हैं। गायत्री मंत्र का देवता सविता है। छवि स्थूल, विचारणा सूक्ष्म, भावना कारण इन तीनों का समन्वय करते हुए अपना उपास्य सद्ज्ञान रूपी सूर्य हो, उसकी किरणों में गायत्री मंत्र की सदाशयता और अन्तराल में अनन्य प्रेम से ओत-प्रोत मातृ सत्ता की झाँकी की जा सकती है। इस ध्यान में तीनों शरीरों की आवश्यकता पूरी कर सकने जैसे सभी तथ्य विद्यमान हैं। साकार, निराकार का भी इसमें समन्वय है। उच्चस्तरीय उपासना के लिए यही ध्यान प्रतिमा सर्वोत्तम समझी गई है।

ईश्वर सत्-चित्-आनन्द रूप है। सत् और चित् का भाव प्रकाश और अपने परम हितैषी के रूप में उसका ध्यान करने से आता है। आनन्द रूप में उसकी गहन अनुभूति के लिए प्रकाश की अपेक्षा रसरूप में उसका ध्यान अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। खेचरी मुद्रा द्वारा भगवान का ध्यान रसरूप में किया जाता है। शास्त्र वचन है 'रसोवै सः'। हमारे जीवन में अतृप्ति भटकाव, शुष्कता, इसीलिए है कि हम ईश्वर को रस रूप, आनन्द रूप में अनुभव नहीं कर पाते।

खेचरी मुद्रा में जीभ तालू से लगाकर भगवान को रस प्रवाह के रूप में अवतरित किया जाता है। हमारा मस्तिष्क शिव का कैलाश है, विष्णु का क्षीरसागर है। ब्रह्म का सहस्रदल कमल, सहसार चक्र भी यही है। विश्वव्यापी सूक्ष्म चेतना से हमारा यही केन्द्र बनता है। अस्तु रस रूप में आनन्द रूप में ईश्वरीय चेतना के प्रवाह की अनुभूति भी इसी केन्द्र से हो सकती

है । उपासना में जप और ध्यान के अतिरिक्त खेचरी मुद्रा का भी समावेश इसी दृष्टि से किए जाने का निर्देश दिया गया है ।

प्रकाश का इष्टदेव की शक्ति से अपने रोम-रोम के प्रभावित होने का ध्यान जप के साथ भी चल सकता है तथा स्वतंत्र रूप से भी इसे किया जा सकता है । खेचरी मुद्रा में जीभ की विशिष्ट स्थिति रखी जाने से जप नहीं चल सकता इसलिए यह ध्यान अलग से ही करना पड़ता है ।

ध्यान का सही स्वरूप हम समझें तथा उसका उपयोग ठीक ढंग से कर सकें तो हमारी लौकिक और पारलौकिक प्रगति के अनेक व्यवधान दूर हो सकते हैं । इसका महत्व समझते हुए अपने जीवन में इसका नियमित और संतुलित क्रम बिठाया जाना हर दृष्टि से कल्याणकारी है ।

जप कलेवर और ध्यान उसका प्रखरता सम्पन्न प्राण

मस्तिष्क की संरचना ऐसी है कि उसे स्थिर नहीं रखा जा सकता । स्थिरता के लिए प्रयत्न करने पर मूर्छा या समाधि की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । मन पूर्णतः स्थिर तो मृत्यु के उपरान्त ही होता है । अन्य जागृति और सुषुप्ति दोनों ही परिस्थितियों में वह किसी न किसी तरह अपना काम करता ही रहता है । स्वप्न देखने से लेकर रक्त संचार आकुंचन जैसे क्रिया-कलाप वह निद्रावस्था में भी करता ही रहता है ।

उपासना के समय मन के उचटने और भागने की शिकायत इसलिए रहती है कि उसे कुछ काम नहीं दिया जाता । वाणी से मन्त्रोच्चार हाथ से माला घुमाना, शारीरिक श्रम हैं । इसके साथ मनोयोग का लगना आवश्यक है । अभीष्ट शक्ति तभी उत्पन्न होगी । इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए जप के साथ ध्यान करने का विधान है । आरम्भिक साधना में वे दोनों आवश्यक रूप से जुड़े रहते हैं । आगे चलकर ऐसी स्थिति आती है जब मात्र ध्यान से ही काम चल जाता है और जप की आवश्यकता नहीं रहती । इससे स्पष्ट है कि जप से भी अधिक महत्त्व ध्यान का है । जप करने के समय तो ध्यान रत रहना ही चाहिए । अन्यथा खाली मन इधर-उधर दौड़ता ही रहेगा । फलतः उपासना के माध्यम से मिलने वाले लाभों को प्राप्त कर सकना सम्भव न होगा । ध्यान की प्रक्रिया अपनाकर ही जप के समय मन की भागदौड़ पर नियन्त्रण करना सम्भव हो सकता है । ध्यान को जप का अनिवार्य अंग माना जाना चाहिए ।

शरीर के द्वारा किये गये कर्मकाण्डों के साथ मनोयोग जुड़ेगा तो वह प्रक्रिया सर्वांगपूर्ण बनकर लाभदायक परिणाम उत्पन्न करेगी । शरीर और मन अलग-अलग रहे तो बिजली के दो तार अलग-अलग रहने पर विद्युत प्रवाह जिस तरह उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार साधना भी निर्जीव ही बनी रहेगी । जप के समय मन इधर-उधर अनियन्त्रित न भागे, इसके लिए उसे ध्यान का काम मिलना चाहिए । यदि पहले से ही इसके लिए क्रम बनाकर नहीं रखा गया है तो मन का इधर-उधर भागते फिरना स्वाभाविक है । जप से शब्द प्रवाह की धारा तो बहती है पर मन को रोकने में उसका कोई विधान नहीं है । अस्तु जप और ध्यान दोनों को जोड़कर रखा गया है । दोनों के समन्वय की स्पष्ट रूपरेखा पहले से ही सामने न रहने पर यह शिकायत उत्पन्न होती है कि जप के समय मन नहीं लगता और इधर-उधर भागता फिरता है ।

उपासना के समय मन सभी सांसारिक बातों, परिस्थितियों, व्यक्तियों, समस्याओं, से सर्वथा विरत रहना चाहिए । उस समय ऐसा अनुभव करना चाहिए कि अपना निवास आत्म लोक में है । आत्मा की आवश्यकता ही इस समय पूरी की जाती है । इन घड़ियों में ब्रह्म सम्पर्क ही एक मात्र लक्ष्य है । सूक्ष्म लोक में, ब्रह्म लोक में विचरण करने का ब्रह्म सक्रियता का अनुदान एवं आनन्द लेना ही इस समय की एकमात्र आवश्यकता मानी जानी चाहिए । यदि आत्मा और परमात्मा के समीप बैठने और आदान-प्रदान के आधार पर मिलने वाली अनुभूतियों के स्वरूप पहले से ही चित्रपट की तरह संजो कर रखे जायें तो फिर नियत समय पर मन को एक बना बनाया काम मिल जायेगा और वह उसमें सहज ही संलग्न होने लगेगा ।

उपासना में जप प्रधान है । जप में वाणी की उच्चारण क्षमता द्वारा मस्तिष्क को प्रभावित किया जाता है । एक ही प्रकार के विचार एक समय में मस्तिष्क में छाये रहें इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक ही प्रकार की शब्दावली को लगातार जपा जाता है । इस पुनरावृत्ति

प्रक्रिया को लगातार जारी रखने में मस्तिष्कीय विद्युत प्रवाह का एक चक्र बन जाता है जिससे चेतना को उस विशेष स्थिति में ढलने का अवसर मिलता है जिसके लिए मंत्र की संरचना हुई है। मंत्र जप के सूक्ष्म महात्म्य असंख्य हैं पर मोटी जानकारी के रूप में यह समझा जा सकता है कि चेतना के स्तर को किसी विशेष स्तर का बनाने में मंत्र जप का बहुत महत्त्व है। जप और ध्यान दोनों को मिला देने से एक पूर्ण साधना चक्र बनता है। मुख गह्वर में होने वाली जप श्रम की सार्थकता ध्यान के रूप में मनोयोग का सम्मिश्रण हो जाने से ही बनती है।

माला को या तो गौमुखी के थैली में रखा जाय अथवा नीचे धुला तोलिया बिछा लिया जाय। हर हालत में भूमि या मैले कपड़ों से बचाते हुए उसकी पवित्रता का सम्मान करने का प्रयत्न किया जाय।

गायत्री जप में होठ, कंठ, जिव्हा, तो चलते रहते हैं पर उच्चारण इतना अस्पष्ट होता है कि समीप बैठा व्यक्ति उसकी ध्वनि तो सुने पर साफ तौर से यह न समझ सके कि क्या कहा जा रहा है। माला में तर्जनी उँगली का स्पर्श नहीं किया जाता। अगूँठा, मध्यंमा और अनामिका इन तीनों से ही मनके घुमाते रहते हैं। मध्य का बड़ा दाना 'सुमेरु' उल्लंघन नहीं किया जाता एक माला पूरी होने पर उसे वापस लौटा लेते हैं।

एकाग्रता की शक्ति सर्वविदित है। बिखराव का केन्द्रीकरण कर लिये जाने पर इस संग्रहीत शक्ति का उपयोग सीमित प्रयोजन में होता है तो अतिरिक्त चमत्कार दीखेगा ही। आतिशी शीशे पर सूर्य की किरणें एकत्रित करली जायें तो उसके केन्द्रबिन्दु पर आग जलने लगती है। भाप को एक सीमित छेद से होकर निकालने पर उसकी शक्ति से रेल का इन्जन दौड़ने लगता है। बारूद का विस्फोट बन्दूक की नली से घेर देने पर भयंकर आवाज और शक्ति के साथ गोली छूटती है। बाँध का पानी छोटे गलियारे से निकालने पर वहाँ बिजली घर चलने लगते हैं। विचारों का बिखराव एक समिति केन्द्र पर इकट्ठा कर देने से मानसिक दक्षता कितनी अधिक बढ़ जाती है उसे हर कोई जानता है।

मनोयोग से उत्पन्न दक्षता के चमत्कार किसी से छिपे नही हैं। अर्जुन का मछली वेध कर स्वयंवर जीत सकना मात्र एकाग्रता की दक्षता से ही सम्भव हो सका। 'मिडीटेशन' की चर्चा सर्वत्र सुनी जाती है। योगाभ्यास में भी उसकी धूम है। पर यहाँ एक बात विशेष रूप से स्मरण रखने की है कि आत्म साधना के प्रसंग में एकाग्रता का अभ्यास प्रथम चरण है उसे त्राटक के माध्यम से सिखाया जाता है। मेंस्मरेजम में भी त्राटक की ही प्रधानता है। इससे मनोनिग्रह होता है। हर संयम साधना में बिखराव रोकने की शिक्षा दी जाती है। मस्तिष्कीय भगदड़ को सीमाबद्ध करने के लाभ में संदेह करने की गुन्जायश नहीं है किन्तु ध्यान का उद्देश्य इतने भर से पूरा नहीं हो सकता। ध्यान योग को एकाग्रता साधन में बहुत ऊँची बहुत आगे की स्थिति मानी जानी चाहिए।

ध्यान में श्रद्धा की प्रमुखता रहती है। श्रद्धा-ईश्वर के प्रति उत्कृष्टता के प्रति इतनी प्रगाढ़ होनी चाहिए कि समीपता भर से काम न चले, परस्पर एकीभूत होने की भावना उभरे। मित्र की समीपता से काम चल सकता है। किन्तु पति-पत्नी के बीच समीपता मात्र पर्याप्त नहीं। उनमें सघन आत्मीयता का स्तर इतना ऊँचा होना चाहिए कि दोनों एक दूसरे के अन्तःकरण में निवास करने लगें। अपनी सत्ता को साथी की सत्ता में घुला दें। दोनों की आकांक्षायें दिशाधारायें एक बन जायें। स्वार्थों में भिन्नता न रह कर पूर्ण एकता स्थापित हो जाय। अर्धांगिनी की यही स्थिति होनी चाहिए। अर्धनारी नटेश्वर की प्रतिमाओं में आधा अंग शिव का आधा पार्वती का दिखाया गया है, ऐसी प्रतिमायें राधा कृष्ण और सीताराम की भी मिलती हैं जिनमें आधा अंग नर का और आधा नारी का दिखाया गया है। ध्यान योग में इसी आत्म समर्पण की स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न किया जाता है। मुक्ति के चार स्तर हैं उनमें सालोक्य, सामीप्य, तो मैत्री, स्थिति है। सारुप्य और सायुज्य को समर्पण माना गया है। आत्मा और परमात्मा के बीच इसी स्तर की एकता होनी चाहिए जिसमें भक्त को भिक्षुक और भगवान को दानी बनकर रहना पड़े। दोनों के बीच एकत्व का अद्वैत का भाव विकसित हो। दोनों की आकांक्षाएँ आस्थाएँ और मान्यताएँ एक जैसी हों। मतभेद की गुन्जायश न रहे। यही ध्यान योग का लक्ष्य है।

दूध पानी में मिलकर तदाकार हो जाता है। लकड़ी आग में गिरकर स्वयं अग्नि बन जाती है। बूँद समुद्र में मिल कर समुद्र की विशालता अपना लेती है। नाला नदी में मिलकर अपना नाम रूप गँवा देता है। किन्तु

स्वयं नदी बनने का गौरव प्राप्त करता है और नमक पानी में मिलकर एकता स्थापित कर लेता है। पतंगा दीपक में अपने प्राणों की लौ मिला देता है। पत्नी अपना सर्वस्व पति में घुला देती हैं। यही समर्पण भाव अध्यात्म साधना का चरम लक्ष्य है। इसी स्थिति में आदान-प्रदान का द्वार खुलता है। सर्वतोभावेन समर्पित भक्त ईश्वरत्व प्राप्त कर लेता है। पत्नी का समर्पण उसे पति के शरीर मन और साधनों का स्वामित्व दिला देता है। लकड़ी अग्नि में गिरकर अपना स्वरूप तो खोती है पर साथ ही अग्नि बन जाने का श्रेय भी प्राप्त करती है।

ध्यानयोग में एकाग्रता प्रथम चरण है। इसके लिए भौतिकता से विरति और आत्मिकता के आधार पर ब्रह्म से ब्रह्म भूमिका से प्रगाढ़ प्रीति बढ़ानी पड़ती है। विचारों की एकाग्रता में भाव श्रद्धा का समावेश आवश्यक नहीं पर ध्यान धारणा का प्राण तो यह श्रद्धा तत्व ही है। यदि उसे न जोड़ा गया तो इष्टदेव की छांव को देर तक ध्यान मग्न होकर देखते रहने जैसा सामान्य प्रयोजन ही उससे पूरा हो सकेगा। परब्रह्म के साथ एकता का भक्ति रसास्वादन सम्भव न हो सकेगा। उसके बिना आदान-प्रदान की क्रिया भी नहीं बनेगी। आत्मीयता का चुम्बकत्व ही परब्रह्म की दिव्य शक्तियों, विभूतियों को आकर्षित करता है। श्रद्धा के आधार पर विकसित हुई पात्रता का आकार जितना विशाल होता है उसी अनुपात में ईश्वरीय अनुग्रह का संचय कर सकना सम्भव होता है। बादल कितना ही पानी क्यों न बरसाते रहें पर उसमें से संचय उतना ही किया जा सकेगा जितना अपना बर्तन और गड्ढा होगा। ईश्वर की अनुकम्पा याचना या मनुहर से नहीं मिलती उसके लिए साधक को पात्रता चाहिए। उसी को उत्पन्न करने की मनःस्थिति बनाने का अभ्यास ध्यान धारणा से किया जाता है।

ध्यान ही एकमात्र वह शक्ति है जिससे अपने काय कलेवरों में संव्याप्त अगणित दिव्य शक्तियों को जगाया और परिपुष्ट बनाया जाता है। उसी के आधार पर सूक्ष्म जात में से अपने उपयोग की सामग्री पकड़ने और आत्मसात करने की सफलता मिलती है। विभिन्न मशीनों का संचालन जिस प्रकार बिजली और तेल की शक्ति से होता है ठीक वही कार्य आत्मिक क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की ऋद्धि सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए ध्यान धारणा से सम्पन्न होता है। एकाग्रता और श्रद्धा का समन्वय ही ध्यान है। एकाग्रता और श्रद्धा सामान्य स्तर की नहीं वरन् उच्चस्तरीय होनी चाहिए। एकाग्रता विचारों की भगदड़ रोकने के लिए नहीं वरन् सांसारिकता से विरति और आध्यात्मिकता से प्रीति के रूप में विकसित होनी चाहिए। श्रद्धा वैसी नहीं जैसे अभिभावकों धर्मपरम्पराओं और देवी-देवताओं के प्रति होती है। ऐसी होनी चाहिए जिससे उत्कृष्टता के प्रतीक परब्रह्म के साथ एकीभूत होने की आकुलता उभर रही हो। अपने स्तर को ईश्वर तुल्य बना लेने का उत्साह भरा साहस विश्वास के रूप में उफन रहा हो।

आरम्भिक ध्यान माता का है। तदुपरान्त पिता का। गायत्री को माता और सविता को पिता कहा गया है। बालक का प्रथम परिचय माता से होता है और अनुग्रह भी उसी का मिलता हैं। पिता का परिचय और सहयोग बाद में मिलना आरम्भ होता है। माता स्नेह देती है पिता प्रखर बनाने का उत्तरदायित्व संभालता है। माता की आंख में प्यार भरा रहता है। पिता की में विकास और सुधार। दोनों के समन्वय से ही प्रगति का समानपथ प्रशस्त होता है। अस्तु आरम्भिक साधकों को माता के साकार रूप को और आगे बढ़ चलने पर सविता पिता के निराकार तेजस्वी रूप का ध्यान करना चाहिए। जप के साथ ध्यान की प्रक्रिया चलाते रहने से मन के न लगने पर भागने-फिरने की कठिनाई दूर हो जाती है।

साकार ध्यान माता रूप में

–हिमालय के उत्तुंग शिखर। हिमाच्छादित प्रदेश। ब्रह्म चेतना के धरती पर अवतरित होने का ध्रुव केन्द्र।

–मध्यवर्ती मान सरोवर। अमृत तत्व से भरपूर। शीतल, सुगन्धित, सशक्त विशेषताओं से परिपूर्ण। नीलम अगाध जल राशि।

–मान सरोवर में हंस वाहिनी गायत्री माता का प्राकट्य। सौम्य मुद्रा। मधुर मुस्कान। मुख मण्डल पर स्वार्णिम तेजोवलय। उत्कृष्टता की पुण्य प्रतिमा।

–साधक का अविचल रूप से इस दिव्य दर्शन का रसास्वादन। अनुग्रह अभिवर्धन की अनुभूति। अन्तःकरण में गोदी में बैठने की आकुलता। प्रत्युत्तर में पवित्रता पनपने के अनुपात से असीम स्नेह अनुदान का आश्वासन।

–माता की समीपता एवं अनुकम्पा से उज्ज्वल भविष्य की निश्चन्तता ।

–उपयुक्त पात्रता के उत्पादन की आतुरता । तप साधना के लिए प्राणवान उमंग । भावना को जीवन्त बनाने की संकल्पवान धारणा ।

–माता की अनुग्रह भरी स्नेह वर्षा अमृत-वर्षा आरम्भ । कण-कण रस विभोर आत्मसत्ता । आनन्द में सरावोर ।

–स्थूल शरीर में संयम का, सूक्ष्म शरीर में विवेक का, कारण शरीर में श्रद्धा का अदम्य उभार ।

–तृप्ति तुष्टि और शान्ति की अनुभूति ।

निराकार ध्यान पिता रूप में

–प्रातःकाल-पूर्व दिशा-अरुणिम आकाश-स्वर्णिम सूर्योदय ।

–स्वार्णिम सूर्य-सविता । सविता तेजस्वी परब्रह्म ।

–सविता ब्रह्म । प्रकाश-ज्ञान-प्रज्ञा सविता वर्चस् । अग्नि-ऊर्जा प्रखरता ।

–सविता-ब्रह्म वर्चस् । उपास्थ । आराध्य ।इष्ट ।लक्ष्य ।

–साधक पर सविता शक्ति की अनन्त आन्तरिक्ष से शक्ति वर्षा । अमृत वर्षा ।

–अमृत वर्षा से आत्म सत्ता-विकसित, पुलकित, उल्लसित ।

–संव्याप्त आत्म सत्ता में समर्थता सजगता सरसता ।

–साधक का सविता को समर्पण-विसर्जन, विलय, समन्वय, समापन शरणागति ।

–सविता शक्ति का आत्मसत्ता में प्रवेश । भावचेतना में प्रखरता की अनुभूति ।

–सूक्ष्म शरीर से ओजस् । सूक्ष्म शरीर में तेजस । कारण शरीर में वर्चस् का उभार ।

–निष्ठा, प्रज्ञा और श्रद्धा का प्रचंड उद्भव ।

–पवित्रता, प्रसन्नता विशिष्टता की दिव्य अनुभूति । प्रकाश पुंज की ओर अनवरत अनुगमन । अदम्य उल्लास का अनुभव ।

जप मुद्रा और ध्यान मुद्रा में यत्किंचित ही अन्तर है । दोनों में कुछ नियम एक जैसे हैं । केवल हाथ रखने का अन्तर पड़ता है । जप में माला की गणना करनी होती है इसलिए दाहिना हाथ उस कार्य में लगा रहता है और बायें हाथ बायें घुटने पर या गोद में रखा जा सकता है । यदि जप मानसिक हो अथवा न हो केवल ध्यान ही करना हो तो दोनों हाथ गोद में रखने पड़ते हैं । बायां नीचे दाहिना ऊपर ।

ध्यान मुद्रा की विधि पंच सूत्री है–

(१) शान्त चित्त (२) स्थिर शरीर (३) कमर सीधी (४) हाथ गोद में (५) आंखें बन्द । जप मुद्रा में माला वाले हाथ की स्थिति ही बदलती है । शेष बातें ज्यों कि त्यों रहती हैं ।

संकल्प पूर्वक अभ्यास करते रहने से यह कल्पना चित्र सूक्ष्म नेत्रों से क्रमशः अधिक स्पष्ट होते चले जाते हैं । इस स्पष्टता से उत्साह बढ़ता है । फिर भी यह जानने योग्य बात है कि कल्पना चित्रों की स्पष्टता का होना न होना मस्तिष्किय संरचना पर निर्भर है । बहुतों को सोने जागने में कल्पनाचित्र सहज ही दीखने लगते हैं । बहुतों के मस्तिष्क में इस तरह के दृश्य देख सकने की तनिक भी गुंजायश नहीं होती । अस्तु दीखने न दीखने के आधार पर ध्यान योग की सफलता असफलता का अनुमान नहीं लगाया जा सकता है । मूल तथ्य है भावानुभूति । यदि परम तत्व के साथ सघन आत्मीयता बढ़ रही हो श्रद्धा परिपक्व हो रही हो तो समझना चाहिए ध्यान धारणा में अभीष्ट प्रगति हो रही है और उनका परिणाम गायत्री माता की प्रत्यक्ष कृपा और सविता देवता की प्रखर अनुकम्पा के रूप में निश्चित रूप से प्राप्त होकर रहेगा । दिव्य माता ही दिव्य पिता के भाव भरे अनुदान वरदान पाकर मनुष्य वह सब कुछ प्राप्त कर लेता है जिसके लिए उसे यह सुरदुर्लभ मनुष्य शरीर प्राप्त हुआ है ।

-0-

गायत्रीपुरश्चरण

गायत्री उपासना के तीन चरण हैं -(१) नित्यकर्म, संध्या वन्दन, (२) संकल्पित अनुष्ठान पुरश्चरण (३) उच्चस्तरीय योग साधना । नित्य कर्म को अनिवार्य धर्म कर्त्तव्य माना गया है । आये दिन अन्तःचेतना पर वातावरण के प्रभाव से चढ़ते रहने वाले कषाय-कल्मषों का निराकरण नित्य कर्म से, संध्या वन्दन से होता है । इससे अधःपतन की आशङ्का पर अंकुश लगता है ।

संकल्पित पुरश्चरणों से प्रसुप्त चेतना उभरती है और फलतः साधक ओजस्वी, मनस्वी, तेजस्वी बनता है । साहस और पराक्रम की अभिवृद्धि आत्मिक एवं भौतिक क्षेत्र में अनेकानेक सफलताओं का पथ-प्रशस्त करती है । विशेष प्रयोजनों के लिए किये गये पुरश्चरणों की सफलता इसी संकल्प शक्ति के सहारे उपलब्ध होती है जिसे प्रतिज्ञाबद्ध, अनुशासित एवं आत्म-निग्रह के विभिन्न नियमोपनियमों के सहारे सम्पन्न किया जाता है ।

पुरः कहते हैं पूर्व को और चरण कहते हैं चलने को, चलने से पूर्व की जो स्थिति है, तैयारी है, उसे पुरश्चरण कहा जाता है । चलने के तीन भाग होते हैं-(१) गति, (२) आगति, (३) स्थिति । गति कहते हैं बढ़ने को, आगति कहते हैं लौटने को और स्थिति कहते हैं-ठहरने को । पुरश्चरण में यह तीनों ही क्रिया होती हैं । किसी विशेष अभीष्ट को प्राप्त करने के लिए जो साधना की जाती है, तो उसके साथ-साथ उन दोषों को लौटाया भी जाता हैं, जो प्रगति के मार्ग में विशेष रूप से बाधक होते हैं । इस गति-आगति से पूर्व शक्ति को प्रस्फुटित करने के लिए जिस स्थिति को अपनाना होता है, वही पुरश्चरण है ।

सिंह जब शिकार पर आक्रमण करता है, तो एक क्षण ठहरकर हमला बोलता है । धनुष पर बाण को चढ़ाकर जब छोड़ा जाता है तो यत्किंचित रुककर तब बाण छोड़ा जाता है, बन्दूक का घोड़ा दाबने से पहले जरा सी देर शरीर को साधकर स्थिर कर लिया जाता है ताकि निशाना ठीक बैठे । इसी प्रकार अभीष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पर्याप्त मात्रा में आत्मिक बल एकत्रित करने के लिए कुछ समय आन्तरिक शक्तियों को फुलाया और विकसित किया जाता है, इसी प्रक्रिया का नाम पुरश्चरण है ।

सवा लक्ष या न्यूनाधिक मंत्रों का अनुष्ठान एक सर्वसुलभ, सर्वजनोपयोगी साधन है । पुरश्चरण किसी कार्य विशेष के लिए किया जाता है । इसका विधान बहुत विस्तृत है । पूर्ण गायत्री पुरश्चरण २४ लक्ष का होता है जिसमें प्रतिदिन ६६ माला जप करने का विधान है । इसमें प्रायः छः घण्टे लगते हैं । यदि छः घण्टे नित्य साधना का जप, केवल उसी एक प्रयोजन में लगे रहा जाय तो इसमें एक वर्ष लगता है । यदि उस साधना के साथ ब्रह्म विद्या का आत्म विज्ञान भी सुनना-समझना हो, लोक साधना का समन्वय रखना हो तो अनुमानतः जप तीन घण्टे ही चल सकेगा और तीन-तीन घण्टे ब्रह्म विज्ञान और सेवा साधना के लिए रखने होंगे । ऐसी दशा में दो वर्ष का समय लगेगा । यह एक पूर्ण साधना कही जा सकती है । यह पुरोहित की अध्यक्षता में किया जाता है । अनुष्ठान को अकेला मनुष्य बिना किसी की सहायता के कर सकता है । पुरश्चरण के लिए अनेक कर्मकाण्डी पण्डितों का सहयोग आवश्यक होता है । किसी विशेष पाप के प्रायश्चित के लिए, किसी विशेष लाभ की प्राप्ति के लिए पुरश्चरण किये जाते हैं । इससे अपने अन्दर ऐसी शक्ति का उद्भव होता है, जिससे अभीष्ट उद्देश्य को प्राप्त करना सरल हो जाता है ।

गायत्री पुरश्चरण किस मुहूर्त्त में करना चाहिये और किस आहार-विहार के साथ करना चाहिये, इसका वर्णन इसी प्रकरण में आगे किया गया है । समय और नियम का पालन करते हुए इस पुरश्चरण की महासाधना को किसी विज्ञ कर्मकाण्डी पुरोहित की अध्यक्षता में आरम्भ करना चाहिये ।

उत्तम स्थान चुनकर वहाँ पूजा की वेदी बनानी चाहिये । आटा, रोली, हल्दी, मेहँदी, पीली मिट्टी (पिवड़ी) आदि माङ्गलिक वस्तुओं की सहायता से चौक पूरे । बीच में हवन की वेदी बनावे । वेदी भूमि से चार अंगुल ऊँची एवं चौबीस-चौबीस अंगुल लम्बी-चौड़ी होनी चाहिये । ईशान कोण में कलश स्थापित करें । एक चौकी पर देव-स्थापना

एवं गायत्री मंत्र की स्थापना करें। चौकी के निकट घी का दीपक जलता रहना चाहिये। गायत्री पूजा का विधान आगे दिया हुआ है, उस पूजा को करने के उपरान्त अन्य कार्य आरम्भ करे।

जप से दशांश होम, होम से दशांश तर्पण और तर्पण का दशांश मार्जन और मार्जन का दशांश ब्राह्मण भोजन कराने का पुरश्चरण का नियम है। इस नियम को ध्यान में रखते हुए पहले यह निश्चय करना चाहिये कि हमें कितने जप का पुरश्चरण करना है, क्योंकि उनका आर्थिक स्थिति से सम्बन्ध है। सवा लक्ष मंत्रों का पुरश्चरण करना हो तो १२,५०० आहुतियों का हवन करना होगा। १२५० तर्पण करना होगा। १२५ मार्जन करने होंगे और १२ से अधिक ब्राह्मण भोजन कराना होगा। इसके व्यय का अन्दाज लगा लेना चाहिये, तब जप की संख्या न्यूनाधिक की जा सकती है।

पुरश्चरण का कार्य-विभाजन इस प्रकार है—(१) नित्य कर्म, स्नान आदि, (२) संध्या, (३) गायत्री पूजन (जिसके प्रधान अङ्ग पूजा, कवच, न्यास, ध्यान एवं स्तोत्र हैं), (४) शाप-मोचन, (५) मुद्रा, (६) जप, (७) हवन, (८) तर्पण, (६) मार्जन, (१०) विसर्जन, (११) अर्घ्यदान, (१२) क्षमा-प्रार्थना, (१३) ब्राह्मण भोजन। यह क्रम नित्य चलना चाहिये। इतने बड़े कार्यक्रम के साथ अधिक जप अपने आप नहीं किया जा सकता। इसलिए ब्राह्मणों को वरण करके उनके लिए केवल जप नियत कर दिया जाता है। पुरोहित यजमान से पूजन, ध्यान, होम, तर्पण आदि कराता है। होम तर्पण के लिए भी कई व्यक्तियों की सहायता ली जा सकती है, जिससे समय की बचत हो सके। सवा लक्ष, चौबीस लक्ष, एक करोड़ अथवा न्यून से न्यून चौबीस हजार का होता है। प्रायः २४ दिन में उसे पूरा करना पड़ता है। इन सब बातों को ध्यान में रखकर जप करने वाले तथा हवन तर्पण में सहयोग देने वाले ब्राह्मणों की नियुक्ति करनी होती है। नियुक्त हुए ब्राह्मणों का भोजन उनके लिए नये वस्त्र, पात्र तथा दक्षिणा की समुचित व्यवस्था की जाती है।

पुरश्चरण पूरा हो जाने पर ब्रह्म-भोज, प्रीति-भोज, बड़ा यज्ञ, कथा, कीर्तन, प्रसाद-वितरण आदि का समारोह उत्सव मनाना चाहिये और मंगल कामना के साथ पूजा सामग्री को किसी शुद्ध स्थान पर विसर्जित करते हुए समाप्त करनी चाहिये।

गायत्री पुरश्चरण की पृष्ठभूमि

यह मानव शरीर सुर दुर्लभ है। ८४ लाख योनियों में भ्रमण करने के पश्चात् लाखों वर्ष बाद यह प्राप्त होता है। एक बार इसे व्यर्थ गँवा देने के पश्चात् लाखों वर्ष बाद ही फिर ऐसा अवसर आने की सम्भावना होती है। इसलिए दूरदर्शी और विवेकशील लोग इसे इन्द्रिय विषयों और तृष्णा जंजाल में फँसकर इस जीवन रूपी बहुमूल्य सम्पत्ति को व्यर्थ नष्ट करने की अपेक्षा आत्म-कल्याण की बात ही सोचते हैं और उसी में अपनी भावना एवं शक्ति का अधिकाधिक उपयोग करने का प्रयत्न करते हैं।

शास्त्रकारों ने पग-पग पर मनुष्य को यही शिक्षा दी है कि इन अमूल्य क्षणों को बाल-क्रीड़ा में—शरीर की गुलामी में बर्बाद न करके अनन्त काल स्थिर रहने वाली सद्गति को उपलब्ध करने में ध्यान दिया जाय। इसी में उसका सच्चा हित, स्वार्थ, लाभ एवं कल्याण सन्निहित है।

इस आत्मकल्याण की साधना को योग कहते हैं। योग साधन द्वारा मनुष्य अपना वास्तविक स्वरूप तथा जीवन का लक्ष्य समझ सकता है। परमात्मा को प्राप्त कर सकता है और जो कुछ इस संसार में प्राप्त करने योग्य है उसे प्राप्त कर सकता है। कहा गया है कि—

आत्मा वा अरे दृष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो
निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मने वा अरे
दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेद सर्वं विदितम्।

—बृहदारण्यक २/४/५

आत्मा ही देखने, सुनने, मनन और निदिध्यास करने योग्य है। हे मैत्रेयी, उसे देखने, सुनने, समझने और अनुभव करने से इस संसार में जो कुछ है वह सब जाना जा सकता है।

अयं तु परमोधर्मो यद्योगेनात्म दर्शनम्।

—याज्ञवल्क्य

मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म कर्त्तव्य यही है कि योग के द्वारा आत्मदर्शन करे।

योगाग्निर्दहति क्षिप्रयशेषं पाप पुञ्रजम्।
प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानाग्नि त्रिर्वाण मृच्छति ।।

—कर्मपुराण

योग अग्नि में पापों का समूह जल जाता है । तब निर्मल ज्ञान प्राप्त होता है और उससे ब्रह्म निर्वाण मिल जाता है ।

योगेन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते ।

–विदुर नीति

योग से ही धर्म की रक्षा होती है और योग से विद्या की रक्षा होती है ।

द्वाविभौ पुरुषौ लोके सूर्य मण्डल भेदिनौ ।
परिव्रांड्योग युक्तश्च रणेचाभि मुखेहतः ।।

दो प्रकार से ही मनुष्य सूर्य मण्डल वेधता हुआ परमपद पा सकता है । एक योग युक्त होकर दूसरे धर्म रक्षा के लिए लड़ता हुआ मरने पर ।

तपसा ब्रह्म विजिज्ञासत्व, तपो ब्रह्मेति ।

तप ही ब्रह्म है । तप द्वारा ही वह ब्रह्म जाना जाता है ।

जीवन में अनेक प्रकार के कष्ट और क्लेश हैं उनकी निवृत्ति साधारण उपचारों से नहीं हो सकती । किसी की कृपा एवं सहायता से भी उनकी क्षणिक निवृत्ति ही हो सकती है । दुःखों का समूल निवारण योग साधना से ही सम्भव है लिखा है–

दुःसहा राम संसार विष वेग विषूचिका ।
योग गारुड़ मंत्रेण पावने नोपशाम्यति ।।

हे राम ! संसार की विषवेदना सर्पिणी दुःसह है । यह योग रूपी गरुड़ से ही निवृत्ति होती है ।

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः ।
प्राप्तस्य योगाग्नि मयं शरीरम् ।।

–श्वेता०२/१२

शरीर के योगाग्निमय होने पर उसे कोई रोग नहीं होता, बुढ़ापा नहीं आता, मृत्यु भी नहीं होती ।

योग साधना का स्वरूप

आत्मकल्याण की योग साधना के वास्तविक स्वरूप से अपरिचित होने के कारण लोग उसे कष्ट साध्य मानते हैं और ऐसा सोचते हैं कि इस मार्ग पर चलने से उनकी लौकिक उन्नति में बाधा पड़ेगी पर वास्तविकता यह नहीं है । आध्यात्मिकता के मार्ग को अपना कर साधना पथ पर चलने में केवल परलोक एवं परमार्थ ही नहीं सधता वरन् इस लोक में सुख शान्ति के साधन उपलब्ध होते हैं । योग साधना ग्रहस्थ में रहते हुए भी सुविधापूर्वक हो सकती है उसके लिए घर त्याग कर विरक्त भ्रमण करना आवश्यक नहीं । साधना से लोक और परलोक दोनों की सफलता मिलती है और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों ही पदार्थ प्राप्त होते हैं ।

साधयेद्या चतुर्वर्गं सैवास्ति ननुसाधना ।

–मनु

जिससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों ही सधते हों वही सच्ची साधना है ।

लेकिन आज मनुष्य में दूरदर्शिता का अभाव हो रहा है, आज थोड़ी कठिनाई उठाकर भविष्य को उज्ज्वल बनाने पर लोग विश्वास नहीं करते । वे इतना ही चाहते हैं कि आज इसी क्षण हमें अधिकाधिक मौज मजा करने का अवसर मिले । इस आतुरता में वे कर्म-कुकर्म करते हैं और तुच्छ कार्यों को बहुत महत्त्वपूर्ण मानकर उन्हीं में उलझे रहते हैं । मनुष्य के इस मूर्खतापूर्ण भुक्कड़पन पर खेद प्रकट करते हुए अष्टावक्र ऋषि कहते हैं–

वुभुक्षुरिह संसारे मुमुक्षुरपि दृश्यते ।
भोग मोक्ष निराकांक्षी विरलो हि महाशयः ।।

–अष्टावक्र

इस संसार में भूखे लोग बहुत हैं, मुमुक्षु भी दिखाई पड़ते हैं । पर योग और मोक्ष की इच्छा छोड़कर परमार्थी लोग संसार में कोई विरले ही दीखते हैं ।

योग साधना जो आत्मा का सच्चा कल्याण कर सके गायत्री ही है । इस उपासना से बढ़कर और कोई तप, योग, साधना, ध्यान नहीं है । समस्त प्रकार की योग साधनाओं का आधार गायत्री ही मानी गई है ।

गायत्र्येव तपो योगः साधनं ध्यान मुच्यते ।
सिद्धिनां सामता माता नातः किंचिद् वृहत्तरम् ।।
गायत्री साधना लोक न करयापि कदापि हि ।
याति निष्फलता मेतत् ध्रुवं सत्यं हि भूतले ।
योगिकानां समस्तानां साधनानां तु वरानने ।

–गायत्री मञ्जरी

गायत्री ही तप है, साधन है, योग है, ध्यान है, यह ही सिद्धियों की माता मानी गई है । इससे बढ़कर श्रेष्ठ तत्व इस संसार में और कोई नहीं है । कभी किसी की गायत्री साधना निष्फल नहीं जाती है । समस्त योग साधनाओं का आधार गायत्री ही है ।

मनोनिग्रह और आत्म संयम

गायत्री द्वारा आत्म कल्याणकारी योग साधना करने के लिए सर्वप्रथम साधक को चरित्रवान् बनने की

आवश्यकता होती है । अपने अन्दर जो दोष हैं उनको आत्म निरीक्षण के द्वारा पता लगा कर परित्याग करना चाहिए । मन बार-बार उनकी ओर फिरे तो प्रायश्चित के दण्ड विधानों द्वारा तथा वैसे अवसर न आने देने की व्यवस्था करके उस पर अंकुश लगाना चाहिए । मन सीधे वश में नहीं आता वह जन्मजन्मान्तरों से संचित कुसंस्कारों को भी आसानी से नहीं छोड़ता । इसके लिए उससे संग्राम ही करना पड़ता है । इसलिए साधना को एक संग्राम भी कहा गया है । आसुरी और दैवी शक्तियों का जो निरन्तर संग्राम हमारे मनः क्षेत्र में होता रहता है उसी का दिग्दर्शन गीता में कौरव-पाण्डवों के महाभारत युद्ध के रूप में कराया गया है । मन को निर्विषय, शान्त और स्थिर बनाना गायत्री उपासक के लिए आवश्यक है । इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए मार्गदर्शन इस प्रकार मिलता है:-

वन्धाय विषयासंगि मुक्त्यै निर्विषयं मनः ।

-विष्णु पुराण ६/१/२८

विषयों में बन्धन और विषय त्याग देने से मुक्ति है ।

यत्र-यत्र मनोयाति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनम् ।

जहाँ-जहाँ मन जाय वहाँ-वहाँ परमात्मा के दर्शन करे ।

दृष्टिं ज्ञान मयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्म मयं जगत् ।

दृष्टि को ज्ञानमयी बनाकर सारे संसार को ब्रह्म मय देखना चाहिये ।

वितर्क वाधने प्रतिपक्ष भावनम् ।

-योग दर्शन २/३३

दुर्भावनाएँ मन में आने पर उनके विरोधी सद्भावनापूर्ण विचार करके कुविचारों को काटें ।

मैत्री करुणामुदितोयेक्षाणां सुख दुःख पुण्या
पुण्य विषयाणां भावनाताश्चित्त प्रसादनम्।

-गी.सू. १/३३

मैत्री, करुणा, मुदिता, इन चार प्रकार के सुखी, दु:खी, पुण्यात्मा, पापियों के बारे में चिन्तन करने से चित्त प्रसन्न रहता है ।

चित्त की स्थिरता बड़ी चीज है पर वह गायत्री उपासक के लिए सरल भी है । इस मनोनिग्रह के द्वारा महत्त्वपूर्ण सिद्धियों का द्वार खुलता है :-

आविर्भूत प्रकाशानाम नुपद्रुत चेतसाम् ।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्त विशिष्यते ।।

-वाक्य प्रदीप

चित्त जब सत् और तम से रहित होकर दीप्तिमान होता है और फिर रज को भी त्याग कर स्थिर हो जाता है तो भूत और भविष्य की प्रत्येक बात स्पष्ट दिखाई देने लगती है ।

श्रद्धा और सदाचार की आवश्यकता

चित्त की चंचलता और कुमार्ग गामिता पर जैसे-जैसे अंकुश लगता जाता है वैसे ही वैसे दुष्कर्मों से घृणा होती जाती है, बुराइयाँ घटती जाती हैं, पाप छूटते जाते हैं और संयम सदाचार का जीवन बनता जाता है । श्रद्धा बढ़ती है और भ्रम सन्देहों का निवारण होता है । सच्चे ज्ञान का उदय अपने आप होने लगता है और सत्कर्मों में प्रवृत्ति बढ़ जाती है । यही ब्राह्मणत्व है । इस स्थिति के प्राप्त होने से आत्म-कल्याण का मार्ग तीव्र गति से प्रशस्त होता है । इस अन्तःस्थिति से भगवान भी प्रभावित होते हैं और साधक की श्रद्धा के अनुरूप उस पर अनुग्रह करने लगते हैं । इस स्थिति का वर्णन इस प्रकार मिलता है:-

श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्ध स एव स ।

-गीता

मनुष्य श्रद्धामय है । जिसकी जैसी श्रद्धा है वह वैसा ही है ।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लेबध्वा परां शान्ति मचिरेणाधिगच्छति ।।

-गीता ४/३९

श्रद्धावान, इन्द्रियों को जीतने में तत्पर व्यक्ति सच्चे ज्ञान को प्राप्त करता है और ज्ञान को प्राप्त करते ही तुरन्त परम शान्ति प्राप्त कर लेता है ।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेषोऽस्तिन न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।।

-गीता ९/९९

मेरे लिए सभी प्राणी समान हैं । न कोई मुझे प्यारा है, न किसी से द्वेष है । जो जिस भाव से मुझे भजता है मैं उसी रूप में उपस्थित होता हूँ ।

भगवान सद्विचारों और सत्कर्मों से प्रभावित एवं प्रसन्न होते हैं । ऐसे सुकर्मी आस्तिक व्यक्ति ही ब्राह्मण माने गये हैं ।

शमोदमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जव गेव च ।
ज्ञान विज्ञान मास्तिक्यं बह्मकर्म स्वभावजम् ।।

शम, दम, तप, पवित्रता, शान्ति, सरलता ज्ञान, ब्रह्म ज्ञान, आस्तिकता यह ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं ।

जो व्यक्ति इन पवित्र कर्तव्यों को त्याग देता है उसका सारा साधन, भजन फूटे बर्तन में भरे गये पानी की तरह नष्ट हो जाता है ।

ब्राह्मणः समदृक् शान्तो दीनानां समुपेक्षकः ।
स्त्रवते ब्रह्म तरयापि भिन्न भाण्डात् पयोषथा ।।

जो ब्राह्मण समदर्शी, शान्ति आदि का बहाना लेकर दीनों की उपेक्षा करता है, सेवा से जी चुराता है उसका ब्रह्मज्ञान वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे फूटे बर्तन में से पानी टपक जाता है ।

साधना मार्ग में संयम और सदाचार का अत्यधिक महत्त्व है । जो इस पर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ है वह अधिक कष्ट साध्य साधनाएँ न कर सके केवल गायत्री माता की साधरण उपासना करता रहे तो भी प्रशंसनीय सफलता प्राप्त कर लेता है ।

सावित्री मात्र सारोऽपि वरं विप्र सुयंत्रितः ।

–मनु २-११६

संयमी ब्राह्मण गायत्री मंत्र जानता हो तो भी वह श्रेष्ठ है ।

साधना पथ का मार्ग-दर्शन

जो साधना में विधि व्यवस्था का, शास्त्र मर्यादा का ध्यान नहीं रखते, मनमानी चलाते हैं उनका योग कुयोग बन जाता है और थोड़ा बहुत उन्हें प्राप्त होता है वह भी इन्द्रिय प्रलोभनों या सांसारिक तुच्छ प्रयोजनों में खर्च हो जाने का खतरा बना रहता है । बहुधा ऐसे उच्छृंखल, नियन्त्रण विहीन साधक पथ भ्रष्ट होकर उस उपलब्ध हुई नवोदित शक्ति का दुरुपयोग करते देखे गये हैं । इसलिए साधना काल में सतर्कता और आत्म नियन्त्रण की बड़ी आवश्यकता है ।

कुयोगिनो ये विहिताद्यन्तरायैर्मनुष्यभूतोस्त्रिदर्शी य सृष्टैः।

–भागवत २

कुयोगी जो विधिपूर्वक आत्म साधना नहीं करते उन्हें नवोदित शक्तियाँ लुभाकर विषय भोगों में डाल देती हैं ।

चित्त की स्थिरता एवं आत्म संयम पर पूरा ध्यान रखते हुए गायत्री उपासक को विधि पूर्वक साधना पथ पर अग्रसर होना चाहिये । गायत्री परा विद्या है उसकी उपासना एक बहुत ही सुव्यवस्थित विज्ञान है । विज्ञान की शिक्षा को कोई शिक्षार्थी बिना किसी मार्ग दर्शक के अपने आप पूर्ण नहीं कर सकता । जब डाक्टरी, इन्जीनियरिंग, रसायन, साइंस आदि साधारण कार्य बिना शिक्षक के नहीं सीखे जा सकते तो फिर अध्यात्म विद्या जैसे महान् विज्ञान को अपने आप किसी सक्रिय मार्ग दर्शन के सफलतापूर्वक प्राप्त कर सकना कैसे सम्भव हो सकता है ?

यों आत्म कल्याण की सभी साधनाओं में गुरु की आवश्यकता है पर गायत्री उपासना में तो यह आवश्यकता विशेष रूप में है । क्योंकि इस साधना का प्रधान आधार प्राण तत्व है । गायत्री शब्द के अक्षरों में स्पष्ट है कि – गय = प्राण, त्री =त्राण करने वाली अर्थात् प्राणों की रक्षा शक्ति ही गायत्री उपासक को अपने में विशेष प्राण बीज धारण करके ही आगे बढ़ना होता है और यह प्राण किसी प्राणवान् साधना निष्णात गुरु से ही प्राप्त हो सकता है । जिस प्रकार गन्ने के, गुलाब के बीज नहीं होते उसकी लकड़ी काट कर दूसरी जगह बोई जाती है उसी प्रकार जिसने कम से कम सवा करोड़ जप किया हो ऐसे परिपक्व साधन वाले अनुभवी गुरु के प्राणों का एक अंश अपनी प्राण भूमिका में बोने से ही नवीन साधक का साधना वृक्ष बढ़ता और फलफूलों से सुशोभित होता है । दीक्षा गायत्री उपासना का महत्त्वपूर्ण अंग है । साधना की सफलता चाहने वाले और शास्त्र की महत्ता को स्वीकार करने वालों के लिए तो यह अनिवार्य ही है । देखिये :–

दीक्षा मूलं जपं सर्व दीक्षा मूलं परं तपः ।
दीक्षामाश्रित्य निवसेधत्र कुत्रश्रमे वसन् ।।

दीक्षा ही जप का मूल है, दीक्षा ही तप का मूल है । किसी भी साधना में दीक्षा का आश्रय लेकर ही प्रवेश करना चाहिये

मंत्र विहीनस्य न सिद्धिर्नय सद्गतिः ।
तस्यात्सर्व प्रयन्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत् ।।

दीक्षा विहीन मंत्र से सिद्धि प्राप्त नहीं होती इसलिए प्रयत्न पूर्वक गुरु दीक्षा लेनी चाहिये ।

तद्विज्ञानार्थ स गुरु मेवामि गच्छेत् ।
गुरुमेवाचार्य शम दमादि सम्पन्नमभिगच्छेत् ।।
शांस्त्रज्ञोऽपि स्वातंत्रेण ब्रह्म ज्ञानयन्वेषणं न कुर्यात ।

–मुण्डकोपनिषद

साधना का मार्ग जानने के लिए गुरु की सेवा में उपस्थित होवे । शम, दम आदि सद्‌गुणों से सम्पन्न गुरु एवं आचार्य के पास जाना चाहिए । स्वयं शास्त्रज्ञ हो तो भी ब्रह्म विद्या की मनमानी साधना न करे ।

आज के कृत्रिमता प्रधान युग में नकली चीजों की बाढ़ आ गई है । असली वस्तुओं का मिलना दुर्लभ होता जा रहा है । गुरु भी नकली ही अधिक हैं । जिन्होंने शिष्य के भी गुण प्राप्त नहीं किये वे गुरु बनते हैं । जिनके पास अपनी साधना की पूँजी कुछ नहीं है, जिनसे अपना प्राण विकसित नहीं हुआ है वह दूसरों को क्या प्राण दान देगा । उसकी दीक्षा में शिष्य का क्या हित साधन हो सकेगा ? इस कृत्रिमता प्रधान युग में नकली से बचने तथा असली ढूँढ़ने की भारी आवश्यकता है ।

गुरुवो वहवस्तात शिष्य वित्तापहारकाः ।
विरला गुरुवस्ते ये शिष्य सन्तापहारकाः ।।

संसार में ऐसे गुरु बहुत हैं जो शिष्य का धन हरण करते हैं पर ऐसे गुरु कोई विरले ही होते हैं जो शिष्य का सन्ताप दूर करें ।

गुरु कैसा हो ? इसकी कुछ परीक्षाएँ नीचे श्लोक में बताई गई हैं । जो इन परीक्षाओं में खरा उतरें उसे ही गायत्री उपासक अपना गुरु वरण करके साधना क्रम आगे बढ़ावें ।

मातृतः पितृतः शुद्धः भावो जितेन्द्रियः ।
सर्वागमानां मर्मज्ञः सर्वशास्त्रर्थ तत्व वित् ।।
परोपकार निरतो जप पूजादि तत्परः ।
अमोघ वचनः शान्तो वेद वेदार्थ पारगः ।।
योग मार्गानुसन्धायी देवताहृदयंगमः ।
इत्यादि गुण सम्पन्नो गुरुरागम सम्यतः ।।

–शारदा तिलक २/१४२-१४४

जो कुल परम्पराओं से शुद्ध हो, शुद्ध भावनाओं वाला, जितेन्द्रिय, जो शास्त्रों को जानता हो, तत्वज्ञ हो, परोपकार में संलग्न, जप पूजा में परायण, जिसके वचन अमोघ हों, शान्त स्वभाव का, वेद और वेदार्थ का ज्ञाता, योग मार्ग का अनुसंधानकर्ता जिसके देवता हृदमयंमय हो, ऐसे अनेक गुण जिसमें हों वही शास्त्र सम्मत गुरु कहा जा सकता है ।

मंत्र साधन की विधि व्यवस्था

गुरु मुख से दीक्षा पूर्वक ग्रहण करने पर ही गायत्री की 'मंत्र' संज्ञा होती है । इसके बिना वह साधारण प्रार्थना कही जाती है । जिस प्रकार अपनी दैनिक भाषा में कोई प्रार्थना कहना एक सामान्य बात है उसी प्रकार बिना दीक्षा की गायत्री भी एक साधारण पूजा प्रक्रिया है । गायत्री को मंत्र रूप में ग्रहण करके उसकी साधना द्वारा आध्यात्म मार्ग पर बढ़ते हुए सच्चे ज्ञान विज्ञान को प्राप्त करना चाहिये । ऐसे मंत्र योग से ही सिद्धि प्राप्त होती है ।

मंत्रभ्यास योगेन ज्ञानं ज्ञानाय कल्पते ।
न योगेन बिना मंत्रे न मंत्रेण विनाहिसः ।।
द्वयोरभ्यास संयोगो ब्रह्म संसिद्धि कारणम् ।

मंत्राभ्यास और योग साधना से ही ज्ञान, ज्ञान कहा जाता है । न मंत्र के बिना योग हो सकता है न बिना योग के मंत्र साधना हो सकती है । दोनों के सम्मिश्रण से ही सिद्धि प्राप्त होती है ।

साधना की फलता के लिए निम्न सोलह बातों का ध्यान रखना होता है । यह सभी बातें नियमित रूप से विधिपूर्वक चलने से सफलता का मार्ग प्रशस्त होगा । इन सभी बातों पर अगले किसी अङ्क में विस्तृत प्रकाश डालेंगे । १६ स्मरणीय नियम इस प्रकार हैं–

भवन्ति मंत्र योगस्य षोडशांगनि निश्चितम् ।
यथा सुधांशोजयिन्ते कलाः षोडश शोभनाः ।।
भक्तिः शुद्धिश्चासनंच पञ्चांग स्यापि सेवनम् ।
आचार धारणे दिव्य देशसेवनमित्यापि ।।
प्राण क्रिया तथा मुद्रा तर्पणं हवनं वलिः ।
यागो जयरतथा ध्यानं समाधिश्चोति षोडश ।।

चन्द्रमा की सोलह कलाओं की ही तरह मंत्र योग के भी सोलह सोपान हैं ।

(१) भक्ति, (२) शुद्धि, (३) आसन, (४) पञ्चांग सेवन, (५) आचार, (६) धारणा, (७) दिव्य देश सेवन (८) प्राण क्रिया, (६) मुद्रा, (१०) तर्पण, (११) हवन, (१२) बलि, (१३) त्याग, (१४) जप, (१५) ध्यान, (१६) समाधि ।

इन सभी के सम्बन्ध में सर्तकता रखी जानी चाहिए पर आहार शुद्धि एवं इष्ट देव का निरन्तर ध्यान यह दो बातें तो अनिवार्य ही हैं । साधक अभक्ष कुधान्य से वैसे ही बचे जैसे विष से बचा जाता है । सोते-जागते, चलते-फिरते हर समय से माता का ध्यान रखना ही शीघ्र सफल बनाने का अमोघ साधन है ।

आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः ।
सत्व शुद्धौ धवा स्मृतिः ।।
स्मृतिलाभे सर्व ग्रन्थीनां विप्र मोक्षः ।

—उपनिषद

अर्थात्—शुद्ध आहार ग्रहण करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है । शुद्ध अन्तःकरण से स्मृति (ध्यान) निश्चित होता है और निश्चित ध्यान लगाने से सिद्धि प्राप्त होती है ।

लघु साधन और पूर्ण पुरश्चरण

जिनके पास समयाभाव है, स्वल्प श्रद्धा है, उन आरम्भिक साधकों के लिए ९ दिन में २४ हजार का लघु अनुष्ठान बताया गया है । थोड़ी अधिक श्रद्धा बल है, जिनको कुछ अधिक समय लगाने में भी संकोच नहीं है उन मध्यम स्थिति उपासकों को ४० दिन का सवा लक्ष अनुष्ठान कराया जाता है । पर पूर्ण पुरश्चरण २४ लक्ष का होता है । इस महामंत्र की शक्ति परीक्षा करनी है तो कम से कम २४ लक्ष का एक पूर्ण पुरश्चरण करना चाहिए । इस सम्बन्ध में शास्त्रों का निर्देश इस प्रकार है—

भूयस्त्वक्षर लक्षं गायत्रीं संयतात्मको जप्त्वा ।

—प्रपंच सार

गायत्री के एक-एक अक्षर का एक-एक लाख के कारण चौबीस लक्ष जप मनोनिग्रह पूर्वक करें ।

लभतेऽभियतां सिद्धिं चतुर्विंशति लक्षतः ।

—याज्ञल्क्य स्मृति

अर्थात—चौबीस लाख जप का महापुरश्चरण करने से गायत्री की सिद्धि मिलती है ।

साधना ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख है कि सतयुग में जबकि वायुमण्डल शुद्ध था और साधकों के शरीर तथा मन सतोगुण से परिपूर्ण थे उस समय २४ लक्ष का पुरश्चरण पूर्ण माना जाता था । पर अब स्थिति बदल गई है । व्यक्तियों के शरीरों में तथा वातावरण में तमोगुण और रजोगुण व्याप्त है । स्थिति की शुद्धता अशुद्धता में सैकड़ों गुना अन्तर आ गया है इसलिए साधना की मात्रा में भी उसी हिसाब से परिवर्तन करना उचित है । मामूली बुखार दो चार दिन दवा खाने से ही ठीक हो जाता है । यदि जीर्ण ज्वार हो तो बहुत दिनों तक दवा लेनी पड़ती है । इसी प्रकार मन कम अशुद्ध हो तो थोड़ी साधना से ही आत्म शक्ति निखर आती है पर दूषणों की अधिकता होने पर देर तक प्रयत्न करने की आवश्यकता होती है ।

इसी सिद्धान्त के अनुसार सतयुग में २४ लक्ष पुरश्चरण पूर्ण माना जाता था तो अब इस युग की कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए चौगुना प्रयत्न करना उचित ही है । इसलिए ऐसा उल्लेख है कि २४ लक्ष ४ पुरश्चरण करना एक पूर्ण पुरश्चरण माना जाय ।

कल्पोक्तैव कृते संख्या त्रेतायां द्विगुणा भवेत् ।
द्वापरे त्रिगुणा प्रोक्ता कलौ संख्या चतुर्गुणा ।।

—वैशम्पायन

अर्थात्—जो जप संख्या शास्त्रों में कही गई है वह सतयुग के विचार से है । त्रेता में उससे दूना, द्वापर में तीन गुना और कलियुग में चार गुना जप करना चाहिए ।

षठणवति लक्ष संख्या जपं कलौ पुरश्चरणम् ।

—गायत्री पुरश्चरण पद्धति

कलियुग में ९६ लाख जप संख्या करने पर एक एक गायत्री महापुरुश्चरण होता है ।

कलौचतुर्गुणं प्रोक्तं मंत्रनुष्ठान माचरेत् ।

कलियुग में मंत्रानुष्ठान चार गुना करना चाहिये । यदि २४ लक्ष के ४ अनुष्ठान किये जा सकें तो सर्वोत्तम अन्यथा गायत्री शक्ति का प्रत्यक्ष स्वरूप देखने के इच्छुकों को कम से कम एक २४ लक्ष पुरश्चरण विधिपूर्वक करना चाहिये । यों तो जिससे जितना बन पड़े उतना ही उत्तम है । सवालक्ष और चौबीस हजार के मध्यम तथा लघु अनुष्ठानों का भी अपना-अपना महत्त्व है । ये भी कल्याणकारी ही हैं ।

परम कल्याण का मंगलमय मार्ग

गायत्री उपासना में कोई त्रुटि रह जाने से कोई अनिष्ट होने की सम्भावना स्वप्न में भी नहीं रहती । अधिक से अधिक इतनी ही हानि हो सकती है कि लाभ कम मिले । माता अपने पुत्रों का कभी किसी प्रकार का अनिष्ट नहीं करती ।

कुर्वान्नापि त्रुटिर्लोके बालको मातरं प्रति ।
यथाभवति कश्चिन्न तस्यां अप्रीति भाजनः ।
कुर्वन्नपि त्रुटिर्भक्तः कश्चिद् गायत्र्युपासने ।
न तथा फल माप्नोति विपरीर्त कदाचन ।।

—गायत्री संहिता

जिस प्रकार संसार में माता के प्रति भूल करने पर भी कोई माता बालक से शत्रुता नहीं करती उसी प्रकार उपासक से कोई भूल हो जाने पर भी गायत्री माता कुपित नहीं होती और न उसका कोई अनिष्ट की करती है ।

जप योग की महिमा अत्यधिक है फिर गायत्री जप तो सर्वोपरि है । उसकी महिमा तो कहना ही क्या है ?

जपात् सिद्धि-जपात् सिद्धि, जपात् सिद्धिर्न संशयः ।

अर्थात्–जप से ही सिद्धि होती है, जप से ही सिद्धि होती है । जप से ही सिद्धि होती है । इसमें संशय नहीं । तीन बार एक ही वाक्य की पुनरावृत्ति करके शास्त्रकार ने यह बताया है कि जप की महानता कितनी अधिक होती है ।

गायत्री को 'ब्रह्मास्त्र' कहा गया है । इस हथियार को हाथ में लेकर जीवन संग्राम में अड़ने वाला व्यक्ति कभी नहीं हारता । इस शस्त्र की चोट वह जिस मोर्चे पर करता है उसमें उसे विजय ही प्राप्त होती है ।

एकं ब्रह्मास्त्र मादाय न्यं गण्यतः क्वचित् ।
आस्ते न धीर वीरस्य भंगः संकार केलिषु ।।

–खंडन खाद्य

अन्य शस्त्रास्त्र न होने पर भी जो वीर ब्रह्मास्त्र को हाथ में लेकर संग्राम में खड़ा हो जाता है वह विजयी ही होता है पराजित नहीं ।

संसार में जितने भी महामंत्र हैं उनमें गायत्री को सर्वोपरि माना गया है । मनुष्य ही नहीं देवता भी इसी की उपासना करते हैं और इसी के बल पर अपना देवत्व सुरक्षित रखते हैं । यदि मनुष्य श्रद्धापूर्वक वेद माता की शरण को अपनाये रहे तो भी अपनी मनुष्यता सुरक्षित रख सकता है ।

सप्त कोटि महामन्त्र गायत्री नायकाः स्मृताः ।
आदि देव मुपासन्ते गायत्री वेदमातरम् ।।

अर्थात् सप्त कोटि महामंत्रों में गायत्री सर्वोपरि सेना नायक के समान है । देवता इसी की उपासना करते हैं । वही चारों वेदों की माता है ।

गायत्री योग साधना का केन्द्र बिन्दु है । योगेश्वर भगवान् शंकर की उपासना तपस्या भी गायत्री द्वारा होती थी ।

गायत्री वेद मातास्तिसाद्या शक्तिर्मता भुवि ।
जगती जननी चैव ताम्रपासेऽहमेवाहि ।।

–गायत्री मंजरी

भगवान शंकर कहते हैं–गायत्री वेद माता है । यहीं आदि शक्ति कहलाती है । वही विश्व जननी है । मैं उसी की उपासना करता हूँ ।

माता की अनुकम्पा से साधक क्या प्राप्त कर सकता है ? इसकी एक झांकी देखिए:–

सायमद्यीयान्तो दिवसकृतं पापं नाशयति ।
प्रातरद्यीयान्तो रात्रि कृतं पापं नाशयति ।
सायं प्रातः प्रयुञ्जानो अपापो भवति ।
निशीथे तुरीय संध्यायां जप्त्वा वाक् सिद्धिर्भवति ।
नूतनायां प्रतिमायां जप्त्वा देवतां सान्निध्यं भवति ।
प्राण प्रतिष्ठायां जप्त्वा प्राणानां प्रतिष्ठा भवति ।
भौमाश्विन्यां महादेवी सन्निद्यौ जप्त्वा महामृत्युं ।
तरन्ति स महामृत्युं तरति एवं वेद ।

–देव्यथव शीर्ष

सायंकाल उपासना करने वाले के दिन में किए हुए पाप नष्ट होते हैं । प्रातः उपासना करने वाले के रात्रि में किए पाप नष्ट होते हैं । दोनों समय उपासना करने वाला सर्वथा निष्पाप होता है । मध्य रात्रि में तुरीय संध्या करने से वाक् सिद्धि होती है । नई प्रतिमा से देव सान्निध्य प्राप्त होता है भौमाश्विनी योग में जप करने से महामृत्यु से तर जाता है । जो इस विद्या को जानता है वह मृत्यु से पार होता है । यही अविद्या नाशिनी ब्रह्मविद्या है ।

ऐसी महामहिमामयी माता के चरणों में सब प्रकार नत मस्तक होना और शरण में जाना ही हमारे लिये श्रेयस्कर है ।

त्वं माते सर्व देवनां सर्वं सिद्धि प्रदायता ।
तेन सत्येन मे सिद्धिं देहि मातर्नमोस्तुते ।।

हे माता ! तुम सब देवताओं की सब सिद्धियों को प्रदान करने वाली हो । मुझे भी सिद्धि प्रदान कीजिए, हे माता ! आपको प्रणाम है ।

गायत्री पुरश्चरण की महान महिमा

शास्त्रों में सामान्य उपासना की अपेक्षा पुरश्चरणों का विशेष महत्त्व एवं परिणाम बताया गया है । यह उचित ही है । उपासना में निर्धारित क्रिया-कृत्य कर लेना ही पर्याप्त माना जाता है, पर अनुष्ठान पुरश्चरणों में साधक को कितने ही प्रकार के प्रतिबन्ध उस अवधि में लगाने पड़ते है, और तपस्वी जैसा जीवन जीना पड़ता

है । (१) उपवास, (२) ब्रह्मचर्य, (३) भूमिशयन, (४) अपनी शारीरिक सेवा अपने हाथों करना, (५) चमड़े से निर्मित वस्तुओं का त्याग । यह पाँच नियम स्थूल आचरण में पालन किये जाने के हैं । शारीरिक, मानसिक और आर्थिक पापों से बचना सज्जनोचित रीति-नीति अपना कर उन दिनों उत्कृष्ट चिन्तन एवं आदर्श कर्तृत्व से भरा पूरा जीवन निर्वाह करना पड़ता है ।

सामान्य रीति के बारूद जला देने पर थोड़ी सी रोशनी एवं आवाज होती है, पर यदि उसी बारूद को बंदूक की नली में बन्द करके चलाया जाय तो प्रचण्ड शक्ति उत्पन्न होती है । सामान्य प्रतिबन्ध रहित साधना और तपस्वी जीवन क्रम अपनाकर समग्र तादात्म्य की मनःस्थिति में अधिक समय तक की जाने वाली उपासना का निश्चित रूप से अधिक प्रतिफल होता है । आत्मबल समृद्धि भौतिक कठिनाइयों के निवारण तथा प्रगति समृद्धि की दिशा में बढ़ने के लिए उपयुक्त प्रकाश प्राप्त करना इन अनुष्ठान पुरश्चरण का प्रमुख प्रयोजन होता है । साधन की कठिनता के अनुरूप ही उनकी उपलब्धियाँ भी बढ़ी-चढ़ी होती हैं ।

लक्ष द्वादश युक्तस्तु पूर्ण ब्राह्मण ईरितः।
गायत्र्या लक्ष हीनं तु वेद कार्ये न योजयेत्।।१।।
चतुर्विंशति लक्षं वा गायत्री जप संयुतः।
ब्राह्मणस्तु भवेत्पात्रं सम्पूर्ण फल योगदम् ।।२।।
तरमाद्दानं जपे होमे पूजायां सर्व कर्माणि।
दान कर्तु तथा त्रतु पात्र तु ब्राह्मणोर्हति ।।३।।

–शिव पुराण

बारह लाख गायत्री जपने पर पूरा ब्राह्मण कहलाता है । जिसने एक लाख भी जप न किया हो उसे वेद कार्यों में सम्मिलित नहीं करना चाहिये ।

जिस ब्राह्मण ने २४ लक्ष गायत्री जप कर लिया हो, वही सत्पात्र कहलाता है । उसी से फल की आशा की जा सकती है ।

इसलिए दान, जप, होम, पूजा आदि कर्मों में केवल उपरोक्त प्रकार के सत्पात्र को ही लेना चाहिए ।

सावित्री मप्यधीपित शुचौ देशे मितासनः ।
अहिंसो मन्दकोऽजल्यो मुच्यते सर्व किल्विषै ।।

–महा० शान्ति पर्व ३५/३७

" जो पवित्र स्थान में मिताहारी हो हिंसा का सर्वथा त्याग करके राग-द्वेष, मान-अपमान आदि से शून्य हो मौन भाव से गायत्री का जप करता हो वह सब पापों से मुक्त हो जाता है ।"

चतुर्विंशति लक्षं वा गायत्री जप संयुतः ।
ब्राह्मणस्तु भवेत पात्रं सम्पूर्ण फल योगदम् ।

चौबीस लक्ष गायत्री जप करने वाला ब्राह्मण पूजा के योग्य है । उसके द्वारा किये हुए सभी धर्मकृत्य सफल होते हैं ।

लभतेऽभिमतां सिद्धिं चतुर्विंशति लक्षतः ।
जपतोऽयुतसख्याकैरघवा च सहस्रकैः ।

इस गायत्री महामंत्र के चौबीस लाख का जप करने से मानव अपनी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त किया करता है । दस हजार की अथवा सहस्र की संख्या वाले जप से भी परम कल्याण का लाभ होता है ।

लभतेऽभिमतां सिद्धिं चतुर्विंशति लक्षतः ।
चतुर्विंशति लक्षं तु यज्ञ कल्प यतं यथा ।।

–याज्ञवल्क्य

२४ लक्ष जप करने से सिद्धि प्राप्त होती है और यज्ञ कल्प फल प्राप्त होता है ।

दिवा चैव जपं कुर्यात पौरश्चरणिको द्विजः ।
पत्र वल्यां पलाशस्य मिताहारी भवेन्निशि ।।

–ब्रह्म संहिता

" पुरश्चरण करने वाले साधक को दिन में जप करना चाहिए और संध्या हो जाने पर पलाश की पत्तल में लुघ आहार करना चाहिए ।"

कुशैर्विनिर्मितायां तु शय्यायां वस्त्रमात्मनः ।
सद्यः प्रक्षालितं दत्त्वा एकाकी निर्भयः स्वयेत ।।

–ब्रह्म.

" कुश से तैयार की हुई शय्या पर स्वयं ही धोया हुआ स्वच्छ वस्त्र बिछावें और उस पर रात्रि में निर्भय होकर शयन करें ।

एवं प्रतिदिनं कुर्यात संख्या यवन्न पूर्यते ।
तदन्ते महतीं पूजां कुर्याद् विप्रांश्च तर्पयेत् ।।

–ब्रह्म.

"इस प्रकार प्रतिदिन जप करते हुए चौबीस लाख की संख्या पूरी करनी चाहिये और अन्त में पूजा, होम करके विद्वानों को तृप्त करना चाहिए ।"

गायत्र्याश्च पुरश्चर्या सर्वकाम प्रदायिनी ।
कथिता तव देवर्षे महापापविनाशिनी ।
आदौ कुर्याद्व्रतं मन्त्री देहशोधनकारकम् ।

पुरश्चर्या ततः कुर्यात्समस्तफलभाग्भवेत् ।
इति ते कथितंगुह्यं पुरश्चर्याविधानकम् ।

–देवी भागवत्

गायत्री पुरश्चरण समस्त कामनाएँ पूर्ण करने वाला है । इससे समस्त पाप भी दूर होते हैं । पुरश्चरण कर्त्ता को प्रथम देह शोधन करना चाहिए इसके पश्चात ही फल प्राप्त होता है, पुरश्चरण की सफलताका यही सार है ।

अर्थातः श्रूयतां ब्रह्मन् गायत्र्याः पापनाशनम् ।
पुरश्चरणकं पुण्यं यथेष्टफलदायकम् ।।
पर्वताग्रे नदीतीरे बिल्वमूले जलाशये ।
गोष्ठे देवालयेऽश्वत्थे उद्याने तुलसीवने ।।
पुण्यक्षेत्रेगुरोः पार्श्वे चित्तैकाग्रयस्थलेऽपि च ।
पुरश्चरणकृन्मंत्री सिध्यत्येव न संशयः ।
यस्य कस्यापि मंत्रस्य पुरश्चरणमा रभेत् ।
व्याहृतित्रतसंयुक्तां गायत्रीं चायुतं जपेत् ।।
नृसिंहार्कवराहाणां तांत्रिकं वैदिकं तथा ।
विना जप्त्वा तु गायत्रीं तत्सर्वं निष्फलं भवेत् ।।
मंत्रं संशोध्य यत्नेन पुरश्चरणतत्परः ।
मंत्रशोधनपूर्वांगमात्मशोधनमुत्तमम् ।।
आत्मतत्वशोधनाय त्रिलक्ष प्रजपेद्बुधः ।
अथवा चैकलक्ष तु श्रुतिप्रोक्तेन वर्त्मना ।।
आत्मशुद्धिं विना कर्तुर्जपहोमादिकाः क्रियाः ।
निष्फलास्तास्तु विज्ञेयाः कारणं श्रुतिचोदितम् ।।

–देवी भागवत्(पुरश्चरण प्रकरण)

हे ब्राह्मण ! यथेष्ट फल देने वाली, पाप नाशक गायत्री के पुरश्चरण का विधान सुनो ।

पर्वतीय प्रदेश में, नदी तीर, विल्व मूल, जलाशय, गौ गोष्ठ, देव मन्दिर, पीपल पेड़, उद्यान, तुलसी वन, पवित्र तीर्थ, गुरु के समीप, चित्त को एकाग्र रखने वाले, स्थान में पुरश्चरण करने से उपासक को निश्चित रूप से सफलता मिलती है ।

भले ही नृसिंह, सूर्य, वाराह आदि किसी अन्य तांत्रिक वैदिक मंत्र का अनुष्ठान करना हो, पर उससे पूर्व दस सहस्र गायत्री जप तो अवश्य ही करले । यदि इतना न करेगा तो कोई भी मंत्र सफल न होगा ।

पुरश्चरण करने वाले को पहले (१) मंत्र शोधन, (२) आत्म-शोधन करना चाहिये । गायत्री जप से मंत्रों का शोधन होता है । आत्म-शोधन के लिए तीन लाख न्यूनतम एक लाख गायत्री का जप करें । इसके उपरान्त ही किसी मंत्र का पुरश्चरण जप, होम, तर्पण आदि सफल हो सकता है ।

विना न येन सिद्धिः स्यान्मन्त्रो वर्षशतैरपि ।
तत् पुरश्चरणं नाम मंत्रसिद्धार्थमात्मनः ।

–अगस्त

केवल मंत्र जप से दीर्घकाल तक भी सिद्धि नहीं मिलती । सफलता पानी हो तो पुरश्चरण करना चाहिये ।

गायत्री के २४ अक्षर हैं । प्रति अक्षर एक लाख के हिसाब से पूरे मंत्र के २४ लाख जप को एक पूर्ण पुरश्चरण कहते हैं । यह छः घण्टा नित्य समय लगाने पर एक वर्ष में पूरा होता है । कम समय लगाना हो तो वह अवधि उसी अनुपात से आगे बढ़ जायेगी । मध्य अनुष्ठान सवालाख जप का होता है जो ४० दिन में पूरे करने का विधान है । सबसे छोटा २४ हजार जप का होता है जिसे ९ दिन में पूरा करना होता है ।

सामान्यतः प्रतिदिन एक हजार जप का नियम बनाया जा सके तो उत्तम है । इसमें प्रायः एक घण्टा लग जाता है । न्यूनतम जप दस बार भी हो सकता है । यह दस अँगुलियों पर गिनकर पूरा हो सकता है । थोड़ी अधिक सुविधा हो तो सौ प्रतिदिन अर्थात्--एक माला का जप करना चाहिये ।

विशेष परिस्थितियों में, विशेष प्रयोजनों के लिए दस हजार जप की विशिष्ट उपासना कर लेने का भी विधान है । इस दस हजार की संकल्पित साधना को अनुष्ठान तो नहीं कह सकते, पर सामान्य जप क्रम से उसका विशेष महत्त्व है । इसे न्यूनतम तीन दिन में और अधिकतम दस दिन में पूरा करना चाहिये । उपवास, ब्रह्मचर्य यह दो नियम तो इसमें भी आवश्यक हैं । उपवास में फलहार पर रहना कठिन हो तो एक अन्न और एक शाक पर निर्वाह करना भी सामान्य उपवास में गिना जा सकता है । इन सामान्य साधनाओं के सम्बन्ध में निर्देश इस प्रकार मिलते हैं –

सहस्र कृतस्त्वभ्यस्य वहिरेतत् त्रिकं द्विजः ।
महतोऽप्ये नसोमासात्व चे वाहिर्विमुच्यते ।।

"जो द्विज ग्राम या नगर से बाहर जलाशय के समीप ओंकार, व्याहृति तथा गायत्री का जप एक हजार की संख्या में करे वह महापाप से ऐसे छूट जाता है जैसे साँप केंचुली से ।"

सहस्त्रपरमांनित्यंशत मध्यांदशावराम् ।
सावित्रींवैजपेद्विद्वान्प्रांग मुखः प्रयतः स्थितः ।।

एक सहस्त्र सावित्री का जाप सर्वश्रेष्ठ नैत्यिक जाप है--एक सौ मध्यम श्रेणी का है और कम से कम दस बार ही जाप करना अधम कोटि में आता हैं । विद्वान् पुरुष को इस सावित्री का जाप पूर्वाभिमुख होकर प्रयत समवस्थित रहकर ही करना चाहिये ।

सहस्त्र परमां देवि शत मध्यां दशावराम् ।
गायत्रीं यो जपोद्विप्रो न स पापेन लिप्यते ।।

–अत्रिस्मृति

गायत्री का प्रतिदिन एक सहस्त्र जप करना अत्युत्तम है । शत मंत्र जप मध्यम है । दस मंत्र स्वल्प है । अपनी सामर्थ्यानुसार दस, सौ या हजार बार गायत्री जप करना चाहिए । ऐसा करने वाला पापों में लिप्त नहीं होता ।

गायत्र्याः शत सहस्त्रात् पूतो भवति मानवः ।
जप्त्वा सहस्त्रं गायत्र्याः शुद्धो ब्रह्मवधाद ऋते ।।

–योगि याज्ञवल्क्य

गायत्री का सौ या हजार बार जप करते रहने से मनुष्य पवित्र एवं ब्रह्मविद हो जाता है ।

न न्यूनं नातिरिक्तं च जपं कुर्याद् दिने दिने ।
प्रारम्भ दिनमारभ्य समाप्ति दिवसावधि ।।

–वशिष्ठ संहिता

"आरम्भ के दिन से लेकर समाप्ति तक गायत्री मंत्र का एक बराबर जप करना चाहिये । कम या ज्यादा जप करना ठीक नहीं ।"

दंशसाहस्त्रमभ्यस्ता गायत्री शोधनी परा ।

–लघु अत्रि संहिता

"गायत्री का दश सहस्त्र जप अत्यन्त शुद्धि करने वाला होता है ।"

सर्वेषामेव पापानां संकरे सुमपस्थिते ।
दशसाहस्रिकाभ्यासो गायत्र्याः शोधनम्परम् ।।

–याज्ञ.गा.व्या

" जब बहुत से पाप आकर मिल जायें तो गायत्री का दस सहस्र जप करना परमशोधन करने वाला होता है ।"

सामान्यतः गायत्री उपासना प्रातः सायं स्नानादि से निवृत्त होकर विधि-विधान के साथ करनी चाहिये । पर जिन्हें अधिक अवकाश है वे सुविधा के समय मानसिक जप कभी भी करते रह सकते हैं । इसी प्रकार अत्यधिक व्यस्त अथवा अव्यवस्थित दिनचर्या वाले व्यक्ति भी जब भी अवकाश मिले तभी उपासना कर सकते है । पर ऐसी असमय की अथवा अनियमित उपासना मुँह बन्द रखकर मानसिक जप के रूप में ही चलनी चाहिये । ऐसी उपासना रास्ता चलते, सोते या किसी अन्य काम को करते हुए भी की जा सकती है । मौन जप में किसी प्रकार का विधि निषेध प्रतिबन्ध नहीं है ।

अथ हैतदन्तःश्रि । योऽय संधायौष्ठा उच्चः स्वरमाश्रावयति
श्रीर्वे स्वरोऽन्तरत एव तच्छियन्धत्ते । अन्नादो भवति ।।

–शतपथ ११/४/२/११

जो मुहँ बन्द करके स्वर साधना करता है उसकी श्री भीतर ही बनी रहती है । स्वर ही श्री है । जो उसे भीतर ही रखता है सो तृप्त हो जाता है ---उसके अभाव पूर्ण हो जाते हैं ।

यान पात्रे च याने च प्रवाशे राजवेश्मनि ।
परां सिद्धिमवाप्नोति सावित्री ह्युत्तमां पठन् ।।

–अनुशासन पर्व १५०/६८

"जो मनुष्य जहाज में या किसी सवारी में बैठने पर, विदेशों में या राजदरबार में जाने पर मन-ही-मन उत्तम गायत्री का जप करता है वह परम् सिद्धि को प्राप्त होता है ।"

अशुचिर्वा शुचिर्वापि गच्छन् तिष्ठन् स्वपन्नपि ।
मंत्रैक्शरणो विद्वान् मन सैव सदाभ्यसेत् ।
न दोषो मानसे जाप्ये सर्व देशोऽपि सर्वदा ।

–शारदा तिलक

पवित्र हो अथवा अपवित्र, चलते-फिरते, बैठते-उठते, सोते-जागते एक ही मन्त्र की शरण लेकर उसका सदा मानसिक जप करता रहे । मानसिक जप में किसी समय या स्थान का दोष नहीं होता ।

आशुचिर्वा शुचिर्वापि गच्छन् तिष्ठन् यथा तथा ।
गायत्री प्रजपेद्धीमान् जपात् पापान्निवर्तते ।।

–गायत्री तन्त्र

अपवित्र हो अथवा पवित्र हो, चलता हो अथवा बैठा हो, जिस भी स्थिति में हो, बुद्धिमान मनुष्य गायत्री का जप करता रहे । इस जप के द्वारा पापों से छुटकारा हो जाता है ।

कुर्वन्नापि त्रुटीर्लोके बालको मातरम् प्रति ।
यथा भवति कश्चिन्न तस्यां अप्रीति भाजनः ।।

कुर्वन्नापित्रुटी भक्त कश्चित् गायत्र्युपासने ।
न तथा फल माप्नोति विपरीत कदाचन् ।

–गायत्री संहिता

जिस प्रकार संसार में माता के प्रति भूल करने पर भी कोई माता बालक से शत्रुता नहीं करती, उसी प्रकार उपासक से कोई भूल हो जाने पर भी गायत्री माता कुपित नहीं होती ।

गायत्री और यज्ञ का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । गायत्री को भारतीय संस्कृति की जननी और यज्ञ को भारतीय धर्म का पिता कहा गया है । दोनों के संयोग से गायत्री यज्ञ का पुनीत धर्मानुष्ठान बनता है । अनुष्ठान पुरश्चरणों के अन्त में गायत्री यज्ञ आवश्यक है । पर्व त्यौहारों, संस्कारों में गायत्री यज्ञ की व्यवस्था करनी चाहिए । विशेष शुभारम्भों–हर्षोत्सवों में गायत्री यज्ञ की व्यवस्था विशेष रूप से रखी जानी चाहिए । गायत्री को सद्ज्ञान और यज्ञ को सत्कर्म का प्रेरक माना गया है । दोनों के समन्वय से अध्यात्म की-सर्वांगपूर्ण पृष्ठभूमि बनती है ।

होतव्या च यथशक्त्या सर्वकाम समृद्धि दा ।
सावित्री सारमात्रोऽपि वरं विप्रः सुयंत्रितः ।।

अपनी शक्ति के अनुसार इस गायत्री मन्त्र का हवन भी करना चाहिए । हवन से यह समस्त समृद्धियों को प्रदान करने वाली होती है । सावित्री के सार मात्र वाला भी विप्र श्रेष्ठ और सुयन्त्रित होता है ।

वेदशास्त्रपुराणानामयमेव सुनिश्चयः ।
गायत्र्या जप होमादि विधिः सर्वार्थ साधकाः ।

"वेद, शास्त्र, पुराण आदि का यह निश्चित मत है कि गायत्री का जप, हवन आदि सवार्थ साधक होता है ।"

पूजा होमादिकं चैव यत्कृतं त्वदनुग्रहात् ।
तेन प्रीताभव त्वं भोः शुद्धे मे मानसं कुरु ।।

"हे माता ! तुम्हारी कृपा से मैंने जो पूजा, हवन आदि किये हैं, उनसे प्रसन्न होकर आप मेरे मन को शुद्ध करो ।"

अहंतां सत्य पैशुन्ये कामंक्रोधं मदम् रुजम् ।
हिंसां नास्तिक्यम् अज्ञानम् अदयां दम्भकैतवे ।
ब्रीड़त्त्वम् अनृजुत्वं च दारिद्रयं शोक मत्सरौ ।
अक्षमां च अभिताहारं भयं निद्रां सुखेतरम् ।।
अधैर्य दुष्टसंचारं नीच संग त्वविधताम् ।
आसुरभावं इत्यष्टाविंशत्याहुतिभि र्हुवेत् ।।

'अहंकार, असत्य, पिशुनता, काम, क्रोध, मद (घमंड), रोग, हिंसा, नास्तिक भाव, अज्ञान, अदया (क्रूरता), दम्भ, कैतव, लज्जा, कुटिलता, दरिद्रता, शोक, मत्सर, क्षमाहीनता, अधिक भोजन, भय, निद्रा, दुःख, अधैर्य, दुष्टता, नीच का संग, अविद्या, आसुरी भाव इन २८ दुर्गणों की आहुति देनी होगी ।"

गायत्री को अग्नि कहा गया है । अग्नि में ऊष्मा, प्रज्वलनशीलता, सम्पर्क में आने वाले को आत्मवत् बना लेने की क्षमता जैसी अनेकों विशेषताएँ हैं । यही गुण गायत्री में भी हैं । वह साधक को ब्रह्म तेजस् युक्त बनाती है और उसके कलाष-कल्मषों को जलाकर निर्मल प्रखरता प्रदान करती है । इसे सामान्य आग नहीं ब्रह्माग्नि, यज्ञाग्नि समझा जाना चाहिए ।

तस्या अग्निदेव मुखम् यदि हवा अपि वह्विवाग्नावभ्याद-धति, सर्वमेव तत्संदहति, एव हैवं विद्यद्यपि वह्विव पापं कुरुते सर्वमेव तत्सप्साय शुद्धः पूतोऽजरोऽमृतः सम्भवति।

–शतपथ ८/१४/८

गायत्री का अग्नि मुख है । जैसे अग्नि विशाल काष्ठ ढेर को जला डालती है उसी प्रकार गायत्री उपासक के पूर्वकृत पापों को नष्ट कर डालती है ।

निः सरन्ति महामन्त्र महाग्ने र्विस्फुलिंग वत् ।

अर्थात्–"अग्नि की विशाल राशि से चिनगारियाँ निकलने की तरह समस्त मन्त्र वर्षा गायत्री से आविर्भूत होते हैं ।"

गायत्री यज्ञः

–गो.पृ./४/२४

गायत्री यज्ञ रूप है ।

चिद्रग्निकुण्ड सम्भूता देवकार्य समुद्यता ।।

"हे महादेवि ! तुम देव कार्य की सिद्धि के लिए ज्ञान रूप अग्निकुण्ड से उत्पन्न होती हो ।"

यो वा अत्राग्नि गायत्री

–श./८/२/१५

यह दिव्य अग्नि गायत्री ही है । गायत्री पुरश्चरण में निरत साधकों को छोटे या बड़े रूप में--दैनिक अथवा सामयिक यज्ञ आयोजनों के लिए यथा सम्भव प्रयत्नशील रहना चाहिए । गायत्री जप और यज्ञ कृत्य के मिलने से सर्वांगपूर्ण साधना का लाभ मिलता है ।

साधना की पांच शर्त

अतः स्वस्थेन चित्तेन श्रद्धया निष्ठया तथा ।
कर्त्तव्याविरतं काले नित्यं गायत्र्युपासना ।।

(अतः) इसलिए, (श्रद्धया) श्रद्धा से, (निष्ठया) दृढ़ता से तथा (स्वस्थेन चित्तेन) स्वस्थ चित्त से, (नित्य) प्रतिदिन, (अविरतं) निरन्तर, (काले) समय पर, (गायत्र्युपासना) गायत्री की उपासना करनी चाहिए ।

किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए कुछ शर्तें होती हैं जिन्हें पूरा करके ही कोई आदमी निश्चित लक्ष्य तक पहुँच सकता है । यदि शर्तबन्दी न होती तो हर कोई, हर काम में सफल हो जाता । पर ऐसा इसलिए नहीं होता – क्योंकि परमात्मा हर वस्तु अधिकारी पात्रों को देता है । जो अपनी पात्रता सिद्ध कर देता है यह प्रमाण दे देता है कि मैं इसका अधिकारी हूँ उसे ही वह सफलता प्राप्त होती है । परीक्षक को अपने ज्ञान का प्रमाण दे देने पर ही विद्यार्थी को प्रमाण–पत्र प्राप्त होता है ।

गायत्री माता की प्रसन्नता प्राप्त करने और उसकी कृपा का सिद्धि रूपी प्रमाण–पत्र प्राप्त कर लेने के लिए कुछ शर्तें रखी गई हैं, उन शर्तों को पालन करके ही इस साधना में सफलता मिल सकती है । वे शर्तें यह हैं कि (१) स्थिर चित्त, (२) श्रद्धा, (३) दृढ़ता, (४) निरन्तर, (५) समय पर साधना करना । अब इनका विवेचन नीचे किया जाता है–

स्थिर चित्त को चारों ओर से समेट कर एकाग्रता पूर्वक साधना में लगाना चाहिए । बिखरी हुई बारूद को जला देने से वह भक् से जल जाती है और उसकी शक्ति समाप्त हो जाती है किन्तु यदि उसे बन्दूक की एक छोटी नाली में डालकर एक ही दिशा में जलाया जाय तो भयंकर आवाज करती है और जिधर चलाई जाती है उधर प्राणघातक परिणाम उपस्थित करती है । थोड़ी-सी जगह में बिखरी हुई सूर्य किरणें कोई विशेष कार्य नहीं करतीं पर जब उन्हें आतिशी कांच द्वारा एक स्थान पर केन्द्रित कर दिया जाता है तो वे अग्नि उत्पन्न कर देती हैं । इसी प्रकार एकाग्रचित्त से की हुई साधना आशाजनक फल उपस्थित करती है, पर यदि अस्थिर मन से किया जाय तो प्रयत्न उतना ही अल्पफल-दाता सिद्ध होता है । अतएव स्थिर चित्त होना साधना की पहली शर्त है ।

श्रद्धा–किसी वस्तु की महत्ता एवं श्रेष्ठता में विश्वास होना, उसके प्रति मन में भक्ति, प्रीति, प्रतीति एवं समीपता की आकांक्षा होने को श्रद्धा कहते हैं । गायत्री वस्तुतः परमात्मा की ब्राह्मी शक्ति है, उसकी आराधना से निश्चित रूप से दैवी तत्वों का अभिवर्धन होता है । इस अभिवर्धन से प्राणी के आत्मिक और भौतिक आनन्दों का मार्ग अवश्य ही प्रशस्त होता है, "इस ब्राह्मी शक्ति को मैं निस्संदेह प्राप्त कर सकता हूँ और निश्चय ही वह महत्त्वपूर्ण लाभ मुझे भी मिल कर रहेंगे जो इस साधना के फलस्वरूप असंख्यों साधकों को अब तक मिल चुके हैं । इस प्रकार की भावनाओं का मन में उठते रहना, उनके कल्पना चित्र मस्तिष्क में घूमते रहना तथा उन विचारधाराओं के प्रति अधिकाधिक विश्वास भाव दृढ़ होते जाना, गायत्री साधना की श्रद्धा है ।

मनोविज्ञान शास्त्र के जानकार भली प्रकार जानते हैं कि मानव अन्तःकरण में एक उत्पादक प्रचण्ड सजीव विद्युत शक्ति का भण्डार है, जिसके द्वारा सूक्ष्म जगत में ऐसी-ऐसी अदभुत रचनाएँ होती हैं, जो स्थूल जीवन में आश्चर्यजनक फल उपस्थित करती हैं । तंत्र, मंत्र, देवता, शाम, वरदान, ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ आदि चमत्कारी आत्मिक शक्तियाँ इसी विद्युत शक्ति के द्वारा प्राप्त होती हैं और इनका निर्माण श्रद्धा तथा विश्वास के आधार पर होता है । तुलसीदासजी ने श्रद्धा और विश्वास को भवानी तथा शंकर माना है । "भवानी शंकरौ बन्दे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ ।" श्रद्धा एक सांचा है जिसमें आन्तरिक शक्तियाँ ढलकर उसी रूप में प्रकट होती हैं, जिससे अभीष्ट दिशा में तेजी से प्रगति और मनोवाञ्छित सफलता प्राप्त होती है । इस दृष्टि से श्रद्धा को साधना की दूसरी आवश्यक शर्त माना है ।

दृढ़ता– विलम्ब, कठिनाइयाँ तथा निराशा जनक स्थित होते हुए भी एक स्थान पर मजबूती तथा अविचल भाव से अड़े रहने को दृढ़ता कहते हैं । दृढ़ता से बुद्धि निश्चयात्मक हो जाती है, एक ओर लक्ष्य हो जाने से समस्त शक्तियाँ उसी दिशा में लगती हैं और सन्तोषजनक परिणाम उपस्थित करती हैं । अपने कार्य में दृढ़ता हो । उत्साह का आवेग थोड़े ही दिनों में ठण्डा हो जाता है और उसे छोड़ देने, शिथिल कर देने की इच्छा होने लगती है । इस अनुत्साह से मन उचटने लगता है, उठाया हुआ काम नीरस प्रतीत होता है, ऊबा हुआ मन

तरह-तरह के बहाने, संदेह और अविश्वास उत्पन्न करने लगता है, यह क्रम थोड़े दिन चलने के बाद अन्त में उसे अधूरा ही छोड़ दिया जाता है।

किसी आवेश में, उत्तेजना में, प्रलोभन में, आकर्षण में आकर काम नहीं करना चाहिए। उसे हर पहलू से जाँच कर पूरा-पूरा सन्तोष कर लेना चाहिए और जब सन्तोष हो जाय तो उस पर मजबूती के साथ आरूढ़ हो जाना चाहिए, फिर चित्त को तब तक विचलित न करना चाहिए जब तब कि कोई अनिवार्य कारण सामने न आ जाय या उस कार्य की अनुपयोगिता प्रमाणित न हो जाय। पत्ते-पत्ते पर मन डुलाने से, छोटे-छोटे विघ्नों या असुविधाओं के कारण हिम्मत हार जाने से कोई बड़े कार्य पूरे नहीं हो सकते। गायत्री की सिद्धि एक महान कार्य है और उसे सफलतापूर्वक पूर्ण करना उन्हीं के लिए सम्भव है जो दृढ़ स्वभाव के हैं। इसीलिए इस साधना के लिए तीसरी शर्त दृढ़ता रखी गई है।

निरन्तर—लगातार किसी कार्य को करते रहने से वह आदत में शामिल हो जाता है और प्रिय लगने लगता है, उसमें रस आता है और उसी प्रकार के अपने संस्कार एवं स्वभाव बनने लगते हैं। मनुष्य-आदतों का पुतला है। अन्तर्मन का उस पर प्रभुत्व रहता है। कोई बात चित्त में गहरे संस्कार के रूप में तभी जमती है जब उसे दीर्घ काल तक निरन्तर सेवन किया जाय। मुलायम रस्सी की रगड़ से कठोर पत्थर पर निशान बन जाते हैं। असंस्कृत तन पर भी निरन्तर रगड़ की जाय तो वह सुसस्कृंत बन सकता है।

थोड़े दिन तक मन में घूमने वाली बात विचार कही जाती है। विचार की शक्ति सीमित होती है, पर दीर्घकाल तक सेवन किये हुए, धारण किये हुए, विचार संस्कार के रूप में परिपक्व हो जाते हैं और फिर उनके द्वारा प्रेरणा का ऐसा मानसिक क्रम बँध जाता है कि इच्छाएँ उसी केन्द्र के आस-पास भ्रमण करने लगती हैं। फिर उसी दिशा में जीवन की गतिविधि चल पड़ती है। गायत्री की सतोगुणी धारा अन्तस्तल के गहनतम भाग तक पहुँचाने के लिए यह आवश्यक शर्त है कि उस साधन को निरन्तर दीर्घकाल तक अपनाया जाय। चंद रोज उसे करके छोड़ देने से स्थायी लाभ नहीं हो सकता उसे तो जीवन का अभिन्न सहचर बना लेने में ही आत्मा का कल्याण है।

समय पर—दिन के प्रत्येक भाग में प्रकृति के कुछ सूक्ष्म तत्वों की विशेषता रहती है। वृक्ष दिन में ऑक्सीजन उगलते हैं पर वेही रात को ऑक्सीजन खाकर कार्बन डाइऑक्साइड गैस उगलते हैं, जिससे रात और दिन के वायु में काफी अन्तर पड़ जाता है। प्रातःकाल की वायु में जो जीवनीशक्ति, प्रफुल्लता और ताजगी होती है वह मध्याह्न को नहीं रहती। जैसे स्थूल तत्वों में समय भेद से अन्तर पड़ता रहता है वैसे ही सूक्ष्म तत्वों में भी अन्तर पड़ता है। प्रातःकाल सतोगुण की अधिकता रहती है, दोपहर बाद रजोगुण और रात्रि में तमोगुण का प्राबल्य रहता है। साधना पर भी समय का प्रभाव होता है क्योंकि मन पर वातावरण का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।

एक विशेष प्रकार की भूमि में, एक विशेष ऋतु में, एक विशेष प्रकार की रीति से, एक बीज बोया जाता है तो उसकी फसल सन्तोषजनक होती है, पर यदि उपरोक्त विधि व्यवस्था का ध्यान रखे बिना यों ही अव्यवस्थित रीति से बीज बोया जाय तो उसका आशा जनक परिणाम प्राप्त न होगा। दुधारू पशु समय पर दुहे जाते हैं तो उनका दुग्ध क्रम ठीक रहता है पर यदि इस क्रम को बिगाड़ दिया जाय कभी दिन में, कभी रात में, कभी सबेरे, कभी दोपहर को उन्हें दुहा जाय तो इसका परिणाम बुरा होगा। साधना जिस समय पर की जाती है, उस समय के वातावरण के अनुसार मनोभूमि में एक विशेष प्रकार के अंकुरों का निर्माण होता है जो अपने विशेष क्रम से परिपुष्ट होने के लिए बढ़ते हैं, परन्तु यदि समय की अव्यवस्था रहे तो एक प्रकार के जमे अंकुर मुरझाते हैं, दूसरे प्रकार के नये जमते हैं फिर वे भी परिवर्तनों के अनुसार सूखते, हरे होते हैं। इस गड़बड़ी से यह फसल वैसे अच्छे फल नहीं ला पाती जैसे कि लाने की आशा करनी चाहिये। इसलिए साधना की पाँचवीं शर्त यह है कि समय पर नियत मर्यादा में, नियमित रूप से साधना की जाय।

यह पाँच शर्त न केवल गायत्री की दैनिक साधना के लिए वरन् उच्चस्तरीय साधनाओं के लिए विशेष रूप से लागू होती हैं। जीवन के प्रत्येक कार्य के लिए भी इन्हें लागू किया जाना चाहिये। इन उपरोक्त पाँच शर्तों के साथ जो भी कार्य किया जायेगा वह उचित रीति से उन्नति की ओर बढ़ेगा और संतोषजनक परिणाम उपस्थित करेगा।

मंत्र साधना में विनियोग का महत्त्व

मंत्रों में शक्ति कहाँ से आती है ? कौन-सा मंत्र किस शक्ति को जागृत करता है ? उसका प्रभाव परिचय किस प्रकार उत्पन्न होता है ? इसका एक सुनिश्चित विज्ञान है । सामान्य दृष्टि में मंत्र कुछ अक्षरों या शब्दों का समुच्चय मात्र दिखाई देते हैं, परन्तु वस्तुतः मन्त्र वहीं तक सीमित नहीं हैं । उनका निर्माण एक विशेष प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किया गया है और उनके उपयोग से, साधन से साधक में एक विशेष शक्ति जागृत होती है । यह बात अलग है कि उस शक्ति को देखा नहीं जा सकता, तो शक्तियाँ कौन-सी देखने में आती हैं या किनका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है ? यही बात तो यह है कि शक्ति स्वरूप छुआ तो जा सकता है, पर शक्ति को देखा या दिखाया नहीं जा सकता । ईथर तत्व में शब्द प्रवाह संचार को रेडियो यन्त्र अनुभव तो करा सकते हैं, परन्तु ईथर को उसके असली रूप में देखा नहीं जा सकता । गर्मी-सर्दी, सुख-दुःख आदि की केवल अनुभूति होती है । पदार्थ के रूप में न तो उन्हें प्रत्यक्ष देखा जा सकता है और न ही पदार्थ की तरह अनुभव किया जा सकता है । यही बात मंत्रों के सम्बन्ध में भी लागू होती है । उनके द्वारा जो शक्ति जागृत होती है, उसको केवल अनुभव किया जा सकता है, परन्तु उच्चारित शब्दावली की मंत्रों की शक्ति नहीं कहा जा सकता है । किसी सोते हुए व्यक्ति का हाथ पकड़ कर, झखझोर कर उसे जगाया तो जा सकता है परन्तु हाथ पकड़ना या झखझोरना जागृति नहीं है । अधिक से अधिक इस प्रक्रिया को जगाने की निमित्त होने का श्रेय दिया जा सकता है । मन्त्रोच्चार भी अन्तरंग में और अन्तरिक्ष में भरी पड़ी अगणित चेतना शक्तियों में से कुछ को जागृत करने का निमित मात्र है ।

मन्त्रों में शक्ति कहाँ से आती है ? या किस प्रकार मन्त्रोच्चार के अन्तरंग में निहित शक्ति जागृत होती है तथा उसमें अन्तरिक्ष में भरी हुई शक्तियों से सम्पर्क सान्निध्य स्थापित होता है ? इसका एक सुनिश्चित विज्ञान है । किस मंत्र से, किस शक्ति को, किस आधार पर जगाया जाये इसका संकेत हर मंत्र के साथ जुड़े हुए विनियोग में बताया गया है । मन्त्र चाहे वैदिक हो या तांत्रिक, दक्षिण मार्गी हो या वाममार्गी, सभी में विनियोग होता है और मंत्र साधन के विधान के साथ ही उनका उल्लेख भी रहता है । जप तो केवल मंत्र का ही किया जाता है, किन्तु नियम है कि जप आरम्भ करते समय इस विनियोग का स्मरण कर लिया जाये । इस स्मरण में मंत्र के स्वरूप और लक्ष्य के प्रति साधना काल में जागरूकता बनी रहती है और साधना सही दिशा में अग्रसर होती रहती है ।

मन्त्र विद्या के अनुसार मन्त्रों के विनियोग के पाँच अंग हैं – ऋषि, छन्द, देवता, बीज और तत्व । इन्हीं से मिल कर मंत्र शक्ति पूर्ण बनती है । ऋषि का अर्थ है मार्ग दर्शक गुरु, ऐसा व्यक्ति जिसने उस मंत्र में परांगतता प्राप्त कर ली हो । गुरु की आवश्यकता सभी विषयों और क्षेत्रों में होती है । अपने विषय में निष्णात और अधिकारी व्यक्ति ही सम्बन्धित विषय का शिक्षण दे सकता है । चिकित्सा, संगीत, कला, विज्ञान किसी भी विषय का ज्ञान प्राप्त करना हो और उसमें पारंगतता अर्जित करना हो तो अनुभवी शिक्षक की सहायता से ही काम बनता है । केवल पुस्तक पढ़कर तैरना नहीं सीखा जा सकता, इसके लिए किसी तैराक की ही सहायता प्राप्त करनी पड़ती है । चिकित्सा ग्रन्थ और औषधि भण्डार उपलब्ध रहने पर भी चिकित्सक की आवश्यकता पड़ती है । विभिन्न साधकों की आन्तरिक स्थिति और मनोभूमि अलग-अलग रहती है । उनकी स्थिति के अनुसार उनके साधना मार्ग में भी कई प्रकार के उतार-चढ़ाव आते रहते हैं । इस स्थिति में सही निर्देशन और उत्पन्न होने वाली उलझनों का समाधान वही कर सकता है जो इस विषय में परांगत हो । गुरु का यह कर्तव्य भी हो जाता है कि शिष्य का न केवल पथ-प्रदर्शन करे, वरन् उसे अपनी शक्ति का एक अंश अनुदान स्वरूप देकर उसके प्रगति पथ को सरल भी बनाये । इसलिए ऋषि का, गुरु का, मार्गदर्शक का आश्रय लेना मंत्र साधना की प्रथम सीढ़ी बताया गया है ।

मन्त्र विनियोग का दूसरा अंग है– छन्द । छन्द का अर्थ है लय । छन्द से सामान्य अर्थ कविता में प्रयुक्त होने वाली मात्राओं के नियमों से लिया जाता है परन्तु मन्त्रों के संदर्भ में छन्द का आशय यहीं तक सीमित नहीं है । मन्त्रों की रचना में कविता के नियमों का पालन अनिवार्य नहीं है । यहाँ लय को ही छन्द समझना चाहिए । किस स्वर से ? किस क्रम से ? किस उतार-चढ़ाव के साथ मन्त्रोच्चार किया जाय ? इसका एक स्वतन्त्र शास्त्र है । सितार में तार तो बराबर ही होते हैं, अँगुलियाँ चलाने का क्रम भी हर वादन में चलता है किन्तु बजाने

वाले का कौशल तारों पर आघात करने के क्रम में हेर फेर करने से विभिन्न राग-रागिनियों का ध्वनि प्रवाह उत्पन्न करता है। मन्त्रोच्चार के विभिन्न भेदों को भी इसी प्रकार समझा जा सकता है। मानसिक, वाचिक, उपांशु, उदात्त अनुदात्त और स्वरित आदि अनेकानेक भेद प्रभेद हैं, जिनके आधार पर एक ही मन्त्र के द्वारा विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न की जा सकती हैं। मन्त्रोच्चार से उत्पन्न होने वाली ध्वनि तरंगों के कम्पन और उनकी प्रतिक्रिया इसी लय पर निर्भर है। साधना विज्ञान में इन्हें यति कहा जाता है। एक ही यति सबके लिए उचित नहीं होती। साधक की स्थिति और आकांक्षा को दृष्टिगत रखते हुए यति का, लय का निर्धारण करना पड़ता है। यह निर्धारण मन्त्र सिद्ध अनुभवी मार्गदर्शक ही भली प्रकार करा सकते हैं। यह अन्य किसी के बस की बात नहीं है।

देवता विनियोग का तीसरा चरण है। देवता का अर्थ है चेतना सागर में से अपने अभीष्ट शक्ति प्रवाह का चयन। एक ही समय में अनेक रेडियो स्टेशन अपने कार्यक्रम प्रसारित करते हैं। उन सबकी फ्रीक्वेन्सी अलग-अलग होती है। इस आधार पर ही रेडियो सेट के द्वारा यह सम्भव होता है कि अपनी पसन्द का कार्यक्रम सुना जा सके और अन्यत्र में चल रहे रेडियो प्रोग्राम बन्द रखे जा सकें। यदि ऐसा न हो, फ्रीक्वेन्सी अलग-अलग न हो तो सभी रेडियो स्टेशनों से ब्रॉडकास्ट किये जाने वाले कार्यक्रमें का ध्वनि प्रवाह मिलकर एक हो जाता और कहीं का भी प्रोग्राम सुन पाना सम्भव न रहता। निखिल ब्रह्माण्ड में ब्रह्म चेतना की अनेक धाराएँ समुद्री लहरों की तरह अपना पृथक् अस्तित्व लेकर चलती हैं। भूमि एक ही होती है किन्तु उसमें भी परतें अलग-अलग होती हैं। समुद्रीय अगाध जल से पानी की परतें तथा असीम आकाश में वायु से लेकर किरणों तक की अनेक परतें होती हैं। इसी प्रकार ब्रह्म चेतना के अनेक प्रयोजनों के लिए उद्भूत अनेक शक्ति तरंगें निखिल ब्रह्माण्ड में प्रवाहित होती रहती हैं। उनके स्वरूप और प्रयोजनों को ध्यान में रखते हुए ही उन्हें देवता कहा जाता है।

किस मन्त्र के लिए ब्रह्म चेतना की किस दिव्य तरंग का प्रयोग किया जाय ? इसके लिए विधान निर्धारित है। स्थापना, पूजन, स्तवन आदि क्रियाएँ इसी प्रयोजन के लिए होती हैं। किसके लिए देव सम्पर्क का कौन सा तरीका ठीक रहेगा यह निश्चय करके ही मन्त्र साधक को प्रगति पथ पर अग्रसर होना होता है। दबी हुई, प्रसुप्त क्षमताओं को प्रखर करने के लिए ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है यन्त्रों को चलाने के लिए ईंधन चाहिए। हाथ पैर से चलने वाले यन्त्रों के लिए न सही, उन्हें चलाने वाले हाथ पैरों को काम करते रहने के लिए तो ऊर्जा की जरूरत रहती ही है। यह ऊर्जा, शक्ति जुटाने पर ही यन्त्र काम करते हैं। मन्त्रों की सफलता भी इसी प्रकार ऊर्जा उत्पन्न करने पर निर्भर है। ऊर्जा का उत्पादन किस प्रकार किया जाय, इसी का संकेत विनियोग में निहित रहता है। साधना विज्ञान का, मन्त्र विद्या का सारा कलेवर इसी आधार पर खड़ा किया गया है। आयुर्वेद में शरीर शोधन के लिए जिस प्रकार वमन, विरेचन, स्नेहन, स्वेदन, नस्य यह पंच कर्म शरीर शोधन के लिए आवश्यक माने गये हैं, उसी प्रकार व्यक्तित्व के परिष्कार के अतिरिक्त मन्त्र साधना में ऋषि, छन्द, देवता, बीज और तत्व ये पाँच प्रमुख आधार हैं। जो इन सब साधनों को जुटा कर मन्त्र साधन कर सकें, उन्हें अभीष्ट प्रयोजन की प्राप्ति होती है।

गायत्री मन्त्र के विनियोग का देवता सविता और ऋषि विश्वामित्र को बताया गया है। इन दोनों तत्वों को हृदयंगम करने से साधक की पूर्वभूमिका का उचित निर्माण हो जाता है।

सविता यों मोटे अर्थ में सूर्य को कहते हैं। इसलिए गायत्री को सूर्य का मन्त्र भी कहा जाता है। महाभारत के अनुसार कुन्ती ने सूर्य मन्त्र (गायत्री) की उपासना द्वारा तेजस्वी कर्ण को जन्म दिया था। गायत्री जप करते समय सूर्यान्मुख रहने का विधान है। प्रातः पूर्व की ओर, सांय पच्छिम की ओर, मध्याह्न उत्तर की ओर मुख करके जप करने का जो विधान है उसमें सूर्योन्मुख रहना ही कारण है। जहाँ गायत्री का प्रतिमाविग्रह स्थापित नहीं होता वहाँ सूर्य को ही गायत्री का प्रतीक मानकर उसके सम्मुख जप करने का विधान बना हुआ है। जप के साथ सूर्योपस्थान, सूर्य अर्घदान, सूर्यस्तवन की प्रक्रिया इसी से जुड़ी है कि गायत्री के देवता सविता का अर्चन भी यथोचित रूप से होता रहे।

गायत्री की छवि "सूर्य-मण्डल मध्यस्था" मानी जाती है। भगवती गायत्री का स्वरूप सूर्य-मण्डल के बीच में ही चित्रित किया गया है। निराकार उपासना करने वाले दीपक की लौ या सूर्य के समान प्रकाशवान तेज बिन्दु

का ध्यान करते हुए गायत्री जप करते हैं । अपने भीतर उस महातेज को ओत-प्रोत करने के सम्बन्ध में १।२ में 'सूर्यः चक्षुः भूत्वा अक्षिणै प्राविशत्' की भावना अपनाने का निर्देश किया गया है । नेत्रों के माध्यम से सूर्य मुझ में प्रकाश रूप प्रवेश करता हुआ रोम-रोम को प्रकाशवान कर रहा है । यह धारणा गायत्री उपासक की सूक्ष्म चेतना को प्रकाशवान बनाती है ।

"यो असौ आदित्ये पुरुषाः सो असौ अहम्" ।

–वा.य. ४०।१७

अर्थात्--'जो यह आदित्य पुरुष है वही मैं हूँ ।' अपने को अज्ञानरूपी अन्धकार से दूर ज्ञान प्रकाश से प्रकाशित आदित्य रूप आत्मा अनुभव करने से भी गायत्री के देवता सविता का विनियोग बनता है ।

''यो देवः सविता स्माकं धियो धर्मादि कर्माणि
प्रेरयेत्तस्य तद्भर्गो स्तद्वरेण्य मुपास्यहे ।"

अर्थात--जो सविता देवता हमारी बुद्धि को धर्म आदि सत्कर्मों की ओर प्रेरित करता है उसके वरेण्य भर्ग की हम उपासना करते हैं ।

यहाँ यह स्पष्ट कर दिया गया है कि केवल प्रकाश का ध्यान करना ही पर्याप्त नहीं वरन् उस प्रकाशवान् तेजस्वी परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए जो हमें सत्प्रवृत्तियों की ओर प्रेरणा देता है ।

"तमसो मा ज्योतिर्गमय" में इसी भावना को अपनाने का निर्देश है । मैं प्रकाशरूप स्वरूप हूँ, प्रकाश मेरा लक्ष्य है । प्रकाश की ओर चल रहा हूँ और अन्त में प्रकाश बनकर ही रहूँगा, ऐसी मान्यता और भावना रखकर गायत्री उपासना करने वाला इस महामन्त्र के देवता सविता का उचित विनियोग कर सकता है ।

ऋषि विश्वामित्र है । (विश्वामित्रः सर्व मित्रः) विश्वामित्र अर्थात् विश्व का सबका मित्र । सबको मित्रता की आँख से देखने का स्वभाव बनाकर गायत्री उपासक इस महामन्त्र के ऋषि विश्वामित्र का अपनी मनोभूमि में आह्वान करता है । 'अद्वेष्टा सर्व भूतेषु' की 'मित्रस्य चाक्षुषा समीक्षे' की भावना रखकर सबसे बैर त्यागने और सबको मित्र मानने की प्रवृत्ति बना लेने वाला गायत्री उपासक अपने आपको विश्वामित्र परम्परा का अनुयायी बनाकर गायत्री साधन की सफलता की एक महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक शर्त पूरी कर लेता है ।

पुरश्चरण विधि

गायत्री पुरश्चरण का विधि-विधान बहुत विस्तृत एवं जटिल हैं । संक्षेप में एवं सरल रूप में उसके सभी अंगों का वर्णन पृथक-पृथक इस प्रकार हैं ।

(१) नित्य कर्म

प्रतिदिन प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में निद्रा त्याग कर उठे । आँख खुलते ही ईश्वर का ध्यान करे और मल-मूत्र का विसर्जन करके स्नान करे । शुद्ध धुले हुए वस्त्र धारण करे । आहार-विहार को ठीक रखे । बुरे कर्मों से बचे । बुरे विचारों से दूर रहे । ब्रह्मचर्य से रहे ।

गुरुपूजनम् गुरुध्यानम्

नित्य कर्म में प्रतिदिन ब्रह्म मुहूर्त में शैय्या से उठकर सुखासन में स्थित हो, अपने मस्तिष्क मध्य में सहस्त्रार स्थित योग पीठ पर विराजमान सर्वसिद्धि प्रदाता गुरुदेव का ध्यान करना चाहिए । ध्यान का मन्त्र इस प्रकार है--

ब्रह्मरन्ध्रे सिते पद्मे सहस्रदलशोभिते ।
श्रीगुरुं परमात्मानं व्याख्यामुद्रालसत्करम् ।।१।।
द्विनेत्रं द्विभुजं स्मेरं कर्पूरशकलोज्जवलम् ।
पद्मासनं सदा प्रातर्ध्यायेदाखिलसिद्धिदम् ।।२।।
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।३।।
नमोऽस्तु गुरवे तस्मै गायत्रीरूपिणे सदा ।
यस्य वागमृतं हन्ति विषं संसारसंज्ञकम् ।।४।।

पुरश्चरण के नियम

पुरश्चरण के लिए जिन नियमों का पालन करना चाहिए, उनका उल्लेख नीचे किया जाता है–

पूजा त्रैकालिकी नित्यं जपस्तर्पणमेव च ।
होमं ब्राह्मण भुक्तिश्च पुरश्चरण तदुच्यते ।।

–कुलार्णव तन्त्र

नित्यप्रति त्रिकाल पूजन, जप, तर्पण, होम तथा ब्राह्मण भोजन कराना पुरश्चरण कहलाता है ।

पर्वताग्रे नदीतीरे विल्वमूले जलाशये ।
गोष्ठे देवालयेऽश्वत्थे उद्याने तुलसी वने ।।
पुण्य क्षेत्रे गुरोःपार्श्वे चिन्तैकाग्रस्थलेऽपि च ।
पुरश्चरणकृन्मन्त्री सिध्यत्येव न संशयः ।

–विश्वामित्र कल्प

पहाड़ की चोटी पर, नदी किनारे, विल्ववृक्ष के नीचे, नदी या तालाब पर, गौशाला में, देव मन्दिर में, पीपल के नीचे, बगीची में, तुलसी वन में, तीर्थ स्थान में, गुरु के निकट या जहाँ चित्त की एकाग्रता बढ़ती हो, उस स्थान पर मन्त्र जानने वाले को पुरश्चरण करना चाहिए, वहाँ सिद्धि मिलती है, इसमें सन्देह नहीं ।

क्षीराहारी फलाशी वा शकाशी व हविष्यभुक् ।
भिक्षाशी वाजपेद्यत्तत्कृच्छ चांद्रसमंभवेत् ।।

दूध पीने वाला, फल खाने वाला, शाक खाने वाला, हविष्यान्न खाने वाला या भिक्षान्न खाने वाला यदि जप करे तो वह कृच्छ्र के समान होता है अर्थात् फिर उसे जप करने से पूर्व कृच्छ्र चान्द्रायण करने की आवश्यकता नहीं होती ।

लवणं क्षारमाम्लं च गृंजनादि निषेधितम् ।
तांबूलं च द्विभुक्तिश्च दुष्टावासःप्रमत्तताम् ।।

नमक, क्षार, खटाई, प्याज आदि निषिद्ध भोजन, पान, दो बार का भोजन तथा दुष्ट वास और प्रमाद यह छोड़ देने चाहिए ।

श्रुतिस्मृति विरोधं च जपं रात्रो विवर्जयेत् ।

अर्थात् श्रुतिस्मृति का विरोध तथा रात्रि का जप वर्जित है ।

भूशय्या ब्रह्मचारित्वं मौनचर्य्यास्तथैव च ।
नित्यं त्रिवर्षणं स्नानं क्षुद्रकर्म विवर्जनम् ।।
नित्य पूजा नित्यदान मानन्द स्तुति कीर्त्तनम् ।
नैमित्ताकर्चनं चैव विश्वासो गुरु देवयोः ।।
जप निष्ठा द्वादशेते धर्माः स्युर्मंत्रसिद्धिदा ।

पृथ्वी शयन, ब्रह्मचर्य व्रत, मौन, त्रिकाल, संध्या, स्नान, बाल न बनवाना, नित्य पूजन, दान, स्तुति, कीर्त्तन, नैमित्तिक अर्चन, गुरु एवं देवता का विश्वास तथा जप में निष्ठा ये बारह मन्त्र सिद्ध करने वाले के लिए आवश्यक कार्य हैं ।

ज्येष्ठापाढा भाद्रपदं पौषं तु मलमासकम् ।
अंगार शकिवारौ तु व्यतिपाप ज वैघृतिम् ।।
अष्टमी नवमी षष्ठी चतुर्थी च त्रयोदशीम् ।
चतुर्दशीममावस्यां प्रदोपञ्च तथा निशि ।।

जेष्ठ, आषाढ़, भाद्रपद, पौष तथा अधिक मास, मंगल व शनिवार, व्यतीपात तथा वैधृति योग, अष्टमी, नवमी, षष्ठी, चतुर्थी, त्रयोदशी, चतुर्दशी तथा अमावस्या, प्रदोष, रात्रिकाल पुरश्चरण के लिए वर्जित है ।

यमाग्नि रुद्र सर्पेन्द्रवसु श्रवण जन्मभम् ।
मेष कर्म तुला कुम्भान्मकरं चैव वर्जयेत् ।।
सर्वाण्येतानि वर्ज्यानि पुरश्चरण कर्मणि ।

भरणी, कृत्तिका, आद्रा, आश्लेषा, ज्येष्ठा, घनिष्ठा, श्रवण और जन्म नक्षत्र तथा मेष, कर्क, तुला, कुम्भ, मकर लग्नों के समय पुरश्चरण आरम्भ नहीं करना चाहिए ।

गुरु शुक्रोदये शुद्धे लग्ने सद्वारशोधिते ।
चन्द्रतारानुकूल्ये च शुक्ल पक्षे विशेषतः ।
पुरश्चरणकं कुर्यान्मन्त्रसिद्धिः प्रजायते ।।

गुरु शुक्र के उदय होने पर शुद्ध लग्न में, अच्छे वार में अनुकूल चन्द्र तथा तारा में, विशेष रूप से शुक्ल पक्ष में पुरश्चरण करने से मन्त्र की सिद्धि होती है ।

कृष्णाजिने ज्ञानसिद्धिर्मिक्षिश्रीर्व्याघ्रवर्मणि ।
स्यात्पौष्टिकं च कौशेयं शान्तिकं वेत्रविष्टरम् ।।
वंशासने व्याधिनाशः कंबले दुःख मोचनम् ।
सर्वाभावेत्वासनाथ कुशविष्टरमिध्यत् ।।

काले मृग का चर्म ज्ञान सिद्धि के लिए, मोक्ष तथा श्री के लिए व्याघ्र का चर्म, पुष्ट कार्य के लिये रेशम, शान्ति कार्य के लिए बेंत, व्याधिनाश के लिए बाँस, दुःख मोचन के लिए कम्बल का आसन लेना चाहिए परन्तु सब के अभाव में कुश का आसन ग्रहण करना चाहिए ।

आरम्भ दिनमारभ्य समाप्तिन दिवसावधि ।
नन्यूनं नातिरिक्तिं च जपं कुर्याद दिने दिने ।।
नैरंतयण कुर्वीत स्वस्ववृत्तिं लिंपयेत् ।
प्राततरारभ्य, विधिवज्जपेन्मध्यं दिनावधि ।।
मनः संहरण शौचं यानं मन्त्रार्थ चिंतनिम् ।

प्रारम्भिक दिन से लेकर अन्तिम दिन तक एकसा ही एक ही संख्या में जप करे, न कम करे न अधिक करे । निरन्तर ऐसा करता ही रहे, अपनी वृत्ति के चक्कर में लिप्त न हो जाय । प्रातःकाल से लेकर मध्याह्न तक विधिवत् जप करता रहे । मन में पवित्र रहे और मन्त्रार्थ का चिंतन करता रहे ।

होमस्य तु दशांशेन तर्पणं समुदीरितम् ।
तर्पस्य दशांशेन चाभिषेक ततः परम ।
अभिषेक दशांशेन कुर्याद् ब्राह्मण भोजनम् ।

होम का दशांश तर्पण और तर्पण का दशांश अभिषेक तथा अभिषेक का दशांश ब्राह्मण भोजन कराना चाहिए ।

(२) संध्या-

पुरश्चरण आरम्भ करते हुए सबसे पूर्व संध्या करनी चाहिए। सन्ध्या की अनेक विधियाँ प्रचलित हैं। यजुर्वेदीय, ऋग्वेदीय, सामवेदीय संध्याए प्रसिद्ध हैं। दक्षिणात्यों की संध्याएँ, उत्तर प्रदेश वालों से भिन्न देखी जाती हैं। सनातन धर्मी जनता में जो संध्या आजकल प्रचलित है वह श्रुति और स्मृति दोनों के मिश्रित मन्त्रों वाली है। आर्य-समाजी संध्या अलग है। इनमें से किसी भी संध्या को अपनाया जा सकता है। हमारे मत से गायत्री ब्रह्म संध्या सर्वोत्तम है, जिसके प्रमुख अंग हैं-

(१) पवित्रीकरण, (२) आचमनम्, (३) शिवा बन्धनम्, (४) प्राणायाम, (५) न्यास, (६) अघमर्षण, (७) पृथ्वी पूजनम्, (८) चन्दन धारणम्, (९) कलावा-रक्षासूत्र बन्धनम्, (१०) कलश पूजनम्, (११) दीप पूजनम्, (१२) गुरुवन्दना-व्यास आवाहनम्, (१३) सर्वदेव नमस्कारम् आदि। इनका विस्तृत वर्णन गायत्री की दैनिक साधना प्रकरण में पहले ही भलीभाँति किया जा चुका है।

ब्रह्मसंध्या के पश्चात गायत्री पुरश्चरण का विधिपूर्वक संकल्पव्रत धारण किया जाता है।

'शारदा तिलक तंत्र शास्त्र' के अनुसार जप माला का विधान इस प्रकार है-

'रुद्राक्षः श्वेतपद्माक्षमाले तु अखिले जपेत् ।'

अर्थात्-रुद्राक्ष एवं श्वेत कमल के बीज की माला से सभी प्रकार का जप किया जा सकता है। तुलसी या चन्दन की माला सर्व सुलभ है, अतः इसे प्रयोग में लाना सर्वोत्तम माना गया है। माला एक सौ आठ दाने से युक्त अवश्य होनी चाहिए। माला संस्कारित भी होनी चाहिए। इसके लिए पहले माला को पंचगव्य से, फिर जल से **'ॐ सद्योजातं प्रपद्यामि'** इस मन्त्र से प्रक्षालन करना चाहिए। इसके पश्चात चन्दन, अगरु तथा गन्ध का **'ॐ वामदेवाय'** इस मन्त्र से घर्षण करना चाहिए। **'ॐ अघोरेभ्योऽथ'** इस मन्त्र से धूप देना चाहिए। फिर **'ॐ तत्पुरुषाय'** इससे अनुलेपन तथा **'ॐ ईशानः सर्व'** इस मन्त्र से सौ-सौ बार अभिमन्त्रित करना चाहिए। इसी प्रकार **'ॐ ईशानः'** इससे मेरु को भी अभिमन्त्रित करे। फिर जिस मन्त्र का जप करना हो उस मन्त्र से माला को प्रतिष्ठित करना चाहिए। पश्चात उस मन्त्र का जप करना चाहिए।

माला संस्कार के मंत्र इस प्रकार हैं-

१. ॐ सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमो नमः?
भवे भवेनाति भवे भवस्व मां भवोद्भवाय नमः।।
२. ॐ वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमः श्रेष्ठाय नमो रुद्राय नमः । कालाय नमः कलविकरणाय नमो बलविकरणाय नमो बलाय नमो बलप्रमथनाय नमः सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मनाय नमः ।।
३. ॐ अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोर-घोरतरेभ्यः ।
सर्वेभ्यः सर्वसर्वेभ्यो नमस्ते अस्तु रुद्रेभ्यः ।।
४. ॐ तत्पुरुषाय विद्मेह महादेवाय धीमहि ।
त्नो रुद्रः प्रचोदयात् ।।
५. ॐ ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानाम् ।
ब्रह्माऽधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिवो
मे अस्तु सदा शिवोम् ।।

(३) गायत्री पूजन

गायत्री की दो प्रकार पूजा की जाती है एक पार्थिव पूजा दूसरी मानसी पूजा। इसे ही साकार पूजा या निराकार पूजा कहते हैं। साकार पूजा स्थूल है, निराकार सूक्ष्म है। स्थूल को सरलता पूर्वक हर कोई काम में ला सकता है। निराकार उपासना उन्हीं के लिए सम्भव है जिनकी मनोभूमि विकसित हो चुकी है, जो भली प्रकार एवं देर तक ध्यान मूर्ति को अपने मानस जगत में प्रत्यक्ष देख सकते हैं। जिनमें यह क्षमता न हो उन्हें पार्थिव पूजा करनी चाहिए।

पार्थिव पूजा के लिए एक चौकी पर गायत्री की प्रतिमा स्थापित करनी चाहिए। यह प्रतिमा गायत्री यंत्र के रूप में या देवी के रूप में हो सकती है। उसकी धूप, दीप, चंदन, गंध, अक्षत, नैवेद्य, ताम्बूल, पुंगीफल, दूर्वा, पुष्प, अर्घ नमस्कार आदि से पूजन करना चाहिए। मानसी पूजा में ध्यानावस्थित होकर भावना रूप में ही यह सब पूजा पदार्थ गायत्री माता के सम्मुख उपस्थित करके उनका पूजन किया जा सकता है।

पार्थिव या मानसी पूजा से पूर्व गायत्री का आह्वान करना चाहिए और विश्वास करना चाहिए कि विश्व-व्यापी गायत्री शक्ति का एक विशिष्ट भाग यहाँ मेरी पूजा को स्वीकार करने के लिए पधारा हुआ है। आह्वान मंत्र इस प्रकार है-

(१) आयातु वरदा देवी अक्षरे ब्रह्मवादिनी ।
गायत्री छन्दसां माता ब्रह्मयोनि नमोस्तुते ।।

(२) ॐ गायत्रीत्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप्पंत्तयासहबृहत्युष्णिहा ककुत्सूचीभिः शम्यन्तु त्वा

ॐ गायत्रीदेव्यै नमः। आवाहयामि स्थापयामि ।।१।। आसनं समर्पयामि ।।२।। पाद्यं समर्पयामि ।।३।। अर्घ्यं समर्पयामि ।।४।। आचमनम् समर्पयामि ।।५।। स्नानम् समर्पयामि ।।६।। वस्त्रम् समर्पयामि ।।७।। यज्ञोपवीतम् समर्पयामि ।।८।। गन्धम् विलेपयामि।।६।। अक्षतान् समर्पयामि ।।१०।। पुष्पाणि समर्पयामि।।११।। धूपम् आघ्रापयामि ।।१२।। दीपम् दर्शयामि ।।१३।। नैवेद्यं निवेदयामि ।।१४।। ताम्बूलपुंगीफलानि समर्पयामि ।।१५।। दक्षिणां समर्पयामि ।।१६।। सर्वाभावे अक्षतान् समर्पयामि ।।१७।। ततो नमस्कारं करोमि ।।

पूजा के उपरान्त ध्यान, कचव, न्यास एवं स्तोत्र के द्वारा गायत्री की धारणा तथा प्रतिष्ठा करनी चाहिए । यह पंचोपचार पूजा कहलाती है । पाँचों का आगे वर्णन किया जाता है ।

ध्यान

ध्यान का अभिप्राय है–किसी वस्तु को श्रद्धा और रुचि पूर्वक, सम्मान सहित मनोभूमि में धारण करना । इस प्रकार जिस मूर्ति को मन में धारण किया जाता है वह एक प्रकार से अपना आदर्श बन जाती है और उसी के अनुरूप अपने गुण, कर्म, स्वभाव बनने लगते हैं ।

गायत्री का ध्यान करते समय उस महाशक्ति की विशेषताओं एवं महत्ताओं का ध्यान आता है । तदनुसार वे विशेषताएँ एवं महत्ताएँ साधक का आदर्श बनती हैं और उसमें वे विशेषताएँ स्वयमेव बढ़ने लगती हैं । शक्ति का उपासक दिन-दिन शक्तिमान बनेगा ।

गायत्री के दो प्रकार के ध्यान नीचे दिये हैं, वर्ण परक और शक्ति परक, इनका यथा रुचि ध्यान करें ।

वर्णानां ध्यानम्

तत्कारं चम्पकापीतं ब्रह्म विष्णुशिवात्मकं ।
शतपत्रासनारूढ़ं ध्यायेत् सुस्थान संस्थितम् ।।

चम्पक पुष्प जैसा पीत, ब्रह्मा, विष्णु, शिवात्मक, कमलासन रूप सुन्दर स्थान पर स्थित 'तत' कार का ध्यान करें ।

सकारं चिन्तयेद्देवमलसी पुष्पसन्निभम् ।
पद्म मध्यस्थितं सौम्यमुपपातकं नाशनम् ।।

अलसी के पुष्प के सदृश आभा वाले पद्म के बीच में स्थित सौम्य तथा उपपातकों के विनाश कर्त्ता 'स' कार का ध्यान करना चाहिए ।

विकारं कपिलं नित्यं कमलासन संस्थितम् ।
ध्यायेच्छान्तो द्विजः श्रेष्ठोमहापातक नाशनम् ।।

कमलासन पर स्थित विद्रुम के समान महा पापों का विनाश करने वाले 'वि' कार को द्विज शान्त चित्त से ध्यान करें ।

तुकारं चिन्तयेत्प्राज्ञ इन्द्रनील सम प्रभम् ।
निर्दनहेत् सर्व पापानि ग्रह रोग समुद्भवम् ।।

इन्द्रमणि के समान प्रभा वाले, ग्रह रोगों से समुत्पन्न, समस्त पापों को दहन करने वाले 'तु' कार का विद्वान ध्यान करें ।

वकारं वह्नि दीप्ताभं चिन्तयेच्चविचक्षणः ।
भ्रूण हत्या कृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ।।

प्रज्वलिताग्नि के समान आभा वाले 'व' कार को पंडित लोग ध्यान करें, इसके चिन्तन से भ्रूण हत्या से लगा हुआ पाप शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है ।

रेकारं विमलं ध्यायेत् शुद्ध स्फटिक सन्निभम ।
पापं नश्यति तत्क्षिप्य मगम्यागमनोद्भवम् ।।

शुद्ध स्फटिक के तुल्य निर्मल 'रे' कार का ध्यान करने से अगम्य स्थान में जाने से लगा हुआ पाप दूर होता है ।

रिणकारं चिन्तयेद्योगी शुद्ध स्फटिक सन्निभम् ।
अभक्ष्य भक्षणं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ।।

शुद्ध स्फटिक के सदृश 'णि' कार को योगी पुरुष ध्यान करें, क्योंकि इसका ध्यान करने से अभक्ष वस्तु खा लेने पर लगा पाप शीघ्र ही विनष्ट होता है ।

यकारं तारकावर्णमिन्दु शेष विभूषितम् ।
योगीनां वरदं ध्यायेत् ब्रह्म हत्याविनाशनम् ।।

तारों के वर्ण वाले चन्द्र से विभूषित 'य' कार का ध्यान करना चाहिए, क्योंकि इस महान् वर के प्रदान करने वाले यकार से ब्रह्महत्या कृत पाप नष्ट होता है ।

भकारं कृष्ण वर्णं तु नील मेघ सम प्रभम् ।
ध्यात्वा पुरुष इत्यादि पापं नाशयति द्विजः ।।

नील मेघ की आभा के समान, कृष्ण कान्त 'म' कार का ध्यान करने से द्विज पापों का विनाश करता है ।

गो कार रक्त वर्णं च कमलासन संस्थितम् ।
गो इत्यादि कृतं पापं ध्यात्वा नश्यतितत्क्षणात् ।।

रक्त वर्ण, कमलासन पर, बैठे हुए, 'गो' कार का ध्यान करने से गौवध आदि किये हुए महत्पापों का शीघ्र ही विनाश होता है ।

देकारं रक्त संकाशं कमलासन संस्थितम ।
चिन्तयेत्सततं योगी स्त्री हत्या गहनं परम् ।।

रक्त वर्ण वाले कमलासन पर स्थित 'दे' कार का ध्यान स्त्री हत्या आदि पापों से मुक्ति देता है । योगी पुरुष निरन्तर उसका चिन्तन करें ।

वकारं चिन्तयेच्छुद्धं जाती पुष्प समप्रभम् ।
गुरु हत्या कृतं पापं ध्यानात् नश्यति तत्क्षणात् ।।

जाती फूल के समान आभा वाले शुद्ध 'व' कार का ध्यान करे । इसके ध्यान करने से गुरु हत्या कृत पाप शीघ्र विनष्ट होता है ।

स्यकारं तथा भानुं सुवर्ण सदृश प्रभम् ।
मनसा चिन्तितं पापं ध्यात्वा नुदित चानघ ।।

युवर्ण के समान आभा वाले, 'स्य' कार को मन से चिंतन कर पापों को दूर करना चाहिए ।

धीकारं चिन्तये च्छुक्लं कुन्द पुष्प समप्रभम् ।
पितृ मातृ वधात् पापात मुच्यते नात्र संशयः ।।

कुन्द पुष्प के समान आभा वाले शुक्लवर्ण 'धी' कार के चिन्तन करने से माता-पिता के वध करने पर लगे हुए पाप से मुक्त हो जाता है ।

मकारं पद्म रागाभं चिन्तयेद्दीप्त तेजसम् ।
पूर्वार्जिन्मागतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ।।

पद्म के रंग के समान आभा वाले, दीप्त तेज के समान पूर्व जन्म के पापों अविलम्ब नाश हो जाता है ।

हिकारं शंख वर्णान्तु पूर्ण चन्द्र समप्रभम् ।
अशेष पापं दहनं ध्यायेन्नित्यं विचक्षणः ।।

पूर्ण चन्द्र के समान कान्ति वाले, शंख के से वर्ण वाले, सम्पूर्ण पापों का नाश करने वाले 'ह' कार का ध्यान करे ।

धिकारं पाण्डवं ध्यायेत् पद्मस्योपरि संस्थितम् ।
प्रतिग्रह कृतं पापं स्मरणादेव नश्यति ।।

पद्म के ऊपर स्थित पाण्डुवर्ण 'धि' कार का ध्यान करना चाहिए । प्रतिगृह पाप स्मरण मात्र से ही दूर हो जाते हैं ।

यो कार रक्तवर्णन्तु इन्द्र गोपसम प्रभम् ।
ध्यात्वा प्राणी वधं पापं निर्दहेत्मुनि पुंगव ।।

रक्त वर्ण गोप के समान प्रभा वाले, 'यो' कार को ध्यान कर श्रेष्ठ मुनि लोग प्राणी वध के पाप से मुक्त होते हैं ।

द्वितीय श्चैव यः प्रोक्तो यो कारो रक्त सन्निभः ।
निर्दहेत सर्व पापानि नान्यै पापैः प्रलिप्यते ।।

द्वितीय 'यो' कार जो रक्त वर्ण का कहा है वह ध्यान करने पर सब पापों को विनष्ट कर देता है तथा पुनः पापों में प्रलिप्त नहीं होना पड़ता ।

नः कारन्तु मुखं पूर्वमादित्योदय सन्निभम् ।
सकृत्ध्यात्वा द्विजः श्रेष्ठः सगच्छेत्परमं पदम ।।

उदय होते हुए सूर्य की आभा वाले 'नः' कार का ध्यान पूर्व की ओर मुख करके करने से श्रेष्ठ द्विज परम पद को प्राप्त होता है ।

नीलोत्पल दल श्याम प्रकार दक्षिणायनम् ।
सकृत् ध्यात्वा द्विजः श्रेष्ठः सगच्छेदेश्वरं पद्म ।।

नील कमल के समान श्याम वर्ण 'प्र' कार का ध्यान करके श्रेष्ठ ब्राह्मण ईश्वर पद को प्राप्त करे ।

सौम्यं गोरोचनापीतं चोकारं चतुराननं ।
सकृत्ध्यात्वा द्विजः श्रेष्ठः सगच्छेद्वैष्णावं पदम् ।।

सौम्य, गोरोचन जैसे पीले वर्ण वाले 'चो' कार को एक बार ध्यान कर श्रेष्ठ ब्राह्मण विष्णु पद को प्राप्त होता है ।

शुक्ल वर्णेन्दु संकाशं दकारं पश्चिमाननम् ।
सकृद् ध्यात्वा द्विजः श्रेष्ठः सगच्छेद् ब्राह्मणः पदम ।।

शुक्लचन्द्र के समान पश्चिम मुखी 'द' कार को ध्यान कर श्रेष्ठ ब्राह्मण ब्रह्म पद को प्राप्त करता है ।

यात्कारं तु शिवं प्रोक्तं चतुर्वदनमप्रभम् ।
प्रत्यक्ष फलदो ब्रह्म विष्णुरुद्र इति स्मृतिः ।।

'यात्' कार को तो शिव अथार्त् कल्याणकारी कहा है यह ब्रह्म के समान आभा वाला प्रत्यक्ष शुभ फल देने वाला है ।

न भवेत्सूतकं तस्य मृतकंच न विद्यते ।
यस्त्वेकं न विजानाति गायत्री च तथाविधाम् ।।

जो इस प्रकार गायत्री को सविधि जानता है, उसके न तो कभी सूतक ही होता है और न कभी मृत्यु ही ।

कथितं सूतकं तस्य मृतकं च मयानघ ।
न च तीर्थ फलं प्रोक्तं तथैव सूतकं सति ।।

हे पाप रहित ! मैंने उसके सूतक मृतक वर्णन किये । उनके होने पर उसे न दान का फल प्राप्त होता है और न उसे तीर्थ में जाने का फल लाभ होता है ।

गायत्री शक्ति ध्यान

वर्णास्त्र कुण्डिका हस्तां शुद्ध निर्मल ज्योतिषीम् ।
सर्व तत्वमयी वन्दे गायत्री वेदमातरम् ।।

वर्णास्त्र युक्त कुण्डिका सहित कर वाली शुद्ध निर्मल ज्योति स्वरूपिणी, सर्व तत्वों से युक्त वेदमाता गायत्री की वन्दना करता हूँ ।

मुक्ता विद्रुमहेम नील धवलच्छायैः मुखैस्त्रीक्षणै ।
र्युक्ता मिन्दुनिवद्ध रत्न मुकुटां तत्वार्थ वर्णात्मिकाम् ।।
गायत्रीं वरदाभयांकुशकाशां शूलं कपालं गुणं ।
शंख चक्रमथारविंद युगलं हस्तैर्वहंती भजे ।।

मोती, विद्रुम, सुवर्ण, नील तथा श्वेत आभायुक्त मुख पर स्त्री के सदृश्य दृष्टि वाली, चन्द्र जटित रत्नों के मुकुट को धारण करने वाली, तत्वार्थ प्रकाशन करने वाली, अभय वर प्रदान करने वाली, त्रिशूल, कपाल, शंख तथा चक्र और कमल हाथों में धारण करती हुई गायत्री देवी का ध्यान करता हूँ ।

पंचवक्त्रां दशभुजां सूर्य कोटि समप्रभाम् ।
सावित्रीं ब्रह्मवरदाम् चन्द्रकोटि सुशीतलाम् ।।
त्रिनेत्रां सितवक्त्रां च मुक्ताहार विराजिताम् ।
वरायर्मांकुशकशा हेम पात्राक्ष मालिकाः ।।
शंखचक्राव्ज युगलं कराभ्यांदधतीं पराम् ।
सितपंकज संस्थाच हंसारूढ़ा सुखस्मिताम् ।।
ध्यात्वैवम् मान्साम्भोजे गायत्री कवचम्पठेत् ।

पाँच मुख, दस भुजा वाली, करोड़ों सूर्य के समान प्रभावान् सावित्री, ब्रह्मवरदा, करोड़ों चन्द्र के समान शीतल तीन नेत्र वाली, शीतल वाणी, मोतियों का हार धारण करने वाली, वर, अभय, अंकुश, हेमपात्र, अक्षमाला, शंख, चक्र हाथों में धारण करने वाली, श्वेतकमल पर स्थित, हंसारूढ़, मन्द-मन्द मुस्कराती हुई गायत्री का हृदय-कमल पर ध्यान करके तब गायत्री कवच का पाठ करना चाहिए ।

गायत्री कवच

कवच का अर्थ है आच्छादन। किसी वस्तु से अपने को ढक लिया जाय तो उसे कवच पहनना कहेंगे। लड़ाई के समय प्राचीन काल में योद्धा लोग एक विशेष प्रकार के चमड़े और लोहे से बने हुए वस्त्र पहनते थे जिससे दूसरों के द्वारा किया हुआ शस्त्र प्रहार उन वस्त्रों पर ही रह जाता था । उन वस्त्रों को कवच कहते थे । कवच का काम रक्षा करना है । रक्षा करने वाली वस्तु को कवच कहा जा सकता है । जिस प्रकार पदार्थों से बने हुए कवच के द्वारा शरीर की रक्षा की जाती है उसी प्रकार आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न ऐसे दैवी कवच भी होते हैं जिनका आवरण ओढ़ लेने पर हमारी रक्षा हो सकती है । मन्त्र शक्ति, कर्मकाण्ड और श्रद्धा का सम्मिश्रित आध्यात्मिक कवच इस प्रकार का है कि उससे अपने आपको आच्छादित कर लेने पर शरीर और मन पर आक्रमण करने वाले अनिष्टों को सफलता नहीं मिलती ।

नीचे दो कवच दिये जाते हैं । एक में गायत्री के अक्षरों को 'शक्ति बीज' मानकर उनके द्वारा अपनी रक्षा का आच्छादन बुना जाता है । दूसरे कवच में गायत्री को शक्ति मानकर उसके विविध रूपों द्वारा अपने चारों ओर एक घेरा स्थापित किया जाता है । सुविधा और रुचि के अनुसार इनमें से किसी एक को या दोनों को ही काम में लाया जा सकता है ।

शान्त चित्त होकर कवच का पाठ करते हुए ऐसा ध्यान करना चाहिए कि मेरे अमुक अंग पर अमुक शक्ति का आच्छादन (कवच) चढ़ गया है । अब वहाँ कोई अनिष्ट उसी प्रकार आक्रमण नहीं कर सकता जिस प्रकार योद्धा के शरीर पर धारण हुए कवच को शत्रु नहीं तोड़ सकते । उसी प्रकार मेरे अंग-प्रत्यंगों पर चढ़े हुए आध्यात्मिक कवच को भेदन करके कोई विकार मुझे शारीरिक, मानसिक अथवा किसी भी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचा सकते । इस भावना के साथ धारण किया हुआ कवच सचमुच ही एक बड़ा महत्त्वपूर्ण रक्षा कार्य- पूरा करता है ।

विनियोगः

ॐ अस्य श्रीगायत्रीकवचस्य ब्रह्मा ऋषिर्गायत्रीछन्दो गायत्री देवता ॐ भूः बीजम्, भुवः शक्तिः, स्वः कीलकम्, गायत्रीप्रीत्यर्थ जपे विनियोगः ।

दाहिने हाथ में जल लेकर 'ॐ अस्य श्रीगायत्रीकवचस्य' से आरम्भ कर, 'जपे विनियोगः' तक मंत्र पढ़कर नीचे गिरा देना चाहिए । तदन्तर कवच पाठ करना चाहिए ।

अक्षर शक्ति का कवच

तत्पदं पातु मे पादौ जंघे मे सवितुः पदम् ।
वरेण्यं कोटि देशंतु नाभिं भर्गस्त्थैव च ।।

'तत्' यह पद मेरे पैरों की रक्षा करे । 'सवितुः' यह पद मेरी जंघाओं की रक्षा करे । 'वरेण्यं' पद मेरी कटि प्रदेश की रक्षा करे । 'भर्गः' पद मेरी नाभि की रक्षा करे ।

देवस्य मे तु हृदयं धीमहिति गलं तथा ।
धियो मे पातु जिह्वायां यः पदं पातु लोचने ।।

'देवस्य' पद मेरे हृदय की तथा 'धीमहि' मेरे गले की रक्षा करे ।'धियो' मेरी जीभ की तथा 'यः' पद मेरे दोनों चक्षुओं की रक्षा करे ।

ललाटे नः पदं पातु मूर्द्धानं मे प्रचोदयात् ।

'नः' पद मेरे ललाट की और **'प्रचोदयात्'** मेरे शिर की रक्षा करे ।

तद्वर्णः पातु मूर्द्धानं सकारः पातु भालकम् ।

वर्ण मूर्धा की, कार भाल की रक्षा करे ।

चक्षुषी मे विकरास्तु स्तोत्र रक्षेतुकारकः ।
नासापुटेर्वकारो मे रेकारस्तु कपालयोः ।।

'वि' कार मेरे नेत्रों की और 'तु' कार कर्णों की रक्षा करे । 'व' कार नासा पुट की और 'रे' कार कपाल की रक्षा करे ।

णिकारस्त्वधरोष्ठे च यकारस्तूर्घ्व ओष्ठके ।
आस्य मध्ये मकरास्तु गोकारस्तु कपोलयोः ।।

'णि' कार नीचे के ओष्ठ की, 'य' कार उपरोष्ठ की, मुख के मध्य में 'भ' कार और 'ग' कार दोनों कपोलों की रक्षा करे ।

देकारः कष्ठ देशे चः वकारः स्कन्ध देशयोः ।
स्यकारो दक्षिणं हस्तं धी कारो वाम हस्तकम् ।।

'दे' कार कंठ प्रदेश में, 'व' कार दोनों कन्धों में, 'स्य' कार दायें हाथ की तथा 'धी' यह बायें हाथ की रक्षा करे ।

मकारो हृदयं रक्षेद्धिकारो जठरं तथा ।
धिकारो नाभिदेशं तु यो कारस्तु कटि द्वयम ।।

'म' कार हृदय की रक्षा करे, 'हि' कार पेट की और 'यो' कार कटि द्वय की रक्षा करे ।

गुह्यं रक्षतु यो कार उरू में नः पदाक्षरम् ।
प्रकारो जानुनी रक्षे च्चोकारो जंघ देशयोः ।।

'यो' कार गुह्य प्रदेश की रक्षा करे, दोनों उरुओं में नः पद रक्षा करे ।

'प्र' कार दोनों घुटनों की रक्षा करे । 'चो' कार जंघ प्रदेश की रक्षा करे ।

दकारो गुल्फदेशे तु यात्कारः पाद युग्मकम् ।
जात वेदेति गायत्री त्र्यंवकेतिदशाक्षरा ।।

'द' कार गुल्फ की रक्षा करे, 'यात्' कार दोनों पैरों की रक्षा करे ।

न्यास

न्यास का अर्थ है–स्थापना । किसी स्थान में किसी वस्तु की स्थापना करना न्यास करना कहलाता है । साधना पर स्थित होकर दाहिने हाथ का अँगूठा मध्यमा तथा अनामिका को मिलाकर विविध अंगों का स्पर्श करते हैं और उन अंगों में गायत्री शक्तियों की स्थापना की भावना करते जाते हैं ।

इस प्रकार की भावना से साधक अपने अंग-प्रत्यंगों में एक दैवी शक्ति का अनुभव करता है । यह भावना अपने श्रद्धा विश्वास के कारण सचमुच दृढ़ता और पुष्टि प्रदान करती है ।

शक्ति न्यास

सावित्री मे शिरेः पातु शिखायाममृत्तेश्वरी ।
ललाटं ब्रह्मदैवत्या भ्रवौ मे पातु वैष्णवी ।।

सावित्री शिर की रक्षा करे, अमृतेश्वरी शिखा की, ब्रह्मा देवी ललाट की तथा वैष्णवी भ्रू की रक्षा करे ।

कर्णों मे पातु रुद्राणी सूर्या सावित्राऽम्बके ।
गायत्री वदनं पातु शारदा दशानच्छदे ।।

रुद्राणी कान की, गायत्री शरीर की तथा शारदा ओठों की रक्षा करे ।

द्विजान्यज्ञप्रिया पातु रसनानां सरस्वती ।
संख्यायिनी नासिकां मे कपालौ चन्द्र हासिनी ।।

द्विजों की यज्ञप्रिया रक्षा करें, जीभ की रक्षा सरस्वती करे, नासिका की संख्यायिनी तथा कपाल की चन्द्रहासिनी ।

चिबुकं वेद गर्भा च कण्ठं पात्वघनाशिनी ।
स्तनौ मे पातु इन्द्राणि हृदयं ब्रह्म वादिनी ।।

ठोड़ी की वेद गर्भा, अघनाशिनी कण्ठ की, इन्द्राणी स्तनों की, ब्रह्मवादिनी हृदय की रक्षा करें ।

उदरं विश्व भोक्त्री च नाभौपातु सुरप्रिया ।
जघन नारसिहि च प्रष्ठं ब्रह्माण्ड धारिणी ।।

विश्वभोक्त्री उदर की, सुरप्रिया नाभि की, नारसिही जघन की तथा ब्रह्माण्डधारिणी पीठ की रक्षा करें ।

पार्श्वों मे पातु पद्माक्षी गुह्यां मे गोप्त्रिकाऽवतु ।
ऊर्वोरांकार रूपा च जान्वो सन्ध्यात्मिकाऽवतु ।।

पद्माक्षी पार्श्व की, गोप्त्रिका गुह्य की, ओंकार रूपा उरू की तथा सान्ध्यात्मिका जानु की रक्षा करें ।

जंघयो पातु अक्षोभ्या गुल्फयो ब्रह्म शीर्षका ।
सूर्योपद द्वयं पातु चन्द्रा पादांगुलीषु च ।।

अक्षोभ्या जंघा की, ब्रह्मशीर्षका गुल्फ की, सूर्या दोनों पैरों की, चन्द्रा पैरों की अँगुलियों की रक्षा करें ।

सर्वांग वेद जननीं पातु से सर्वदाऽनघा ।
इत्येत्कवचं ब्रह्मंगायत्र्याः सर्व पावनम् ।
पण्यं पवित्रं पापघ्नं सर्व रोग निवारणम् ।।

वेद जननी सब शरीर की, सर्वदा अनघा मेरी रक्षा करें । यह सर्व पावन ब्रह्म गायत्री का कवच है, जो पुण्यकारी, पवित्रकारी, पापनाशक तथा सर्वरोग निवारक है ।

त्रिसंध्यं यः पठेद्विद्वान् सर्वाकामानवाप्नुयात् ।
सर्वशास्त्रार्थ तत्वज्ञः स भवेद्वेद वित्तमः ।।

त्रिसन्ध्या पाठ करने से विद्वान सब कामनाओं को प्राप्त करता है, वह सब शास्त्रों का जानकार हो जाता है, वेदज्ञ हो जाता है !

सर्व यज्ञ फलं प्राप्ते ब्रह्मान्ते सम्वाप्नुयात् ।
प्राप्नोति जपमात्रेण पुरुषार्थाश्चतुर्विधान् ॥

सब यज्ञ का फल उसे मिलता है । जप मात्र से ही वह चारों पुरुषार्थों को प्राप्त करता है ।

न्यास विधान

वर्ण न्यास मंत्र—

ॐ तत्पादंगुलिषर्वभ्यां नमः	(पैरों की अंगुलियों की गाँठों को)
ॐ सपादांगुलिषर्वभ्यो नमः	(पैरों की अँगुलियों को)
ॐ विजंघाभ्यां नमः	(दोनों जंघाओं को)
ॐ तुर्जानुभ्यां नमः	(दोनों जानुओं को)
ॐ व ऊरुभ्यों नमः	(कटि के नीचे के भाग को)
ॐ रे शिश्नाय नमः	(शिश्न को)
ॐ णि वृषणाभ्यां नमः	(वृषण को)
ॐ यं कट्यै नमः	(कटि को)
ॐ भर्नाभ्यै नमः	(नाभि को)
ॐ गो उदराय नमः	(पेट को)
ॐ दे स्तनाय नमः	(दोनों स्तनों को)
ॐ व उरुसे नमः	(छाती को)
ॐ स्य कण्ठाय नमः	(काण्ठ को)
ॐ धी दन्तेभ्यो नमः	(दाँतों को)
ॐ म तालुने नमः	(तालु को)
ॐ हि नासिकायै नमः	(नासिका को)
ॐ धि नेत्राभ्यां नमः	(नेत्रों को)
ॐ यो भ्रूभ्यां नमः	(भौंहों को)
ॐ यो ललाटाय नमः	(ललाट को)
ॐ नः पूर्वमुखाय नमः	(मुख के पूर्वी भाग को)
ॐ प्र दक्षिण मुखाय नमः	(मुख के दक्षिणी भाग को)
ॐ चो पश्चिममुखाय नमः	(मुख के पश्चिम भाग को)
ॐ द उत्तर मुखाय नमः	(मुख के उत्तर भाग को)
ॐ यात् मूर्ध्ने नमः	(सिर को)

बायें हाथ पर जल रख कर दाहिने हाथ को पाँचों अँगुलियों को डुबाना और फिर उन भीगी अँगुलियों को निर्धारित स्थानों पर स्पर्श करना न्यास कहलाता है । इस न्यास कृत्य से उन स्थानों में सन्निहित देव शक्तियों में अन्तः जागृति होती है ।

करन्यास मन्त्र—

ॐ आपः अंगुष्ठाभ्यां नमः	(अंगूठा को)
ॐ ज्योतिस्तर्जनीभ्यां नमः	(तर्जनी को)
ॐ रसो मध्यमाभ्यां नमः	(मध्यमा को)
ॐ अमृतम् अनामिकाभ्यां नमः	(अनामिका को)
ॐ ब्रह्म कनिष्ठिकाभ्यां नमः	(कनिष्ठा को)
ॐ भूर्भुवः स्वरोम् करतल कर पृष्ठाभ्यां नमः	(हथेली व पृष्ठ भाग को)
ॐ अग्नये हृदयाय नमः	(हृदय को)
ॐ वायवे शिरसे स्वाहा	(सिर को)
ॐ सूर्याय शिखायै वषट्	(शिखा को)
ॐ ब्रह्मणे कवचाय हुम्	(दोनों भुजाओं को)
ॐ विष्णवे नेत्रय बौषट्	(नेत्रों को)
ॐ रुद्राय अस्त्रय फट्	(ताली बजाएँ)

देहन्यास मन्त्र—

ॐ भू पादयोः	(दोनों पैरों को)
ॐ भुवः जान्वोः	(दोनों जानुओं को)
ॐ स्वः नाभौः	(नाभि को)
ॐ महः हृदये	(हृदय को)
ॐ जनः कण्ठे	(कण्ठ को)
ॐ तपः ललाटे	(ललाट को)
ॐ सत्यं मूर्ध्नि	(सिर को)
ॐ तत्पादयोः	(दोनों पैरों को)

ॐ सवितुर्जान्वोः	(दोनों जानुओं को)
ॐ वरेण्यं स्कन्धयोः	(कन्धे को)
ॐ भर्गो हृदये	(हृदय को)
ॐ देवस्य कण्ठे	(कण्ठ को)
ॐ धीमहि वक्त्रे	(ओष्ठ को)
ॐ धियो यो नेत्रे	(नेत्रों को)
ॐ नः मुखे	(मुख को)
ॐ प्रचोदयात् अस्त्रय फट्	(ताली बजाएँ)

स्तोत्र

प्रार्थना और स्तुति से उस शक्ति की महत्ता पर अपना ध्यान केन्द्रित होता है। महिमा में जिन विशेषताओं का वर्णन होता है, उनका प्रायः अपने में अभाव रहने से मन उस ओर आकर्षित होता है और उधर रुचि एवं श्रद्धा उत्पन्न होती है। जैसे किसी निर्धन और भुखमरे व्यक्ति के सामने किसी के बड़े भारी ऐश्वर्य का वर्णन किया जाय और स्वादिष्ट बढ़िया भोजनों का रोचक वर्णन किया जाय तो वह उस ओर लालायित होता है और उस स्थिति का या उन स्वादिष्ट पदार्थों को प्राप्त करने के लिए उसके मन की लालसाएँ प्रदीप्त हो जाती हैं। यह लालसाओं का प्रदीप्त होना किसी कार्य में तत्परतापूर्वक लगने का प्रधान हेतु होता है। स्तोत्र पाठ से साधक में श्रद्धा-भक्ति की जागृति होती है। यहाँ गायत्री के दो स्तोत्र दिये जा रहे हैं। इनमें से दोनों का या किसी एक का अपनी रुचि के अनुसार श्रद्धापूर्वक पाठ किया जाना चाहिए।

गायत्री स्तोत्र

(१)

सुकल्याणीं वाणीं सुरमुनिवरैः पूजितपदाम ।
शिवामाद्यां वन्द्यां त्रिभुवनमयीं वेदजननीम्।।
परां शक्तिं स्रष्टुं विविध विधि रूपा गुणमयीम् ।
भवेऽम्बां गायत्रीं परममृतमानन्दजननीम्।।१।।
विशुद्धां सत्वस्थामखिल दुख दोषार्निहरणीम्।
निराकारां सारां सुविमल तपो मूर्तिमतुलाम् ।।
जगज्ज्येष्ठां श्रेष्ठामसुरसुरपूज्यां श्रुतिनुताम् ।
भजेऽम्बां गायत्रीं परममृतमानन्दजननीम् ।।२।।
तपो निष्ठाभीष्टोम्बजनमन सन्ताप शमनीम् ।
दयामूर्तिस्फूर्ति यतितति प्रसादैक सुलभाम् ।।
वरेण्यां पुण्यां तां निखिल भव बन्धापहरणीम् ।
भजेऽम्बां गायत्रीं परममृतमानन्दजननीम्।।३।।
सदराध्यां साध्यां सुमति मति विस्तार करणीम् ।
विशोकामालोकां हृदयगत मोहान्ध हरणीम् ।।
परां दिव्यां भव्यामगम भव सिन्ध्वेक तरणीम् ।
भजेऽम्बां गायत्रीं परममृतमानन्दजननीम् ।।४।।
अजां द्वैतां त्रैतां विविध गुण रूपां सुविमलाम् ।
तमो हन्त्रीं तन्त्रीं श्रुति मधुरनादां रसमयीम् ।।
महामान्यां धन्यां सततकरुणाशील विभवाम् ।
भजेऽम्बां गायत्रीं परममृतमानन्दजननीम्।।५।।
जगद्धात्री पात्रीं सकल भव संहार करणीम् ।
सुवीरां धीरां तां सुविमल तपो राशि सरणीम् ।।
अनेकामेकां वै त्रयजगदधिष्ठानपदवीम् ।
भजेऽम्बां गायत्रीं परममृतमानन्दजननीम् ।।६।।
प्रबुद्धां बुद्धां तां स्वजनयति जाड्यापहरणिम् ।
हिरण्यां गुण्यां तां सुकविजन गीतां सुनिपुणाम्।।
सुविद्यां निरवद्यामकथ गुण गाथां भगवतीम् ।
भजेऽम्बां गायत्रीं परममृतमानन्दजननीम् ।।७।।
अनन्तां शान्तां यां भजित बुध वृन्दः श्रुतिमयीम्।
सुगेयां ध्येयां यां स्मरति हृदि नित्यं सुरपतिः ।।
सदा भक्त्या शक्त्या प्रणति गतिभिः प्रीतिवशगः ।
भजेऽम्बां गायत्रीं परममृतमानन्दजननीम् ।।८।।
शुद्ध चित्तः पठेद्यस्तु गायत्रीं अष्टकं शुभम् ।
अहो भाग्यो भवेल्लोके तस्य माता प्रसीदति।।६।।

गायत्री वाणी का कल्याण करने वाली है। सुर, मुनि द्वारा इसकी पूजा की जाती है। इसे शिवा कहते हैं। यह आद्या है, त्रिभुवन में वन्दनीय है, वेद-जननी है, पराशक्ति है, गुणमयी है तथा विविध रूप धारण करके प्रादुर्भूत होती है। इस माता गायत्री का जो अमृत और आनन्द का सृजन करती है, हम भजन करते हैं।।१।।

गायत्री विशुद्ध तत्व वाली, सत्वमयी तथा समस्त दुःख, दोष एवं आर्त हरने वाली है। वह निराकार है, सारभूत है और अतुल तप की मूर्ति एवं विमल है। यह संसार में सबसे महान् है, ज्येष्ठ है। देवता तथा असुरों से पूजित है, उस अमृत एवं आनन्द की जननी माता गायत्री का हम भजन करते हैं।।२।।

गायत्री का तपोनिष्ठ रहना ही अभीष्ट है। वह स्वजनों के मानसिक सन्तापों को शमन करने वाली है। वह स्फूर्तिमती है, दयामूर्ति है और उसकी प्रसन्नता प्राप्त कर लेना अत्यन्त सुलभ है। वह संसार के समस्त बन्धनों को हरण करने वाली है एवं वरण करने के योग्य है, उस परम अमृत एवं आनन्द की जननी माता गायत्री का हम भजन करते हैं।।३ ।।

गायत्री निरन्तर आराधना करने योग्य है और उसकी आराधना करना अत्यन्त साध्य है। वह सुमति का विस्तार करने वाली है। वह प्रकाशमय है और शोकरहित है और हृदय में रहने वाले मोहान्धकार को दूर करने वाली है। वह परा है, दिव्य है, अगम संसार सागर से तरने के लिए नौका समान है, उस परम अमृत एवं आनन्द की जननी माता गायत्री का हम भजन करते है ।।४।।

गायत्री अजन्मा है, द्वैता तथा त्रैता है, त्रिगुण एवं सुविमल रूपमयी है। दम को दूर करती है। विश्व की संचालिका है। वाणी सुनने में मधुर एवं रसमयी है। वह महासान्या है, धन्य है और उसका वैभव निरन्तर करुणाशील है। उस परम अमृत एवं आनन्द की जननी माता गायत्री का हम भजन करते हैं ।।५।।

गायत्री संसार की माता है और सकल संसार को संहार करने की भी उसकी शक्ति है। वीर है, धीर है और उसका जीवन पवित्र तपोमय है। वह एक होते हुए भी अनेक है। उसकी पदवी संसार की अधिष्ठान गायत्री है। उस परम अमृत एवं आनन्द की जननी माता गायत्री का हम भजन करते हैं ।।६।।

गायत्री प्रबुद्ध है, बोधमयी है, स्वजनों की जड़ता को नाश करने वाली है, हिरण्यमयी है, गुणमयी है, जिसकी निपुणता सुकवि जनों द्वारा गाई जाने वाली है। निरवयव उनके गुणों की गाथा अकथनीय है, वे भगवती अम्बा गायत्री उस परम अमृत एवं आनन्द की जननी हैं, मैं उनका भजन करता हूँ ।।७।।

गायत्री अनन्त है, शान्त है, इसका भजन करके पंडित लोग वेदमय हो जाते हैं। इसका गान, ध्यान तथा स्मरण इन्द्र नित्यप्रति हृदय से करता है। सदा भक्तिपूर्वक, शक्ति के साथ, आत्म-निवेदनपूर्वक, प्रेमयुक्त आनन्द एवं अमृत की जननी माता गायत्री की मैं उपासना करता हूँ ।।८।।

इस शुभ गायत्री अष्टक को जो लोग शुद्ध चित्त होकर पढ़ते हैं, वे संसार में भाग्यवान हो जाते हैं और माता की उन पर पूर्ण कृपा रहती है ।।९।।

गायत्री स्तोत्र

(२)

यह २४ श्लोकों का मधुर छंदो में कहा गया स्तोत्र है। इसका तन्मयता और श्रद्धापूर्वक पाठ करना चाहिए। स्तोत्र का पच्चीसवाँ श्लोक इस स्तवन का महात्म्य है।

गायत्रीं वेदधात्रीं शतमखफलदां वेद शास्त्रैक वेद्यां।
चिच्छक्तिं ब्रह्म विद्यां परम शिवपहां श्रीपदंवैकरोति ।।
सर्वोकृष्टं पदं तत्सवितुरनुपदाम्ते वरेण्यं शरण्यंभर्गो।
देवस्य धीमह्यभिदधति धियोगोनःप्रचोदयादित्योर्वतेनः ।।१।।

वेद जननी, शतयज्ञ का फल प्रदान करने वाली, वेद और शास्त्रों में अनन्य रूप से जानने योग्य, चित्त शक्ति, ब्रह्म विद्या रूप परम कल्याण पद श्री पद दायिनी, अनुपद में सर्वोत्कृष्ट तत्सवितुः वाली, वरेण्यं शरण्यं-देव के तेज का चिन्तन करता हूँ जो हमारी बुद्धि को प्रेरणा दे-यह और्व का तेज है।

साम्राज्य बीजं प्रणवत्रिपादं सव्याय सव्यं बजऐत्सहस्त्रकम्।
सम्पूर्ण कामं प्रणवं विभूतिं तथा भवेद्वात्म्य विचित्रवाणा।।२।।

सम्राज्य बीज, त्रिपाद प्रणव को सीधे तथा उल्टे क्रम से जो सहस्त्रवार जप करे, वह सम्पूर्ण कामनाओं को, प्रणव को तथा विभूति को उसी प्रकार प्राप्त करता है तदनुरूप ही वाक्य तथा वाणी चिचित्र हो जाती है ।।२।।

शुभं शिवं शोभनमस्तु मह्यं सौभाग्य भोगोत्सव मस्तुनित्यम्।
प्रकाश विद्यात्रय शास्त्रसर्व भजेन्महामंत्रफलंप्रिये वै ।।३।।

मेरा कल्याण हो, शुभ हो, सुन्दर हो, नित्य ही सौभाग्य भोगोत्सव हो। विद्या के प्रकाशनार्थ तथा सम्पूर्ण शास्त्र सिद्धि के लिए महामन्त्र फल का ध्यान करें ।।३।।

ब्रह्मास्त्रं ब्रह्म दण्ड शिरसि शिखिमहद्चब्रह्मशीर्ष नमोतं।
सूक्तं पारायणोक्तं प्रणवमथ महावाक्य सिद्धान्त मूलम् ।।
तुर्थ्यं त्रीणि द्वितीयं प्रथम मनुमहावेद वेदान्त सूक्तम् ।
नित्यं स्मृत्यामुसारं नियमित चरितं मूलमन्त्र नमोन्तमः ।।४।।

ब्रह्मास्त्र को, ब्रह्मदण्ड को, शिर में, शिखा में ब्रह्म शीर्ष को नमस्कार है। पारायणोक्त महावाक्य, सिद्धान्त-मूल प्रणव को, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, महा वेद वेदान्त सूक्त को स्मृति के अनुसार नियमित चरित मूलमंत्र को नमस्कार है ।।४।।

अस्त्रं शस्त्र हतंत्वघोर सहितं दण्डेनवाजी हतम् ।
चादित्यादि हतं शिरोंतसहितं पाप क्षयार्थपरम् ।।
तुर्य्योत्यादिविलोममंत्र पठनं बीजं शिखान्तोर्ध्वकम् ।
नित्यंकाल नियम्यविप्रविदुषांकिं दुष्कृतं भूसुरान्।।५।।

अघोर मंत्र के साथ जप करने से, दण्ड से अस्त्र, शस्त्र से, घोड़ों को समाप्त कर देता है। आदित्यों को भी नष्ट कर देता है जो शीर्ष के साथ जपते हैं, उनके

पापों को भी दूर कर देता है । शिखा के अन्त तक तुर्य से लेकर जो विलोम क्रम से मंत्र का पठन बीजमंत्रों के साथ करते हैं वे काल का नियमन करते हैं विद्वान ब्राह्मणों को इससे क्या काम कठिन है ।

नित्यं मुक्तिप्रदं नियम्यपवनं निर्घोषशक्तित्रयं ।
सम्यग्ज्ञान गुरुपदेशविधिवद्देवीं शिखातामपि ।।
षष्ट्यैकोत्तर संख्ययानुगतसोपुम्नादिमार्गत्रयीं ।
घ्यायेन्नित्यसमस्तवेदजननीं देवीं त्रिसन्ध्यामयीम् ।।६।।

मुक्तिप्रद वायु को नित्य ही रोककर शब्द रहित, तीनों शक्तियों को विधिपूर्वक ज्ञान स्वरूपणी देवी तथा शिखा को, सुषुम्नादि तीन मार्ग वाली, सम्पूर्ण वेदों की जननी सन्ध्यात्रय से युक्त गायत्री को नित्य ही ध्यान करें ।।६ ।।

गायत्रीं सकलागमार्थ विदुषां सौरस्य बीजेश्वरीं ।
सर्वाम्नाय समस्त मंत्र जननीं सर्वज्ञधामेश्वरीम् ।।
ब्रह्मादित्रय सम्पुटार्थ करणीं संसार पारायणीम् ।
सन्ध्यां सर्व समानतंत्र परया ब्रह्मानुसंधायिनीम्।।७।।

सम्पूर्ण आगमों (तन्त्रों) के अर्थवेत्ता विद्वान, सूर्य बीज की अधिष्ठात्री सब सम्प्रदायों के समस्त मन्त्रों की माता, सर्वज्ञ और सब धार्मों की ईश्वरी ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव–तीनों को मिलाने वाली संसार-पारायणी, सब तंत्रों में समानार्थ वाली एवं ब्रह्म का अनुसन्धान करने वाली हैं ।।७ ।।

एक द्वि त्रिचतुः समान गणना वर्णाष्टकं पाद्योः ।
पादादौ प्रणवादि मंत्र पठने मंत्रत्रयी सम्पुटाम् ।।
सन्ध्यायां द्विपंद पठेत्परतरं सायं तुरीयं युतं ।
नित्यानित्य अनंत कोटि फलदं नमस्कर्महे ।।८।।

एक, दो, तीन, चार में समान गिनती वाली प्रत्येक पाद में आठ अक्षरवाली । पाद के आदि में प्रणव तथा मंत्रत्रयी–तीनों व्याहृतियों के सम्पुट वाली है । द्विपद संन्ध्या को तुरीय एवं सायंकाल सहित जो करते हैं उन्हें इस अनित्य संसार में भी नित्य और काटिफल देती है, उसको नमस्कार है ।।८ ।।

ओजोऽसीति सहोऽस्महोबलमसि भ्राजोऽसि तेजस्विनी ।
वर्चस्वी सवितान्नि सोम ममृतं रूपं परं धीमहि ।।
देवानां द्विजवर्यता मुन्निगणे मुक्त्यर्थिनां शांतिना--
मो मित्येकमृचं पठति यमिनो यं यं स्मरेत्प्राप्नुयात्।। ६ ॥

वह ओज है, बल है, शोभा है, तेजस्विनी है । वर्चस्वी, सविता, अग्नि, सोम, अमृत रूप वाली परम चिन्तनीय हैं । देवताओं को, ब्राह्मणों को तथा मुनियों और मुक्ति के अभिलाषियों को एवं शान्ति के इच्छुकों को ॐ इस एक ऋचा के साथ पढ़ने से जिस जिसकी चिन्ता करते हैं, वह प्राप्त होती है ।।९ ।।

ओमित्येक मजस्वरूप मसलंतत्सप्तधा भाजितं ।
तारं तंत्र समन्वितं परतरेपादत्रयं गर्भितम् ।।
आपो ज्योति रसोमृतं जनमहः सत्यं तपः स्वभुर्व।
भूयोभूय नमामि भूर्भुवः स्वरो मेतैर्महामंत्रकम् ।।७।।

ओं यह एक है, अज स्वरूप वाला है, अमल है अर्थात मल रहित है, वह सात तरह से विभाजित है । तार तथा तन्त्र से युक्त परतत्व वाला तथा त्रिषादयुक्त आपो ज्योति रस अमृत, जनः, महः सत्य तपः स्वः भुवः भूः को अनेक बार प्रणाम इसमें भूः भुवः स्वः तथा ॐ यह महातंत्र है ।।१० ।।

आदौ बिन्दु मनुस्मरन्परतरे बालात्रि वर्णोच्चरन् ।
व्याहृत्यादि स बिन्दु युक्तत्रिपदा तारत्रयं तुर्यकम ।।
आरोहादवरोहतः क्रमगता श्री कुण्डलीत्थं स्थिता ।
देवी तामस पंकजे त्रिनयना पवाननापातुमाम् ।। ११।।

आदि में बिन्दु का स्मरण करना उसके बाद तीनों वर्णों का उच्चारण करना फिर व्याहृति के साथ बिन्दु युक्त त्रिपद गायत्री तथा तुर्यकम् अर्थात् गायत्री शीर्ष का । आरोह से लेकर अवरोह तक क्रमपूर्वक जपना जिससे स्थित कुण्डली उत्थित होती है देवी मनो कमल में स्थित त्रिनेत्र तथा पंचानन वाली हमारी रक्षा करे ।।११ ।।

सर्वे सर्ववशेसमस्त समये सत्यात्मिके सात्विके ।
सावित्री सवितात्मके शशियुते सांख्यायनी गोत्रजे ।।
सन्ध्या त्रीण्मुप कल्प्य संग्रह विधि संध्यामिधानात्मके।
गायत्री प्रणवादि मंत्रगुरुणा सम्प्राप्य तस्मैनमः।। १२।।

सब है, सबको वश करती है और प्रत्येक समय वह सत्य आत्मावाली है, सात्विक है । सावित्री सवितात्मक, शक्तियुक्त, सांख्यायन गोत्र वाली तीन उपकल्पों से संग्रहीत सन्ध्या विद्य–जपने योग्य है जिसे ऐसी गायत्री प्रणव आदि युक्त मंत्र गुरु द्वारा प्राप्त हुई है, उसको नमस्कार है ।।१२ ।।

क्षेमंदिव्या मनोरथाः पस्तरे चेतः समाधीयतां ।
ज्ञानं नित्य वरेण्य मेतदमलं देवस्य भर्गोधियम् ।।
मोक्ष श्री विंजयार्थिनोऽथ सवितुः श्रेष्ठं विधिस्तत्वदं ।
प्राज्ञामेधप्रचोदयात् प्रतिदिनं यो नः पदं पातुमाम् ।।१३।।

दिव्य मनोरथों को पूरा करने वाली पर चैतन्य के ध्यान वाली, ज्ञान युक्त नित्य ही उपासनीय मल रहित देवता के भर्ग वाली, बुद्धि, मोक्ष, श्री, विजयाकांक्षियों को सविता की जो श्रेष्ठ पद्धति है वह पद वाली प्रज्ञा मेधा प्रतिदिन प्रेरणा करे उस पद के हम सब शरण जाते हैं, अथवा वह पद हमारी रक्षा करे ।।१३।।

सत्यं तत्सवितुर्वरेण्यविरलं विश्वादि मायात्मकं ।
सर्वाद्यं प्रतिपाद पाद रमयातारं तथा मन्मथम् ।।
तुर्यान्यित्रितयं द्वितीयमपरं संयोग सव्याहृतिं ।
सर्वाम्नाममनोन्मयीं मनसिजांध्यायामि देवींपराम् ।।१४।।

वह सविता सत्य है, वरेण्य है, विरल है और विश्वादि माया वाला है । सबके पहले है प्रत्येक पाद तार तथा मन्मथ रमण करते हैं । तुर्यगति वाली अभियुक्त है, अपरा है, द्वितीया है, व्याहृति के संयोग वाली है सब आम्नायों में एकाग्रतापूर्वक परादेवी का ध्यान करता हूँ ।।१४ ।।

आदौ गायत्री मन्त्रे गुरूकृत नियमं ‍धर्मकर्मानुकूलं ।
सर्वाद्यं सारभूतं सकलमनुमयं देवतानामगम्यम् ।।
देवानां पूर्व देवं द्विज कुल मुनिभिः सिद्धविद्याधरायैः।
को वा वक्तुं समर्थस्तवमनु महिमाबीज राजादिमूलम।।१५।।

गायत्री मंत्र में दृढ़ नियम करके धर्म कर्म के अनुसार सब के आदि में उत्पन्न सारभूत अशेष मनुयुक्त, देवताओं के अगम्य देवताओं के भी पूर्वदेव द्विज वर्ग, मुनि तथा सिद्ध विद्याधरों के भी अगम्य उस बीज राज, आदि मूल की महिमा कौन वर्णन कर सकता है ।।१५ ।।

गायत्रीं त्रिपदां त्रिबीज सहितां त्रिव्याहृतिं त्रैपदां ।
त्रिब्रह्मात्रिगुणां त्रिकाल नियमां वेदत्रयीं तां पराम् ।।
सांख्यादि प्रय रूपिणीं त्रिनयनां मातृत्रय तत्पराम् ।
त्रैलोक्य त्रिदश त्रि कोट सहितां सन्ध्यांत्रयीं तां नमः ।।१६।।

त्रिपद युक्त, तीन बीजों सहित, तीन व्याहृतियोंवाली, त्रैपद, ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीनों देवों के गुणात्रय से युक्त, त्रिकाल (प्रातः, सन्ध्या तथा मध्यान्ह) में (जप) नियम वाली, तीनों वेदों की सार भूत, तथा उनसे भी परे सांख्यादि तीन रूपों को धारण करने वाली, तीन नेत्रों से युक्त, मातृत्रयी, तथा उनसे भी पर भूत, तीनों लोक व तैतीस कोटि (देवताओं) के समूह से युक्त सन्ध्यात्रयीं (प्रातः सन्ध्या, मध्यान्ह सन्ध्या और सायंसन्ध्या) को नमस्कार है ।।१६।।

ओमित्येतत्त्रिमात्रा त्रिभुवन करणं त्रिस्वरं वन्हि रूपं ।
त्रीणि-त्रीणि त्रिपादं त्रिगुण गुणमयं त्रैपुरान्तं त्रिसूक्तम्।।
तत्वानां पूर्व शक्तिं त्रितय गुरुपदं पीठ यंत्रत्मकं तं ।
तस्मादेतत् त्रिपादं त्रिपदमनुसरं त्रहि मां भो नमस्ते।।१७।।

'ओ३म् यह पद तीन मात्राओं से युक्त, तीनों भुवनों का उत्पादक, वन्हि रूप, तीन स्वरों वाला, तीन-तीन त्रिपाद वाला, त्रिगुण गुण से युक्त, तीन पुरों का अन्तकर्त्ता, त्रिसूक्त तत्वों की आदि शक्ति यंत्रात्मक त्रिवलय युक्त गुरु पद पीठ का इसलिए त्रिपाद को, त्रिपद को अनुसरण करते हुए की मेरी रक्षा करे इसके लिए नमस्कार है ।।१७।।

स्वस्ति श्रद्धाति मेधा मधुमतिमधुरः संशयः प्रज्ञकान्ति ।
विद्या बुद्धिर्बलं श्रीरतनुधनपति सौम्य वाक्यानुवृत्तिः ।।
मेधा प्रज्ञा प्रतिष्ठा मृदुपति मधुरा पूर्ण विद्या प्रपूर्ण ।
प्राप्तं प्रत्यूष चिन्त्यं प्रणवपरवशात् प्राणिनां नित्यकर्म।।१८।।

स्वस्ति, श्रद्धा, अतिमेधा, मधु, अति मधुर, संशय प्रज्ञा, कान्तिविद्या, बुद्धि, बल, श्री, अतनु, धनपति, सौम्य वाक्यों की अनुवृत्ति से, मेधा प्रज्ञा प्रतिष्ठा, अत्यन्त मृदु, मधुर, पूर्ण विद्या से पूर्ति प्रणव युक्त गायत्री का प्रातःकाल प्राप्त होते ही प्राणियों को अपने नित्य कर्म के साथ चिन्तन करना चाहिए ।।१८।।

पंचाश द्वर्ण मध्ये प्रणव पर युते मंत्रमाद्यं नमो तं ।
सर्व सव्यापलव्यं शत गुणमभितो वर्म सष्टोत्तरं ते ।।
एवं नित्यं प्रजप्तं त्रिभुवन सहितं तुर्य्य मंत्र त्रिपादं ।
ज्ञानं विज्ञानगम्यं गगन सु सदृशं ध्यावते यः समुक्तः।।१६।।

पचास वर्णों के मध्य में प्रणव युक्त आदि मन्त्र को नमस्कार है ।सब सव्य अप सत्य शत गुणित अष्टोत्तर नामों वाले कवच को त्रिभुवन सहित त्रिपाद तथा तुर्य मन्त्र को गगन के समान विस्तृत होते हुए भी ज्ञान-विज्ञान से जानने योग्य है जो ध्यान करता है वह मुक्त है ।।१६।।

आदि क्षांतस बिन्दु युक्त सहितं मेरुं क्षकारात्मकं ।
व्यस्ता समस्त वर्ग सहितं पूर्ण शताष्टोत्तरम् ।।
गायत्रीं जपतां त्रिकाल सहितां नित्यं सनैमित्तिक् ।
मेवंजाप्य फलं। शिवेन कथितं सद्भोग्य मोक्षप्रदम् ।।२०।।

अ से लेकर क्ष तक जो कि बिन्दु सहित है जिनका मेरुक्ष है जो समस्त वर्गों के साथ पूरे १०८ पर लगे हुए हैं उन नित्य नैमित्तिक विधि से तीनों काल में गायत्री जपने वालों के लिए भोग करने योग्य तथा मोक्ष प्रदान करने वाला जप का फल शिव ने वर्णन किया है ।।२०।।

सप्त व्याहृति सप्त तारविकृतिः सत्यं वरेण्यं धृतिः।
सर्व तत्सवितुश्च धीमहि महाभर्गस्य देवं भजे ।।
धाम्नो धाम धमाधि धारण महान्धीमत्पदंध्वायते ।
ॐ तत्सर्वमनुप्रपूर्णदशकं पादत्रयं केवलम् ।। २१।।

सात व्याहृतियाँ सप्ततार विकृति सत्य 'वरेण्य' धृतिः को उस सविता के साथ देवता के उस महाभर्ग का चिन्तन करते या भजन करते हैं वे बड़े-बड़े धामों को धारण करने में समर्थ हैं। वे ॐ तत् के साथ शेष के दशक केवल त्रिपाद के महान धीमत् पद का ध्यान करते हैं ।।२१।।

विज्ञान विलसद्विवेक वचसः प्रज्ञानुसंधारिर्णी ।
श्रद्धामेध्ययशः शिरः सुमनस्त्रः स्वास्तिश्रियं त्वांसदा
आयुष्यं धनधान्यलक्ष्मिमतुलां देवीं कटाक्षं परं–
तत्काले सकलार्थ साधनमदान्मुक्तिर्म हत्वं पदम् ।। २२।।

विज्ञान खेलता है वाणी से विवेक झलकता है प्रज्ञा साथ-साथ चलती है, श्रद्धा मेधा यश प्रमुखता, सुन्दर मन, कल्याण तथा श्री हमेशा रहती है आयुष्य, धनाधान्य अतुल लक्ष्मीदेवी के कटाक्ष पर ही प्राप्त हो जाता है उस समय सब कुछ सिद्ध हो जाता है, और महत्त्वपूर्ण जो मुक्ति पद है उसकी भी प्राप्ति हो जाती है ।।२२।।

पृथ्वी गंधोऽर्च्चनायां नभसि कुसुमता वायु धूप प्रकर्षो ।
वन्हिर्दीप प्रकाशो जलमसृतमये नित्यसंकल्प पूजा ।।
एतत्सर्व निवेद्यं सुखवति हृदये सर्वदा दंपतीसं ।
त्वं सर्वज्ञा शिवं मे कुरुतव ममता भक्तवृन्देप्रसिद्धा ।। २३ ।।

गंध की अर्चना पृथ्वी है, फूल आकाश है, धूप वायु का प्रकर्ष है, दीपक प्रकाश अग्नि है, नित्य संकल्प पूजा का जल अमृत है सुख पूर्वक सपंति हृदय में इस सबका समर्पण होता है, हे सर्वज्ञ शिव भक्त वृन्द में जो ममता प्रसिद्ध है वह मुझ पर करो ।।२३।।

भूराद्यं भूर्भुवः स्वस्त्रिपदपदयुतं त्र्यक्षमाद्यं तजोज्यं ।
सृष्टि स्थित्यंत कार्य्यक्रम शिखि सकलं सर्व मंत्रं ।।
प्रशस्तम् । सर्वांगं मातृकाणां मतुमय वपुषं मन्त्र योगं ।
प्रयुक्तं । संहारं क्षादि वर्ण वसुशत गणनं मंत्रराजं नमामि।।२४।।

भू आदि में है जिसके ऐसा भूः भुवः स्वः तथा त्रिपद् गायत्री जिसके आदि अन्त में ॐ युक्त है जो सृष्टि स्थिति तथा अन्त के कार्यक्रम से युक्त है शीर्ष सहित सब मंत्रों में जो प्रशस्त है मातृकाओं के सर्वांग में जो मनोमय शरीर धारण किये हैं जिसका मंत्र योग में उपयोग होता है। संहार में क्ष आदि वर्ण होता है जो गिनती में १०८ संख्या वाला है उस मंत्र राज को नमस्कार है ।।२४ ।।

विश्वामित्र मुदाहृतं हितकरं सर्वार्थ सिद्धि प्रदं ।
स्तोत्रणां परमं प्रभात समये पारायणं नित्यशः ।।
वेदानां विधि वाद मंत्र सफलं सिद्धि प्रदं सम्पदां ।
स प्राप्नोत्पयपरत्र सर्व सुखदमायुष्यमारोग्यूताम् ।। २५।।

विश्वामित्र द्वारा कहा हुआ कल्याणकारी समस्त प्रकार की सिद्धियों को प्रदान करने वाले इस परम स्तोत्र का प्रभात समय में जो नित्य नियमित पारायण करता है वह वेदोक्त मंत्रों में सिद्धि प्राप्त कराने वाली सफलता एवं सम्पदा प्राप्त होती हैं। वह निरामय होकर चिरायु वाला होता है ।।२५।।

(४) शाप मोचन

गायत्री को शाप लगने के बारे में दो कथाऐं पुराणों में मिलती हैं। एक है कि ब्रह्माजी की प्रथम पत्नी सावित्री अपने पति की आज्ञा न मानकर यज्ञ में सम्मिलित न हुई। तब उन्होंने दूसरी पत्नी गायत्री को साथ लेकर यज्ञ कार्य पूरा किया। इस पर सावित्री बहुत कुपित हुई और उन्होंने गायत्री को शाप दिया कि तुम्हारी शक्ति नष्ट हो जायगी। इस शाप से सर्वत्र बड़ी चिन्ता फैली। देवताओं ने सावित्री की अनुनय विनय कर प्रार्थना की कि गायत्री को शाप से मुक्त कर दिया जाय अन्यथा ब्रह्मशक्ति की भारी क्षति होगी। तब सावित्री ने एक मंत्र बताया, जिसको पढ़ने वाले के लिए गायत्री शापमुक्त हो जाती है और जो उसका प्रयोग नहीं करता, उसके लिए गायत्री शापयुक्त रहती है।

दूसरा एक उपाख्यान इस प्रकार का मिलता है कि किसी समय ब्रह्मा, वशिष्ठ और विश्वामित्र ने अपनी-अपनी सृष्टि, स्थिति और प्रलय करने की शक्ति प्राप्त करने के लिए गायत्री-उपासना की थी। परन्तु गायत्री ने उनकी इच्छा पूर्ण न की। तब उन तीनों ने क्रुद्ध होकर गायत्री को शाप दिया कि तुम्हारी शक्ति नष्ट हो जाय। शाप के फलस्वरूप गायत्री शक्तिहीन हो गई। तब देवताओं के प्रार्थना करने पर उन तीनों ने शापमुक्ति का यह उपाय बताया कि जो मनुष्य शापमोचन मन्त्र के साथ जप करेगा, उसके लिए गायत्री शक्तिवान होंगी।

गायत्री शाप विमोचन और उत्कालीन का रहस्य

गायत्री मन्त्र की महिमा गाते हुए शास्त्र और ऋषि महर्षि थकते नहीं । इसकी प्रशंसा तथा महत्ता के सम्बन्ध में जितना कहा गया है उतना शायद ही और किसी की प्रशंसा में कहा गया है । प्राचीन काल में बड़े-बड़े तपस्वियों ने प्रधान रूप में गायत्री की ही तपश्चर्याएँ करके अभीष्ठ सिद्धियाँ प्राप्त की थीं । शाप और वरदान के लिए वे विविध विधियों से गायत्री का ही उपयोग करते थे ।

प्राचीन काल में गायत्री गुरु मंत्र था, आज गायत्री मन्त्र प्रसिद्ध है । अधिकांश मनुष्य उसे जानते हैं अनेकों मनुष्य किसी न किसी प्रकार उसको दुहराते या जपते रहते हैं अथवा किसी विशेष अवसर पर स्मरण कर लेते हैं । इतने पर भी देखा जाता है कि उससे कोई विशेष लाभ नहीं होता । गायत्री जानने वालों में और न जानने वालों में कोई विशेष अन्तर दिखाई नहीं देता । इस आधार पर यह आशंका होने लगती है—"कहीं गायत्री प्रशंसा और महिमा वर्णन करने वालों ने अत्युक्ति तो नहीं की ?" कई मनुष्य आरम्भ में उत्साह दिखा कर थोड़े ही दिनों में उसे छोड़ बैठते हैं, वे देखते हैं कि इतने दिन हमने गायत्री की उपासना की पर लाभ कुछ न हुआ । फिर क्यों इसके लिए व्यर्थ समय बरबाद किया जाय ।

कारण यह है कि प्रत्येक कार्य एक नियत विधि व्यवस्था द्वारा ही पूरा होता है । चाहे जैसे, चाहे जिस काम को, चाहे जिस प्रकार करना आरम्भ कर दिया जाय तो अभीष्ट परिणाम नहीं मिल सकता । मशीनों द्वारा बड़े-बड़े कार्य होते हैं पर होते तभी हैं जब वे उचित रीति से चलाई जाऐ । यदि कोई अनाड़ी चलाने वाला मशीन को यों ही अन्धाधुन्ध चालू करदे तो लाभ होना तो दूर उलटे उस कारखाने के लिए तथा चलाने वाले के लिए संकट उत्पन्न हो सकता है । मोटर तेज दौड़ने वाला वाहन है । उसके द्वारा एक-एक दिन में कई सौ मील की यात्रा सुखपूर्वक की जा सकती है पर अगर कोई अनाड़ी आदमी ड्राइवर की जगह जा बैठे और चलाने की विधि तथा कलपुर्जों के उपयोग की जानकारी न होते हुए भी उसे चलाना आरम्भ कर दे तो यात्रा तो दूर, उल्टे ड्राइवर, मोटर यात्रा करने वाले के लिए अनिष्ट खड़ा हो जायगा या यात्रा निष्फल होगी । ऐसी दशा में मोटर को कोसना उसकी शक्ति पर अविश्वास कर बैठना उचित नहीं कहा जा सकता । अनाड़ी साधकों द्वारा की गई उपासना भी यदि निष्फल हो तो आश्चर्य की बात नहीं है ।

जो वस्तु जितनी अधिक महत्त्वपूर्ण होती है उसकी प्राप्ति उतनी कठिन भी होती है । सीप, घोंघे आसानी से मिल सकते हैं उन्हें चाहे कोई बीन सकता है पर मोती जिन्हें प्राप्त करने हैं समुद्र तल तक उतरना पड़ेगा और इस खतरे के काम को किसी से सीखना भी पड़ेगा । कोई अजनवी आदमी गोताखोरी को बच्चों का खेल समझ कर या यों ही समुद्र तल में उतरने के लिए डुबकी लगावे तो उसे अपनी नासमझी के कारण मिलने वाली असफलता पर आश्चर्य नहीं करना चाहिए ।

यों गायत्री में अन्य समस्त मंत्रों की अपेक्षा एक खास विशेषता यह है कि नियत विधि से साधना न करने पर भी साधक को कुछ हानि नहीं होती है परिश्रम भी निष्फल नहीं जाता, कुछ न कुछ लाभ ही रहता है, पर उतना लाभ नहीं होता जितना कि विधि पूर्वक साधना के द्वारा होना चाहिए । गायत्री की तांत्रिक उपासना में तो अविधि साधना से हानि भी होती है पर साधारण साधना में वैसा कोई खतरा नहीं है तो भी परिश्रम का पूरा प्रतिफल न मिलना भी तो एक प्रकार की हानि ही हैं । इसलिए बुद्धिमान मनुष्य उतावली, अहन्मन्यता, उपेक्षा के शिकार नहीं होते और साधना मार्ग पर वैसी ही समझदारी से चलते हैं, जैसे हाथी नदी को पार करते समय थाह-थाह कर धीरे-धीरे आगे कदम बढ़ाता है ।

कुछ औषधियाँ नियत मात्रा में लेकर नियत विधिपूर्वक तैयार करके रसायन बनाई जाय और उसको नियत मात्रा से नियत अनुपान के साथ रोगी को सेवन कराया जाय तो आश्चर्यजनक लाभ होता है, परन्तु यदि उन्हीं औषधियों को चाहे जिस तरह, चाहे जितनी मात्रा में लेकर, चाहे जैसे बना डाला जाय और चाहे जिस रोगी को, चाहे जितनी मात्रा में, चाहे जिस अनुपात से सेवन करा दिया जाय तो निश्चय ही परिणाम अच्छा न होगा । वे औषधियाँ जो विधिपूर्वक प्रयुक्त होने पर अमृतोपम लाभ दिखाती थीं, अतिथि पूर्वक प्रयुक्त होने पर निरर्थक सिद्ध होती हैं । ऐसी दशा में उन

औषधियों को दोष देना न्याय संगत नहीं कहा जा सकता है। गायत्री-साधना भी यदि अवधि पूर्वक की गई है, तो वैसा लाभ नहीं दिखा सकती जैसा कि विधिपूर्वक साधना से होना चाहिए।

पात्र-कुपात्र हर कोई गायत्री शक्ति का मनमाना प्रयोग न कर सके इसलिए कलियुग से पूर्व ही गायत्री को कीलित कर दिया गया है। जो उसका उत्कीलन जानता है, वही लाभ उठा सकता है। बन्दूक का लाइसन्स सरकार उन्हीं को देती है जो उसके पात्र हैं। परमाणु बम का रहस्य थोड़े से लोगों तक सीमित रखा गया है, ताकि हर कोई उसका दुरुपयोग न कर डाले। कीमती खजाने की तिजोरियों में बढ़िया चोरताले लगे होते हैं ताकि अनाधिकारी लोग उसे खोल न सकें। इसी आधार पर गायत्री को कीलित किया गया है कि हर कोई उससे अनुपयुक्त प्रयोजन सिद्ध न कर सके।

पुराणों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि एक बार गायत्री को वशिष्ठ और विश्वामित्र ऋषियों ने शाप दिया था कि "उसकी साधना निष्फल होगी।" इतनी बड़ी शक्ति के निष्फल होने से हाहाकार मच गया, तब देवताओं ने प्रार्थना की, कि इन शापों का विमोचन होना चाहिए। अन्त में ऐसा मार्ग निकाला गया कि जो शाप–मोचन की विधि पूरी करके गायत्री साधना करेगा, उसका प्रयत्न सफल होगा और शेष लोगों का श्रम निरर्थक जायेगा। इस पौराणिक उपाख्यान में एक भारी रहस्य छिपा हुआ है, जिसे न जानने वाले केवल 'शापमुक्तोभव' मन्त्रों को दुहरा कर यह मान लेते हैं कि हमारी साधना शाप-मुक्त हो गई।

वशिष्ठ का अर्थ है–"विशेष रूप से श्रेष्ठ।" गायत्री साधना में जिसने विशेष रूप से श्रम किया है, जिसने सवा करोड़ जप किया है, उसे वशिष्ठ पदवी दी जाती है। रघुवंशियों के कुल-गुरु सदा ऐसे ही वशिष्ठ पदवीधारी होते थे। रघु, अज, दलीप, दशरथ, राम, लव-कुश इन छः पीड़ियों के गुरु एक वशिष्ठ नहीं अलग-अलग थे, पर उपासना के आधार पर उन सभी ने वशिष्ठ पदवी को पाया था। वशिष्ठ का शाप मोचन करने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के वशिष्ठ से गायत्री-साधना की शिक्षा लेनी चाहिए, उसे अपना पथ-प्रदर्शक नियुक्त करना चाहिए। कारण यह है कि अनुभवी व्यक्ति ही यह जान सकता है कि मार्ग में कहाँ क्या-क्या कठिनाइयाँ आती हैं और उनका निवारण कैसे कियाँ जा सकता है? जब पानी में तैरने की शिक्षा किसी नये आदमी को दी जाती है तो कोई कुशल तैराक उसके साथ रहता है, ताकि कदाचित नौसिखिया डूबने लगे तो वह हाथ पकड़ कर उसे खींच ले और उसे पार लगा दे तथा तैरते समय तो भूल हो रही हो, उसे समझाता, सुधारता चले। यदि कोई शिक्षक तैराक न हो और तैरना सीखने के लिए बालक मचल रहे हों तो कोई वृद्ध विनोदी पुरुष उन बालकों को समझाने के लिए ऐसा कह सकता है कि–"बच्चो! तालाब में न उतरना, इसमें तैराक गुरु का शाप है। बिना गुरु का शाप मुक्त हुए तैरना सीखोगे तो वह निष्फल होगा।" इन शब्दों से अलंकार है, शाब्दिक अत्युक्ति भी इसे कह सकते हैं, पर तथ्य बिलकुल सच्चा है। बिना शिक्षक की निगरानी के तैरना, सीखने की कोशिश करना एक दुस्साहस ही है।

सवा करोड़ जप साधना करने वाले गायत्री उपासक की–वशिष्ठ की–संरक्षता प्राप्त कर लेना ही "वशिष्ठ शापमोचन" है। इससे साधक निर्भय, निधड़क, अपने मार्ग पर तेजी से बढ़ता चला जाता है। रास्ते में कठिनाइयों को वह संरक्षक दूर करता चलता है, जिससे नये साधक के मार्ग की बहुत सी बाधाऐं अपने आप दूर हो जाती हैं और अभीष्ट उद्देश्य तक जल्दी ही पहुँच जाता है।

गायत्री केवल वशिष्ठ का ही शाप नहीं एक दूसरा शाप भी है वह है–विश्वामित्र का। इस रत्न-कोष पर दुहरे ताले जड़े हुए हैं, ताकि अधिकारी लोग ही खोल सकें और ले भागू जल्दबाज, अश्रद्धालु, हरामखोरों की दाल न गलने पावे। विश्वामित्र का अर्थ है संसार की भलाई करने वाला, परमार्थी, उदार, सत्पुरुष, कर्त्तव्य-निष्ठ। गायत्री का शिक्षक केवल वशिष्ठ गुण वाला होना ही पर्याप्त नहीं है वरन् उसे विश्वामित्र भी होना चाहिए। कठोर साधना और तपश्चर्या द्वारा बुरे स्वभाव के लोग भी सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। रावण वेदपाठी था, उसने बड़ी-बड़ी तपश्चर्याऐं करके आश्चर्यजनक सिद्धियाँ भी प्राप्त कीं थीं। इस प्रकार वह वशिष्ठ पदवीधारी तो कहा जा सकता है, पर विश्वामित्र नहीं, क्योंकि संसार की भलाई के, धर्मचर्या एवं परमार्थ के गुण उसमें नहीं थे। स्वार्थी, लालची तथा संकीर्ण मनोवृत्ति के लोग चाहे कितने ही बड़े सिद्ध क्यों न हों, शिक्षक

नियुक्त किये जाने योग्य नहीं, यही दुहरा शाप विमोचन है। जिसने वशिष्ठ और विश्वामित्र गुण वाला पथ-प्रदर्शक, गायत्री-गुरु प्राप्त कर लिया, उसने दोनों पापों से गायत्री को छुड़ा लिया। उसकी साधना वैसा ही फल उपस्थित करेगी, जैसाकि शास्त्रों में वर्णित है।

यह कार्य सरल नहीं है क्योंकि एक तो ऐसे व्यक्ति ही मुश्किल से मिलते हैं, जो वशिष्ठ और विश्वामित्र गुणों से सम्पन्न हों। यदि मिलें भी तो हर किसी का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेने को तैयार नहीं होते, क्योंकि उनकी शक्ति और सामर्थ्य सीमित होती है और उससे वे कुछ थोड़े ही लोगों की सेवा कर सकते हैं। यदि पहले से ही उतने लोगों का भार अपने ऊपर लिया हुआ है तो अधिक की सेवा करना उनके लिए कठिन है। स्थूलों में एक अध्यापक प्रायः ३० की संख्या तक विद्यार्थी पढ़ा सकता है। यदि यह संख्या ६० हो जाय तो न अध्यापक पढ़ा सकेगा, न बालक पढ़ सकेंगे, इसलिए ऐसे सुयोग्य शिक्षक सदा ही नहीं मिल सकते। लोभी, स्वार्थी और ठग गुरुओं की कमी नहीं, जो दो रुपया गुरु-दक्षिणा लेने के लोभ से चाहे किसी के गले में कण्ठी बाँध देते हैं। ऐसे लोगों को पथ-प्रदर्शक नियुक्त करना एक प्रवन्चना और विडम्बना मात्र है।

गायत्री-दीक्षा गुरुमुख होकर ली जाती है। तभी फलदायक होती है। बारूद को जमीन पर चाहे जहाँ फैलाकर उसमें दियासलाई लगाई जाय तो वह मामूली तरह से जल जायगी, पर उसे ही बन्दूक में भरकर विधिपूर्वक प्रयुक्त किया जाय तो उससे भयंकर शब्द के साथ एक प्राणघातक शक्ति पैदा होगी। छपे हुए कागजों में पढ़कर या कहीं किसी से भी गायत्री सीख लेना ऐसा ही है जैसा जमीन पर बिछाकर बारूद जलाना और गुरुमुख होकर गायत्री दीक्षा लेना ऐसा है जैसा बन्दूक के माध्यम से बारूद का उपयोग होना।

गायत्री की विधिपूर्वक साधना करना ही अपने परिश्रम को सफल बनाने का सीधा मार्ग है। इस मार्ग का पहला आधार ऐसे पथ-प्रदर्शक को खोज निकालना है, जो वशिष्ठ एवं विश्वामित्र गुण वाला हो और जिसके संरक्षण में शाप-विमोचित गायत्री-साधन हो सके। ऐसे सुयोग्य संरक्षक सबसे पहले यह देखते हैं कि साधक की मनोभूमि, शक्ति, सामर्थ्य, रुचि कैसी है, उसी के अनुसार वे उसके लिए साधन-विधि चुनकर देते हैं। अपने आप विद्यार्थी यह निश्चित नहीं कर सकता कि मुझे किस क्रम से क्या-क्या पढ़ना चाहिए ? इसे तो अध्यापक ही जानता है कि यह विद्यार्थी किस कक्षा की योग्यता रखता है और इसे क्या पढ़ाया जाना चाहिए ? जैसे अलग-अलग प्रकृति के एक रोग में रोगियों को भी औषधि अलग-अलग अनुपात तथा मात्रा का ध्यान रखकर दी जाती है, वैसे ही साधकों की आन्तरिक स्थिति के अनुसार उसके साधना-नियमों में हेर-फेर हो जाता है। इसका निर्णय साधक स्वयं नहीं कर सकता। यह कार्य तो सुयोग्य, अनुभवी और सूक्ष्मदर्शी पथ-प्रदर्शक ही कर सकता है।

आध्यात्मिक मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए श्रद्धा और विश्वास यह दो प्रधान अवलम्बन हैं। इन दोनों का प्रारम्भिक अभ्यास गुरु को माध्यम बनाकर किया जाता है। जैसे ईश्वर-उपासना का प्रारम्भिक माध्यम किसी मूर्ति, चित्र या छवि को बनाया जाता है, वैसे ही श्रद्धा और विश्वास की उन्नति गुरु नामक व्यक्ति के ऊपर उन्हें दृढ़तापूर्वक जमाने से होती है। प्रेम तो स्त्री, पुत्र, भाई, मित्र आदि पर भी हो सकता है, पर श्रद्धायुक्त प्रेम का पात्र गुरु ही होता है। माता-पिता भी यदि वशिष्ठ विश्वामित्र गुणों वाले हों तो वे सबसे उत्तम गुरु हो सकते हैं। गुरु परम हितचिन्तक शिष्य की मनोभूमि से परिक्षित और उसकी कमजोरियों को समझाने वाला होता है, इसलिए उसके दोषों को जानकर उन्हें धीरे-धीरे दूर करने के उपाय करता रहता है, पर उन दोषों के कारण वह शिष्य से न तो घृणा करता है और न विरोध, नहीं उसको अपमानित, तिरस्कृत एवं बदनाम होने देता है। वरन् उन दोषों को बाल-चापल्य समझ कर धीरे-धीरे उसकी रुचि दूसरी ओर मोड़ने का प्रयत्न करता रहता है, ताकि वे दोष अपने आप छूट जायें। योग्य गुरु अपनी साधना द्वारा एकत्रित की आध्यात्मिक शक्ति को धीरे-धीरे शिष्य के अन्तःकरण में वैसे ही प्रवेश करता रहता है, जैसे माता अपने पचाये हुए भोजन को कुचों में दूध बनाकर अपने बालक को पिलाती रहती है। माता का दूध पीकर बालक पुष्ट होता है। गुरु का आत्म तेज पीकर शिष्य का आत्म-बल बढ़ता है। इस आदान-प्रदान को आध्यात्मिक भाषा 'शक्तिपात' कहते हैं। ऐसे गुरु का प्राप्त होना पूर्व संचित शुभ संस्कारों का फल अथवा प्रभु की महती कृपा का चिन्ह ही समझना चाहिए।

कितने व्यक्ति सोचते हैं कि हम अमुक समय एक व्यक्ति को गुरु बना चुके, अब हमें दूसरे पथ-प्रदर्शक की नियुक्ति का अधिकार नहीं रहा। उनका यह सोचना वैसा ही है जैसे कि कोई विद्यार्थी यह कहे कि–"अक्षर आरम्भ करते समय जिस अध्यापक को मैंने अध्यापक माना था, अब जीवन भर उसके अतिरिक्त न किसी से शिक्षा ग्रहण करूँगा और न किसी को अध्यापक मानूँगा।" एक ही अध्यापक से संसार के सभी विषयों के जान लेने की आशा नहीं की जा सकती। फिर वह अध्यापक मर जाय, रोगी हो जाय, कहीं चला जाय तो भी उसी से शिक्षा लेने का आग्रह करना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है ? फिर ऐसा भी हो सकता है कि कोई शिष्य प्राथमिक गुरु की अपेक्षा कहीं अधिक जानकार हो जाय और उसका जिज्ञासा-क्षेत्र बहुत विस्तृत हो जाय, ऐसी दशा में भी उसकी जिज्ञासाओं का समाधान उस प्राथमिक शिक्षक द्वारा ही करने का आग्रह किया जाय तो यह किस प्रकार सम्भव है ?

प्राचीनकाल के इतिहास पर दृष्टिपात करने से इस उलझन का समाधान हो जाता है। महर्षि दत्तात्रेय ने चौबीस गुरु किये थे। राम और लक्ष्मण ने जहाँ वशिष्ठ से शिक्षा पाई थी, वहाँ विश्वामित्र से भी बहुत कुछ सीखा था। दोनों ही उनके गुरु थे। श्रीकृष्ण जी ने सन्दीपन ऋषि से भी विद्यायें पढ़ी थीं और महर्षि दुर्वासा भी उनके गुरु थे। अर्जुन के गुरु द्रोणाचार्य भी थे और कृष्ण भी। इन्द्र के गुरु वृहस्पति भी थे और नारद भी। इस प्रकार अनेकों उदाहरण ऐसे मिलते हैं, जिनसे प्रकट होता है कि आवश्यकतानुसार एक गुरु अनेक शिष्यों की सेवा कर सकता है और एक शिष्य अनेकों गुरुओं से ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसमें कोई ऐसा सीमा-बन्धन-नहीं जिसके कारण एक के उपरान्त किसी दूसरे से प्रकाश प्राप्त करने में प्रतिबन्ध हो। वैसे भी एक व्यक्ति के कई पुरोहित होते हैं। ग्राम्य पुरोहित, तीर्थ पुरोहित और कुल पुरोहित, राष्ट्र पुरोहित, शिक्षा पुरोहित, दीक्षा पुरोहित आदि। जिसे गायत्री-साधना का पथ-प्रदर्शक नियुक्त किया है वह साधना पुरोहित या ब्रह्म पुरोहित है। यह सभी पुरोहित अपने-अपने क्षेत्र, अवसर और कार्य में पूछने योग्य तथा पूजन योग्य है। यह एक दूसरे के विरोधी नहीं वरन् पूरक होते हैं।

चौबीस अक्षरों का गायत्री मन्त्र सर्व प्रसिद्ध है, उसे आजकल शिक्षित वर्ग के सभी लोग जानते हैं, फिर भी उपासना करनी है, साधना जन्य लाभों को लेना है, तो गुरुमुख होकर गायत्री दीक्षा लेनी चाहिए। वशिष्ठ और विश्वामित्र का शाप विमोचन कराके, कीलित गायत्री का उत्कीलन करके साधना करनी चाहिए। गुरुमुख होकर गायत्री दीक्षा लेना एक संस्कार है, जिसमें उस दिन गुरु-शिष्य दोनों को उपवास रखना पड़ता है। शिष्य चन्दन, अक्षत, धूप-दीप, पुष्प, नैवेद्य, अन्न, वस्त्र, पात्र, दक्षिणा आदि से गुरु पूजन करता है। गुरु शिष्य को मन्त्र देता है और पथ-प्रदर्शन का भार अपने ऊपर लेता है। इस ग्रन्थ-बन्धन के उपरान्त अपने उपयुक्त साधना निश्चित कराके जो शिष्य श्रद्धापूर्वक आगे बढ़ते हैं, वे भगवती की कृपा से अपने अभीष्ट उद्देश्य को प्राप्त कर लेते हैं।

जब से गायत्री की दीक्षा ली जाय तब से लेकर जब तक पूर्ण सिद्धि प्राप्त न हो जाय, तब तक साधना गुरु को अपनी साधना के समय समीप रखना चाहिए। गुरु का प्रत्यक्ष रूप से सदा साथ रहना तो सम्भव नहीं हो सकता, पर उनका चित्र काँच में मढ़बा कर पूजा के स्थान पर रखा जा सकता है और गायत्री संध्या, जप, अनुष्ठान या कोई और साधना आरम्भ करने से पूर्व उस चित्र का पूजन, धूप, अक्षत, नैवेद्य, पुष्प चन्दन आदि से कर लेना चाहिए। जहाँ चित्र उपलब्ध न हो वहाँ एक नारियल को गुरु के प्रतीक रूप में स्थापित कर लेना चाहिए। एकलव्य भील की कथा प्रसिद्ध है उसने द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्ति स्थापित करके उसी को गुरु माना था और उसी से पूछ कर वाण-विद्या सीखता था ! अन्त में वह इतना सफल धनुर्धारी हुआ कि पांडवों तक को उसकी विशेषता देखकर आश्चर्यचकित होना पड़ा था। चित्र या नारियल के माध्यम से गुरु पूजा करके तब जो भी गायत्री-साधना आरम्भ की जायगी वह शाप-मुक्त तथा उत्कीलित होगी।

शापोद्धार के मन्त्र

ब्रह्म शापोद्धार–

विनियोगः– ओ३म् अस्य गायत्री ब्रह्मशाप विमोचन मन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिः गायत्री छन्दः वरुणो देवता ब्रह्म शाप विमोचने विनियोगः।

अर्थात्-इस गायत्री शाप विमोचन मन्त्र के ब्रह्मा ऋषि, गायत्री छन्द, वरुण देवता तथा ब्रह्म शाप के मोचन में इसका प्रयोग होता है।

(दाहिने हाथ में जल लेकर उक्त मंत्र पढ़कर भूमि पर छिड़क दें)

शाप विमोचन मन्त्र–

ओ३म् यद् ब्रह्मोति ब्रह्मविदो विदुस्त्वां पश्चन्ति धीराः ।
सुमनसां त्व गायत्री ब्रह्मशापान्मुक्ता भव ।। १।।

अर्थात्–गायत्री ! ब्रह्मवेत्ता जिसको ब्रह्म नाम से कहते हैं, धीर पुरुष अपने अन्तःकरण में आपको उसी रूप से देखते हैं, आप ब्रह्म-शाप से विमुक्त होवें ।।१।।

वशिष्ठ शापोद्धार–

विनियोग–ॐ अस्य गायत्री वशिष्ठ शाप विमोचन मन्त्रस्य वशिष्ठ ऋषिः अनुष्टुप छन्दो, वशिष्ठ देवता, वशिष्ठ शाप विमोचने विनियोगः ।

अर्थात्–गायत्री के वशिष्ठ शाप विमोचन मन्त्र के वशिष्ठ ऋषि, अनुष्टुप छन्द और वशिष्ठ देवता हैं तथा वशिष्ठ शाप विमोचन में इनका विनियोग है ।

(दाएं हाथ में जल लेकर उक्त मंत्र पढ़कर पृथ्वी पर छोड़ दें)

शाप विमोचन मन्त्र–

ॐ अर्कं ज्योतिर्हं ब्रह्मा ब्रह्मज्योतिर्हम् शिवः ।
शिव ज्योतिर्हं विष्णु विष्णु ज्योतिः शिवः परः ।
गायत्रीं त्वं वशिष्ठ शापांद्विमुक्ता भव ।।२।।

अर्थात्–हम सूर्य की ज्योति ब्रह्मा हैं । हम ब्रह्मा की ज्योति शिव हैं । हम शिव की ज्योति विष्णु हैं । हम विष्णु की ज्योति शिव हैं । गायत्री ! आप वशिष्ठ के शाप से विमुक्त होवें ।।२।।

विश्वामित्र शापोद्धार–

विनियोगः–ओ३म् अस्य गायत्री विश्वामित्र शापविमोचन मन्त्रस्य विश्वामित्र ऋषिः, अनुष्टुप छन्दः आद्या देवता, विश्वामित्र शाप विमोचने विनियोगः ।

अर्थात्–विश्वामित्र शापविमोचन मन्त्र के विश्वामित्र ऋषि अनुष्टुप छन्द और आद्या देवता हैं और विश्वामित्र के शाप के विमोचन में इसका प्रयोग होता है ।

(दाए हाथ में जल लेकर उक्त मंत्र पढ़कर भूमि पर छिड़कें)

शापोद्धार मन्त्र–

ॐ अहो देवि महादेवि दिव्ये सन्ध्ये सरस्वती ।
अजरे अमरे चैव ब्रह्मयोनि नमोस्तुते ।
गायत्री त्वं विश्वामित्र शापाद्विमुक्त भव ।।३।।

अर्थात्–हे देवि ! हे महादेवि ! हे ज्ञान रूपे ! संध्या स्वरूपे ! हे सरस्वति ! हे जरा रहिते ! हे मरण रहिते ! आपको नमस्कार है । हे गायत्री ! आप विश्वामित्र के शाप से मुक्त होवें ।।३।।

(५) मुद्रा

गायत्री जप की चौबीस मुद्रायें हैं । हाथ को विशेष आकृति में मोड़ने से विविध प्रकार की मुद्रायें बंनती हैं । मुद्रायें गायत्री प्रतिमा या मन्त्र के सामने एकान्त में दिखाई जाती हैं । किसी के सामने इनका प्रदर्शन नहीं किया जाता । जब दिखाते हैं तो या तो उपस्थित लोगों को हटा देते हैं या किसी वस्त्र का पर्दा कर देते हैं ताकि उन्हें कोई देख न सके । नीचे चौबीस मुद्राओं का वर्णन किया जाता है । इन्हें जप के आदि में किया जाता है ।

अथ गायत्री की २४ मुद्रायें

अतः परं प्रवक्ष्यामि वर्णमुद्राः क्रमेण तु ।
सुमुखं सम्पुटं चैव विततं विस्तृतं तथा ।।१।।

अब क्रमशः वर्णों में मुद्राओं का वर्णन करते हैं । सुमुख, सम्पुट, वितत, विस्तृत ।

द्विमुखं त्रिमुखं चैव चतुः पंच मुखं तथा ।
षण्मुखाधोमुखं चैव व्यापकांजलिकं तथा ।।२।।

द्विमुख, त्रिमुख, चतुर्मुख, पञ्चमुख, षण्मुख, अधोमुख, व्यापकांजलि ।

शकटं यम पाशं च ग्रन्थितं सम्मुखोन्मुखम् ।
प्रलम्बं मुष्टिकं चैव मत्स्यकूर्म वराहकम् ।।३।।

शंकट, यमपास, ग्रन्थित, सन्मुखोन्मुख, प्रलम्ब, मुष्टिक, मत्स्य, कूर्म, वराहक ।

सिंहाक्रान्तं, महाक्रान्तं, मुद्गरं, पल्लवं तथा ।
एत मुद्राश्चतुर्विंशज्जपादौ परिकीर्तिताः ।। ४।।

सिंहाक्रान्त,महाक्रान्त,मुद्गर,पल्लव--ये २४ मुद्राएँ जप के आदि में करने के लिए कही गई हैं ।। ४ ।।

एता मुद्राः चतुर्विंशति गायत्रीं सुप्रतिष्ठता ।
एता मुद्रा न जानाति गायत्री निष्फलाभवेत् ।। ५।।

उपरोक्त चौबीस मुद्रायें गायत्री में सुप्रतिष्ठित हैं । इन मुद्राओं को न जानने वाले की गायत्री निष्फल जाती है ।।५।।

(६) जप

गायत्री महापुरश्चरण में प्रतिदिन ६६ माला का जप करना पड़ता है, जिसमें प्रायः ६ घण्टे का समय लगता है। गायत्री महामंत्र इस प्रकार है–

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात् ।

जप करने से पूर्व माला की प्रार्थना करनी चाहिए। प्रार्थना मंत्र इस प्रकार है–

ॐ मां माले महामाये सर्वशक्तिस्वरूपिणि ।
चतुवर्गस्त्वपि न्यस्तस्तस्मानये सिद्धिदा भव ।। १ ।।
ॐ गं अविघ्नं कुरु माले त्वं गृह्णामि दक्षिणे करे ।
जपकाले तु सततं प्रसीद मम सिद्धये ।। २ ।।

जपकाल में 'ॐ अविघ्नं कुरु माले,' मंत्र से माला की अभ्यर्थना करने के पश्चात् सिर में गुरु का, कंठ में गायत्री महामंत्र का और हृदय में महा ममतामयी गायत्री माता का ध्यान करते हुए दाहिने हाथ से जप करना चाहिए–(देवी भागवत्) जप पूर्ण हो जाने के पश्चात् निम्न मंत्र से माला का विसर्जन करना चाहिए–

ॐ त्वं माले सर्वदेवानां प्रीतिदा शुभदा भव ।
शुभं कुरुष्व मे भद्रे यशो वीर्यं च सर्वदा ।।

अथ विसर्जनमुद्राः

जप पूरा हो जाने के पश्चात बिसर्जन मुद्रा प्रदर्शित की जाती है। विसर्जन मुद्रायें आठ हैं– सुरभि मुद्रा, ज्ञान मुद्रा, वैराग्य मुद्रा, योनि मुद्रा, कूर्म मुद्रा, पंकज, लिंग मुद्रा एवं निर्वाण मुड़ा।

विसर्जन मुद्राः- वैराग्य

सुरभिर्ज्ञानं वैराग्यं च योनिः कूर्मोऽथ पङ्कजम् ।
लिंग निर्वाणमुद्रा च जपान्तेऽष्टावुदाहृताः ।।

(७) हवन

गायत्री हवन की विधि यज्ञ के ज्ञान-विज्ञान् खण्ड के भाग में बताई जा चुकी है कि हवन किस प्रकार करना चाहिए तथा किस उद्देश्य के लिए किन-किन सामग्रियों का हवन करना चाहिए, कुण्ड या वेदी कैसी बननी चाहिए, उन सब बातों को बार-बार दुहराने से कुछ लाभ नहीं। साधक उसे देखकर हवन का सारा परिचय प्राप्त कर लें। आहुति मन्त्र के लिए गायत्री ही एकमात्र मन्त्र है, उसके अन्त में 'स्वाहा' शब्द जोड़कर आहुति देनी चाहिए।

(८) तर्पण

तर्पण के लिए नदी या सरोवर में खड़े होकर, कुश हाथ में लेकर, यज्ञोपवीत को अँगूठे और तर्जनी के बीच में होते हुए हाथ में अटका हुआ निकाल कर, अञ्जलि में जल भरकर अर्घ्य की भाँति अँगुलियों के छोरों की ओर जल विसर्जित करें। तर्पण के समय दोनों हाथों की अनामिका अँगुलियों में कुश की बनी हुई अँगूठी पहनें! शिखा में, दोनों पैरों के नीचे, यज्ञोपवीत में तथा धोती की अंटी में कुश के टुकड़े लगा लेने चाहिए।

तर्पण मंत्र

ॐ भूर्भुवः स्वः पुरुषमृग्यजुः साम मण्डलान्तर्गत सविता रमावाह्या मीत्यावाह्य तर्पणं कुर्यात् ।

ॐ भूः पुरुषमृग्वेदं तर्पयामि ।
ॐ भुवः पुरुषं यजुर्वेदं तर्पयामि ।
ॐ स्वः पुरुषं सामवेदं तर्पयामि ।
ॐ महः पुरुषमथर्ववेदं तर्पयामि ।
ॐ जनः पुरुषमितिहास पुराणं तर्पयामि ।
ॐ तपः पुरुषं सर्वागमं तर्पयामि ।
ॐ सत्यं पुरुषं सर्वलोकं तर्पयामि ।
ॐ भूर्भुवः स्वः (पुरुषं) ऋग्यजुःसाम मण्डलान्र्तगतं तर्पयामि । ।
ॐ भूरेक पादं गायत्रीं तर्पयामि ।
ॐ भुवर्द्विपादं गायत्रीं तर्पयामि ।
ॐ स्वस्त्रिपादं गायत्रीं तर्पयामि ।
ॐ भूर्भुवः स्वश्चतुष्पादं गायत्रीं तर्पयामि ।
ॐ उषसंतर्पयामि ।
ॐ गायत्रीं तर्पयामि ।
ॐ सावित्रीं तर्पयामि ।
ॐ सरस्वतीं तर्पयामि ।
ॐ पृथिवीं तर्पयामि ।
ॐ जयां तर्पयामि ।
ॐ कौशिकीं तर्पयामि ।
ॐ सांकृतीं तर्पयामि ।
ॐ सर्वापराजितां तर्पयामि ।
ॐ सहस्त्रमूर्तिं तर्पयामि ।
ॐ अनन्तमूर्तिं तर्पयामि ।
एभिर्मन्त्रैश्च यो नित्यं चतुर्विंशतिभिर्द्विजः ।
सुतर्पति गायत्रीं स सन्ध्याफलमाप्नुयात् ।।

(९) मार्जन

कुश की एक छोटी कूँची सी बना लेनी चाहिए । इसका पूजन करके उसमें पवित्रीकरण की शक्ति की श्रद्धा करनी चाहिए । तदनन्तर इस कूँची को ताम्र पात्र में रखे हुए जल में डुबो-डुबोकर बार-बार ऊपर छिड़कना चाहिए, यही मार्जन है । मार्जन की विधि और नौ मन्त्र नीचे दिए जाते हैं । कोई-कोई आचार्य इन नौ मन्त्रों की जगह गायत्री मन्त्र से मार्जन का काम लेते हैं ।

संकल्प्य मार्जनं कुर्यादापोहिष्ठा कुशोदकैः ।
पादे पादे क्षिपेन्मूर्ध्नि प्रतिपणवसंयुताम् ।।१।।

संकल्प तथा मार्जन करे । मार्जन प्रणव युक्त आपोहिष्ठा इत्यादि मन्त्र द्वारा कुशोदक से करे, प्रत्येक पाद पर मूर्धा पर जल निक्षेप करे ।

आत्मानं प्रणवेनैवपरिषिच्य जलैः सह ।
कुर्यात्सप्रणवैः पादै मार्जनं तु कुशोदकः ।।
यस्यक्षपायतिजलं सकुशं प्रक्षिपेदधः ।। २।।

प्रणव से आत्म कमल पर परिसिंचन करे फिर कुश सहित जल को नीचे फेंक दें ।

स्पृष्ट्वावाहस्तेन वामेन तटं नद्यादिकेषु च ।
पाणिना दक्षिणेनैव मार्जयेत सकुशेन तु ।। ३।।

नदी आदि के तट को बॉये हाथ से स्पर्श करें, दाहिने हाथ से कुश को लेकर मार्जन करे ।

पाणिस्थितोदकेनैव वामहस्तोदकेन वा ।
गृहे तु मार्जनं कुर्य्यान्नान्यथेत्यब्रवीन्मनुः ।। ४।।

हाथ पर रखा हुआ जल हो या बायें हाथ पर रखा हुआ मनु कहते हैं कि घर में उससे मार्जन करे ।

आपोहिष्ठेति ऋचस्यसिन्धुद्वीप आपो गायत्री मार्जने विनियोगः ।

आपोहिष्टा की तीन ऋचा हैं, सिन्धु द्वीप हैं, आपो गायत्री हैं मार्जन उसका विनियोग है ।

ॐ आपोहिष्ठामयो भुवः ।। १।।
ॐ तान ऊर्जे, दधातनः ।। २।।
ॐ महेरणाय चक्षसे ।। ३।।
ॐ यो वः शिवतमो रसः ।। ४।।
ॐ तस्यभाजयते ह नः ।। ५।।
ॐ उशतीरिव मातरः ।। ६।।
ॐ तस्माऽअरंग मामवः ।। ७।।
ॐ यस्मक्षयाय जिन्वथ ।। ८।।
ॐ आपोजनयथा नः ।। ९।।

दर्भान्विसृज्य कुशपाणि मार्जयेत् । प्रणव युक्तसमस्तया व्याहृत्या गायत्र्या आपो हिष्ठेति नवपादै शन्नोदेवीरिति सप्तभिमार्जयेत् ।

दर्भ को फेंककर जिस हाथ में कुश है उसे धो डालें । सबके साथ प्रणव लगाकर व्याहृति के साथ गायत्री आपोहिष्ठा के नव पदों से शन्नोदेवी से सात बार मार्जन करे ।

नवपादमतिक्रयभ्यअर्धर्चा वसुसंख्यया ।
ऋतं च प्रणवेनैन मार्जनं समुदाहृतम् ।।

नव पाद को छोड़कर, लाँघकर आठ बार प्रणव सहित 'ऋतंच' मन्त्र से मार्जन करे ।

भुविर्मूर्ध्नि तथाऽऽकाशआकाशेभुविमस्तके ।
मस्तके भुविमूर्ध्नि स्यान्मार्जनज्ञ सदाहृतम् ।।

भुविमूर्धा तथा अकाश, आकाश में भुवि और मस्तक मे भुवः मूर्धा है ऐसा समझ कर मार्जन करे ।

(१०) विसर्जन

पुरश्चरण में पूजा के समय गायत्री का आह्वान किया जाता है । प्रतिदिन पुरश्चरण पूरा करते हुए गायत्री का विसर्जन करना चाहिये ।

इस प्रतिष्ठा एवं विसर्जन में श्रद्धा समन्वित भावना और निवेदन प्रधान है । पूजा के समय श्रद्धापूर्वक 'भगवती' जगज्जननी भक्त वत्सला, गायत्री यहाँ प्रतिष्ठित होने का अनुग्रह कीजिये । ऐसी प्रार्थना संस्कृत या मातृभाषा में करनी चाहिए । विश्वास करना चाहिए कि प्रार्थना को स्वीकार करके वे कृपापूर्वक पधार गई हैं । विसर्जन करते समय प्रार्थना करनी चाहिए कि "आदि शक्ति, भयहारिणी, शक्तिदायिनी, तरणतारिणी मातृके ! अब विसर्जित हूजिये" । इस भावना को संस्कृत या अपनी मातृभाषा में कह सकते हैं, इस प्रार्थना के साथ-साथ यह विश्वास करना चाहिए कि प्रार्थना स्वीकृत करके वे विसर्जित हो गई हैं । विसर्जन का मन्त्र यह है –

गायत्री विसर्जन मन्त्र–

उत्तमे शिखरे देवी भूम्यां पर्वत मूर्धनि ।
ब्राह्मणेभ्योह्यनुज्ञातं गच्छ देवियथा सुखम् ।।

(११) अर्घ्य-दान

पुरश्चरण से बचे हुए जल को सूर्य सामने अर्घ्य देना चाहिए । यह जल पवित्र भूमि में छोड़ा जाना चाहिए अथवा किसी चौड़े मुँह के पात्र में अर्घ्य से गिरे हुए जल को लेकर उसे गौओं को पिला देना चाहिए अर्घ्य की विधि–

मुक्त हस्तने दातव्यं मुद्रां न तत्र न कारयेत् ।
तर्जन्येगुष्ठयोगं तु राक्षसी मुद्रिका स्मृता ।।

अर्घ्य देते समय तर्जनी अँगुली की जड़ में अँगूठा मिला हुआ न होना चाहिये । अतः अँगूठे को तर्जनी से बिना मिलाये ही अर्घ्य देना चाहिये । अँगूठे का तर्जनी के साथ योग हो जाने पर राक्षसी मुद्रा हो जाती है ।

गायत्र्या त्रिरघ्य रवये दद्यात् ।

गायत्री मन्त्र से तीन बार अर्घ्य सूर्य को दे । पश्चात् नीचे लिखे हुए मन्त्र से सूर्य को अर्घ्य दे । मन्त्र-

सूर्य देव सहस्रांशो तेजो राशे जगत्पति ।
अनुकम्पय मां भक्त्या गृहाणार्घ्य दिवाकर ।।

हे सहस्त्र रश्मि सूर्य तेज की राशि ! जगत्पति ! मेरे ऊपर आप कृपा करे तथा भक्ति से दिये हुये मेरे अर्घ्य को ग्रहण करें ।

साधना काल की त्रुटियों का परिमार्जन

गायत्री साधना के समय नियत विधान में कोई दोष या त्रुटि रह जाना सम्भव है । पथ प्रदर्शक की भूल से या साधना करने वाले की असावधानी से कई बार साधना विधियों में भूल रह जाती है । तान्त्रिक साधनाओं में ऐसी भूलें कभी-कभी बड़े अनिष्ट का हेतु बन जाती हैं उससे साधक को लाभ के स्थान पर हानि भी उठानी पड़ती है ।

गायत्री की वाम मार्गी साधना में इस प्रकार का खुद का नहीं है, परन्तु तंत्रमार्गी साधनों में इस प्रकार का भय हो सकता है । तंत्र चाहे गायत्री की मृदु शक्ति से ही प्रयुक्त क्यों न हो आखिर तंत्र ही है उसकी साधना यथा विधि होनी चाहिए । इसलिए जहाँ तक हो सके साधक को सावधानी के साथ तद् विषयक नियमोपनियमों का पालन करना चाहिए ।

परन्तु सावधानी रखने पर कोई भूलें रह जाना सम्भव है । ऐसी भूलों की क्षमा प्रार्थना के लिए श्री शंकराचार्य ने क्षमा प्रार्थना स्तोत्र रचा है । खेद, प्रकाश, नम्रता, विनय, शरणागति की भक्ति भावना मन में होने से साधक की मनोभूमि इतनी चमकदार बन जाती है कि भूल के कारण साधना की जो अनिष्टकर प्रतिक्रिया होती है । उसका जोरदार आघात नहीं लगने पाता । वरन् वह बीच में ही उसकी शान्ति हो जाती है । एक बार एक भयंकर सर्प किसी को काटने के लिए आने वाला था । उस व्यक्ति ने सर्प के रास्ते मे सुगंधित दूध के कटोरे जगह-जगह रखवा दिये । सर्प क्रोध में भरा हुआ उसे काटने को अपने बिल से निकला रास्ते में इतना मधुर आतिथ्य देखा तो सर्प का क्रोध शान्त हो गया और उससे काटने की उपेक्षा उस व्यक्ति को कुछ उपहार दिया । गायत्री के साधक भी सच्चे हृदय से क्षमा प्रार्थना करके उन सब अनिष्टकर प्रतिक्रियाओं से बच सकते हैं जो साधना काल की भूल के कारण होती हैं ।

(१२) क्षमा प्रार्थना

प्रत्येक साधना के अन्त में क्षमा प्रार्थना स्तोत्र का पाठ करना चाहिये । इससे जान या अनजान में हुई भूलों का दुष्परिणाम शान्त हो जाता है ।

न मंत्रं नो यन्त्रं तदापि न जाने स्तुतिमहो,
न चाव्हानं ध्यानं तदपि न च जाने स्तुति कथाः।
न जाने मुद्रास्ते तदपि न च जाने विलपनम् ।
परं जाने मातस्त्वदनुसरणं क्लेश हरणम् ।।

न तो मैं मन्त्र, यन्त्र जानता हूँ और न स्तुति ही जानता हूँ । आवाहन, ध्यान और स्तुति कथा भी नहीं जानता हूँ पूजा और मूद्रा भी नहीं जानता लेकिन इतना जानता हूँ कि तुम्हारी शरण क्लेश हरने वाली है ।

विधेरज्ञानेन द्रविण विरहेणालसतया,
विधेया शक्यत्वात्तव चरणयोर्याच्युतिरभूत ।
तदेतत्क्षन्तत्रयं जननि सकलोद्धारिणि शिव,
कुपुत्रे जांयेत क्वाचिदपि कुमाता न भवति ।।

हे शिवे ! सकल उद्धारिणी जननि ! विधि के अज्ञान से पैसा की कमी से, आलस्य से, सामर्थ्य हीनता के कारण आपकी चरण सेवा करने में जो भूल रह गई हो तो उस सबको क्षमा करना क्योंकि पुत्र कुपुत्र हो सकता है लेकिन माता कुमाता नहीं होती ।

पृथिव्यां पुत्रस्ते जनति बहवः सन्ति सरलाः
परं तेषां मध्ये विरल तरलोऽहं तव सुतः ।
मदीयोऽयं त्यागः समुचितमिदं नो तव शिवे,
कुपुत्रों जायेल क्वचिदपि कुमाता न भवति ।।

हे माँ ! पृथ्वी पर तेरे बहुत से पुत्र हैं जो सरल हैं पर उनके बीच में तेरा पुत्र अकेला मैं ही टेढ़ा हो गया हूँ, फिर भी माँ तेरे लिए त्याग उचित नहीं है, क्योंकि पुत्र कुपुत्र हो सकते हैं पर माता कुमाता नहीं होती ।

जगन्मातर्मातस्तव चरण सेवा न रचिता,
नवादत्तं देवि द्रविण्मपि भूयस्तव मया ।
तथापि त्वं स्नेहं मयि निरुपमं यत्प्रकुरुषे,
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ।।

हे जगत की माता ! मैंने तेरी चरण सेवा नहीं की, हे देवि ! तुने मुझे पर्याप्त द्रव्य भी नहीं दिया जिससे दान ही करता परन्तु तू मेरे ऊपर खूब स्नेह करती है । पुत्र कुपुत्र हो जाता है, माता कुमाता नहीं होती ।

श्वपाको जल्पाको भवति मधुपाकोपमगिरा,
निरातंको रंको विहरति चिरं कोटि कनकैः ।
तवापर्णे कर्णे विशति मनुवर्णे फलमिदं,
जनः की जीनीते जनति जपनीयं जप विधौ ।।

हे माँ ! तुम्हारी स्तुति करने से नीच और चाण्डाल भी मीठी मधुर वाणी बोलने वाले महा कवि हो जाते हैं और रंक भी दुःख की अग्नि से बचकर करोड़ों स्वर्ण मुहरों से युक्त होकर आनन्द करता है, यह सब तुम्हारे कान में मनुष्य का करुण शब्द पड़ते ही हो जाता है । हे माता ! तुम्हारी स्तुति करने के ढंग को कौन जानता है ?

जगदम्ब ! विचित्रमत्र किं,
परिपूर्णा करुणास्ति चेन्मयि ।
अपराध परंपरावृत्तं,
नहिंमाता समुपेक्षते सुतम् ।।

हे जगदम्बे ! यदि तुम्हारी मेरे ऊपर कृपा हो तो इसमें क्या विचित्रता है.? अपराधों की चाहे कितनी ही परम्परा क्यों न हो, लेकिन माँ अपने पुत्र की उपेक्षा नहीं करती ।

मत्समः पतकीनास्ति पापघ्नी त्वत्समा नहिं ।
एवं ज्ञात्वा महादेवि यथा योग्यं तथा कुरु ।।

मेरे समान तो कोई पातकी नहीं है तथा तेरे समान पाप नाश करने वाली कोई नहीं हैं, ऐसा जानकर हे महादेवि ! जैसा तुम्हें उचित लगे, वैसा करो ।

(१३) ब्राह्मण भोजन

पुरश्चरण में प्रतिदिन ब्राह्मण भोजन कराने का विधान है । जो लोग पुरश्चरण कार्य में नियोजित हैं, उनकी भोजन व्यवस्था का भार तो यजमान को उठाना ही होता है, इसके अतिरिक्त चिड़ियों को दाना, चीटियों को चावल का चूर्ण और शक्कर मिलाकर, गौओं को आटे की लोई खिलानी चाहिए । उपस्थित लोगों को पंचामृत दूध, दही, घृत, मधु, जल एवं तुलसी पत्र का सम्मिश्रण अथवा कोई अन्य मधुर वस्तु प्रसाद रूप में वितरित करनी चाहिए ।

समाप्ति के साथ सायं-कीर्तन, सामूहिक प्रार्थना एवं आरती का सम्मिलित रूप से मधुर गायन करना चाहिये और अभिवादन एवं आशीर्वाद की भावनाओं के साथ सब लोगों को कार्य समाप्त करना चाहिये ।

प्रत्येक शुभ कार्य के अन्त में दान का विधान है । कहा गया है कि बिना दक्षिणा का यज्ञ निष्फल होता है । ज्ञान-प्रसार करने वाली संस्थाओं, लोक सेवी ब्रह्म-परायण सत्पुरुषों एवं दीन-दुखियों को, पण्डितों को यथाशक्ति प्रत्येक शुभ कार्य के अन्त में दान देना आवश्यक है । यह दान भोजन, धन, वस्त्र, पुस्तकें या अन्य उपयोग की वस्तुओं के रूप में किया जा सकता है ।

—0—

गायत्री की दिव्य शक्ति

आत्म-कल्याण के लिए नाना प्रकार की साधनाएँ की जाती हैं, अनेक प्रकार के तप, जप, ध्यान, योगाभ्यास, व्रत, संयम आदि किये जाते हैं, अनेक मन्त्रों का आश्रय लिया जाता है । इनमें साधारणतः अनेकता एवं भिन्नता दिखायी पड़ती है पर मूलतः इनका आधार गायत्री ही है । उस एक ही मूल के यह शाखा पल्लव हैं । गायत्री से ८४ प्रकार के योगों का उद्भव हुआ है । देश, काल, पात्र की भिन्नता के लिए भिन्न-भिन्न मनोभूमि के साधकों के लिए अलग-अलग प्रकार के साधनों की आवश्यकता पड़ती है, इसी दृष्टि से इतने प्रकार के साधना विधानों का आविर्भाव हुआ है, अन्यथा इन सबका मूल एक ही है । जितना भी आत्म-ज्ञान एवं आध्यात्मिक साधना-विधान है, उस सबका मूल आधार केवल गायत्री ही है ।

पत्तों का जड़ से अलग अस्तित्व नहीं, पत्ते जड़ पर आश्रित रहते हैं, क्योंकि उनमें जीवन संचार वहीं से होता हैं । यदि जड़ कट जाय तो फिर पत्तों का क्या अस्तित्व रहेगा ? जितने भी श्रौत, स्मार्त एवं कौल मन्त्र हैं, उनकी आधारभूमि गायत्री है । उसी की शक्तियों का आश्रय लेकर विभिन्न मन्त्र विनिर्मित हुए हैं और इस महामन्त्र में सन्निहित गुप्त विज्ञान एवं विधान के ही सहारे राजयोग, हठयोग, लययोग, ऋजुयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, जपयोग, ध्यानयोग, प्राणयोग, तन्त्रयोग आदि ८४ प्रकार के योगों का आविर्भाव हुआ है । कोई भी साधना ऐसी नहीं है, जिसका आधार गायत्री न हो । छोटा कीड़ा जो पत्ते पर बैठा है वह भले ही न जानता हो कि जड़ से भी उसका कोई सम्बन्ध है, यह अपना घर पत्ते को ही मानता है पर जानकार लोग समझते हैं कि कीड़ा वृक्ष पर ही बैठा है । कीड़े वाला पत्ता भी उस विशाल वृक्ष का एक अंश मात्र है ।

इतिहास पुराणों से पता चलता है कि तप का आरम्भ गायत्री से ही हुआ है । विष्णु की नाभि से जो कमल-नालिका निकली वह गायत्री ही थी । सृष्टि निर्माण से पूर्व ब्रह्माजी को आकाशवाणी द्वारा गायत्री का ज्ञान मिला । उन्होंने एक हजार वर्ष तक गायत्री का जप करके सृष्टि निर्माण की शक्ति पायी । शङ्करजी की योगमाया गायत्री ही हैं । वे इसी महा समाधि में लीन रहते हैं । इस महाशक्ति का जब तीन गुणों में पदार्पण होता है तो उस पदार्पण से सतोगुणी सरस्वती, रजोगुणी लक्ष्मीं और तमोगुणी काली का अवतरण होता है । सविता सूर्य की आत्मा गायत्री ही कही गई है । इसी प्रकार अन्यान्य देव शक्तियों को भी इसी महाशक्ति सागर की तरंगे कहा गया हैं ।

प्राचीन युग में प्रायः सभी ऋषियों ने इसी महामन्त्र के आधार पर अपनी योग साधनाएँ एवं तपस्याएँ की हैं । सप्तऋषियों को प्रधानता गायत्री द्वारा ही मिली । ब्रहस्पति इसी शक्ति की दक्षिणमार्गी साधना करके देवगुरु बने, शुक्राचार्य ने इस महामन्त्र का बाममार्गी भाग अपनाया और वे असुरों के गुरु हुए । साधारण ऋषि, मुनि उन्नति करते हुए महर्षि, ब्रह्मर्षि एवं देवर्षि का पद प्राप्त करते थे तो इस उत्कर्ष का मूल आधार गायत्री ही रहती थी ।

वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य, अत्रि, विश्वामित्र, पाराशर, भारद्वाज, गौतम, व्यास, शुकदेव, नारद, दधीचि, बाल्मीकि, च्यवन, शंख, लोमस, तैत्तिरेय, जावालि, शृङ्गी, उद्दालक, वैशम्पायन, दुर्वासा, परशुराम, पुलस्त्य, दत्तात्रेय, अगस्त, सनत्कुमार, कण्व, शौनक आदि ऋषियों के जीवन वृत्तान्त जिन्होंने पढ़े हैं, वे जानते हैं कि उनकी महानता, शक्तियाँ एवं सिद्धियाँ जिस आधारशिला पर अवस्थित थी वह गायत्री हैं । इन ऋषियों ने अपने ग्रन्थों में गायत्री की मुक्त कण्ठ से एक स्वर से महिमा गायी है और बताया है कि आत्मा को परमात्मा बनाने वाली, नरक से स्वर्ग पहुँचाने वाली, तुच्छ को महान् बनाने वाली शक्ति गायत्री ही है ।

प्राचीन काल की भाँति अब भी वही मार्ग है । यद्यपि यवनराज्य के पिछले अज्ञानान्धकार युग में अगणित सम्प्रदाय , मत-मतान्तर उपज पड़े और उनमें अपनी-अपनी सूझ-बूझ के अनुसार नाना प्रकार के साधना पन्थ बना लिए फिर भी ऐसी साधना जो पूर्ण सिद्धावस्था तक साधक को पहुँचा सके, गायत्री के अतिरिक्त और कोई सिद्ध न हो सकी । जिसने भी पूर्णता एवं परम सिद्धावस्था पायी है, उसने गायत्री माता का आश्रय अवश्य लिया हैं । मध्य काल में महाभारत से लेकर अब तक के

सभी सिद्ध पुरुष प्रायः इसी राजमार्ग से चले हैं । उनका मत, ग्रन्थ तथा विशेष साधन चाहे पृथक् भले ही हैं पर मूल आश्रय को किसी ने नहीं छोड़ा है ।

वर्तमान काल में भी जिसने आत्मिक दृष्टि से कुछ विकास किया है, उन्हें वेदमाता का पयपान करने का सौभाग्य अवश्य मिला । योगी ही नहीं पिछले दिनों के हमारे सार्वजनिक नेता और युग-पुरुष भी इस महामन्त्र की शक्ति को पहचानते रहे हैं । लोकमान्य तिलक कहा करते थे—"जिस बहुमुखी दासता के बन्धनों में भारतीय प्रजा जकड़ी हुई है उनका अन्त राजनैतिक संघर्ष मात्र से न हो जायगा । उसके लिए आत्मा के अन्दर प्रकाश उत्पन्न होना चाहिए जिससे सत् और असत् का विवेक हो, कुमार्ग को छोड़कर श्रेष्ठ मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिले । गायत्री मन्त्र में यही भावना विद्यमान है । महात्मा गान्धी का कथन है ।"गायत्री मन्त्र का निरन्तर जप रोगियों को अच्छा करने और आत्माओं की उन्नति के लिए उपयोगी है । गायत्री का स्थिर चित्त और शान्त हृदय से किया हुआ जप आपत्ति काल के संकटों को दूर करने का प्रभाव रखता हैं ।

महामना मदनमोहन मालवीय, कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर, योगी अरविन्द, महर्षि रमण, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि युगपुरुषों ने भी अपने-अपने ढंग से गायत्री का प्रतिपादन किया है ।

आत्मा अनन्त शक्तियों और सिद्धियों का भण्डार है । वह ईश्वर का पुत्र और सत्चित आनन्द स्वरूप है. । अपने पिता के इस पुण्य उद्यान संसार में क्रीड़ा कल्लोल का आनन्द लेने आता है, पर माया के बन्धनों में फँस कर वह अपने स्वरूप को, अपने लक्ष्य को, अपने कार्यक्रम को भूल जाता है और विपन्न स्थिति में पड़ जाता है । इसी भूल का नाम माया-बन्धन है । यह माया-बन्धन जैसे-जैसे ढीले पड़ते जाते हैं वैसे ही वैसे वह अपने परम मंगलमय मूल रूप में अवस्थित होता चलता है ।आत्मा स्वच्छ दर्पण के समान है पर माया-मोह का मैल जम जाने के कारण उस पर धुँधलापन छा जाता है । आत्मा जलते हुए अंगार के समान है उस पर जब राख का पर्त चढ़ जाता है तो बुझी हुई सी दिखायी पड़ती है । यदि अंगार पर से राख के पर्त को हटा दिया जाय तो वह फिर प्रकाशवान् एवं उष्णतायुक्त दीखने लगता है । दर्पण पर लगे हुए मैल को यदि माँज-धोकर साफ कर दिया जाय तो पुनः उज्ज्वल हो जाता है । अज्ञानान्धकार में यदि ज्ञान का प्रकाश जल उठे तो अँधेरे में जो छिपा पड़ा था वह सब कुछ दीखने लगता है । यह सब काम गायत्री करती है ।वह आत्मा पर चढ़े हुये सम्पूर्ण मलों, विक्षेपों, कषायों, कल्मषों एवं जन्म-जन्मान्तरों के चढ़े हुए कुसंस्कारों को धोकर उसे स्वच्छ एवं प्रकाशवान बनाती है । माया के बन्धनों को काटने में वह तेज छुरी सिद्ध होती है । इन बाधाओं से छूटकर आत्मा जब अपनी मूलभूत निर्मल स्थिति को पहुँच जाती है तो उसके सब त्रास दूरी हो जाते हैं । आत्मा का परम निर्मल हो जाना ही परमात्मा की प्राप्ति है । इसे ही जीवनमुक्ति, ब्रह्मनिर्वाण परमपद, आत्म-साक्षात्कार एवं प्रभु-प्राप्ति कहते हैं । यह प्राप्त होना कठिन माना जाता है पर गायत्री माता इस महान् कठिन कार्य को भी सरल बना देती है ।

गायत्री साधक की दिन-दिन आत्मिक उन्नति होती है । वह जैसे-जैसे ऊँचा उठता है वैसे ही वैसे उसे अपने पिंड (देह) में छिपी हुई ब्रह्माण्डगत ईश्वरीय महान् शक्तियों का भान होने लगता है ।

सर्वप्रथम गायत्री उपासना से तेजस्वी बुद्धि, तथा प्रज्ञा की प्रखरता का विकास होता है । इसीलिए भारतीय संस्कृति के मनीषियों ने गायत्री को एक स्वर से परम उपास्य बताया है । गायत्री उपासना के परिणाम सामान्य बुद्धि का विकास मात्र ही नहीं हैं । इससे बौद्धिक प्रखरता तो बढ़ती ही है किन्तु उपासना का जो सबसे बड़ा लाभ होता है, वह है आत्म-शक्ति का विकास । शास्त्रकारों ने गायत्री उपासना को आत्म-शक्ति के अभिवर्धन का सरल किन्तु श्रेष्ठतम उपाय बताया है ।

गायत्री उपासना से आत्म-शक्ति के विकास का लाभ सर्वथा विज्ञानसम्मत है । मनीषियों का कथन है कि साधना से एक विशेष दिशा में मनोभूमि का निर्माण होता है । श्रद्धा, विश्वास तथा साधना विधि की कार्यप्रणाली के अनुसार आंतरिक क्रियायें उसी दिशा में प्रवाहित होने लगती हैं, जिससे मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का चतुष्टय वैसा ही रूप धारण करने लगता हैं । भावनाओं के संस्कार अन्तर्मन में गहराई तक प्रवेश कर जाते हैं और गायत्री साधक की मानसिक गतिविधि में आध्यात्मिकता तथा सात्विकता का प्रमुख स्थान बन जाता है और साधक में एक सूक्ष्म दैवी चेतना का आविर्भाव होने लगता है ।

इन परिवर्तनों के कारण यद्यपि साधक की आकृति या उसके शरीर में तो कोई अन्तर नहीं आता पर आभ्यंतर दृष्टि से उसमें कई परिवर्तन आ जाते हैं । आध्यात्मिक तत्वों की वृद्धि के परिणामस्वरूप आत्म-शक्ति की अभिवृद्धि के फलस्वरूप साधक के प्राणमय, विज्ञानमय और मनोमय कोशों में जो परिवर्तन आते हैं उनका प्रभाव अन्नमयकोश पर बिल्कुल ही न हो, ऐसा नहीं हो सकता । यह सच है कि शरीर का ढाँचा आसानी से नहीं बदलता पर यह भी सच है कि आंतरिक स्थिति में परिवर्तन के चिन्ह शरीर में जरा भी दृष्टिगोचर न हों ।

गायत्री सिद्धि के मूलभूत आधार

यात्रा दो पैरों के सहारे करनी पड़ती है और गाड़ी दो पहियों के आधार पर लुढ़कती है । सामान्य प्रगति के लिए श्रम और मनोयोग के संयुक्त समन्वय की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार आत्मिक प्रगति के लिए गायत्री उपासना और गायत्री साधना ये दोनों माध्यम अपनाने पड़ते हैं । इससे बच निकलने और सरल पगडंडियाँ ढूँढ़ निकालने के प्रयासों में सिबा आत्मप्रवंचना के ओर कुछ हाथ नहीं लगता । सस्ते मोल से ईश्वर की प्राप्ति करा देने से लेकर कुण्डलिनी जगा देने तक के प्रलोभन देने वालों की कमी नहीं है । किन्तु स्पष्ट है कि उस प्रवंचना में भ्रम जंजाल के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता । हमें अपनी रोटी आप खानी और पचानी पड़ती है । आत्मिक प्रगति के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए गायत्री उपासना और साधना के दोनों पैरों के सहारे ही चलना पड़ता है ।

कोई भी किसान खेत में बीज डालने से पूर्व पहले उसे पानी से भर कर उसकी अच्छी तरह जुताई करता हैं । कूड़ा-कचरा निकालता है, खाद भी डालता है तब भूमि इस योग्य हो पाती है कि उसमें बीज डालने और उसके उगने की सम्भावनाएँ सुनिश्चित होती हैं । उपासना मनोभूमि में उगने वाला बीज है, उसके फलने-फूलने की आशा तभी की जा सकती है जब मनोभूमि का उसी प्रकार परिष्कार किया जाये जिस प्रकार कृषक अपने खेतों का करता है । मनोभूमि को शुद्ध किये बिना डाला गया उपासना का बीज झाड़-झंकार बाढ़ में पड़े बीज की तरह होगा जो या तो स्वयं सड़-गलकर नष्ट हो जाता है या जिसे चिड़िया, चूहे और जंगली जीव चुन ले जाते हैं ।

जितना महत्त्व उपासना का है उतना ही साधना का भी है । हमें उपासना पर ही नहीं साधना पर भी ध्यान और जोर देना चाहिए । जीवन को पवित्र और परिष्कृत, संयत और सुसन्तुलित, उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए अपने गुण, कर्म, स्वभाव को उच्चस्तरीय बनाने के लिए निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए । इस प्रयत्न का नाम ही जीवन-साधना अथवा साधना है । उपासना-पूजा तो निर्धारित समय का क्रियाकलाप पूरा कर लेने पर समाप्त हो जाती है, पर साधना चौबीस घण्टे चलानी पड़ती है । अपने हर विचार और हर कार्य पर एक चौकीदार की तरह कड़ी नजर रखनी पड़ती है कि कहीं कुछ अनुचित, अनुपयुक्त तो नहीं हो रहा है । जहाँ भूल दिखायी दी कि उसे तुरन्त सुधारा, जहाँ विकार पाया कि तुरन्त उसकी चिकित्सा की, जहाँ पाप देखा कि तुरन्त उससे लड़ पड़े । यही साधना है । जिस प्रकार सीमारक्षक प्रहरियों को हर घड़ी शत्रु की चालों और बातों का पता लगाने और जूझने के लिए लैस रहना पड़ता है, वैसे ही जीवन संग्राम के हर मोर्चे पर हमें सतर्क और तत्पर रहने की आवश्यकता पड़ती है । यही तत्परता साधना है ।

उपासना और साधना के समन्वित उपक्रम को योग भी कहा जा सकता है । योग का सामान्य अर्थ होता है जोड़ना । आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ देने की प्रक्रिया योग कहलाती है । इसमें उपासना और साधना दोनों का समान महत्व है । योग साधना में कई प्रकार के उपासनात्मक क्रियाकृत्य अपनाने पड़ते हैं । इनका उद्देश्य आत्म चेतना को परमात्म चेतना से जोड़ने वाली मनःस्थिति उत्पन्न करना है । इस तथ्य को ध्यान में रख कर चला जाय तभी लक्ष्य की पूर्ति होनी सम्भव है । यदि चेतना के परिष्कार का प्रयत्न न किया जाय और मात्र उन क्रियाकृत्यों को ही योगाभ्यास मान लिया जाय तो उस भ्रान्ति के कारण घोर परिश्रम करते रहने पर भी कोल्हू के बैल की तरह जहाँ के तहाँ बने रहना पड़ेगा । उपासनात्मक क्रियाकृत्यों में जप, ध्यान, नाद, एकाग्रता, तन्मयता, स्वाध्याय, सत्सङ्ग आदि साधनों का

आश्रय लिया जाता है ताकि चेतना को दिशा एवं प्रेरणा दी जा सके और उसे अपनी जीव ससीमता को ब्रह्म असीमता में घुला देने के लिए आवश्यक प्रकाश एवं प्रशिक्षण मिल सके ।

लक्ष्यविहीन साधना मनोरंजक भटकाव ही कहा जा सकता है । शारीरिक और मानसिक क्रियाकृत्यों को योगाभ्यास के आधार साधन मानना ही पर्याप्त है । उन कृत्यों को ही जादुई मान बैठना और उनकी प्रवीणता मिल जाने मात्र से लक्ष्य पूरा हो जाना मान लिया जायगा तो यह विशुद्ध भ्रान्ति ही सिद्ध होगी । एक व्यक्ति दूसरे तक अपने मनोभाव पहुँचाने के लिये, कागज़-कलम का प्रयोग करता है । यह उपकरण निश्चय ही बड़े महत्वपूर्ण हैं । इनके बिना विचारों का आदान-प्रदान करने में बड़ी कठिनाई पड़ेगी । फिर भी यह मात्र कागज-कलम से पत्राचार का उद्देश्य पूरा नहीं होता । उसमें भावों की अभिव्यक्ति का तथ्य जुड़ा ही रहना चाहिए । यदि ऐसे ही कागज पर कलम घिसते रहा जाय और कुछ भी टेढ़ी-सीधी लकीरें बनायी जाती रहें तो उससे पत्र-व्यवहार द्वारा विचारों के आदान-प्रदान का उद्देश्य पूरा न हो सकेगा । लेखन क्रिया के साथ भावों की अभिव्यक्ति नितान्त आवश्यक है । योगाभ्यास में प्रयुक्त होने वाले उपचारों में मात्र शारीरिक, मानसिक हलचलों को ही सब कुछ मानकर सन्तुष्ट नहीं बैठना चाहिए । उत्कट प्रयत्न यह होना चाहिए कि आत्मा को परमात्मा से जोड़ देने पर उपयुक्त भाव चेतना उत्पन्न की जा सके । महत्व तो इस 'भाव उभार' का ही है । वह उभरेगा तो गाड़ी आगे चलेगी अन्यथा तथाकथित योगाभ्यासों की हलचलें कुछ समय तक श्रम-साधना में जितनी कुछ जैसी अनुभूति दे सकती हैं, उसे देकर समाप्त हो जायेंगी । भाव-विहीन साधना से शरीर की स्वस्थता और मन की एकाग्रता भले ही कुछ सीमा तक बढ़ सके; आत्मिक प्रगति का लक्ष्य पूरा न हो सकेगा, इसके लिए भावनाएँ तरंगित करनी पड़ेंगी ।'

यह मानकर चलना भी गलत है कि भजन करने मात्र से पाप कट जाऐंगे और ईश्वर प्रसन्न हो जायगा अतएव जीवन को शुद्ध बनाने अथवा कुमार्गगामिता से बचाने की आवश्यकता नहीं है । इसी भ्रमपूर्ण मान्यता के कारण लोग आध्यात्म के लाभों से वंचित रहते हैं । यह भ्रम दूर हटना चाहिए और भारतीय आध्यात्म का तत्वज्ञान एवं ऋषि अनुभवों को यही निष्कर्ष अपनाना चाहिए कि उपासना और साधना आध्यात्मिक प्रगति के दो अविच्छिन्न पहलू हैं, एक दूसरे के पूरक हैं तथा एक के बिना दूसरा अपूर्ण है । जिस प्रकार अन्न और जल, रात और दिन, शीत और ग्रीष्म, स्त्री और पुरुष का जोड़ा है, उसी प्रकार उपासना और साधना भी अन्योन्याश्रित हैं । एक के बिना दूसरा अकेला, असहाय एवं अपूर्ण ही बना रहेगा, इसलिए दोनों को साथ लेकर आध्यात्म मार्ग पर आरूढ़ होना ही उचित है ।

गायत्री उपासक का जीवनक्रम उत्कृष्ट आदर्शवादी एवं परिष्कृत होना ही चाहिए । नशा पीने पर मस्ती आनी ही चाहिए । भक्ति का प्रभाव सज्जनता और प्रगतिशीलता के रूप में दीखना ही चाहिए । इसलिए गायत्री का वरदान प्राप्त करने की पात्रता उत्पन्न करने के लिये उपासना के साथ साधना का उपक्रम भी अनिवार्य रूप से जोड़े रखना चाहिए अर्थात् उसमें आत्म-निरीक्षण, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण एवं आत्म-विकास की परिपूर्ण प्रक्रिया जुड़ी ही रहनी चाहिए । उपासना और साधना का अलग अस्तित्त्व है, यह सोचना गलत है । एक को कर लेने से दूसरे की पूर्ति हो जायगी यह सोचना भी अनुचित है । अस्तु गायत्री की भावात्मक, क्रियाकाण्डपरक पूजा के साथ चरित्र और आचरण द्वारा भी उसकी पूजा की जानी चाहिए । हम निष्पाप बनें, इतना ही पर्याप्त नहीं है वरन् यह भी आवश्यक है कि अपने कर्म एवं स्वभाव में सद्गुणों का समुचित समावेश करके दिव्य जीवन बनावें तथा उसके द्वारा अपना और समस्त समाज का कल्याण करें । व्यक्तित्व को परिष्कृत और विकसित रखते हुए ही हम आत्मिक प्रगति के मार्ग पर बढ़ सकते हैं तथा उसमें पूर्णता प्राप्त करने में सफल हो सकते हैं । ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ तो मील के पत्थर के समान हैं जो यह बताती हैं कि आत्मोन्नति किस दिशा में और कैसे हो रही है ।

गायत्री साधना की सफलता के प्रमाण

आरंम्भ में गायत्री उपासना के समय साधक का मन इधर-उधर उछल-कूद करता है और साधना में पूरी तन्मयता, एकाग्रता तथा तल्लीनता नहीं आती । मन का

पुराना अभ्यास आसानी से नहीं छूटता, इसी कारण वह इधर उधर भटकता है । इसी को ध्यान में प्रमुख बाधक माना गाया है । भगवान श्रीकृष्ण ने भगवत् गीता में जब ध्यान योग का उपदेश दिया तो अर्जुन ने इस प्रमुख बाधा का उल्लेख किया और कहा, हे कृष्ण ! यह मन बड़ा चंचल और प्रमथन (नष्ट करने वाला) स्वभाव वाला तथा दृढ़ और बलवान है । इसलिए उसको वश में करना में वायु की भाँति अति दुष्कर मानता हूँ ।

अर्जुन की इस समस्या को उचित सिद्ध करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा कि निःसंदेह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है, परन्तु बार-बार यत्न करने से यह वश में हो जाता है । योग दर्शन के समाधि पाद में तो मन को वशवर्ती करने के अनेकानेक साधन बताये गये हैं, कुल मिलाकर साधना का अभीष्ट परिणाम तब तक नहीं मिलता जब तक कि मन को सब ओर से हटा कर ध्येय वस्तु में ही न लगा दिया जाय । मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त (६।१४) यजन्नेवं सदात्मानं योगी नियत मानसः (६।१५) यदा विनियतं चित्तमान्वेवातिष्ठते (६।१७) आदि श्लोकों में भगवान श्रीकृष्ण ने मन को पूरी तरह निगृहीत करने पर ही साधना में सफलता का मार्ग बताया है ।

साधक का मन जब साधना में तल्लीन, तन्मय और एकाग्र होने लगता है तो वह सफलता की ओर अग्रसर होने लगता है । यह ठीक है कि प्रारम्भ में ही यह स्थिति प्राप्त नहीं हो जाती, इसके लिए बारम्बार प्रयत्न करना पड़ता है । लेकिन जब इस स्थिति के लिए बराबर प्रयत्न किया जाता है तो सफलता की ओर अग्रसर होते हुए उसमें एक सूक्ष्म दैवी चेतना का आविर्भाव होने लगता है, और उसके व्यक्तित्व में ऐसी विशेषताएँ उत्पन्न होने लगती हैं जो उसके साधक होने का आभास देती हैं तथा स्वयं उसे भी इस तरह की अनुभूतियाँ होने लगती हैं ।

शास्त्रों में उल्लेख आता है कि साधक जब साधना करने बैठता हो, तो अपने भीतर एक प्रकाश का आध्यात्मिक गर्भ धारण करता है । जब उसकी साधना गर्भ में पकती है तो कुछ उदासी, भारीपन, अनुत्साह एवं शिथिलता के लक्षण प्रकट होते हैं । किन्तु यह स्थिति देर तक नहीं बनी रहती, शीघ्र ही उसमें सफलता के लक्षण यथा हलकापन, उत्साह एवं चैतन्यता अनुभव होने लगती है । माता के उदर में जब गर्भ पकता है तब तक माता का शरीर भारी, गिरा-गिरा सा रहता है । उसमें अनुत्साह रहता है, पर जब यह प्रसूती से निवृत्त हो जाती है तो वह अपने में एक हलकापन, उत्साह और प्रफुल्लता अनुभव करती है । तन्त्रशास्त्रों में साधना को मैथुन कहा गया है । जैसे मैथुन को गुप्त रखा जाता है, वैसे ही साधना को भी गुप्त रखने का विधान है । आत्मा जब परमात्मा से लिपटती है, उसका आलिंगन करती हैं तो उसे एक अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती हैं । इसे भक्ति की तन्मयता कहते हैं । जब दोनों का प्रगाढ़ मिलन होता है, दोनों एक दूसरे से एकाकार होते हैं तो उस स्खलन को समाधि कहते हैं । आध्यात्मिक मैथुन का अन्तिम स्खलन समाधि सुख है ।

यह परिवर्तन स्पष्ट रूप से आध्यात्मिक और आत्मिक होते हैं । साधना से साधकों में आध्यात्मिक तत्वों की वृद्धि होती हैं । उससे प्रत्यक्षतया शरीर या आकृति में कोई अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु भीतर ही भीतर भारी हेर-फेर हो जाता हैं । आध्यात्मिक तत्वों की अभिवृद्धि के कारण शरीर के अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों का परिष्कार होता है । इसलिए शरीर की आकृति और स्वरूप में भले ही कोई विशेष परिवर्तन नहीं दिखायी दे किन्तु इन पाँच कोषों के परिष्कार का प्रभाव अन्नमय कोष से बने स्थूल शरीर पर अनिवार्य रूप से पड़ता है । यह सच है कि शरीर का ढाँचा आसानी से नहीं बदलता, पर यह भी सच है कि इस परिवर्तन का प्रभाव और उसके चिन्ह स्पष्टतया परिलक्षित होते हैं ।

यह किस प्रकार पता चले कि साधना ठीक ढंग से हो रही है ? सफलता की कसौटी के लिये ऋषियों ने कुछ लक्षण बताये हैं । श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है:

नीहार धूमार्कानिलानलानां
खद्योत-विद्युतत्स्फटिकशशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसरीमणि
ब्रह्मण्यभिव्यक्ति कराणि योगे ।।

—अध्याय 2, श्लोक 11

अर्थात्–जब साधक साधना आरम्भ करता है तब उसको अपने सामने कभी कुहरे के सदृश रूप दीखता है, कभी धुँआ सा दिखायी देता है, कभी सर्वत्र सूर्य के समान परिपूर्ण प्रकाश दीखता है, कभी अग्नि के सदृश तेज दीख पड़ता है । कभी बिजली की सी चकाचौंध पैदा करने वाली दीप्ति दृष्टिगोचर होती है, कभी स्फटिक मणि के सदृश उज्ज्वल रूप में देखने में आता है और कभी चन्द्रमा की भाँति शीतल प्रकाश सर्वत्र फैला हुआ दीख पड़ता है । ये सब तथा और भी अनेक दृश्य योग साधना की उन्नति के द्योतक हैं ।

पृथव्यापतजोऽनिलखे समुत्थिते ,
पञ्चात्मके योग गुणे प्रवृत्ते ।।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ।।

–अध्याय २, श्लोक १२

अर्थात्–साधना करते-करते जब पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पांच महाभूतों का उत्थान हो जाता है, साधक का जब इन पाँचों महाभूतों पर अधिकार हो जाता है तो योगी के शरीर में न तो रोग होता है, न बुढ़ापा आता है और न उसकी अकाल मृत्यु ही होती है ।

लघुत्वुमारोग्यमलो त्युकत्वं
वर्णप्रसादं स्वर सौष्ठवं च ।
गंधः शुभो मूत्र पुरीषमल्पं
योगप्रवृत्तिं प्रथमा वदंति ।
यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं
तेजोमयं भ्राजते तत् स्धान्तम् ।
तद्वाऽऽत्मतत्वं प्रसमीक्ष्य देही
एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ।।

–श्वेता० २।१३।१४

अर्थात्–साधक का शरीर हल्का हो जाता है, उसमें भारीपन या आलस्य का भाव नहीं रहता । किसी प्रकार का रोग भी उसे नहीं होता । भौतिक पदार्थों में उसकी आसक्ति नष्ट हो जाती है, शरीर का वर्ण उज्ज्वल और कांतिमान हो जाता है, स्वर अत्यन्त मधुर और स्पष्ट हो जाता है । शरीर में से बहुत अच्छी गन्ध निकल कर सब ओर फैल जाती है । जिस प्रकार मिट्टी से सना हुआ कोई रत्न भलीभाँति धुल जाने पर चमकने लगता है, उसी प्रकार देहधारी आत्मतत्व को भलीभाँति स्वच्छ करने पर सब प्रकार के दुःखों से रहित कृतकृत्य हो जाता है । तंत्रसार के अनुसार मंत्र-सिद्धि होने से साधक में जो लक्षण प्रगट होते हैं, वे हैं

"हृदये ग्रन्थिभेदश्च सर्व्वाय व वर्द्धनम् ।
आनन्दा श्रुणि पुलको देहावेशः कुलेश्वरि ।।
गद्गदोश्च सहसा जायते नात्र संशयः ।।"

अर्थात्–"जप के समय हृदय-ग्रन्थि-भेद, समस्त अवयवों की वृद्धि, देहावेश और गद्गद कण्ठ भाषण आदि भक्ति के चिन्ह प्रकट होते हैं, इसमें सन्देह नहीं । और भी अनेक प्रकार के चिन्ह प्रगट होते हैं ।"

मंत्र के सिद्ध होने का सबसे मुख्य लक्षण तो यही है कि साधक के मनोरथ की पूर्ति हो जाय । साधक की जिस समय जो अभिलाषा हो वह तुरंत पूर्ण होती दिखायी दे तो समझ लेना चाहिये कि मंत्र-सिद्धि हुई है । मंत्र के सिद्ध होने से मृत्यु-भय का निराकरण, देवता-दर्शन, देवता के साथ वार्तालाप, मंत्र की झंकार का शब्द सुनाई पड़ना आदि लक्षण भी दिखायी पड़ते हैं ।

"सकृदुच्चरितेऽप्येवं मंत्र चैतन्य संयुते ।
दृष्यन्ते प्रत्यया यत्र पारपर्य्य तदुच्यते ।।

–तन्त्रसार

अर्थात्–"चैतन्य को संयुक्त करके मंत्र का एक बार उच्चारण करने से ही ऊपर बताये भावों का विकास हो जाता है ।"

जिस साधक को मंत्र की सम्पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो जाती है वह देवता का दर्शन कर सकता है, मृत्यु का निवारण कर सकता है, परकाया प्रवेश कर सकता है, चाहे जिस स्थान में प्रवेश कर सकता है, आकाश मार्ग में उड़ सकता है, खेचरी देवियों के साथ मिलकर उनकी बात-चीत सुन सकता है । ऐसा साधक पृथ्वी के अनेक स्तरों को भेद कर भूमि के नीचे के पदार्थों को देख सकता है । ऐसे महापुरुष की कीर्ति चारों दिशाओं में व्याप्त हो जाती है, उसे वाहन-भूषण आदि समस्त सामग्री प्राप्त होने लगती है और वह बहुत समय तक जीवित रह सकता है । वह राजा और अधिकारी वर्ग को प्रभावित कर सकता है और सब तरह के चमत्कारी कार्य करके सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकता है । ऐसे सत्पुरुष की दृष्टि पड़ते ही अनेक प्रकार की व्याधियाँ और विषयों का निवारण हो जाता है । वह

सर्वशास्त्रों में पारंगत होकर चार प्रकार का पाण्डित्य प्राप्त करता है। वह विषय-भोग के प्रति वैराग्य धारण करके केवल मुक्ति की ही कामना करता है। उसमें सर्व प्रकार की परित्याग की भवना और सबको वश में करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। वह अष्टाङ्ग योग का अभ्यास कर सकता है, विषय-भोग की इच्छा से दूर रहता है, सर्व प्राणियों के प्रति दया रखता है और सर्वज्ञता की शक्ति को प्राप्त करता है। सर्व प्रकार का सांसारिक वैभव, पारिवारिक सुख और लोक में यश उसे मंत्र-सिद्धि की प्रथम अवस्था में ही प्राप्त हो जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि योग-सिद्धि और मंत्र-सिद्धि में कोई भेद नहीं है, दोनों प्रकार के साधनों का उद्देश्य एक ही है, केवल साधन-मार्ग में अन्तर रहता है। वास्तव में जो साधक जिस किसी विधि से मंत्र की पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर लेता है तो उसके प्रभाव से वह स्वयं शिव तुल्य हो जाता है। कहा है--

"सिद्ध मन्त्रस्तु यः साक्षात् स शिवो नात्र संशयः।"

मंत्र-साधक को शास्त्र में बतायी किसी भी पद्धति का अवलम्बन करके मंत्र-सिद्धि प्राप्त करनी चाहिये और जीवन्मुक्त होकर शिव सायुज्य अथवा निर्वाण-मुक्ति प्राप्त करना अपना लक्ष्य रखना चाहिये। युगावतार भगवान् रामकृष्ण परमहंस ने ऐसी स्थिति प्राप्त कर ली थी, उन्होंने अपने अनुभव द्वारा अन्य साधकों को बताया था–

"कलियुग में मंत्र-जप अथवा अपने किसी इष्टदेव का जप करने से सब प्रकार की इच्छायें पूर्ण होती हैं। एकाग्र चित्त, मन और प्राण को एक करके जप करना चाहिए, इष्टदेव के नाम रूपी मंत्र का जप करते-करते समुद्र में डूब जाओ, बस तुम भवसागर से पार हो जाओगे।"

अलौकिक शक्तियों का आभास

आभ्यन्तरे तु गायत्र्याः अनेका योग संचयाः।
अन्तर्हिता विराजन्ते कश्चिदत्र न संशयः॥

(गायत्र्याः) गायत्री के (आभ्यन्तरे) अन्तर्गत तो (अनेका) अनेक (योग संचयाः) योग समूह (अन्तर्हिताः) छिपे हुए (विराजन्ते) रहते हैं (अत्र) इसमें (कश्चित्) कोई (संशयः) सन्देह (न) नहीं है।

धारयन् हृदि गायत्री साधको धौतकिल्विषः।
शक्तिनुभवत्युग्राः स्वस्मिनात्मन्यलौकिकाः॥

(धौत किल्विषः) पाप रहित (साधकः) साधक (हृदि) हृदय में (गायत्रीं) गायत्री को (धारयन्) धारण करता हुआ (स्वस्मिन् आत्मनि) अपनी आत्मा में (अलौकिकाः) अलौकिक (उग्राः) तीव्र (शक्तीन्) शक्तियों का (अनुभवति) अनुभव करता है।

योग पद्धतियों की संख्या अनन्त है। राजयोग, हठयोग, लययोग, नादयोग, बिन्दुयोग, ऋजुयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, कौलयोग, ब्रह्मयोग, परायोग, तंत्रयोग, शक्तियोग, जपयोग, गुह्ययोग आदि अनेकों योग पद्धतियाँ प्रचलित हैं। इसके विज्ञान, विधि-विधान, फल एवं कर्मकाण्ड भी पृथक् हैं। भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में अनेक धर्म एवं दर्शन प्रचलित हैं, उनके अन्तर्गत भी बहुत-सी योग पद्धतियों का विधान है। इतने असंख्य योगों का पार्थिक्य यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें कोई भारी अन्तर है,एक दूसरे में कोई असाधारण मतभेद या आसमंजस्य विद्यमान हैं। अथवा एक-दूसरे के विरोधी हैं। परन्तु गहराई तक प्रवेश करने के उपरान्त यह प्रकट हो जाता है कि वस्तुतः ऐसी कोई बात नहीं हैं। यह पृथकता बाहर से ही दीखती हैं खरबूजे की धारियां ऐसा भ्रम उत्पन्न करती हैं कि यह भीतर से टुकड़े-टुकड़े निकलेगा, पर वस्तुतः ऐसा होता नहीं। वे सब एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए हैं, उन सब साधना प्रणालियों की निर्धारित दिशा एक ही है। एक स्थान पर पहुँचने के अनेकों रास्ते होते हैं। जो पूर्व में है वह निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने के लिये पश्चिम को चलता है और जो पश्चिम है उसे पूर्व की ओर चलना पड़ता है। देखने में दोनों भिन्न दिशाओं में चलते हुए दीखते हैं, यह भिन्नता होते हुए भी वे एक स्थान पर जा पहुँचते हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने इस अनेकता में एकता सिद्ध करते हुए एक उदाहरण दिया है कि जैसे खांड की भरी एक बोरी है। उस बोरी में अनेकों छेद हैं। बहुत सी चीटियाँ इन छेदों में होकर खांड में भीतर घुसती हैं। वे सभी समान मधुरता का रसास्वादन करती हैं। यद्यपि उनके मार्ग पृथक्-पृथक् हैं तो भी वे एक ही लाभ का अनुभव करती हैं। यही बात विविध साधनाओं के साधकों के सम्बन्ध में हैं। जिस शिक्षक ने जिस मार्ग से अनुभव किया है, वह अपने अनुयायी को उसी मार्ग पर चलने की शिक्षा देता है। इस परम्परा के अनुसार

अनेकों मार्ग बन जाते हैं और वे स्वतन्त्र नामों से पुकारे जाने लगते हैं। दूसरी बात यह है कि अलग-अलग व्यक्तियों की मनोभूमि, इच्छा, स्थिति और आवश्यकता अलग-अलग होती है। उसे देखते हुए आध्यात्म मार्ग के सुयोग्य शिक्षक साधकों को पृथक्-पृथक् साधनाएँ बताते हैं। वैद्य के औषधालय में अनेक प्रकार की दवायें भरी रहती हैं, पर उनमें से रोगी को वही दी जाती है जो उसके रोग के अनुकूल है। जिस प्रकार सभी औषधियों का उद्देश्य रोग निवारण और स्वास्थ्य संस्थापन है वैसे ही सब योगों का उद्देश्य भी अनात्म तत्वों का निवारण और आध्यात्मिकता की स्थापना, बंधन का निवारण और मुक्ति की स्थापना हैं; परन्तु हर औषधि हर रोगी को उपयोगी नहीं होती इसी प्रकार हर व्यक्ति के लिए हर योग ठीक नहीं होता। किसके लिए क्या औषधि चाहिए इसका निर्णय वैद्य करता है, इसी प्रकार सुयोग्य गुरु यह निर्णय करता है कि किस व्यक्ति को कौन-सी साधना करनी चाहिए।

गायत्री मंत्र को एक औषधालय कह सकते हैं जिसमें सभी योगों की औषधियाँ विद्यमान हैं। 'अमृत धारा' औषधि को अनुमान भेद से बहुत से रोगों पर काम में लाया जाता है। खाँसी, सिरदर्द, हैजा, फुन्सी आदि कितने ही रोगों पर यह एक दवा प्रयोग की जाती है, केवल सेवन विधि में अन्तर कर दिया जाता है। गायत्री साधना ऐसी ही आध्यात्मिक अमृत धारा है, जिससे अनेक औषधियों की, अनेक योग साधनाओं की आवश्यकता पूरी हो जाती है; अनेक रोगियों को, अनेक साधकों को, उपचार भेद से साधना विधि में अन्तर कराकर इस एक ही औषधि से, एक ही मंत्र से चंगा किया जा सकता है, अभीष्ट उद्देश्य को प्राप्त कराया जा सकता है। इस रामबाण साधना में वे सब लाभ, बल और रहस्य छिपे हुए है जो संसार भर की किसी भी साधना में पाये जाते हैं।

इस साधना के साधक पर सबसे प्रथम प्रतिक्रिया यह होती है कि वह निष्पाप हो जाता है। पाप-पुण्य की उलझन जिस श्रेणी के लोगों को परेशान करती है वह उससे ऊँचा उठ जाता है। हमारा कोई अंग जब तक जल की सतह से नीचा रहता है तब तक वह पानी में भीगा रहता है पर जब वह ऊँचा उठ जाता है तो पानी उसे स्पर्श नहीं करता। जब तक मनुश्य का 'अहम्' संकुचित, सीमित, स्वार्थरत रहता है; अपने तुच्छ 'अहंकार' को तृप्त करने के लिए कार्य करता है, तब तक किये हुए कार्य पाप-पुण्य बन कर उसके पीछे पड़ते हैं और उनका परिणाम भोगने के लिए उसे विवश होना पड़ता है। पर जब वह अपने 'अहम्' को व्यापक बना लेता है, तुच्छता की केंचुली उतार कर अपने को विभु व्यापक एवं अजर, अमर अनुभव करता है तो उसके कार्य भी वैसे ही हो जाते हैं। जिससे उसे पाप-पुण्य के बन्धन में नहीं बँधना पड़ता। कसाई एक प्राणी के शरीर में छुरा घुसेड़ कर रक्त बहाता है, दूसरी ओर एक डॉक्टर भी रोगी के शरीर में छुरी घुसेड़ता है और उसी प्रकार खून-खच्चर करता है, हाड़, मांस आदि को काटता है। बाहर से देखने से दोनों क्रियाएँ एक सी हैं पर एक को पाप लगता है, दूसरे को नहीं। हत्यारा डाकू भी मनुष्यों के प्राण लेता है और जज भी अनेकों अभियुक्तों को फाँसी पर लटकवाता है, पर इनमें डाकू को पाप लगता है जज को नहीं। पाप-पुण्य में 'क्रिया' प्रधान नहीं होती, कर्ता का दृष्टिकोण-प्रधान होता है।

एक व्यक्ति बुरे उद्देश्य की सिद्धि के लिए दिखावे के रूप में कुछ पुण्य करके लोगों को उल्लू बनाना चाहता है, दूसरा आदमी किस ऊँचे उद्देश्य के लिए बुरे प्रतीत होने वाले काम करता है तो उन कार्यों का फल क्रिया के अनुसार नहीं कर्ता की दृष्टि के अनुसार होता है। कभी ब्रह्मचर्य भी पाप हो सकता है और कभी व्यभिचार पुण्य भी। कभी सत्य भाषण पाप हो सकता है और असत्य भाषण पुण्य भी। कभी-कभी दया, उदारता, दान आदि पाप बन जाते हैं और कभी कठोरता, हिंसा, अनुदारता और छल पुण्य रूप होते हैं। कौरव, पाण्डवों की माताओं ने वंश नाश होते देखकर व्यभिचार करके संतान उत्पन्न की थी। व्यासजी ने जब देखा कि सुपुत्र उत्पन्न करने की एक अमूल्य वेला व्यर्थ निकली जा रही है तो उन्होंने निषाद कन्या से व्यभिचार करके शुकदेव को जन्म दिया। देवताओं का संकट दूर करने के लिये योगेश्वर शंकर ने दूसरा विवाह भी किया और दो पुत्र भी उत्पन्न किये। स्वयं भगवान ने वृन्दा का सतीत्व नष्ट किया। बलि के साथ छल किया। यह सब बातें स्थूल दृष्टि से बुरी हैं, पाप हैं, पर ऊँचे दृष्टिकोण से निःस्वार्थ भाव से किये जाने के कारण यह पाप नही ठहरायी गयी। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के क्रान्तिकारियों

ने लूट, चोरी, डकैती, हत्या, छल आदि सभी कुछ किया, पर उद्देश्य ऊँचा होने के कारण वे पापी नहीं कहे जा सकते । इसके विपरीत दुर्भाव से नीच दृष्टिकोण से किये हुए पुण्य कार्य भी पाप बन जाते हैं । राजा नृग को गौदान करते हुए भी नरक में पड़ना पड़ा, त्रिशंकु को तप करते हुए भी उल्टा लटकना पड़ा, दक्ष का यज्ञ विध्वंस हुआ, कालनेमि का ब्रह्मभोज प्राणघातक सिद्ध हुआ ।

गायत्री की साधना से मनोभूमि सात्विकता में विकसित हो जाने के कारण उसका दृष्टिकोण ऊँचा बन जाता है । उसके कार्य स्वभावतः लोक हितकारी और सतोगुणी होते हैं । भूल से या लोक हित की दृष्टि से वह कोई ऐसा काम कर बैठता है जो लोकाचार के अनुसार हेय समझा जाता है तो वह पाप का भागी नही बनता । शुद्ध हृदय से, परमार्थ के लिए, अपने व्यक्तिगत स्वार्थ का ध्यान न करते हुए जो कार्य किये जाते हैं वे गलत भले ही हों, पर उनके कारण कर्त्ता को पाप नहीं लगता । इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ अध्यात्मवादी अपनी हृदयगत पवित्रता के कारण प्रत्येक दशा में निष्पाप रहता है । पूर्वसंचित संस्कार जो पक चुके हैं, प्रारब्ध बन चुके हैं उन्हें तो भोगना ही पड़ेगा पर अब के कर्म आगे के लिए उसके लिए बन्धन नहीं बनते, मुक्ति में बाधा नही डालते ।

निष्पाप अन्तःकरण वाला व्यक्ति अपने आप में ऐसी शक्तियों का अनुभव करता है जो अलौकिक होती हैं । अलौकिक उन्हें कहते हैं जो आमतौर से सब में नही होतीं । 'आत्मा' परमात्मा की सन्तान होने के कारण उसमें अपने पिता की समस्त योग्यतायें, समस्त शक्तियाँ रहती हैं, परन्तु विषय-विकारों के कारण वे वैसे ही अस्त-व्यस्त और कुंठित हो जाती हैं जैसे राख से ढका हुआ अंगार बाहर से छूने पर दहक शक्ति से सर्वथा शून्य प्रतीत होता है । जब उस राख को हटा दिया जाता है तो अंगार का जलता हुआ अग्निस्वरूप पुनः प्रगट हो जाता है । इसी प्रकार आन्तरिक कषाय, कल्मष, हटते ही आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में प्रकट होती है, उसकी जन्मजात, स्वाभाविक योग्यतायें स्वयमेव प्रकाश में अनुभव में आने लगती हैं ।

साधनसम्पन्न आत्मायें अधिक सूक्ष्म हो जाती हैं । सूक्ष्म आकाश में विचरण करने वाले तत्वों को वे देख, समझ और सुन सकती हैं । जो घटनायें भूतकाल में घटित हो चुकी हैं, उनके अंकन सूक्ष्म आकाश में फोटोग्राफ की तरह बने रहते हैं, उन्हें देखकर किसी का भूतकाल जाना जा सकता है । भविष्य में जो घटित होने वाला है, उसकी तैयारी के चक्रों को देखकर यह विदित हो जाता है कि भविष्य में क्या होने वाला है । उसकी आत्मशक्ति इतनी हल्की हो जाती है कि उसको दूसरों की सहायता में प्रयुक्त किया जा सकता है । आत्मनिग्रह की सफलता के कारण हर घड़ी परमानन्द का आस्वादन किया जा सकता है । शाप तथा वरदान को फलित किया जा सकता है । अज्ञात बातों को जाना जा सकता है । मानस संतानों (भूत, प्रेत, देवी, देवता आदि) को पैदा करना और मिटाना संभव हो जाता है । इन सबको गिनना न तो आवश्यक है और लाभदायक, क्योंकि उनका कोई अन्त नहीं है । साधक का आत्मबल जितना ही ऊँचा उठता जाता है उतनी ही ईश्वरीय कलायें उसमें बढ़ती जाती हैं, तदनुसार उतनी आलौकिक शक्तियों की मात्रा बढ़ती है । पांतजलि योग में वर्णन है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि यम नियमों से एवं प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि साधनाओं से एक से एक बढ़कर चमत्कारी शक्तियाँ प्राप्त होती हैं । यह चमत्कार उन नियमों से या साधनाओं से होने वाले आत्म-विकास द्वारा प्राप्त होते हैं । यह आत्म-विकास अन्य साधनों से भी हो सकता है, और वे ही लाभ तथा उनके अतिरिक्त अन्य भी अनेकों लाभ प्राप्त हो सकते हैं ।

गायत्री एक ऐसी साधना है जो किसी भी अन्य साधना से किसी प्रकार कम नहीं, इसके द्वारा आत्म-विकास होता है और उस विकास के साथ-साथ अलौकिक शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं । साधक को उनका अनुभव होता है, आभास मिलता है, पर जैसे किशोर बालक अपने नव उत्पन्न वीर्य को सुरक्षित रखते हैं उसे बाहर नहीं निकलने देते उसी प्रकार बुद्धिमान साधक भी अपनी इन शक्तियों को अपने अन्दर ही धारण किये रहते हैं । प्रगट नही करते, उन्हें सांसारिक कर्मों में खर्च नही करते । वरन् आत्म-कल्याण में परमानन्द की प्राप्ति में, जीवनमुक्ति में उसे लगाते हैं । परमात्मा की सृष्टि का

क्रम कर्मभोगों के आधार पर चल रहा है, कर्म की, प्रयत्न की, श्रम की प्रधानता से व्यक्ति की उन्नति होने का ईश्वरीय नियम है । सिद्धि प्राप्त व्यक्ति बड़ी सावधानी से इस बात के लिए सचेष्ट रहता है कि कहीं उसकी शक्तियाँ किसी ऐसे कार्य में प्रयुक्त न हों जिससे ईश्वरीय विधान में विक्षेप पड़े । आध्यात्मिक शक्तियों का उपयोग आत्मोन्नति के लिए ही है । बुद्धिमान साधक उसे उचित मार्ग में ही लगाता है, उससे प्रदर्शन नहीं करता ।

समस्त मंत्रों का लाभ

एकः एव तु संसिद्धः गायत्री मंत्रोः आदिशेत् ।
समस्तलोक मंत्रःणां कार्यसिद्धेस्तु पूरकः ।।

(संसिद्धः) सिद्ध हुआ (एकः) अकेला (एव) ही (गायत्री मंत्रः) गायत्री मंत्र (समस्त लोक मंत्राणां) संसार के समस्त मंत्रों की (कार्यसिद्धेः) कार्यसिद्धि का (पूरकः) पूरक (आदिशेत्) होता है ।

सिद्ध किया हुआ गायत्री मंत्र अकेला ही उन सब शक्तियों से युक्त होता है जो अन्य किसी मंत्र द्वारा प्राप्त हो सकती हैं । ऐसा साधक अकेले अपने इसी मंत्र के ऊपर निर्भर रह सकता है । उसके वे सब प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं जो संसार के अन्य किसी मंत्र से सिद्ध हो सकते हैं ।

मंत्रसिद्धि एक मानसिक पुरुषार्थ है । विश्वास बल की महिमा अपार हैं । दैनिक जीवन में विश्वास बल के आधार पर लोग बड़े-बड़े दुस्साहसपूर्ण कार्य करते हैं, लघु से महान् बनते हैं और ऐसे-ऐसे कार्य कर दिखाते हैं जिन्हें देख कर हैरत से दातों तले उंगली दबानी पड़ती है । इस छोटे लेख में ऐसे उदाहरणों का उल्लेख करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती । इतिहास का पन्ना-पन्ना वीर पुरुषों के आसाधारण चरित्रों से अंकित हैं । इनका मूल हेतु उन व्यक्तियों का आत्मविश्वास है, उस दृढ़ता के कारण मानसिक शक्तियों की गतिविधि उसी नियत दिशा में तीव्रतापूर्वक संचालित होती है । शरीर की कार्यक्षमता भी उसी दिशा में परिपक्व होती है । आदत, स्वभाव, रुचि और प्रयत्न इन सबका प्रवाह एक ही दिशा में संलग्न हो जाता हैं । फलस्वरूप वह व्यक्ति अपने मार्ग पर तेजी से बढ़ता जाता है । उसका आकर्षण दूसरों को सहयोग देने के लिए खींचता है, परिस्थितियाँ उसके पक्ष में मुड़ जाती हैं । तदनुसार वह बड़े-बड़े महत्वपूर्ण कार्यों को सिद्ध कर लेता हैं ।

व्यक्तिगत जीवन में आत्मविश्वास गजब का काम करता है । रोगी, सनकी, कायर, आलसी, दुराचारी, अभागा, पतित, घृणित, दरिद्री एवं तुच्छ बनने में अपनी मान्यता ही प्रधान है और सर्वसाधन सम्पन्न, सद्गुणी एवं उन्नतिशील बनने में भी अपने विश्वास ही काम करते हैं । भूतवाधा, उन्माद, सनक जैसे रोगों का अधिकांश आधार रोगी की मान्यता पर स्थिर होता हैं । उसकी मान्यता बदल जाय तो ऐसे रोगी चुटकियों में चंगे हो जाते हैं ।

आध्यात्मिक क्षेत्र में तो सर्वप्रधान तत्व विश्वास ही है । गोस्वामी तुलसीदास जी ने श्रद्धा और विश्वास को भवानी शंकर की उपमा देते हुए उनकी वंदना की है । हम अपनी पुस्तक 'मरने के बाद क्या होता है ?' में सविस्तार बता चुके हैं कि स्वर्ग, नरक और पुनर्जन्म किस प्रकार अपने सुनिश्चित विश्वासों के आधार पर प्राप्त होता है । जिन विचार और विश्वासों के क्षेत्र में मनुष्य जीवन-भर भ्रमण करता है वे अन्तर्मन में, सूक्ष्म शरीर में, संस्कार बनकर स्थिर हो जाते हैं । मरने के बाद सोचने और तर्क करने वाला वाह्य मन एवं मस्तिष्क तो समाप्त हो जाता है और सारी क्रिया पद्धति उन अन्तर्मन के संस्कारों द्वारा चलती है । जैसे भौंरा फूलों को और मक्खी विष्ठा को अपने स्वभाव के अनुसार कहीं न कहीं से ढूँढ़ लेती हैं वैसे ही संस्कारों की प्रेरणा से अपने रुचिकर वातावरण में जीव चला जाता है और वहाँ पुनर्जन्म धारण कर लेता है । इसी प्रकार मृत्यु और पुनर्जन्म से बीच के समय में जीव निद्राग्रस्त रहता है और चित्त में जमे हुए संस्कारों के अनुसार स्वप्न लेता रहता है । कुसंस्कारों से उत्पन्न हुए दुःस्वप्न उसे भयंकर नरक की यातनाओं का अनुभव कराते हैं और सुसंस्कारों की दिव्य मनोभूमि ऐसे आनन्दमय स्वप्नों का सृजन करती है, जिसे स्वर्ग विचरण कह सकते हैं । यह उभयपक्षीय स्थितियाँ अपने विश्वासों के आधार पर ही प्राप्त होती रहती हैं ।

विश्वास से देवता बनते हैं और साधक के लिए दिव्य वरदान उपस्थित करते हैं । योग साधन विश्वास का निर्माण मात्र है । मन को वश में करने, चित्त

वृत्तियों का निरोध करने, मनोवृत्तियों को चाहे जिस दिशा में लगाने की सफलता प्राप्त करने, स्वसंमोहन में सिद्धहस्त होने के लिये ही योग साधन की समस्त प्रणाली एवं प्रक्रियायें बनायी गयी हैं । मैस्मरेजम से लेकर समाधि तक जितनी भी योग साधनाएँ हैं वे सब विश्वास बल के चमत्कार मात्र हैं । परमात्मा की प्राप्ति, आत्म दर्शन, ब्रह्मनिर्वाण, जीवनमुक्ति और परमानन्द को उपलब्ध करने के लिए एक मात्र अवलम्बन विश्वास ही है । यदि यह पतवार हाथ से छूट जाय तो साधक का किसी भी निश्चित केन्द्र बिन्दु पर पहुँचना कठिन ही नहीं असंभव भी है ।

हर दिशा में विश्वास बल की प्रधानता है । यही प्रधान तत्त्व मंत्र बल की सफलता का मूल हेतु है । मंत्रों की साधनायें, विधियाँ बड़ी कठोर होती हैं, उनके सिद्ध करने में साधक को अपने पुरुषार्थ का परिचय देना होता है । यह विधियाँ गुप्त रखी जाती हैं और गुरु उन्हें अपने शिष्य को गुप्त रखने की प्रतिज्ञा के साथ बताते हैं । इस प्रकार की गोपनीयता, एवं मंत्र की महापुरुषार्थपूर्ण कठोर साधना के आधार पर साधक की मनोभूमि का ऐसा निर्माण किया जाता है कि वह मंत्र शक्ति के ऊपर अटूट विश्वास कर ले । यह विश्वास जितना ही गहरा, सुदृढ़ एवं संदेहरहित होता है, उतना ही उस पर श्रद्धा का पुट चढ़ा होता है, उसी अनुपात से मंत्र की सिद्धि मिलती हैं और उस सिद्धि के चमत्कार दृष्टिगोचर होते हैं ।

मंत्र अनेकों हैं । उनकी साधना विधियाँ भी अनेक हैं, उनके फल भी पृथक्-पृथक् हैं, उनकी शक्तियों में भिन्नता है । इतना सब होते हुए भी उन सबका मूल तत्त्व एक ही है । एक ही मिट्टी से कुम्हार विविधि प्रकार के खिलौने और बर्तन बना देता हैं । एक ही धातु से अनेक प्रकार के शस्त्र, पात्र, आभूषण एवं पदार्थ बनते हैं, उनमें भिन्नता रहते हुए भी मूल में एक ही चीज है । इसी प्रकार मंत्र बहुत-से हैं, पर उनका आधार एक मात्र विश्वास ही है । साधकों की संतुष्टि और श्रद्धा की पुष्टि के लिये अनेक गुरुपरम्पराओं से अनेक प्रयोजनों के लिए अनेक मंत्र प्रचलित हैं पर तात्विक दृष्टि से विवेचन किया जाय तो स्पष्ट हो जाता हैं कि इस पृथकता का एकीकरण भी किया जा सकता है । अनेक मंत्रों का कार्य एक मंत्र से भी पूरा हो सकता है । यदि यह एकीकरण करके अनेकता के झंझट से बचकर एक से ही अनेक लाभ उठाने अभीष्ट हों तो इस कार्य के लिए गायत्री मंत्र से बढ़ कर और कोई मंत्र नहीं हो सकता ।

गायत्री की सिद्धि तब होती है जब उसकी भावना से अन्तःप्रदेश भली प्रकार आच्छादित हो जाता है । इसके लिए कितना श्रम, समय और विश्वास चाहिए इसका कोई निश्चित माप नहीं है । क्योंकि जिनकी मनोभूमि उर्वर है, पूर्वनिर्मित है, वे थोड़े प्रयत्न से सफलता प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु जिनका मनः प्रदेश कठोर है उनको सफलता तक पहुँचने के लिए अधिक श्रम, प्रयत्न और धैर्य की आवश्यकता होती है । फिर भी एक स्थूल अनुमान इसके लिए निर्धारित किया हुआ है । जिन आधारों पर सिद्धि का अनुमान लगाया जाता है वे यह हैं । (१) लगातार बारह वर्ष तक कम से कम तीन माला का जप किया हो, (२) गायत्री की ब्रह्म संख्या को लगातार नौ वर्ष किया हो, (३) ब्रह्मचर्यपूर्वक पाँच वर्ष तक एक हजार मंत्र नित्य जपे हों, (४) चौबीस लक्षय गायत्री का अनुष्ठान किया हो, (५) एक वर्ष तक गायत्री तप किया हो । इन पाँच साधनों से गायत्री सिद्ध हो जाती है । इस सिद्धि से साधक वे सब प्रयोजन पूरे कर सकते हैं जो किन्हीं अन्य मंत्रों से होते हैं । यद्यपि मंत्र एक ही है पर उसका विविधि प्रकार प्रयोग करने से अनेक प्रकार के उपचार किये जा सकते हैं–

भिन्नाभिर्विधिभिर्बुद्धया भिन्नामिः कार्यपंक्तिषु ।
गायत्र्याः सिद्ध मंत्रस्य प्रयोगः क्रियते बुधाः ।

(बुधाः) बुद्धिमान पुरुष (भिन्नासु) भिन्न-भिन्न (कार्यपंक्तिषु) कार्यो में (गायत्र्याः सिद्ध मंत्रस्य) गायत्री के सिद्ध हुए मंत्र का (प्रयोगः) प्रयोग (भिन्नाभिः) भिन्न भिन्न (विधिभिः) रीतियों से (बुद्धया) बुद्धि द्वारा (क्रियते) करता है ।

सिद्ध होने पर किस कार्य के लिए किस प्रकार इस मंत्र शक्ति का प्रयोग किया जाय, इसके लिए उपचार विधि को स्थानीय प्रचलित परम्पराओं के आधार पर बनाना चाहिए, जिससे रोगी को दूसरों द्वारा प्रयोग की जाने वाली प्रणाली का स्मरण हो आये और उसे अनुमान हो कि इसी उपचार विधि से अमुक से समय इसी प्रकार का रोग अच्छा किया गया था, उसी विधि का उसी मंत्र का मेरे ऊपर प्रयोग हो रहा हैं, इसलिये मैं भी चंगा

हो जाऊँगा । आमतौर पर मंत्रों का उपचार इन विधियों के साथ होता है–(१) शुद्ध जल को हाथ में लेकर उसके समीप मंत्र पढ़ने से जल अभिमंत्रित हो जाता हैं, इस जल को पीड़ित को पिलाया जाता है या उसके ऊपर छिड़का जाता है । (२) शुद्ध भस्म को बायें हाथ की हथेली पर रखकर दाहिने हाथ की उंगलियों से उसे स्पर्श करते हुए मंत्र पढ़ने से वह भस्म अभिमंत्रित हो जाती है और उसे रोगी के मस्तक वा अन्य अंगों पर लगाया जाता है तथा थोड़ा-सा चटाया जाता है । (३) नीम की टहनी, मोरपंखों की गड्डी या बिना प्रयोग की गयी झाडू से झाड़ते हैं । (४) पीली सरसों को अभिमंत्रित करके किसी स्थान पर फैला देते हैं । (५) मंत्र को भोजपत्र या शुद्ध कागज पर अनार की कलम और केशर की स्याही से लिखकर ताबीज में बंद करके धारण करा देते हैं । (६) काँसे की थाली में खड़िया मिट्टी से चक्रव्यूह आकार में मंत्र लिखकर रोगी को दिखाते हैं और उसे शुद्ध जल में धोकर पिला देते हैं । (७) काली मिर्चों अभिमंत्रित करके उसे रोगी को सेवन कराते हैं । इस प्रकार के और भी अनेकों प्रकार के उपचार हो सकते हैं । प्रयोगकर्ता जिस कार्य के लिए जहाँ मंत्र बल का प्रयोग करे, वहाँ की स्थिति के अनुसार उपचार विधि निर्धारित करना उसके चातुर्य और बुद्धि कौशल पर निर्भर है । मंत्र बल शक्ति है और उपचार उसका शृंगार । शृंगार का संबन्ध परिस्थितियों से होता है, इसलिए इसका निर्णय करना बहुत अंशों में प्रयोगकर्ता के ऊपर होता है ।

इस प्रकार के उपचारों में प्रयोगकर्ता की आत्म-शक्ति का एक अंश उस व्यक्ति के पास पहुँचता है जिस पर प्रयोग किया गया है । इस नये प्राण को पाकर उसकी शारीरिक और मानसिक शक्ति को एक नयी सहायता मिलती है, जिसके बल पर उसकी चेतना पुनः जागृत होकर कठिनाई को पार करने में सक्षम हो जाती है । जिस प्रकार आपत्तिग्रस्त व्यक्ति को धन, बुद्धि, वस्तु या शारीरिक बल का सहारा देकर उसकी कठिनाइयों को हल कराया जाता है वैसे ही सफल साधक, मंत्र शक्ति द्वारा अपने आत्मबल को दूसरों की सहायता में प्रयोजित करता है, फलस्वरूप दूसरा व्यक्ति लाभान्वित होता है ।

सिद्धि के निकट पहुँचे या नहीं, इस बात की परीक्षा के लिए कुछ चिन्ह हैं । यदि इनमें से कोई चिन्ह किसी अंश में प्रगटित होने लगें तो समझना चाहिये कि साधना में सफलता प्राप्त हो रही है । वे चिन्ह यह है – (१) चहरे की स्निग्धता बढ़ने लगती है, चमक आ जाती है, (२) शरीर में एक विशेष प्रकार की सौंधी गन्ध आने लगती है, (३) किसी वस्तु पर थोड़ी देर दृष्टि जमायी जाय तो उस वस्तु के आस-पास चिन्गारियाँ सी उड़ती दिखाई पड़ती हैं, । (४) किसी आदमी को स्पर्श करें तो उसे कुछ फुरहरी, रोमांच या झटकासा मालूम देता है, (५) शरीर में हल्कापन और चित्त में भारीपन प्रतीत होता है, (६) पवित्रता, परोपकार और सात्विकता के विचारों की ओर रुचि बढ़ती है, (७) आंखों में नीलापन और नमी बढ़ जाती है, (८) निद्रा में कमी हो जाती है, (९) स्वप्न में प्रकाशवान ओर पुरुष जाति की वस्तुयें अधिक दिखायी पड़ती हैं, (१०) घृतयुक्त पदार्थों की ओर अधिक रुचि रहती है । यह आवश्यक नहीं कि यह सब लक्षण पूर्णरूप से प्रगट ही हों, इनमें से थोड़े से चिन्ह भी किन्हीं अंशों में प्रस्फुटित हो रहे हों तो साधक अपनी साधना पर सन्तोष कर सकता है ।

साधक जब सिद्ध के रूप में परिणत होना आरम्भ करता है तो उस समय उसकी अन्तःचेतना बलयुक्त होती हैं । बिजली के करेन्ट को जिस ओर लगा दिया जाय उधर ही काम करने लगते हैं; पंखा, बत्ती, रेडियो, टेलीफोन, मोटर, मशीन, जिस यन्त्र के साथ बिजली का तार जुड़ जाता है उसमें क्रियाशीलता आ जाती है । इसी प्रकार साधक अपनी अन्तःशक्ति को जिधर भी लगा देता है उधर चामत्कारिक सफलता दिखायी देने लगती है । सिद्धि को आठ प्रकार का और ऋद्धि को नौ प्रकार का कहा गया है, परन्तु मूल में एक ही वस्तु है । अलग-अलग सफलताओं के अलग-अलग नाम रख लिये गये हैं, तो भी उन सफलताओं का स्रोत एक ही है । जो पहलवान है वह दौड़ भी सकता है, कूद भी सकता है, कुश्ती भी लड़ सकता है और भारी बजन को भी उठा सकता है । इसी प्रकार आत्म-बल जिसमें है वह विभिन्न प्रकार के कठिन कार्यों में आश्चर्यजनक सफलतायें पा सकता है ।

गायत्री की उपासना से जिसने आत्मशक्ति एकत्रित की हैं, उसे चाहिए कि उपनी बुद्धि को शुद्ध, पवित्र और सात्विक बनाता हुआ जीवन को आदर्श बनाये, क्योंकि सबसे बड़ी सम्पत्ति इस दुनिया में यह है कि किसी मनुष्य

को आदर्श व्यक्ति या महापुरुष कहा जाय। जिसके विचार और कार्यों की नकल करते हुए लोग अपने को भाग्यवान् समझे, वह महापुरुष धन्य हैं। अपनी स्वार्थ भावना, लिप्सा और भोगेच्छाओं पर संयम करता हुआ परोपकार, परमार्थ और सत्कार्यों में लगा रहे। स्वयं ऊँचा उठे और दूसरों को उठावे। गायत्री द्वारा बुद्धि का परिमार्जन और सन्मार्ग का अनुगमन इन दो कार्यों का करना श्रेष्ठ है। शुभ कर्मों द्वारा आत्मा को परमात्मा बना देना, मुक्तिपत प्राप्त करना भला इससे बड़ी सिद्धि और क्या हो सकती है।

आवश्यकता पड़ने पर उस शक्ति से दूसरे कार्य भी लिये जा सकते हैं, जैसे--(१) मंत्र को भोजपत्र या शुद्ध कागज पर रक्त चन्दन की स्याही बनाकर अनार की कलम से शुद्ध होकर लिखें और उसे कवच की तरह ताबीज में भर कर किसी को धारण करादें तो उसकी आपत्ति मिट जायगी और मनोकांक्षा पूरी होने योग्य बल मिलेगा। (२) गायत्री मंत्र की आहुतियों से हवन करके उस भस्म को सुरक्षित रख लेना चाहिए, इस भस्म को मंत्र पढ़ते हुए किसी के मस्तक पर लगा दिया जाय तो उसको रोग, शोक, चिन्ता एवं भय से छुटकारा मिलता है। (३) गंगाजल को गायत्री मन्त्र से अभिमन्त्रित करके मार्जन करने से भूत-बाधा, उन्माद, प्रलाप तथा अन्य मानसिक अव्यवस्थाओं का निवारण होता है। (४) गायत्री मन्त्र के साथ औषधि सेवन करने से रोगी को कई गुना लाभ होता है। (५) किसी मनुष्य की मूर्ति का ध्यान करते हुए गायत्री मन्त्र का जप करने से वह मनुष्य अपने प्रति उदारता एवं सहानुभूति के भाव रखने लगता है। (६) केसर की स्याही और अगर की लकड़ी की कलम से कांसे की थाली के भीतरी भाग में १०८ बार गायत्री मन्त्र लिखकर गर्भवती को पिलाने से तेजस्वी पुत्र उत्पन्न होता है। (७) चाँदी के पात्र में पाँच तोले ताजा कुँये का जल लेकर प्रातःकाल सूर्य के सन्मुख खड़े होकर १०८ बार गायत्री का जप करके पिलाने से स्त्री-पुरुषों के रज तथा वीर्य के दोष दूर होते हैं। (८) रविवार मध्यान्हकाल में सूर्य के सन्मुख खड़े होकर गायत्री की पांच माला जपने से शत्रुओं के दुष्प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं। (९) गायत्री जपते हुए शयन करने से अच्छी नींद आती है और दुःस्वप्न नहीं होते। (१०) सिन्दूर और घृत मिलाकर व्यापार के स्थान या भण्डार गृह में गायत्री लिख देने से लक्ष्मी का निवास होता है और अच्छा लाभ रहता है।

इस प्रकार एक नहीं, अनेकों लाभ हैं जो साधक को स्वयं अनुभव में आने लगते हैं। जिस कार्य में भी गायत्री माता की सहायता लेकर हाथ डाला जाता है उसमें विजय ही मिलती है। किन्तु ऐसे प्रयोग करने में स्वभावतः प्रयोगकर्ता की शक्तियाँ खर्च होती हैं। ऐसा खर्च तभी करना चाहिए जब अन्य साधारण उपचारों से काम न चलता हो। जिस फोड़े को दो आने की मरहम से अच्छा किया जा सकता है, उसे अच्छा करने के लिए मूल्यवान आत्मिक तत्वों का व्यय करना उचित नहीं। कौतुकवश लोगों में अपनी विशेषता प्रदर्शित करने के लिये या साधारण बात से भावुक बनकर यह शक्तियाँ खर्च न की जानी चाहिए।

नौ निद्धियों की प्राप्ति

शौचं शान्तिर्विवेकष्चैतल्लाभ त्रयमात्मिकम्।
पश्चादावाप्यते नूनं सुस्थिरं तदुपासकम्॥

(सुस्थिरं) मन को बश में रखने वाले (तदुपासकाः) उस गायत्री के उपासक को (पश्चात्) बाद में (शौच) पवित्रता (शान्तिः) शान्ति (च) और (विवेकः) विवेक (एतत्) ये (आत्मिकं) आत्मिक (लाभत्रयं) तीन लाभ (नूनं) निश्चय से (आवाप्यते) प्राप्त होते हैं।

कार्येषु साहस स्थैर्य कर्मनिष्ठा तथैव च।
पते लाभाश्चवै तस्माज्जायन्ते मानसास्त्रयः॥

(कार्येषु साहस) कार्यों में साहस (स्थैर्य) स्थिरता (तथैव च) और वैसे ही (कार्यनिष्ठा) कार्यनिष्ठ (एते) ये (त्रयः) तीन (लाभाः) लाभ (मानसाः) मन संबंधी (तस्मात् वै) उससे (जायन्ते) प्राप्त होते हैं।

पुष्कलं धनसमृद्धिः सहयोगश्च सर्वतः।
स्वास्थ्यं वा त्रय एतेस्युस्तस्माल्लाभां; श्चलौकिकाः॥

(पुष्कलं) पर्याप्त (धन समृद्धिः) धन की समृद्धि (सर्वतः) सब ओर से (सहयोगः) सहयोग (च) और (स्वास्थ्यं वा) स्वस्थता (एते) ये (त्रयः) तीन (लोकिकाः) सांसारिक (लाभाः) लाभ (तस्मात्) उससे (स्यु) होते हैं।

साधारण शारीरिक बल से सम्पन्न व्यक्ति अपने बहुबल से बड़े-बड़े कठिन कार्य कर डालता है और आश्चर्यजनक सफलतायें प्राप्त कर लेता है फिर आत्म बलसम्पन्न व्यक्ति के बारे में तो कहना ही क्या है । शरीर जड़ पदार्थों का बना हुआ है, उसका बल भी जड़ एवं सीमित है । यह सीमा इतनी छोटी है कि पशु-पक्षी और छोटे दर्जे के जीव-जन्तु भी इस दृष्टि से बलवान से बलवान मनुष्य की अपेक्षा अधिक बलवान होते हैं । कुत्ते की सी घ्राणशक्ति, हिरन की सी चौकड़ी, बैल जैसी मजबूती, सिंह जैसी वीरता मनुष्य में कहाँ होती है ? और मछली की तरह जल में तथा पंक्षियों की तरह हवा में वह आवागमन कहाँ कर सकता है ? फिर भी मनुष्य सब प्राणियों से श्रेष्ठ सृष्टि का मुकट मणि बना बैठा है, इसका कारण उसका आत्मिक बल ही है ।

यह आत्मिक बल गायत्री तत्व को अधिक मात्रा में धारण करने से प्राप्त होता है । इस धारण के और भी अनेक उपाय हैं, जिनके द्वारा संसार के महापुरुषों ने अपने को आत्मिक बल से सम्पन्न होकर बड़े-बड़े पुरुषार्थ किये हैं, उन अनेक उपायों में से एक सर्वसुलभ उपाय आध्यात्म विद्या के पारंगत आचार्यों ने ढूँढ़ निकाला है । उस उपाय का नाम है -- गायत्री साधना । इस साधना से आत्मा में सात्विक चैतन्यता की मात्रा बढ़ती जाती है, फलस्वरूप जीवन की सभी दिशाओं में उसका प्रगति-परिचय मिलने लगता है । जब शरीर में रक्त बढ़ता है तो हाथ, पाँव, छाती, नाक, गाल, ओंठ, सभी में चैतन्यता, पुष्टि और लालिमा दृष्टिगोचर होने लगती हैं । जब कमरे में प्रकाश जलता है तो सभी खिड़कियों में से उसकी रोशनी बाहर निकलती है । आत्मा में जब बल बढ़ता तो वह भी कई दिशाओं में उत्साहबर्धक ढंग से प्रगट होता है ।

जीवन की प्रमुख दिशायें तीन होती हैं–
(१) आत्मिक ,(२) बौद्धिक, (३) सांसारिक । इन तीनों दिशाओं में आत्मबल बढ़ने से आनन्ददायक परिणाम प्राप्त होते हैं । इन तीनों दिशाओं में तीन-तीन लक्षण ऐसे दिखायी पड़ते हैं जिनसे जीवन सर्व सुखी बन जाता हैं इन नौ सम्पदाओं को नव निद्धि भी कह सकते हैं । सिद्धियाँ देवताओं को प्राप्त होती हैं, ऋद्धियाँ असुरों को मिलती हैं और निद्धियाँ मनु की सन्तान मानव प्राणी को प्राप्त होती हैं । आत्मिक क्षेत्र की तीन निद्धियाँ (१) विवेक, (२) पवित्रता, (३) शान्ति हैं । बौद्धिक क्षेत्र की (१) साहस, (२) स्थिरता, (३) कर्तव्यनिष्ठा है, और सांसारिक क्षेत्र की तीन निद्धियाँ । (१) स्वास्थ्य, (२) समृद्धि, (३) सहयोग हैं । यह नौ लक्षण जीवन की सफलता के हैं । इन्हीं नौ गुणों को ब्राह्मण के नव गुण बताया गया है । भगवान् रामचन्द्रजी ने धनुष तोड़ने पर क्रुद्ध परशुराम जी से उनके नव गुणों की प्रशंसा करके उन्हें प्रसन्न किया था ।

“नवगुण परम पुनीत तुम्हारे ।”

(१) विवेक—जब आत्मा में गायत्री तत्व की स्थापना होती है तो अन्तःकरण में विवेक जागृत होता है । सत्-असत् का भेद स्पष्ट दिखायी पड़ने लगते हैं । शास्त्र, सम्प्रदाय, वर्ग, संस्कार, स्वार्थ आदि की चहार-दीवारियों को छलांग कर सत्य का दर्शन करने वाली ऋतम्भरा बुद्धि जागृत हो जाती है । उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय, कर्तव्य-अकर्तव्य, धर्म-अधर्म के भेद को अनेकों व्यक्ति ठीक प्रकार नहीं समझ पाते । थोड़ी सी अड़चन से उनकी बुद्धि अर्जुन की भाँति मोहग्रस्त हो जाती है, परन्तु जिसमें विवेक की मात्रा बढ़ गयी है, वह भ्रमित नहीं होता । वस्तुस्थिति की गहराई तक वह आसानी से पहुँच जाता है । सूक्ष्म मेधा, तत्त्व दृष्टि अथवा ऋतम्भरा बुद्धि से उसकी आत्मा सम्पन्न होती है, यह प्रथम निद्धि है–

(२) पवित्रता—भीतरी और बाहरी दो प्रकार की पवित्रता होती है । छल, कपट, दुराव, असत्य, दंभ आदि के कारण अन्तःप्रदेश गंदा हो जाता है । भीतर कुछ तथा बाहर कुछ भाव रहने से मनोभूमि में गंदगी भर जाती है इसकी दुर्गन्ध कलुषता से नाना प्रकार के आन्तरिक रोग उपज पड़ते हैं । ऐसे लोग चोरी, व्यभिचार, शोषण, अनीत, लोभ, क्रोध, मद, मत्सर आदि घातक शत्रुओं के आसानी से शिकार हो जाते हैं । गायत्री तत्त्व की वृद्धि के कारण यह आन्तरिक अपवित्रता नष्ट होती है और स्वभाव बालकों की तरह सरल, कोमल, स्वच्छ, निष्कपट बनता है । जो बात पेट में वही बारह और जो बाहर वही पेट में– इस प्रकार के निष्कपट स्वभाव वाले व्यक्तियों का अन्तःकरण बड़ा निर्मल रहता है और निर्मल हृदय में अपने आप दैवी सम्पदाओं का निवास होने लगता है ।

बाह्य पवित्रता की दिशा में भी ऐसे मनुष्यों की अभिरुचि विशेष रूप से आकृष्ट रहती है। स्थान की, शरीर की, वस्त्रों की, प्रयोजनीय वस्तुओं की सफाई की ओर उनका बड़ा ध्यान रहता है। प्रकृति के बनाये हुए सुन्दर स्वच्छ पदार्थों में उन्हें स्वभावतः प्रेम हो जाता है। बालक, वृक्ष, पौधे, पशु, पक्षी, नदी, पर्वतों की सुन्दरता बहुत सुहाती है। उनका दृष्टिकोण स्वच्छ तथा पवित्र होने उन्हें विचारों की, कार्यों की, साधनों की स्वच्छता ही पसंद आती हैं।

(३) **शान्ति**—साधारण लोग जहाँ साधारण हानि-लाभ से उत्तेजित, अशान्त, व्याकुल एवं वेकाबू हो जाते हैं। हर्ष, शोक, क्रोध, निराशा, भय, चिन्ता, मद आदि के तूफान उनके भीतर छोटी-छोटी घटनाओं के कारण उठते रहते हैं, जिससे उनके चित्त में सदा अस्थिरता रहती है, विश्राम न मिलने के कारण आत्मा को बड़ा क्लेश रहता है। परन्तु अन्तःप्रदेश में गायत्री तत्व की अधिकता हो जाने से यह स्थिति नहीं रहती। परिवर्तनशील संसार, वस्तुओं का अवश्यम्भावी रूपान्तर, त्रिगुणात्मक सृष्टि का वैचित्र्य जब उनकी समझ में भली प्रकार आ जाता है, फिर उन्हें न हर्ष का न शोक का, कोई भी अवसर व्यथित नहीं बनाता। बाह्य विक्षोभ आ जाय तो भी उनका मानस लोक शान्त रहता है। ऐसी शान्ति को द्वन्दातीत, स्थितिप्रज्ञ, समत्व, योग, परमानन्द आदि नामों से पुकारते हैं।

(४) **साहस**—शक्तियाँ होते हुए भी कितने ही मनुष्य आत्महीनता, तुच्छता, दीनता, संकोच, कायरता आदि मानसिक कमजोरियों के कारण सदा डरते झिझकते रहते हैं और कठिनाई चाहे कितनी ही छोटी हो पर वे उसे बहुत बड़ा मान बैठते हैं और अपने को उसे पार करने में असमर्थ अनुभव करते हैं। यह साहसहीनता बौद्धिक जगत् में एक ऐसी आपत्ति है जिसके कारण अनेकों प्रकाशवान् दीपक असमय में ही बुझ जाते हैं, अनेकों सुरभित मन हारिणी कलियाँ अपने जौहर प्रकट करने से पहले ही मुरझा जाती हैं। योग्यताओं का अभाव जीवनोन्नति में जितना बाधक होता है उससे कहीं अधिक बाधक साहस का अभाव होता है। यह अन्धकार गायत्री तत्व की आध्यात्मिक किरणें प्रकाशित होने के साथ विलीन होता चलता है। साधक क्रमशः अधिक स्वावलम्बी, आत्मविश्वासी, साहसी, निर्भय बनता है। वह न किसी को त्रास देना पसंद करता है और न सहना। आत्मगौरव से आध्यात्मिक महानता से उसका मनोलोक आलोकित हो उठता है, तदनुसार वह मनुष्योचित अधिकारों के लिए संघर्ष, प्रयत्न और परिश्रम करता हुआ परतंत्रताओं के बन्धनों को काटता हुआ स्वतंत्रता की ओर, मुक्ति की ओर द्रुतगति से अग्रसर होता है और आत्मोन्नति, लौकिक और पारलौकिक आनन्द प्राप्त करता है।

(५) **स्थिरता**—डॉवाडोल, अस्थिर वृत्ति के मनुष्यों की जीवन-यात्रा एक दिशा में नहीं चलती, फलस्वरूप इनका समय, श्रम और धन निरर्थक खर्च होता रहता है। विचार, विश्वास, सिद्धान्त, कार्य, लक्ष्य, स्वभाव एवं निष्ठा की समरसता होने से जीवन प्रवाह एक नियत दिशा में प्रवाहित होता है और बूँद-बूँद से घट भर जाने की उक्ति के अनुसार उसे अपने कार्य में सफलता मिलती है। चित्त में स्थिरता रहने से मस्तिष्क नियत दिशा में सोचता और कार्य मग्न रहता है, फलस्वरूप उस क्षेत्र में अनेकों उन्नति के अवसर मिलते हैं। स्थिरता का आध्यात्मिक अर्थ है--मनोजय, आत्म-निग्रह, समाधि। मार्ग में प्रगति होने के साथ-साथ सांसारिक और आत्मिक सुख शान्ति के द्वार खुलने लगते हैं।

(६) **कर्तव्यनिष्ठा**—इसे धर्म-भावना अथवा ईश्वर-परायणता कहते हैं। मानव जीवन की सर्वश्रेष्ठता प्राप्त होने के साथ-साथ प्राणी को एक भारी उत्तरदायित्व भी सौंपा गया है, जिसे धर्म-कर्तव्य कहते हैं। यह कर्तव्य-पालन ही जीवन का सच्चा मूल्य है। इसे चुकाये बिना कोई आत्मा न तो शान्ति, लाभ कर सकती है और न सद्गति प्राप्त कर सकती है। अपने आत्मा के प्रति, मस्तिष्क के प्रति, शरीर के प्रति, कुटुम्ब के प्रति, समाज के प्रति, राष्ट्र, ईश्वर एवं समस्त संसार के प्रति मनुष्य के कुछ कर्तव्य उत्तरदायित्व धर्म होते हैं। असंख्यों व्यक्ति उन्हें जानते तक नहीं, जो जानते हैं उनमें से असंख्यों उन्हें पूरा नहीं करते, फलस्वरूप उन्हें वे दुःखद परिणाम भुगतने पड़ते हैं जिन्हें नरक, बन्धन आदि नामों से पुकारा जाता है। गायत्री शक्ति की धारणा से यह धर्म भावना जागृत होती है फलस्वरूप साधक के विचार, कार्य और आयोजन धर्म केन्द्र के चारों ओर परिभ्रमण करने लगते हैं और वह ऐसा धर्मात्मा बनता जाता है जिसे सच्चा मनुष्य, देशभक्त, लोकसेवी, भलामानुष, सभ्य नागरिक, कर्तव्यनिष्ठ एवं ईश्वर भक्त भी कह सकते हैं।

(७) **स्वास्थ्य**—उत्तम स्वास्थ्य मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। कुछ अपवादों को छोड़ कर आमतौर से प्रकृति माता सभी को स्वस्थ शरीर प्रदान करती है। किन्तु लोग उसे मिथ्या आहार-बिहार के द्वारा बिगाड़ लेते हैं। यह बिगाड़ जब तक चलता रहता है तब तक स्वास्थ्य में विकृतियाँ बनी ही रहती हैं। एक रोग-गया, दूसरा आया। एक दवा बन्द हुई, दूसरी आरम्भ करनी पड़ी। यह क्रम तब तक नहीं टूट सकता जब तक कि आहार-विहार में प्राकृतिकता न आवे, सतोगुण न बढ़े। गायत्री से सतोगुण बढ़ता है और जीवनक्रम में संयम एवं सुव्यवस्था का प्रमुख भाग रहने लगता है तद्नुसार स्वास्थ्य में सुधार आरम्भ हो जाता है और वह दिन-दिन अधिक सुधरने लगता है।

(८) **समृद्धि**—अनेकों दोषों, पापों, कुटेवों, व्यसनों में फंसे हुए व्यक्ति पूर्वसंचित समृद्धि को भी गँवाते हैं। बुरे स्वभाव, उलटे दृष्टिकोण, अस्थिर मस्तिष्क के कारण उनके लाभदायक कार्य भी हानिकारक सिद्ध होते हैं। उनके खर्च बहुत बढ़े हुए और निरर्थक होते हैं, तदनुसार तामसिक वृत्ति के मनुष्य सच्चे अर्थों में कभी समृद्धिशाली नहीं बन सकते। किसी प्रकार नीति-अनीति का विचार छोड़कर वे पैसे जमा कर भी लें तो वह पैसा उनके लिए चिन्ता, अशान्ति, क्लेश और दोष-दुर्गुणों की वृद्धि करने वाला कष्टकारक ही सिद्ध होता है। इसके विपरीत जिनके अन्दर गायत्री तत्त्व की अधिकता है उनका मानसिक संतुलन ठीक रहने से कार्यों में दूरदर्शिता की मात्रा अधिक रहती है। फलस्वरूप वे सम्पन्नता की ओर बढ़ते हैं। मितव्ययता, ईमानदारी और परिश्रमशीलता के कारण वे गरीब नहीं रह पाते। अनीति से धनवान हुए लोगों की तरह वे अमीर नहीं भी बन पायें तो भी उनकी थोड़ी-सी पूँजी सदुपयोग में आकर अमित आनन्ददायक बनती है और वे थोड़े धन से ही अमीरी से अधिक समृद्धिशाली होने का सुख प्राप्त करते हैं।

(९) **सहयोग**—बुरे लोगों से वे लोग भी भीतर ही भीतर डरते और घृणा करते रहते हैं जो कारणवश उनसे मित्रता रखते हैं। इसके विपरीत खरे, ईमानदार, सद्गुणी, प्रसन्नचित्त, स्थिरमति, मधुरभाषी, सेवाभावी, सुखी, प्रसन्न व्यक्ति की ओर सबका मन आकर्षित होता है। ध्वनि की प्रतिध्वनि की भाँति प्रेम का प्रत्युत्तर प्रेम से, सेवा का सेवा से, सहयोग का सहयोग से मिलता है। इस प्रकार गायत्री साधक को अनेक सच्चे मित्र और सच्चे सहयोगी मिल जाते हैं। उन्नति के अवसर सहयोगियों की सहायता से ही मिला करते हैं। जिसे अधिक लोगों का सहयोग प्राप्त है उसको न केवल सांसारिक वरन् मानसिक सुख-शान्ति की भी उपलब्धि होती है।

यही नौ ऋद्धियाँ हैं जो गायत्री की उपासना करने वाले को हस्तगत होती हैं। जितने अंशों में यह साधक को प्राप्त होती जाती हैं, उतने ही अंशों में वह अपने को स्वर्गीय सुखों से सम्पन्न अनुभव करने लगता है।

जीवन का कायाकल्प

गायत्री मन्त्र से आत्मिक कायाकल्प हो जाता है। इस महामन्त्र की उपासना आरम्भ करते ही साधक को ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे आन्तरिक क्षेत्र में एक नयी हलचल एवं रद्दोबदल आरम्भ हो गयी है सतोगुणी तत्वों की अभिवृद्धि होने से दुर्गुण, कुविचार, दुस्वभाव एवं दुर्भाव घटने आरम्भ हो जाते हैं और संयम, नम्रता, पवित्रता, उत्साह, स्फूर्ति, श्रमशीलता, मधुरता, ईमानदारी, सत्यनिष्ठा, उदारता, प्रेम, सन्तोष, शान्ति, सेवा-भाव, आत्मीयता आदि सद्गुणों की मात्रा दिन-दिन बड़ी तेजी से बढ़ती जाती है। फलस्वरूप लोग उसके स्वभाव एवं आचरण से सन्तुष्ट होकर बदले में प्रशंसा, कृतज्ञता, श्रद्धा एवं सम्मान के भाव रखते हैं और समय-समय पर उसकी अनेक प्रकार से सहायता करते रहते हैं। इसके अतिरिक्त सद्गुण स्वयं इतने मधुर होते हैं कि जिस हृदय में इनका निवास होगा, वहाँ आत्म-सन्तोष की परम शान्तिदायक शीतल निर्झरिणी सदा बहती रहेगी।

गायत्री साधना के साधक के मन क्षेत्र में असाधारण परिवर्तन हो जाता है। विवेक, दूरदर्शिता, तत्वज्ञान और ऋतंभरा बुद्धि की अभिवृद्धि हो जाने के कारण अनेक अज्ञानजन्य दुःखों का निवारण हो जाता है। प्रारब्धवश अनिवार्य कर्मफल के कारण कष्ट-साध्य परिस्थितियाँ हर एक के जीवन में आती रहती हैं। हानि, शोक, वियोग, आपत्ति, रोग, आक्रमण विरोध, आघात आदि की विभिन्न परिस्थितियों में जहाँ साधारण मनोभूमि के लोग मृत्युतुल्य कष्ट पाते हैं, वहाँ

आत्मबल-सम्पन्न गायत्री साधक अपने विवेक, ज्ञान, वैराग्य, साहस, धैर्य, संतोष, संयम और ईश्वर विश्वास के आधार पर इन कठिनाइयों को हँसते-हँसते आसानी से काट लेता है। बुरी अथवा साधारण परिस्थितियों में भी अपने आनन्द का मार्ग ढूँढ़ निकालता है और मस्ती एवं प्रसन्नता का जीवन बिताता है।

संसार का सबसे बड़ा लाभ "आत्मबल" गायत्री साधक को प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के सांसारिक लाभ भी होते देखे गये हैं। बीमारी, कमजोरी; बेकारी, घाटा, गृह-कलह, मनोमालिन्य, मुकदमा, शत्रुओं का आक्रमण, दाम्पत्य सुख का अभाव, मस्तिष्क की निर्बलता, चित्त की अस्थिरता, सन्तान दुःख, कन्या-विवाह की कठिनाई, बुरे भाविष्य की आशंका, परीक्षा में उत्तीर्ण न होने का भय, बुरी आदतों के बन्धन ऐसी कठिनाइयों में ग्रसित अगणित व्यक्तियों ने गायत्री आराधना करके अपने दुःखों से छुटकारा पाया है।

कारण यह है कि हर एक कठिनाई के पीछे जड़ में निश्चय ही कुछ न कुछ अपनी त्रुटियाँ अयोग्यताएँ एवं खराबियाँ रहती हैं। सतोगुणों की वृद्धि के साथ अपने आहार-विहार, विचार, दिनचर्या, दृष्टिकोण, स्वभाव एवं कार्यक्रम में परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन ही आपत्तियों के निवारण का, सुख-शान्ति की स्थापना का राजमार्ग बन जाता है। कई बार हमारी इच्छाएँ, तृष्णाएँ, लालसाएँ, कामनाएँ ऐसी होती हैं, जो अपनी योग्यता एवं परिस्थितियों से मेल नहीं खातीं। मस्तिष्क शुद्ध होने पर बुद्धिमान व्यक्ति उन मृगतृष्णाओं को त्याग कर अकारण दुःखी रहने से, भ्रम जञ्जाल से छूट जाता है। अवश्यम्भावी न टलने वाले प्रारब्ध का भोग जब सामने आता है तो साधारण व्यक्ति बुरी तरह रोते-चिल्लाते हैं, किन्तु गायत्री साधन में इतना आत्मबल एवं साहस बढ़ जाता है कि वह उन्हें हँसते-हँसते झेल लेता है।

किसी विशेष आपत्ति का निवारण करने एवं किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए भी गायत्री की साधना की जाती है। बहुधा इसका परिणाम बड़ा ही आशाजनक होता है। देखा गया है कि जहाँ चारों ओर निराशा, असफलता, आशङ्का और भय का अन्धकार ही अन्धकार छाया हुआ था, वहाँ वेदमाता की कृपा से एक दैवी प्रकाश उत्पन्न हुआ और निराशा आशा में परिणत हो गयी, बड़े कष्टसाध्य कार्य तिनके की तरह सुगम हो गये। ऐसे अनेकों अवसर अपनी आँखों के सामने देखने के कारण हमारा यह अटूट विश्वास हो गया है कि कभी किसी की गायत्री साधना निष्फल नहीं जाती।

गायत्री साधना आत्मबल बढ़ाने का अचूक आध्यात्मिक व्यायाम है। किसी को कुश्ती में पछाड़ने एवं दंगल में जीतकर इनाम पाने के लिए कितने लोग पहलवानी और व्यायाम का अभ्यास करते हैं। यदि कदाचित कोई अभ्यासी किसी कुश्ती को हार जाय तो भी ऐसा नहीं समझना चाहिए कि उसका प्रयत्न निष्फल गया। इसी बहाने उसका शरीर तो मजबूत हो गया वह जीवन भर अनेक प्रकार से अनेक अवसरों पर बड़े-बड़े लाभ उपस्थित करता रहेगा। नीरोगता, सौन्दर्य, दीर्घ जीवन, कठोर परिश्रम करने की क्षमता दाम्पत्य सुख, सुसन्तति, अधिक कमाना, शत्रुओं से निर्भयता आदि कितने ही लाभ ऐसे हैं जो कुश्ती पछाड़ने से कम महत्वपूर्ण नहीं। साधना से यदि कोई विशेष प्रयोजन प्रारब्धवश पूरा भी न हो तो भी इतना तो निश्चय है कि किसी न किसी प्रकार की साधना की अपेक्षा कई गुना लाभ अवश्य मिलकर रहेगा।

आत्मा स्वयं अनेक ऋद्धि-सिद्धियों का केन्द्र है। जो शक्तियाँ परमात्मा में हैं, वे ही उसके अमर युवराज आत्मा में हैं। समस्त ऋद्धि-सिद्धियों को केन्द्र आत्मा में है, परन्तु जिस प्रकार राख से ढका हुआ अंगार मन्द होता है ,वैसे ही आन्तरिक मलिनताओं के कारण आत्म-तेज कुण्ठित हो जाता है। गायत्री साधना से मलीनता का पर्दा हटता है और राख हटा देने से जैसे अङ्गार अपने प्रज्ज्वलित स्वरूप में दिखायी पड़ने लगता है वैसे ही साधना आत्मा भी अपने ऋद्धि-सिद्धि समन्वित ब्रह्म तेज के साथ प्रगट होती है। योगियों को जो लाभ दीर्घकाल तक कष्टसाध्य तपस्यायें करने से प्राप्त होता है वही लाभ गायत्री साधकों को स्वल्प प्रयास से प्राप्त हो जाता है।

प्राचीन काल में महर्षियों ने बड़ी-बड़ी तपस्याएँ और योग-साधनाएँ करके अणिमा, महिमा आदि ऋषि सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। उनकी चमत्कारी शक्तियों के वर्णन से इतिहास, पुराण भरे पड़े हैं वह तपस्या और योग-साधना गायत्री के आधार पर ही की थी। अब भी अनेकों महात्मा ऐसे मौजूद हैं जिनके पास दैवी शक्तियों और सिद्धियों का भण्डार है। उनका कथन है कि गायत्री

से बढ़कर योगमार्ग में सुगमतापूर्वक सफलता प्राप्त करने का दूसरा मार्ग नहीं है। सिद्ध पुरुषों के अतिरिक्त सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी सभी चक्रवर्ती राजा गायत्री के उपासक रहे हैं। ब्राह्मण लोग गायत्री की ब्रह्मशक्ति के बल पर जगद्गुरू थे, क्षत्रिय गायत्री के भर्ग तेज को धारण करके चक्रवर्ती शासक बने थे।

यह सनातन सत्य आज भी वैसा ही है। गायत्री माता का अंचल श्रद्धापूर्वक पकड़ने वाला मनुष्य कभी भी निराश नहीं रहता।

साधकों के स्वप्न निरर्थक नहीं होते

गायत्री साधना से साधक के अन्तराल की दिशाधारा में क्रमशः परिवर्तन होता है। उच्चस्तरीय आस्थाएँ, मान्यताएँ, आकांक्षायें उठती और सक्रिय हो उठती हैं। फलतः सामान्य परिस्थिति में रहते हुए भी मनःस्थिति में उत्कृष्टता आती जाती है। इस आत्म परिष्कार के अनेकों उच्चस्तरीय लाभ हैं जिन्हें चमत्कारी सिद्धियाँ एवं विभूतियों के नाम से जाना जाता है। इन्हीं में से एक लाभ है—अतीन्द्रिय क्षमता का विकास। इस आधार पर साधक को दिव्य अनुभूतियाँ होने लगती हैं। अदृश्य जगत की हलचल उसे विदित होने लगती है। इस जानकारी का प्रथम चरण स्वप्नों के माध्यम से होता है। विकसित उच्च चेतना में ऐसे सपनों का बाहुल्य रहता है जिन्हें यथार्थ का परिचायक कहा जा सके। ऐसे स्वप्न सूचनायें कई बार इतनी महत्वपूर्ण होती हैं कि उनसे अपनी और दूसरों की समस्याओं का समाधान हो जाता है। संकटों से बच निकलने और प्रगति का मार्ग पाने में ऐसे यथार्थ स्वप्नों से भारी सहायता मिल सकती है।

साधना से एक विशेष दिशा में मनोभूमि का निर्माण होता है। श्रद्धा, विश्वास तथा साधना-विधि की कार्य-प्रणाली के अनुसार आंतरिक क्रियाएँ उसी दशा में प्रवाहित होने लगती हैं, जिससे मन, बुद्धि और चित्त अहंकार का चतुष्टय वैसा ही रूप धारण करने लगता है। भावनाओं के संस्कार अन्तर्मन में गहराई तक प्रवेश कर जाते हैं। गायत्री-साधक की मानसिक गतिविधि, में आध्यात्मिक एवं सात्विकता का प्रमुख स्थान बन जाता है। इसलिए जागृत अवस्था की भाँति स्वप्नावस्था में भी उसकी क्रियाशीलता सारगर्भित ही होती है, उसे प्रायः सार्थक स्वप्न ही आते हैं।

गायत्री-साधकों को साधारण व्यक्तियों की तरह निरर्थक स्वप्न प्रायः बहुत कम आते हैं। उनकी मनोभूमि ऐसी अव्यवस्थित नहीं होती, जिसमें चाहे जिस प्रकार के उलटे-सीधे स्वप्नों का उद्भव होता है। जहाँ व्यवस्था स्थापित हो चुकी है, वहाँ की क्रियाएँ भी व्यवस्थित होती हैं। गायत्री-साधकों के स्वप्न को हम बहुत समय से ध्यानपूर्वक सुनते रहे हैं और उनके मूल कारणों पर विचार करते रहे हैं। तदनुसार हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा है कि इन लोगों के स्वप्न निरर्थक बहुत कम होते हैं, उनमें सार्थकता की मात्रा ही अधिक रहती है।

निरर्थक स्वप्न अत्यन्त अपूर्ण होते हैं। उनमें केवल किसी बात की छोटी-सी झाँकी होती है, फिर तुरन्त उनका तारतम्य बिगड़ जाता है। दैनिक व्यवहार की साधारण क्रियाओं की सामान्य स्मृति मस्तिष्क में पुनः पुनः जागृत होती रहती हैं और भोजन, स्नान, वायु-सेवन जैसी साधारण बातों की दैनिक स्मृति के अस्त-व्यस्त स्वप्न दिखायी देते हैं, ऐसे स्वप्नों को निरर्थक कहा जा सकता है। सार्थक स्वप्न कुछ विशेषता लिए हुए होते हैं। उनमें कोई विचित्रता, नवीनता, घटनाक्रम एवं प्रभावोत्पादक क्षमता होती है। उन्हें देखकर मन में भय, शोक, चिंता, क्रोध, हर्ष, विषाद, लोभ, मोह आदि के भाव उत्पन्न होते हैं। निद्रा त्याग देने पर भी उनकी छाप मन पर बनी रहती है और चित्त में बार-बार यह जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इस स्वप्न का अर्थ क्या है ?

साधकों के सार्थक स्वप्नों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) पूर्वसञ्चित कुसंस्कारों का निष्कासन, (२) श्रेष्ठ तत्वों की स्थापना का प्रगटीकरण, (३) किसी भी भविष्य-सम्भावना का पूर्वाभास, (४) दिव्य दर्शन। इन चार श्रेणी के अन्तर्गत विविध प्रकार के भी सार्थक स्वप्न आ जाते हैं।

(१) कुसंस्कारों को नष्ट करने वाले स्वप्न—पूर्वसञ्चित कुसंस्कारों के निष्कासन में स्वप्न इसलिए सहायक होते हैं कि गायत्री साधना द्वारा आध्यात्मिक नये तत्वों की वृद्धि साधक के अन्तःकरण में हो जाती है। जहाँ एक वस्तु रखी जाती है, वहाँ से दूसरी को हटाना पड़ता है। गिलास में पानी भरा जाय तो उसमें

पहले से भरी हुई हवा को हटाना पड़ेगा । रेल के डिब्बे में नये मुसाफिरों को स्थान मिलने के लिए यह आवश्यक है कि उसमें बैठे हुए पुराने मुसाफिर उतरें । दिन का प्रकाश आने पर अन्धकार को भागना ही पड़ता है । इसी प्रकार गायत्री साधक के अन्तर्जगत में जिन दिव्य तत्त्वों की वृद्धि होती है, उन कुसंस्कारों के लिए स्थान नियुक्त होने से पूर्व उससे पूर्व नियुक्त कुसंस्कारों का निष्कासन स्वाभाविक है । यह निष्कासन जागृत अवस्था में भी होता रहता है और स्वप्न अवस्था में भी । विज्ञान सिद्धान्तानुसार विस्फोट उष्ण वीर्य के पदार्थ जब स्थान च्युत होते हैं तो वे एक झटका मारते हैं । बन्दूक जब चलाई जाती है, तो वह पीछे की ओर एक जोरदार झटका मारती है । बारूद जब जलती है तो एक धड़ाके की आवाज करती है, दीपक बुझते समय एक बार जोर से लौ उठती है । इसी प्रकार कुसंस्कार की मानस-लोक से प्रयाण करते समय मस्तिष्क-तन्तुओं पर आघात करते हैं और उन आघातों की प्रतिक्रियास्वरूप जो विक्षोभ उत्पन्न होता है, उसे स्वप्नावस्था में भयंकर, अस्वाभाविक, अशिष्ट एवं उपद्रव के रूप में देखा जाता है ।

भयानक हिंसक पशु, सर्प, सिंह, व्याघ्र, पिशाच, चोर, डाकू आदि का आक्रमण होना, सुनसान, एकान्त, डरावना जंगल दिखायी देना, किसी प्रियजन की मृत्यु, अग्निकाण्ड, बाढ़, भूकम्प, युद्ध आदि के भयानक दृश्य दीखना, अपहरण, अन्याय, शोषण, विश्वासघात द्वारा अपना शिकार होना, कोई विपत्ति आना, अनिष्ट की आशंका से चित्त घबराना आदि भयंकर दिल धड़काने वाले ऐसे स्वप्न जिनके कारण मन में चिंता, बेचैनी, पीड़ा, भय, क्रोध, द्वेष, शोक, कायरता, ग्लानि, घृणा आदि के भाव उत्पन्न होते हैं वे पूर्वसंचित इन्हीं कुसंस्कारों की अन्तिम झाँकी का प्रमाण होते हैं । ये स्वप्न बताते हैं कि जन्म-जन्मान्तरों की संचित यह कुप्रवृत्तियाँ अब अपना अंतिम दर्शन और अभिवादन करती हुई विदा ले रही हैं और मन ने स्वप्न में इस परिवर्तन को ध्यानपूर्वक देखने के साथ-साथ एक अलंकारिक कथा के रूप में किसी शृंखलाबद्ध घटना का चित्र गढ़ डाला है और उसे स्वप्न रूप में देखकर जी बहलाया है ।

कामवासना अन्य सब मनोवृत्तियों से अधिक प्रबल है । काम भोग की अनियन्त्रित इच्छाएँ मन में उठती हैं, उन सबका सफल होना असम्भव है । इसलिए वे परिस्थितियों द्वारा कुचली जाती रहती हैं और मन मसोस कर वे अतृप्त, असन्तुष्ट प्रेमिका की भाँति अन्तर्मन के कोप-भवन में खटपाटी लेकर पड़ी रहती हैं । अतृप्ति चुपचाप पड़ी नहीं रहती, वरन् जब अवसर पाती हैं, निद्रावस्था में अपने मनसूबों को चरितार्थ करने के लिए, मन के लड्डू खाने के लिए मनचीते स्वप्न का अभिनय रचती है । दिन में घर को लोगों के जागृत रहने के कारण चूहे डरते हैं और अपने-अपने बिलों में बैठे रहते हैं, पर रात्रि की जब घर के आदमी सो जाते हैं तो चूहे अपने बिलों में से निकलकर निर्भयतापूर्वक उछल कूद मचाते हैं । कुचली हुई कामवासना भी यही करती है और "खय़ाली पुलाब" खाकर किसी प्रकार अपनी क्षुधा को बुझाती है । स्वप्नावस्था में सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं का देखना, उनसे खेलना, प्यार करना, जमा करना, रूपवती स्त्रियों का देखना, उनकी निकटता में आना, मनोहर नदी, तडाग, वन, उपवन, पुष्प, फल, नृत्य, गीत, वाद्य, उत्सव, समारोह जैसे दृश्यों को देखकर कुचली हुई वासनाएँ किसी प्रकार अपने को तृप्त करती हैं । धन की, पद की, महत्व प्राप्ति की अतृप्त आकांक्षाएँ भी अपनी तृप्ति के झूँठे अभिनय रचा करती हैं । कभी-कभी ऐसा होता है कि अपनी अतृप्ति के दर्द को, घाव को, पीड़ा को और स्पष्ट रूप से अनुभव करने के लिए ऐसे स्वप्न दिखायी देते हैं मानो अतृप्ति और भी बढ़ गई । जो थोड़ा-बहुत सुख था वह भी हाथ से चला गया अथवा मनोवांछा पूरी होते-होते किसी आकस्मिक बाधा के कारण विघ्न हो गया ।

तृप्तियों को किसी अंश में या किसी अन्य प्रकार से तृप्त करने के एवं अतृप्ति को और भी उग्ररूप से अनुभव करने के लिए उपर्युक्त प्रकार के स्वप्न आया करते हैं । यह दबी हुई वृत्तियाँ गायत्री की साधना के कारण उड़कर अपना स्थान खाली करती हैं । इसलिए परिवर्तन काल में वे अपने गुप्त रूप को प्रगट करती हुई विदा होती हैं, तदनुसार साधना काल में प्रायः इस प्रकार के स्वप्न आते रहते हैं । किसी मृत प्रेमी का दर्शन, सुन्दर दृश्यों का अवलोकन, स्त्रियों से मिलना-जुलना, मनोवाञ्छाओं का पूरा होना, पर इच्छित वस्तुओं का और भी अधिक अभाव अनुभव होना आदि की घटनाओं के स्वप्न भी विशेष रूप से दिखायी देते हैं । इनका अर्थ

है कि अनेकों दबी हुई अतृप्त तृष्णाएँ धीरे-धीरे करके अपनी विदाई की तैयारी कर रही हैं, आत्मिक तत्वों की वृद्धि के कारण ऐसा होना स्वाभाविक भी है ।

(२) **दिव्य तत्व के वृद्धिसूचक स्वप्न**—दूसरी श्रेणी के स्वप्न वे होते हैं जिनसे इस बात का पता चलता है कि अपने अन्दर सात्विकता की मात्रा में लगातार अभिवृद्धि हो रही है । सतोगुणी कार्यों को स्वयं करने या किसी अन्य के द्वारा होते हुए स्वप्न ऐसा ही परिचय देते हैं । पीड़ितों की सेवा, अभावग्रस्तों की सहायता, दान, जप, तप, यज्ञ, उपवास, तीर्थ, मन्दिर, पूजा, धार्मिक कर्मकाण्ड, कथा, कीर्तन, प्रवचन, उपदेश, माता, पिता, साधु-महात्मा, नेता, विद्वान, सज्जनों की समीपता, स्वाध्याय, अध्ययन, आकाशवाणी, देवी-देवताओं के दर्शन, दिव्य प्रकाश आदि आध्यात्मिक सतोगुणी, शुभ स्वप्नों में अपने आप अपने अन्दर आये हुए शुभ तत्वों को देखता है और उन दृश्यों से शांति लाभ करता है ।

(३) **भविष्य का आभास एवं दैवी सन्देश का स्वप्न**—तीसरे प्रकार के स्वप्न भविष्य में घटित होने वाली किन्हीं घटनाओं की ओर संकेत करते हैं । प्रातःकाल सूर्योदय से एक-दो घण्टे पूर्व देखे हुए स्वप्न में सच्चाई का बहुत अंश होता है । ब्रह्म मुहूर्त में एक तो साधक का मस्तिष्क निर्मल होता है, दूसरे प्रकृति के अन्तराल का कोलाहल भी रात्रि की स्तब्धता के कारण बहुत अंशों में शान्त हो जाता है । उस समय सत् तत्व की प्रधानता के कारण वातावरण स्वच्छ रहता है और सूक्ष्म जगत् में विचरण करते हुए भविष्यों का, भावी विधानों का, बहुत कुछ आभास मिलने लगता है ।

कभी-कभी अस्पष्ट और उलझे हुए ऐसे दृश्य दिखाई देते हैं जिनसे मालूम होता है कि यह भविष्य में होने वाले किसी लाभ या हानि के संकेत हैं पर स्पष्ट रूप से यह विदित नहीं हो पाता कि इनका वास्तविक तात्पर्य क्या है ? ऐसे उलझन भरे स्वप्नों के कारण होते हैं—(१) भविष्य का विधान प्रारब्ध कर्मों से बनता है, पर वर्तमान कर्मों से उस विधान में काफी हेर-फेर हो सकता है । कोई पूर्व-निर्धारित विधि का विधान साधक के वर्तमान कर्मों के कारण कुछ परिवर्तित हो जाता है, तो उसका निश्चित और स्पष्ट रूप बिगड़ कर अनिश्चित और अस्पष्ट हो जाता है, तदनुसार स्वप्न में उलझी हुई बात दिखायी पड़ती है । (२) कुछ भावी विधान ऐसे हैं जो नये कर्मों के, कई परिस्थितियों के अनुसार बनते और परिवर्तित होते रहते हैं । तेजी, मन्दी, सट्टा, लाटरी आदि के बारे में जब तक भविष्य का भ्रूण ही तैयार हो पाता है पूर्णरूप से उसकी स्पष्टता नहीं हो पाती तब तक उसका पूर्वाभास साधक को स्वप्न में मिले तो वह एकांगी एवं अपूर्ण होता है ।(३) अपनेपन की सीमा जितने क्षेत्र में होती है, वह व्यक्ति को 'अहम्' की एक आध्यात्मिक इकाई होती है । इतने विस्तृत क्षेत्र का भविष्य उसका अपना भविष्य बन जाता है । भविष्यसूचक स्वप्न इस 'अहम्' के सीमा क्षेत्र तक अपने को दिखाई पड़ सकते हैं, इसलिए ऐसा भी हो जाता है कि जो सन्देश स्वप्न में मिला है, वह अपनेपन की मर्यादा में आने वाले किसी कुटुम्बी, पड़ौसी, रिश्तेदार या मित्र के लिए हों । (४) साधक की मनोभूमि पूर्णरूप से निर्मल न हो गई तो आकाश के सूक्ष्म अन्तराल में बहते हुए तथ्य अधूरे या रूपान्तरित होकर दिखायी पड़ते हैं, जैसे कोई व्यक्ति अपने घर से हम से मिलने के लिए रवाना हो चुका हो, तो उस व्यक्ति के स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति के आने का आभास मिले । होता है कि साधक की दिव्य दृष्टि धुँधली होती है, जैसे दृष्टि दोष होने पर दूर चलने वाले मनुष्य पुतले से दिखाई पड़ते हैं, पर उनकी शकल नहीं पहचानी जाती । अब इस धुँधले, अस्पष्ट आभास के ऊपर हमारी स्वप्न माया एक कल्पित आवरण चढ़ा कर कोई झूँठ-मूँठ की आकृति जोड़ देती है और रस्सी को सर्प बना देती है । ऐसे स्वप्न आधे सत्य, आधे असत्य होते हैं, परन्तु जैसे-जैसे साधक की मनोभूमि अधिक निर्मल होती जाती है, वैसे ही वैसे उसकी दिव्य दृष्टि स्वच्छ होती जाती है और उसके स्वप्न अधिक सार्थकतायुक्त होने लगते हैं ।

(४) **जागृत स्वप्न या दिव्य दर्शन**—स्वप्न केवल रात्रि में या निद्राग्रस्त होने पर ही नहीं आते वे जागृत दशा में भी आते हैं । ध्यान को एक प्रकार का जागृत स्वप्न ही समझना चाहिए । कल्पना के घोड़े पर चढ़कर हम सुदूर स्थानों के विविध विधि, सम्भव और असम्भव दृश्य देखा करते हैं, ये एक प्रकार के स्वप्न ही हैं । निद्राग्रस्त स्वप्नों में अन्तर्मन की क्रियाएँ प्रधान होती हैं, जागृत स्वप्नों में बहिर्मन की क्रियाएँ प्रमुख रूप से काम करती हैं । इतना अन्तर तो अवश्य है पर उसके अतिरिक्त निद्रा, स्वप्न और जागृत स्वप्नों की प्रणाली एक

ही है । जागृत अवस्था में साधक के मनोलोक में नाना प्रकार की विचारधाराएँ और कल्पनाएँ घुडदौड़ मचाती हैं । यह भी तीन प्रकार की होती हैं, पूर्व कुसंस्कारों के निष्कासन, श्रेष्ठ तत्वों के प्रगटीकरण तथा भविष्य के पूर्वाभास की सूचना देने के लिए मस्तिष्क में विविध प्रकार के विचार, भाव एवं कल्पना-चित्र आते हैं । जो फल निद्रित स्वप्नों का होता है वही जागृत स्वप्नों का भी होता है ।

कभी-कभी जागृत अवस्था में भी कोई सूक्ष्म चमत्कारी, दैवी, अलौकिक दृश्य किसी-किसी को दिखायी दे जाते हैं । इष्टदेव का किसी-किसी को चर्मचक्षुओं से दर्शन होता है, कोई-कोई भूत-प्रेतों को प्रत्यक्ष देखते हैं, किन्हीं-किन्हीं को दूसरों के चेहरे पर तेजोबल और मनोगत भावों का आकार दिखायी देता है, जिसके आधार पर वह दूसरों की आन्तरिक स्थिति को पहचान लेते हैं, रोगों का अच्छा होना न होना, संघर्ष में हारना-जीतना, चोरी में गई वस्तु, आगामी लाभ-हानि, विपत्ति-सम्पत्ति आदि के बारे में कई मनुष्यों के अन्तःकरण में एक प्रकार की आकाशवाणी सी होती है और वह कई बार इतनी सच्ची निकलती है कि आश्चर्य से दंग रह जाना पड़ता है ।

सफलता के कुछ लक्षण

गायत्री साधना में एक सूक्ष्म दैवी चेतना का आविर्भाव होता है । प्रत्यक्ष रूप से उसके शरीर या आकृति में कोई विशेष अन्तर नहीं आता, पर भीतर ही भीतर भारी हेर-फेर हो जाता है । आध्यात्मिक तत्वों की वृद्धि से प्राणमय कोष, विज्ञानमय कोष और मनोमय कोषों में जो परिवर्तन होता है, उसकी छाया अन्नमय कोष में बिल्कुल ही दृष्टिगोचर न हो, ऐसा नहीं हो सकता । यह सच है कि शरीर का ढाँचा आसानी से नहीं बदलता पर यह भी सच है कि आन्तरिक हेर-फेर के चिन्ह शरीर में प्रगट हुए बिना नहीं रह सकते ।

सर्प के मांस कोष में जब एक नई त्वचा तैयार होती है तो उसका लक्षण सर्प के शरीर पर परिलक्षित होता है । उसकी देह भारी हो जाती है, तेजी से वह नहीं दौड़ता, स्फूर्ति और उत्साह से वह वंचित हो जाता है, एक स्थान पर पड़ा रहता है । जब वह चमड़ी पक जाती है तो सर्प बाहरी त्वचा को बदल देता है, इसे केंचुली पलटना कहते हैं । केंचुली छोड़ने के बाद सर्प में एक नया उत्साह आता है, उसकी चेष्टाएँ बदल जाती हैं, उसकी नयी चमड़ी पर चिकनाई, चमक और कोमलता स्पष्ट रूप से दिखायी देती है । ऐसा ही हेर-फेर साधक में होता है । जब उसकी साधना गर्भ में पकती है तो उसे कुछ उदासी, भारीपन, अनुत्साह एवं शिथिलता के लक्षण प्रतीत होते हैं, पर जब साधना पूर्ण हो जाती है तो दूसरे ही लक्षण प्रगट होने लगते हैं । माता के उदर में जब गर्भ पकता है, तब तक माता का शरीर भारी, गिरा-गिरा सा रहता है, उसमें अनुत्साह देखा जाता है, पर जब प्रसूती से निवृत्ति हो जाती है तो वह अपने में एक हलकापन, उत्साह में एवं चैतन्य अनुभव करती है ।

साधक जब साधना करने बैठता है तो अपने अन्दर एक प्रकार का आध्यात्मिक गर्भ धारण करता है, तन्त्र-शास्त्रों में साधना को मैथुन कहा है । जैसे मैथुन को गुप्त रखा जाता है, वैसे ही साधना को गुप्त रखने का आदेश किया गया है । आत्मा जब परमात्मा से लिपटती है, उसका आलिंगन करती है तो उसे एक अनिर्वचनीय आनन्द आता है, इसे भक्ति की तन्मयता कहते हैं । जब दोनों का प्रगाढ़ मिलन होता है, एक दूसरे में आत्मसात् होते हैं तो उस स्खलन को 'समाधि' कहा जाता है । आध्यात्मिक मैथुन का समाधि सुख अन्तिम स्खलन है । गायत्री उपनिषद् और सावित्री उपनिषद् में अनेक मैथुनों का वर्णन किया गया है । यहाँ बताया गया हैं कि सविता और सावित्री का मिथुन है । सावित्री की, गायत्री की आराधना करने से साधक अपनी आत्मा को एक योनि बना लेता है जिसमें सविता का तेजपुञ्ज, परमात्मा का तेज (वीर्य) गिरता है । इसे शक्तिपात भी कहा गया है । इस शक्तिपात विज्ञान के अनुसार अमैथुनी सृष्टि से उत्पन्न हो सकती है । कुन्ती से कर्ण का, मरियम के पेट से ईसा का उत्पन्न होना असम्भव नहीं है । देव-शक्तियों की उत्पत्ति इसी प्रकार के सूक्ष्म मैथुनों से होती है, समुद्र-मन्थन एक मैथुन था, जिसके फलस्वरूप चौदह रत्नों का प्रसव हुआ । ऋण और धन (निगेटिव और पॉजिटिव) परमाणुओं के आलिंगन से विद्युत-प्रवाह का रस उत्पन्न होता है । तन्त्रशास्त्रों में स्थान-स्थान पर मैथुन को प्रशंसित किया गया है, वह यही साधना मिथुन है ।

आत्मा और परमात्मा का सविता और सावित्री का मिथुन जब प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध होता है तो उसके फलस्वरूप एक आध्यात्मिक गर्भ धारण होता है । इसी गर्भ को आध्यात्मिक भाषा में भर्ग कहते हैं । भर्ग को जो साधक जितने अंशों में धारण करता है उसे उतना ही स्थान अपने अन्दर इस नये तत्व के लिए देना होता है । नये तत्वों की स्थापना के लिए पुराने तत्वों को पदच्युत होना पड़ता है, इस संक्रांति के कारण स्वाभाविक क्रिया-विधि में अन्तर आ जाता है और उस अन्तर के लक्षण साधक में उसी प्रकार प्रगट होते हैं । जैसे गर्भवती स्त्री को अरुचि, उबकाई, कोष्ठबद्धता, आलस्य आदि लक्षण होते हैं, वैसे ही लक्षण साधक को भी उस समय तक जब तक कि उसकी अन्तःयोनि में गर्भ पकता रहता है, परिलक्षित होते हैं । केंचुली से भरे हुए सर्प की तरह वह भी अपने को भारी-भारी विंधा हुआ, जकड़ा हुआ, अवसादग्रस्त अनुभव करता है । आत्मविद्या के आचार्य जानते हैं कि साधनावस्था में साधक को कैसी विषम स्थिति में रहना पड़ता है, इसलिए वे अनुयायियों को साधनाकाल में बड़े आचार-विचार के साथ रहने का आदेश करते हैं । रजस्वला या गर्भवती स्त्रियों से मिलता-जुलता आहार-विहार साधकों को अपनाना होता है । तभी वह साधना संक्रांति को ठीक प्रकार से पार कर पाते हैं ।

अण्डे से बच्चा निकलता है, गर्भ से सन्तान पैदा होती है । साधक को भी साधना के फलरूप एक सन्तान मिलती है, जिसे शक्ति या सिद्धि कहते हैं । मुक्ति, समाधि, ब्राह्मी स्थिति, तुरीयावस्था आदि नाम भी इसी के हैं । यह सन्तान आरम्भ में बड़ी निर्मल तथा लघु आकार की होती हैं । जैसे अण्डे से निकलने पर बच्चे बड़े ही लुञ्ज-पुञ्ज होते हैं, जैसे माता के गर्भ से उत्पन्न हुए बालक बड़े ही कोमल होते हैं, वैसे ही साधना पूर्ण होने पर प्रसव हुई नवजात सिद्धि भी बड़ी कोमल होती है । बुद्धिमान साधक उसे उसी प्रकार पालपोस कर बड़ा करते हैं जैसे कुशल माताएँ अपनी सन्तान को अनिष्टों से बचाती हुई पौष्टिक पोषण देकर पालती हैं ।

साधना जब तक साधक के गर्भ में पकती रहती है, कच्ची रहती है, तब तक उसके शरीर में आलस्य और अवसाद के चिन्ह रहते हैं, स्वास्थ्य गिरा हुआ और चेहरा उतरा हुआ दिखायी देता है पर जब साधना पक जाती है और सिद्धि की सुकोमल सन्तति का प्रसव होता है तो साधक में एक तेज, ओज, हलकापन, चैतन्य, उत्साह आ जाता है वैसा ही जैसे कि केंचुली बदलने के बाद सर्प में आता है । सिद्धि का प्रसव हुआ या नहीं, सफलता मिली या नहीं, इसकी परीक्षा इन लक्षणों से हो सकती है । ये दस लक्षण नीचे दिये जाते हैं :

(१) शरीर में हल्कापन और मन में उत्साह होता है ।

(२) शरीर में से एक विशेष प्रकार की सुगन्ध आने लगती है ।

(३) त्वचा पर चिकनाई और कोमलता का अंश बढ़ जाता है ।

(४) तामसिक आहार-विहार से घृणा बढ़ जाती है और सात्विक दिशा में मन लगता है ।

(५) स्वार्थ का कम और परमार्थ का अधिक ध्यान रहता है ।

(६) नेत्रों में तेज झलकने लगता है ।

(७) किसी व्यक्ति या कार्य के विषय में वह जरा भी विचार करता है तो उसके सम्बन्ध में बहुत सी ऐसी बातें स्वयमेव प्रतिभासित होती हैं जो परीक्षा करने पर ठीक निकलती हैं ।

(८) दूसरों के मन के भाव जान लेने में देर नहीं लगती ।

(९) भविष्य में घटित होने वाली बातों का पूर्वाभास मिलने लगता है ।

(१०) शाप या आशीर्वाद सफल होने लगते हैं । अपनी गुप्त शक्तियों से वह दूसरों का बहुत कुछ लाभ या बुरा कर सकता है ।

ये दस लक्षण इस बात के प्रमाण हैं कि साधक का गर्भ पक गया और सिद्धि का प्रसव हो चुका । इस शक्ति सन्तति को जो साधक सावधानी के साथ पालते-पोसते हैं, उसे पुष्ट करते हैं, वे भविष्य में आज्ञाकारी सन्तान वाले बुजुर्ग की तरह आनन्दमय परिणामों का उपभोग करते हैं । किन्तु जो फूहड़ जन्मते ही सिद्धि का दुरुपयोग करते हैं, अपनी स्वल्प शक्ति का विचार न करते हुए

उस पर अधिक भार डालते हैं उनकी गोदी खाली हो जाती है और मृतवत्सा माता की तरह उन्हें पश्चाताप करना पड़ता है ।

सिद्धियों का दुरुपयोग नहीं होना चाहिए

गायत्री साधना करने वालों को अनेक प्रकार की अलौकिक शक्तियों के आभास होते हैं । कारण यह है कि यह एक श्रेष्ठ साधना है । जो लाभ अन्य योग साधनों से होते हैं, जो सिद्धियाँ किसी अन्य योग में मिल सकती हैं, वे सभी गायत्री साधना से मिल सकती हैं । जब थोड़े दिनों श्रद्धा, विश्वास और नियमपूर्वक उपासना चलती है तो आत्मशक्ति की मात्रा दिन-दिन बढ़ती रहती है । आत्मतेज प्रकाशित होने लगता है, अन्तःकरण पर चढ़े हुए मैल छूटने लगते हैं । आन्तरिक निर्मलता की अभिवृद्धि होती है । फलस्वरूप, आत्मा की मन्द ज्योति अपने असली रूप में प्रकट होने लगती है ।

अंगार के ऊपर जब राख का मोटा पर्त जम जाता है तो वह दाहक शक्ति से रहित हो जाता है । उसे छूने से कोई विशेष अनुभव नहीं होता, पर जब उस अँगार पर से राख का पर्दा हटा दिया जाता है तो धधकती हुई अग्नि प्रज्ज्वलित हो जाती है । यही बात आत्मा के सम्बन्ध में है । आमतौर से मनुष्य मायाग्रस्त होते हैं, भौतिक जीवन की बहिर्मुखी वृत्तियों में उलझे रहते हैं । यह एक प्रकार से भस्म का पर्दा है, जिसके कारण आत्म-तेज की उष्णता एवं रोशनी की झाँकी नहीं होती । जब मनुष्य अपने को अन्तर्मुखी बनाता है, आत्मा की झाँकी करता है और साधना द्वारा अपने मैलों को हटाकर आन्तरिक निर्मलता प्राप्त करता है तो आत्म-दर्शन की स्थिति प्राप्त होती है ।

आत्मा परमात्मा का अंश है । उसमें वे सब तत्वगुण एवं बल मौजूद हैं, जो परमात्मा में होते हैं । अग्नि के सब गुण चिनगारी में मौजूद हैं, यदि चिनगारी को अवसर मिले तो वह दावानल का कार्य कर सकती है । आत्मा के ऊपर चढ़े हुए मलों का यदि निवारण हो जाय तो उसी परमात्मा का प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब दिखायी देगा और फिर उसमें वे सब शक्तियाँ परिलक्षित होंगी, जो परमात्मा के अंश में होनी चाहिए ।

अष्ठ सिद्धियाँ, नव निद्धियाँ प्रसिद्ध हैं । उनके अतिरिक्त भी अगणित छोटी-बड़ी ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ होती हैं, वे साधना के परिपाक होने के साथ-साथ उठती, प्रगट होती और बढ़ती हैं । किसी विशेष सिद्धि की प्राप्ति के लिए चाहे भले ही प्रयत्न न किया जाय पर युवावस्था आने पर जैसे यौवन के चिन्ह अपने आप प्रस्फुटित हो जाते हैं, उसी प्रकार साधना के परिपाक के साथ-साथ सिद्धियाँ अपने आप आती-जाती हैं । गायत्री का साधक धीरे-धीरे सिद्धावस्था की ओर अग्रसर होता जाता है । उसमें अनेकों अलौकिक शक्तियाँ प्रस्फुटित दिखायी पड़ती हैं । देखा गया है कि जो लोग श्रद्धा और निष्ठापूर्वक गायत्री साधना में दीर्घकाल तक तल्लीन रहे हैं, उनमें ये विशेषताएँ स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं ।

(१) उनका व्यक्तित्त्व आकर्षक, नेत्रों में चमक, वाणी में बल, चेहरे पर प्रतिभा, गम्भीरता तथा स्थिरता होती है, जिससे दूसरों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है । जो व्यक्ति उनके सम्पर्क में आते हैं, वे उनसे काफी प्रभावित हो जाते हैं तथा उनकी इच्छानुसार आचरण करते हैं ।

(२) साधक को अपने अन्दर एक दैवी तेज की उपस्थिति प्रतीत होती है । वह अनुभव करता है कि उसके अन्तःकरण में कोई नयी शक्ति काम कर रही है ।

(३) बुरे कामों से उसकी रुचि हटती जाती है और भले कामों में मन लगता है । कोई बुराई बन पड़ती है तो उसके लिये बड़ा खेद और पश्चात्ताप होता है । सुख के समय वैभव में अधिक आनन्द न होना और दुःख, कठिनाई तथा आपत्ति में धैर्य खोकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ न होना उसकी विशेषता होती है ।

(४) भविष्य में जो घटनाएँ घटित होने वाली हैं उनका उसके मन में पहले से ही आभास आने लगता है । आरम्भ में तो कुछ हलका सा ही अन्दाज होता है, पर धीरे-धीरे उसे भविष्य का ज्ञान बिल्कुल सही होने लगता है ।

(५) उसके शाप और आशीर्वाद सफल होते हैं । यदि वह अन्तरात्मा से दुःखी होकर किसी को शाप देता है तो उस व्यक्ति पर भारी विपत्तियाँ आती हैं और प्रसन्न होकर जिसे वह सच्चे अन्तःकरण से आशीर्वाद देता है उसका मङ्गल होता है उसके आशीर्वाद विफल नहीं होते ।

(६) वह दूसरों के मनोभावों को चेहरा देखते ही पहचान लेता है । कोई व्यक्ति कितना ही छिपाये, उसके सामने वह भाव छिपते नहीं । वह किसी के भी गुण, दोषों, विचारों तथा आचरणों को पारदर्शी की तरह अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देख सकता है ।

(७) वह अपने विचारों को दूसरों के हृदय में प्रवेश कर सकता है । दूर रहने वाले मनुष्यों तक बिना तार या पत्र की सहायता के अपने संदेश पहुँचा सकता है ।

(८) जहाँ वह रहता है, उसके आस-पास का वातावरण बड़ा शान्त एवं सात्विक रहता है । उसके पास बैठने वालों को जब तक वे समीप रहते हैं, अपने अन्दर एक अद्भुत शान्ति, सात्विकता तथा पवित्रता अनुभव होती है ।

(९) वह अपनी तपस्या, आयु या शक्ति का एक भाग किसी को दे सकता है और उसके द्वारा दूसरा व्यक्ति बिना प्रयास या स्वल्प प्रयास में ही अधिक लाभान्वित हो सकता है । ऐसे व्यक्ति दूसरों पर "शक्तिपात" कर सकते हैं ।

(१०) उसे स्वप्न में, जागृत में, ध्यानावस्था में रङ्गबिरंगे, प्रकाशपुञ्ज, दिव्य ध्वनियाँ, दिव्य प्रकाश एवं दिव्य वाणियाँ सुनाई पड़ती हैं । कोई अलौकिक शक्ति उसके साथ बार-बार छेड़खानी, खिलवाड़ करती हुई सी दिखाई पड़ती है । उसे अनेकों प्रकार के ऐसे दिव्य अनुभव होते हैं, जो बिना अलौकिक शक्ति के प्रभाव के साधारणतः नहीं होते ।

यह चिन्ह तो प्रत्यक्ष प्रगट होते हैं । अप्रत्यक्ष रूप से अणिमा, लघिमा, महिमा आदि योगशास्त्रों मे वर्णित अन्य सिद्धियों का भी आभास मिलता है । वह कभी-कभी ऐसे कार्य कर सकने में समर्थ होता है जो बड़े ही अद्भुत अलौकिक एवं आश्चर्यजनक होते हैं ।

जिस समय सिद्धियों का उत्पादन एवं विकास हो रहा हो, वह समय बड़ा नाजुक और बड़ी ही सावधानी का है । जब किशोर अवस्था का अन्त और नवयौवन का प्रारम्भ होता है उस समय वीर्य का शरीर में नवीन उद्भव होता है । इस उद्भव काल में मन बड़ा उत्साहित, कामक्रीड़ा का इच्छुक एवं चंचल रहता है । यदि इस मनोदशा पर नियन्त्रण न किया जाय तो कच्चे वीर्य का अपव्यय होने लगता है और वह नवयुवक थोड़े ही समय में शक्तिहीन, वीर्यहीन, यौवनहीन होकर सदा के लिये निकम्मा बन जाता है । साधना में भी सिद्धि का प्रारम्भ ऐसी ही अवस्था है, जब कि साधक अपने अन्दर एक नवीन आत्मिक चेतना अनुभव करता है और उत्साहित होकर प्रदर्शन द्वारा दूसरों पर अपनी महत्ता की छाप बिठाना चाहता है । यह क्रम यदि चल पड़े तो कच्चा वीर्य (प्रारम्भिक सिद्ध तत्व) स्वल्प काल में ही अपव्यय हो कर समाप्त हो जाता है और साधक को सदा के लिये छूँछ एवं निकम्मा हो जाना पड़ता है ।

संसार में जो कार्यक्रम चल रहा है, वह कर्मफल के आधार पर चल रहा है । ईश्वरीय सुनिश्चत नियमों के आधार पर कर्म-बन्धन में बँधे हुए प्राणी अपना-अपना जीवनक्रम चलाते हैं । प्राणियों की सेवा का सच्चा मार्ग यह है कि उन्हें सत्कर्म में प्रवृत्त किया जाय, आपत्तियों को सहने का साहस दिया जाय, यह आत्मिक सहायता हुई । तात्कालिक कठिनाई का हल करने वाली भौतिक सहायता देनी चाहिये । आत्मशक्ति खर्च करके कर्त्तव्यहीन व्यक्तियों को सम्पन्न बनाया जाय तो यह उनको और अधिक निकम्मा बनाना होगा, इसलिए दूसरों की सेवा के लिये सद्गुण और विवेक का दान करना चाहिये, दूसरों का वैभव बढ़ाने में आत्मशक्ति का सीधा प्रत्यावर्तन करना अपनी शक्तियों को समाप्त करना है । दूसरों को आश्चर्य में डालने या उन पर अपनी अलौकिक सिद्धि प्रकट करने जैसी तुच्छ बातों मे कष्टसाध्य आत्मबल को व्यय करना ऐसा ही है, जैसे कोई मूर्ख होली खेलने का कौतुक करने के लिये अपना रक्त निकाल कर उसे उलीचे, यह मूर्खता की हद है । आध्यात्मवादी दूरदर्शी होते हैं, वे सांसारिक मान-बडाई की रत्ती भर परवाह नहीं करते ।

तान्त्रिक पद्धति से किसी का मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण करना, सट्टा, लाटरी, फीचर आदि बताना, गढ़ा धन, चोरी में गई वस्तु बताना, किसी के गुप्त आचरण या मनोभावों को जानकर उनको प्रगट कर देना और उसकी प्रतिष्ठा को घटाना आदि कार्य आध्यात्मिक साधकों के लिये सर्वथा निषिद्ध हैं । कोई ऐसा अद्भुत कार्य करके दिखाना, जिससे लोग यह समझ लें कि सिद्ध पुरुष है, गायत्री उपासकों के लिये कड़ाई के साथ वर्जित है । यदि वे इस चक्कर में पड़े तो निश्चित रूप से कुछ ही दिनों में उनकी शक्ति का स्रोत सूख जायगा और

वे ठूँठ बनकर अपनी कष्टसाध्य आध्यात्मिक कमाई से हाथ धो बैठेंगे । उनके लिए संसार का सद्ज्ञान दान का कार्य ही इतना बड़ा एवं महत्वपूर्ण है कि उसी के द्वारा वे जनसाधारण के आन्तरिक, बाह्य और सामाजिक कष्टों को भली प्रकार दूर कर सकते हैं और स्वल्प साधनों में ही स्वर्गीय सुखों का आस्वादन कराते हुए लोगों का जीवन सफल बना सकते हैं । इस दिशा में कार्य करने से उनकी आध्यात्मिक शक्तियाँ बढ़ती हैं । इसके प्रतिकूल यदि वे चमत्कारों के प्रदर्शन के चक्कर में पड़ेंगे तो लोगों का क्षणिक कौतूहल अपने प्रति उनका आकर्षण थोड़े समय के लिये भले ही बढ़ालें पर वस्तुतः अपनी ओर दूसरों की इस प्रकार भारी कुसेवा होना ही सम्भव है ।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए हम इस पुस्तक के पाठकों और अनुयायियों को सावधान करते हैं, कड़े शब्दों में आदेश करते हैं कि वे आपनी सिद्धियों को गुप्त रखें, किसी पर प्रगट न करें, किसी के सामने प्रदर्शन न करें । जो दैवी चमत्कार अपने को दृष्टिगोचर हो, उन्हें विश्वस्त अभिन्न हृदय मित्रों के अतिरिक्त और किसी से न कहें । आवश्यकता होने पर ऐसी घटनाओं के सम्बन्ध में इस पुस्तक के लेखक से भी परामर्श किया जा सकता है । गायत्री साधकों की यह जिम्मेदारी है कि वे प्राप्त शक्ति का रत्ती भर भी दुरुपयोग न करें । हम सावधान करते हैं कि कोई साधक इस मर्यादा का उल्लंघन न करे ।

सच्चे साधक अधीर नहीं होते

गायत्री उपासना के लाभ असंदिग्ध हैं किन्तु कई बार नियमपूर्वक की गई साधना के भी आशाजनक परिणाम नहीं दिखायी देते तो निराशा होती है और इस महाशक्ति से अविश्वास होने लगता है, पर ऐसी स्थिति के साधक को अधीर नहीं होना चाहिये । कई बार साधना का एक अंश पूर्व-जन्मों के पाप निवारण में लग जाता है ।

हममें से अनेकों की स्थिति ऐसी ही होती है । कुछ दिन साधना करते हैं पर पूर्व-जन्मों का और इस जन्म का पाप भार इतना अधिक होता है कि उसकी सफाई हुए बिना कोई विशेष आध्यात्मिक प्रकाश प्राप्त होना सम्भव नहीं होता । आतुरता में हम जब अभीष्ट परिणाम नहीं देखते तो निराशा हो उठती हैं । यह अधीरता उन लोगों के लिए उचित नहीं जो आत्म-कल्याण का महान् लक्ष्य लेकर साधना पर अग्रसर हुए हैं । इस आत्म-शोधन की साधना करते हुए अपने को निर्मल बनाना चाहिए ताकि गायत्री उपासना का समुचित लाभ मिल सके । कपड़े पर रङ्ग तभी ठीक चढ़ता है जब उसे पहले अच्छी तरह धो लिया जाय । मैला-कुचैला कपड़ा रंग के महत्व को भी नष्ट कर देता है । अपनी दुर्भावनाओं और दुष्प्रवृत्तियों का शोधन करते हुए जो साधना की जाती है उसका समुचित लाभ मिलता ही है । यह धैर्यपूर्वक साधना करने वालों के लिए ही सम्भव है । फल समय पर ही आता है । उतावली करने में भी पौधा अपनी क्रमिक गति से ही बढ़ता है । साधना भी समयानुसार ही फलित होती है । पूर्व-संचित दुष्कर्मों को शुद्ध करने में जो समय अभीष्ट है उसके पूरा हो जाने पर ही सफलता की प्राप्ति हो सकती है ।

महाभारत में सावित्री और सत्यवान की कथा आती है । सत्यवान निर्धन ऋषि कुमार है । उनका आयुष्य भी केवल एक वर्ष शेष है । इतने पर भी राजकुमारी सावित्री उसके सद्गुणों से प्रभावित होकर वरण करती है । एक वर्ष बाद मृत्यु का समय आने पर यमराज से संघर्ष करके सत्यवान के प्राण लौटा लाती है । सत्यवान सावित्री के साथ स्वर्गीय जीवन बिताता हुआ जीवन लक्ष्य को प्राप्त करता है ।

इस कथा में एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण तथ्य अलङ्कारिक रूप में छिपा हुआ है । गायत्री का ही दूसरा नाम सावित्री है । वह सत्यवान को ही वरण करती है । वह भले ही स्वास्थ्य, धन, शिक्षा, आदि विशेषताओं से रहित ही क्यों न हो ।

सावित्री को सत्यवान ही प्रिय है । जिसके गुण, कर्म, स्वभाव में सत् तत्व की सात्विकता का जितना अधिक अंश होता है वह उतना ही गायत्री का प्रिय पात्र बनता है और उस अनुग्रह के कारण वह मृत्यु जैसी भयानक विभीषिकाओं से आसानी से बच जाता है । सत्यनिष्ठा के कारण सावित्री जिस पर प्रसन्न हुई है उसे लोक और परलोक में सब प्रकार की सुख-शान्ति ही मिलती है ।

उर्पयुक्त कथानक में गायत्री का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए साधक का सत्यवान होना आवश्यक बताया गया है। सात्विकता का जितना अंश उसके गुण, कर्म, स्वभाव में समन्वित हो रहा होगा, उसे उतनी ही कृपा उस महान् शक्ति की प्राप्ति होगी। सफलता उसके गले में विजय माला पहनाने स्वयं दौड़ी आयेगी।

गायत्री उपासना का विज्ञान और कर्मकाण्ड सर्वविदित है। गायत्री महाविज्ञान ग्रन्थ में उसका सांगोपांग वर्णन हो चुका है। प्रायः सभी साधक उस ऋषिप्रणीत शास्त्रसम्मत परम्परा को अपनाते हुए जप-तप करते हैं। पर देखा जाता है कि किसी को आशाजनक लाभ होता है और किसी की प्रगति अवरुद्ध पड़ी रहती है। एक ही विधान को अपनाते हुए एक ही समान काम करने वाले व्यक्तियों में से जब किसी को स्वल्प, किसी को अधिक लाभ मिलता है तो इसके अन्तर का कारण ढूँढ़ते हुए एक ही निष्कर्ष पर पहुँचना होता है कि सत् तत्व--की सात्विकता की--न्यूनता ही इस अन्तर का एक मात्र कारण रहता है। सत्यवान को सावित्री कभी त्याग नहीं सकती। जिसने अपनी सात्विकता बढ़ाते रहने पर समुचित ध्यान रखा है, ऐसा नैष्ठिक गायत्री उपासक कभी गायत्री माता की कृपा से वंचित नहीं हो सकता। उसकी साधना का सम्परिणाम मिलना ही चाहिए। विलम्ब होते देखकर किसी साधक को अधीर नहीं होना चाहिए।

—0—

आत्मिक प्रगति हेतु प्रज्ञायोग की साधना

प्रज्ञायोग : एक युगानुकूल साधना प्रयोग

कोई समय था जब परिवार के दायित्व स्वल्प थे। निर्वाह साधनों की कमी न थी। जीवनचर्या भी बिना चिंता आशंका के हँसी-खुशी से चलती थी। समस्याएँ, कठिनाइयाँ और उलझनें भी न थीं। उस मनः स्थिति और परिस्थिति में एकांत एकाग्रता सहज उपलब्ध होती थी और लोग लंबे समय तक तप, योग, अनुष्ठान, स्वाध्याय जैसे प्रयोजनों में तत्परता और तन्मयता के साथ समय तक लगे रहते थे। न किसी को व्यस्तता थी और न अभावग्रस्तता, चिंता, आशंका की कठिनाई। वह समय अनेकानेक साधनाएँ देर तक करते रहने के लिए उपयुक्त रहा होगा। पर अब तो परिस्थितियाँ भिन्न हैं। आत्मपरिष्कार के आधार भी आवश्यक हो गये हैं, जो पहले हस्तगत रहते थे।

सामयिक परिस्थितियों और आवश्यकताओं को देखते हुए सर्वसाधारण के लिए ऐसी क्रिया-प्रक्रिया का निर्धारण करना जरूरी है, जो सर्वसुलभ, समय के अनुरूप और पुरातन लक्ष्य की उपलब्धि करा सकने में समर्थ हों। यही है "प्रज्ञायोग"। इस अनास्था युग में ऋतंभरा प्रज्ञा की दूरदर्शी, विवेकशीलता की महती आवश्यकता प्रतीत होती है। इसलिए इन दिनों उपासना का लक्ष्य 'प्रज्ञा' को बनाना ही समीचीन है। यों गायत्री महामंत्र के रूप में उसकी अभ्यर्थना आदिकाल से होती आयी है।

योग कहते हैं जोड़ने को, वैयक्तिक अस्तित्व को उत्कृष्ट आदर्शवादिता से जोड़ने का तत्व दर्शन एवं व्यावहारिक स्वरूप है। यों आत्मा और परमात्मा के मिलन को योग कहते हैं। आत्मा का वास्तविक स्वरूप भी निराकार है। परमात्म सत्ता भी तत्त्वतः उसी स्तर की है। आत्मा शरीर ओढ़ कर जिस प्रकार आवश्यकतानुसार शरीरधारी बन जाती है, उसी प्रकार निराकार परमात्मा भी आवश्यकतानुसार देव मानवों के रूप में प्रगट और लुप्त होता रहता है। दैवी शक्तियों में भी उसकी झाँकी होती रहती है फिर भी वह व्यापक होने के कारण ही निराकार है।

ऐसी दशा में आत्मा और परमात्मा का मिलन दो व्यक्तियों के दृश्य सम्मिलन जैसा नहीं हो सकता। हो भी तो वह क्षणिक रहेगा। शाश्वत और सुनिश्चित मिलन तो भावनाओं के रूप में ही हो सकता है। सम्वेदनाओं, आकांक्षाओं, आस्थाओं, विचारधाराओं और क्रियाकलापों में इसकी झाँकी मिल सकती है कि आत्मा और परमात्मा का मिलना वस्तुतः बन पड़ा या नहीं।

प्रज्ञायोग को श्रद्धा और विवेक का ज्ञान और कर्म का मनुष्य और देव का समन्वय कह सकते हैं। यह कोई घटना नहीं, दृश्य भी नहीं, कृत्य भी नहीं। भावना क्षेत्र की एक विशिष्ट उपलब्धि है। उसे प्राप्त करने के लिए जो कृत्य करने पड़ते हैं, उन्हें प्रज्ञायोग कहा गया है। विद्या निराकार है वह मन और अंतःकरण में विकास रूप में जानी जा सकती है। पर उसे प्राप्त करने के लिए पाठशाला जाने की, पठन सामग्री का आश्रय लेने की आवश्यकता पड़ती है। यही है प्रज्ञायोग की उपलब्धियाँ, विभूतियाँ हस्तगत करने की क्रिया-प्रक्रिया ज्ञान से कर्म बन पड़ता है और कर्म से ज्ञान की अभिवृद्धि होती है। दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

मनुष्य इस सृष्टि में सृष्टा के प्रतिनिधि रूप में, राजकुमार के रूप में भेजा गया है। भू-गर्भ में छिपी रत्न-राशि की तरह उसके प्रसुप्त अन्तराल में असंख्य सम्पदाओं के भण्डार, अनन्त संभावनाएँ छिपी पड़ी हैं। जो साधना-पुरुषार्थ करते हैं, वे उन्हें खोज-खोद निकालते हैं। नरपामर, नर पशु, नर पिशाच वर्ग के मनुष्य मानवी गरिमा को भुला कर ज्यों-त्यों जीवन काटते, स्वयं कष्ट सहते-दूसरों को सताते रुलाते विदा हो जाते हैं। जो अपने आपको समुन्नत एवम् सुसंस्कृत बनाने के लिए उद्यत होते हैं, उन्हें देव मानव बनने की दिशा में अग्रसर नर मानव कहा जाता है। इसके लिए जो प्रयत्न किये जाते हैं, उसमें अपने आप को अनगढ़ से सुगढ़ बनाया जाता है। इसी प्रयत्नशीलता का नाम साधना है। प्रज्ञायोग इसी का सुव्यवस्थित स्वरूप है, जिसमें दैनन्दिन जीवन में छाने वाले कषाय-कल्मषों को हटाया, मलीनताओं से मुक्त हुआ जाता है। साधना क्षेत्र के जितने भी मार्ग हैं, उनमें प्रज्ञायोग को

सर्वश्रेष्ठ माना गया है क्योंकि इसमें अन्तः क्षेत्र की श्रद्धा को विकसित कर, विवेकशीलता का आश्रय लेकर प्रज्ञा को जगाया जाता है एवं वह निष्ठापूर्वक व्यक्ति के क्रियाकलापों में, सुसंस्कृत व्यक्तित्व के रूप में देखी जा सकती है ।

प्रज्ञायोग को ज्ञान योग और क्रिया योग नामक दो चरणों में बाँटा गया है । आत्मिक प्रगति के ये दोनों चरण युग परिवर्तन की बदलती परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में एक दूसरे के पूरक मानकर सभी परिजनों द्वारा अपनाए जाने चाहिए । इसमें मात्र अपने परिष्कार-उत्थान की ही नहीं, अपितु समष्टिगत कल्याण की बात सोची जाती है । प्रज्ञायोग का मूल केन्द्र बिन्दु आद्य शक्ति गायत्री का तत्व दर्शन है, जिसमें स्वयं को सद्बुद्धि मिलने के साथ-साथ सभी को श्रेष्ठ मार्ग पर चलने हेतु प्रेरणा मिले, ऐसी भावना अभिव्यक्त की जाती है । हर क्रिया कृत्य का अपना आधार है, जिसे भली-भाँति समझकर ही साधना क्षेत्र में कदम आगे बढ़ाना चाहिए ।

प्रज्ञायोग की सर्वसुलभ एवं सर्वोत्तम साधना

प्रज्ञायोग इस युग की सर्वसुलभ एवं सर्वोत्तम साधना विधि है । इसे हर वर्ग, वर्ण, जाति, लिंग के व्यक्ति बिना किसी भेदभाव या भय-संकोच के कर सकते हैं ।

प्रज्ञायोग के दो पक्ष हैं—(१) ज्ञान योग (२) क्रिया योग । ज्ञानयोग में प्रातःकाल आत्मबोध के साथ-साथ चिन्तन की चतुर्विध प्रक्रिया और रात्रि को सोते समय तत्वबोध के साथ मनन के चार अनुशासनों को अपनाने का संकल्प किया जाता । यह समूचा विधि-विधान संक्षेप में इस प्रकार है–

१-ज्ञान योग (भावना एवं धारण)

प्रातःकाल आँख खुलते ही आत्मबोध का चिंतन करें । मनुष्य जन्म को ईश्वर का सर्वोपरि उपहार अनुभव करें । इस अमानत को आत्म-कल्याण का स्वार्थ और विश्व-कल्याण का परमार्थ साधते हुए लक्ष्य प्राप्ति का अलभ्य अवसर मानें । हर साँस को मणि-मुक्तकों से भी बढ़कर बहुमूल्य समझें । आज के दिन को एक सम्पूर्ण जीवन मानकर उसके श्रेष्ठतम सदुपयोग की दिनचर्या बनायें । उसे निभाने की सुव्यवस्थित योजना बनायें कि पन्द्रह मिनट इस प्रातःकाल की आत्मबोध साधना में लगने चाहिए ।

रात्रि को सोने से पूर्व शैय्या पर पड़े-पड़े जीवन के अन्त का स्मरण करें । मृत्यु को अनिवार्य अतिथि मानें । उसके उपरान्त ईश्वर के दरबार में पहुँचने और जीवन सम्पदा के सदुपयोग-दुरुपयोग के सम्बन्ध में लेखा-जोखा माँगे जाने की बात सोचें । बरते हुए प्रमाद की परिणति निकृष्ट योनियों में भटकने, यंत्रणायें सहने और पतन पराभव के गर्त में गिरने के यथार्थता को समझें । लोक के साथ परलोक को भी जोड़ें । वर्तमान ऐसा बनायें जिससे निर्वाह ही नहीं भविष्य भी सधे । सोते समय इन्हीं भावनाओं को लेकर चिर निद्रा की तरह दैनिक निद्रा की गोद में चले जायें । आज के दिन की समीक्षा करें । बन पड़े दोष-दुर्गुणों का पश्चाताप, प्रायश्चित करें और कल के लिए ऐसा विचार करें कि इसे आज की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ समुन्नत बनाना है । यह तत्वबोध साधना निद्रा से पूर्व पन्द्रह मिनट तो चलनी ही चाहिए । उसमें कल्पना की चिह्न पूजा जैसे विडम्बना नहीं यथार्थता जैसी अनुभूति रहनी चाहिए ।

प्रातः आत्मबोध की साधना के साथ पन्द्रह मिनट तक 'चिन्तन' में निमग्न रहें और रात्रि को सोते समय पन्द्रह मिनट 'मनन' में निरत रहें । चिन्तन में परिमार्जन की और मनन में परिष्कार की प्रक्रिया दोनों को मिलाकर ज्ञानयोग बनता है ।

चिन्तन में चार असंयमों के वे चार छिद्र बन्द करने होते हैं जिनमें होकर ईश्वर प्रदत्त वैभव का सारा रस टपकता-धूल में मिलता रहता है । (१) इन्द्रिय संयम (२) समय संयम (३) अर्थ संयम (४) विचार संयम । इन चारों को व्यावहारिक जीवन की तप-साधना कहते हैं । जीभ का चटोरापन और कामुक चिंतन की रोक थाम इन्द्रिय संयम है । समय संयम में एक क्षण भी अनुपयोगी बातों में न लगने देकर ऐसी व्यस्त दिनचर्या बनानी पड़ती है जिससे व्यर्थ या अनर्थ की हरकतें बन पड़ने की गुंजाइश ही न रहे । अर्थ संयम में औसत भारतीय स्तर का निर्वाह, न्यायोचित उपार्जन एवं समाज ऋण से मुक्त होने के लिए अनुकरणीय अंशदान का बजट बनाकर चलना पड़ता है । अनुपयुक्त संचय और अपव्यय, दुरुपयोग से साधनों को बचा लेने पर ही उनका समुचित लाभ मिल

सकता है। विचार संयम में चिंतन को निरर्थक असामयिक, अनैतिक कल्पनाओं से हटाकर मात्र उपयोगी योजना, कल्पना एवं भावना के क्षेत्र में ही सीमाबद्ध रखना पड़ता है। इन चार संयमों को ही व्यवहारिक तप-साधन कहा गया है।

प्रज्ञायोग साधना का दूसरा चरण है मनन। यह मध्याह्नोत्तर कभी भी कहीं भी किया जा सकता है। समय पन्द्रह मिनट हो, तो भी काम चल जायेगा। इसमें अपनी वर्तमान स्थिति की समीक्षा की जाती है और आदर्शों के मापदण्ड से जाँच पड़ताल करने पर जो कमी प्रतीत हो, उसे पूरा करने की योजना बनानी पड़ती है। यही मनन है। इसके लिए एकान्त स्थान ढूँढ़ना चाहिए। आँखें बन्द कर के अन्तर्मुखी होना और आत्मसत्ता के सम्बन्ध में परिमार्जन परिष्कार की उभयपक्षीय योजना बनानी चाहिए। इसमं आज के दिन को प्रधान माना जाय। प्रातः से मध्याह्न तक जो सोचा और किया गया हो, उसे आदर्शों के मापदण्ड से जाँचना चाहिए और उस समय से लेकर सोते समय तक जो कुछ करना हो, उसकी भावनात्मक योजना बनानी चाहिए, ताकि दिन के पूर्वार्द्ध की तुलना में उत्तरार्द्ध और भी अच्छा बन पड़े।

मनन के चार अंग हैं—(१) आत्म चिन्तन (२) आत्म सुधार (३) आत्म-निर्माण (४) आत्म-विकास। इनका स्वरूप इस प्रकार का है

(१) **आत्म चिंतन**—वर्तमान मनःस्थिति एवं परिस्थिति की समीक्षा करके उसमें से उचित-अनुचित का पर्यवेक्षण, वर्गीकरण करना पड़ता है। यह आत्म समीक्षा हुई।

(२) **आत्मा सुधार**— आत्म सुधार में यही योजना बनानी पड़ती है कि अभ्यस्त अनुपयुक्तताओं से किस प्रकार पीछा छुड़ाया जाय।

(३) **आत्म निर्माण** — आत्म निर्माण में उन सत्प्रवृत्तियों को बढ़ाने की योजना बनानी पड़ती है जो अब तक अपने में उपलब्ध नहीं, किन्तु प्रगति प्रयास के लिए आवश्यक हैं।

(४) **आत्म विकास**—आत्म विकास में अपने आपको विश्व नागरिक मानना पड़ता है और वसुधैव कुटुम्बकम् की उदार व्यापकता को व्यवहार में सम्मिलित करना पड़ता है। संकीर्ण स्वार्थपरता से प्रेरित लोभ-मोह के भव बन्धन तोड़ने होते हैं और सब में अपने को, अपने में सब को समझते हुए सुख और दुःख बाँटने की उमगें उछालनी पड़ती हैं। संक्षेप में यही व्यवहारिक जीवन का योग साधन है। चिंतन को तप और मनन को योग कहा गया है। इन दोनों को अपनाकर बढ़ते हुए कदम परम लक्ष्य तक पहुँच ही सकते हैं। संक्षेप में प्रज्ञायोग का ब्रह्म-विद्या परक ज्ञान पक्ष इतना ही है।

२-क्रिया योग (पूजा उपचार)

पूजा उपचार को क्रिया योग कहते हैं। इसे नित्यकर्म में सम्मिलित रखें। शौच-स्नान से निवृत्त होकर नियत स्थान, नियत समय पर शांत चित्त से बैठें। तीन माता गायत्री मन्त्र का जप आवश्यक है। इतना कृत्य प्रायः आधा घण्टे में सम्पन्न हो जाता है। अधिक जितना बन पड़े उतना अच्छा। अनुष्ठानों में अधिक जप संख्या होती है पर अन्य सभी कार्य-विधि प्रज्ञायोग के विधान क्रम के साथ ही जुड़ी रहती है।

प्रज्ञायोग के क्रिया परक पाँच प्रमुख अंग हैं

(१) आत्म शोधन (२) देव पूजन (३) जप (४) ध्यान (५) विसर्जन। इन पाँचों को चिन्ह पूजा की तरह नहीं निपटाना चाहिए वरन् समग्र श्रद्धा, विश्वास भी उसमें जुड़ा रहना चाहिए। क्रिया के साथ भावना का जितना साधन समन्वय हो उतना ही उसमें आनन्द आयेगा, मन लगेगा और सत्परिणाम मिलेगा। उपरोक्त पाँचों कृत्यों का सार संक्षेप इस प्रकार है—

(१) आत्म शोधन पलथी पर बैठें। पाँच कृत्य करें। (१) पवित्रीकरण शरीर पर जल छिड़कना (२) आचमन चम्मच से तीन आचमन (३) शिखा स्पर्श बन्दन (४) प्राणायाम श्वांस को धीमी गति से गहरी खींचना-रोकना और बाहर निकालना (५) न्यास बाँयीं हथेली पर जल रखकर दायें हाथ की पाँच उँगलियों से निर्धारित क्रम के अनुसार शरीर के प्रमुख अंगों से स्पर्श करना।

इन पाँच कृत्यों के साथ पवित्रता एवं प्रखरता की अभिवृद्धि की, मलीनता अवांछनीयता की निवृत्ति की भावना जुड़ी रहनी चाहिए। पवित्र एवं प्रखर व्यक्ति ही ईश्वर के दरबार में प्रवेश पाने और अनुग्रह अपलब्ध करने के अधिकारी होते हैं। इसलिए आत्म-कल्याण के मार्ग

पर चलने वाले को सर्वप्रथम आत्म-शोधन करना पड़ता है । इसी तथ्य का स्मरण करने के लिए उपरोक्त पाँच कृत्य करने होते हैं ।

(२) देव पूजन—प्रज्ञा युग के अवतरण को इस संधि वेला में महा प्रज्ञा-ऋतम्भरा गायत्री को सभी जागृत आत्माएँ अपनी उपासना का आधार केन्द्र मानें । कोई और पूजा कृत्य अभ्यास में हो तो उसका निर्वाह भी होता रह सकता है । महाप्रज्ञा का प्रतीक गायत्री माता का चित्र है । इसे सुसज्जित पूजा वेदी पर रखें । पवित्रता सम्पादन के उपरोक्त पाँच कृत्य कराने के बाद चित्र के प्रतीक माध्यम द्वारा विश्वव्यापी महाप्रज्ञा का करबद्ध नतमस्तक होकर नमन, वन्दन करें ।

घनिष्ठता स्थापन के पाँच उपाय उपचार हैं इन्हें विधिवत् सम्पन्न करें । (१) जल (२) अक्षत (३) पुष्प (४) धूप-दीप (५) नैवेद्य । इन प्रतीक समर्पणों को अराध्य के सम्मुख प्रस्तुत करने को पंचोपचार कहते हैं । एक-एक करके एक छोटी तश्तरी में इन पाँचों को पूजा अभ्यर्थना के उद्देश्य से समर्पित करते चलें । जल का अर्थ है तम्रता, सहृदयता । अक्षत का अर्थ है श्रमदान अंशदान । पुष्प का अर्थ प्रसन्नता, प्रगति, शोभा । धूप-दीप अर्थात् स्वयं जलकर सुगन्ध आलोक का वितरण, पुण्य परमार्थ । नैवेद्य अर्थात् स्वभाव, चरित्र एवं व्यवहार में सज्जनता का माधुर्य । पाँच उपचार–कृत्यों के द्वारा व्यक्तित्व को सत्प्रवृत्तियों से सुसम्पन्न करने का संकल्प उभारा जाता है और विश्वास किया जाता है कि परमात्मा के साथ घनिष्ठता स्थापित कराने में इन्हीं सत्प्रवृत्तियों को अपनाना आवश्यक है जो इन पंचोपचार कृत्यों के साथ भाव रूप में अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध है ।

(३)जप—गायत्री मन्त्र का जप न्यूनतम तीन माला अर्थात् प्रायः पन्द्रह मिनट नियमित रूप से किया जाय । अधिक बन पड़े तो अधिक उत्तम । माला का उद्देश्य घड़ी से भी पूरा होता है । होठ, कण्ठ, मुख हिलते रहें या आवाज इतनी मन्द हो कि दूसरे इस उच्चारण को ठीक तरह सुन न सकें । जप को एक प्रकार की मल शोधक रगड़ माना जाय । जिस तरह बार-बार घिसने पर वस्तुएँ चिकनी हो जाती हैं । साबुन रगड़ने से कपड़े का मैल छूटता है । स्नान के समय अवयवों को मलने से वे स्वच्छ होते हैं । वर्तनों की सफाई के लिए उन्हें माँजना पड़ता है । कमरे की सफाई के लिए बुहारी लगती है । इन सब में एक ही कार्य की कई-कई बार पुनरावृत्ति होती है । इसी प्रकार ईश्वर का नाम बार-बार लेने की जप प्रक्रिया को कषाय-कल्मषों, कुसंस्कारों का निवारण उपचार मानें । अन्तराल में जीवन क्रम में घुल जाने के लिए ईश्वर को आग्रहपूर्वक आमन्त्रित करना ही जप का प्रयोजन है । क्रिया के साथ-साथ परिशोधन और आमन्त्रण की भावना भी उभरती उठती है ।

(४) ध्यान–शरीर के अंग अवयव उपकृत्य करते हैं । मन को खाली न छोड़ें, परम तत्व में नियोजित रखे रहने के लिए जप के साथ-साथ ध्यान भी करना पड़ता है । साकार ध्यान में गायत्री माता के अंचल की छाया में बैठने तथा उसका सुधार भरा प्यार अनवरत रूप से प्राप्त होने की भावना की जाती है । निराकार ध्यान में प्रभातकालीन स्वर्णिम सूर्य की किरणों को शरीर में श्रद्धा, मस्तिष्क में प्रज्ञा, काया में निष्ठा के दिव्य अनुदान उतरने की मान्यता परिपक्व की जाती है । प्रभातकाल के उदीयमान स्वर्णिम सूर्य को सविता कहते हैं । गायत्री महामंत्र का अधिष्ठाता सविता है । दोनों के सुयोग संयोग से पूर्णता बनती है । जप के साथ प्रातःकाल के इसी उदीयमान स्वर्णिम सूर्य का ध्यान किया जाय । भावना करनी चाहिए कि अपना खुला शरीर सूर्य के सम्मुख बैठा है । इष्ट की सूक्ष्म किरणें अपने स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों में प्रवेश कर रही हैं । किरणें ऊर्जा और आभा की, प्रतीक हैं । ऊर्जा अर्थात् शक्ति, आभा अर्थात् प्रकाश प्रज्ञा । दोनों का समन्वय तीनों शरीरों में प्रवेश करके उन्हें प्रभावित करता है, ऐसी भावना की जानी चाहिए । प्रत्यक्ष शरीर में स्वास्थ्य और संयम, सूक्ष्म शरीर मस्तिष्क में विवेक और साहस, कारण शरीर अर्थात् अन्तःकरण में श्रद्धा, सद्भावना सूर्य किरणों के रूप में प्रवेश करके अस्तित्व की समग्र सत्ता को अनुप्राणित कर रही है । यह ध्यान धारणा और मंत्र जप साथ-साथ नियत निर्धारित समय तक चालू रखे जायें । इसे उथले मन से नहीं, वरन् सघन विश्वास के साथ यथार्थता भरी अनुभूति के साथ करना चाहिए । जप और ध्यान के समन्वय से ही चित्त एकाग्र रहता है और आत्म सत्ता पर उस कृत्य का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है ।

(५) सूर्य अर्घ्यदान विसर्जन—पूजा वेदी पर रखे छोटे कलश का जल सूर्य की दिशा में अर्घ्य रूप में चढ़ाया

जाय। इसके लिए घर में तुलसी का थाँवला रहे तो और भी उत्तम। जल को आत्म सत्ता का प्रतीक प्रतिनिधि माना जाता है और सूर्य को विराट ब्रह्म विश्व का। अपनी सत्ता सम्पदा को समष्टि के लिए समर्पित-विसर्जित करने का भाव सूर्यार्ध्य में है। अर्ध्य जल वाष्प बनकर आकाश में उड़े। सुदूर क्षेत्र में मेघ न सही, ओस बिन्दु तो बन कर बरसे ही। अपना वैभव समष्टिगत सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्धन में काम आये, यह सूर्यार्ध्य का भाव है। भगवान के प्रति एकत्व, अद्वैत, समर्पण-विसर्जन, शरणागति आदि अभिव्यक्तियों का व्यवहारिक स्वरूप एक ही है। हमारा जीवन-जल छोटे कलश तक सीमित न रहे। वह बाहर निकले, भगवान के, समष्टि के काम आये, व्यापकता में परिणित कर देना ही सूर्यार्ध्य का भाव उद्देश्य है। इतना करने पर प्रज्ञायोग साधना का उपासनापरक पूर्वार्द्ध समाप्त हो जाता है। चिन्तनपरक उत्तरार्द्ध दो चरणों में आत्मबोध एवं तत्वबोध की साधना के रूप में सम्पन्न होता है।

प्रज्ञायोग की आत्मबोध, तत्वबोध प्रक्रिया

आत्मिक प्रगति का एक ही मार्ग पिछली योनियों में रहते समय जो पिछड़े संस्कार चेतना भूमि में जड़ जमा कर जहाँ-तहाँ बैठे हुए हैं उनका उन्मूलन किया जाय और दैवी प्रवृत्तियाँ जो अभी तक समुचित परिमाण में अभी तक प्राप्त नहीं हो पायीं, उन्हें प्रयत्नपूर्वक अपनाया और बढ़ाया जाये। किसान यही करता है। पिछली फसल के ठूँठों, झंखाड़ों को खोद-खोदकर ढूँढ़ना, ढूँढ़कर एक स्थान पर एकत्र करना और उन्हें आग लगाकर जला डालना, इतना करने के बाद खेत को खाद पानी देते हैं जुताई गोड़ाई करते हैं तब कहीं बीज डालने का अवसर आता है। इससे पूर्व ही कोई बीज बिखेरने की मूर्खता तो कर सकता है पर उस स्थिति में उसे प्रतिफल प्राप्त करने की उसी तरह आशा करनी चाहिए जिस तरह सूखे आकाश से जल वृष्टि की कल्पना करना व्यर्थ होता है। आत्म-साधना भी ऐसी ही कृषि है, जिसमें उपज के लिए किसान जैसी कलाकारिता से कम में काम नहीं चलता।

आत्मिक प्रगति का भवन चार दीवारों से मिलकर बनता है, चार स्तम्भों के सहारे खड़ा होता है। उन आधारभूत चार पायों को (१) आत्म-चिन्तन (२) आत्म-सुधार (३) आत्म निर्माण तथा (४) आत्म-विकास के नाम से पुकारा जाता है। इन चारों में से किसी एक को भी छोड़कर आगे नहीं बढ़ा जा सकता। भोजन के साथ जल भी आवश्यक है, शाक और फल भी। अकेले धोती या कुर्त्ता वेशभूषा परिपूर्ण नहीं बनाते उनके साथ टोपी और बनियाइन हो तो पूर्णता आती है। इन चारों में से एक भी ऐसा नहीं जिसकी उपेक्षा कर के आत्मिक प्रगति के पथ पर आगे बढ़ा जा सके।

आत्म-चिन्तन—आत्म चिन्तन का अर्थ है—आत्म-समीक्षा। अपना शवच्छेद। प्रयोगशालाओं में पदार्थों का विश्लेषण वर्गीकरण करके देखा जाता है इसमें कौन-कौन से तत्व मिले हैं, पोस्ट मार्टम में यह देखा जाता है, आखिर मृत्यु शरीर के किस अंग में चोट और अवरोध उत्पन्न होने के कारण हुई। आत्म-चिन्तन का अर्थ यह ढूँढ़ना है कि परमात्मा की दी हुई विभूतियों और अमानतों का कितने अंश में सही उपयोग हुआ। हर श्रेष्ठ मनुष्य की दिनचर्या में सुव्यवस्थित श्रम की दृष्टि से, स्फूर्तिवान, मानसिक दृष्टि से, सक्षम व्यवहार की दृष्टि से, कुशल चिन्तन की दृष्टि से प्रखर व्यक्तित्व की दृष्टि से, आत्मावलम्बी व आत्मसम्मानी होना चाहिए। ऐसा तभी सम्भव है जब आन्तरिक विभूतियों का और बाह्य साधनों का सदुपयोग हो। आत्म चिन्तन में अपने गुण, स्वभाव और कर्म की कड़ाई के साथ परीक्षा करनी पड़ती है। उसमें आत्मा को दीन-दलित बनाने वाले तत्व तो नहीं आ घुसे। उन्हें एक-एक करके खोज निकालना और मार भगाने का उपक्रम बनाना ही चिन्तन है।

ऐसा करते समय शरीर और आत्मा को भिन्न न माना गया, दोनों के हितों का वर्गीकरण न किया गया तो शरीर की अनावश्यक माँगों को, इन्द्रिय लिप्साओं को आत्म-हित मान लेने की भूल होती रहेगी। स्मरण रहे चरित्र और व्यक्तित्व को ऊँचे उठाने वाले, प्रामाणिकता को खरा सिद्ध करने वाले आदर्श कर्तृत्व ही आत्मा की विभूतियाँ हैं। उनके विकास की कल्पना करना ही सच्चे अर्थों में आत्म-चिन्तन कहा गया है।

इस प्रक्रिया को वैयक्तिक जीवन की दुष्प्रवृत्तियों का निराकरण और सत्प्रवृत्तियों का सम्वर्धन करके ही पूरा किया जा सकता है । यह आत्मिक प्रगति का दूसरा चरण है । परमात्मा का प्रकाश जहाँ भी प्रगट होगा वहाँ सर्वप्रथम दुष्ट दुर्बुद्धि पर कुठाराघात होगा, अज्ञान अन्धकार मिटेगा वह आदतें जो अब तक अपनी प्रसन्नता का कारण बनी हुई थीं और बार-बार ललचाती रहती थीं, उनकी निरुपयोगिता तुरन्त सिद्ध हो जाती है । वे स्वतः निरर्थक उगने लगती हैं और उन्हें निकाल बाहर करने का साहस भी उखड़ने लगता है ।

तो भी यह कार्य उतना आसान नहीं । इन्द्रियों का दमन होने पर वे मरती नहीं और अधिक उत्तेजित हो उठती हैं । उस स्थिति में मानसिक सन्तुलन और दृढ़ता बनाये रखना, बार-बार वैराग्य भावना मस्तिष्क में उँमगाते रहना आवश्यक है । तभी आत्म-सुधार का क्रम पूरा होता है । इसमें निर्दयता भी अपनानी पड़ती है, तप तितीक्षा इस प्रचलित ढर्रे में परिवर्तन का ही दूसरा नाम है । यह दूसरा चरण उठ जाने पर प्रगति का चक्र गतिशील हो उठता है ।

आत्म निर्माण का तीसरा चरण है आत्म निर्माण–अर्थात् श्रेष्ठ सज्जनों के गुण, कार्य, स्वभाव की जो विशेषताएँ होनी चाहिए उनकी पूर्ति के लिए योजनाबद्ध प्रयत्न । कँटीली झाड़ियाँ हटाई भर जायें उनकी जड़ें खोद कर उनके स्थान पर पुष्पों के पौधे न लगाये जायें तो एक ओर झाड़ियों के फिर से जड़ पकड़ लेने की आशंका रहेगी तो दूसरी ओर फूलों के खिलने से जो सुवास और सौन्दर्य उपलब्ध होने वाला था वह भी हाथ नहीं आ सकता । बीमारी दूर हो गई यह आधा काम हुआ, अब स्वास्थ्य सम्बर्धन की व्यवस्था भी हो, व्यायाम भी हो, टहलना और पुष्टिदायी आहार भी आत्मिक प्रगति के क्षेत्र में सद्गुणों के परमार्थ के गुणों को धारण करके यह प्रतिष्ठापना की जाती है । व्रत धारण किये जाते हैं श्रेष्ठता सम्वर्धन के संकल्प उभारे जाते हैं और उन पर चल पड़ने का अभ्यास किया जाता है, तभी इस तृतीय चरण की पूर्ति होती है ।

आत्मोत्कर्ष की अन्तिम भूमिका आत्म-विकास की है । सन्त, शहीद और सुधारक इस चतुर्थ भूमिका के ही उपादान होते हैं । चौथेपन में संन्यास का विधान शास्त्रों में है । वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते ज्ञान, कर्म, भक्ति पक जाते हैं । जीवन की नश्वरता आत्मा का अविनाशी भाव स्पष्ट हो जाता है, सारा समाज एक कुटुम्ब और सम्पूर्ण सृष्टि अपने घर जैसी लगने लगती है । विश्व-बन्धुत्व और वैराग्य की भावनाओं को इस स्तर तक पहुँचा देने से जिस तरह सन्यासी का जीवन समाज के लिए समर्पित हो जाता है, उसी तरह की भावना इन चतुर्थ भूमिका में पहुँचने के लिए अपनानी पड़ती है । अपनी महत्वाकांक्षायें, नाम, यश, एक प्रतिष्ठा को नितान्त हेय मानकर अपनी क्षमताओं की सच्चे हृदय से लोक-कल्याण में उपयोग की रूपरेखा बनानी पड़ती है । धर्म, समाज और संस्कृति के लिए काम करने में रस लेना पड़ता है आत्म-विकास की यह चतुर्थ भूमिका जितनी परिपक्व होती जायेगी जीवात्मा उतने ही अंशों में महात्मा, देवात्मा और परमात्मा के रूप में विकसित होती चली जायेगी ।

एकान्त सेवन अन्तर्मुखी जीवनचर्या का अभिनव अभ्यास कराने की दृष्टि से आवश्यक माना गया है । इसे गुफा प्रवेश की उपमा दी जाती है । तपश्चर्याओं में एक गुफा प्रवेश भी है । सब ओर से अपने को समेट कर आत्म-केन्द्रित होने, अन्तर्जगत में प्रवेश करने, आन्तरिक पर्यवेक्षण एवं परिवर्तन की पृष्ठभूमि बनाने के लिए वातावरण नितान्त आवश्यक है । आमतौर से मन बहिर्मुखी रहता है । बाहर के जाल-जंजाल बुनता रहता है । फलतः आत्म विकृति बढ़ती जाती है । शरीर और शरीर से सम्बन्धित हेरा-फेरी ही सब कुछ बन जाती है और अपना स्वार्थ ओछेपन तक विस्तृत हो जाता है । शरीर और उससे सम्बन्धित साधना ही व्यक्ति की सब कुछ बन जाते हैं । अपने आपे का होश हवास खो बैठने वाले मद्यप जिस प्रकार बेतुके आचरण करते हैं प्रायः वही स्थिति मानसिक क्षेत्र में व्यामोहग्रस्तों की होती है । इसी भुलावे-छलावे को माया कहा जाता है । माया के बन्धन अति निविड़ माने जाते हैं ।

व्यामोह से, भव बन्धन से उतरने के लिए भी चार उपाय हैं । दो बाह्य दो आन्तरिक । बाह्य निर्भरता वाले स्वाध्याय एवं सत्संग हैं । आन्तरिक दो हैं एक चिन्तन दूसरा मनन । इन चारों को चारपाई के चार पाये कहा जा सकता है । हाथ, पैर, धड़, सिर इन चार भागों में शरीर विभक्त है । इसी प्रकार आत्म-निर्माण के लिए भी इन चारों का मनोयोग के साथ अवलम्बन करना पड़ता है ।

सत्साहित्य का स्वाध्याय ही आज के युग का सर्वोत्तम सत्संग है । पढ़ा उतना ही जाना चाहिए जितना हजम हो सके । स्वाध्याय की तरह चिन्तन, मनन को परिष्कृत प्रखर और प्रगाढ़ बनाना भी आवश्यक है । साधना की अवधि में तीन दृश्य आँखों के सामने घूमते रहने चाहिए । मन में उन्हीं के कल्पना-चित्र तैरते रहने चाहिए । इनमें एक है भवसागर में डूबना, मगरमच्छों द्वारा निगलकर उदरस्थ किए जाने से पूर्व नौका पर अवस्थि महाप्रज्ञा द्वारा उबार लिया जाना । दूसरा है हाथ में हथकड़ी पैरों में बेड़ी, गले में लौह-जंजीर की जकड़न, बढ़ने और करने में असमर्थता, दिव्य लोक से चक्र सुदर्शन का उतरना और उन बन्धनों को काटकर भव-बन्धनों से मुक्त कर देना । तीसरा है सघन अन्धकार को छोड़कर उत्कृष्टता के चरम लक्ष्य प्रकाश केन्द्र तक पहुँचने वाली सीढ़ी पर एक-एक कदम उठाते हुए ऊपर उठना, आगे बढ़ना । क्रमशः लक्ष्य बिन्दु के समीप पहुँचते जाना । यह तीनों चित्र गायत्री चित्रावली में दिए हुए हैं । उन्हें बार-बार निहारते रहने से यह भाव-चित्र और भी अधिक सजीव होते जाते हैं । बार-बार उन्हीं का ध्यान करने, उन्हीं पर मन जमाते रहने से अपनी स्थिति तथा स्तर का ज्ञान होता है । दुःखद दुर्गति तथा सुखद सम्भावनाओं के मध्य आज की अपनी चयन कुशलता की परख होने वाला भाव उठता है । यदि उत्कृष्टता के लक्ष्य तक पहुँचना है तो साथियों की तलाश छोड़कर एकांकी बढ़ चलने का विवेकवान् साहस जुटाना है । यही है अपनी परिस्थितियों का भावात्मक चित्रण, जिसके सहारे अपने आज के निर्धारण को बल मिलता है । उपरोक्त तीनों चित्र साधना के दिनों अधिकाधिक समय तक भावना-क्षेत्र पर आरूढ़ रहने चाहिए ।

मात्र शरीर के लिए जिया जाने वाला, वासना, तृष्णा, अहता की अथाह गहराई वाला गर्त ही भवसागर है । उससे उबरने के लिए दूरदर्शी विवेकशीलता से महाप्रज्ञा का अंचल पकड़ना होता है । वैसा न करने पर रोग, शोक, पतन, पराभव के मगरमच्छों द्वारा निगला और दुर्गतिग्रस्त बनाया जाना निश्चित है । इस विभीषिका से बचने में ही कुशलता है ।

भव-बन्धन, लोभ, मोह, विलास, अहंकार है । इन्हीं के लौहपात्र में जकड़ा मनुष्य बन्दीगृह की यातना सहता है । अपंग, असमर्थ जैसी गई-गुजरी स्थिति में पड़ा रहता है । इसे आदर्शवादी संकल्प साहस का चक्र सुदर्शन ही काटने में समर्थ है । इस ब्रह्मास्त्र को कल्प-साधना के दिनों में सम्भावित अनुदान माना जाना चाहिए ।

पतन स्वाभाविक है । उत्थान के लिए एकांकी पराक्रम का ही आश्रय लेना पड़ता है । ईमान और भगवान की सहायता से ही इस मार्ग पर चल सकने का बल पैरों में आता है । यह बल देवत्व का है । इसे सद्गुरू परब्रह्म परमात्मा से ही प्राप्त किया जा सकता है ।

उपरोक्त तीनों कल्पना चित्रों के साथ यह संगति भी बिठानी चाहिए कि उबारने वाली नौका, बन्धनमुक्त करने वाला चक्र और लक्ष्य तक ऊँचा उठा ले जाने वाला दिव्य अनुदान इन दिनों अपने ही इर्द-गिर्द विद्यमान है । उसे अस्तगत करने के लिए इन दिनों अपने भाव भरे प्रयास प्राणयण से चलने चाहिए और इस सुयोग-संयोग का परिपूर्ण लाभ मिलना चाहिए ।

आत्मबोध—चिन्तन, तत्वबोध—मनन

"हर दिन नया जन्म, हर रात नयी मौत" की मान्यता लेकर जीवनक्रम बना कर चला जाय तो वर्तमान स्तर से क्रमशः ऊँचे उठते चलना सरल पड़ेगा । मस्तिष्क और शरीर की हलचलें अन्तःकरण में जड़ जमाकर बैठने वाली आस्थाओं की प्रेरणा पर अवलम्बित रहती हैं । आध्यात्मिक साधनाओं का उद्देश्य इस संस्थान को प्रभावित एवं परिष्कृत करना ही होता है । इस उद्देश्य की पूर्ति में वही साधना बहुत ही उपयोगी सिद्ध होती है, जिसमें उठते ही नये जन्म की और सोते ही नयी मृत्यु की मान्यता को जीवन्त बनाया जाता है ।

प्रातः बिस्तर पर जब आँख खुलती है तो कुछ समय आलस को दूर करके शैय्या से नीचे उतरने में लग जाता है । प्रस्तुत उपासना के लिए यही सर्वोत्तम समय है । मुख से कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं पर यह मान्यता-चित्र मस्तिष्क में अधिकाधिक स्पष्टता के साथ जमाना चाहिए कि "आज का एक दिन पूरे जीवन की तरह है, इसका श्रेष्ठतम सदुपयोग किया जाना चाहिए । समय का एक भी क्षण न तो व्यर्थ गँवाया जाना चाहिए और न अनर्थ कार्यों में लगाना चाहिए ।"

सोचा जाना चाहिए कि "ईश्वर ने अन्य किसी जीवधारी को वे सुविधाएँ नहीं दीं जो मनुष्य को प्राप्त हैं। यह पक्षपात या उपहार नहीं, वरन् विशुद्ध अमानत है, जिसे उत्कृष्ट आदर्शवादी रीति-नीति अपना कर पूर्णता प्राप्त करने, स्वर्ग और मुक्ति का आनन्द इसी जन्म में लेने के लिए दिया गया है। यह प्रयोजन तभी पूरा होता है, जब ईश्वर की इस सृष्टि को अधिक सुन्दर, समुन्नत एवं सुसंस्कृत बनाने के लिए उपलब्ध जीवन सम्पदा का उपयोग किया जाय। उपयोग के लिए यह सुर-दुर्लभ अवसर मिला है। यह योजनाबद्ध सदुपयोग करने में ही ईश्वर की प्रसन्नता और जीवन की सार्थकता है।"

मंत्र जाप की तरह इन शब्दों को दुहराने की जरूरत नहीं है वरन् अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक इस तथ्य को हृदयंगम किया जाना चाहिए। कल्पना चित्र सिनेमा फिल्म की तरह स्पष्ट उभरने चाहिए और उनके साथ इतनी गहरी आस्था का पुट देना चाहिए कि यह चिन्तन, वस्तुस्थिति बनकर मस्तिष्क को पूरी तरह आच्छादित कर ले।

शौच जाने की आवश्यकता अनुभव हो तो विलम्ब नहीं करना चाहिए और शैय्या त्याग कर नित्य कर्म में लग जाना चाहिए। थोड़ी गुंजाइश हो तो उठने से लेकर सोने के समय तक की दिनचर्या इसी समय बना लेनी चाहिए। यों नित्य कर्म करते हुए भी दिन भर का संयम विभाजन कर लेना कुछ कठिन नहीं है। फुर्ती और चुस्ती से काम निपटाये जायें तो कम समय में अधिक काम हो सकता है। सुस्ती और उदासी से ही समय का भारी अपव्यय होता है, योजनाबद्ध दिनचर्या बनायी जाये और उसका मुस्तैदी से पालन किया जाय तो ढेरों समय बच सकता है। एक काम के साथ दो काम हो सकते हैं। जैसे आजीविका उपार्जन के बीच खाली समय में स्वाध्याय तथा मित्रों से परामर्श हो सकता है। परिवार व्यवस्था में मनोरंजन का पुट रह सकता है। निद्रा, नित्य कर्म, आजीविका उपार्जन, स्वाध्याय, उपासना, परिवार व्यवस्था, लोक-मंगल आदि कार्यों में, कौन, कब, किस प्रकार कितना समय देगा ? यह हर व्यक्ति की अपनी परिस्थिति पर निर्भर है, पर समन्वय इन सब बातों का रहना चाहिए। दृष्टिकोण यह रहना चाहिए कि आलस्य प्रमाद में एक क्षण भी नष्ट न हो और सारी गतिविधियाँ इस प्रकार चलती रहें, जिनमें आत्म-कल्याण परिवार निर्माण एवं लोक-मंगल के तीनों तथ्यों का समुचित समावेश बना रहे। इन सारे क्रिया-कलापों में आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाया जाय। दुष्प्रवृत्तियों को दुर्भावनाओं का स्थान न मिलने दिया जाय। जहाँ भी जब भी गड़बड़ दिखायी पड़े तब वहीं उसकी रोकथाम की जाय और गिरते कदमों को सँभाल लिया जाय। समय, श्रम, चिन्तन एवं धन का तनिक-सा अंश भी अवांछनीय प्रयोजन में नष्ट न होने दिया जाय। इन चारों ही सम्पदाओं का एक-एक कण सदुपयोग में लगता रहे, इस तथ्य पर तीखी दृष्टि रखी जाय, भूलों को तत्काल सुधारते रहा जाय तो उस दिन के जीवन को संतोषजनक रीति से जिया जा सकता है।

जल्दी सोने और जल्दी उठने का नियम जीवन साधना में रुचि रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को बनाना ही चाहिए। ब्रह्म-मुहूर्त का समय अमृतोपम है, उस समय किया गया हर कार्य बहुत ही सफलतापूर्वक सम्पन्न होता है। अस्तु जो भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य प्रतीत होता हो, उसे उसी समय में करना चाहिए। सबेरे जल्दी उठना उन्हीं के लिए सम्भव है जो रात्रि को जल्दी सोते हैं। इस मार्ग में जो अड़चनें हों उन्हें बुद्धिमत्तापूर्वक हल करना चाहिए, किन्तु जल्दी सोने और जल्दी उठने की परम्परा तो अपने लिए ही नहीं पूरे परिवार के लिए बना ही लेनी चाहिए।

रात्रि को सोते समय वैराग्य एवं संन्यास जैसी स्थिति बनानी चाहिए। विस्तर पर जाते ही यह सोचना चाहिए कि निद्रा काल एक प्रकार का मृत्यु विश्राम है। आज का नाटक समाप्त, कल दूसरा खेल खेलना है। परिवार ईश्वर का उद्यान है उसमें अपने को कर्तव्यनिष्ठ माली की भूमिका निभानी थी। शरीर, मन, ईश्वरीय प्रयोजनों को पूरा करने के लिए मिले जीवन रथ के दो पहिये हैं, इन्हें सही राह पर चलाना था। धन, प्रभाव, पद यह विशुद्ध धरोहर है, उन्हें सत्प्रयोजनों में ही लगाना था। देखना चाहिए कि वैसा ही हुआ या नहीं ? जहाँ गड़बड़ी हुई दिखायी दे, वहाँ पश्चाताप करना चाहिए और अगले दिन वैसी भूल न होने देने में कड़ी सतर्कता बरतने की अपने आपको चेतावनी देनी चाहिए।

संन्यासी अपना सब कुछ ईश्वर को अर्पण करके परमार्थ प्रयोजन में लगता है। सोते समय साधक की वैसी ही मनःस्थिति होनी चाहिए। मिली हुई अमानतें और सौंपी हुई जिम्मेदारियाँ आज ईमानदारी के साथ

सँभाली गई । यदि कल वे फिर मिलीं तो फिर उन्हें ईश्वरीय आदेश मान कर सँभाला जायगा । अपना स्वामित्व किसी भी व्यक्ति या पदार्थ पर नहीं । यहाँ जो कुछ है सो सब ईश्वर का है । अपना तो केवल कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व भर है । उसे पूरी ईमानदारी और पूरी तत्परता से निवाहते भर रहना अपने लिये पर्याप्त है । परिणाम क्या होते हैं, क्या नहीं ? यह परिस्थितियों पर निर्भर है, अस्तु सफलता-असफलता की चिन्ता न करते हुए हमें आदर्शवादी कर्तव्यपरायणता अपनाये रहने मात्र में पूरा-पूरा सन्तोष अनुभव करना चाहिए ।

सोते समय ईश्वर की अमानतें ईश्वर को सौंपने और स्वयं खाली हाथ प्रसन्न चित्त विदा होने की–निद्रा देवी की गोद में जाने की बात सोचनी चाहिए । हल्के मन से शांतिपूर्वक गहरी नींद में सो जाना चाहिए । चिन्ता, आशंका, खीज, क्रोध जैसी किसी भी उद्विग्नता को मन पर लाद कर नहीं सोना चाहिए । यह प्रयास शान्त निद्रा लगने की दृष्टि से भी उपयोगी है, साथ ही आत्म परिष्कार की दृष्टि से भी अति महत्त्वपूर्ण है ।

मृत्यु को भूलने से ही जीवन सम्पदा को निरर्थक कामों में गँवाते रहने की चूक होती है, दुष्कर्म बन पड़ते हैं और वासना, तृष्णा, अहंता की क्षुद्रताओं में समय गुजरता है । यदि यह ध्यान बना रहे कि मृत्यु का निमन्त्रण कभी भी सामने आ सकता है तो यह ध्यान बना रहेगा कि इस महान अवसर का सही उपयोग किया जाय और पूरा लाभ उठाया जाय । निद्रा की तुलना मृत्यु से करते रहने पर मौत का भय मन से निकल जाता है और असभ्य अवसर के सदुपयोग की बात चित्त पर छायी रहती है ।

प्रातः उठते समय नये दिन की मान्यता–जीवनोद्देश्य की स्पष्टता तथा सुव्यवस्थित दिनचर्या बनाने का कार्य सम्पन्न करना चाहिए । रात्रि को सोते समय मृत्यु का चिन्तन, आत्म निरीक्षण, पश्चाताप और कल के लिए सतर्कता–वैरागी एवं संन्यासी जैसी मालिकी त्यागने की हल्की-फुल्की मनःस्थिति लेकर शयन किया जाय । दिन भर हर घड़ी चुस्ती-फुर्ती मुस्तैदी और दिलचस्पी के साथ प्रस्तुत कार्यों को निपटाया जाय । भीतर दुर्भावनाओं और बाहरी दुष्प्रवृत्तियों के उभरने का अवसर आते ही उनसे जूझ पड़ा जाय और निरस्त करके ही दम लिया जाय । यह है वह जीवन साधना जिसमें चौबीसों घण्टे निमग्न रह कर इसी जीवन में स्वर्ग जैसे उल्लास, आनन्द और मुक्ति जैसे आनन्द का हर घड़ी अनुभव करते रहा जा सकता है ।

आत्म-बोध–आन्तरिक काया कल्प–प्रत्यक्ष स्पर्श

'मैं' कौन हूँ, किसका हूँ यह प्रश्न ऐसे हैं जिनको उपेक्षित–बिना हल किया हुआ, छोड़ दिया जाय तो वह लापरवाही बहुत मँहगी पड़ती है । जीवन का सारा आनन्द ही चला जाता है । आनन्द ही नहीं चला जाता, वरन् इस उलझी हुई गुत्थी में उलझ कर मनुष्य ऐसी जिन्दगी जीने के लिए विवश होता है, जिसे नीरस और भारभूत ही कहा जा सके ।

पिछले अंक में उस मनःस्थिति का चित्रण किया गया है जिसमें अपने आपको शरीर मान लेने से सांसारिक सुख-दुख, हानि-लाभ, मान-अपमान किस तरह उद्विग्न उद्वेलित करते हैं और हर परिस्थिति, आशंका एवं असंतोष से भरी रहती है । जो कुछ उपार्जन किया था उसका हर्ष रत्ती भर होता है और उसके साथ जुड़ी हुई विषमताओं का चिन्तन पहाड़ भर । जिसमें हर्ष स्वल्प और विषाद अपरमित हो ऐसी जिन्दगी जी कर कौन अपने आपको सौभाग्यशाली मानेगा ?

किन्तु अपने संबंध में सही ढंग से सोचने की विधि हाथ लग जाय तो देखते-देखते जादू की तरह असन्तोष और उद्वेग की स्थिति सन्तोष और उल्लास से भर जाती है । आगे और पीछे जो अन्धकार दीख रहा है, उसे प्रकाश में परिणित होते देर नहीं लगती । इसी स्थिति को आत्मज्ञान कहते हैं । इसे एक प्रकार का आन्तरिक काया-कल्प ही कहना चाहिए । सुना है किन्हीं दिव्य विधियों से वृद्ध और जीर्ण शरीर को नवयौवन की स्थिति में बदला जा सकना सम्भव है । उस विधि को काया-कल्प कहते हैं । शारीरिक काया-कल्प के उदाहरण और प्रयोग इन दिनों प्रत्यक्ष दिखायी नहीं पड़ते; पर आत्मिक काया-कल्प हर किसी के लिए सम्भव है । आज ही, अभी ही वह स्थिति प्राप्त की जा सकती है जिसके आधार पर गरीबी को अमीरी में, दुर्भाग्य को सौभाग्य

में, शत्रुओं को मित्रों में, आशंकाओं को उल्लास में परिवर्तित किया जा सके । इस अन्धकार को प्रकाश में परिणित करने वाली प्रक्रिया को आत्म-बोध कहते हैं । यह आत्म-बोध कोई दैवी वरदान, जादू या चमत्कार नहीं है; सिर्फ उस मान्यता और श्रद्धा का नाम है जो अपने स्वरूप को सही रूप में समझने का अवसर देती है और इतनी सामर्थ्य प्रदान करती है कि पिछले ढर्रे को बदल कर नये सिरे से वस्तुस्थिति के अनुरूप सोचने और करने की पद्धति को अपनाया, कार्यान्वित किया जा सके ।

आत्म, बोध, आत्मोत्थान, आत्म साक्षात्कार जीवन का सबसे बड़ा लाभ है । इससे बड़ी उपलब्धि इस मनुष्य के लिए और कोई दूसरी हो ही नहीं सकती । मैं क्या हूँ ? कौन हूँ ? किस लिए हूँ ? इस तथ्य को समझ लेने के बाद यह भी अनुभूति होने लगती है कि उपकरण, औजार एवं पदार्थों का उपयोग, उपभोग-सम्बंध, स्नेह की सीमा कितनी रहनी चाहिए, इसका सीमा स्वरूप और निर्धारण जब भी, जो भी कर लेगा वह दिव्य-जीवन जीयेगा सुख-शांति से ओत-प्रोत रहेगा और सर्वत्र धरती के देवताओं की तरह, महामानवों की तरह हर किसी के अन्तरंग पर श्रद्धा भरा शासन करेगा ।

मैं क्या हूँ ? इस प्रश्न का उत्तर–शरीर हूँ, के रूप में ही हमारी अन्तः मान्यता देती है, परिवर्तनशील प्रकृति के साथ जुड़े हुई परिवर्तनीय प्रतिक्रियाएँ देह के और जिनके साथ स्नेह सम्बन्ध है उनमें भी भौतिक कारणों से अन्तर आवेगा ही । रात और दिन की तरह प्रिय-अप्रिय द्वन्दों का फेर चलता ही रहेगा और उसे भूलने में क्षण-क्षण में प्रिय-अप्रिय अनुभव होते ही रहेंगे । दृष्टिकोण में निषेधात्मक तत्व अधिक होने से एक और भूल होती रहेगी कि शरीर को संसार द्वारा जो सुख-सुविधायें मिल रही हैं, उन्हें देखना समझना और मोद मनाना सम्भव न हो सकेगा, इसके विपरीत जो अभाव अभियोग हैं । वे ही आँखों के आगे खड़े रहेंगे इस स्थिति में किसी सुसम्पन्न व्यक्ति के लिए भी यह सम्भव नहीं कि वह सुख-शांति का अनुभव कर सके ।

आमतौर से हर व्यक्ति यही प्रयास करता है कि दूसरे लोग उसे बड़ा, सुखी या सम्पन्न समझें । इसी का ढाँचा खड़ा करने में उसकी सारी शक्ति लगी रहती है । सारे प्रयास इसी परिधि के इर्द-गिर्द घूमते रहते हैं । वस्त्र-आभूषण, श्रृंगार, ठाठ-बाट, डिग्री, पद आदि के बड़प्पन प्रदर्शित करने वाले आवरण बड़ी कठिनाई से जमा किये जाते हैं और उसी संचय में सारा समय, श्रम, एवं मनोयोग खप जाता है । दूसरे लोग अपनी ही समस्याओं में उलझे होते हैं, उन्हें किसी की अमीरी, गरीबी का मूल्यांकन करने में क्या रुचि हो सकती है, पर हर व्यक्ति समझता यही है कि सब का सारा ध्यान मेरे ही ऊपर केन्द्रित है और यह मनोवैज्ञानिक भूल मनुष्य को उस निरर्थक क्रिया-कलाप और चिन्तन में लगाये रहती है जिसे तात्विक दृष्टि से पूर्णतया निरर्थक कहा जा सके । किसी ने, कुछ देर के लिए, हमें साधन सम्पन्न-अगर बड़ा आदमी जान या मान भी लिया तो इससे क्या तो अपना प्रयोजन सधा, और क्या उसे लाभ हुआ ?

आत्म-बोध न होने से मनुष्य की महत्त्वाकांक्षायें, चेष्टाएँ, गति-विधियाँ, एक प्रकार से निरर्थक कामों में लगी रहती हैं और बहुमूल्य मानव-जीवन ऐसे ही उन विडम्बनाओं में गल जाता है । जो सुख-साधन भौतिक-जीवन में उपलब्ध थे उनको भी दृष्टिकोण के कारण समझा और सराहा नहीं जाता । स्त्री, सन्तान, शरीर, शिक्षा, सहायक, साधन जो कुछ भी मिले हुए हैं उनके मूल्य, महत्व को भी यदि समझने की चेष्टा की जाय, इनसे मिलने वाली सहायता सुविधा का लेखा-जोखा लिया जाय तो भी हर व्यक्ति को अपनी स्थिति बहुत हद तक हर्ष, सन्तोष से भरी हुई प्रतीत हो सकती है; पर इस दुर्भाग्य को क्या कहा जाय, जिसके अनुसार केवल अभाव, और छिद्र ही दिखायी पड़ते हैं । अपनी कुरूपता हर किसी को कुरूप प्रस्तुत करती है । आन्तरिक दुर्बलता, आशंका, अविश्वास, अवरोध, द्वेष, घृणा के रूप में फुफकारती और वातावरण को विषाक्त करती रहती है । सो इन्हीं विडम्बनाओं में उलझा हुआ, विभीषिकाओं से संत्रस्त, आशंकाओं से उद्विग्न, मनुष्य अन्तर्दाह की आग में हर क्षण जलता हुआ नारकीय जीवन जीता है । यह सब आत्मबोध न होने का ही परिणाम है ।

मैं क्या हूँ ? इसका उत्तर अपने अब तक के चले आ रहे ढर्रे वाले अभ्यास के अनुरूप नहीं वरन् तत्व-चिन्तन के आधार पर देना चाहिए । दूसरे लोग क्या कहते हैं, क्या सोचते हैं और क्या करते हैं ? इससे भी हमें प्रभावित नहीं होना चाहिए । निस्सदेह वातावरण अन्धकार भरा है । प्राचीनकाल में सतयुगी व्यक्तित्व, कर्त्तव्य और वातावरण-शुद्ध चिन्तन में सहायता करता था । उससे

प्रभावित हर नागरिक को सही दिशा मिलती थी। आज सब कुछ उल्टा है; यदि आज वस्तुस्थिति समझने के लिए लोग क्या कहते हैं और क्या करते हैं, इसे आधार बनाया जाय तो निश्चित रूप से हमें अवांछनीय निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा और अनुचित रीति-नीति अपनाने के लिए विवश होना पड़ेगा।

आत्म-बोध की पहली सीढ़ी यह है कि लोक-चिन्तन की अवांछनीयता को समझा जाय और अपनी अब तक की ढर्रे पर लुढ़कती हुई मान्यताओं के औचित्य को अस्वीकार किया जाय। काया-कल्प में पुराना शरीर छोड़नां पडता है और नया ग्रहण करना पड़ता है। विवाह होने पर वधू पितृ-गृह छोड़ती है साथ ही अब तक का स्वभाव अभ्यास भी। उस नवविवाहिता को पति के घर में जाकर नये स्वजनों से घनिष्ठता बढ़ानी पड़ती है और सुसराल की विधि-व्यवस्था में अपने को ढालना होता है। ठीक ऐसा ही परिवर्तन आन्तरिक काया-कल्प के अवसर पर करना पड़ता है। आत्म-बोध एक प्रकार से अन्धकार का परित्याग कर प्रकाश को वरण करना है। इसके लिए क्रान्तिकारी कदम उठा सकने वाले साहस की जरूरत पड़ती है। ढर्रे में राई-रत्ती अन्तर करने से काम नहीं चलता। यह पढ़ने और सुनने की नहीं सर्वतोमुखी परिवर्तन की प्रक्रिया है। एक लोक को छोड़ कर दूसरे लोक में जाने, एक शरीर त्याग कर दूसरे शरीर में प्रवेश करने जैसी इस प्रक्रिया को जो कोई सम्पन्न कर सके उसे ही आत्म-ज्ञानी कहा जायगा। आत्म-बोध और आत्म-साक्षात्कार इसी स्थिति का नाम है। ब्रह्म सम्बन्ध, आत्म-दर्शन, दीक्षा लाभ, चक्षु उन्मीलन, दिव्य जागरण इसी को कहते हैं। यह छलांग जो लगा सके इस दुस्साहस का परिणाम दूसरे ही क्षण परिलक्षित होगा। अपने को तत्काल नरक में से निकाल कर स्वर्ग में अवस्थित अनुभव करेगा। मैं क्या हूँ ? इस प्रश्न का समाधान, इतना बड़ा लाभ है कि उस पर समस्त संसार की समग्र सम्पदाओं को निछावर किया जा सकता है।

व्यक्ति जब अपने को ईश्वर का परम-पवित्र अविनाशी अंश समझता है; आत्मा के रूप में अनुभव करता है और शरीर को एक उपकरण भर स्वीकार करता है तो उसे अपनी पिछली मान्यताओं, आकांक्षाओं, योजनाओं और गतिविधियों में आमूलचूल परिवर्तन करने की आवश्यकता अनुभव होती है। सम्बन्धित वस्तुएँ संग्रह करके निरर्थक मोह बढ़ाने के लिए नहीं, वरन् सदुपयोग भर के लिए अपने पास एकत्रित हुई हैं। यह निष्ठा जब जमती है तो फिर लोभ और मोह में दूसरे सिरे की मूर्खता ही दिखायी देती है। सम्पदा प्रकृति का ही एक रूप है। यह अनादि काल से चली आ रही है और अनन्तकाल तक चली जायगी। जो सोना अपने पास आज है, वह सृष्टि के जन्मकाल से ही इस संसार में विद्यमान था। उस पर लाखों व्यक्ति कुछ-कुछ देर के लिए अपना अधिकार बनाते चले आ रहे हैं। प्रलय काल तक वह सोना बना रहेगा और उस पर करोड़ों व्यक्ति अपना अधिकार जमाते चले जायेंगे। जमीन, जायदाद, वस्तुएँ आदि सृष्टि के साथ जन्मीं और उसके रहने तक इस दुनियाँ में बनी रहेंगी, कुछ समय के लिए वे अपने साथ संयोगवश जुड़ गईं तो उन्हें अपनी मान बैठना, उनके संग्रह का लोभ करना, कैसे उचित ठहराया जा सकता है ? पदार्थों का, सम्पदा साधनों का लोभ किस लिए ?

उपलब्ध सम्पत्ति का सदुपयोग ही सब से बड़ी बुद्धिमत्ता है उसकी जमाखोरी में कोई समझदारी नहीं। उपार्जन को श्रेष्ठ प्रयोजनों में लगाना चाहिए। बेटे-पोतों के लिए उत्तराधिकार का ताना बाना बुनना सदुपयोग नहीं है। अपने साथ मोह बन्धनों में बँधे हुए चन्द व्यक्तियों को अपने श्रम का सार उपार्जन सौंप दिया जाय और वे उस हराम की कमाई पर गुल्छर्रे उड़ायें इस विडम्बना में क्या औचित्य है ? श्रम उपार्जन खाकर ही कोई व्यक्ति उसका लाभ लेता है, हराम की कमाई तो हर किसी को गलाती है। आत्मवादी की सुनिश्चित मान्यता यही हो सकती है जिसकी समझ में यह तथ्य आ गया। उसे नये सिरे से आपनी सम्पत्ति के बारे में चिन्तन करना पड़ेगा और आश्रित, असमर्थ परिजनों की उचित व्यवस्था के अतिरिक्त जो कुछ उसके पास बच जाता है उसे लोक-मंगल के लिए नियोजित करने का ही निर्णय करना पड़ता है। आत्म-बोध के साथ यदि इस स्तर का दुस्साहस जुड़ा हुआ न हो तो उसे बकवादियों का बाल-विनोद ही कहा जायगा। असंख्य व्यक्ति स्वाध्याय सत्संग के नाम पर धर्म और आध्यात्म की लम्बी-चौड़ी बकवास करते और सुनते रहते हैं। जो चिन्तन-जीवन को प्रभावित न कर सके उसे मनोविनोद के अतिरिक्त और क्या समझा जा सकता है ?

परिवार के रूप में जुड़े हुए कुछ व्यक्ति ही अपने हैं ? अपना प्यार उन्हीं तक सीमित रहना चाहिए ? उन्हीं तक अपनी सारी महत्त्वाकांक्षायें-सीमित कर लेनी चाहिए यह रीति-नीति उससे बन ही नहीं पड़ेगी जो अपने को 'आत्मा' मानेगा । आत्म-ज्ञान का प्रकाश आते ही दृष्टिकोण में उस विशालता का समावेश होता है जिसके अनुसार 'वसुधैव कुटुम्बकम्' मानने से कम में किसी भी प्रकार संतोष नहीं हो सकता ।

भगवान के उद्यान के रूप में सम्बंधित परिवार को कर्तव्यनिष्ठ माली की तरह सींचना संजोना बिल्कुल अलग बात, बाहर से देखने में यह अन्तर भले ही दिखायी न पड़े, पर दृष्टिकोण की कसौटी पर रखने पर जमीन आसमान जितना अन्तर मिलेगा । मोहग्रस्त मनुष्य अपने कुटुम्बियों की सुविधा, सम्पदा बढ़ाने और इच्छा पूरी करने की धुन में उचित अनुचित, आवश्यक अनावश्यक का भेद भूल जाता है और घरवालों की इच्छा तथा खुशी के लिए वह व्यवस्था भी जुटाता है जो न आवश्यक है न उपयुक्त । मोहग्रस्त के पास विवेक रह ही नही सकता ।

परिष्कृत दृष्टि से कुटुम्बियों को समुन्नत, सुसंस्कारी, सुविकसित बनाने के कर्तव्य को ही ध्यान में रख कर पारवारिक विधि-व्यवस्था निर्धारित की जाती है । उसने यह नहीं सोचा कि कौन राजी रहा, कौन नाराज हुआ ? चतुर माली अपनी दृष्टि से पौधों को काटता छाँटता, निराता, गोड़ता है, पौधों की मर्जी से नहीं । विवेकवान् गृहपति केवल एक ही दृष्टि रखता है कि परिवार को सुसंस्कारी और सुविकसित बनाने के लिए जो कठोर-कर्तव्य पालने चाहिए उनका पालन अपनी ओर से किया जा रहा है या नहीं । परिजनों की इच्छाओं का नहीं, उनके हित साधन का ही उसे ध्यान रहता है । आत्म-बोध के साथ परिवार के प्रति इसी दृष्टिकोण के अनुरूप आवश्यक हेर-फेर करना पड़ता है । तब वह मोह छोड़ता है और प्यार करता है । प्यार के आधार पर की गयी परिवार सेवा उसके स्वयं के लिए और समस्त परिवार के लिए परम-मंगलमय सिद्ध होती है ।

अपने शरीर के बारे में भी आत्म-बोध के प्रकाश में नयी रीति-नीति ही अपनानी पड़ती है । उसे वाहन उपकरण मात्र मानना पड़ता है । आत्मा की भूख के लिए शरीर से काम लेने और शरीर की लिप्सा के लिए आत्मा को पतन के गर्त में डालने की दृष्टि में जमीन आसमान जितना अन्तर है । शरीर और मन को मैं मान बैठने पर इन्द्रियों की वासनायें और मन की तृष्णायें ही जीवनोद्देश्य बन जाती हैं और उन्हीं की पूर्ति में निरन्तर लगा रहना पड़ता है, पर जब वह मान्यता हट जाती और अपने को आत्मा स्वीकार कर लिया जाता है तो मन को बलात् उस चिन्तन में नियोजित किया जाता है, जिससे आत्म कल्याण हो और शरीर से वह कार्य कराये जाते हैं जो आत्मा का गौरव बढ़ाते हों, उसका भविष्य उज्ज्वल बनाते हों ।

आत्म-बोध, एक श्रद्धा है । आत्म-साक्षात्कार एक दर्शन है, जिसे यदि सच्चाई के साथ हृदयंगम किया जाय तो दृष्टिकोण ही नहीं बदलता वरन् क्रिया-कलाप भी बदल जाता है । इस परिवर्तन को ही आत्मिक कायाकल्प कहते हैं । यह जिस क्षण भी सम्भव हो जाय, उसी दिन अपने में भारी शान्ति, संतोष, उल्लास और उत्साह दृष्टिगोचर होता है और लगता है मानो नरक से निकल कर स्वर्ग में आ गये ।

आत्म-बोध और आत्म-देव की उपासना

अपने को जान लेना सबसे बड़ा ज्ञान है । साधारणतया लोग अपना अस्तित्व शरीर और मन से बने कायकलेवर तक ही सीमित मानते हैं । वासना और तृष्णा की ही आकांक्षाएँ चित्त में उठती रहती हैं पेट और प्रजनन के लिए ही उसके क्रियाकलाप होते हैं । लोभ, मोह और अहंकार की पूर्ति से आगे का कोई पुरुषार्थ उससे बन ही नहीं पड़ता । इसका कारण अपने दिव्य अस्तित्व को मानव-जीवन की गरिमा को, सामने प्रस्तुत तथ्य को, न समझना ही होता है । इसी अज्ञान में भटकते हुए यह जन्म बीत जाता है और अन्ततः पछताने के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं रहता ।

आत्म-बोध को जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि माना गया है । जिसने अपने को जान लिया और जीवन-लक्ष्य की पूर्ति की आवश्यकता को समझ लिया, वह महामानव बनता है । देव-संज्ञा में सम्मिलित होकर अपना ही नहीं, अन्य असंख्यों का कल्याण करता है ।

अपने में ब्रह्मसत्ता ओतप्रोत है। उसे जागृत करना अपने में देवत्व तथा ईश्वरत्व का उदय करना है। आत्म-चेतना की शक्ति इतनी प्रचण्ड है कि वह जिधर मुड़ती-झुकती है, उधर ही प्रगति होती जाती है और वैसी ही परिस्थितियाँ बनती जाती हैं। बाह्य-जगत में जो कुछ भला-बुरा सामने है, उसका मूल उत्तरदायित्व अपनी मनःस्थिति पर ही होता है। हम सुधरे तो बाहरी परिस्थितियों को सुधरते देर न लगे। इस सत्य और तथ्य को जानने के उपरान्त ही आत्म-शोधन और आत्म-निर्माण की आवश्यकता अनुभव होती है। इस मार्ग पर चलते हुए ही जीवन लक्ष्य को प्राप्त कर सकना सम्भव होता है–

नानोपनिषदभ्यासः स्वाध्यायो यज्ञ ईरितः ।
ज्ञानयज्ञः स विज्ञेयः सर्वयज्ञोत्तमोत्तमः ।।

–शाट्यायनीयोपनिषद १६

आत्मज्ञान के स्वाध्याय को यज्ञ कहा गया है। ज्ञानयज्ञ समस्त यज्ञों में सर्वोत्तम है।

आत्मावलोकने यत्नः कर्त्तव्यो भूतिमिच्छता ।
सर्वदुःखशिरश्च्छेद आत्मालोकेन जायते ।।२।।

–योगवाशिष्ठ

जो अपना कल्याण चाहता हो उसे आत्म ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। दुःखों का नाश इसी से होता है।

एकः शत्रुर्नद्वितीयोऽस्ति–
शत्रुरत्तान तुल्यः पुरुषस्य राजन् ।
येन्नावृतः कुरुते संप्रयुक्तो–
घोराणि कर्माणि सुदारूणानि ।।

–महाभारत

इस संसार में मनुष्य का एक ही शत्रु है, उसके समान दूसरा कोई नहीं। यह शत्रु आन्तरिक-अज्ञान है। इसी से ग्रसित होकर मनुष्य दारुण कर्मों को करने लगता है।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।
आत्मात्मना न चेञ्त्रातस्तदुपायोऽस्ति नेतरः ।।
अभ्यासवै राग्ययुतादाक्रान्तेन्द्रियपन्नगात् ।
नात्मनः प्राप्यते यत्तत्प्राप्यते न जगत्वयात् ।
आराधयात्मनात्मानमात्मनात्मानमर्चयेत् :
आत्मनात्मानमालोक्य संतिष्ठस्वात्मनात्मनि ।।

सर्वेषामुत्तमस्थानां सर्वासां चिरसंपदाम् ।
स्वमनोनिग्रहो भूमिर्भूमिः रास्यश्रियामिव ।।

–योगवाशिष्ठ

आत्मा ही अपना बन्धु और अपना शत्रु स्वयं है। यदि अपना उद्धार आप नहीं किया जा सकता तो दूसरा कोई और उपाय नहीं है। अभ्यास, ज्ञान, वैराग्य और संयम से ही आत्मा की प्राप्ति होती है। वाह्य कर्मकाण्डों से नहीं। इसलिए आत्मा की ही पूजा करो, उसी की आराधना में लगो। उसी का दर्शन करके उसी में अवस्थित हो जाओ। जैसे भूमि से सब अन्न उत्पन्न होते हैं, उसी तरह परिष्कृत मनोभूमि से सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

खेदोल्लासविलासेषु स्वात्मकर्तृतयैकया ।
स्वसंकल्पे क्षयं याते सगतैवावशिष्यते ।। ३।।

–महोपनिषद् ६/३

खिन्नता और उल्लास की स्थिति उत्पन्न करना मनुष्य के अपने हाथ की बात है। यह तथ्य समझ लेने पर मन में शान्ति और समता ही शेष रह जाती है।

उत्थितानुत्थितानेतानिन्द्रयारीन् पुनः पुनः ।
हन्याद्विवेकादण्डेन वज्रेणेव हरिर्गिरीन् ।। २१ ।।

–महोपनिषद् ६/२१

मनोविकार भले ही छोटे हों या बड़े, यह शत्रु के समान हैं और प्रताड़ना के ही योग्य हैं। जिस प्रकार छोटा-सा इन्द्र-वज्र बड़े-बड़े पर्वतों को गिरा देता है, वैसे ही विवेक के प्रहार से इन शत्रुओं को निरस्त करना चाहिए।

कुम्भकारो घटमिव चेत्तो हन्ति करोति च ।
सर्व संकल्परूपेण चिच्चमत्कुरुते चिति ।।

–योगवाशिष्ठ

जैसे कुम्हार मिट्टी को तोड़ता और बर्तन बनाता रहता है। वैसे ही मन अपनी सृजन-शक्ति से अपनी अभीष्ट दुनियाँ रचता रहता है। जैसे स्वप्नों की रचना मन स्वयं ही करता है, वैसे ही अपनी दुनियाँ भी आप ही बनाता है।

फलं ददाति कालेन तस्य तस्य तथा तथा ।
तपो वा देवता वापि भूत्वा स्वैव चिदन्यथा ।
फलं ददात्यथ स्वैरं नभः फलनिपातवत् ।।

–योगवाशिष्ठ

जीव अपनी इच्छा से ही देवता, तपस्वी बनता रहता है। प्रगति और अवनति का आधार मनुष्य का अपना कर्त्तव्य ही है।

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयात्नेन शोधयेत् ।
याच्चित्तस्तन्मयो भाति गुह्यमेतत्सनातनम् ।। ६।।

—मैत्रेय्युपनिषद् १/६

जैसा अपना मन है, वैसा ही अपना संसार है इसलिए संसार को सुधारने की अपेक्षा अपने मन को सुधारना चाहिए। यह सनातन रहस्य है।

समासक्तं यदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे ।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बंधनात् ।।११।।

—मैत्रेय्युपनिषद १/११

मनुष्य का चित्त जितना बाहरी विषयों में संलग्न रहता है। उतना ही यदि ब्रह्म में रहने लगे तो सहज ही सब बन्धनों से छूट जाय।

मनो हि जगतां कर्तृ मनो हि पुरुषः स्मृतः ।
स्वरूपं सर्वकृत्वं च शक्तत्वं च महात्मनः ।।१।।
प्रतिभासमुपायाति यद्यदस्य हि चेतसः ।
तत्तत्प्रकटतामेति स्थैर्य सफलतामपि ।।३।।

—योगवाशिष्ट

मन ही आत्मा का दृश्य रूप है। वह जैसा चाहता है, वैसी अपनी दुनियाँ गढ़ लेता है। उसमें असीम शक्तियाँ सन्निहित हैं। चित्त में जैसी कल्पनाएँ उदय होती हैं संसार में परिस्थितियाँ भी वैसी ही बनने लगती हैं।

चित्त प्रवर्तते चित्तं चित्तमेव विमुच्यते ।
चित्तं हि जायते नान्यच्चित्तमेव निरूध्यते ।।४।।

—लंकावतार सूत्र

चित्त से ही प्रवृत्ति होती है, चित्त से ही निवृत्ति और चित्त से ही सब कुछ उत्पन्न होता है। चित्त से ही अवरोध होता है।

सर्वः स्वसंकल्पवशाल्लधुभवति वा गुरुः ।

सब कोई अपने संकल्पों के कारण ही छोटा अथवा बड़ा बन जाता है।

भजन्ते विश्वे देवत्वं नाम ऋतं सपन्तो अमृत मेवैः

—ऋग्वेद

अपने आचार-व्यवहार को श्रेष्ठ रखकर सभी कोई देवत्व को प्राप्त कर सकते हैं।

एनं मनोमणि ब्रह्मद् बहुपंकलंकितम् ।
विवेकवारिणा सिद्धयै प्रक्षाल्यालोकवान् भव ।

—महोपनिषद् ५/८३

मन रूपी मणि को विवेक-जल से स्वच्छ कर डालो। इसी से तुम्हें तेजस्वी सिद्धियाँ मिलेंगी।

मनुष्य हाड़-माँस का पुतला नही है, उसके कण-कण मे दिव्य तत्वों का समावेश है। ईश्वर की सत्ता उसमें समाई हुई है। ऋषियों और देवताओं का इसी काया में समावेश है। यदि उन्हें जान और समझ लिया जाय और अज्ञान का आवरण चीरकर आत्मज्ञान की आत्मकल्याण की साधना की जाय तो अपने भीतर ही वह सब कुछ मिल सकता है जिसकी हमें खोज हैं।

इस संदर्भ में आप्त वचन इस प्रकार मिलते हैं-

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे,
सप्त रक्षन्ति सर्व अप्रमादम् ।

—यजु. ३४/५५

शरीर में सात ऋषि निवास करते हैं वे प्रमाद रहित होकर सावधानी के साथ उसकी रक्षा करते हैं।

इमामेव गौतम भारद्वाजौ अयमेव गौतमोऽयं भारद्वाजः।
इमावेव विश्वामित्र जमदग्नि अयमेव विश्वामित्रेऽयं
जमदग्नि इमामेव वशिष्ठ कश्यपौ अयमेव वशिष्ठो,अयं
कश्यपो, वागेव अत्रि । वाचा ह्यन्नमद्येतऽत्रि ह्वै
नामेतद्यदत्रिरिति सर्वस्य अत्ता स्वाति ।

—वृहदारण्यक ३०/२/२/४

सीधा कान गौतम है, बाँया कान भरद्वाज। सीधी आँख विश्वामित्र, बाँई आँख जमदग्नि। दाँई नाक वशिष्ट, बाँई नाक कश्यप। वाणी अत्रि। जो खाता है, सो अत्रि है अति ही अत्रि है।

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे
प्रापसंतमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत् ता एनमब्रुवन्नयतनै नः
प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठता अन्नमदामेति ।।१।।
ताभ्यों गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति
ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ।। २।।
ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन्न सुकृतं बतेति ।
सुरुषोवाव सकृतम्। ता अब्रवीद्यथायतनं प्रविशतेति ।। ३।।

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके
प्राविशदादित्यश्चक्षूभूंत्वाक्षिणी प्राविशादृशः श्रोत्रं भूत्वा

कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चंद्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपाना भूत्वा नाभि प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नंप्राविशन् ।। ४।।

परमात्मा ने देवताओं को इस संसार में भेजा । उनमें भूख, प्यास और अनुभूति उत्पन्न की । देवताओं ने परमात्मा से कहा हमारे लिए शरीर-निर्माण करो । जिंनमें रहकर हम अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण करें । परमात्मा ने उन्हें गौ, अश्व आदि के शरीर दिखाये, जिसे उन्होंने अनुपयुक्त बताया । तब परमात्मा ने उन्हें मनुष्य देह दिखायी । देवतओं ने कहा–हाँ, यही बहुत ठीक और सुन्दर है ।तब परमात्मा ने कहा–अपने-अपने उपयुक्त स्थानों में घुस जाओ । तब अग्नि वाणी बनकर मुख में, वायु प्राण बनकर नासिका में, सूर्य नेत्रों में, दिशाएँ कानों में, औषधि त्वचा में, चन्द्रमा मन बनकर हृदय में, यम अपान बनकर नाभि में और वरुण रेतस् बनकर जननेन्द्रिय में प्रविष्ट हुआ ।

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्मार्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुर्लिंगा ।। १ ।।

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अत्रं जुह्वति तस्या आहुते रेतः सम्भवति ।। २।।

–छान्दोग्य ५/७/१२

यह पुरुष की अग्नि है । वाणी समिधा है । प्राण धुआँ है । जिह्वा ज्वाला है । नेत्र अङ्गार हैं । कान चिनगारियाँ । इस अग्नि में देवगण हवन करते हैं और उससे पराक्रम उत्पन्न होता है ।

आत्म-चिन्तन को ज्ञान-तप कहा गया है और आत्म-निर्माण को आध्यात्मिक अग्हिोत्र । बहिर्जगत में स्वाध्याय, सत्संग को ज्ञान का आधार माना गया है । किन्तु अन्तर्जगत में आत्म-चिन्तन को ज्ञानदेव की, आत्मदेव की आराधना माना है । अपनी अन्तः स्थिति में उत्कृष्ट-तत्वों की स्थापना करके हम आत्मदेव की आराधना करते हैं । आत्मदेव को तत्व-दर्शन ने सर्वोच्च उपास्य माना है और उसकी आराधना का निर्देश किया है–

अव्युत्पन्नधियो ये हि बालपेलवचेतसः ।
कृत्रिमार्चामयं तेषां देवार्चनमुदाहृतम् ।।
संवेदनात्मकतया गतया सर्वगोचरम् , ।
न तस्याह्वानमंत्रादि किंचिदेवोपयुज्यते ।।
न दीपेने न धूपने न पुष्पविभवार्पणैः ।
नान्नदानादिदानेन न चन्दन विलेपनैः ।।
न च कुंकुमकर्पूरभो गैश्चित्रैन चेतरैः ।
शमबोधादिभिः पुष्पैदव आत्मा यदर्च्यते ।
तत्तु देवार्चनं विद्धि नाकारार्चनमर्चनम् ।

–योगवाशिष्ठ

जिनकी बुद्धि चैतन्य नहीं हुई है, चित्त चंचल है, उनके लिए बाहरी देवार्चन कृत्रिम रूप से बनाया गया है ।

जो परमदेव सब जगह मौजूद है और ज्ञानरूप में सब प्राणियों के भीतर विद्यमान है, उसके लिए मन्त्रोनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है ।

आत्मदेव की पूजा के लिए दीपक, धूप, पुष्प, नैवेद्य, चन्दन, प्रदक्षिणा, केशर, कपूर आदि की आवश्यकता नहीं होती है ।

शम और बोध की पुष्पांजलि से आत्मदेव की आराधना ही सच्ची पूजा है ।बाह्य आकृतियों का पूजन अवास्तविक है ।

तस्य निश्चिन्तनं ध्यानम्ःसर्वकर्म निराकारणमावाहनम् । निश्चलज्ञानमासनम् । समुन्मनं भावः पाद्यम् । सदामनस्कमर्यम्। सदादीप्तिराचमनीयम् । वराकृतप्राप्तिः स्नानम् । सर्वात्मकत्वं दृश्यविलयो गन्धः । दृगविशिष्टात्मानः अक्षतः। चिदादीप्तिः पुष्पम् । सूर्यात्मकत्वं दीपः। परिपूर्णचन्द्रातृतरसैकीकरणं नैवेद्यम् । निश्चलत्वं प्रदक्षिणम्। सोऽहंभावो नमस्कारः । परमेश्वरस्तुतिर्मोनम् । सदासन्तोषी विसर्जनम् । एव परिपूर्णराजयेगिनः सर्वात्मकपूजोपचारः स्यात् । सर्वात्मकत्वं आत्माधारो भवति । सर्वनिरामयपरिपूर्णोऽहमस्मीतिमुमृक्षणां मोक्षैकसिद्धिर्भवति इत्युपनिषत् ।।

–आत्म पूजोपनिषद

आत्मा का ध्यान–उसका निरन्तर चिन्तन ही है । स्थिर ज्ञान ही उसका आसन है । उन्मन पाद्य है । तन्मयता अर्ध्य है । निष्ठा आचमन है । समर्पण स्नान है । लय गन्ध है । अन्तर्दृष्टि अक्षत है । विश्वास पुष्प है । अन्तः प्रकाश दीपक है । शान्ति नैवेद्य है । श्रद्धा प्रदक्षिणा है 'सोऽहं भाव' नमस्कार है । मीन ही स्तुति है । संतोष विसर्जन है । यह आत्म-पूजा ही सर्वात्मा की सच्ची पूजा है । मैं परिपूर्ण निरामय ब्रह्म हूँ, यह मान्यता ही मोक्ष तक पहुँचाती है । यही उनपिषद है ।

अस्य शरीरयज्ञस्य यूपरशनाऽशोभितस्यात्मा,यजमान बुद्धिः पत्नी वेदा महऋत्विजः अहङ्कारोऽ ध्वर्यु चित्तं होता प्राणो ब्रह्मणाच्छसी अपानः पतिप्रस्थाता व्यानः प्रस्तोता उदान उद्‌गाता समानो मैत्रा-वरुणः शरीर वेदिः नासिकाऽन्तर्वेदिः मूर्धा द्रोणकलशः पादो रथः दक्षिणहस्तः स्रुवः सव्य आज्यस्थाली श्रोत्रे आधारौ चक्षुषी आज्यभागौ ग्रीवा धारा पोता तन्मात्राणि सदस्याः महाभूतानि प्रयाजाः गुणा अनुयाजाः जिह्वोडा दन्तोष्ठौ सूक्त वाचः तालुः शंयोर्वाकः स्मृतिदया क्षान्तिरहिंसा पत्नीसंयाजाः ओंकारो यूपः आशा रशना मनोरथः कामः पुशः केशा दर्भाः इन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि कर्मेन्द्रियाणि हवींषि अहिंसां इष्टयः त्यागो दक्षिणा अवभृथं मरणात् सर्वाण्यस्मिन् देवता शरीरेऽधिसमाहिताः।।

—प्राणग्नि-होत्रोपनिष्द

इस जीवन-यज्ञ की आत्मा—यजमान, बुद्धि—यजमान, पत्री, वेद-ऋत्विक्, अहं-अध्वर्यु, चित्त—होता, प्राण—ब्रह्मणच्छमी, अपान-प्रति प्रस्थाना, व्यान-प्रस्तोता, उदान-उद्‌गाता, समान-मैत्रावरुण, शरीर-वेदी, नासिका—अन्तवेदी, सिर-द्रोण-कलश, पैर-रथ, दाहिना हाथ-स्रुवा, बांया हाथ-घृत-पात्र, कान-आधार, नेत्र-आज्य भाग, गर्दन-धारा, तन्मात्राएँ-सदस्य, पंचभूत-प्रयाजा, जीभ-इडा, दाँत होठ—सूक्त, वाक-तालु शयोर्वाक, स्मृति -दया, ऊँकार-यूप, आशा-रसना, काम-पशु, काल-कुशाएँ, ज्ञानेन्द्रियाँ-यज्ञ-पात्र, कर्मेन्द्रियाँ-हवि, अहिंसा-इष्टियाँ मृत्यु-अवभूत स्थान है। यह यज्ञ पूर्ण फलदायक है, इसमें सभी देवता समाहित हैं।

आत्म-बोध की ज्ञान-साधना और आत्म-कल्याण की कर्म-साधना से निरत रहकर हम जीवनोद्‌देश्य की पूर्ति कर सकने में निश्चयपूर्वक सफल हो सकते हैं।

आत्मबोध—एक दिव्य वरदान

आत्म विस्मृति से उबरकर स्वयं को जान लेना सबसे बड़ी उपलब्धि है। साधारणतया लोग अपना अस्तित्व शरीर और मन से बने काय-कलेवर तक ही सीमित मानते हैं। वासना और तृष्णा में ही उलझा चित्त इससे ऊपर कुछ सोच भी नहीं पाता। सारे क्रिया-कलाप मात्र पेट, प्रजनन के लिए होते हैं। इसका एकमात्र कारण है, अपनी गरिमा को, देवत्व को भुला देना। ईश्वर के युवराज के रूप में अवतरित मनुष्य मार्ग पर चलते हुए भटक जाता है। अज्ञानान्धकार में भटकते-भटकते यह जीवन तो बीत जाता है और अन्ततः पछताने के अतिरिक्त कुछ और हाथ नहीं लगता।

इसीलिये आत्म-तत्व की गहराई को समझना सबसे बड़ी उपलब्धि माना गया है। जिसने स्वयं को जानकर जीवन लक्ष्य की पूर्ति की आवश्यकता को समझ लिया, वह महामानव बनता है और देव समुदाय में सम्मिलित होकर अपना ही नहीं अन्य असंख्यों का कल्याण भी करता है। अपने में ओत-प्रोत ब्रह्मसत्ता को जाग्रत करना और स्वयं में देवत्व तथा ईश्वरत्व का उदय करना ही आत्म बोध की परिणति है और यह आत्मबोध ही ज्ञान साधना का चरम लक्ष्य है, जिसने अपने आप को जान लिया, उसने संसार को इच्छानुकूल बनाने और पदार्थों तथा प्राणियों को उल्लास प्रदान कर सकने का मार्ग हस्तगत कर लिया।

दर्पण में अपनी ही छाया दिखायी पड़ती है, जैसे भी कुछ भले बुरे हम हैं, उसी के अनुरूप यह विशालकाय दर्पण-संसार हमें दृष्टिगोचर होता है। अज्ञानवश हम बाह्य परिस्थितियाँ अथवा बाहरी व्यक्तियों को अपने सुख दुःख का, उत्थान-पतन का कारण मानते हैं, पर वास्तविकता इस मान्यता से सर्वथा भिन्न है। जिस प्रकार समुद्र की अगणित लहरों पर एक ही चन्द्रमा के अगणित प्रतिविम्ब दिखायी पड़ते हैं, उसी प्रकार संसार के अगणित प्राणियों एवं पदार्थों पर अपनी ही मान्यताएँ क्रियायें, अपनी ही भावनाएँ और प्रवृत्तियाँ थिरकती दिखाई पड़ती हैं।

दृष्टिकोण का दोष-दूषण जगत में प्रतिविम्बित प्रतिध्वनित होता है। इसलिए तत्वदर्शी सदा से यह कहते रहे हैं कि बाह्य परिस्थितियों में यदि सुधार करना हो तो उसका प्राथमिक सुधार आत्म-परिष्कार से आरम्भ करना चाहिए।

आत्म-परिष्कार का प्रयास आरम्भ करने से पूर्व अपना स्वरूप समझना होता है और किस प्रकार अपना आपा बाह्य जगत पर प्रतिविम्बित होता है, इस तथ्य को हृदयंगम करने की आवश्यकता पड़ती है। यही आत्म ज्ञान है। इसी को आत्म-बोध कहते हैं।आध्यात्म विज्ञान का समस्त आवरण इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए विनिर्मित हुआ है कि मनुष्य अपने को जाने और उस तथ्य के

आधार पर अपने चिन्तन एवं क्रिया-कलाप का नये सिरे से निर्धारण करे । आत्मदेव की साधना इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर की जाती है ।

इसी तथ्य को तत्वदर्शियों ने अनेक शास्त्रों में अनेक प्रकार से लिखा, कहा है । जिस प्रकार अक्षर ज्ञान अ, आ, इ, ई से आरम्भ होता है, उसी प्रकार आत्मोकर्ष, आत्म-साक्षात्कार और आत्म-कल्याण की ब्रह्म विद्या का, साधना विज्ञान का आरम्भ भी आत्म-बोध से होता है । अपने आपको जानने के लिए, गम्भीर चिन्तन, मनन अध्ययन और निदिध्यासन करने के लिए अग्रसर होने का निश्चय ही आत्म-साधना का, उपासना, तपश्चर्या और योग साधना का प्रथम द्वार सोपान है । शास्त्रकारों का इस सन्दर्भ में निर्देश, परामर्श इस प्रकार है-

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानमानन्दं पदाप्स्यसिं ।

–महोपनिषद् ६/७८

अर्थात्–समस्त आध्यात्म शास्त्रों का सार इतना भर है, कि विषयों से मुक्त चित्त ही आत्मा है । सो स्वच्छ अन्तःकरण द्वारा अपने आपे को ही देखो ।

आत्मनि रक्षते सर्वं रक्षितं भवति ।
आत्मायत्तौ वृद्धि विनाशौ ।।

–चाणक्य सूत्र १/८२,८३

अर्थात्-अपनी रक्षा करने से सबकी रक्षा होती है । वृद्धि या विनाश करना अपने हाथ की बात है ।

अपने आपको सत्-चित् आनन्द परमात्मा का स्वरूप माना जाना चाहिए और काय-कलेवर के साथ जुड़े हुए इन्द्रिय समूह को मन, बुद्धि, चित्त अहंकार के अन्तःकरण चतुष्ट्य को अपना वाहन, उपकरण, सेवक स्तर का प्रयोग साधन मात्र मानना चाहिए । इस मान्यता की जितनी परिपक्वता होती है, आत्म और अनात्म का भेद जितनी गहराई तक अन्तःकरण में निष्ठा बनकर प्रतिष्ठित होता है, उतने ही अंशों में आत्म-बोध प्राप्त हुआ समझा जाना चाहिए ।

मनुष्य प्रायः भ्रमग्रस्त स्थिति में ही रहता है । जीवन अपने को शरीर मात्र अनुभव करता है और उसी के सुख साधन जुटाने में जीवन सम्पदा को नियोजित किये रहता है । ऐसे ज्ञानवानों को भी अज्ञानी ही कहना चाहिए ।आत्म-बोध का उदय आत्म तत्व की स्पष्ट एवं सघन मान्यता से ही आरम्भ होता है और वह मान्यता इतनी प्रबल होती है कि आत्मज्ञानी अपने चिन्तन एवं क्रिया-कलाप को आत्मानुगामी, परमार्थ परायण बनाये बिना रह ही नहीं सकता । ऐसे ही यथार्थ आत्मज्ञान का स्वरूप समझाते हुए ईशोपनिषद् में कहा गया है । "ज्ञान और अज्ञान के, अवलम्बन के परिणाम अत्यन्त भिन्न हैं । यह अनुभव हमने उनसे सुना है, जिन्होंने तत्व का गहन अवगाहन किया है ।"

त्वं राजा सर्वलोकस्य पित्रो रिपो रिपुः ।
यत्न्याः पतिः पिता सूनो कस्त्वां भूप वदाम्यहम्।।३६।।
त्वं किमेतच्छिरः कि तु शिरस्तव तथोदरम् ।
किमु पदादिकं त्वं तवैतत्किं महीपते ।।३७।।
समस्तावयवेभयस्त्वं पृथम्भूतो व्यवस्थितः ।
कोऽहमित्यत्र निपुणं भुत्वा चिन्तय पार्थिव ।।
तच्छु त्वोच राजा तमवधूत द्विजं हरिम्।।३८।।

–अग्नि पुराण

अर्थात्–तू इस विश्व बसुधा का शासक है ।पिता का पुत्र है । शत्रु का शत्रु है । पत्नी के लिए पति है । पुत्र के लिए पिता है । बता तुझे मैं क्या कहकर पुकारूँ ?

क्या तू सिर है नहीं, सिर तो तेरा है । क्या तू पेट है नहीं, पेट तो तेरा है । क्या तू पैर है–नहीं, पैर तो तेरा है ? यह समस्त अंग तेरे उपकरण मात्र हैं । तू इससे कुछ पृथक ही है । हे मिट्टी के पुतले ! "मैं कौन हूँ, इस पर अत्यन्त गम्भीरता और सावधानी के साथ विचार कर ।"

नाहं पदार्थस्य न मे पदार्थ इति भावते ।
अन्तःशीतलया बुद्ध्या कुर्वतो लीलया क्रियाम् ।

–महोपनिषद् ६/४३

अर्थात्-न मैं इन पदार्थों का हूँ और न ये मेरे हैं । अन्तःकरण में शांति और प्रफुल्लता प्राप्त हो, हे ईश्वर मेरी यही प्रार्थना है ।"

आत्मा का विकसित, परिष्कृत रूप ही परमात्मा है । जीव की सुविकसित स्थिति का नाम ही ब्रह्म है । अज्ञानजन्य अन्धकार मैं निवृत्त हो जाने का नाम ही आत्म-साक्षात्कार अथवा ईश्वर दर्शन है । यह प्रक्रिया अपने से बाहर संसार में अन्यत्र कहीं सम्भव नहीं । तीर्थ, गुरु, सत्संग आदि से मार्ग दर्शन एवं प्रोत्साहन भर

मिलता है। अभीष्ट वस्तु की उपलब्धि तो अपने भीतर अन्तःकरण में ही होती है। तप करने से लेकर ईश्वर दर्शन करने तक का प्रयोजन पूर्ण करने के लिए हृदय गुफा रूपी तीर्थ को, तपोवन को ही एकमात्र उपयुक्त स्थान माना गया है।

हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः
हृदि प्राणश्य जयोतिश्च त्रिवृत्सूत्रं च तद्विदुः ।
हृदि चैतन्येतिष्ठति ।।

–ब्रह्मोपनिषद

अर्थात्–हृदय में समस्त देवता निवास करते हैं। हृदय में ही प्राण और प्रकाश है। परमात्मा के इन तीन आधारों की अभिव्यक्ति के लिए यज्ञ सूत्र यज्ञोपवीत पहना जाता है।”

हृदय में परब्रह्म का निवास है। यह तथ्य यज्ञोपवीत प्रकट करता है। जो इस तथ्य को जानता है वही देवज्ञ ब्राह्मण है।”

नवद्वारे पुरे देहि हँसो लेलयात बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च।।१८।।

–श्वेताश्वेतर

अर्थात्–सम्पूर्ण स्थावर-जंगम विश्व का नियामक परमेश्वर नौ द्वार वाले देह रूप पुर में स्थित में निवास करता और बाह्य संसार में भी वही क्रीड़ा कर रहा है।

तस्मादिदं गुहेव हृदयम् ।

–शतपथ ११/२/६/५

अर्थात्–यह हृदय की गुफा है।

अणोरणीयान् महतो महीया-
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको,
धातुः प्रसादान्महिमा महात्मनः ।।

–कट २१२०

अर्थात्–छोटे से भी वह छोटा है बड़े से भी बड़ा है, इस जीव की हृदय रूपी गुफा में भी वह विराजमान है। उस परमात्मा की महिमा को उसी परमात्मा की कृपा से कामना शून्य वीतशोक पुरुष देखते हैं।

वस्तुतः इस आत्म गुहा में आश्रय वाले उस परम पुरुष-विश्वरूप-हिरण्यमय तथा बुद्धिमानों की परागति के स्वरूप वाले आत्मा को जो जानता है वही बुद्धिमान है और वह बुद्धि का अतिक्रमण करके ही स्थित रहा करता है। यह शास्त्र वचन हर क्षण एक ही सत्य का प्रतिष्ठापन करता है। वह उद्घोष करता है कि अपने को परमात्मा का अविनाशी अंश मानकर जीवन नीति निर्धारण करना ही जीवन मुक्ति का एकमात्र साधन है। इसके विपरीत जो शरीराभ्यास में क्रीड़ा-कल्लोल में निमग्न रहकर अपने आपको देहधारी मात्र मानते हैं और भौतिक सुखों के लिए आत्म-कल्याण की अभीष्ट गतिविधियाँ अपनाने से इन्कार करते हैं, उन्हें आत्महंता, माया मोहग्रस्त अज्ञानी जीव कहा गया है। शास्त्रों में ऐसे पथभ्रष्ट लोगों की भर्त्सना ही की गयी है एवं सत्पथ अपनाने वालों की प्रशस्ति कर उन्हीं का अनुगमन करने का निर्देश दिया गया है।

तथ्य यह है कि आत्म ज्ञान प्राप्त मनुष्य का घर ही तपोपन बन जाता है। अन्तर की महानता घर-परिवार से लेकर समीपवर्ती कार्य व्यवसाय में भी आनन्द, उल्लास का, उत्कृष्टता का वातावरण उत्पन्न करती है और उन परिस्थितियों में रहता हुआ मनुष्य श्रेष्ठ बनता है और अपने आपको सब प्रकार धन्य हुआ अनुभव करता है।

वसिष्ठोस्मि वरिष्ठोऽस्मि वसे वासगृहेष्वपि ।
वसिष्ठत्वाच्च वासच्य वसिष्ठ इति विद्धिमाम् ।।

–महाभारत

अर्थात्–“घर में रहते हुए भी मैं वशिष्ठ हूँ। सब में बसा हुआ हूँ। सब मुझमें बसते हैं। इससे मैं वशिष्ठ हूँ।”

यह विशिष्टता, मानवी जीवन की श्रेष्ठता ही मानव को वशिष्ठ का ऋषि पद देती है एवं उसे गौरवान्वित करती है। मनुष्य की चरमोपलब्धि यही है–आत्म ज्ञान। जिसे वह प्राप्त हो गया, उसे ऋषि स्तर पर पहुँचा माना जाना चाहिए और यह स्थिति तभी प्राप्त हो सकती है, जब मनुष्य अपनी आत्मा की पुकार को भी सुने। शास्त्रों में कहा गया है–

मन्येत कर्त्तारं सुखदुः खयोः ।

–चरक

मनुष्य को चाहिए कि वह अपने को ही सुख और दुःख का कर्ता समझें।

आत्मानं विद्धि ।

आत्मा को जानो

आत्मानंमुपास्व ।

आत्मा की उपासना करो ।

कोऽहं कथमिदं किंवा कथं मरणजन्मनी ।
विचारयान्तरेवं त्वं महात्तामलमेष्यसि ।।५।५८।३२

–योगवशिष्ठ

मैं कौन हूँ ? यह जीवन क्यों है ? क्या है ? कैसें हैं ? जन्म और मरण का प्रयोजन क्या है ? इन प्रश्नों पर गम्भीरता से विचार करने वाला महानता को प्राप्त करता है ।

स्ववासनादशावेशाद्दाशाविवशतां गताः ।
दशास्वतिविचित्रासु स्वयं निगडिताशयाः ।।४।४३।३
स्वसंकल्पानुसन्धानात्पाशैरिव नयन्वपुः ।
कष्टमस्मिन्स्वयम्बन्धमेत्यात्मा परितप्यते ।।४।४२।३२
स्वसंकल्पितन्मात्रज्वालाभ्यन्तरवति च ।
परां विवशतामेति शृंखलाबद्धसिंहवत् ।।४।४२।३४

जीव जो चाहता है, सो अपने आप ही उपलब्ध कर लेता है । प्रत्येक जीव में, सृजन की चित्‌शक्ति विद्यमान हैं ।

कभी तप के रूप में, कभी देवता के रूप में स्वयं आत्मा ही अपनी इच्छाएँ आप पूरी करती हैं ।

यहाँ कोई दूसरा हमारे भाग्य का निर्माता नहीं है । कोई वस्तु ऐसी नहीं जो सत्कर्म और शुद्ध पुरुषार्थ से प्राप्त न हो सके ।

सर्वशक्तिमयो ह्यात्मा यद्यथा भावयत्यलम् ।
तत्तथा पश्यति तदा स्वसङ्कल्पविजृम्भितम् ।।

–योगवाशिष्ठ६-१/३३/४/१

यह आत्मा समस्त शक्तियों से सम्पन्न है यह अपनी संकल्प शक्ति से अपनी आवश्यकताएँ आप पूरी कर लेती है ।

अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव ।
ऊर्ध्वपवित्रे वाजिनीव स्वमृतसस्मि। द्रविण सवर्चसम् ।
सुमेधा अमृतोक्षितः । इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम् ।।

–तै.उप.१/१०

मैं इस संसार अथवा जीवन वृक्ष को हिलाने चलाने वाला हूँ । मेरी कीर्ति पर्वत के समान ऊँची है । मैं वह सूर्य हूँ जिससे ज्ञान का पवित्र प्रकाश उदय हुआ है । मैं वह हूँ जिसे तात्विक अमृत कहते हैं । मैं दीप्तिवान सम्पदा हूँ । तत्ववेत्ता त्रिशंकु ने वेद शिक्षा का सार यही बताया है ।

चिदानन्दोऽस्म्यहं चेताश्चिद्धनश्चिन्मयोऽस्म्यहम् ।
ज्योतिर्मयोऽस्म्यहं ज्यायान् ज्योतिषां ज्योतिरस्म्यहम्।।६५।।

–ब्रहमोपनिषद

मैं चिदानन्द हूँ । चेतन हूँ चिद्‌घान और चिन्मय हूँ । ज्योतिर्मय हूँ । ज्योतियों में श्रेष्ठ ज्योति हूँ ।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

–गीता

इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र और कोई वस्तु नहीं है ।

ज्ञानतः सुलभः मुक्तिर्भुक्तिर्यज्ञादि पुण्यतः।

ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है और यज्ञादि पुण्यकर्मो से सांसारिक सुख प्राप्त होते हैं ।

न बिना ज्ञानविज्ञाने मोक्षस्याधिगमो भवेत् ।

बिना ज्ञान और विज्ञान के मोक्ष प्राप्त नहीं होता ।

आत्म-साक्षात्कार—आत्म-बोध

दूध में घी होता है, पर दीखता नहीं । मथानी से उसे विलोने के उपरान्त मक्खन अलग निकल आता है और छाछ अलग पड़ी रह जाती है । फूल का रूप तो दीखता है, पर गन्ध नहीं । इत्र निकालने के उपरान्त वह गन्ध निथर कर ऊपर आ जाती है और फटी-टूटी पंखुरियाँ अलग से पड़ी रहती हैं । यह मंथन क्रिया ही साधन है, जिसमें 'स्व' और 'पर' के पृथक्करण का बोध होता है । सामान्यतया मनुष्य शरीर के रूप में ही दीखता है । बहुधा तो वस्त्र-पोशाक ही दीख पड़ती है । काया के दबे हुए अवयव भी दीख नहीं पड़ते । कलेवर दीखता है, प्राण नहीं । मरण के उपरान्त दोनों बिलग हो जाने पर वस्तु-स्थिति समझ में आती है । जीवन के दिनों में ही दीखता शरीर ही सब कुछ है और दूसरों को ही नहीं अपने को भी ऐसा ही लगता है, पर इस एकीकरण में भ्रम ही प्रबल है, वास्तविकता नगण्य । घोंसले में भी पक्षी बैठा रहता है, घोंसला दीखता है, पक्षी नहीं । पर जब वह उड़कर आकाश में स्वच्छन्द विचरता है तो प्रतीत होता है कि घोंसला जैसा कि एक समग्र इकाई के रूप में दीखता था, बात वैसी भी नहीं । उसके भीतर एक पक्षी भी बैठा था ।

भौतिक ज्ञान के आधार पर हम शरीर में पूरी तरह रम जाते हैं और अपने को आच्छादन में सीमाबद्ध समयबद्ध समझते हैं । शरीर और आत्मा की पृथकता की बात तो कथा-सत्संगों में सुनते रहते हैं । किसी की चिता जलाने जब मरघट में जाते हैं और उसका श्राद्ध-तर्पण करते हैं, तब भी कुछ-कुछ ऐसा ही लगता है कि प्राणी और शरीर में पृथकता है, पर इस जानकारी को दूसरों तक ही सीमित समझते हैं । अपने सम्बन्ध में मान्यता अत्यन्त गहराई तक परिपक्व हो जाती है कि हम शरीर ही हैं, शरीर रूप में ही सदा बने रहेंगे । जब भी कोई योजना बनाते हैं, तो वह शरीर सम्बन्धी ही होती है । हानि-लाभ का लेखा-जोखा लेते हैं, तो भी वे तथ्य शरीर को प्रभावित करने के कारण ही भले-बुरे लगते हैं । शरीर को जो सुविधा पहुँचाते, प्रसन्नता देते, अपने लगते हैं, उन्हीं के साथ आत्मभाव जुड़ता है । इसके अतिरिक्त और सब विराने लगते हैं । विरानों से कुछ मतलब रखने की, उनके सुख-दुःख की परवाह करने की इच्छा नहीं होती । शरीर में इतनी गहराई तक रम जाने का परिणाम है कि परायों के साथ अनीति बरतने में भी अपने को कोई कष्ट नहीं होता और न अपनों के साथ पक्षपात करने में कुछ अनुचित प्रतीत होता है । काया को सुखी समुन्नत बनाने के लिए ही हमारे समस्त प्रयास चलते हैं और उन्हीं में सफलता-असफलता मिलने पर प्रसन्नता-अप्रसन्नता का अनुभव होता है । यही उपक्रम है जो दुनियादारों द्वारा अपनाया जाता है । उनका सोचना और करना इसी के निमित्त होता है ।

यहाँ सबसे बड़ी भूल एक ही होती है कि अपने आपे को भूल जाते हैं, जब आत्मसत्ता का विस्मरण ही हो गया तो उसके स्वरूप, लक्ष्य, दायित्व, उत्कर्ष आदि की बात कोई क्यों सोचे ? देखा जाता है कि लोगों में से अधिकांश इस सन्दर्भ में कुछ सोचते-समझते भी नहीं । कोई ज्ञानी इस रहस्य को गम्भीरतापूर्वक समझाता भी नहीं । जो कहा जाता है उसका सारांश इतना ही होता है कि भजन-पूजन या अन्य धार्मिक कर्मकाण्ड करने से ईश्वर प्रसन्न होता है । मरने के बाद अपने गाँव में बुलाकर विपुल सुविधा-साधन सौंप देता है । तब भी शरीर यहीं रहता है । स्वर्ग के उपभोग भी इसी शरीर द्वारा भोगे जाते हैं । कथा-वार्ताओं में जो सुनने को मिलता रहता है, उसका सारांश प्रायः इसी प्रकार समझा जाता है ।

इसी भ्रान्ति को 'माया' कहते हैं । कहा जाता है कि जीव माया के बन्धनों में बँधा हुआ है और भवसागर में डूबता-उतराता है । यह भव-सागर या माया-पोश और कोई नहीं, एक ही है कि हम शरीर में साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं । वही हम हैं और हमारा वही एक है । इस समझ के दूरगामी परिणाम होते हैं । मनुष्य कायिक सुख और उसके साथ जुड़े हुए सम्बन्धियों के हित-साधन के अतिरिक्त उसे और कुछ सूझता ही नहीं । हित किस प्रकार का—इस सम्बन्ध में भी अपनी दृष्टि इतनी ही दूर तक जाती है, जिसमें सम्पदा, विलासिता और अहंकार की अधिकाधिक अनुभूति बन पड़े । ऐसा चिन्तन असीम चाहता है । सृष्टि-व्यवस्था में सबको सीमित ही मिलता है । इस कारण अपने लिए, अपनों के लिए जिस असीम की चाहना होती है, उसकी आंशिक पूर्ति भी अनीति अपनाये बिना, दूसरों के हितों पर कुठाराघात किये बिना बन पड़ना सम्भव नहीं । अनीति अपनाने पर, आत्मिक एवं सामाजिक संकट उत्पन्न होते हैं । ऐसी दशा में वह तथाकथित हित-साधन भी प्रत्यक्ष या परोक्ष संकटों से भरा होता है, किन्तु परिणाम की बात कौन सोचे ? तात्कालिक लाभों वाली संकीर्ण स्वार्थपरता ही जब विचारणा और कार्य पद्धति के साथ घुल जाती है, तो अनीति भी अभ्यास में घुल जाती है और वह भी स्वाभाविक प्रतीत होने लगती है । यही है सामान्य जीवन का उपक्रम, जिसके आधार पर अधिकांश लोग अपनी गाड़ी धकेलते हैं ।

इस दयनीय एवं अवांछनीय स्थिति को देखते हुए शास्त्रकारों ने आध्यात्म विज्ञान का सबसे महत्त्वपूर्ण आधार यह बताया है कि अपने को जानो, अपने को समझो, अपने को देखो और अपने कल्याण के निमित्त प्रयत्न करो । यहाँ अपनेपन का तात्पर्य उस आत्मा से है जिसकी चर्चा तो बहुत होती है, पर उसे देखने, समझने का कोई प्रयत्न नहीं करता । आत्म विस्मृति ही आध्यात्म धर्म में सबसे बड़ा दुर्भाग्य माना गया है और उससे छूट सकने को परम पुरुषार्थ या परम सौभाग्य कहा गया है । भेड़ों के बीच पले सिंह-शावक की जब असली सिंह से भेंट हुई, तो उसने समझा कि मेरा वास्तविक

रूप कुछ और है, वैसा नहीं, जैसा कि समुदाय के बीच रहते हुए मैंने समझा या माना है ।

कथा है कि दस मूर्ख कहीं मेला देखने गए । सोचा कि भीड़ में कोई खो न जाय, इसलिए गिनती कर ली जाय । गिने गये तो दस थे । साथ-साथ लौटे तो गिनने पर नौ निकले । तभी बैठकर रोने लगे । किसी समझदार ने कारण पूछा । उन्होंने एक के खो जाने की बात कही । पर वे थे तो पूरे । समझदार ने सबके सिर में एक-एक चपत लगायी और गिनती गिनी तो वे बड़े प्रसन्न हुए और समझादार के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए घर लौटे । वस्तुतः यह हो रहा था कि मूर्खों में से प्रत्येक औरों को गिन लेता था, पर अपने को नहीं गिनता था । इसी की गड़बड़ी थी । भ्रम निकल गया, तो रोना-धोना बन्द हुआ और प्रसन्नता फूट पड़ी । यही स्थिति हम सब की है । अपने को, अपनी आत्मा को, उसके हित को नहीं पहचानते और अपने उच्चस्तरीय स्वरूप और कर्त्तव्यों का ध्यान ही नहीं रहता । मानवी गरिमा स्मृति से उतर जाती है और यह सोचते नहीं बनता कि अपना वास्तविक स्वार्थ, जिसमें सबका स्वार्थ समाया हुआ है, वह परमार्थ कितना आवश्यक और कितना सुखद है ।

इस भ्रान्ति के निवारण का उपाय है कि हम मृत्यु का नित्य स्मरण करें । रात को सोते समय तो निश्चित रूप से । किसी विज्ञजन का कथन है कि "दिन ऐसा बिताओ जिससे निश्चिन्तता की गहरी नींद आये और रात इस प्रकार बिताओ, जिससे दिन में मुँह दिखाने लायक बने रहो ।"

अपना स्वरूप जानने पर भगवान बुद्ध सामान्य राजकुमार से भगवान हो गये थे । जिस पीपल के पेड़ के नीचे उन्हें आत्मज्ञान हुआ था, वह बोधि वृक्ष कहलाया और उसकी टहनियाँ भी बौद्ध देशों में पवित्र देवालय की तरह स्थापित की गई । आत्म बोध हुआ या नहीं, इसकी एक ही पहचान है कि जीवनक्रम मोहग्रस्तों की तरह व्यतीत हो रहा है या उसमें उत्कृष्टता का आदर्शवादिता का पुट लगने लगा या नहीं, स्वार्थ-परमार्थ में बदला या नहीं 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की मान्यता के अनुरूप चिन्तन एवं चरित्र में महानता का समावेश हुआ या नही ?

तत्व-बोध के प्रकाश में भव बन्धनों से मुक्ति

भ्रमग्रस्त--मायाबद्ध जीवन क्रम ही हमें अवांछनीय चिन्तन और हेय कर्तृत्व में उलझाता है । इसी से वर्तमान पर शोक संताप की घटाएँ छायी रहती हैं और इसी से भविष्य अन्धकारमय बनता है । यदि अपने और संसार के सम्बन्धों का पुनर्निर्धारण किया जा सके तो उस तत्व-बोध के आधार पर सहज ही विचार क्षेत्र में उत्कृष्टता और क्रिया क्षेत्र में आदर्शवादिता भर सकती है । फलस्वरूप बाह्य-जीवन में स्वर्गीय वातावरण तथा अन्तःजीवन में आनन्द और संतोष से मुक्ति जैसा आलोक ज्योतिर्मय हो सकता है ।

आत्म-बोध के पश्चात् दूसरी साधना तत्व-बोध की है । आत्मा का स्वरूप समझने के बाद दूसरा कदम यही उठाना पड़ता है कि संसार के साथ अपने सम्बन्धों का पुनर्निर्धारण करें । इसके लिए सुधार का पहला प्रयास आत्मा और काय-कलेवर के सम्बन्धों में उत्पन्न हुई भ्रान्ति के निवारण के रूप में आरम्भ करना पड़ता है ।

ध्यान मुद्रा में अवस्थित होकर अपने और शरीर के पृथक्करण का भाव चित्र मनःक्षेत्र में अधिकाधिक स्पष्टता के साथ चित्रित करना ही पृथक्करण साधना है । भावना की जाती है कि शरीर में से प्राण निकल गया और किसी ऊँचे स्थान पर बैठकर मृत शरीर को, उसकी मरणोत्तर स्थिति को, गंभीरतापूर्वक देख रहा है । मरी हुई निर्जीव काया अकड़ गई, कहीं सुनसान जंगल में पड़ी है, और उसे कौए, गिद्ध, सियार, और कुत्ते नोंच-नोंच कर खा रहे हैं, बोटियाँ इधर-उधर छितरी पड़ी हैं । कुछ सड़ गया उसमें कीड़े पड़ रहे हैं । सड़न की दुर्गन्ध उड़ रही है । हड्डियों का कंकाल टूटा-फूटा, अस्त-व्यस्त पड़ा है । यदि वह घर पर है तो उसे जलाने, गाढ़ने की तैयारी हो रही है । लाश को चिता पर रख दिया गया । वह धू-धू कर के जलने लगी । माँस जलने रँधने लगा । भुना मांसपिण्ड गठरी जैसा इकट्ठा होने लगा । कपाल जलने में देर लगाने लगा तो उसे सम्बन्धियों ने बाँस मार कर फोड़ दिया और वह भी कुछ देर में जलकर राख हो गया । राख हवा में

इधर-उधर उड़ कर अपना अस्तित्व गँवा बैठी। स्वजन सम्बन्धी कुछ समय रो-धो कर अपने काम में लग गये। महीने-पन्द्रह दिन मरण की चर्चा होती रही इसके बाद वह प्रसंग भी बन्द हो गया, भुला दिया गया।

मरण काल यह करने के बाद शरीर का अस्तित्व समाप्त होने तक के भाव चित्र का जितना अधिक विस्तृत और वीभत्स चित्र जितना अधिक देर तक देखा जा सके उतना ही अच्छा है। प्रत्यावर्तन साधना में इसके लिए पैंतालीस मिनट रखे गये हैं। महत्व को देखते हुए यह समय अधिक नहीं कम ही है। कारण कि मृत्यु को एक प्रकार से भुला ही दिया गया है, यदि वह याद रहती तो निश्चित रूप से यह भी स्मरण ही रहता कि हमें परमेश्वर ने असाधारण विभूतियाँ देकर क्यों यह सुरदुर्लभ शरीर दिया है और उसके साथ क्या-क्या जिम्मेदारियाँ सौंपी हैं। उन्हें पूरा करने के लिए कुछ किया जा रहा है या नहीं। अपने मन में यह भाव कभी उठते ही नहीं। दूसरों को मरते देखते हुए भी यही सोचते हैं कि अपने को तो लाख करोड़ वर्ष जीना है। जल्दी क्या है, अभी तो जितना बन पड़े मौज-मजा कर लें पीछे अगर मरना पड़ा तो तब कहीं लक्ष्य उद्देश्य की बात सोचेंगे।

मृत्यु की सच्चाई जो कभी भी सामने आकर खड़ी हो सकती है हमारे सामने नग्न यथार्थता प्रस्तुत करती है और झकझोरती है कि यह सुरदुर्लभ सुअवसर ऐसे ही पेट, प्रजनन के पशु प्रयोजनों में बर्बाद न किया जाय, इसका ऐसा उपयोग किया जाय जो दूरदर्शितापूर्ण हो। परमात्मा का अवतार धर्म की स्थापना और अधर्म को निरस्त करने के लिए होता है। सृष्टि के अन्य जीवों की आँख से देखा जाय तो मनुष्य भी एक असीम सुविधा साधनों से सम्पन्न अवतारी सत्ता ही है। उसी अंश अवतार जैसी साधुता के परित्राण और दुष्कृतों के विनाश की भूमिका में सतत् संलग्न रहना चाहिए। इस तथ्य का विस्मरण प्रायः इसीलिए हो जाता है कि हम मृत्यु का विस्मरण कर बैठे होते हैं और यह सोचते तक नहीं कि मरण निकट है और उपलब्ध अवसर को नष्ट किये बिना पूरी सजगता एवं तत्परता के साथ उस ईश्वरीय उद्देश्य में लगना चाहिए, जिसके लिए कि यह शरीर मिला है।

भगवान शंकर मरघट में निवास करते हैं श्मशान की भस्म शरीर पर लपेटते हैं, गले में मुण्ड-माला पहनते हैं, भूत-प्रेतों को साथ रखते हैं। उन्हें मरण का देवता माना गया है। वे जीवन सहचरी के रूप में मृत्यु को साथ रखकर चलते हैं। इसी से मृत्युंज्य कहलाते हैं। मृत्यु की प्रतिभा को सामने रखकर चलने वाला निश्चित रूप से मृत्युंज्य ही बन सकता है। जिसे मरण के उपरान्त आने वाली समस्याओं का ज्ञान है, जो उन्हें सुलझाने में निरत है, उसके लिए मृत्यु का स्वरूप पुराना कपड़ा बदल कर नया पहनने जैसा उत्साहबर्द्धक ही हो सकता है। ऐसी स्थिति प्राप्त की जा सके, इसके लिए मृत्यु-काल के चित्र को अधिकाधिक स्पष्टता के साथ देखते हुए मायाग्रस्त मनःस्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया जाता है।

शरीर और मन यह दो औजार उपकरण हैं—बाहन अथवा सेवक हैं, जो सौपे गये उत्तरदायित्वों को निभाने में समुचित सहायता कर सकें। बड़े अफसरों को मोटर की, ड्राइवर की सुविधा सरकार देती है ताकि वे लम्बे क्षेत्र में सुविधापूर्वक भाग-दौड़ कर सकें। हमें उत्कृष्ट स्तर का शरीर और मन ऐसे उपकरण के रूप में मिले हैं कि निर्धारित कर्त्तव्यों को पूरा कर सकना अधिक सुविधा के साथ सम्भव हो सके। आत्मा और शरीर के बीच ही वाहन, सेवक, उपकरण, औजार और उसके उपयोगकर्ता स्वामी के बीच रहने वाला रिश्ता ही यथार्थ है। दोनों की सत्ता पृथक है, दोनों के स्वार्थ अलग हैं, दोनों एक नहीं हैं।

हमारे चिन्तन में एक भारी भूल यह है कि शरीर और आत्मा को एक ही मान लिया गया है। हम अपने स्वरूप को भूल बैठे हैं और शरीर के साथ इतने रम गये हैं कि दोनों की सत्ता एक ही मानने लगे हैं। इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि शरीर के और मन के स्वार्थ अपने सुख-दुख प्रतीत होने लगे हैं। जबकि वस्तुतः वे सर्वथा भिन्न हैं। शरीर का स्वार्थ वासना में और मन का तृष्णा की पूर्ति में हो सकता है, पर आत्मा की शांति तो जीवनोद्देश्य की पूर्ति के लिए किए गये प्रयासों के साथ ही जुड़ी हुई है।

समुद्र के खारे जल में नमक और पानी दोनों मिले होते हैं, अतएव वह किसी काम में नहीं आता। यदि जल और नमक पृथक कर दिये जाँय तो दोनों ही उपयोगी

हो सकते हैं। यदि शरीर आत्मा का वाहन मात्र बनकर रहे तो उसे महामानव, देवदूत, ऋषि स्तर का बनने, सुखी एवं यशस्वी बनने का अवसर मिल सकता है। आत्मा को भी शांति, सद्गति मिलेगी पर यदि वे दोनों इकट्ठे हो जाते हैं, आत्मा अपना स्वरूप भूल कर शरीर स्तर की बन जाती है, तो वासना और तृष्णा की, लोभ और मोह की दलदल में गहराई तक धँस जाना पड़ेगा और गहरी कीचड़ में गर्दन तक फँसे हाथी की तरह दयनीय दुर्दशा के साथ यह गँवाना पड़ेगा।

आत्म बोध के साथ तत्वबोध ही दूसरा चरण है। आत्मा के साथ शरीर का, मन का, परिवार का क्या सम्बन्ध है ? उसी का पुनर्निर्माण समझना चाहिए। ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो गयी और ब्रह्मज्ञान का जो महात्म्य बनाया गया है वह समग्र रूप में करतलगत हो गया।

शरीर इसलिए मिला है कि उससे आदर्शवादी कार्य कराये जायें, मन इसलिए मिला है कि जीवनोद्देश्य को पूरा करने की योजनायें बनायें और अवरोधों की गुत्थियाँ सुलझायें। परिवार इसलिए मिला है कि सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों को सुविकसित करने, अपनी आन्तरिक परिपुष्टता के लिए इस प्रयोगशाला में वैसा ही अभ्यास करते रहा जाय, जैसा पहलवान अखाड़े में जाकर किया करता है। भगवान ने परिवार के कुछ लोगों को सुविकसित बनाने के लिए हमें संरक्षक की तरह नियुक्त किया है और माली की तरह इस छोटे उद्यान को सुरम्य बनाने का उत्तरदायित्व सौंपा है, यह मान्यतायें हम रखें तो इन तीनों में से किसी पर भी अपना आधिपत्य जमाने की आवश्यकता न मिले। तीनों के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करने भर की बात याद रहे और यह चेष्टा बनी रहे कि इन आधारों की सहायता से अधिक अच्छी तरह जीवन लक्ष्य की पूर्ति किस तरह हो सकती है ?

भ्रान्तियों की भूलभुलैया हमें कुछ का कुछ दिखाती, बताती हैं। अतएव हम यथार्थता से विपरीत स्थिति में अपने को फँसा लेते हैं और न सोचने जैसा सोचने न करने लायक करने लगते हैं। उसका परिणाम पग-पग पर अशान्ति, उद्विग्नता खीज और खिन्नता के रूप में सामने आता है। यदि कर्तव्यपालन और सदुपयोग भर की बात ध्यान में बनी रहे तो हर स्थिति में प्रसन्न एवं सन्तुलित रहा जा सकता है। ज्ञान-येग, कर्मयोग और भक्तियोग के अमृत, पारस एवं कल्प-वृक्ष की त्रिविध सिद्धियाँ इसी स्तर की मनोभूमि में उपलब्ध होती हैं।

आत्मा को शरीर और मन से भिन्न मानने पर सहज ही यह विवेक जाग्रत होता है कि जीवन सम्पदा का कितना अंश इन वाहनों की आवश्यकता पूर्ति के लिए खर्च किया जाय और कितना निर्दिष्ट लक्ष्य की पूर्ति में लगाया जाय। न्यायोचित विभाजन हो सके तो समय, श्रम, बुद्धि, प्रतिभा, एवं सम्पत्ति की ईश्वर प्रदत्त विभूतियों का एक बड़ा अंश आत्म कल्याण के लिए निकल सकता है। अन्यथा यदि अपना आपा–काय कलेवर में ही घुला खपा दिया गया तो लोभ और मोह के अतिरिक्त आकांक्षा एवं क्रिया का सारा उपार्जन उसी को समर्पित करना पड़ेगा। शरीर और मन की लिप्सा में ही सुख दीखने लगेगा। ऐसी दशा में वासना और तृष्णा की भूख बुझाने में ही अपनी सामर्थ्य कम पड़ने लगेगी। आत्म-कल्याण की बात तो बन ही न पड़ेगी।

तत्व-बोध होने पर सम्बद्ध व्यक्तियों तथा समीवर्ती क्षेत्र में फैली हुई दुष्प्रवृत्तियाँ आक्रमणकारी क्रोध, उद्वेग, द्वेष और प्रतिशोध उत्पन्न नहीं करती वरन् शांतिपूर्वक सुव्यवस्थित रीति से विकृतियों के सुधार क्रम में जुट जाने की प्रेरणा करती हैं। डाक्टर रोग को मारता है, रोगी को बचाता है। विवेकवान पाप को मिटाता है और पापी को बचाता है, जब कि अविवेकी मस्तिष्क रोग और रोगी में अन्तर न करके जहाँ भी प्रतिकूलता दीखती है वहीं आक्रमणकारी बनकर मार काट फैलाता है। वह भूल जाता है कि कीचड़ को कीचड़ से नहीं धोया जाता, सफाई तो स्वच्छ जल से होती है। क्रोध से नहीं संतुलित सुधार प्रक्रिया अपनाने से ही विकृतियों का समाधान होता है। संसार में फैली हुई विकृतियाँ हमारे लिए सेवा साधन के सुधार उपक्रम के लिए ही हैं। रोगी न रहे तो डाक्टर की क्या उपयोगिता रहेगी। परमार्थ परायण, पुरुषार्थ को प्रखर करने का सुअवसर पाने के लिए ही सम्भव है। समीपवर्ती क्षेत्र में विकृति उत्पन्न हुई हो ऐसा भी तो सोचा जा सकता है।

तत्वदर्शी यह भी जानता है कि पूजा उपक्रमों का उद्देश्य ईश्वर को फुसला कर भौतिक एवं आत्मिक वरदान झटक लेना नहीं वरन् उच्च भावनाओं और उच्च क्रियाशीलता के लिए आवश्यक प्रेरणा प्राप्त करना है।

ताकि व्यक्तित्व में दैवी तत्वों का अधिकांधिक समावेश करके पूर्णता की दिशा में द्रुतगति से बढ़ चलना सम्भव हो सके। जीवनोद्देश्य की पूर्ति छुटपुट पूजा-पत्री मात्र से हो सकती है, ऐसा तत्वदर्शी नहीं मानता। अस्तु उसकी उपासना-साधना अज्ञानग्रस्त लोगों जैसी भ्रम धारणाओं पर निर्धारित नहीं होती। वह ईश्वर अनुकम्पा, बहुमूल्य उपलब्धियाँ पाने के लिए पूरी कीमत चुकाने पर विश्वास करता है और उसके लिए महामानवों जैसी स्थिति प्राप्त करने की प्रेरणा उपासना उपक्रमों के माध्यम से प्राप्त करता है।

शरीर और मन को आत्मा से पृथक मानने, उनके बीच स्वामी-सेवक जैसा सम्बन्ध स्पष्ट करने से भ्रमग्रस्तता के भव बन्धनों से छुटकारा मिल जाता है। माया के आकर्षणों में खिंचते फिरने की अपेक्षा विवेक के आधार पर मान्यताओं, आकांक्षाओं एवं क्रियाकलापों का पुनर्निर्धारण करना होता है। मृत्यु का सघन चिन्तन काया में रमी हुई अन्तःचेतना को अपनी वस्तुस्थिति समझने का अवसर देता है। अस्तु, उसे अपनी विचारणा में उत्कृष्ट एवं क्रियाशीलता को आदर्श बनाने के अतिरिक्त बुद्धिमत्ता भरा मार्ग और कोई सूझता ही नहीं। तत्व-बोध की प्रतिक्रिया ऋतम्भरा प्रज्ञा को उपलब्ध होने के रूप में सामने आती है और व्यक्ति भ्रान्तियों के भव बन्धनों से मुक्त होकर समुन्नत जीवनधारा के साथ प्रवाहित होता हुआ अन्ततः आनन्द और ऐश्वर्य उपलब्ध करता है।

आत्म–बोध और तत्व–बोध की दैनिक साधना

उपासना के लिए सर्वोत्तम काल संध्याकाल माना गया है। इसलिए दैनिक उपासना का नामकरण ही संध्यावन्दन कर दिया गया है। सन्ध्यावन्दन की परम्परा प्रातः और सायंकाल की है। यही समय सन्ध्याकाल कहलाते हैं। सन्ध्या, शब्द का मूल 'सन्धि' है। सन्धि कहते हैं जुड़ने को। रात्रि और दिन के मिलन की वेला संधि हुई। प्रातः रात्रि का अन्त और दिन का आगमन होता है। सायं दिन का अन्त और रात्रि का आरम्भ है। यह दोनों ही समय सन्ध्यावन्दन के लिए उपयुक्त समय माने गये हैं। इस काल की अपनी विशेषता भी है। इन घड़ियों में सूक्ष्म वातावरण की कुछ ऐसी विशेषता रहती है कि आत्मिक क्षेत्र में सफलता-पूर्वक प्रवेश करना और उसमें से कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकना सरल पड़ता है।

दैनिक नित्य कर्म में सन्ध्यावन्दन का अपना महत्व है। उसे तो यथावत् चलने ही देना चाहिए, साथ ही उस ब्रह्म सन्ध्या को भी अपने साधनाक्रम में सम्मिलित रखना चाहिए, जिसका एक सिरा आत्म-बोध और दूसरा तत्वबोध है। यह आत्म सन्ध्या प्रातः आँख खुलते समय और रात्रि को सोते समय की जाती है। इसे विस्तर पर पड़े-पड़े भी किया जा सकता है। निद्रा को रात्रि और जागृति को दिन माना जाय तो उनका मिलन काल भी सन्ध्याकाल ही हो जाता है। भले ही घड़ी में कुछ भी क्यों न बजा हो। सूर्योदय और सूर्यास्त से इसकी संगति मिलाने की आवश्यकता नहीं होती।

जल्दी सोने वालों की नींद जल्दी खुलती है और देर में सोने वालों की देर से। इसलिए इस आध्यात्म सन्ध्या के लिए घड़ी के हिसाब से कोई समय नियत नहीं किया जा सकता। जिसकी जब आँख खुले तभी उसे अपना आत्मिक प्रातःकाल मान लेना चाहिए। उस समय न्यूनतम पन्द्रह मिनट समय मनन-चिन्तन के लिए लगाया जाना चाहिए।

'आत्म बोध' और 'तत्व बोध' सद्ज्ञान की यह दो धारायें हिमालय से निकलने वाली पतित पावनी गंगा और तरण तारिणी यमुना की तरह हैं। आत्म-बोध का अर्थ है, अपने उद्गम, स्वरूप, उत्तरदायित्व एवं लक्ष्य को समझना, तद्नुरूप दृष्टिकोण एवं क्रिया-कलाप का निर्धारण करना। तत्त्व-बोध का अर्थ है शरीर उसके उपयोग एवं अन्त के सम्बन्ध में वस्तुस्थिति से परिचित होना। सांसारिक पदार्थों एवं सम्बन्धित व्यक्तियों के साथ जुड़े हुए सम्बन्धों में घुसी हुई भ्रान्तियों का निराकरण करना तथा इनके सम्बन्ध में बरती जाने वाली नीति का नये सिरे से मूल्याँकन करना। संक्षेप में चेतना की सत्ता को, यथार्थता को समझना आत्म-बोध और उसके काम आने वाले पदार्थों एवं प्राणियों के साथ उचित तालमेल बिठाने को तत्व-बोध कहते हैं। यदि इतना भर ठीक तरह जान लिया जाय तो समझना चाहिए कि ज्ञान साधना का उद्देश्य पूरा हो गया।

"हर दिन नया जन्म--हर रात नयी मौत" का सूत्र आत्म-बोध और तत्व-बोध की दोनों साधनाओं का प्रयोजन पूरा करता है। इन्हें आध्यात्मिक संध्यावन्दन कहा जाता

है । आत्म बोध प्रातः कालीन अभ्यास है । प्रातः काल बिस्तर से सोकर जागते ही बिस्तर पर ही पूर्वाभिमुख, पालथी मारकर ध्यान मुद्रा में बैठें । तीन बार लम्बे- लम्बे श्वास लें और धीरे-धीरे श्वांस बाहर निकाल दें । श्वांस इतनी गहरी लें कि वह नाभि चक्र तक भर जाये । तीन बार यह क्रिया करने के उपरान्त अँगड़ाई लें और पुनः ध्यान मुद्रा में चले जायें, अपने कष्ट को सम्मुख हुआ अनुभव करें, यह नया जन्म हुआ है । परमात्मा के दिये हुए इस उपहार को मानवोचित गरिमा के साथ जियेंगे । पिछले दिनों जन्मों में हुई भूलों की पुनरावृत्ति नहीं होने देंगे । दिन भर की दिनचर्या ऐसी रहेगी, जिसमें सामान्य कृत्यों में भी असामान्य भावना परमार्थ परायणता के भाव जुड़े रहेंगे । मनुष्य को अन्य जीवों की तुलना में अधिक अनुदान और उपहार परमात्मा ने दिये हैं । उसे कृतज्ञतापूर्वक स्मरण रखेंगे और ऐसा कोई कार्य न करेंगे, जिससे पश्चात्ताप का सन्ताप भुगतान पड़े । स्वयं को आगे बढ़ाने, ऊँचा उठाने, शिष्टाचार और उदारता का भाव बनाये रखेंगे ।

इन्हीं भावनाओं से भरे हुए सर्वप्रथम धरती माँ का तीन बार चरण वन्दन करें और कल्पना करें कि हमारा जीवन धरती माता के समान ही सहनशील, उर्वर और परोपकारी बना रहेगा । इसके बाद शैय्या का परित्याग कर दें और दैनिक कृत्य में लग जायें । आत्म-बोध के इस अभ्यास में कुल १५ मिनट लगते हैं । पर यदि इन आदर्शों को सच्चाई से धारण कर लिया गया तो जंग लगे लोहे जैसा जीवन पारस स्पर्श से सोना बन जाने जैसी महान् उपलब्धि से विभूषित हो सकता है ।

इस तरह प्रातःकाल नींद खुलते ही हर रोज यह भावना जाग्रत करनी चाहिए कि आज हमारा नवीनतम जन्म हुआ है और वह सोते समय तक एक रोज के लिए ही है । इसे हर दृष्टि से श्रेष्ठतम और आदर्श रीति-नीति अपनाते हुए जिया जाय । इसके लिये शैय्या त्याग से लेकर रात को सोते समय तक का कार्यक्रम बनाना चाहिये । दिनचर्या ऐसी हो जिसमें आलस्य के लिये तनिक भी गुंजायश न हो । पूरी तरह व्यस्तता रहे । आजीविका--उपार्जन, नित्य कर्म, पारिवारिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह, लोक-कल्याण के लिए अधिकतम योगदान, उपासना, स्वाध्याय, आदि के क्रियाकलापों को समुचित समन्वय करते हुए, इस प्रकार निर्धारण करना चाहिए जिसमें आलस्य प्रमाद के लिए कोई गुंजायश न रहे । विश्राम के लिए रात्रि का समय ही पर्याप्त है । जल्दी सोने और जल्दी उठने की आदत डाली जानी चाहिए । समय का एक क्षण भी बर्बाद न जाने पाये और उसका उपयोग निरर्थक कामों में नहीं वरन् जीवन को सार्थक बनाने वाले निर्वाह की उचित आवश्यकता पूरी करने वाले कार्यों की ही प्रमुखता रहे । मनोरंजन के लिए, थकान दूर करने के लिये, बीच- बीच में थोड़ा-थोड़ा उचित अवकाश देने के लिये गुंजायश रखी जा सकती है । किन्तु गपशप, मटरगश्ती, यारवासी में, आलस्य, ऊँघने में बेकार समय न गँवाना पड़े, इसकी समुचित सर्तकता बरतनी चाहिए । समय ही जीवन है श्रम ही सम्पत्ति है– इस मन्त्र को पूरी तरह ध्यान में रखा जाय । निर्धारित समय विभाजन को अनिवार्य अड़चन आ पड़े तो बात दूसरी है, अन्यथा यथासम्भव पूरा करने का ही प्रयत्न करना चाहिए ।

जो काम किया जाय उसमें पूरा-पूरा मनोयोग लगाया जाय । हाथ में लिये काम को प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर इस कुशलता के साथ सम्पन्न किया जाय कि उसका स्तर ऊँचा बना रहे । आधे-अधूरे मन से उपेक्षापूर्वक, बेगार, भुगतने की तरह लापरबाही के साथ जो भी काम किये जायेंगे वे फूहड़, भोंड़े अस्त-व्यस्त और अनगढ़ होंगे । ऐसे कामकर्ता के गयेगुजरेपन के प्रमाण हैं । काम का स्तर अच्छा रहना इस बात पर निर्भर है कि उसे पूरे मनोयोग के साथ पूरी जिम्मेदारी के लिये-- अपनी कुशलता और सतर्कता का समुचित समावेश करते हुए सम्पन्न किया जाय । जिस कार्य को उत्सापूर्वक तन्मयता के साथ किया जायगा उसमें समय भी कम लगेगा और चित्त प्रसन्न रहेगा । अन्यथा बेगार भुगतने पर थोड़े से काम में बेहद थकान बढ़ेगी और थोड़े से काम में ढेरों समय लग जायगा । आलस्य और प्रमाद हमारे सबसे बड़े शत्रु हैं । आलस्य शरीर को अपाहिज की तरह बना देता है और विक्षिप्त आचरण वह करता है जिस पर प्रमाद चढ़ा रहता है । ऐसे आदमी पग-पग पर असफल होते हैं और अपनी कर्महीनता के कारण उपेक्षित रहते और तिरस्कृत बनते हैं ।

प्रातः उठते ही हमें अपनी सुसन्तुलित दिनचर्या निर्धारित करनी चाहिए । साथ ही इस बात का ध्यान रखा जाय कि उन्हें करते समय आदर्शवादी दृष्टिकोण

का समन्वय बना रहे । तृष्णा, लिप्सा, स्वार्थपरता, धूर्तता, अनैतिकता का दृष्टिकोण लेकर किये जाने वाले कार्य भले ही उपयोगी ही क्यों न लगते हों, उनमें ऐसी त्रुटियाँ बनी रहेंगी, जिनसे समाज का अहित होना और अपना स्तर गिरता स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे । सामान्य कार्यों को भी यदि लोक हित और आत्म कल्याण के आदर्शवादी सिद्धान्तों का समावेश करते हुए किया जाय तो वे कर्मयोग की श्रेणी में गिने जायँगे और प्रत्यक्षतः परमार्थ न लगते हुए भी लगभग वैसे ही उद्देश्य की पूर्ति करेंगे । दैनिक कार्यों में यह ध्यान रखा जाय कि जिन पर भी उनका प्रभाव पड़े, सम्बन्ध रहे, वे दुष्टता और दुर्बुद्धि का आक्षेप न लगा सके । अपने हर कृत्य को अपनाते हुए जो कुछ किया जायगा वह नैतिक भी होगा और लोकोपयोगी भी । जिनके सोचने का ढंग ऊँचा है, वे समाज के लिए अहितकर काम कभी चुनेंगे ही नहीं, भले ही उन्हें भूखे क्यों न मरना पड़े । लोकोपयोगी कार्य करते हुए उचित पारिश्रमिक लेकर यदि भलमनसाहित का जीवनयापन किया जा सके तो उसे क्रिया-कलाप को, कर्मयोग की ही संज्ञा दी जायगी ।

दिन भर के उत्तम काम उत्कृष्ट दृष्टिकोण रखते हुए सम्पन्न किये जाते रहें, जिन्हें उस दिनचर्या को उस दिन को सार्थक बनाने वाली कहा जा सकता है । बीच-बीच में जब भी कुसंस्कारों की प्रबलता से आलस्य, प्रमाद अथवा अनैतिक दृष्टिकोण का समावेश होने लगे तो उसे तत्काल रोका जाय । जिस तरह मुँह पर मक्खी बैठते ही तत्काल उसे उड़ाने का प्रयत्न किया जाता है । उसी प्रकार अवांछनीयता का अपने क्रियाकृत्य एवं चिन्तन में तनिक भी समावेश न होने पाये, इस पर तीखी नजर रखी जाय । जब कुछ ऐसा होता दिखायी पड़े तो उसे रोकने के लिये अपने आपको सजग किया जाय । अभ्यस्त दुष्प्रवृत्तियों से हर घड़ी जूझते रहने के लिए जागरूक प्रहरी की हमें भूमिका निभानी चाहिए । चोर घर में घुसने न पाये, घुसने का दुस्साहस करे तो मार भगाया जाय । इसी में सतर्कता की सराहना है । इस सन्दर्भ में हमें निरन्तर जागरूक रहना चाहिए । दिन भर यह ध्यान रखा जाय कि आज का दिन हमें श्रेष्ठतम आदर्शवादी रीति-नीति अपनाते हुए--पुण्य परमार्थ से भरा-पूरा बनाना है । उसमें शरीर निर्वाह एवं परिवार पालन के लिए जितना अनिवार्य रूप से आवश्यक है उतना ही संलग्न रहना है । प्रातःकाल इसी आधार पर दिन भर का कार्यक्रम बनाया जाय और उस पर दृढ़तापूर्वक रहा जाय तो निस्सन्देह संकल्प के अनुरूप वह दिन ऐसा ही व्यतीत होगा जिस पर गर्व एवं संतोष व्यक्त किया जा सके ।

सोते सयम रात्रि की संध्या

तत्व बोध की साधना रात्रि के समय के लिए निर्धारित है । इसमें भी अत्म-बोध जितना ही १५ मिनट का समय लगता है ।

रात्रि को सोते समय यह मानकर निद्रा की गोद में जाना चाहिए कि यह जीवन के एक अध्याय का सन्तोषजनक अन्त हुआ । अब मृत्यु जैसी शान्ति को गले से लगाना है । रात्रि निद्रा को दैनिक मृत्यु माना जाय । इससे अति महत्वपूर्ण आध्यात्मिक लाभ मिलता है । हम मृत्यु को एक प्रकार से भूले रहते हैं । अस्तु जीवन का मूल्य और स्वरूप समझ पाना ही हमारे लिए सम्भव नहीं हो पाता । आमतौर से जब तक वस्तु हाथ में रहती है, तब तक उसका न तो महत्व समझ में आता है और न उपयोग । जब वह छिन जाती है तब पता चलता है कि वह उपलब्धि कितना बड़ा सौभाग्य थी । उसका समय रहते कितना अच्छा सदुपयोग हो सकता था ।

प्रगति पथ पर धीरे-धीरे बढ़ते हुए मनुष्य जन्म तक पहुँच सकना सम्भव हुआ है । यह उपहार ईश्वर का सर्वोपरि अनुग्रह है । इसमें जो सुविधाएँ हैं वे किसी भी अन्य योनि में नहीं हैं । बहुमूल्य अनुदानों का सदुपयोग कर सकने की दूरदर्शिता जिनमें हो उन्हें और भी श्रेष्ठ अवसर मिलने की अपेक्षा करनी चाहिए । यह हमारी अग्नि परीक्षा है कि प्रदत्त मनुष्य जन्म को हम किन प्रयोजनों के लिए किस प्रकार उपयोग में लाते हैं । पेट और प्रजनन में तो सृष्टि के निकृष्ट प्राणी भी संलग्न हैं । गायत्री-गरिमा की सफलता इसमें है कि इस जन्म को आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण के उच्च प्रयोजनों में ईश्वर की इच्छा के अनुरूप लगाये रखा जाय जो इसके लिए प्रयत्नशील रहते हैं । उन्हें महात्मा-देवात्मा के उच्च पद प्राप्त करते हुए अन्ततः परमात्मा बनने का अवसर मिलता है । जो पशु-प्रवृत्तियों में ही उलझे रह जाते हैं, उनके हाथ से यह भी छिन जाता है । पात्रता सम्पादन के लिए उन्हें फिर निम्न योनियों में भटकना

पड़ता है। यह बहुमूल्य तथ्य विदित रहने पर भी अविदित जैसे बने रहते हैं। वह जानकारी व्यर्थ है जो क्रिया को प्रभावित न कर सके।

रात्रि को सोते समय, दैनिक निद्रा को चिर-निद्रा-मृत्यु के समतुल्य मान कर चलना चाहिए। शैय्या पर जाते ही कल्पना करनी चाहिए कि 'हर दिन नया जन्म-हर रात नयी मौत' जीवन सूत्र के अनुसार अब मरण काल आ गया। एक दिन का जीवन अब समाप्त हो चला। निद्रा रूपी मृत्यु अपने अंचल में प्राण को ढक लेने के लिए निकट आ गयी।

इस अवसर के लिए कल्पना यह होनी चाहिए कि शरीर में से जीव निकल कर ऊँचे प्रकाश में उठने लगा। मृत शरीर शैय्या पर पड़ा है। उसके जलाने, गलाने, गाढ़ने की अन्त्येष्टि होने जा रही है। अपनी जीव सत्ता पृथक है और शरीर कलेवर का अस्तित्व उसके प्रयोग में आते रहने पर भी उससे सर्वथा भिन्न है। शरीर और आत्मा की भिन्नता यों कहने-सुनने में सदैव आती रहती है, पर उसकी अनुभूति कभी भी नहीं होती। किसी मृत को शमशान में पहुँचाते समय उसके अग्नि संस्कार के समय शरीर आत्मा की भिन्नता-जीवन की नश्वरता एक हल्की झाँकी की तरह अन्तःकरण में उभरती है, किन्तु कुछ ही क्षण में बिजली की कोंध की तरह विस्मृति में विलीन हो जाती है। अपनी स्वयं की मृत्यु का भावना दृश्य यदि गम्भीरतापूर्वक देखा जाय उससे आत्म-ज्ञान का वह प्रकाश उदय हो सकता है, जो आध्यात्मिकता का मूलभूत आधार है। मृत्यु को निद्रा के रूप में अपनी नित्य सहचरी होने की बात सोचते हुए शयन किया जाय ओर उसके फलितार्थों पर विचार करते रहा जाय तो इसकी प्रतिक्रिया आत्मोत्कर्ष का पथ प्रशस्त कर सकती है।

नित्य सोते समय अपनी मृत्यु की अनुभूति करने की भावना यदि गहरी हो तो उसके साथ ही कई प्रश्न उभरते हैं। मनुष्य जीवन ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ अनुदान होने और उसके अमानत का तरह विश्व उद्यान को समुन्नत, सुसंस्कृत बनाने के लिए दिये जाने की बात अधिक स्पष्ट रूप से समझ में आती है। शरीर की ही साज-सज्जा में लगे रहने, आत्मकल्याण का तथ्य भुला देने की मूर्खता को छोड़ने के लिए व्याकुलता उत्पन्न होती है। शरीर उपकरण मात्र है, वह आत्मा के उच्च क्रियाकलाप पूरे करने भर के लिए मिला है। इन्द्रियों की वासना और मनोगत तृष्णा अहंता जैसे क्षुद्र कार्यों में यह अलभ्य अवसर नष्ट हो जाय और आत्मिक लक्ष्य पूरा ही न हो सके तो यह एक भयानक दुर्घटना ही कही जायगी। इस प्रकार सोच सकना तभी सम्भव होता है, जब मृत्यु को सिर पर खड़ा देखा जाय। इसके बिना आत्म विस्मृति की खुमारी ही छायी रहती है और मौज-मजा करते हुए दिन गुजारने के अतिरिक्त और कुछ सूझ ही नहीं पड़ता। लक्ष्य भ्रष्ट जीव के लिए लोभ और मोह की पूर्ति करते रहना ही परम प्रिय बना रहता है।

सोते समय मृत्यु को सहचरी की तरह साथ लेकर सोया जाय तो वह सद्गुरू की तरह जीवन का मूल्य, स्वरूप एवं सदुपयोग इतनी अच्छी तरह समझाती है, जितना कोई अन्य ज्ञानी विज्ञानी भी नहीं समझा सकता। उन घड़ियों में बैरागी की अनासक्त कर्मयोगी की भावनाएँ मन में भरी रहनी चाहिए। वैरागी, सन्यासी उसे कहते हैं, जो सम्बद्ध पदार्थों और प्राणियों पर से स्वामित्व की भावना हटा लेता हैं मालिकी छोड़कर माली का पद स्वीकार करता है। इस चिन्तन से विवेक दृष्टि उपलब्ध होती है। कर्तव्यपालन ही अपनी आकांक्षा बन कर रह जाती हैं "स्वामित्व भगवान का, सेवा धर्म अपना" इतना सोच लिया जाय तो समूचा दृष्टिकोण ही बदल जाता है। तृष्णा-अहंता के कारण जो अकर्म करने पड़ते हैं और अनावश्यक चिन्ताओं के बोझ सिर पर लदे रहते हैं, उन सबसे सहज ही छुटकारा मिल जाता है।

जीवन का आनन्द उसे मिलता है, जो उसे खिलाड़ियों द्वारा खेले जाने वाले खेल की तरह जीता है। नाटक के पात्रों को तरह-तरह के अभिनय करने पड़ते हैं, वे उनसे अत्यधिक प्रभावित नहीं होते। विवेकशीलता इसी में है कि अपना प्रत्येक कर्त्तव्य पूरी ईमानदारी और तत्परतापूर्वक सम्पन्न करते रहा जाय और उतने भर को अपने सन्तोष एवं उत्तरादायित्व निर्वाह का केन्द्र बिन्दु मानते रहा जाय। मनोकामनाओं को कर्त्तव्य पालन तक सीमित कर दिया जाय और परिणामों की बात परिस्थितियों पर निर्भर होने का तथ्य स्वीकार कर लिया जाय तो सिर पर चढ़ी रहने वाली भविष्य की अनावश्यक चिन्ताएँ अनायास ही तिरोहित हो जाती हैं। सफलता और असफलता दोनों का जो समान रूप से स्वागत करने को तैयार है, उस सन्तुलित मनःस्थिति के व्यक्ति को

तत्वदर्शी और विज्ञानी कह सकते हैं । ऐसा व्यक्ति ही जीवन नाटक का आनन्द ले सकता है । स्वयं प्रसन्न रहना व साथियों को प्रसन्न रखना उसी के लिए सम्भव होता । वैराग्य, सन्यास, इसी मनःस्थिति का नाम है । अनासक्त कर्मयोगी एवं स्थिति प्रज्ञ-प्रजवान् ऐसे ही लोगों को कहा जाता है । रात्रि को सोते समय अपनी मनःस्थिति ऐसी ही बनाकर सोया जाय तो गहरी नींद आवेगी । चित्त बहुत हल्का रहेगा और प्रातःकाल ताजगी के साथ उठना सम्भव हो सकेगा ।

भारतीय धर्म वर्णाश्रम धर्म है । उसकी मर्यादा है कि जीवन के अन्तिम अध्याय में सन्यासी होकर मरना चाहिए । अब तो वे परम्पराएँ तिरोहित ही होती जाती हैं । पर जब तक वे मान्यताएँ जीवित थीं, तब यह प्रचलन भी था कि यदि कोई व्यक्ति मरने जा रहा है और सन्यास नहीं ले सका है तो उसे 'त्वरा सन्यास' दिलाया जाता था । सन्यास लेने की प्रक्रिया कुछ ही समय में चिन्ह पूजा की तरह सम्पन्न कर दी जाती थी । वह कृत्य हम प्रतिदिन सोते समय स्वयं ही कर लिया करें तो इसे एक उच्चकोटि की आध्यात्मिक साधना ही कहा जायगा । दिन भर जिस परिवार की सेवा की गई वह ईश्वर का उद्यान था । उसे सुविकसित बनाने के लिए अपना उत्तरदायित्व निभाया गया, अब मालिक को सौंपकर छुट्टी पर जाया जा रहा है । धन, वैभव जो कुछ भी अपने सुपर्द था, वह ईश्वर की सम्पत्ति थी, उसे उसी के हवाले करके स्वयं खाली हाथों विदाई ली जा रही है । शरीर और मन यह औजार-वाहन भी ईश्वर के कारखाने से किराये पर मिले थे, उन्हें भी यथास्थान जमा करके एकाकी अपने घर लौटा जा रहा है । यह भावनाएँ सोते समय की हैं । उनके कल्पना चित्र मनःक्षेत्र पर उतरते हुए शयन करने का नित्य नियम बना लिया जाय तो सन्यासी एवं बैरागी की वह कुछ समय के लिए उत्पन्न की गई मनःस्थिति अगले चौबीस घण्टों तक आत्म-जागृति का उत्साह बनाये रह सकती है, दूसरे दिन फिर इसी प्रकार उसे सजग-सजीव किया जा सकता है ।

प्रातःकाल उठते ही एक दिन के लिए मिला जीवन रूपी सौभाग्य और उसके श्रेष्ठतम सदुपयोग की बात मनःक्षेत्र पर भली प्रकार उभारी जाय । आँख खुलने से लेकर शैय्या त्याग कर जमीन पर पैर रखने तक के नये जीवन की प्रसन्नता और उसके श्रेष्ठतम सदुपयोग की सुव्यवस्था बनाने की बात ही सोचते रहा जाय । उतने ही समय में दिनचर्या का निर्धारण उसके साथ मनोयोगपूर्वक आदर्शवादी चिन्तन का नियोजन किस प्रकार होगा, इसकी रूपरेखा बना लेनी चाहिए । यह कार्य प्रातःकालीन ब्रह्म संध्या की तरह है । उसे अवकाश न मिलने की शिकायत किये बिना, कोई भी बिना किसी कठिनाई, विधि-विधान या साधन उपकरण के अत्यन्त सरलतापूर्वक करता रह सकता है । इसे 'आत्म-बोध' की योग साधना कहा जाता है ।

सायं सन्ध्या के लिए रात्रि को सोते समय 'हर रात नयी मौत के सूत्र को अन्तःक्षेत्र में भावनापूर्वक चित्रित किया जाना चाहिए, सम्वेदना जितनी गहरी होगी प्रतिक्रिया उतनी ही प्रखरतापूर्वक उभरेगी । वस्त्र साधारण पहनते हुए भी काम-काल गृहस्थों जैसा करते हुए भी सन्यासी की अनासक्त कर्मयोगी की मनःस्थिति इस साधना के आधार पर जितनी सरलतापूर्वक बन सकती है, उतनी अन्य किसी प्रकार नहीं । 'तत्व-बोध' की यह साधना भी ऐसी है । जिसके लिए समय न मिलने, न साधन होने, मन न लगने जैसी शिकायत करने का कोई अवसर नहीं हैं ।

सूर्योदय और सूर्यास्त काल को संध्या कहते हैं । उस पुण्य बेला को आत्म-साधना के लिए सुरक्षित रखे जाने का विधान है । इसी विधान की निद्रा को रात्रि और जागृति को दिन मानते हुए उनकी सन्धि बेला को संध्याकाल कहा जा सकता है । इस प्रकार उठते समय का 'आत्म-बोध' और सोते समय को 'तत्व-बोध' साधना की व्यावहारिक जीवन को प्रभावित करने वाली उच्चस्तरीय साधना कहा जा सकता है । सरलता और प्रभावोत्पादक क्षमता की दृष्टि से उसे अद्वितीय माना जा सकता हैं 'हर दिन नया जन्म, हर रात नयी मौत' का जीवन-सूत्र जो जितनी गहराई के साथ हृदयंगम और कार्यान्वित कर सकेगा वह उतनी ही तीव्रतापूर्वकआत्मिक प्रगति की दिशा में अग्रसर होगा यह निश्चित हैं ।

उपासना अनिवार्य रूप से आवश्यक भले ही वह न्यूनतम बन पड़े

प्रज्ञा परिजनों के आवश्यक कर्तव्यों में दैनिक उपासना को प्रथम, प्रमुख एवं अनिवार्य माना गया है । नव सृजन का जो उत्तरदायित्व प्रकृति ने जागृत आत्माओं के

कंधों पर सौंपा है उसका ठीक तरह निर्वाह करने के लिए अदृश्य सत्ता का मार्गदर्शन एवं अनुग्रह अर्जित करना आवश्यक है । यह कार्य न पैसे से हो सकता है, न बुद्धि से और न पराक्रम से । इनकी आवश्यकता तो है पर मूलभूत क्षमता अर्जित करने के लिए दैवी सहायता की आवश्यकता है । इसके लिए नियमित एवं व्यवस्थित उपासना की आवश्यकता है । भले ही वह न्यूनतम ही क्यों न हो, पर होनी चाहिए सुनिश्चित ही । उसे भोजन या शयन के साथ जोड़ लेना चाहिए । उपासना न बन पड़ी तो भोजन भी न करेंगे, या सोयेंगे नहीं । ऐसे व्रत ही नियमित रूप से निभते हैं । अन्यथा मनमौजी अस्तव्यस्तता ही पानी के बबूलों की तरह उछलती, मचलती और अन्ततः निकल जाने पर अदृश्य बन जाती है । वैसा नहीं ही होना चाहिए । इन दिनों प्रज्ञा परिजनों की साधना में व्रतशीलता का संकल्प समाविष्ट रहना चाहिए । जब अन्य सभी उपक्रम अनिवार्य ठहराये जा रहे हैं तो वही निर्धारण उपासना के सम्बन्ध में भी निश्चित करना होगा ।

प्रातःकाल आँख खुलते ही पन्द्रह मिनट की आत्म-बोध साधना की जाय और रात को सोते समय निद्रा से पूर्व पन्द्रह मिनट तत्व-बोध की । आत्म-बोध में भूत और वर्तमान का निर्धारण है और तत्व-बोध में वर्तमान की समीक्षा और भविष्य का निर्धारण । आमतौर से भौतिक क्षेत्र में चिन्ताएँ, समस्याएँ तथा योजनाएँ ही सिर पर चढ़ी रहती हैं । दूसरा कोई प्रसंग ही नहीं सूझता । इस प्रपंच में से प्रातः पन्द्रह मिनट का चिन्तन और रात्रि का मनन आत्म-बोध, तत्व-बोध के रूप में अपनाया जाना चाहिए ।

मनुष्य जीवन का स्वरूप, उद्देश्य, सदुपयोग । ईश्वर के इस सर्वोपरि उपहार का मूल्याँकन । आज के एक दिन को एक समग्र जीवन की मान्यता । आज की दिनचर्या में पवित्रता तथा प्रखरता बढ़ाने वाले तत्वों का समावेश संक्षेप में यही है । आत्मबोध के निमित्त प्रातः पन्द्रह मिनट किया जाने वाले चिन्तन साधना की परिधि ।

मनुष्य जीवन का अन्त । मरण का ध्रुव सत्य । ईश्वर के दरबार में पहुँचते ही जीवन सम्पदा के सदुपयोग की पूछताछ । प्रमादवश निरर्थक गँवा देने या अनर्थ में लगा देने का दण्ड चौरासी चक्र में लम्बी अवधि तक कष्ट कारक परिभ्रमण । समय रहते चेतने की आवश्यकता । वर्तमान की विशेष तथा आज के चिन्तन और क्रियाकलाप की तीखी समीक्षा । कल को अधिक उत्तम बनाने के लिए बरती जाने वाली सतर्कता का स्वरूप । भविष्य के लिए उपयुक्त दिशाधारा अपनाने का नियोजन । संक्षेप में यही है रात्रि को सोने से पूर्व की जाने वाली पन्द्रह मिनट की मनन साधना ।

यह हर किसी के लिए सरल है । आँख खुलने से लेकर शैय्या त्याग के बीच में हर किसी को पन्द्रह मिनट का अवकाश मिल जाता है । इसी प्रकार बिस्तर पर जाते-जाते नींद कहाँ आती है । उस अवधि में भी पन्द्रह मिनट उपरोक्त साधना में लगते हैं । प्रमाद ही इन घड़ियों में कुछ न करने या ऐसा सोचने में मन को लगा देते हैं, जो दिन भर में कभी भी किया जा सकता है । यह चिन्तन-मनन की साधना हम में से प्रत्येक को इन दिनों अपना ही लेना चाहिए ।

नियमित साधना के लिए स्नान के पश्चात और भोजन से पूर्व पन्द्रह मिनट का समय नियमित उपासना के लिए निकालना चाहिए । घर में पूजा की एक छोटी चौकी रहनी चाहिए । न हो तो बना लेना चाहिए । साधना में आत्मशुद्धि के पाँच कृत्य आरम्भ में किये जाते हैं (१) पवित्रीकरण (२) आचमन (३) शिखा वन्दन (४) प्राणायाम (५) न्यास । इसके उपरान्त वेदी पर स्थापित गायत्री माता या मंत्र चित्र के सम्मुख अर्घ्य, अक्षत, पुष्प, अगरबत्ती, नैवेद्य का पंचोपचार-नमन-अभिवादन । इतना आरम्भिक कृत्य किस प्रकार किया जाय यह परिजनों को विदित है । किसी को मालूम न हो तो किसी पड़ोसी प्रज्ञा परिजन से पूछा जा सकता है । यहाँ उसे लिखने से व्यर्थ ही कागज और समय खर्च होगा । इस समूचे कृत्य में पाँच मिनट से अधिक समय नहीं लगता ।

ऋतम्भरा प्रज्ञा की अधिष्ठात्री, आद्य शक्ति युग शक्ति गायत्री की उपासना-तीन शरीरों में दिव्य चेतना का अवतरण करने के लिए तीन माला जप तो करना ही चाहिए । इसमें प्रायः पन्द्रह मिनट लगते हैं । जब शारीरिक और ध्यान मानसिक दोनों का समन्वय रहने से ही मन एकाग्र, चित्त स्थिर होता है और समग्र साधना बन पड़ती है । जप के साथ गायत्री के अधिष्ठाता सविता देवता का प्रातःकाल के स्वर्णिम सूर्य का ध्यान करना चाहिए । उदीयमान सविता साधक के कारण शरीर-अन्तःकरण में सद्भावना सूक्ष्म शरीर-मन

मस्तिष्क में-सद्विचारणा, स्थूल शरीरकाय कलेवर-में आदर्शवादी कार्यनिष्ठा बनकर प्रवेश करते हैं और समूचे व्यक्तित्व को पवित्रता प्रखरता से ज्योतिर्मय बना देते हैं। यही है सविता का ध्यान जो गायत्री जप के साथ-साथ चलना चाहिए। प्रातः पन्द्रह मिनट में सम्पन्न होने वाली तीन मालाएँ जब समाप्त हो जाये तो चौकी पर रखे छोटे जल कलश को सूर्य के सम्मुख या पूर्व दिशा में अर्घ्य रूप से चढ़ा देना चाहिए। इसके लिए उपयुक्त स्थान तुलसी का थांवला है। जो हममे से प्रत्येक को एक सुसज्जित देवालय के रूप में स्थापित करना चाहिए। सूर्यार्घ्य, शाम की दीपक-अगरबत्ती, परिक्रमा करने भर से तुलसी की, वनस्पति भगवान की पूजा होती रहती है।

यह परम्परा घर परिवार में भी प्रचलित करनी चाहिए। घर के प्रत्येक सदस्य को उसका भोजन से पूर्व नमन-वन्दन करते रहने के लिए सहमत करना चाहिए। खड़े-खड़े आँख बन्द करके पाँच मिनट गायत्री का मानसिक जप और ध्यान कर लेने पर उन्हें दूरदर्शी विवेक बुद्धि का लाभ प्राप्त होगा। यह दैवी अनुदान जिसे जितनी मात्रा में मिल सका वह उसी अनुपात से तृप्ति, तुष्टि एवं शान्ति का दिव्य अनुदान प्राप्त करता है और सर्वतोमुखी मार्ग पर आगे बढ़ता है। इस तथ्य को घर परिवार में भली प्रकार समझाया जा सके तो अधिकांश सदस्य इस छोटे उपासना उपक्रम को अपनाने के लिए सहमत हो जायेंगे। जो तत्काल तैयार न हों उन पर अनावश्यक दबाव न डाला जाय। स्नेह, सद्भाव और परामर्श अनुरोध तक ही प्रयास सीमित रखा जाय। स्वेच्छा सहमति की धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा की जाय।

यह युग सन्धि की वेला है। इसमें हर प्रज्ञा परिजन को आत्म साधना के लिए संयम अनुबन्ध की तपश्चर्या का भी अभ्यास करना चाहिए। तप से शक्ति, शक्ति से सिद्धि का सिद्धान्त हमें भली प्रकार समझ लेना चाहिए और इस सन्दर्भ में भी एक न्यूनतम मर्यादा अपने लिए निश्चित कर लेनी चाहिए। गुरुवार को आधे दिन का उपवास। ब्रह्मचर्य पालन। दो घण्टे का मौन। इतना संयम तो निभाना ही चाहिए। उपवास बन पड़े तो और भी उत्तम। गुरुवार असुविधाजनक पड़ता हो तो सप्ताह में एक कोई अन्य दिन भी निर्धारित किया जा सकता है। यह तप साधना का प्रतीक शुभारम्भ है। आगे चलकर इन्द्रिय संयम, समय संयम, अर्थ संयम और विचार संयम की व्रतशीलता को यथासंभव अधिकाधिक बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

प्रज्ञा परिजनों के लिए एक विशेष साधना "अनुदान अवधारणा" की है। इन दिनों आध्यात्म के ध्रुव केन्द्र हिमालय से कुछ ऐसे उच्चस्तरीय दिव्य प्रवाह बनाये जा रहे हैं, जिन्हें जाग्रत आत्माएँ ग्रहण करतीं और सामयिक उत्तरदायित्व वहन कर सकने की व्यक्तित्व को और अधिक पवित्र प्रखर बना सकने की क्षमता प्राप्त कर सकें। जो कराता है वह साधन भी देता है। उपलब्धि ग्रहणकर्त्ता की मनःस्थिति एवं मर्जी पर निर्भर है। वर्षा का लाभ उर्वर भूमि और गहरे जलाशयों को मिलता है। टीले और चट्टान तो घनघोर वर्षा होते रहने पर भी सूखे ही पड़े रहते हैं। युग सन्धि की बीस वर्षों तक जाग्रत आत्माओं को उपलब्ध होते रहने वाले विशिष्ट दैवी अनुदानों का लाभ नियमित रूप से उठाते रहना चाहिए। इसके लिए गुरुवार का दिन ही उपयुक्त पड़ता हैं।

सप्ताह में एक दिन यह विशेष साधना करते रहने से भी काम चलाऊ लाभ मिलता रह सकता है। इस ध्यान धारणा का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

सूर्योदय से एक घण्टा पूर्व से लेकर सूर्योदय तक के साठ मिनटों में यह प्रज्ञा प्रवाह परिजनों को उपलब्ध हो सकता है। इस अवधि में से प्रातः पन्द्रह मिनट का कोई निर्धारित समय ध्यान-धारणा के लिए निकालना चाहिए। नित्य कर्म से निवृत्त होकर, कोलाहल रहित, एकान्त स्थान में यह साधना करनी चाहिए। पालथी मार कर बैठा जाय। कमर सीधी रहे। स्थिर शरीर शान्त चित्त दोनों हाथ गोदी में आँखें बन्द-यह ध्यान मुद्रा का अनुशासन है। इस पर बैठ कर भावना करनी चाहिए कि-"हिमालय के सर्वोच्च शिखर सुमेरू पर्वत से-एक दिव्य ज्योतिर्मय सूक्ष्म प्रवाह बहता है और वह सूर्य किरणों की भाँति साधक तक पहुँचता है। वह दिव्य धारा अन्तराल के मर्मस्थल तक पहुँचती और अपना सुनिश्चित स्थान

बनाती है । इस प्रवेश अवतरण के फलस्वरूप अन्तराल में ऋतम्भरा प्रज्ञा उमँगती है । समूचे अन्तर्जगत को दूरदर्शी विवेकशीलता एवं उच्चस्तरीय उत्कर्ष की संकल्पवान साहसिकता से भर देती है ।"

इस ध्यान-धारणा का अभ्यास आरम्भ में धुँधला होता है पर अभ्यास से भावचित्र उभरने लगते हैं। अनुभूति का स्तर क्रमशः अधिक स्पष्ट होता जाता है । आरम्भ पन्द्रह मिनट से अन्त आधा घण्टे तक । उसे निर्धारित अवधि में पूरा कर लेना चाहिए जो सूर्योदय से एक घण्टा पहले आरम्भ होकर दिनमान उदय होने तक चलती है । सप्ताह में एक बार भी यदि उसे किया जाता रहे तो उसकी प्रतिक्रिया चिन्तन, चरित्र, साहस एवं व्यक्तित्व में अभिनव निखार आने के रूप में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगेगी ।

हममें से प्रत्येक को यही भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि शरीर मात्र निर्वाह साधन एवं ललक लिप्सा की मांग पूरी कर सकने वाली सम्पदाएँ ही कमा सकने तक सीमित है । विभूतियाँ विशुद्ध रूप से अध्यात्म क्षेत्र का उत्पादन उपार्जन है । अस्तु जितना ध्यान भौतिक जीवन से सम्बन्धित व्यक्तियों एवं साधनों का रहता है उतना ही आत्मा की समर्थता, उत्कृष्टता एवं प्रखरता बढ़ाने वाली आध्यात्म उपलब्धियों का भी रखना-चाहिए । इसके लिए अंतरंग उपासना और बहिरंग जीवन साधना की समान रूप से आवश्यकता है । इन्हें भी अन्न, जल की तरह आवश्यक मानना चाहिए और उनके उपार्जन में निष्ठापूर्वक दत्तचित्त रहना चाहिए ।

बल्ब की रोशनी बिजली घर से आती है । नल का पानी टंकी के बलबूते से चलता है । जमीन पर दीखने वाला पानी मेघमाला की देन है । धरती का समूचा प्रकाश प्रकारान्तर से सूर्य का अनुदान है । ठीक इसी प्रकार व्यक्ति में प्रकट होने वाली विभूतियाँ दैवी अनुदान की अनुकम्पा है । दो तालाबों के बीच नाली बना देने पर जब वे जुड़ते हैं, तो पानी की सतह समान हो जाती है । लकड़ी आग में पहुँचते ही अग्नि रूप हो जाती है । आत्मा का परमात्मा से लिपटना भी ठीक ऐसे ही सत्परिणाम उत्पन्न करता है । इसके लिए उपासना आवश्यक है जाग्रत आत्माओं को नव सृजन की क्षमता प्राप्त करने के लिए उसके लिए श्रद्धावान एवं प्रयत्नशील रहना ही चाहिए ।

—0—

नित्य-कर्म

नित्य—कर्म में धर्म-भावना का समावेश

जीवन के प्रत्येक अंग में, दिनचर्या के प्रत्येक क्रिया कलाप में धर्म-भावना का समावेश भारतीय धर्म और संस्कृति की विशेषता है। धर्म-भावना से तात्पर्य जीवन के लिए ईश्वर के प्रति कृतज्ञता का धन्यवाद का भाव है। उसमें व्यक्ति जीवन को ईश्वर का वरदान, अमूल्य उपहार मानकर चलता है। इस तथ्य का नित्य निरन्तर स्मरण बना रहे, इसके लिए भारतीय मनीषियों ने प्रातःकाल उठने से लेकर रात्रि को सोते समय तक प्रत्येक कार्य में ईश्वर का स्मरण, पवित्र भावनाओं के समावेश का विधान किया है। सुबह बिस्तर पर से उठ कर बैठने, पलंग या बिस्तर से उठ कर जमीन पर पैर रखने से लेकर शौच, मुखमार्जन, स्नान, भोजन आदि प्रत्येक आवश्यक क्रियाओं के पूर्व नियत पवित्र भावनाओं पर ध्यान केन्द्रित करने का, उन्हें स्मरण करने का विधान है।

इसके पीछे भावना विज्ञान का सिद्धान्त आधार रूप से स्थित है, जिस प्रकार की भावनाएँ मन-मस्तिष्क में उमड़ती-घुमड़ती रहती हैं, मनुष्य का व्यक्तित्व भी उसी के अनुरूप ढलता है। मन में यदि कलुषित, ईर्ष्या-द्वेष की अपवित्र और मलीन भावनाएँ हों तो बाह्य आचरण भी उसी के अनुसार ढलते-बनते हैं। थोड़ी बहुत देर के लिए सदाचारी होने या सदाशयता जताने का ढोंग भले ही कोई कर ले पर वास्तव में भीतर जो कुछ होता है, वह इस बाह्य आचरण से दबता ढकता नहीं है। इसी प्रकार मन में यदि पवित्र भावनाएँ हों तो वे भी लाख दूसरों के द्वारा झुठलाये जाने पर भी प्रकट, प्रभावित और व्यक्त होकर उभर आती हैं।

प्रातःकाल उठने से लेकर रात को सोते समय तक मनीषियों ने प्रत्येक क्रिया के पूर्व कुछ विशेष मंत्रों के पाठ स्मरण का विधान किया था और उनकी भावनाओं पर ध्यान केन्द्रित करने का निर्देश दिया था। प्रातः काल उठने, उठकर बिस्तर से जमीन पर पैर रखने, शौच, स्नान करने, दन्त-धावन और मुखमार्जन करने, जलपान, भोजन आदि क्रिया-कलापों के समय दिन में कोई १५-२० बार इन भावनाओं का स्मरण किया जाता था। इससे पवित्र, उदात्त और आदर्श भावनाएँ नित्य-निरन्तर मन में उत्पन्न होती रहती थीं।

अब जबकि भारतीय जीवन पद्धति के लगभग सभी विधिनियम लुप्त हो चुके हैं, जो कुछ प्रचलित हैं वे भी सही, वे केवल चिह्नपूजा तक ही सीमित हैं। आवश्यकता इस बात की समझी गई है कि अपनी दिनचर्या में धर्म भावनाओं का समावेश किया जाय और इसके लिए उठने, सोने, भोजन, स्नान करने तथा प्रातःकाल सूर्य प्रार्थना करने के रूप में पाँच बार पाँच आवश्यक कृत्यों में धर्म भावना का तो समावेश किया ही जाय। ब्रह्मवर्चस् की साधना प्रक्रिया में इन पाँच कर्मों का अनिवार्य समावेश किया गया है। इस साधना प्रक्रिया में प्राण ऊर्जा के परिष्कार के साथ ही चिंतन क्षेत्र तथा भावना क्षेत्र का स्तर ऊँचा उठाने के लिए इन क्रियाओं का समावेश किया जाय। साधक के भाव क्षेत्र में जीवन के यथार्थ स्वरूप के उत्कृष्ट उद्देश्य के प्रति आस्था जीवन्त रहे, उसकी स्मृति सदैव बनी रहे, श्रद्धा भावना प्रखर बने तथा सत्प्रवृत्तियों के उभार के उपयुक्त उत्साह निरतर उमड़ता रहे। इस उद्देश्य से साधनाचर्या में नित्य-कर्मों के समय का भी आध्यात्मिक चिंतन, स्मरण एवं भावना का विधान है। ब्रह्मवर्चस् साधना प्रक्रिया में आरम्भ किये गये इस अभ्यास को आगे की अपनी सामान्य दिनचर्या में समाविष्ट रखा जाय, साधकों से यह अपेक्षा की जाती है।

इन प्रक्रियाओं को नित्य जीवन क्रम में समाविष्ट करने से साधक की आस्था दृढ़तर होती है और साधनात्मक मनोभूमि में तत्परता जाग्रत रहती है, इसीलिए ब्रह्मवर्चस् साधना के निर्धारित क्रम में नित्य-कर्मों के समय भी धर्म भावना का समावेश-तदुपरान्त शय्या-त्याग प्रातः कर्म करने के बाद स्नान और सूर्योपस्थान के समय भी धर्मभावना का विधान है। इसी प्रकार भोजन के समय तथा रात्रि में शयन पूर्व धर्मभावना आवश्यक है। साधक का उपासनाकाल ही नहीं सम्पूर्ण दिनचर्या, सम्पूर्ण जीवन विधि ही साधनामय होनी आवश्यक है। इसी तथ्य का स्मरण दिलाने वाली यह व्यवस्था है, जो पाँचों प्रधान नित्य-कर्मो के समय की जानी चाहिए।

प्रातः स्मरण—मस्तिष्क और शरीर की हलचलें अन्तःकरण में जड़ जमाकर बैठने वाली आस्थाओं की प्रेरणा पर अवलम्बित रहती हैं इसीलिए उत्कृष्टतावादी आस्थाओं का स्मरण प्रातः आँख खुलते ही किया जाना आवश्यक है, नींद टूटने के बाद शैया में ही आसन या पालथी मारकर बैठ जाना चाहिए ।

भावना करनी चाहिए कि विश्व-व्यापी प्राण ऊर्जा का अंश आत्मसत्ता में आज नवीन स्फूर्ति भर रहा है, जो दिन भर के सक्रिय, श्रेष्ठ, सात्विक जीवन का सम्बल सिद्ध होगा । इसके बाद श्रेष्ठ जीवनक्रम के मार्गदर्शक गुरु और चेतना की अधिष्ठात्री देवी गायत्री का वन्दन एवं प्रातः स्मरण करना चाहिए । प्रातः स्मरण मंत्र आगे दिया गया है ।

प्रातः स्मरण मंत्र के बाद आत्मबोध चिंतन साधना करनी चाहिए । इस चिंतन मनन का उद्देश्य आस्थाओं को प्रभावित, परिष्कृत करना ही होता है । इस उद्देश्य की पूर्ति में यह साधना, मंत्र की भावना बहुत ही उपयोगी सिद्ध होती है ।

इस साधना के लिए यही सबसे उपयुक्त समय है । इस साधना में मुँह से कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं, पर यह मान्यता चित्त मस्तिष्क में अधिकाधिक स्पष्टता के साथ जमाना चाहिए कि आज का एक दिन एक पूरे जीवन की तरह है । इसका श्रेष्ठतम सदुपयोग किया जाना चाहिए, समय का एक भी क्षण न तो व्यर्थ गँवाया जाना चाहिए और न निरर्थक कार्यों में लगाया जाना चाहिए । उसी समय विचार किया जाना चाहिए कि, "ईश्वर ने अन्य किसी जीवनधारी को वे सुविधायें नहीं दीं जो मनुष्य को प्राप्त हैं । यह पक्षपात या उपहार नहीं, वरन् विशुद्ध अमानत है । जिसे उत्कृष्ट आदर्शवादी रीति-नीति अपना कर पूर्णता प्राप्त करने, स्वर्ग और मुक्ति का आनंद इसी जन्म में लेने के लिए दिया गया है । यह प्रयोजन तभी पूरा होता है जब ईश्वर की इस सृष्टि को अधिक सुदृढ़, समुन्नत एवं सुसंस्कृत बनाने के लिए उपलब्ध जीवन सम्पदा का उपयोग किया जाय । इसी श्रेष्ठ उपयोग के लिए यह सुर दुर्लभ अवसर मिला है । यह योजनाबद्ध सदुपयोग करने में ही ईश्वर की प्रसन्नता और जीवन की सार्थकता है ।

इन शब्दों को मंत्र जाप की तरह दोहराने की आवश्यकता नहीं है बल्कि गम्भीरतापूर्वक इस तथ्य को हृदयंगम किया जाना चाहिए । कल्पना चित्र सिनेमा फिल्म की तरह स्पष्ट उभरने चाहिए और उनके साथ इतनी गहरी आस्था का पुट होना चाहिए कि यह चिन्तन, वस्तुस्थिति बनकर मस्तिष्क को पूरी तरह आच्छादित कर ले । इसी समय पूरे दिन भर की दिनचर्या बना लेनी चाहिए । यों नित्य-कर्म पूरे करते हुए भी दिन भर का समय विभाजन कर लेना कुछ कठिन नहीं है । ध्यान इस बात का रखा जाना चाहिए कि दिनचर्या का प्रत्येक कार्य फुर्ती और चुस्ती के साथ निपटाया जाय । सुस्ती और उदासी में ही समय का भारी अपव्यय होता है, योजनाबद्ध दिनचर्या बनायी जाय और उसका मुस्तैदी से पालन किया जाय तो ढेरों समय बच सकता है । एक काम के साथ दो काम हो सकते हैं, जैसे आजीविका उपार्जन के बीच में खाली समय के वक्त स्वाध्याय तथा मित्रों से परामर्श हो सकता है । परिवार व्यवस्था में मनोरंजन का पुट हो सकता है । निद्रा, नित्यकर्म, जीविका उपार्जन, स्वाध्याय, उपासना, परिवार व्यवस्था, लोकमंगल आदि कार्यों में कौन ? कब ? किस प्रकार ? कितना समय देगा । यह हर व्यक्ति की अपनी परिस्थिति पर निर्भर है, पर समन्वय इन सब बातों का रहना चाहिए । 'दृष्टिकोण यह रहना चाहिए कि आलस्य, प्रमाद में एक क्षण भी नष्ट न हो और सारी गतिविधियाँ इस प्रकार चलती रहें जिनमें आत्म-कल्याण, परिवार निर्माण एवं लोक मंगल के तीनों तथ्यों का समुचित समावेश बना रहे, इन सारे क्रिया-कलापों में आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाया जाय । दुष्प्रवृत्तियों को दुर्भावनाओं का स्थान न मिलने दिया जाय । जहाँ भी, जब भी गड़बड़ दिखायी पड़े तब वहीं उसकी रोकथाम की जाय और गिरते लड़खड़ाते कदमों को सम्भाला जाय । इस प्रकार प्रातःकाल ही समय, श्रम, चिंतन व धन का तनिक-सा अंश भी अवांछनीय प्रयोजनों में नष्ट न किया जाय । इन चारों ही सम्पदाओं का एक-एक कण सदुपयोग में लगता रहे, इस तथ्य पर तीखी दृष्टि रखी जाय तो उस दिन के उस जीवन को संतोषपूर्वक जिया जा सकता है ।

भूमि वन्दन— इस आत्मबोध चिंतन के बाद शय्या-त्याग से पूर्व पृथ्वी को हाथ से स्पर्श कर पृथ्वी माता को प्रणाम करते हुए पृथ्वी पर पैर रखना चाहिए । भूमि स्पर्श के समय इस अध्याय के अन्त में दिए हुए मंत्र का उच्चारण करना चाहिए । उच्चारण

जप की शैली में हो, अर्थात् होंठ हिलते रहें और मुँह से आवाज न निकले। बिना होंठ हिलाये मन ही मन भी उच्चारण किया जा सकता है। मंत्र के साथ उसका भाव चिन्तन भी करना चाहिए।

भूमिवंदन मंत्र में पृथ्वी की विशालता, गुरुता, सहिष्णुता जैसे गुणों का संकेत है। समुद्रवसना और पर्वतमंडिता है। हमारा गाँव, शहर, जिला या प्रांत ही पृथ्वी नहीं। इस विशाल पृथ्वी के विस्तार का अनुभव करते हुए हमें अपनी आत्मीयता की परिधि को विस्तृत बनाने और साथ ही स्वयं की सीमा को समझकर सच्ची विनम्रता अपनाने की प्रेरणा मिलती है। उसकी गम्भीरता, उदारता, सहनशीलता की सत्प्रवृत्तियों से भी तदनुरूप प्रेरणाएँ ग्रहण की जानी चाहिए।

स्नान— शैय्या त्याग के उपरान्त शौचादि से निवृत्त होकर स्नान की क्रिया सम्पन्न की जाती है। ब्रह्मवर्चस् के साधक गंगा-स्नान करते हैं। साधना स्थल गंगा के अति निकट है। जो साधक किसी दिन किसी कारण से गंगा स्नान के लिए नहीं जा सकें उन्हें कुएँ या नल के पानी से ही नहाना चाहिए। भूमितल में, सतह से थोड़े ही नीचे गंगा प्रवाह से सीधे जुड़े हुए जल स्त्रोत है। अतः इस क्षेत्र के जल स्त्रोत से भी गंगाजल ही प्राप्त होता है। स्नान की क्रिया में धर्म-भावना का समावेश का क्रम अपने घर पर भी जारी रखना चाहिए और भावना करनी चाहिए कि स्नान से शरीर शुद्धि के साथ-साथ मनःशुद्धि भी हो रही है।

गंगाजल में स्नान के समय गंगा की पवित्रता, सुसंस्कारिता एवं आध्यात्मिकता का स्मरण कर साधक पुलकित हो उठता है। यह वही पवित्र दिव्य प्रभाव है जो वर्षों और युगों से तपस्वी, योगी महात्माओं, महामानवों, संतों, सत्पुरुषों की साधना एवं सिद्धि का साक्षी प्रेरक तथा सहायक रहा है। भगवान राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, परशुराम से लेकर वशिष्ठ, विश्वामित्र अत्रि, भारद्वाज, याज्ञवल्क्य, जमदग्नि, अरुंधती जैसे हजारों मूर्धन्य ऋषि-ऋषिकाओं ने जिसकी गोद में बैठकर साधना की, वही पयस्विनी हमें भी उन श्रेष्ठ संस्कारों का पान करा रही है, सत्प्रवृत्तियों को पुष्ट कर रही है, यह भावना साधक की सात्विकता की वृद्धि एवं पुष्टि करती है।

जहाँ गंगा-जल नहीं भी उपलब्ध हो, वहाँ भी भाव-गंगा तो उपस्थित हो ही सकती है। अतः स्नान के समय स्थूल, सूक्ष्म शरीर को प्रबल, प्रखर एवं पवित्र बनाने वाली माँ गंगा, का स्मरण करना नित्य-कर्म का ही अंग है। दूसरे श्लोक में इस पुण्य भूमि भारतवर्ष की सात प्रमुख पवित्र नदियों का स्मरण करना स्वयं को भारत भूमि की सांस्कृतिक चेतना एवं आध्यात्मिक परम्परा से जोड़ने का प्रयास है।

भारतीय संस्कृति की प्राणवान धाराओं की प्रतीक इन सातों प्रमुख पवित्र नदियों का स्मरण भाव प्रवण साधक के मन में ब्रह्म-विद्या और ब्रह्म-तेज की आर्ष परम्परा की उस स्मृति की उद्दीप्ति करता है, जब इसके तट पर आरण्यकों-आश्रमों-तीर्थों का संचालन करने वाले तत्वचिंतक, तत्वदृष्टा मनीषी साधना करते और लोक-कल्याण के लिए विचारों, शास्त्रों तथा सामाजिक संस्कारों, व्यवस्थाओं की रचना करते थे। उस परम्परा का ऋण भी हम सब पर है। इन सातों पवित्र नदियों के स्मरण में उस ऋषि ऋण का भी स्मरण हो आना स्वाभाविक है।

सूर्योपस्थान— प्रातः स्मरण, आत्मबोध चिंतन और स्नान के बाद सूर्योपस्थान का विधान है। यह अपनी प्रातः कालीन उपासना के बाद करना चाहिए। सूर्योपस्थान का अर्थ है सूर्य के सम्मुख उपस्थित होना। इस नित्य कर्म में साधक को स्नानादि से निवृत्त होने के बाद सूर्याभिमुख होकर, खड़े होकर दोनों हाथ ऊपर उठा कर हथेलियों को सूर्य के सामने की ओर रखते हुए सूर्य देवता का स्तवन किया जाता है। हाथ इस प्रकार ऊपर उठाये जाते हैं कि कुहनियों से बीच में मुड़े रहें और हथेलियाँ छाती से ज्यादा ऊपर न उठें। गायत्री का देवता सविता है और सूर्य उसका प्रतिनिधि है। पृथ्वी और उस पर निवास करने वाले समस्त प्राणियों का सूर्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सूर्य से ही यह सारा संसार प्रकाशित होता है।

गायत्री उपासना में निराकार साधक सूर्य के अरुणामय ज्योति-पिंड का ही ध्यान करते हैं। नित्य कर्म में सूर्योपस्थान का अलग से विधान करने का तात्पर्य है, समस्त जगत के प्रकाशक सूर्य देवता को परमात्मा को प्रतिनिधि मानना और स्वयं के जीवन को तेजस्वी,

मनस्वी तथा प्रकाशवान बनाना । आध्यात्मिक अर्थों में प्राण को सूर्य कहा गया है । ब्रह्मवर्चस् साधना में भी उपासनात्मक इष्टदेव सविता रखा गया है । कलेवर की प्रतीक पूजा नारी के रूप में गायत्री माता के ध्यान के साथ उच्च स्तरीय ध्यान में भी प्राण की स्थापना करनी पड़ेगी । गायत्री का प्राण सविता है । शरीर को देख लेने के बाद किसी की वस्तु-स्थिति उसके आंतरिक स्तर को समझने से ही विदित होती है । सूर्योपस्थान सविता सम्पर्क के लिए आगे कदम बढ़ाने की ही प्रक्रिया है ।

प्राण शक्ति और भाव चेतना को जहाँ तक प्रखर· तेजस्वी बनाने के लिए जिन नित्य-कर्मों का विधान है उनमें चौथा उपक्रम भोजन से पूर्व भगवान को स्मरण करने का है, यों प्रत्येक परिवार में भगवान को भोजन समर्पित कर, खाने के लिए वलिवैश्वदेव का अलग से विधान है लेकिन वह प्रक्रिया सामूहिक है । व्यक्तिगत रूप से भी अपने दैनंदिन जीवन में धर्म भावना का समावेश करने के लिए दोनों समय से पूर्व स्मरण का नियम बनाना चाहिए । 'ब्रह्मवर्चस्' साधना मंत्रों में जो भोजन किया जाता है, वह वैसे भी परम सात्विक, दृविष्यान्न और साधकों के उपयुक्त उनकी आत्मिक प्रगति में सहायक होता है । भोजन करते समय यह भाव होना चाहिए कि हम परमात्मा के प्रसाद रूप में भोजन को ग्रहण कर रहे हैं । उस भोजन से केवल स्थूल शरीर की ही नहीं सूक्ष्म और कारण शरीर की भी पुष्टि हो रही है । इस अध्याय के अन्त में दिये गये मंत्र को जप की तरह पढ़ कर भोजन करने की प्रक्रिया में मोटी दृष्टि से कोई विशेष महत्व दिखायी नहीं पड़ता न उसे करने में कोई बड़ा लाभ प्रतीत होता है । परन्तु यदि बारीकी से देखा जाय तो यह क्रिया छोटी होने पर भी इसके पीछे निहित प्रेरणाएँ और भावनाएँ अति महान हैं ।

प्रश्न कृत्यों का नहीं उनके पीछे निहित भावनाओं का, आस्थाओं की प्रतिष्ठापना का है । धर्मकृत्य तो इसके प्रतीक मात्र हैं । इसलिए इनका नाम भी प्रतीक पूजा है । प्रतीक अर्थात् प्रतिनिधि । देवताओं की आकृतियाँ एवं प्रतिमाएँ आँख से देखने पर कौतुक-कौतूहल जैसी लगती हैं, पर उनके पीछे श्रद्धा को जगाने और बढ़ाने वाले जो तत्व जुड़े हुए हैं उन्हीं को प्राण प्रतिष्ठा कहा गया है ।

प्रातःकाल जिस प्रकार सूर्योपस्थान किया जाता है उसी प्रकार संध्या समय सूर्यास्त होने के बाद दीप स्तुति की जानी चाहिए । सुबह सूर्यापस्थान और संध्या समय दीप स्तुति अपने अंतः प्रकाश को उद्धारित करने की ही प्रेरणा भावना का द्योतक है । अपने भीतर का विवेक यदि जाग्रत हो सके तो फिर कहीं कोई पाप दुष्कर्म होने की सम्भावना नहीं रह जाती । प्रकाश की उपस्थिति में जिस प्रकार अन्धकार दूर भाग जाता है, उसी प्रकार अंतः प्रकाश से आन्तरिक विवेक, प्रज्ञा की ज्योति उपलब्ध हो जाने पर पाप तथा दुष्कर्मों की जड़ें नष्ट हो जाती हैं । यह भावना करते हुए अपने विवेक को सदैव जाग्रत रखना चाहिए ।

इन पाँच क्रियाओं के बाद रात को सोते समय ईश्वर का स्मरण करते हुए निद्रा की गोदी में जाना चाहिए । उस समय तत्व बोध का, हर दिन नया जन्म, हर रात नयी मौत, मंत्र के उत्तरार्द्ध का चिन्तन करना चाहिए । प्रातः जल्दी उठने और रात को जल्दी सोने का नियम तथा दिनचर्या में नियमितता का समावेश हो जाय तो बहुत-सी व्यर्थ की उलझनों से समय बच जाता है और अनावश्यक कार्यों में समय लगने का झंझट भी नहीं खड़ा होता । उस समय प्रातःकाल बनायी गयी दिनचर्या, नियत कार्यक्रम के संदर्भ में यह आत्म निरीक्षण करना चाहिए कि उसका कड़ाई के साथ पालन किया गया अथवा नहीं ।

रात्रि को सोते समय वैराग्य एवं संन्यास जैसी स्थिति बनानी चाहिए । बिस्तर पर जाते ही यह सोचना चाहिए कि निद्रा काल एक प्रकार का मृत्यु विश्राम है । आज का नाटक समाप्त, कल दूसरा खेल खेलना है । परिवार ईश्वर का उद्यान है । उसमें अपने को कर्त्तव्यनिष्ठ माली की भूमिका निभानी थी । शरीर एवं मन, ईश्वरीय प्रयोजनों को पूरा करने के लिए मिले जीवन रथ के दो पहिये हैं, इन्हें सही राह पर चलाना था । धन, प्रभाव, पद यह विशुद्ध धरोहर हैं उन्हें सत्प्रयोजनों में ही लगाना था । देखना चाहिए कि वैसा ही हुआ या नहीं ? जहाँ गड़बड़ी हुई दिखायी दे वहाँ पश्चाताप करना चाहिए और अगले दिन वैसी भूल न होने देने में कड़ी सतर्कता बरतने की अपने आपको चेतावनी देनी चाहिए ।

संन्यासी अपना सब कुछ ईश्वर को अर्पण करके परमार्थ प्रयोजनों में लगता है । सोते समय साधक की

वैसी ही मनःस्थिति होनी चाहिए । मिली हुई अमानतें और सौंपी हुई जिम्मेदारियाँ आज ईमानदारी के साथ सँभाली गईं । यदि कल वे फिर मिलीं तो फिर उन्हें ईश्वरीय आदेश मानकर सँभाला जायेगा । अपना स्वामित्व किसी भी व्यक्ति या पदार्थ पर नहीं । जो कुछ है सो सब ईश्वर का है । अपना तो यहाँ बस कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व भर है । उसे पूर्ण सतर्कता और पूरी-पूरी तत्परता से निभाते भर रहना अपने लिए पर्याप्त है । परिणाम क्या होते हैं, क्या नहीं–यह परिस्थितियों पर निर्भर है, अस्तु सफलता-असफलता की चिन्ता न करते हुए हमें आदर्शवादी कर्तव्यपरायणता अपनाये रहने मात्र में पूरा-पूरा सन्तोष अनुभव करना चाहिए ।

सोते समय ईश्वर की अमानतें ईश्वर को सौंपने और स्वयं खाली हाथ प्रसन्न चित्त विदा होने की, निद्रा देवी की गोद में जाने की बात सोचनी चाहिए । हल्के मन से शान्तिपूर्वक गहरी नींद में सो जाना चाहिए । चिन्ता, आशंका, खीज, क्रोध जैसी किसी भी उद्विग्नता को मन पर लाद कर नहीं सोना चाहिए । यह प्रयत्न शान्त निद्रा की दृष्टि से भी उपयोगी है साथ ही आत्मपरिष्कार की दृष्टि से भी अतिमहत्त्वपूर्ण है ।

मृत्यु को भूलने से ही जीवन सम्पदा को निरर्थक कामों में गँवाते रहने की चूक होती है, दुष्कर्म बन पड़ते हैं और वासना, तृष्णा, अहंता की क्षुद्रताओं में समय गुजरता है । यदि यह ध्यान बना रहे कि मृत्यु का निमन्त्रण कभी भी सामने आ सकता है तो ध्यान बना रहेगा कि इस महान अवसर का सही उपयोग किया जाय और पूरा लाभ उठाया जाय तो निद्रा की तुलना मृत्यु से करते रहने पर मौत का डर मन से निकल जाता है और अलभ्य अवसर के सहयोग की बात चित्त पर छायी रहती है ।

प्रातः काल उठने से लेकर रात्रि को सोने तक प्रातः स्मरण, पवित्र स्नान, सूर्योपस्थान, भोजन और रात्रि को तत्व-बोध आत्मचिन्तन का क्रम अपने आप में एक परिपूर्ण जीवन साधना है । यदि इन कृत्यों को भावना और श्रद्धा-निष्ठा के साथ सम्पन्न किया जाता रहे तो जीवन क्रम में शुभ और सात्विक परिवर्तन होना अवश्यंभावी है । इस परिवर्तन का परिणाम जीवन में सुख शांति की सृष्टि और आनंद-उल्लास की वृद्धि के रूप में अनिवार्य रूप से होते हुए देखा जा सकता है ।

इन पाँचों क्रियाओं का स्वरूप और उनमें प्रयुक्त होने वाले नेत्र यहाँ दिये जा रहे हैं–

(१) **प्रातः स्मरण**– उठते ही हथेलियाँ परस्पर रगड़ कर उन्हें देखें । फिर हाथ जोड़कर आगे लिखे मंत्रों से भाव पूर्वक वंदना करें

(क) प्रातः स्मरामि खलु तत्सवितुर्वरेण्यं,
रूपं हि मण्डलमृचो यजुषां निधानम्:
सामानि यस्य किरणा प्रवादि हेतुं
ब्रह्माहरात्मकलक्ष्यमचिन्त्यरूपम् ।।
आत्मात्वम् गिरिजामतिः सहचराः प्राणं शरीरं गृहम,
पूजार्थे विषयोपभोगरचना, निद्रा समाधि स्थिति !
संचारः पदयोर्प्रदक्षिण विधिः स्त्रोतः सर्बांगिरौ,
यद यद् कर्म करोमि तत्वमखिलं शंभोतवाशनम् ।।

मंत्र पाठ के बाद आत्म बोध चिंतन करें । चिंतन के पश्चात् भूमि पर पैर रखने से पूर्व हाथ से भूमि स्पर्श करके पृथ्वी की वन्दना करें–

(२) समुद्र वसने देवि पर्वत स्तन मंडिले ।
विष्णुपत्नि नमस्तु, पादस्पर्शक्षमस्व मे ।।

(३) **स्नान**– स्नान के पूर्व पुण्य नदियों का आह्वान स्मरण करते हुए प्रथम मंत्र और स्नान करते हुए दूसरा मंत्र बोला जाय ।

(क) गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।
नर्मदे सिन्धु कावेरि, जलेऽ त्मिनन्निधिं कुरु ।।
(ख)नमामि गंगे तब पादपंकज,मुरासुरैविन्दति दिव्यरूपम:
मुक्ति च मुक्तिंच ददसिनित्यं भावानुसारेण सदानतोऽहम् ।।

(४) **सूर्योपस्थान**– यह सूर्योदय के समय किया जाता है । उपासना के बाद सूर्यार्ध्य दान के साथ इसे किया जा सकता है–

ॐ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् ।
पश्येम शरदः शतं जीवेम् शरदः शत श्रृणुयाम
शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम
शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ।।

(५) **भोजन**– भोजन परोसा जाने पर गायत्री मंत्र मन या सस्वर बोले फिर नीचे लिखा मंत्र बोलकर भोजन प्रारम्भ करें–

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्य
करवावहे तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहे ।

(६) **दीप स्तुति**– संध्या वेला में जब प्रथम दीप जले या प्रथम दीप दर्शन हो तब यह मंत्र बोलें–

शिवंभवतु कल्याणं, आरोग्यं सुख सम्पदाः ।
मम बुद्धिप्रकाशाय, दीपोज्योतिर्नमोऽस्तुते ।।

(७) **तत्व बोध**— जब शयन के लिए बिस्तर पर पहुँच जायें तब सीधे बैठ कर प्रभु स्मरण करें, आगे लिखा मंत्र बोलें और उसके भाव को हृदयंगम करें—

ॐ वायुरनिलममृत-मथेद मस्मांत शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर-क्रत स्मर क्रतो स्मरः क्रत स्मरः ।।

इसके बाद तत्व बोध की मनन साधना करते हुए निद्रा की गोद में प्रवेश करें ।

इस प्रकार प्रातःकाल से सायं काल तक प्रमुख कार्यों में धर्म भावना ईश्वर को जोड़ने का यह छोटा सा अभ्यास आगे चलकर बड़ा लाभदायक-वरदायक बन जाता है । गीता में लिखा है—

युक्ताहार विहारस्य, यक्त चेष्ठासु कर्मेसु ।
युक्त स्वप्ना वयोधस्त, योगोऽभवति दुःखह्वा ।।

अर्थात् युक्त आहार, युक्त विहार, युक्त चेष्टा, युक्त कर्म युक्त शयन, युक्त जागरण का योग दुःख नाशक होता है ।, युक्त का अर्थ है जुड़ा हुआ । इस साधना द्वारा साधक के चिन्तन, चेष्टा, कर्म, विश्राम सभी जब ईश्वर अनुशासन से धर्म भावना से युक्त होने लगते हैं तो वह उस अवस्था में सहज 'स्थित हो जाता है जिसके बारे में गीताकार ने कहा है 'नैन प्राप्य विमुह्यति अर्थात् उसे पाकर फिर व्यक्ति वापस नहीं होता । अस्तु यह सुगम और प्रभावशाली साधना ब्रह्मवर्चस् साधना के साधक को पूरी तत्परता से अपनानी चाहिए ।

—0—

शक्तिपीठों में मातृशक्ति की पूजा-अर्चा का विधि-विधान

गायत्री शक्तिपीठों में मातृशक्ति की प्रतिमाएँ स्थापित रहेंगी । अस्तु उनकी नियमित पूजा अर्चा का क्रम भी चलेगा । इसके लिए यह पद्धति दी जा रही है । युग निर्माण अभियान के अन्तर्गत अपनाये गये हर कर्मकाण्ड के प्रति यह दृष्टि बराबर बनाकर रखी गयी है कि उसका कलेवर छोटा होते हुए भी उसके प्रभाव अद्भुत हो रहे हैं ।

दैनिक पूजा-अर्चा में भी यही दृष्टि जीवन्त रखी जानी है । प्रतीक पूजा मनोविज्ञान सम्मत ही नहीं उसका एक अपना विधान भी है । प्रतीक से भावना में उभार आता है और प्रखर भावना के संघात से प्रतीक सम्बद्ध दिव्य सत्ता के प्रस्फुटित, प्रकट हुएं बिना रह नहीं पाती । इसीलिए भारतीय-संस्कृति में प्रतीक-पूजा के साथ भाव भरे पूजन आराधन को अनिवार्य रूप से जोड़कर रखा गया है । शक्तिपीठों में पूजा उपचार थोड़े ही हों पर नियमित और भावपूर्ण हों तो उसका प्रभाव प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है । उस स्थिति में पूजा उपचार मात्र औपचारिकता या शिष्टाचार तक ही सीमित नहीं रहते, वह एक प्रभावशाली साधना प्रक्रिया के रूप में प्रयुक्त और फलित होते हैं । शक्तिपीठों में इस साधना क्रम को भी समुचित महत्त्व दिया जाना आवश्यक है ।

देवालयों में पूजन के संक्षिप्त एवं विस्तृत अनेक क्रम चलते हैं । गायत्री शक्तिपीठों के सामान्य कर्मकाण्ड सहित किन्तु भावभरा पूजन क्रम नीचे दिया जा रहा है–

(१) **प्रातः जागरण**— प्रातः मन्दिर के पट खोलकर रात्रि में डाला गया प्रतिमा आवरण हटाने के पूर्व उन्हें जगाने का विधान है । यह ठीक है कि वह परम चेतना कभी सोती नहीं, किन्तु यह भी सत्य है कि उन घट-घटवासी को जब तक अपने अन्दर जाग्रत न किया जाय तब तक उसका प्रत्यक्ष प्रभाव दिखायी नहीं देता । मन मन्दिर हो या देव मन्दिर, महाशक्ति का विशिष्ट अनुग्रह पाने की आकांक्षा रखने वाले को उसे जाग्रत करने की प्रक्रिया भी निभानी पड़ती है ।

जागरण क्रम में पुजारी पहले पवित्रीकरण आदि षट्कर्म करें । उसके बाद ताली या छोटी घण्टी बजाते हुए नीचे दिया हुआ मन्त्र बोलते हुए आवरण आदि हटायें ।

उत्तिष्ठ त्वं महादेवि उत्तिष्ठ जगदीश्वरि ।
उत्तिष्ठ वेदमातस्त्वं त्रैलोक्यमंगलं कुरु ।।

जागरण कराने के बाद नीचे लिखे स्तुति-मंत्र बोलते हुए माँ को प्रणाम करें ।

विद्याः समस्तास्तव देविभेदाः,
स्त्रियः समस्ता सकला जगत्सु ।
त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्,
का ते स्तुतिः स्तव्य परापरोक्तिः ।।
देवि प्रपन्नार्तिहरे प्रसीद,
प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य ।।
प्रसीद विश्वेश्वरि पाहि विश्वं,
त्वमीश्वरी देवि ! चराचरस्य ।।
विश्वेश्वरि ! त्वां परिपाहि विश्वं,
विश्वात्मिका धारयसीति विश्वम् ।
विश्वेशवन्द्या भवती भवन्ति,
विश्वाश्रया ये त्वयि भक्तिनम्राः।।

–देवीभागवत

(२) **शुद्धिकरण**–परमात्मा को पवित्रता प्रिय है, उस महाशक्ति का प्रवाह सदा निर्मल पवित्र माध्यमों से ही होता है, इसलिए उससे सम्बद्ध स्थल, मन्दिर, मूर्ति एवं साधन, व्यक्तित्व सभी को निर्मल रखने की परम्परा है । इस उत्तरदायित्व को स्मरण रखते हुए मूर्तिकक्ष एवं मूर्ति की स्वच्छता भावनापूर्वक की जानी चाहिए । उस समय निम्न मंत्र का उच्चारण करें ।

ॐ आपोहिष्ठामयोभुवस्तानऽऊर्जे दधातनः । महेरणाय चक्षसे । ॐ यो वः शिवतमोरसस्तष्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः । ॐ तस्माऽअरंगमामवो, यस्यक्षयाय जिन्वथ । आपोजन यथाचनः ।

–यजु० ६६/१४/१५/१६

मंत्र पूरा होने पर भी कृत्य पूरा न हो तो गायत्री मन्त्र दुहराते रहना चाहिए ।

नोट—मूर्ति की स्वच्छता के क्रम में सामान्य रूप में गीले वस्त्र से क्रमशः मातेश्वरी के मुख, हाथ और चरण पोंछ दिये जाते हैं। आवश्यकता और भावना के अनुसार सारा श्रृंगार उतारकर पूरी मूर्ति की स्वच्छता का क्रम अपनाया जाता है। इसके लिए प्रातःकाल के अतिरिक्त भी कोई समय चुना जा सकता है, क्योंकि श्रृंगार उतारने, स्वच्छता करने एवं नया श्रृंगार बनाने में काफी समय लग जाता है। ऐसे अवसर पर सेवा-सज्जा करने वाले मानसिक रूप से सस्वर 'स्तुतामया वरदा', 'गायत्री चालीसा', 'यन्मण्डलम्' गायत्री मंत्र का पाठ करते रहें।

पूजा उपचार— शुद्धिकरण के उपरान्त प्रातः आरती की व्यवस्था की जानी चाहिए। आरती के निर्धारित समय पर सभी श्रद्धालुओं को एकत्रित करने के लिए घण्टी का कोई निर्धारित संकेत किया जाना उपयुक्त रहता है। उस समय प्रतिमा के सामने का पर्दा डालकर रखा जाय। पुजारी अन्दर माँ का षोडशोपचार पूजन सस्वर मंत्र बोलते हुए करे। सभी उपस्थित जन भक्ति-भावनापूर्वक संगति करें।

पूजन का क्रम संक्षिप्त उक्तियों सहित यहाँ दिया जा रहा है। इसके लिए पुरुषसूक्त के 16 मंत्रों का उपयोग भी श्रद्धानुसार नित्य भी किया जा सकता है। पर्वों पर, विशेष प्रसंगों पर तो पुरुषसूक्त से पूजन किया ही जाना चाहिए।

पूजन भावनापूर्वक किया जाना चाहिए। देवशक्तियों को यों न तो किसी पदार्थ की आवश्यकता होती है और न किसी सम्मान की अपेक्षा। किन्तु साधक की भक्ति भावना से उनकी तुष्टि अवश्य होती है। घर में कोई सम्माननीय अतिथि आते हैं। प्रेमी परिजन उन्हें बुलाते हैं। उन अतिथि को किसी वस्तु का अभाव नहीं होता फिर भी प्रेमी परिजन प्रेमवश श्रद्धापूर्वक यथाशक्ति अपने साधनों द्वारा उनका सम्मान करते हैं। इससे दोनों ही पक्षों को सन्तोष होता है। पूजा उपचार के समय भी ऐसा ही भाव उभरना चाहिए। उपचार की वस्तुएँ चढ़ाते समय अपने सर्वोत्तम साधनों-विभूतियों को प्रभु चरणों में अर्पित करने का उत्साह-उल्लास तरंगित होता रहे तो पूजन सार्थक और सशक्त होता है।

।। षोडशोपचारपूजनम् ।।

ॐगायत्रीदेव्यै नमः आवाहयामि स्थापयामि।।१।।
आसनं समर्पयामि ।। २।।
पाद्यं समर्पयामि ।। ३।।
अर्घ्यं समर्पयामि ।। ४।।
आचमनम् समर्पयामि ।। ५।।
स्नानम् समर्पयामि ।। ६।।
वस्त्रम् समर्पयामि ।। ७।।
यज्ञोपवीतम् समर्पयामि ।। ८।।
गन्धम् विलेपयामि ।। ९।।
अक्षतान् समर्पयामि ।। १०।।
पुष्पाणि समर्पयामि ।। ११।।
धूपमाघ्रापयामि ।। १२।।
दीपम् दर्शयामि ।। १३।।
नैवेद्यं निवेदयामि ।। १४।।
ताम्बूलपुंगीफलानि समर्पयामि ।।१५।।
दक्षिणां समर्पयामि ।।१६।।
सर्वाभावे अक्षतान् समर्पयामि ।। १७।।
ततो नमस्कारं करोमि ... स्तुता मया वरदा ... ।

आरती— आरती के समय उपस्थित व्यक्ति पंक्तिबद्ध व्यवस्थित क्रम में खड़े हों। घड़ियाल, शंख आदि सधे हुए क्रम में तालबद्ध बजाये जावें। वातावरण में दिव्यता लाने के लिए यह आवश्यक है, अस्त-व्यस्त क्रम में यह सम्भव नहीं।

आरती की ज्योति जलाकर पर्दा खोला जाय। पुजारी आरती के लिए इस प्रकार खड़े हों कि प्रतिमा के दर्शन में उपस्थित जनों को बाधा न पड़े। आरती में पहले दीपक घुमाया जाता है। दीपक रखकर छोटे शंख में जल भरकर ५-७ बार वह घुमाना चाहिए।

जल के बाद वस्त्र व चँवर घुमाया जाता है, अन्त में एक-दो बार जल घुमाकर वही जल उपस्थित समुदाय पर छिड़क दिया जाता है।

यह सारे कृत्य निर्धारित समय में किये जाने चाहिए। इस बीच मधुर कण्ठ से "जयति जय गायत्री माता" आरती-गान चालू रखा जाना चाहिए। सधे हुए स्वर से लयबद्ध रूप में सभी जन संगति करें। आरती गान समाप्त होने तक आरती कृत्य पूर्ण कर लिया जाय। क्रम समाप्ति के साथ ही घण्टों आदि का नाद भी रोक दिया जाता है।

आरती कृत्य समाप्त होने पर दीपक भक्तों के बीच घुमाया जाय, लोग आरती लेते रहें । इस बीच **'स्तुतामयामंत्र'** तथा उसके बाद न्यूनतम पाँच बार गायत्री मंत्र सस्वर बोला जाय । यदि व्यक्ति अधिक हों तथा आरती वितरित करने में अधिक समय लगे तो उतने समय तक गायत्री मंत्र बोलने का क्रम चालू रखा जाय ।

ॐ स्तुता मया वरदा वेदमाता, प्रचोदयन्तां पावमानी
द्विजानाम् । आयुः प्राणं प्रजा पशुं कीर्तिं द्रविणं
ब्रह्मवर्चसम् मह्यंदत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ।
ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि
धियो योनः प्रचोदयात् ।

आरती वितरण होने पर सभी लोग एक साथ नीचे लिखे मंत्र के साथ नमस्कार करें ।

ॐ नमोस्त्वनन्ताय सहस्त्रमूर्तये सहस्त्र
पादाक्षशिरोरुवाहवे । सहस्त्र नाम्ने पुरुषाय
शाश्वते सहस्त्र कोटि युग धारिणे नमः ।

नमस्कार के पश्चात् हाथ जोड़कर भावनापूर्वक यह स्तुतियाँ बोली जावें ।

ॐ एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः,
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिपः सः,
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।।
ॐ त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं,
त्वमेकं जगत्पालकम् स्वप्रकाशम् ।।
त्वमेकं जगतकृत पात्रेप्रहर्तृं,
त्वमेकं परम् निश्चल निर्विकल्पम् ।।
ॐ भयानां भयं भीषण भीषणानां,
गतिः प्राणिनां पावन पावनानाम् ।।
महोच्चैः पदानां नियन्तृं त्वमेकं,
परेषां परं रक्षणं रक्षणानाम् ।।
वयंत्वाम् स्मरामः वयंत्वां भजामः,
वयं त्वां जगत्साक्षिरूपम् नमामः ।।
सदेकं निधानं निराम्बमीशं
भवाम्भोधिपोतं शरण्यं व्रजामः ।।
ॐ अणोरणीयान महतो महीयान-
नात्मा गुहायां निहिताऽस्य जन्तो ।।
तमक्रतु पश्यति वीतशोको-
धातुः प्रसादान्महिमान्मीशम् ।।

स्तुति मंत्र पूर्ण होते ही परिक्रमा की जाय । प्रतिमा की परिक्रमा सम्भव हो तो सभी लोग पंक्तिबद्ध क्रम से परिक्रमा करें तथा पुनः अपने-अपने स्थान पर आकर खड़े हो जावें । यदि ऐसी सुविधा न हो तो अपने स्थान पर दायीं ओर घूमते हुए परिक्रमा की जाय ।

परिक्रमा के समय भाव रखा जाय कि देवशक्तियों को उनके अनुशासन को केन्द्र मानकर अपने जीवन की सारी गतिविधियाँ उसी के आस-पास चलती रहें । परिक्रमा के साथ यह मन्त्र बोले जावें ।

ॐ अग्ने नय सुपथाराये अस्मान् विश्वानि देव
वयुनानि विद्वानयुयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां
ते नम उक्तिं विधेम ।
ॐ यानिकानि च पापानि, ज्ञाता-ज्ञात कृतानिच ।
तानि सर्वाणि नश्यन्तु प्रदक्षिणायां पदे पदे ।।

परिक्रमा के बाद नीचे लिखे मन्त्रों के साथ शुभ कामना-प्रार्थना करें ।

ॐ नत्वहं कामये राज्य,
न सौख्यं न पुनर्भवम् ।
कामये दुःख तप्तानां,
प्राणिनां आर्तनाशनम् ।।
स्वस्ति प्रजाभयांपरिपालयन्तां
न्यायेन मार्गेण महिमहीशः ।
गो ब्राह्मणेभ्यो शुभमस्तु नित्यं,
लोका समस्ता सुखिनः भवन्तु ।।
सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयः ।
सर्वेभद्राणि पश्यन्तु माँ कश्दि्दुःखमाप्नुयात्
नमस्ते सतेत जगत्कारणाय,
नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाथ ।
ममोऽद्वैततत्वाय मुक्ति प्रदाय,
नमो ब्रह्मणो व्यापिने शाश्वताय ।।
त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देव देवः ।।

प्रार्थना के बाद जयघोष चरणामृत प्रसाद वितरण एवं परस्पर अभिवादन के साथ आरती का क्रम समाप्त किया जाय । प्रातः–सायं दोनों समय आरती का यही क्रम चले ।

भोजन नैवेद्य–भारतीय संस्कृति में भोजन को प्रसाद रूप-औषध रूप में लेने का नियम है । प्रभु समर्पित पदार्थों में दिव्य संस्कारों का उदय हो जाता है । भोजन

के प्रति राग-मोह की वृत्ति क्षीण होकर कर्तव्य बुद्धि जाग्रत होती है ।

शक्तिपीठों में साधक जो भोजन अपने लिए तैयार करें, वह शुद्ध सात्विक हो । वही भोजन के पूर्व माँ को अर्पित किया जाय । नैवेद्य का क्रम इस प्रकार है– श्रद्धापूर्वक मन्त्र बोलते हुए क्रमशः अर्घ्य, नैवेद्य एवं आचमन अर्पित किया जाय ।

अर्घ्य

तापत्रयं हरं दिव्यं परमानन्दलक्षणम् ।
नमस्तुभ्यं जगद्धात्रि ! अर्घ्य नः प्रतिगृह्यताम् ।।

नैवेद्य

सत्पात्रसिद्धं नैवेद्यं विविधभोज्यसमन्वितम् ।
निवेदयामि देवेशि सानुगायैगृहाण तत् ।।

आचमन

वेदानामपि वेद्यायै देवानां देवतात्मने ।
मया ह्याचमनं दत्तं गृहाण जगदीश्वरि ।।

पुष्पाञ्जलि– रात्रि में पट बन्द किये जाने के पूर्व पुष्पाञ्जलि की जाय । दिन भर माँ के अनुग्रह के प्रति कृतज्ञता का भाव रखते हुए उल्लासपूर्वक पुष्पाञ्जलि की जाय । पुष्प की तरह माँ के चरणों में समर्पित होने का भाव संचारित किया जाय ।

दोनों हाथों में पुष्प लेकर मन्त्र बोलें तथा क्रमशः माँ के आगे चढ़ावें ।

ॐ यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
तेह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वेसाध्याः सन्ति देवा ।

–यजु० ३१/१६

ॐ विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत
विश्वतस्पात् ।। संबाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावा भूमी
जनयन् देव एकः ।।

–यजु० १७/१९

शयन–रात्रि में देव प्रतिमाओं को शयन कराने की परम्परा है । तदनुसार पर्दा डालकर आवश्यक आच्छादन प्रतिमा पर चढ़ाकर नीचे लिखे मन्त्र से शयन की प्रार्थना की जाय-

इमा पूजां मया देवि ! यथाशक्युपपादिताम् ।
शयनार्थं महादेवि ! ब्रज स्वस्थानमुक्तमम् ।।

–0–

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य का जीवनदर्शन : समग्र वाङ्मय

परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ने जीवन भर जो अपनी लेखनी से लिखा, औरों को प्रेरित कर उनसे सृजनात्मक लेखन करवाया, पुस्तकों-पत्रिकाओं में जो प्रकाशित हुआ, समय-समय पर उनने अमृतवाणी के माध्यम से जो विचारों की अभिव्यक्ति की, विचारसार व सूक्तियाँ जो वे लिख गये या अनायास कभी कह गये तथा पत्रों के माध्यम से जो अंतरंग स्पर्श जन-जन को दिया, वह समग्र इस वाङ्मय के खण्डों में है । जिनके नाम इस प्रकार हैं :-

१. युगद्रष्टा का जीवन-दर्शन समग्र वाङ्मय का परिचय
२. जीवन देवता की साधना-आराधना
३. उपासना-समर्पण योग
४. साधना पद्धतियों का ज्ञान और विज्ञान
५. साधना से सिद्धि-१
६. साधना से सिद्धि-२
७. प्रसुप्ति से जाग्रति की ओर
८. ईश्वर कौन है, कहाँ है, कैसा है ?
९. गायत्री महाविद्या का तत्वदर्शन
१०. गायत्री साधना का गुह्य विवेचन
११. गायत्री साधना के प्रत्यक्ष चमत्कार
१२. गायत्री की दैनिक एवं विशिष्ट अनुष्ठान-परक साधनाएँ
१३. गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियाँ
१४. गायत्री साधना की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि
१५. सावित्री, कुण्डलिनी एवं तंत्र
१६. मरणोत्तर जीवन : तथ्य एवं सत्य
१७. प्राणशक्ति : एक दिव्य विभूति
१८. चमत्कारी विशेषताओं से भरा मानवी मस्तिष्क
१९. शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म
२०. व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ
२१. अपरिमित संभावनाओं का आगार मानवी व्यक्तित्व
२२. चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन
२३. विज्ञान और अध्यात्म परस्पर पूरक
२४. भविष्य का धर्म : वैज्ञानिक धर्म
२५. यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान
२६. यज्ञ : एक समग्र उपचार प्रक्रिया
२७. युग-परिवर्तन कैसे और कब ?
२८. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-१
२९. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-२ (सतयुग की वापसी)
३०. मर्यादा पुरुषोत्तम राम
३१. संस्कृति-संजीवनी श्रीमद्भागवत एवं गीता
३२. रामायण की प्रगतिशील प्रेरणाएँ
३३. षोडश संस्कार विवेचन
३४. भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व
३५. समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान
३६. धर्मचक्र प्रवर्त्तन एवं लोकमानस का शिक्षण
३७. तीर्थ सेवन : क्यों और कैसे ?
३८. प्रज्ञोपनिषद्
३९. नीरोग जीवन के महत्त्वपूर्ण सूत्र
४०. चिकित्सा उपचार के विविध आयाम
४१. जीवेम शरदः शतम्
४२. चिरयौवन एवं शाश्वत सौन्दर्य
४३. हमारी संस्कृति : इतिहास के कीर्ति स्तम्भ
४४. मरकर भी अमर हो गये जो
४५. सांस्कृतिक चेतना के उन्नायक : सेवाधर्म के उपासक
४६. भव्य समाज का अभिनव निर्माण
४७. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता
४८. समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र
४९. शिक्षा एवं विद्या
५०. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१
५१. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२
५२. विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी
५३. धर्मतत्त्व का दर्शन व मर्म
५४. मनुष्य में देवत्व का उदय
५५. दृश्य जगत् की अदृश्य पहेलियाँ
५६. ईश्वर विश्वास और उसकी फलश्रुतियाँ
५७. मनस्विता प्रखरता और तेजस्विता
५८. आत्मोत्कर्ष का आधार- ज्ञान
५९. प्रतिगामिता का कुचक्र ऐसे टूटेगा
६०. विवाहोन्माद : समस्या और समाधान
६१. गृहस्थ : एक तपोवन
६२. इक्कीसवीं सदी : नारी सदी
६३. हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण
६४. राष्ट्र समर्थ और सशक्त कैसे बने ?
६५. सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे ?
६६. युग निर्माण योजना-दर्शन, स्वरूप व कार्यक्रम
६७. प्रेरणाप्रद दृष्टान्त
६८. पूज्यवर की अमृतवाणी (भाग एक)
६९. विचारसार एवं सूक्तियाँ (प्रथम खण्ड)
७०. विचारसार एवं सूक्तियाँ (द्वितीय खण्ड)

वाङ्मय के आगे प्रकाशित होने वाले ३८ खण्ड निम्न विषयों पर होंगे--

७१. मनोविकारों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि
७२. तनाव के कारण एवं उनके निवारण के उपाय
७३. चिन्तन का विधेयात्मक-निषेधात्मक स्वरूप
७४. पुरुषार्थ और मानवी जिजीविषा
७५. संकल्प बल का अनूठा प्रभाव
७६. बाल-विकास के विविध सोपान
७७. बाल मनोविज्ञान का सही उपयोग
७८. पारिवारिकता में सुसंस्कारों का योगदान
७९. पारिवारिक पंचशील और परिवार-निर्माण
८०. व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया
८१. विचार-विज्ञान का महत्त्व
८२. सामाजिक समस्याएँ और उनका समाधान
८३. समाज-निर्माण के विभिन्न चरण
८४. सामाजिक जीवन में सद्गुणों की भूमिका
८५. नर-नारी की सामान्य समस्याएँ और उनका समाधान
८६. नारी जागृति की बाधाएँ एवं उनके निराकरण के उपाय
८७. पारिवारिक जीवन: एक तप-साधना
८८. दाम्पत्य जीवन के संयुक्त दायित्व
८९. नीति-विज्ञान और नैतिकता
९०. कृषि, व्यवसाय और उद्योग की उन्नति के आधार
९१. पूज्य गुरुदेव के स्फुट विचार
९२. पूज्यवर की अमृतवाणी-२
९३. पूज्य गुरुदेव की दिव्य अनुभूतियाँ
९४. पूज्य गुरुदेव के लिखे स्मरणीय पत्र
९५. तंत्र महाविज्ञान विवेचन
९६. मंत्र महाविज्ञान विवेचन
९७. महापुरुषों के प्रेरक जीवन-प्रसंग
९८. प्रेरणाप्रद कथा एवं गाथाएँ
९९. हृदयस्पर्शी विविध कथाएँ
१००. शान्तिकुंज का प्रज्ञा अभियान
१०१. युग निर्माण मिशन का क्रमिक इतिहास
१०२. वेद-सार-चिन्तन
१०३. पुराण-शोध-सार
१०४. उपनिषद् और आरण्यकों की दार्शनिक विषयवस्तु
१०५. काव्य-गीत-मंजूषा
१०६. मिशन के रचनात्मक कार्यक्रमों का क्रमिक इतिहास
१०७. मिशन की लोक-व्यवहार संहिता
१०८. गुरुदेव की अपने आत्मीय जनों से अपनी बातें

❑❑❑